असतो मा सद्गमय

भगवान श्री रजनीश

बहुत अद्‌भुत है निर्वाण उपनिषद्। इस पर हम यात्रा शुरू करते हैं और यह यात्रा दोहरी होगी। एक तरफ मैं आपको उपनिषद् समझाता चलूंगा और दूसरी तरफ आपको उपनिषद् कराता भी चलूंगा। क्योंकि समझाने से कभी कुछ समझ में नहीं आता, करने से ही कुछ समझ में आता है। करेंगे तभी समझ पाएंगे। इस जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण है, उसका स्वाद चाहिए, अर्थ नहीं। उसकी व्याख्या नहीं, उसकी प्रतीति चाहिए। आग क्या है, इतने से काफी नहीं होगा, आग जलानी पड़ेगी। उस आग से गुजरना पड़ेगा। उस आग में जलना पड़ेगा और बुझना पड़ेगा। तब प्रतीति होगी कि निर्वाण क्या है।

—भगवान श्री रजनीश

भगवान श्री रजनीश
असतो मा सद्गमय

असतो मा सद्गमय

भगवान श्री रजनीश

बहुत अद्भुत है निर्वाण उपनिषद्। इस पर हम यात्रा शुरू करते हैं और यह यात्रा दोहरी होगी। एक तरफ मैं आपको उपनिषद् समझाता चलूंगा और दूसरी तरफ आपको उपनिषद् कराता भी चलूंगा। क्योंकि समझाने से कभी कुछ समझ में नहीं आता, करने से ही कुछ समझ में आता है। करेंगे तभी समझ पाएंगे। इस जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण है, उसका स्वाद चाहिए, अर्थ नहीं। उसकी व्याख्या नहीं, उसकी प्रतीति चाहिए। आग क्या है, इतने से काफी नहीं होगा, आग जलानी पड़ेगी। उस आग से गुजरना पड़ेगा। उस आग में जलना पड़ेगा और बुझना पड़ेगा। तब प्रतीति होगी कि निर्वाण क्या है।

—भगवान श्री रजनीश

असतो मा सद्गमय

भगवान श्री रजनीश

असतो मा सद्गमय

भगवान श्री रजनीश

© सर्वाधिकार : रजनीश फाउन्डेशन, पूना, १९७९

सम्पादन	संकलन	संयोजन
स्वामी योग चिन्मय	मा योग भक्ति	स्वामी नरेन्द्र बोधिसत्व
स्वामी निकलंक भारती	मा योग तरु	

प्रथम संस्करण	प्रतियां	मूल्य
मई १९७९	५,५००	२५ रुपये

प्रकाशक
मा योग लक्ष्मी
सचिव, रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड
१७, कोरेगांव पार्क
पूना ४११ ००१

मुद्रक
स्वामी अशोक सत्यार्थी
स्वामी तिलक भारती
चड्ढा प्रिन्टर्स
३३८–जी, बम्बई बाजार
मेरठ—२५० ००१
फोन ७५३०१

रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड

भगवान श्री रजनीश का महान प्रयोग

धर्म के जगत में, मनुष्य की आत्मा के विज्ञान में पूरब ने महान प्रयोग किए हैं, और इस प्रयोग का इतिहास बड़ा है। वहां ऐसे अनेक बुद्ध-पुरुष सद्गुरु और आत्मा के विज्ञानी हुए हैं जिन्होंने अपने को रूपान्तरित कर प्रेम और करुणावश अनेक को रूपान्तरित किया। बुद्ध, जीसस, लाओत्से, महावीर, मुहम्मद, कृष्ण, जरथुस्त्र, नानक, कबीर, पतंजलि, रामकृष्ण, महर्षि रमण, मेहर बाबा, गुरजिएफ, कृष्णमूर्ति—ये उनके कुछ उजागर नाम हैं।

आज पूना में, बम्बई से कोई ८० मील की दूरी पर ऐसे ही एक महापुरुष—भगवान श्री रजनीश—दूसरा महान प्रयोग कर रहे हैं। थोड़े से वर्षों के भीतर संसार भर से, सभी उम्र के और जीवन के सभी क्षेत्रों से आकर कोई अस्सी हजार लोग संन्यास में दीक्षित होकर उनके इस परा-चेतना के नए अभियान में सम्मिलित हो चुके हैं। और संसार भर में कोई दस लाख लोग उनके गैर-दीक्षित शिष्य हैं।

पश्चिम से पूरब की यह यात्रा कुछ नई नहीं है; बहुत वर्षों से यह जारी है। पूरब की प्रगाढ़ और चिरजीवी आध्यात्मिक परम्परा का जो बोध पश्चिम के लोगों को हुआ है वह ऐसे ही साधकों से प्राप्त हुआ है; वह पी० डी० आस्पेंस्की, मेक्स मूलर, हरमन हेस, रूडोल्फ स्टेनर जैसे एकांकी धर्म के खोजियों की कलम से उपलब्ध हुआ है। आज जो नई बात हो रही है वह आने वालों की बहुत बढ़ती हुई संख्या है।

एक ही साध लिए अनगिनत साधक बाढ़ की तरह पूना के श्री रजनीश आश्रम की ओर चले आ रहे हैं। और यह संख्या हर महीने बढ़ रही है। किसी ने भगवान का नाम सुना; किसी ने उनकी कोई किताब पढ़ ली; किसी को उनका कोई टेप—प्रवचन सुनने को मिल गया; और किसी की भगवान के किसी शिष्य से मुलाकात हो गई। और वे सभी यहां आ गए हैं।

भगवान श्री रजनीश

भगवान श्री का वर्णन करने की कोशिश शब्दों की क्षमता के पार की चीज है। यह कहना कि वे सैंतालीस साल के हैं, यह कहना कि इक्कीस वर्ष की उम्र में वे बुद्ध हो गए, यह कहना कि मध्य प्रदेश में उनका जन्म हुआ या यह कहना कि परमात्मा के काम में अपना जीवन लगाने के पहले वे विश्वविद्यालय में शिक्षक थे, दरअसल उनके बारे में कुछ नहीं कहना है। शब्द बहुत छोटे पड़ जाते हैं; वे ज्यादा से ज्यादा इंगित कर सकते हैं। वे व्यक्ति नहीं घटना हैं, जिन्होंने मनुष्य की आत्यंतिक सम्भावना को उपलब्ध किया है। और जो लोग उनके पास आते हैं

उन्हें यह सत्य दिखाई देता है या बिल्कुल दिखाई नहीं देता है। जिन्हें दिखाई देता है वे रुक जाते हैं और जिन्हें नहीं दिखाई देता वे चलते बनते हैं। और जो उनके साथ रह जाते हैं और उनके महान् प्रयोग में भागीदार होते हैं उनके लिए भगवान श्री का आश्वासन सीधा और साफ है—'जो मुझे हुआ है वह तुम्हें भी हो सकता है।'

यह वचन प्रेम में दिया गया वचन है। एक नवागंतुक को यहां जो पहली चीजें देखने को मिलती हैं वे हैं आश्रम का दिव्य माहौल, उसका प्रभा-मण्डल और प्रेम की सुगंध। यहां की हवा स्वास्थ्य और सुख से, स्वीकृति और समझ से, हंसी और उत्सव से भरी है। और वह भगवान श्री की उपस्थिति का प्रभाव है। वे कहते हैं—'परमात्मा की उपस्थिति ने मेरे भीतर जिस अनंत प्रेम को जन्म दिया है मैं तुम्हें उसमें भागीदार बनाना चाहता हूं। मैं तुम पर उस प्रेम की वर्षा कर रहा हूं। तुम मेरी भेंट स्वीकार करो।'

प्रेम भगवान की आबोहवा है। और इस आबोहवा में ही वह अकल्पनीय महा-यात्रा, आत्म-रूपान्तरण की तीर्थ-यात्रा शुरू होती है।

नव संन्यास

गुरु शिष्य का नाता इसका आधार है। भगवान का शिष्यत्व—उनका नव संन्यास पारम्परिक हिन्दू संन्यास की कुछ चीजें बचा रखता है। वे हैं गैरिक-वस्त्र, भारतीय नाम और एक सौ आठ मनकों की माला। लेकिन सादृश्य यहीं समाप्त हो जाता है। पुराना संन्यास पलायन, त्याग और अनुशासन पर आधारित था; भगवान श्री का संन्यास समग्र स्वीकार और जीवन की समग्र भागीदारी पर आधारित है। यह संन्यास संसार में होकर भी संसार का नहीं होना है। यह संन्यास ध्यान के मौन को ठेठ बाजार में पहुंचाना है।

भगवान श्री कहते हैं—'जो बहुत साहसी हैं, जो सचमुच बलवान हैं, दुस्साहसी हैं, वे ही आत्मोपलब्धि के अभियान में उत्सुक होते हैं। धर्म सबसे बड़ा दुस्साहस है, सबसे बड़ा अभियान है। गौरीशंकर पर चढ़ना कुछ नहीं है। चांद पर पहुंचना भी कुछ नहीं है। आत्मा के आत्यंतिक शिखर को छूना असली बात है।'

'आधुनिक आदमी सर्वाधिक झूठा आदमी है। इतना झूठा आदमी धरती पर कभी नहीं था। और उसका झूठ इस बात में निहित है कि वह सोचता है कि मैं सिर्फ देखकर, मात्र दर्शक रहकर जान लूंगा। यह बहुत उधार जीवन है।'

एक आदमी जो देखता है वह अस्तित्वतः असत्य है; वह मात्र व्यक्तिगत व्याख्या है। वह देखने वाले की आंख का आरोपण है। इस व्यक्तिगत दृष्टि को कुछ लोग अपनी पहचान बताते हैं और कुछ लोग उसे व्यक्तित्व, चित्त या निजता कहते हैं। साधक के लिए एक ही लक्ष्य है—इस झूठे वैयक्तिक अलगाव का विसर्जन।

भगवान श्री कहते हैं—'पश्चिम का पूरा मनोविज्ञान अब तक निरअहंकार के बिन्दु तक नहीं आया है। वह अभी भी अहंकार की भाषा में सोच रहा है कि कैसे उसे मजबूत बनाया जाए, केन्द्रित किया जाए। पूरब अहंकार को ही रोग मानता है। पूरा चित्त ही रुग्ण है; उसमें कुछ चुनाव नहीं करना है। चेतन या अचेतन—सबको जाना है। पूरब मन के पार जाने की चेष्टा करता रहा है। प्रश्न यह नहीं है कि समाज के साथ समायोजन किया जाए; प्रश्न यह है कि स्वयं अस्तित्व के साथ समायोजन हो।'

'तुम्हारा पूरा जीवन, तुम्हारे भाव, तुम्हारी बुद्धि, शरीर, मन, आत्मा—सब कुछ दांव पर है। यह आखिरी जुआ है। यह जीवन का परम खेल है।'

प्रेम की भूमि पर पांव गड़ा कर और एक ऐसे आदमी के हाथ में अपने हाथ धर कर, जो यह खेल-खेल चुका है, भगवान के संन्यासियों ने यह दांव खेलने का निर्णय लिया है।

सत्संग

अपने संन्यासियों के लिए, और आश्रम में आने वाले किसी के लिए भी भगवान श्री प्रतिदिन उपलब्ध हैं। प्रति प्रातः वर्ष के तीन सौ पैंसठ दिन वे नब्बे मिनिट का सद्यःस्फूर्त प्रवचन देते हैं। इस प्रवचन में वे पूर्ववर्ती बुद्धों के वचनों को अपने अनुभव के प्रकाश में पुनर्जीवित और उजागर करते हैं। उनमें बुद्ध और जीसस की वाणी, पतंजलि के योगसूत्र, उपनिषद् और वेद की ऋचाएं, मीरा, कबीर और बाउल संतों के गीत तथा ताओवादी, झेन, सूफी और हसीदी सद्‌गुरुओं के सूत्र सम्मिलित हैं। हर दूसरे दिन भगवान श्री अपने शिष्यों के प्रश्नों का समाधान करते हैं, जो बहुत बेधक और दिशा-सूचक होता है। वे एक महीना हिन्दी व एक महीना अंग्रेजी में बोलते हैं।

वैसे भगवान श्री के शब्द मुखर और प्रेरक तो होते ही हैं—और अक्सर विनोद-पूर्ण भी—'मैं चाहूंगा कि तुम भगवान के पास हंसते हुए जाओ।' लेकिन भगवान श्री अपने शिष्यों को कहते हैं कि तुम मेरे शब्दों के बीच बसने वाले मौन के प्रति अधिकाधिक बोधपूर्ण रहो।

वे कहते हैं—'शब्द तो वाहन हैं; यदि तुम वाहन को ही सुनते रहे तो ऊब जाओगे। लेकिन अगर उस तत्व को सुनो जो उस वाहन पर चढ़कर आता है तो तुम आह्लादित हो जाओगे, तुम गहरी समाधि में डूब जाओगे। मेरी चेष्टा कुछ कहने की नहीं है; मेरी चेष्टा कुछ दिखाने की है। मैं कोई दार्शनिक नहीं हूं; धर्म-शास्त्री नहीं हूं, सिद्धान्तवादी नहीं हूं। मेरे पास कुछ है और मैं तुम्हें उसमें भागीदार बनाना चाहता हूं। क्योंकि तुम मौन को नहीं समझ सकते, मैं बोलने

को विवश हूं।'

भगवान श्री प्रत्येक संध्या भी उपलब्ध हैं, जब वे छोटे समूहों को दर्शन देते हैं। दर्शन का यह समय शिष्यों के लिए सद्गुरु के साथ, उसकी सम्बोधि के साथ बहुत निकट और आत्मीय सम्पर्क में आने का अवसर है यहां भगवान श्री नवगतों को संन्यास की दीक्षा देते हैं, यहां वे साधकों को व्यक्तिगत समाधान और मार्गदर्शन देते हैं और यहीं वे उन सब पर अपनी दिव्य ऊर्जा की वर्षा करते हैं जो उसके पात्र होते हैं।

ध्यान और मनोचिकित्सा

आश्रम में प्रतिमाह दस दिवसीय ध्यान शिविर का आयोजन होता है जिसमें साधक ध्यान की गहराइयों में उतरते हैं। साथ ही साथ जांची-परखी सामूहिक मनोचिकित्सा की भी व्यवस्था है। यह शिविर और यह मनोचिकित्सा आत्मिक रूपान्तरण के बहुत उत्प्रेरक साधन हैं। उनके द्वारा दमन और संस्कार की परतें टूटती हैं, अहंकार के आधार छिन्न-भिन्न होते हैं और साधक जीवन के नए आयामों में गति करते हैं।

शिविरों में प्रतिदिन घण्टे-घण्टे भर के पांच ध्यान कराए जाते हैं। भगवान श्री ने ये ध्यान-विधियां आज के साधक के लिए विशेष रूप से गढ़ी हैं। ये विधियां सक्रिय हैं, अराजक हैं, रेचक हैं, शोधक हैं—उनके ऊर्जा के गहन स्रोत मुक्त होते हैं, और फिर वह मुक्त ऊर्जा अन्तर्यात्रा पर गतिमान हो जाती है।

शिविर के बाद जो समय बचता है—बीस दिन—वह समूह चिकित्सा को समर्पित है। इन समूहों को, भगवान श्री के निर्देश से कुशल पाश्चात्य विशेषज्ञ संचालित करते हैं; वे सब के सब संन्यासी हैं। पाश्चात्य मनोचिकित्सा में जो कुछ श्रेष्ठ है और पूर्वी विधियों में जो कुछ प्रभावी है सब कुछ वहां काम में लाया जाता है। उनमें प्राईमल, एनकाउंटर, गेस्टाल्ट और एनलाइटनमेंट इन्टेंसिव से लेकर झा-झेन, विपस्सना और तन्त्र तक समाहित हैं। प्रतिमाह तीस अनूठे आयोजनों के भीतर साठ समूह संचालित होते हैं जिनमें कोई बारह सौ व्यक्ति भाग लेते हैं। समूहों के सत्र दो से पन्द्रह दिनों के होते हैं।

व्यक्तिगत शरीर साधना भी यहां सदा उपलब्ध है जिनमें रौल्फिंग अलेक्जेंडर, रिफ्लेक्सोलाजी, नवीन रेखियन विधियां, अकूपंक्चर और मालिश सम्मिलित हैं। कौन किस समूह चिकित्सा में भेजा जाए यह सुझाव स्वयं भगवान श्री देते हैं। वे कहते हैं: 'तुम्हारे लिए क्या सहयोगी है इसके लिए मुझे तुम्हें देखना पड़ता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए मेरी विधियां भिन्न होती हैं। जब मैं किसी नए शिष्य पर काम शुरू करता हूं तो मुझे उसमें झांकना पड़ता है, खोजना

पड़ता है कि उसके लिए क्या सहयोगी होगा, उसका विकास कैसे होगा।'

समुदाय

ध्यान शिविर के लिए, समूह चिकित्सा के लिए और केवल भगवान की सन्निधि के लिए पूना आने-जाने वाले संन्यासियों का अन्तहीन प्रवाह जारी है। किसी भी समय यहां कम से कम साढ़े तीन हजार संन्यासी मौजूद रहते हैं। ढाई सौ से तीन सौ तक नए साधक प्रति माह संन्यास में दीक्षित होते हैं। अनेकों यहां छोटी अवधि के लिए आते हैं और फिर अपने घर-गांव को, परिवार और धन्धों को लौट जाते हैं। सिर्फ पिछले वर्ष के दरम्यान पच्चीस हजार पाश्चात्य संन्यासियों ने ऐसी यात्रा की है।

अधिकाधिक लोग केवल यहां रहने के लिए आ रहे हैं। अभी आश्रम में पांच सौ ऐसे अन्तेवासी हैं जिन्होंने भगवान श्री की सन्निधि में जीने और काम करने की ठानी है। कई सौ संन्यासी पूना शहर में इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि उन्हें कभी समुदाय में सम्मिलित होने का अवसर मिलेगा। फिर नए साधकों का प्रवाह इतना बड़ा है कि आश्रम शीघ्र ही पूना के बाहर किसी विस्तृत जगह पर बसने जा रहा है जहां समुदाय को फलने-फूलने का पूरा अवसर होगा और जहां वह आत्मनिर्भर भी रह सकेगा।

भगवान श्री कहते हैं—'हम लोग संसार से अलग, बहुत दूर जा रहे हैं ताकि एक सर्वथा भिन्न तरह की ऊर्जा तुम्हारे लिए उपलब्ध की जा सके।'

वे अपने संन्यासियों को कहते हैं—'तुम्हें ऐसी निरापद जगह चाहिए जहां तुम काम कर सको, जहां तुम्हें संसार की बाधायें न झेलनी पड़ें, जहां तुम्हें भीड़ के उपद्रव से बचाव हो, जहां वर्जनों और निषेधों को अलग किया जा सके। और जहां केवल एक बात महत्वपूर्ण हो—कैसे बुद्ध बना जाए।'

हजारों और आ रहे हैं

कालान्तर में रजनीश समुदाय का आकार कितना बड़ा होगा इसकी भविष्यवाणी असम्भव है लेकिन इतना निश्चित है कि बड़ी गति और बड़े पैमाने पर उसकी वृद्धि हो रही है। साढ़े चार साल पहले भगवान श्री के प्रथम अंग्रेजी प्रवचन में केवल तीस संन्यासी थे; पिछली गुरुपूर्णिमा के उत्सव में सात हजार संन्यासी उपस्थित थे। हर रोज, हर महीने नए लोग आते ही जा रहे हैं।

भगवान श्री ने कहा—'मैं सिर्फ अपने कमरे में बैठा रहता हूं, कुछ करता भी नहीं हूं और प्रायः सारी दुनिया से साधक उमड़ते चले आ रहे हैं। मैं एक पत्र भी

नहीं लिखता हूं; यह सिर्फ उपस्थिति है। एक आता है, दूसरा आता है, और ऐसे शृंखला निर्मित होती हैं। अब समय आ गया है जब एक बुद्ध-क्षेत्र जरूरी है। तुम्हें पता नहीं है लेकिन हजारों और आ रहे हैं।

'जितने अधिक लोग होंगे बुद्ध-क्षेत्र उतना ही बड़ा होगा और वह उतना ही शक्तिशाली होगा। सम्भावना तो यह है कि हम जमीन पर सबसे बड़े और सबसे प्रबल, शक्तिशाली बुद्ध-क्षेत्र का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि आज से पहले कभी न ऐसी खोज थी और न मनुष्य ऐसे संकट में था।'

'हम उस दहलीज पर खड़े हैं जहां मनुष्यता के साथ कुछ नया घटित होने वाला है। मनुष्य अपने पुराने ढंग-ढांचे में बहुत जी चुका। इस सदी के अन्त तक सम्भव है कि मनुष्य-जाति एक विराट छलांग ले। या तो तीसरे महायुद्ध में मनुष्य मरेगा या वह छलांग लेगा और नया मनुष्य हो जाएगा उसके पहले एक महान बुद्ध-क्षेत्र की जरूरत है जहां हम भविष्य निर्मित कर सकें।'

और फिर भगवान श्री ने अपने गैरिक शिष्यों को आश्वासन दिया—'तुममें से अनेक बुद्ध होने जा रहे हैं। सिर्फ कुछ और काम करने हैं, कुछ और सावधानी और प्रयत्न की जरूरत है, बोध और जागरण के लिए कुछ और अवधान अपेक्षित है।'

'नया कम्यून (समुदाय) बुद्धत्व की दिशा में एक महान् प्रयोग होने जा रहा है।'

बुद्धत्व का मनोविज्ञान

भगवान श्री कहते हैं—

'पश्चिम में फ्रायड, जुंग, एडलर तथा अन्यों ने प्रथम मनोविज्ञान की, रुग्णता के मनोविज्ञान की रचना की। भले ही उन्होंने दुखी लोगों की सहायता न की हो लेकिन उन्होंने उस वैज्ञानिक पृष्ठभूमि की रचना जरूर कर दी जिस पर दूसरा मनोविज्ञान, स्वस्थ मनुष्य का मनोविज्ञान खड़ा हो सके।'

'यह दूसरा मनोविज्ञान, जिसे मैस्लो, फ्राम, जैनोव तथा अन्यों ने निर्मित किया है, अभी अपनी प्रसव-पीड़ा से गुजर रहा है। यह स्वस्थ और पवित्र दृष्टिकोण है; वह रुग्णता की भाषा में नहीं बल्कि स्वस्थ मनुष्य के विकास की भाषा में सोचता है। इस दूसरे मनोविज्ञान ने एक तीसरी कोटि के मनोविज्ञान के लिए रास्ता प्रशस्त किया है; वह है बुद्धों का मनोविज्ञान।'

'बुद्ध हुए हैं। लाखों व्यक्ति बुद्धत्व को प्राप्त हुए हैं, लेकिन इसके पहले बुद्धों का मनोविज्ञान सम्भव नहीं हुआ था। कभी किसी ने जाग्रत चेतना की शोध करने, और उससे एक विज्ञान निर्मित करने की चेष्टा नहीं की।'

'मैं तुम्हारा अध्ययन कर रहा हूं। मैं तुम्हारे विकास का निरीक्षण कर रहा हूं। स्वयं बुद्ध हो जाना एक बात है। यह घटना इतनी त्वरित और आकस्मिक है कि उसमें उसके अध्ययन की गुंजाइश नहीं रहती। तुम्हारे साथ मैं उस प्रक्रिया का अध्ययन धीरे-धीरे कर सकता हूं।'

'मुझे अनेक लोगों का अध्ययन करना है। तभी जाकर तीसरा मनोविज्ञान विकसित होगा। एक आदमी के भीतर क्या हुआ इस पर ही मनोविज्ञान खड़ा नहीं हो सकता। हो सकता है मैं बुद्ध हो गया होऊं, लेकिन मैं अनूठा हूं। तुम बुद्ध हो सकते हो लेकिन तुम भी अनूठे हो। संसार में कम से कम सात श्रेणियों के लोग हैं। इसलिए प्रत्येक श्रेणी से एक-एक चुनकर कम से कम सात बुद्धों का बड़ी गहराई से अध्ययन करना जरूरी हो जाता है। सातों श्रेणियों को समझना जरूरी है। जब तक प्रत्येक श्रेणी का गहरा अध्ययन, पर्त दर पर्त अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक बुद्धत्व का मनोविज्ञान रूप नहीं ले सकेगा।'

भगवान श्री इस काम में जुटे हैं। प्रत्येक चिकित्सा-समूह, प्रत्येक ध्यानविधि, प्रत्येक प्रातः प्रवचन, प्रत्येक दर्शन चर्चा, उनके चालीस हजार पुस्तकों वाले पुस्तकालय की प्रत्येक पुस्तक, वे जो सप्ताह में पचास से पचहत्तर नए ग्रन्थ पढ़ जाते हैं, उनका प्रत्येक लेखक, उन्हें लिखी गई प्रत्येक चिट्ठी, उन्हें पूछा गया प्रत्येक प्रश्न और उनके एक लाख शिष्यों में से प्रत्येक के साथ उनका संपर्क उनके इस काम में सीधा योगदान कर रहा है।

भगवान श्री इस प्रसंग में कहते हैं—'गुरजिएफ पहला व्यक्ति था जिसने तीसरा मनोविज्ञान निर्मित करने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। यह रहस्यवादी था, वह स्वयं बुद्ध था, लेकिन उसे इस काम के लिए अपने शिष्य पी० डी० आस्पेंस्की पर निर्भर होना पड़ा। गुरजिएफ जो जानता था उसके आधार पर एक विज्ञान निर्मित करने का काम आस्पेंस्की को दिया गया। बीज गुरजिएफ से आया; जानकारी गुरजिएफ से आई लेकिन उसे ढांचा देने के लिए आस्पेंस्की जरूरी हो गया। और जब आस्पेंस्की गुरजिएफ से अलग हो गया तो तीसरा मनोविज्ञान निर्मित करने की सारी चेष्टा व्यर्थ हो गई।'

'अब पुनः उसी आयाम में मैं काम कर रहा हूं। लेकिन मैं इसके लिए किसी पर निर्भर नहीं हूं। मैं गुरजिएफ और आस्पेंस्की दोनों हूं। इस तरह मेरे काम को कोई रोक न सकेगा। मैं निरन्तर अ-मन के जगत में और शब्दों तथा किताबों के जगत में गति कर रहा हूं। गुरजिएफ ने स्वयं पर काम किया और आस्पेंस्की ने पुस्तकालय पर काम किया, लेकिन मैं दोनों जगह काम कर रहा हूं।'

यह भगवान श्री रजनीश का महान और अविरत प्रयोग है।

इस धरती पर सद्गुरुओं की उपस्थिति सदा से है। हर सद्गुरु के समय हम रहे हैं, लेकिन चमत्कार कि हम सदा चूकते रहे!

२५०० वर्षों के बाद बुद्ध जैसा महिमावान सद्गुरु हमारे बीच है। हम जैसा

चलता-फिरता, खाता-पीता, हंसता-गाता। क्या इस बार भी उसे इस नये रूप में पहचान न पाएंगे? क्या जन्मों-जन्मों की भूल पुनः दुहर जाएगी?

भगवान श्री रजनीश की उपस्थिति ने श्री रजनीश आश्रम, पूना को जीवंत बुद्ध-क्षेत्र में परिणत कर दिया है, जहां प्रवेश करते ही बुद्धत्व की तरंगें आपको चारों दिशाओं से घेर लेंगी। आज हजारों-हजारों संन्यासी यहां बुद्धत्व की दिशा में गतिमान हैं, उन्हें देखकर ही आपके भीतर बुद्धत्व का स्वाद लेने का भाव जग जग जाएगा। बुद्ध के पास जो शृंखलाबद्ध बुद्धत्व का विस्फोट घटा था, उससे भी अधिक शक्तिशाली बुद्धत्व का विस्फोट यहां घटने को है, घट रहा है।

प्रेम-भरा आमंत्रण है आपको भी इस बुद्ध-तीर्थ के दर्शन का, इस बुद्ध-सागर में डूबने का। साहस करें, इस बार तो सद्‌गुरु के चरणों में समर्पित हो जाएं, इस बार तो बुद्ध हो जाएं।

निवेदक
स्वामी नरेन्द्र बोधिसत्व
श्री रजनीश आश्रम,
१७, कोरेगांव पार्क,
पूना—४११००१

निर्वाण उपनिषद्

साधना शिविर, माऊण्ट आबू, राजस्थान, में भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिनांक २५ सितम्बर १९७१ से २ अक्टूबर १९७१ तक दिए गए १५ प्रवचन

शान्ति पाठ :

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् आविराः वीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतम् मे माप्रहासीरनेन् आधीनेन अहोरात्रात् संदधामि ।
ऋतम् वदिष्यामि । सत्यम् वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम् ।
अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ ।
हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद-ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं ।
मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा । मेरी रक्षा करो । वक्ता की रक्षा करो । मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । वक्ता की रक्षा करो ।
ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

प्रवचन : १

साधना शिविर, माऊन्ट आबू, रात्रि, दिनांक २५ सितम्बर, १९७१

शांति पाठ का द्वार, विराट् सत्य और प्रभु का आसरा

बूंद चाहे भी कि सागर को बिना स्मरण किए सागर की खोज कर ले, तो वह खोज न हो सकेगी । और कोई दीया सोचता हो कि सूर्य का स्मरण किए बिना सूर्य को खोज लेगा, तो नासमझी है । आत्मा भी परमात्मा की खोज पर निकली हो तो सिर्फ अपने पर भरोसा करके चले तो पहुंच न सकेगी । अपने पर भरोसा काफी नहीं है । परमात्मा का स्मरण जरूरी है—उस परमात्मा का स्मरण, जिसका हमें कोई भी पता नहीं है । यही कठिनाई है ।

जिस परमात्मा का हमें कोई भी पता नहीं है, उसका स्मरण बड़ी कठिन और असम्भव बात है । और अगर हम यह जिद करें कि पता होगा तभी स्मरण करेंगे, तो भी बड़ी कठिनाई है । क्योंकि पता हो जाने पर स्मरण की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती । जो पहचानते हैं, उनके लिए प्रार्थना व्यर्थ है । और जिन्हें पता नहीं है, वे कैसे प्रार्थना करेंगे । वे कैसे पुकारें उसे, वे कैसे स्मरण करें । जिन्हें उसकी कोई खबर ही नहीं है, उसकी तरफ वे हाथ भी कैसे जोड़ें और सिर भी कैसे झुकाएं ।

बूंद को सागर का कोई भी पता नहीं, लेकिन फिर भी बूंद जब तक सागर न हो जाए तब तक तृप्त नहीं हो सकती । और अंधेरी रात में जलते हुए एक छोटे-से दीए को क्या पता होगा कि सूरज के बिना वह नहीं जल सकेगा । लेकिन सूर्य कितना ही दूर हो, वह जो छोटा-सा अंधेरे में जलने वाला दीया है, उसकी रोशनी भी सूर्य की ही रोशनी है । और आपके गांव में आपके घर के पास छोटा-सा जो झरना बहता है, उसे क्या पता होगा कि वह दूर बूंद के सागरों से जुड़ा है ! और अगर सागर सूख जाएं और रिक्त हो जाएं तो यह झरना भी तत्काल सूखकर समाप्त हो जाए ! झरने को देखकर आपको भी ख्याल नहीं आता कि सागरों से उसका सम्बन्ध है ।

आदमी भी ठीक ऐसी ही स्थिति में है । वह भी एक छोटा-सा चेतना का झरना है । और उसमें अगर चेतना प्रकट हो सकी है तो सिर्फ इसीलिए कि कहीं

चेतना का महासागर भी निकट में है—जुड़ा हुआ, संयुक्त, चाहे ज्ञात हो, चाहे ज्ञात न हो।

ऋषि एक यात्रा पर निकल रहा है इस सूत्र के साथ। लेकिन यह सूत्र बहुत अद्भुत है और बहुत अजीब भी। 'एब्सर्ड' भी है। बहुत बेमानी भी है। क्योंकि जिसका पता नहीं है जिसकी खोज पर जा रहा है, उसी से प्रार्थना कर रहा है। जिसका पता नहीं है अभी, उसी के चरणों में सिर रख रहा है। यह कैसे सम्भव हो पाएगा? इसे समझ लें, क्योंकि जिसे भी साधना के जगत् में प्रवेश करना है उसे इस असम्भव को सम्भव बनाना पड़ता है।

एक बात तय है कि बूंद को सागर का कोई भी पता नहीं है, लेकिन दूसरी बात भी इतनी ही तय है कि बूंद सागर होना चाहती है। जो हम होना चाहते हैं, उसके समक्ष ही हमें प्रणाम करना होगा—हमें, वे जो हम हैं। जो हम हैं, उसे उसके समक्ष प्रार्थना करनी होगी, जो हम हो सकते हैं। जैसे बीज उस सम्भावित फूल के सामने प्रार्थना करे, जो वह हो सकता है।

इस प्रार्थना से परमात्मा को कुछ लाभ हो जाता हो, ऐसा नहीं है। लेकिन इस प्रार्थना से हमारे पैरों में बड़ा बल आ जाता है। यह प्रार्थना परमात्मा के लिए नहीं है, अपने ही लिए है।

अगर बूंद सागर की ठीक प्रार्थना कर पाए तो उसके प्राणों में कहीं सागर से सम्पर्क होना शुरू हो जाता है। बूंद जब सागर को पुकारती है, तो किसी अज्ञात मार्ग से सागर होने की क्षमता और पात्रता पैदा होती है। जब बूंद सागर से कहती है कि मुझे सहायता करना कि मैं तुझ तक पहुंच सकूं, तो आधी मंजिल पूरी हो जाती है। क्योंकि जो बूंद श्रद्धा, आस्था और निष्ठा से कह सकी है कि परमात्मा मुझे सहायता करना, तो यह श्रद्धा, यह निष्ठा, यह आस्था बूंद की जो संकीर्णता है उसे तोड़ देती है और जो विराट् है उससे जोड़ देती है।

प्रार्थना के क्षण में प्रार्थना करने वाला वही नहीं रह जाता, जो प्रार्थना करने के पहले था। जैसे कोई द्वार खुल जाता है, जो बन्द था। जैसे कोई झरोखा खुल जाता है, जो ढंका था। एक नया आयाम, एक नई यात्रा और एक नए आकाश का दर्शन होना शुरू हो जाता है। यह भी नहीं है कि आप आकाश तक पहुंच जाते हैं, बल्कि अपने घर के भीतर ही खड़े होते हैं, सिर्फ एक द्वार खुल जाता है और घर में भी एक अनन्त आकाश दिखाई पड़ने लगता है। आप वह होते हैं, जहां थे। आप कुछ दूसरे नहीं हो गए होते हैं।

एक आदमी अपने ही मकान में अंधेरे में खड़ा है और फिर अपने द्वार को खोल लेता है। वही आदमी है, वही मकान है, वही जगह है। कहीं कोई परिवर्तन नहीं हो गया है, लेकिन अब बहुत दूर तक आकाश और मार्ग दिखाई पड़ने लगता है। मार्ग अगर दूर तक दिखाई न पड़े तो चलना बहुत मुश्किल है। मंजिल जहां हम

खड़े हैं, अगर वहीं से दिखाई पड़ना शुरू न हो जाए तो यात्रा असम्भव है।

ऋषि ऐसी प्रार्थना से इस निर्वाण उपनिषद् को शुरू करता है, जिसमें निर्वाण की खोज की जाएगी—उस परम सत्य की, जहां व्यक्ति विलीन हो जाता है और सिर्फ विराट् शून्य ही रह जाता है। जहां ज्योति खो जाती है अनंत में, जहां सीमाएं असीम में गिर जाती हैं, जहां मैं खो जाता हूं और प्रभु ही रह जाता है।

यह निर्वाण शब्द बहुत अद्भुत है। बुद्ध ने तो परमात्मा शब्द ही छोड़ दिया था, आत्मा शब्द भी छोड़ दिया था। क्योंकि बुद्ध ने कहा कि सारे शब्द बहुत ओंठों पर गुजर कर जूठे हो गए हैं। पर निर्वाण शब्द को वे भी न छोड़ पाए। बुद्ध ने तो सारी की सारी खोज निर्वाण के सत्य पर केन्द्रित कर दी। आपको ख्याल भी न हो कि निर्वाण का अर्थ क्या होता है। निर्वाण का अर्थ होता है दीए का बुझ जाना। जैसे दीए को कोई फूंक मार कर बुझा दे, तो कहां चली जाती है ज्योति?

इस जगत् में जो भी अस्तित्व में है, वह अस्तित्व के बाहर नहीं जा सकता है। वैज्ञानिक भी अब वैसा ही कहते हैं। जो 'है' उसे मिटाया नहीं जा सकता और जो 'नहीं है' उसे बनाया नहीं जा सकता। सिर्फ रूपांतरण होता है, परिवर्तन होता है। न कुछ नष्ट होता है, न कुछ सृजन होता है। एक दीए को फूंक मार दो तो ज्योति बुझकर कहां चली जाती है? मिट तो नहीं सकती है, मिटने का कोई उपाय नहीं है। सिर्फ वही मिट सकता है जो था ही नहीं, लेकिन जो दिखाई पड़ता था। वह नहीं मिट सकता, जो था। जो 'है' वह नहीं मिट सकता।

यह बहुत मजेदार बात है, सिर्फ वही मिट सकता है जो नहीं था। जो है वह नहीं मिट सकता। वह रहेगा ही, वह रहेगा ही किसी भी रूप में, किसी भी आकार में। कहीं भी रहेगा ही। उसके मिटने की कोई संभावना नहीं। दीए की ज्योति बुझ जाती है, मिट नहीं जाती। दीए की ज्योति खो जाती है, समाप्त नहीं हो जाती। हमारी तरफ से जो खोना है, वह किसी दूसरी तरफ से बनना बन जाता है। ज्योति आई थी किसी विराट् से और विराट् में लीन हो जाती है। असीम से आती है और फिर असीम में ही चली जाती है। सागर से ही आती हैं वे बूंदें, जो पहुंचती हैं आपके घर पर और आपके खेत में, बाग में और बगीचे में और फिर सागर में लीन हो जाती हैं।

यह भी ध्यान रखें, एक शाश्वत सूत्र कि जो चीज जहां लीन होती है, वह स्थान वही है जो उद्गम का है। उद्गम और अन्त सदा एक हैं। जहां से कुछ जन्म पाता है, वहीं समाप्त, वहीं लीन, वहीं विदा हो जाता है। आने का द्वार और जाने का द्वार इस जगत् में एक ही है। जन्म और मृत्यु उसी द्वार के नाम हैं, वह द्वार एक ही है। ज्योति खो जाती है वहीं, जहां से आती है। बुद्ध कहते थे, ज्योति के इस खो जाने को ही मैं कहता हूं 'दीए का निर्वाण'। किसी दिन जब अहंकार भी इसी तरह खो जाता है, महाविराट् में, तब उसे मैं व्यक्ति का निर्वाण कहता हूं।

इस उपनिषद् का नाम है निर्वाण उपनिषद् । यह भी थोड़ा सोचने जैसा है कि उपनिषद् की वाणी तो बुद्ध से बहुत पुरानी है । बुद्ध ने जो कहा है वह वही है, जो उपनिषदों में छिपा है । जो गहरे उतरेगा, वह जानेगा कि बुद्ध ने उपनिषदों की जीवन्त व्याख्या की है । लेकिन कैसा आश्चर्य है कि उपनिषदों को सर्वाधिक अपने जीवन में जीने वाला आदमी ही हिन्दुस्तान में ब्राह्मणों को अपना शत्रु मालूम पड़ा । उपनिषद् की अमृतधारा को अपने जीवन से हजार-हजार रूपों में प्रकट करने वाला गौतम बुद्ध, उपनिषद् के जो मालिक बने बैठे पण्डित थे, उन्हें अपना दुश्मन मालूम पड़ा । बुद्ध के विचार को पण्डितों ने भारत से हटाने की अथक चेष्टा की । बुद्ध वही कह रहे थे, जो उपनिषदों ने कहा है । फिर भी ऐसा होता है ।

ऐसा इसलिए होता है कि जब उपनिषद् का ऋषि कुछ कहता है तो वह ऋषि कोई पण्डित नहीं है, पुरोहित नहीं है । वह कोई पुजारी नहीं है । उसने कुछ जाना है । ज्ञान की अग्नि को सभी नहीं झेल पाते । शास्त्र की बात को सभी संभाल पाते हैं । और जब ज्ञान बुझ जाता है और राख रह जाती है, तो शास्त्र बन जाते हैं । पण्डितों के हाथ में ज्ञान नहीं होता, शास्त्र होता है । निश्चित ही जो आज राख है, कभी वह अंगार थी । और उसके अंगार होने के कारण ही हम राख को संभाले चले जाते हैं । पर जो आज राख है, वह अंगार नहीं है, यह भी जान लेना ठीक है ।

बुद्ध के समय तक उपनिषद् राख हो गए थे । असल में जब भी पण्डितों और पुरोहितों के हाथ में—जो जानते नहीं, लेकिन जानने के भ्रम में होते हैं—ज्ञान पड़ता है तो राख हो जाता है । ज्ञान की हत्या करवानी हो तो पण्डितों के हाथ में दे देने से ज्यादा सुगम और कोई उपाय नहीं । पण्डित ज्ञान की हत्या करने में इतने कुशल हैं जिसका कोई हिसाब नहीं । रांख के आप मालिक हो सकते हैं । आग के साथ खेलना खतरनाक है । राख की आप पूजा कर सकते हैं । आग के साथ जूझना खतरनाक है । राख को आप बदल सकते हैं, पर आग आपको बदल देगी, मिटा देगी ।

उपनिषद् के ऋषि तो आग से खेल रहे थे । लेकिन बुद्ध के समय तक आते-आते राख रह गई और जब बुद्ध ने फिर आग की बात की तो स्वाभाविक था कि जो राख की रक्षा कर रहे थे और जो राख को भी आग कह रहे थे, उनको बुद्ध दुश्मन मालूम पड़े हों । यह स्वाभाविक है । क्योंकि जब फिर आग जला दी जाए तो राख के मालिक बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं । जीसस ने वही कहा, जो यहूदी ज्ञाताओं ने कहा था । लेकिन जीसस को यहूदी पण्डितों ने ही सूली पर लटका दिया ।

यह भी जानकर आपको हैरानी होगी कि आज तक धर्म का विरोध करने वाले अधार्मिक लोग नहीं हैं । धर्म का विरोध तो सदा ही तथाकथित धार्मिक, 'सो-काल्ड

रिलीजस' लोग करते हैं । धर्म का विरोध अधार्मिक नहीं करते, धर्म का विरोध तथाकथित धार्मिक लोग करते हैं । बुद्ध का विरोध भारत के नास्तिकों ने नहीं किया, बुद्ध का विरोध भारत के तथाकथित आस्तिकों ने किया । कब हम यह समझ पाएंगे, कहना कठिन है, कब हमें यह बात समझ में आएगी कि सत्य सदा एक है ! नई-नई अभिव्यक्तियां उसकी होती हैं, लेकिन सत्य का प्राण सदा एक है । इस निर्वाण उपनिषद् में, जिसका बुद्ध से कुछ लेना-देना नहीं, बुद्ध ने जो भी कहा है, उसका सब सार है ।

मेरे एक मित्र अभी चीन होकर वापस लौटे हैं । इधर मैं लाओत्से के ऊपर कुछ चर्चा कर रहा था तो उन मित्र ने मुझसे आकर कहा कि आप लाओत्से पर चर्चा कर रहे हैं । मैं चीन गया था तो मैंने चीन के एक पंडित से पूछा कि लाओत्से के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या ख्याल है, तो उसने कहा कि 'वी वेअर करप्टेड बाई योर उपनिषद्', (तुम्हारे उपनिषदों ने हमारे लाओत्से को खराब किया ।) यह बात बड़ी अर्थपूर्ण है । सच तो यह है कि उसने कहा कि 'हमें खराब किया'' इस अर्थ में कि हम सब अच्छे लोग हैं । इस दुनिया में जब भी कोई आदमी खराब हुआ है तो उपनिषदों का हाथ रहा है । खराब उसी अर्थ में, जिस अर्थ में बुद्ध खराब होते हैं, महावीर खराब होते हैं, सुकरात खराब होते हैं, जीसस खराब होते हैं । इस जमीन पर जब भी कोई आदमी खराब हुआ है तो 'ही वाज करप्टेड बाई उपनिषद् ।' अगर आप समझते हैं कि लाओत्से अकेला ऐसा आदमी है तो आप गलती में हैं । जब भी कोई आदमी जमीन पर खराब हुआ है, कोई पांच हजार वर्षों के ज्ञात इतिहास में, तो उपनिषद् ही उसका कारण थे ।

असल में उपनिषदों में जो भी शाश्वत है, उसे इतनी गूढ़ता से कह दिया है कि कई बार ऐसा लगता है कि क्या उपनिषदों से इंच भर भी यहां-वहां हटकर कुछ और कहा जा सकता है । क्या उपनिषदों का किसी तरह परिष्कार हो सकता है ? कैन दे बी इम्प्रूव्ड ? शक होता है, होना बहुत मुश्किल मालूम होता है । संदिग्ध मालूम होता है । कोई उपाय नहीं मालूम होता । और यह एक बड़ा भारी कारण बना है भारत की परेशानी का । उपनिषदों ने सत्य को इतनी शुद्धतम भाषा में कह दिया कि परिष्कार करना मुश्किल पड़ा । इसलिए उपनिषदों के बाद भारत में बौद्धिक विकास मुश्किल हो गया, क्योंकि विकास के लिए कुछ उपाय चाहिए । उपनिषदों में ऐसी चरम बात कह दी गई कि उसके आगे कहने जैसा कुछ नहीं रहा । सत्य की जो परम घोषणाएं हैं, वे उपनिषदों में हैं ।

बहुत अद्भुत निर्वाण उपनिषद् है । इस पर हम यात्रा शुरू करते हैं और यह यात्रा दोहरी होगी । एक तरफ मैं आपको उपनिषद् समझाता चलूंगा और दूसरी तरफ आपको उपनिषद् कराता भी चलूंगा । क्योंकि समझाने से कभी कुछ समझ में नहीं आता, करने से ही कुछ समझ में आता है । करेंगे तभी समझ पाएंगे । इस

जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है, उसका स्वाद चाहिए, अर्थ नहीं। उसकी व्याख्या नहीं, उसकी प्रतीति चाहिए। आग क्या है, इतने से काफी नहीं होगा, आग जलानी पड़ेगी। उस आग से गुजरना पड़ेगा। उस आग में जलना पड़ेगा और बुझना पड़ेगा। तब प्रतीति होगी कि निर्वाण क्या है। और यह कठिन नहीं है।

अहंकार को बनाना कठिन है, मिटाना कठिन नहीं है। क्योंकि अहंकार वस्तुतः है नहीं, सरलता से मिट सकता है। असल में जिन्दगी भर बड़ी मेहनत करके हमें उसे संभालना पड़ता है। सब तरफ से टेक और सहारे लगाकर उसे बनाना पड़ता है। उसे गिराना तो जरा भी कठिन नहीं। इन सात दिनों में अगर आपका अहंकार क्षण भर को भी गिर गया, तो आपको इसकी प्रतीति हो सकेगी कि निर्वाण क्या है।

हम समझेंगे सिर्फ इसीलिए कि कर सकें। मैं जो भी कहूंगा उसे आप अपनी जानकारी नहीं बना लेंगे, उसे आप अपनी प्रतीति बनाने की कोशिश करेंगे। जो मैं कहूंगा, उसे अनुभव में लाने की चेष्टा करेंगे। तभी इस अवसर का सदुपयोग होगा। अन्यथा पांच हजार सालों में उपनिषद् की बहुत टीकाएं हुईं? पर परिणाम तो कुछ भी हाथ नहीं आया। शब्द, और शब्द, और शब्द का ढेर लग जाता है। आखिर में बहुत शब्द आपके पास होते हैं, ज्ञान बिल्कुल नहीं होता। जिस दिन ज्ञान होता है, उस दिन अचानक आप पाते हैं कि भीतर सब निःशब्द हो गया, मौन हो गया। यह प्रार्थना है ऋषि की।

ऋषि ने इसे कहा है, शांति पाठ। परमात्मा से प्रार्थना करनी हो तो कुछ और कहना चाहिए। परमात्मा के लिए शांति के पाठ का क्या अर्थ हो सकता है? परमात्मा शान्त है। लेकिन इसे कहा है, शांति पाठ। जानकर कहा है, बहुत सोच-समझकर कहा है। उल्टे यह कहा है कि प्रार्थना तो करते हैं परमात्मा से, लेकिन करते हैं अपने ही लिए। हम अशान्त हैं और अशांत रहते हुए यात्रा नहीं हो सकती। अशान्त रहते हुए हम जहां भी जाएंगे वह परमात्मा से विपरीत होगा। अशान्ति का अर्थ है, परमात्मा की तरफ पीठ करके चलना।

असल में जितना अशान्त मन, परमात्मा से उतनी ही दूर। अशांति ही डिस्टेंस है, दूरी है। जितना आप अशांत हैं, उतना ही फासला है। अगर पूरे शांत हैं तो कोई भी फासला नहीं है, 'देन देअर इज नो डिस्टेंस।' तब ऐसा भी कहना ठीक नहीं कि आप परमात्मा के पास हैं, क्योंकि पास होना भी एक फासला है। नहीं तब आप परमात्मा में ही हैं। लेकिन शायद यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा में होना भी एक फासला है। तब कहना यही ठीक है कि आप परमात्मा हैं। या तो फिर आप हैं, या परमात्मा हैं। दो नहीं है, क्योंकि जहां तक दो हैं, वहां तक कोई न कोई तल पर फासला कायम रहता है। ऋषि शुरू करता है शांति पाठ से। 'शांति पाठ' इस वक्त सोचने जैसे हैं, सोचने-जैसे इसीलिए ताकि किए जा सकें।

ऋषि कहता है ओम्। ओम् प्रतीक है उसका, जिसे कहा नहीं जा सकता। ओम् शब्द में कोई भी अर्थ नहीं। यह भी मीनिंगलेस है। इसमें कोई भी अर्थ नहीं है। और अगर कोई आपको अर्थ बताता हो, तो उससे कहना कि अनर्थ मत करें। ओम् में कोई भी अर्थ नहीं। यह मात्र ध्वनि है। ध्यान रहे, जहां भी अर्थ होता है, वहां सीमा आ जाती है। अर्थ का अर्थ ही होता है सीमा। जहां भी अर्थ होता है, तो उससे विपरीत भी हो सकता है। सभी शब्दों के विपरीत शब्द हो सकते हैं। ओम् के विपरीत शब्द बताइए? जीवन है तो मृत्यु है, अंधेरा है तो प्रकाश है, अद्वैत है, तो द्वैत है, मोक्ष है तो संसार है। लेकिन ओम् के विपरीत शब्द कभी सुना? अगर अर्थ हो तो विपरीत शब्द निर्मित हो जाएगा। लेकिन ओम् में कोई अर्थ ही नहीं। यही उसकी महत्ता है। अजीब लगेगा, क्योंकि हमारा मन होता है खूब-खूब अर्थ बताये जाएं। ओम् में जरा भी अर्थ नहीं है। 'जस्ट ए साउण्ड,' सिर्फ ध्वनि है। लेकिन बड़ी अर्थपूर्ण है। अर्थपूर्ण ही किसी दूसरे ढंग से।

ओम् प्रतीक है उसका, जो नहीं कहा जा सकता। हम सब-कुछ कह सकते हैं, सिर्फ परमात्मा को नहीं कह सकते। और जब भी हम कहते हैं, तभी कठिनाई शुरू हो जाती है। अगर आस्तिकों ने ईश्वर न कहा होता तो इस जमीन पर नास्तिक पैदा न होते। आपको पता है कि नास्तिक, आस्तिक के पहले कभी पैदा नहीं हो सकता। अगर आस्तिक न हो तो नास्तिक पैदा नहीं हो सकता। क्योंकि नास्तिक तो सिर्फ एक रिऐक्शन है, एक प्रतिक्रिया है। सिर्फ आस्तिक का विरोध है। तो अगर दुनिया से नास्तिक मिटाने हों तो आस्तिक को कुछ बदलाहट स्वयं में करनी पड़ेगी, नहीं तो नास्तिक नहीं मिट सकते। असल में सच्चा आस्तिक, आस्तिक होने का दावा भी नहीं करता, क्योंकि दावे से नास्तिक पैदा होते हैं।

बुद्ध ऐसे ही आस्तिक हैं जो आस्तिक होने का दावा नहीं करते। महावीर ऐसे ही आस्तिक हैं जो आस्तिक होने का दावा नहीं करते। जो परम आस्तिक है वह इतना भी नहीं कहेगा कि ईश्वर है, क्योंकि इतना कहने से किसी को भी हम मौका देते हैं कि वह कह सके कि ईश्वर नहीं है। फिर जिम्मेवारी किसकी है? ज्यों ही हम किसी चीज को कहते हैं, 'है', तो 'नहीं' को निमंत्रण देते हैं। परम आस्तिक से तो अगर कोई कहेगा, ईश्वर नहीं है तो उसमें भी वह हां भर देगा। उसमें भी विवाद खड़ा नहीं करेगा।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन को जीवन के आखिरी दिनों में वृद्ध और अनुभवी जानकर गांव के लोगों ने गांव का न्यायाधीश बना दिया, ताकि गांव का भला हो। पहले ही दिन जिसने अपराध किया था, नसरुद्दीन ने उससे सवाल पूछा। जो भी उसने कहा, नसरुद्दीन ने उसे शांति से सुना। फिर बहुत आनंदित होकर उसने कहा, 'राइट, परफेक्टली राइट (ठीक बिल्कुल ठीक)। अब हम इसका निरपेक्ष फैसला करें।' वकील थोड़े चिन्तित हुए। अभी दूसरा पक्ष तो सुना ही नहीं गया, लेकिन न्याया-

धीश को बीच में टोकना उचित नहीं था। नसरूद्दीन ने दूसरे पक्ष को बोलने के लिए कहा। शांति से सुना। जब पूरी बात हो गई तो कहा—'ठीक, बिल्कुल ठीक (राइट परफेक्टली राइट)।' तब तो वकील और मुश्किल में पड़े। मुंशी ने पास सरक कर नसरूद्दीन के कान में कहा, 'शायद आपको पता नहीं। यह आप क्या कर रहे हैं? अगर दोनों ही बिल्कुल ठीक हैं तो उसमें ठीक कौन है।' नसरूद्दीन ने मुंशी से कहा, 'राइट, परफेक्टली राइट (तुम भी ठीक, बिल्कुल ठीक)।' नसरूद्दीन उठ गया। उसने कहा, 'अदालत अपने काम की नहीं, क्योंकि हम कोई ऐसी बात ही न कहेंगे जिसका कोई विरोध कर सके। अदालत अपने काम की नहीं।'

आस्तिक इतना भी नहीं कहेगा कि नास्तिक गलत है। आस्तिक यह तो कहेगा ही नहीं कि ईश्वर है और मैं सही हूं, क्योंकि यह गलत कहे जाने के लिए निमंत्रण है। और जितने जोर से लोग ईश्वर को सिद्ध करने की कोशिश करते हैं उतने ही जोर से ईश्वर को असिद्ध करने की कोशिश की जाती है।

ओम् अर्थहीन है। यहां कुछ कहा नहीं गया है। ओम् का अर्थ ईश्वर भी नहीं है। इस ओम् में कोई अर्थ ही नहीं है। यह उसके लिए प्रतीक शब्द है जिसको कहा भी नहीं जा सकता। क्योंकि जिसको भी हम कहें, उसे टुकड़ों में बांटना पड़ना है। लेकिन कुछ है अस्तित्व, जो बंटता नहीं। वह अनबंटा है। वह जो अनडिवाइडेड अस्तित्व है, वह जो अस्तित्व है अनबंटा, एक वही है। उसके लिए ही कहा है ओम्। इससे ही शुरू होती है ऋषि की प्रार्थना। ईश्वर से भी नहीं की जा रही है यह प्रार्थना। यह तो अस्तित्व से की जा रही है। ध्यान रहे, जब आप ईश्वर से प्रार्थना करते हैं तब आप बड़े शक करते हैं।

एक सज्जन ने अभी-अभी मुझे पत्र लिखा है। वह पत्र बहुत मजेदार है। उन्होंने लिखा है कि आप में जो-जो ईश्वरीय अंश है, उसको मैं नमस्कार करता हूं। उन्होंने सोचा कि कहीं पूरे आदमी को नमस्कार करें और उसमें कहीं गैर-ईश्वरीय अंश हो तो मेरा नमस्कार बेकार न चला जाए! लेकिन ऋषि जब कहता है, ओम् तो सामने पड़ा हुआ पत्थर भी ओम् का हिस्सा है। आकाश में फैले हुए तारे भी ओम् के हैं। ओम् शब्द सर्वग्राही है, सभी को अपने में लिए हुए है। ओम् की तरफ जो निवेदन है, इसमें कोई चुनाव नहीं है कि किसे। समस्त अस्तित्व को, जो भी है, सबको।

शांति पाठ भी अगर चुनाव करता हो तो अशांति पाठ बन जाता है। लेकिन हम इतना ही चुनाव नहीं करते कि जितने ईश्वर-अंश हों, उसको। हम तो और भी चुनाव करते हैं कि कौन-सा ईश्वर? हिन्दुओं का या मुसलमानों का? फिर भी मैंने सोचा कि जिस आदमी ने पत्र लिखा है, काफी व्यापक हृदय वाला होगा। उन्होंने यह तो नहीं लिखा कि आपके भीतर जितने हिन्दू ईश्वरीय अंश है या जितना मुसलमानी ईश्वरीय अंश है उतने को नमस्कार! फिर भी उनका नमस्कार

काफी व्यापक है! हम तो उसमें भी चुनाव करते हैं। धीरे-धीरे हमारे हाथ में जो बचता है वह हम ही हैं, और कुछ नहीं है।

मैंने सुना है कि एक आदमी का कुत्ता मर गया। उसे कुत्ते से बहुत प्रेम था। आदमी आदमी के बीच तो प्रेम बहुत मुश्किल हो गया है, इसलिए हमें कई और रास्ते खोजने पड़ते हैं। वह बड़ा आदमी था। उसने सोचा कि इस कुत्ते को ठीक मनुष्य-जैसा सम्मान मिलना चाहिए। हालांकि उसे ख्याल ही न रहा कि आदमी तक को कुत्ते जितना सम्मान नहीं मिलता! पर ख्याल नहीं रहता, प्रेमी अंधे होते हैं। वह गया। गांव में एक बड़ा कैथोलिक चर्च था। जाकर उसने पुरोहित को कहा कि मेरा कुत्ता मर गया है और मैं ठीक आदमी-जैसा सम्मान उसे देना चाहता हूं। उस पुरोहित ने कहा, 'तुम पागल हो गए हो। कुत्ता! और आदमी जैसा सम्मान! मैं कुत्तों का पुरोहित नहीं हूं। भाग जाओ तुम यहां से। लेकिन हां, मैं तुम्हें एक सलाह देता हूं कि यहां से नीचे हटकर जो प्रोटेस्टेन्ट चर्च है, तुम वहां चले जाओ। शायद वह पुरोहित राजी हो जाए, क्योंकि आदमी तो वहां कम ही जाते हैं। और फिर प्रोटेस्टेन्ट चर्च है, हो सकता है कि वहां का पुरोहित राजी हो जाए।'

मजबूरी में था आदमी, बेचारा वहां गया। वहां के पुरोहित ने कहा, "तुमने समझा क्या है! तुम हमारा अपमान करने आए हो? कुत्ते को सम्मान? नहीं, यह नहीं हो सकता। लेकिन पास में ही एक मस्जिद है, तुम वहां चले जाओ, और उस मस्जिद का जो मौलवी है, मुल्ला नसरूद्दीन, वह आदमी कुछ तिरछा है, उसके बाबत प्रेडिक्सन नहीं किया जा सकता। वह शायद राजी हो जाए।' वह गया। उसने नसरूद्दीन को कहा। नसरूद्दीन ने सारी बातें सुनीं। बहुत नाराज होकर उसने कहा, 'तुमने समझा क्या है? हम आदमी को भी चुनाव करके सम्मान देते हैं, तुम कुत्ते को लाए हो? बाहर निकल जाओ।' उस आदमी ने सोचा कि शायद वह आगे किसी मंदिर में जाने की सलाह देगा। लेकिन उसने कोई सलाह न दी, तो उसने कहा, 'ठीक है, जाता हूं। कोई और सलाह तो नहीं है?' उसने कहा, 'नहीं, मैं कोई सलाह नहीं देता।' उस आदमी ने कहा कि जाते वक्त इतना मैं बता दूं कि मैंने सोचा था कि पचास हजार रुपए उस पुरोहित के मन्दिर को दान कर दूंगा, जो मेरे कुत्ते को आदमी-जैसा सम्मान देकर दफना दे। नसरूद्दीन ने कहा, 'ठहरो एक मिनट, क्या कुत्ता मुसलमान था तो फिर हम विचार करेंगे।' उस आदमी ने कहा कि नहीं, कुत्ता मुसलमान नहीं था। वह जाने लगा। नसरूद्दीन ने कहा, 'ठहरो, एक क्षण और ठहरो। क्या कुत्ता धार्मिक था?' उस आदमी ने कहा, 'पूछने का कोई मौका नहीं आया।' तो नसरूद्दीन ने कहा, आखिरी बार, एक मिनट और ठहरो। क्या कुत्ता, कुत्ता था? तो फिर हम तैयार हैं।'

मुल्ला की बात ठीक ही है। अविभाजित अस्तित्व के लिए हमारे मन में कोई बात ही नहीं है। विभाजित, और विभाजित। ओम् का अविभाजित अस्तित्व है। तो ऋषि कहता है, ओम् मेरी वाणी मन में स्थिर हो। मेरा मन मेरी वाणी में स्थिर हो जाए। हमारा भोग, हमारी अशांति, हमारे शब्द, हमारे विचार, हमारे जीवन का तनाव निन्यानबे प्रतिशत हमारी वाणी से बोझिल रहता है।

अमरीका के एक प्रेसिडेन्ट कूलरिज थे। वे इतना कम बोलते थे कि कहा जाता है कि दुनिया में किसी राजनीतिज्ञ को इतनी कम गालियां नहीं मिलीं, जितनी कूलरिज को मिलीं, क्योंकि उनको गाली देने का कोई उपाय नहीं था। उनका खंडन भी नहीं हो सकता था। जब वे पहली दफा प्रेसिडेंट हुए तो पत्रकारों के सम्मेलन में, एक पत्रकार ने पूछा कि क्या आप अपनी भविष्य की योजना के सम्बन्ध में बताएंगे? उन्होंने कहा, 'नहीं।' पूछा गया कि इस मसले के सम्बन्ध में आपका क्या उत्तर है। उन्होंने कहा, 'मेरा कोई उत्तर नहीं है।' पूछा गया कि आप किस राजनीतिज्ञ विचार से सर्वाधिक प्रभावित हैं? उन्होंने कहा, 'उत्तर नहीं दूंगा'। और बातें पूछी गईं, नहीं के सिवा उन्होंने कोई उत्तर न दिया। जब सब जाने लगे, तो उन्होंने कहा, 'ठहरना, (डोंट टेक दिस ऑन रिकार्ड) यह जो कुछ मैंने कहा, इसको रिकार्ड पर मत लाओ। इसमें कुछ है ही नहीं। जो भी मैंने कहा है उसे अखबार में मत निकालना। जो मैंने कहा, वह सब गैर-अधिकारिक ढंग से कहा है। मित्रों की तरह बातचीत की है, कुछ कहा नहीं है।' उसने कुछ भी नहीं कहा था। जाते वक्त किसी ने कूलरिज से पूछा कि तुम इतना कम क्यों बोलते हो, तो उसने कहा कि बोला जब, तभी मैं फंसा और मैंने जाना कि नहीं बोलने से कोई मुसीबत कभी नहीं आती।

एक बहुत बड़े जलसे में कूलरिज निमंत्रित थे। नगर की राजधानी की सर्वाधिक सुन्दरी और धनी महिला उनके बगल में थी। उस महिला ने कहा, प्रेसिडेंट कूलरिज, मैंने एक शर्त लगाई है कि आप घंटे भर यहां रहेंगे तो मैं कम-से-कम तीन शब्द आपसे बुलवा कर रहूंगी। कूलरिज ने कहा, "यू लूज" तुम हार गई। फिर घंटे भर बोले ही नहीं। वे सिर्फ हाथ हिलाते रहे।

ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में स्थिर हो जाए। 'कभी आपने सोचा है कि आप ऐसी बहुत-सी बातें कहते हैं, जो आप कहना ही नहीं चाहते। यह बड़ी अजीब बात है। जो बात आपने कभी नहीं कहना चाही थी वह भी आप कहते हैं, आप खुद ही कहते हैं। और फिर भी हम यही कहते सुने जाते हैं कि मैं कहना नहीं चाहता था, मेरे बावजूद ऐसा हो गया। यह वाणी आपकी है! आप बोलना चाहते हैं कुछ, और वाणी से कुछ और निकलता है। सौ में निन्यानबे मौकों पर दूसरे लोग आपसे बुलवा लेते हैं, आप बोलते नहीं। पत्नी भली-भांति जानती है कि वह आज पति से कौन-सा प्रश्न पूछेगी तो कौन-सा उत्तर मिलेगा। पति भी

भली-भांति जानता है कि वह क्या कहेगा और पत्नी क्या बोलेगी। सब यंत्रवत् चलता है।

मन का अर्थ है, हमारे मनन की, चिन्तन की क्षमता। लेकिन मन का हमारी वाणी से कोई सम्बन्ध नहीं है, वाणी हमारी यांत्रिक हो गई है। हम बोले चले जाते हैं, जैसे यंत्र बोल रहा है। एक शब्द भी शायद ही आपने कहा हो जो मन से एक हो। कई बार तो ऐसा होता है कि मन में ठीक विपरीत चलता होता है और वाणी में ठीक विपरीत होता है। किसी से आप कह रहे होते हैं कि मुझे बहुत प्रेम है आपसे और भीतर उसी आदमी की जेब काटने का विचार कर रहे हैं या गर्दन काटने का। 'जेब काटना' मैंने कहा ताकि बहुत अतिशयोक्ति न हो जाए। मन में घृणा चल रही होती है, क्रोध चल रहा होता है और आप प्रेम की बात भी चलाते रहते हैं। आप मित्रता की बातें भी चलाते रहते हैं और भीतर शत्रुता चलती रहती है। ऐसा आदमी अपने को कभी न जान पाएगा। ऐसा आदमी दूसरों को धोखा नहीं दे रहा है, अन्ततः अपने को धोखा दे रहा है।

मुल्ला नसरूद्दीन एक रास्ते से गुजर रहा था। बहुत सर्द थी रात, बर्फ पड़ती थी। कपड़े कम थे, वह गिर पड़ा सर्दी के कारण। उठ न सका, बर्फ में ठंडा होने लगा। तो उसने सोचा, लगता है कि मैं मर जाऊंगा। एक बार उसने अपनी पत्नी से पूछा था कि मरते वक्त क्या होता है, तो पत्नी ने कहा था कि सब हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं। मुल्ला ने देखा हाथ-पैर ठंडे हो रहे हैं, तो उसने सोचा कि मर रहे हैं। चार आदमी पीछे से आए, तब तक वह सोच चुका था कि मैं मर चुका हूं क्योंकि हाथ-पैर बिल्कुल ठंडे हो चुके थे। उन चार आदमियों ने उसे कन्धे पर उठाया, सोचा कि पास के कहीं मरघट में पहुंचा दें। लेकिन वे अजनबी थे, उन्हें गांव का रास्ता मालूम न था, तो चौराहे पर आकर खड़े हो गए। रात अंधेरी होने लगी, बर्फ ज्यादा पड़ने लगी। सोचने लगे, चौराहे पर से किस तरफ चलें। जहां गांव हो इसको वहीं पहुंचा दें ताकि यह दफना दिया जाए। फिर बड़ी देर हो गई।

मुल्ला मन में सोचता रहा। उसे रास्ता मालूम था। पर उसने सोचा, मरे हुए आदमियों का बोलना पता नहीं नियमयुक्त है या नहीं, क्योंकि पत्नी से पूछा नहीं था कि मरा हुआ आदमी बोलता है कि नहीं बोलता है। बहुत देर हो गई। उसने सोचा, अब नियमयुक्त हो या न हो, कहीं ऐसा न हो कि ये भी ठंडे होकर मर जाएं, तो उसने कहा, 'भाइयों, अगर आप नाराज न हों और एक मरे हुए आदमी की बात सुनने में कोई नियम का उल्लंघन न समझें तो मैं आपको रास्ता बता सकता हूं कि जब मैं जिन्दा था तो यह बाईं तरफ का रास्ता मेरे गांव को जाता था।' उन आदमियों ने कहा, 'तू कैसा आदमी है। तू पूरी तरह जिन्दा है, बोल रहा है, तो अभी आंख बन्द कर क्यों पड़ा था?' उसने कहा, 'यह तो

मुझे भी मालूम हो रहा है कि व्याख्या तो यही की थी मेरी पत्नी ने कि हाथ-पैर ठंडे हो जाते हैं, जब आदमी मर जाता है। हाथ-पैर जरूर ठंडे हो गए थे, लेकिन मुझे पता भी चल रहा है किसी न किसी तरह मुझे होना चाहिए।' तो उन्होंने कहा, 'जब तुम्हें यह पता चल रहा था तो तूने आखिर क्यों न कहा कि मैं जिन्दा हूं और उठ कर खड़ा हो जाता।' मुल्ला नसरूद्दीन ने कहा, 'उसका कारण है, (आई एम सच ए लायर) मैं ऐसा झूठ बोलने वाला हूं कि अन्त में खुद ही विश्वास नहीं कर सकता अपनी बात पर। अगर मैं अपने से कहूं कि जिन्दा हूं तो मुझे दो गवाह चाहिए। मैं ऐसा झूठ बोलने (आई एम सच ए लायर) वाला आदमी हूं कि मुझे कभी विश्वास नहीं होता कि जो मैं बोल रहा हूं वह सच है या झूठ।'

जो हम चारों तरफ बोलते रहते हैं, वह धीरे-धीरे हमारा व्यक्तित्व बन जाता है। आपको भी बिना गवाह के विश्वास नहीं हो सकता कि जो बोल रहे हैं वह सही है या झूठ। ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में थिर हो जाए, मेरी वाणी मेरे मन के अनुकूल हो जाए, मेरे मन से अन्यथा मेरी वाणी में कुछ न बचे। जो मेरे मन में हो, वही मेरी वाणी में हो। मेरी वाणी मेरी अभिव्यक्ति बन जाए। मैं जैसा हूं, भला और बुरा। मैं जो भी हूं, वही मेरी वाणी में प्रकट हो। मेरी तस्वीर मेरी ही तस्वीर हो, किसी और की नहीं। मेरा चेहरा मेरा ही चेहरा हो, किसी और का नहीं। मैं प्रामाणिक हो जाऊं। मेरे शब्द मेरे मन के प्रतीक बन जाएं। यह बहुत कठिन बात है।

अपने को छिपाना हमारे जीवन की कोशिश है, प्रकट करना नहीं। और जब हम बोलते हैं जरूरी नहीं कि कुछ बताने को बोलते हों। बहुत बार तो हम कुछ छिपाने को बोलते हैं, क्योंकि चुप रहने में कई बातें प्रकट हो जाती हैं। जैसे आप किसी के पास बैठे हैं और आपको उस पर क्रोध आ रहा है तो अगर चुप बैठे रहें तो क्रोध प्रकट हो जाएगा। अगर आप पूछने लगें, मौसम कैसा है तो वह आदमी आपकी बातचीत में लग जाएगा और आप भीतर सरक जाएंगे। अगर आप चुप-चाप बैठे हैं तो आपकी असली शक्ल ज्यादा देर छिपी नहीं रह सकती। अगर आप बातचीत कर रहे हैं तो आप धोखा दे सकते हैं। बातचीत एक बड़ा पर्दा बन जाती है। और जब हम बातचीत में कुशल हो जाते हैं, जब हम दूसरे को धोखा देने में कुशल हो जाते हैं तो अन्ततः हम अपने को धोखा देने भी कुशल हो जाते हैं।

ऋषि कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में ठहर जाए। मैं जो हूं, वही मेरी वाणी में हो, अन्यथा नहीं। कठिन होगी यह साधना, इसीलिए तो प्रार्थना करता है; क्योंकि वह भी जानता है, यह साधना कठिन है। परमात्मा साथ दे तो शायद हो जाए। अस्तित्व साथ दे तो शायद हो जाए। समस्त शक्तियां अगर साथ दें

तो शायद हो जाए। अन्ततः कठिन है। पहली बात कहता है, मेरी वाणी मेरे मन में ठहर जाए; दूसरी बात कहता है, मेरा मन मेरी वाणी में ठहर जाए।

यह और भी कठिन है। मन का वाणी में ठहरने का अर्थ यह है कि जब मैं बोलूं, तभी मेरे भीतर मन हो! जब मैं न बोलूं तो मन भी न रह जाए। ठीक भी यही है। जब आप नहीं चलते हैं तब भी आपके पास पैर होते हैं। आप कहेंगे, लेकिन उनको पैर कहना सिर्फ कामचलाऊ है। पैर तो वही है जो चलता है। आंख तो वही है जो देखती है, कान तो वही है जो सुनता है। हम कहते हैं अन्धी आंख, तो हम बड़ा गलत शब्द कहते हैं, क्योंकि अन्धी आंख का कोई मत-लब ही नहीं होता। अन्धे का मतलब होता है, आंख नहीं। आंख का मतलब होता है आंख, अंधे का मतलब होता है आंख नहीं लेकिन जब आप आंख बन्द किए होते हैं और आंख का उपयोग नहीं कर रहे होते हैं तो आप बिल्कुल अन्धे होते हैं। आंख का जब उपयोग होता है तभी आंख फंक्शनल है। तभी नाम फंक्शनल हैं, उनकी क्रियाओं से जुड़े हुए हैं।

एक पंखा रखा हुआ है, तब भी उसे पंखा कहते हैं। कहना नहीं चाहिए। पंखा उसे तभी कहना चाहिए जब हवा करता हो। नहीं तो पंखा नहीं कहना चाहिए। हम चाहें तो उससे हवा कर सकते हैं। बस इतना ही। लेकिन अगर आप पुट्ठी की दफ्ती को उठाकर हवा करने लगें तो दफ्ती पंखा हो जाती है। अगर आप एक किताब से हवा करने लगें तो किताब पंखा हो जाती है। यदि किताब फेंककर आपके सिर में मार दूं तो किताब पत्थर हो जाती है। सब चीजों का नाम फंक्शनल है, लेकिन अगर हम वास्तविक नाम चलाएं तो बहुत मुश्किल हो जाए। इसलिए फिक्स्ड—स्थिर—नाम रख लेते हैं।

जब वाणी के लिए जरूरत हो बोलने की, तभी मन को होना चाहिए। बाकी समय नहीं होना चाहिए। हम तो कुर्सी पर भी बैठे रहते हैं तो टांगें हिलाते रहते हैं। कोई पूछे कि क्या कर रहे हैं आप, तो पैर रुक जाते हैं। क्या करते थे आप, बैठे-बैठे चलने की कोशिश कर कर रहे थे या टांगें आपकी पागल हो गई हैं? ठीक ऐसे ही हम बोलते रहते हैं। ठीक ऐसे ही, बाहर कोई वाणी की जरूरत नहीं रहती है तो वाणी भीतर चलती रहती है। हम बाहर नहीं बोलते तो भीतर बोलते हैं। दूसरे से नहीं बोलते, तो अपने से ही बोलते रहते हैं।

ऋषि कहता है, 'मेरा मन भी वाणी में थिर हो जाए।' यह पहली बात से ज्यादा कठिन बात है। इसका अर्थ है, जब मैं बोलूं तभी मन हो, जब मैं न बोलूं तो मन भी न हो जाए, मन भी न रहे। जैसे, जब बैठें तो पैर न चले, जब सोएं तब शरीर खड़ा न हो, ऐसे ही जब चुप हो जाएं तो मन भी शान्त और शून्य हो जाए। पहले से शुरू करना पड़ेगा। जिसने पहला नहीं किया, वह दूसरा न कर पाएगा। पहले तो वाणी को मन में ठहराना पड़ेगा। उतना ही रह जाने दें वाणी

को जितना मन के, स्वभाव के, अनुकूल है, बाकी हट जाने दें। बाकी सब झूठ गिर जान दें।

तब बहुत कम बचेगी वाणी। अगर आप मन में वाणी को थिर करें तो नब्बे प्रतिशत वाणी विलीन हो जाएगी, विदा हो जाएगी। नब्बे प्रतिशत तो व्यर्थ है। और इस व्यर्थ से कितना उपद्रव पैदा होता है, जीवन कैसा उलझता चला आता है, इसका हिसाब लगाना कठिन है। दस प्रतिशत वाणी जब बचेगी तब टेली-ग्राफिक बन जाएगी। आदमी चिट्ठी लिखता चला जाता है। वहा आदमी टेली-ग्राम करने जाता है तो दस शब्दों में लिख देता है, वह कम से कम में लिखता है। टेलीग्राम में उतना कह देता है जितना पूरे पत्र में नहीं कह पाता है। इसलिए टेलीग्राम का जो प्रभाव होता है, वह पत्र का नहीं होता। असल में लम्बा पत्र वही लिखता है जिसे पत्र लिखना नहीं आता। असल में लम्बी बात वही कहता है जिसे कहना नहीं आता।

लिंकन से कोई पूछ रहा था कि जब आप घंटा भर व्याख्यान देते हैं तो आपको कितना सोचना पड़ता है। लिंकन ने कहा, बिल्कुल नहीं। जब घंटे भर ही बोलना है तो सोचने की जरूरत ही क्या है। उसने पूछा, जब आपको दस मिनट तक बोलना पड़ता है तब? तो लिंकन ने कहा, काफी मेहनत उठानी पड़ती है और जब दो ही मिनट बोलना होता है तब तो मैं रात भर सो नहीं पाता। क्योंकि कचरे को हटाना पड़ता है, हीरे को छांटना पड़ता है।

जब वाणी मन में ठहरती है तब टेलीग्रैफिक हो जाती है, तब बिल्कुल संक्षिप्त हो जाती है। ये उपनिषद् ऐसे ही लोगों ने लिखे हैं। इसलिए बहुत छोटे में पूरे हो जाते हैं। सब संक्षिप्त हो जाता है। सारभूत रह जाता है—निचोड़। जो भी अनावश्यक है, वह हट जाता है। पहले यह करना जरूरी है, अगर दूसरी बात करनी हो। पहले व्यर्थ वाणी काटनी पड़ेगी। जब सार्थक वाणी रह जाएगी तो व्यर्थ मन के रहने की कोई जरूरत नहीं। जब जरूरत होगी, तब आप बोल लेंगे।

आप इतना सोचते क्यों हैं? सोचते इसलिए हैं कि आपको भरोसा नहीं है कि आपकी वाणी में और आपके बीच में कोई मेल है। इसलिए पहले से तैयारी करते हैं कि क्या बोलूं, क्या न बोलूं। सब सोचते हैं। छोटी-छोटी बात आदमी सोचकर करता है। वह दफ्तर में जा रहा है और उसे अपने अधिकारी से छुट्टी लेनी है तो भी वह दस दफे रिहर्सल कर लेता है मन में कि क्या कहूंगा। फिर अधिकारी क्या कहेगा, फिर मैं क्या जवाब दूंगा। वह सब सोचकर जाता है। अपने पर इतना भी भरोसा नहीं है कि अधिकारी क्या कहेगा तो उसका मैं क्या जवाब दे सकूंगा। आप वहां जवाब न दे सकेंगे, और वहां जवाब न दे सकने वाले आप ही तो रिहर्सल कर रहे हैं। बड़े मजे की बात यह है। आप ही रिहर्सल कर रहे हैं।

सुना है मैंने एक नाटक का रिहर्सल चल रहा है। वह जो नाटक का आयोजन

करने वाला है, वह बड़ा परेशान है। रिहर्सल में कभी अभिनेता मौजूद नहीं रहता, तो कभी अभिनेत्री नहीं आती, कभी संगीतज्ञ नहीं आता। कभी यह नहीं आता, कभी वह नहीं आता। वह रिहर्सल व्यक्ति की कमी से नहीं हो पाया। सिर्फ एक व्यक्ति परदा उठाने वाला है। वह नियमित आया, बाकी कोई भी नियमित नहीं आया। आखिरी ग्रैंड रिहर्सल था। आयोजक ने कहा, आज मुझसे कहे बिना नहीं रहा जाता कि परदा उठाने वाले को मैं धन्यवाद दूं क्योंकि आप सब में से कोई भी ऐसा नहीं है जो चूका न हो। सिर्फ यह एक आदमी है जो नियमित आया है। उस आदमी ने कहा, धन्यवाद देने के पहले क्षमा करें। मुझे मजबूरी थी, क्योंकि आज जब नाटक होगा तो मैं न आ पाऊंगा। इसलिए मैंने सोचा कि कम से कम जितना मैं कर सकता हूं, उतना तो करूं। नाटक आज होने वाला है। मैंने सोचा कि आज तो मैं आ ही नहीं पाऊंगा, यह तो पक्का ही है, तो कम से कम रिहर्सल में मैं मौजूद रह ही जाऊं।

वह जो रिहर्सल आप कर रहे हैं, जिस आदमी पर भरोसा करके, ध्यान रखना, ठीक नाटक के वक्त वह गड़बड़ हो जाएगा। वे वहां न पाए जाएंगे। क्योंकि अगर वह वहां पाए जा सकते तो रिहर्सल की कोई जरूरत न थी। जब मुझे ही कुछ कहना है तो तैयारी का क्या सवाल है। जब मैं ही तैयारी करने वाला, मैं ही कहने वाला तो ठीक है, मैं ही कह लूंगा। लेकिन तैयारी इसलिए कर रहा हूं कि भरोसा नहीं है।

मन और वाणी में कोई संयोग नहीं है। पता नहीं कि सोचूं कुछ, कहूं कुछ, निकल जाए कुछ। कुछ भी पक्का पता नहीं है। इसलिए ठीक सब तैयार कर लेना है और वाणी पर व्यवस्था बिठा लेनी है। क्योंकि कहीं शुद्ध मन, सही मन, वाणी के बीच में प्रकट हो जाए, तो सब अस्त-व्यस्त हो जाए।

ऋषि कहता है, वाणी छंट जाए, उतनी ही रह जाए जितनी मेरे मन के साथ ताल-मेल है। सच-सच अथेंटिक, प्रामाणिक। और फिर प्रभु, मेरा मन ही मेरी वाणी में थिर हो जाए। मैं तभी मन का उपयोग करूं, जब वाणी की जरूरत हो। यह तूलिका तभी उठाऊं, जब चित्र बनाना हो और मैं वीणा का तार तभी छेड़ूं जब गीत गाना हो। मैं मन का काम तभी करूं जब कुछ प्रकट करना हो। मन अभिव्यक्ति का माध्यम है (जस्ट ए मीडियम ऑफ एक्सप्रेशन)। तो अब आप बोल नहीं रहे हैं, प्रकट नहीं कर रहे हैं, तब मन की कोई भी जरूरत नहीं है। लेकिन हमारी आदत है। बैठे हैं, सोए हैं, मन चल रहा है। हमारे भीतर पागल मन है।

महात्मा गांधी को जापान से किसी ने तीन बन्दरों की मूर्तियां भेजी थीं। गांधी जी उनका अर्थ जिन्दगी भर नहीं समझ पाए। जो समझे वह गलत था। जिन्होंने भेजी थीं उनसे भी उन्होंने अर्थ पुछवाया। उनको भी पता नहीं था। आपने उन तीनों बन्दरों की मूर्तियां चित्र में देखी होंगी। एक बन्दर आंख पर हाथ लगाए बैठा

है। एक कान पर हाथ लगाए बैठा है, एक मुंह पर हाथ लगाए बैठा है। गांधी जी ने जो व्याख्या की, वह वही थी, जो वे कर सकते थे। उन्होंने व्याख्या की कि यह बन्दर जो कान पर हाथ लगाए बैठा है, उसका अर्थ है कि बुरी बात मत सुनो। मुंह पर हाथ लगाए बैठा है कि बुरी बात मत बोलो। आंख पर हाथ लगाए बैठा है कि बुरी बात मत देखो। लेकिन इससे गलत कोई व्याख्या नहीं हुई। क्योंकि जो आदमी बुरी बात मत देखो, ऐसा सोचकर आंख पर हाथ रखेगा उसे पहले तो बुरी बात देखनी पड़ेगी। नहीं तो पता नहीं चलेगा कि यह बुरी बात हो रही है, मत देखो। तो तब तक देख ही ली आपने। और बुरी बात की यह खराबी है कि आंख अगर थोड़ी देख ले तो फिर आपने आंख बन्द की तो भीतर दिखाई पड़ती है। वह बन्दर बहुत मुश्किल में पड़ जाएगा। बुरी बात मत सुनो, लेकिन सुन लोगे तभी पता चलेगा कि बुरी है। फिर कान बन्द कर लेना तो वह बाहर भी न जा सकेगी। अब वह भीतर घूमेगी। नहीं, यह मतलब नहीं है।

मतलब यह है कि देखो ही मत, जब तक भीतर देखने की कोई जरूरत न आ जाए। सुनो ही मत, जब तक भीतर सुनना अनिवार्य न हो जाए। बोलो ही मत, जब तक भीतर बोलना अनिवार्य न हो। यह बाहर से सम्बन्धित नहीं है, लेकिन गांधी-जैसे लोग सारी चीजें बाहर से ही समझते हैं। यह भीतर से सम्बन्धित है। बुरी बात को अगर मुझे सुनने के लिए बाहर से चुनाव करना पड़े तो बाहर वाले पर मुझे निर्भर होना पड़ेगा। पता नहीं वह कब बोल देगा। हो सकता है गाना-बजाना शुरू करे, फिर गाली दे दे। क्या कीजियेगा? और अगर गाली देना हो तो संगीत से शुरू करना सुविधापूर्ण होता है। बन्द करते-करते तो बात पहुंच जाएगी। यह तो बड़ी कमजोरी है कि बुरी बात सुनने से आप बुरे हो जाते हैं तो बिना सुने आप पक्के बुरे हैं। इस तरह बचाव न होगा।

लेकिन यह मत सोचना कि यह बात बन्दरों के लिए है। असल में जापान में परम्परागत रूप से इन बन्दरों की मूर्तियां बनाई जाती हैं, क्योंकि जापान में कहा जाता रहा है कि आदमी का मन बन्दर की तरह है। और जो भी थोड़ा-सा मन को समझते हैं, वह समझते हैं कि मन बन्दर है। डार्विन ने तो बहुत बाद में समझा कि आदमी बन्दर से ही पैदा हुआ है। लेकिन मन को समझने वाले सदा से ही जानते रहे हैं कि मन आदमी का बिल्कुल बन्दर है।

आपने बन्दर को उछलते-कूदते, बेचैन हालत में देखा है। आपका मन उससे ज्यादा बेचैन हालत में, उससे ज्यादा उछलता-कूदता है पूरे वक्त। अगर कोई इन्तजाम हो सके और आपकी खोपड़ी में कुछ खिड़कियां बनाई जा सकें और बाहर से लोग आपके मन को देखें तो बहुत हैरान हो जाएंगे कि यह आदमी क्या कर रहा है। हम तो देखते थे कि पद्मासन लगाए बैठा है, पर भीतर से यह बड़ी यात्राएं कर रहा है, बड़ी छलांगें मार रहा है—इस झाड़ से उस झाड़ पर। यह

भीतर चल रहा है। भीतर आदमी का मन बन्दर है।

उन मूर्तियों का अर्थ आपके लिए उपयोगी होगा इन सात दिनों के लिए। वह देखो जिसे देखने की कोई अनिवार्यता नहीं है। कैसा अजीब काम हम कर रहे हैं। रास्ते पर चले जा रहे हैं तो जो दन्त मंजन का विज्ञापन है वह भी हम पढ़ रहे हैं, साबुन का विज्ञापन है वह भी हम पढ़ रहे हैं। जैसे पढ़ाई-लिखाई आपकी इसी-लिए हुई थी।

अमरीका का एक बहुत विचारशील व्यक्ति एक चौराहे से गुजर रहा है। चौराहे पर उसने चमचमाते रंग-बिरंगे प्रकाश में एक विज्ञापन देखा। उसने कहा, हे परमात्मा, अगर मैं पढ़ा-लिखा न होता तो रंगों का मजा ले सकता लेकिन पढ़ क्या गया, खोपड़ी पकी जा रही है। जलते हुए विज्ञापन: 'लक्स टायलेट सोप' और 'पनामा सिगरेट, सरस सिगरेट है' वह पढ़े जा रहे हैं, खोपड़ी में कुछ भी कचरा डाला जा रहा है। आप अपनी आंख के इतने भी मालिक नहीं कि कचरे को भीतर न जाने दें। अनिवार्य रूप से देखें तो आपकी आंख का जादू बढ़ जाएगा। देखने की दृष्टि बदल जाएगी। क्षमता और शक्ति आ जाएगी। अनिवार्य हो, तो उसे सुनें और आप सुन पाएंगे।

मैंने फ्रायड के सम्बन्ध में एक संस्मरण सुना है। फ्रायड का जो मनो-विश्लेषण है उसमें तो मरीज घंटों बोलता है और मनोवैज्ञानिक को उसके पीछे बैठकर सुनना पड़ता है। फ्रायड बूढ़ा हो गया है और एक जवान मनोवैज्ञानिक उसके पास शिक्षा पा रहा है। तीन घंटे में एक मरीज परेशान कर देता है जवान मनोचिकित्सक को। और फ्रायड सुबह से लेकर आधी रात तक सुनता रहता है दस-दस घंटे, लेकिन ताजा का ताजा बाहर निकलता है। एक दिन दोनों रास्ते पर सीढ़ियों पर मिल गये, तो जवान शिष्य ने कहा कि मैं हैरान हूं। एक मरीज मुझे पस्त कर देता है। तीन घंटे पागलों को सुनना, खोपड़ी पक जाती है और आप हैं कि सुबह से रात तक इस उम्र में सुन लेते हैं, और जब देखो तब ताजे बाहर निकलते हैं। तो फ्रायड ने कहा, 'सुनता कौन है? (हू लिसेन्स ?) वे बोलते हैं, लेकिन सुनता कौन है! सुनोगे तो थक ही जाओगे।' उसने कहा, 'आप कह क्या रहे हैं, अगर सुनते नहीं तो उससे बकवास करवाते क्यों हैं?' फ्रायड ने कहा, उसको बकवास करने से राहत मिल जाती है। निकाल लेता है कचरा अपने दिमाग का। अब तो आपको प्रोफेशनल सुनने वाले खोजने पड़ेंगे।

ट्रेडीशनल (परम्परागत) सुनने वाले न रहे। न पत्नी सुनने को राजी है, न बेटा सुनने को राजी है, न पति सुनने को राजी है, न बाप सुनने को राजी है। कोई बात सुनने को राजी नहीं है। इसलिए सारे पश्चिम में, योरोप में, अमरीका में जो मनोवैज्ञानिक हैं बेचारे उनका कुल धन्धा है इतना कि वे आपकी बकवास सुनते हैं और आपसे पैसे लेते हैं। बकवास सुनाकर आपको राहत मिलती है।

आप घर आ जाते हैं। आप समझते हैं चिकित्सा हो रही है। दो-तीन साल बकवास करके आप थक जाते हैं, शांत हो जाते हैं। बस, और कोई शांति नहीं मिलती। लेकिन तीन साल अगर कचरा निकालने का मौका मिले, और कोई आदमी सहानुभूति से सुने तो राहत मालूम पड़ती है। इसलिए तो हम एक-दूसरे को पकड़ते हैं। मिला कोई कि हमने शुरू किया, अपना दुख रोना। जैसे दूसरे के दुख कुछ कम हैं।

अभी एक वृद्ध महिला मुझसे मिली। वह राजस्थान की है। सत्तर साल की बूढ़ी है। उसने कहा, पूरे इण्डिया में मुझसे ज्यादा दुखी कोई नहीं है। फिर उसने मेरी तरफ देखा। 'पूरे इण्डिया' सुनकर मैं भी थोड़ा चौंका। उसने कहा, 'अगर आप न मानें तो कम से कम पूरे राजस्थान में मुझसे अधिक दुखी कोई भी नहीं है।' हर आदमी यही सोच रहा है कि उससे अधिक दुखी कोई भी नहीं है। जो मिल जाए, उसे सुना देने की उत्सुकता है, तत्परता है। यह सुनना, यह बोलना, यह देखना—यह सब का सब शक्ति का अपव्यय है।

तो ऋषि कहता है, मेरी वाणी में मेरा मन थिर हो जाए। हे स्वयं प्रकाश आत्मा, मेरे सम्मुख तुम प्रकट हो जाओ। लेकिन तभी, जब मेरी वाणी शांत हो जाए, मेरा मन मौन हो जाए। क्योंकि उससे पहले अगर परमात्मा आपके सामने प्रकट हो तो आप पहचान न पाएंगे। और ध्यान रहे, परमात्मा चौबीस घण्टे आपके सामने प्रकट है लेकिन आप पहचान नहीं पाते हैं। पहचान आप तभी पाएंगे जब आप शांत, निर्मल दर्पण की तरह हो जाएंगे। जब मन मौन होगा और वाणी शून्य होगी तब आप अचानक पाएंगे कि परमात्मा तो सदा से मौजूद था, मैं ही मौजूद नहीं था कि उसे देख पाऊं, पहचान पाऊं, अनुभव कर पाऊं।

वह सब तरफ मौजूद है। इसलिए ऋषि कहता है, जब ऐसा हो जाए तभी तुम प्रकट होना क्योंकि तुम अगर अभी प्रकट भी हो जाओ तो मैं अभी नहीं हूं। उस प्रकट होने का कोई अर्थ नहीं होगा। हम सब उल्टे लोग हैं। इस ऋषि से जरा अपने को तोल लो।

कल स्टेशन पर मुझे बम्बई से एक मित्र विदा दे रहे थे। उस मित्र ने मेरे हाथ पकड़ कर बहुत भाव से कहा कि हम तो बुरे हैं, हम तो बेचैन हैं, हम तो परेशान है, लेकिन परमात्मा खुद क्यों प्रकट नहीं हो जाता। उसको क्या तकलीफ हो गई। माना कि हम बुरे हैं और हमसे कुछ नहीं हो सकता, लेकिन इससे उसका क्या बिगड़ जाएगा, वह प्रकट हो जाए। हम जैसे हैं उसी के सामने प्रकट हो जाएं। उन मित्र को समझाना मुश्किल पड़ेगा कि वह प्रकट है। यह सवाल नहीं है कि वह प्रकट हो जाए। वह प्रकट है। लेकिन आप ऐसी बात कह रहे हैं कि एक आदमी जो आंख बन्द किए खड़ा है, वह कहता है कि मैं तो आंख बन्द किए हुए हूं। वह तो ठीक है, लेकिन प्रकाश को क्या अड़चन हो रही है। प्रकाश तो प्रकट हो जाए। हम आंख बन्द किए हैं, किए रहें। हमारी आंख बन्द करने से प्रकाश को क्या लेना-देना है! यह प्रकाश जिद क्यों करता है कि तुम जब आंख खोलोगे तब मैं प्रकट होऊंगा! प्रकाश की कोई जिद नहीं, प्रकाश प्रकट है। जिद आपकी है कि आप आंख बन्द किए हुए हैं और प्रकाश आपको इतना स्वतन्त्र किए हुए हैं कि आपकी आंख को जबरदस्ती नहीं खोलेगा। प्रकाश अनंत प्रतीक्षा कर सकता है।

परमात्मा तो प्रकट है, हम सब तरफ से बन्द हैं। इसलिए ऋषि ने एकदम से नहीं कहा कि हे प्रभु, तू प्रकट हो जा। उसने पहले प्रार्थना की, मेरी वाणी, मेरा मन!…और तब वह कह रहा है, हे स्वयं प्रकाश-आत्मा!…(परमात्मा तो प्रकाशवान है ही। वह तो स्वयं प्रकाश है ही)। मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। उस शांत, शून्य और जाग्रत क्षण में, उसी क्षण में प्रकट होने का कोई अर्थ है। लेकिन वह प्रकट होना भी हमारी तरफ से है, उसकी तरफ से नहीं। जब कोई आंख खोलेगा तो उसे ऐसा ही लगेगा कि प्रकाश प्रकट हुआ। उसके लिए तो हुआ है। प्रकाश था। सिर्फ आंख बन्द थी।

ऋषि आगे कहता है, 'हे वाणी और मन।' थोड़ा सोचने-जैसा है, बहुत प्रायोगिक है। परमात्मा से प्रार्थना की है, सत्ता से प्रार्थना की है कि मेरी वाणी को शांत कर दो, शून्य कर दो और मन में स्थिर कर दो और मेरे मन को मेरी वाणी में स्थिर कर दो। लेकिन ख्याल रखा गया है कि वाणी और मन को भी कोई चोट न पहुंच जाए। तो ऋषि कहता है, हे वाणी और मन, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे ज्ञान का नाश न करो। मैं इस ज्ञान के अभ्यास में दिन-रात व्यतीत करता हूं। मन और वाणी के प्रति भी वैमनस्य नहीं है, शत्रुता नहीं है, ऐसा भाव नहीं है कि वह दुश्मन है।

इस जगत् में जिन्होंने सच में ही गहरी यात्राएं की हैं, उन्होंने उन सबों को भी, जो मार्ग में बाधा बनाते हैं, अपनी सीढ़ी बना लिया है और यह हम पर निर्भर है। रास्ते पर से मैं गुजर रहा हूं, एक पत्थर पड़ा है। मैं छाती पीटकर चिल्लाता हूं, रोता हूं कि यह अवरोध है, हिन्ड्रेंस है। लेकिन जो जानता है, वह पत्थर पर पैर रखकर पार हो जाता है। और जो पत्थर पर पैर रखता है तो जो उसे पत्थर के नीचे से कभी भी दिखाई नहीं पड़ा था, वह पत्थर के ऊपर चढ़कर दिखाई पड़ जाता है। तल बदलता है। मन को गाली देने वाले साधु-सन्त बहुत ज्यादा मिलेंगे। लेकिन हे वाणी और मन! ऐसे आदर से, वाणी और मन को भी सम्बोधन करने वाले ऋषि को खोजना थोड़ा कठिन पड़ेगा। गांव-गांव मिल जाएंगे वे लोग जो कहेंगे, मन, यही शैतान है, यही शत्रु है! लेकिन ऋषि कहता है, हे वाणी और मन!

संत फ्रांसिस जिस दिन मरा तो लोग हैरान हुए कि उसने परमात्मा से मरते

वक्त प्रार्थना नहीं की। आंखें खोलीं आखिरी क्षण में। शिष्य सोचते थे, वह प्रभु की प्रार्थना करेगा। जिसने जीवन भर प्रार्थना में बिताया, उसने अंतिम क्षण में अपने शरीर से कहा, हे मेरे प्यारे शरीर, तुमने मुझे पूरा साथ दिया। मैंने तेरी अनेक बार उपेक्षा की और अनेक बार तुझसे लड़ा भी, फिर भी तुमने मेरा साथ न छोड़ा। नहीं जानता था, तब समझता था कि तू मेरा दुश्मन है, जब जाना तो पाया कि तू मेरा साथी है। तू मुझे शराब-घर भी पहुंचा सकता है, मंदिर भी। और सदा निर्णय मैं लेता हूं कि कहां जाना है, तू सदा साथ हो जाता है।

ऋषि कहता है, हे मेरी वाणी ! इस जगत् में सभी कुछ परमात्मा का है। जो ठीक उपयोग (राइट यूज) करना जानते हैं, वे प्रत्येक चीज को साधन बना लेते हैं। मन और वाणी भी साधन बन सकते हैं। तो ऋषि कहता है, 'हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो।' इधर एक बात और ख्याल में ले लेनी जरूरी है।

मूल-सूत्र में शब्द उपयोग हुआ है वेद। हिंदी में अनुवाद किया है, तुम मेरे वेद-ज्ञान के आधार हो। लेकिन मैं दो में से एक ही कोई शब्द उपयोग कर सकता हूं। क्योंकि वेद का भी अर्थ ज्ञान होता है और ज्ञान का भी अर्थ वेद होता है। तो वेद-ज्ञान जैसा कोई भी अर्थ नहीं होता। वेद-ज्ञान पुनरुक्ति है, रिपीटीशन है। वेद का अर्थ ज्ञान ही होता है और ज्ञान का अर्थ तो वेद है। वेद उसी से बनता है। जिससे हमारा विद्वान बनता है विद्। विद् का अर्थ होता है जानना। लेकिन जो शास्त्रों को लिखते हैं और अनुवाद करते हैं उन्हें उस ज्ञान का बहुत कम पता होता है। वेद-ज्ञान का अर्थ होता है वेद-संहिता, वह किताब जो संग्रहीत है—स्क्रिप्ट और शास्त्र। वेद का अर्थ शास्त्र नहीं है। सब शास्त्र वेद से ही निकलते हैं, ज्ञान से ही निकलते हैं। हिन्दुओं के वेद की बात नहीं कर रहा हूं। क्योंकि वेद किसका हो सकता है, ज्ञान किसका हो सकता है ! सब ज्ञान वेद से निकलता है। लेकिन कोई शास्त्र वेद को सीमित नहीं कर पाते, ज्ञान को सीमित नहीं कर पाते। तो मैं न कहूंगा, वेद ज्ञान है। ज्ञान काफी है। वेद से तत्काल हमें ख्याल आता है उस संहिता का, उस संग्रह का, जिसे हम वेद कहते रहे हैं।

ऋषि कह रहा है तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो। साधारण साधु-संन्यासी तो लोगों को समझाते हैं कि मन अज्ञान का आधार है, यह वेद का आधार, ज्ञान का आधार नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मन से जो ज्ञान मिलता है उस पर जो रुक जाए, वह ज्ञानी है। मन तो सिर्फ एक जंपिंग बोर्ड, एक आधार है जहां से छलांग लगानी पड़ती है। अ-मन में 'नो-माइन्ड' में। उसकी आगे बात करेंगे। लेकिन जिसे अ-मन में जाना है, उसे भी मन को आधार बना-कर जाना पड़ता है।

यहां बड़ी भूलें होती हैं। भूलें ऐसी हो जाती हैं कि एक आदमी सीढ़ी चढ़ता

हो मकान की तो हम उससे कहें कि तू सीढ़ी क्यों चढ़ रहा है, क्योंकि चढ़ जाने के बाद सीढ़ी छोड़नी पड़ेगी। और अगर आदमी तर्कवादी हो, बुद्धिवादी हो, अपने को इंटलेक्चुअल समझने की भूल में पड़ा हो, जैसा कि अधिक पढ़े लोग होते हैं, तो वह राजी भी हो सकता है। वह कहेगा, ठीक है सीढ़ियां छोड़ ही देनी हैं, उसे पकड़ें ही क्यों ; उसे यहीं छोड़ दें। लेकिन आप नीचे ही रह जाएंगे। लेकिन तर्कवादी दूसरा रूप भी ले सकता है। तर्क हमेशा डबल एजड है, द्वि-धारी है।

तर्क दूसरा रूप भी ले सकता है। वह यह भी ले सकता है, अच्छा, तो हम सीढ़ियां छोड़ेंगे ही नहीं। चढ़ेंगे जरूर, छोड़ेंगे नहीं। चढ़ जाए, छत आ जाए और वह कहे, जिन सीढ़ियों पर इतनी मुश्किल से चढ़े हैं, उनको छोड़ देना क्या उचित है ? और जिन सीढ़ियों ने इतना साथ दिया उनको छोड़ देना उचित है क्या ? अब हम न छोड़ेंगे, तब तो उन पर ही खड़े रह जाएंगे। नहीं, जो जानता है वह सीढ़ियों पर चढ़ता भी है और सीढ़ियों को छोड़ता भी है।

इस जगत् में सभी साधन पकड़ने पड़ते हैं और छोड़ने पड़ते हैं। साधन का अर्थ ही है, जिसे किसी स्थिति में पकड़ना पड़ता है और फिर किसी स्थिति में छोड़ देना पड़ता है। ध्यान भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। प्रार्थना भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। परमात्मा भी पकड़ेंगे और छोड़ेंगे। अन्ततः उस जगह पहुंच जाएंगे जहां कुछ छोड़ने को भी नहीं बचता और पकड़ने को भी नहीं बचता। वही निर्वाण है।

तो ऋषि कहता है, 'हे मन और वाणी ! तुम मेरे ज्ञान के आधार हो।' जो अभी मैं जानता हूं, तुम्हारे द्वारा ही जानता हूं। अगर मैं यह भी जानता हूं कि अभी नहीं जान पाया हूं तो भी तुम्हारे ही द्वारा जानता हूं। अगर मुझे यह भी पता चल गया है कि तुम्हारे द्वारा मैं सब कुछ न जान पाऊंगा तो यह भी तुम्हारे द्वारा ही जानता हूं।

यहां बड़ी भूलें होती हैं, जैसे कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, वह इसी सूत्र से सम्बन्धित है। इसके विपरीत जो भीड़ हो जाती है उन्हीं से उनकी चर्चा है। अगर कृष्ण-मूर्ति से पूछें कि ध्यान करें, तो वे कहेंगे ध्यान ! ध्यान किसलिए ? आप कहेंगे, ताकि मन के पार चला जाऊं। कृष्णमूर्ति पूछेंगे, ध्यान करोगे किससे, मन से ? मन से करोगे तो मन के पार कैसे जाओगे ? तो मन और मजबूत हो जाएगा। तो ध्यान मत करना। अगर मन के पार जाना है तो ध्यान मत करना। और न मालूम कितने नासमझ यह सोचकर ध्यान नहीं करते कि मन के पार जाना है, ध्यान कैसे करें। और कभी भी नहीं सोचते कि 'न करने' से मन के पार चले गए। न करने से पार गए नहीं। करेंगे तो पार जा न सकेंगे, तो बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाती है।

चालीस-चालीस साल से कृष्णमूर्ति को सुनने वाले लोग हैं। पता नहीं वह क्या सुनते हैं, अब भी क्या सुनते होंगे उनसे! वह वही कह रहे हैं चालीस साल से। इधर पचास सालों में एक ही बात को चालीस साल अगर कोई आदमी कह रहा है तो वे कृष्णमूर्ति हैं। एक ही बात को सतत् चालीस साल से लोग उनको सुन रहे हैं और बूढ़े हो गए हैं बैठे-बैठे। ऐसे लोग हैं, जिनकी जगह बंधी हुई है। उनकी सभा में उसी खम्भे के पास, तो खम्भे के पास चालीस साल से बैठ रहा है वह आदमी। मेरे एक मित्र ने कहा, वह एक आदमी को देखते हैं, वह हरी टोपी लगा कर आता है। अस्सी साल का बूढ़ा है। दस साल से तो वही देख रहे हैं कि उसी जगह पर वह आकर बैठ जाता है। फिर वही सुनकर चला जाता है। अगर मन के पार जाना है, तो कृष्णमूर्ति कहते है, 'मन में कैसे जाओगे। ध्यान किससे करोगे? मन से ही करोगे तो मन के पार कैसे जाओगे? इसलिए ध्यान नहीं करना। मन के पार चले जाओ।'

लेकिन सुनने वाला कभी नहीं पूछता कि वह कृष्णमूर्ति को किससे सुन रहा है, मन से? तो अगर मन से ही सुनता है तो मन के पार कैसे जाओगे? सुनते रहो चालीस साल, वहीं के वहीं रहोगे। सुनोगे तो मन से ही। सुनने का तो और कोई उपाय ही नहीं है। यह मन से ही सुनना पड़ेगा। फिर बड़ी हैरानी होती है कि अगर मन से सुनकर कोई पार जा सकता है तो मन से घूमकर, गुनकर पार क्यों नहीं जा सकता है। और अगर मन से शब्दों को लेकर पार जा सकता है तो मन से फिर प्रयोगों को लेकर पार क्यों नहीं जा सकता!

कृष्णमूर्ति कहते हैं, अगर ध्यान किया तो मन की कण्डीशनिंग हो जाएगी। लेकिन चालीस साल से बैठकर एक आदमी तुम्हारी ये बातें सुन रहा है, तो उसका मन क्या कण्डीशंड नहीं हो गया है? वह यही बातें दोहराने लगा है। सच यह है कि जब तक हम मन में खड़े हैं तब तक मन के पार जाने के लिए भी मन का ही उपयोग करना पड़ेगा। अगर मैं एक कमरे में हूं, माना कि जब कमरे में आया था तो चलकर कमरे में आया था, मैं सोच सकता हूं कि अगर मुझे कमरे के बाहर जाना है तो कमरे में कभी नहीं चलना चाहिए, क्योंकि चलकर मैं कमरे के भीतर आया था। लेकिन अगर कमरे के बाहर जाना हो तो थोड़ा तो कमरे में फिर से चलना पड़ेगा। उतना चलना पड़ेगा, जितना आप चलकर भीतर आए थे। कमरे में ही चलना पड़ेगा उतना। फर्क एक ही होगा कि चेहरा दूसरी तरफ होगा। जब आए थे तो दरवाजे की तरफ पीठ कर ली थी, दीवार की तरफ चेहरा था। अब जाते वक्त दरवाजे की तरफ चेहरा होगा, दीवार की तरफ पीठ होगी। चलना उतना ही पड़ेगा जितना चलकर भीतर आए थे।

मन के बाहर जाने के लिए भी मन का उतना ही उपयोग करना पड़ता है जितना मन के भीतर आने के लिए किया था। जो मन के भीतर आने के लिए

श्रम करता है उसके लिए मन अज्ञान का आधार बन जाता है और जो मन के बाहर जाने के लिए मन का उपयोग करता है उसके लिए मन ज्ञान का आधार बन जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, तुम दोनों मेरे ज्ञान के आधार हो। इसलिए मेरे ज्ञान का नाश न करो। यद्यपि जब भीतर आने का अभ्यास मजबूत होता है तो मन कहता है, बाहर जाने की क्या जरूरत? इसमें मन का कोई कसूर नहीं। हमने ही उसका अभ्यास करवाया है—हमने ही। तो मन तो यांत्रिक हो जाता है।

जैसे हम हमेशा अपने मुंह में सिगरेट रखकर पीते रहते हैं। पर शुरू में बड़ा मुश्किल था, अभ्यास करवाया, पहले दिन पीना शुरू किया था तो खांसी आ गई थी। तकलीफ हुई थी। तिक्त कड़वाहट फैल गई थी मुंह में, सिगरेट जहर मालूम पड़ती थी। मन को अभ्यास करवाते चले गए। फिर सिगरेट का अभ्यास मजबूत हो गया। अब हम कहते हैं, छोड़ना है, तो मन कहता है, नहीं। अब तो मजा आने लगा। और यह मजा हमने ही लाया है। मन ने तो पहले ही दिन कहा था, यह क्या कर रहे हो? हमने सुना नहीं, पिए चले गए। अब मन फिर कहेगा कि यह क्या कर रहे हो? छोड़ रहे हो? अब तो रस आने लगा, अब मत छोड़ो। मन छोड़ने में बाधा डालेगा।

इसलिए ऋषि उससे भी प्रार्थना करता है कि मेरे ज्ञान का नाश न करो। यह भी प्रार्थना है मन से। यह बड़ी अद्भुत है। कभी आपने न की होगी, और करेंगे तो अद्भुत अनुभव होंगे। जब आपके ओंठ सिगरेट मांगने लगें तो प्रयोग करके देखना। ओंठ से प्रार्थना करना कि मेरे ओंठ, प्रार्थना करता हू कि सिगरेट मत मांगो। और अगर यह प्रार्थना हार्दिक है तो ओंठ तत्काल शिथिल हो जाएंगे और मांग बन्द कर देंगे। कामवासना उठे तो अपनी कामवासना के केन्द्र से कहना कि मेरे कामवासना के केन्द्र, कामवासना मत मांगो। मुझे सहायता दो। और आप तत्काल हैरान होंगे कि आपकी प्रार्थना के साथ ही काम-केन्द्र शिथिल हो जाएगा। पर हमने प्रार्थना तो की नहीं। अपने ही शरीर से प्रार्थना करेंगे तो अहंकार को बड़ी पीड़ा होगी क्योंकि मैं, और अपने ही शरीर से प्रार्थना करूं! संकोच लगेगा। लेकिन शरीर की गुलामी करने में कभी संकोच नहीं लगता है! शरीर के पीछे-पीछे चलने में कभी संकोच नहीं लगता है! शरीर की मांग की सब तरह की मूढ़ताएं करने में कभी संकोच नहीं लगता। लेकिन जिस शरीर को आपने मालिक बना लिया, अब आप उसको प्रार्थना से ही 'परसुएड' (फुसलाना, समझाना) कर सकते हैं।

मन तो बन गया है मालिक। तो ऋषि उसे परसुएड करता है, फुसलाता है कि हे मन, बाधा मत डाल। मेरे ज्ञान को नाश मत कर। मैं रात-दिन इसी ज्ञान में ही तो अभ्यास कर रहा हूं। ऋषि कह रहा है, तू मुझे साथ दे। इसका इतना

ही अर्थ है कि जिस व्यक्ति को परम सत्य की खोज में जाना हो, उसको अपनी सारी इन्द्रियां, अपना मन, अपना शरीर, सबके साथ प्रार्थना करके सहयोग निर्मित कर लेना चाहिए। वह सहयोग निर्मित हो जाए तो वे सब साथी, सहयोगी, संगी हो जाते हैं। अन्यथा, अकारण ही असहयोग आएगा और बाधा पड़ेगी।

साधक की यात्रा जिन दो पैरों से होती है, उन दो पैरों की सूचना शांति पाठ के आखिरी हिस्से में हैं। साधक का एक पैर तो है संकल्प और दूसरा पैर है समर्पण। मेरे संकल्प के बिना तो कोई यात्रा प्रारम्भ नहीं हो सकती ! परमात्मा भी मुझे इंच भर नहीं हिला सकता। मैं जहां हूं, वहीं खड़ा रहूंगा। मेरी स्वेच्छा पर, मेरी स्वतन्त्रता पर परमात्मा कोई हमला नहीं करता है। इसलिए मैं नर्क भी जाना चाहूं तो भी परमात्मा की तरफ से कोई बाधा नहीं पड़ेगी। मेरा संकल्प प्राथमिक है। मैं कहां जाना चाहता हूं, क्या होना चाहता हूं, उसके लिए मेरे प्राणों की तत्परता जरूरी है। लेकिन वह भी काफी नहीं है, 'नाट एनफ।' मेरा सारा संकल्प भी हो तो भी काफी नहीं है।

मेरे बिना संकल्प के एक इंच यात्रा नहीं होगी। लेकिन मेरे संकल्प से भी यात्रा नहीं हो सकती, मात्र संकल्प से ही यात्रा नहीं हो सकती। मुझे परम शक्ति का सहारा भी खोजना होगा। व्यक्तियों की शक्तियां इतनी कम हैं—न के बराबर—कि अगर परम शक्ति का सहारा न मिले तो यात्रा नहीं हो सकती। मैं स्पष्ट भाषण करूंगा, ऋषि ने कहा है, मैं ऋत भाषण करूंगा मैं सत्य भाषण करूंगा। यह संकल्प है। यह ऋषि कहता है, मैं ऋत भाषण करूंगा।

ऋत बहुत अद्‌भूत शब्द है। ऋत का अर्थ होता है स्वाभाविक, प्राकृतिक, जैसा है वैसा। मैं वही कहूंगा, जैसा है वैसा। लेकिन फिर भी, कहने वाला तो मैं ही रहूंगा। और जैसा मुझे दिखाई पड़ता है, वह मुझे ही दिखाई पड़ेगा, इसलिए उसमें भूल हो सकती है। मैं सत्य भाषण करूंगा, लेकिन मैं ही करूंगा—मैं जैसा हूं। जिस बात को सत्य समझूंगा, बोल दूंगा, लेकिन वह असत्य भी हो सकता है। मुझे जो सत्य दिखाई पड़ता है, जरूरी नहीं है कि सत्य हो भी। मुझे जो असत्य मालूम पड़ता है, जरूरी नहीं है कि असत्य हो भी। मुझसे भूल हो सकती है। मेरी आंखें बाधा डालेंगी, मेरी दृष्टि भी तो विकार पैदा करेगी।

अगर आपने चश्मा लगा रखा है और आपको चारों तरफ नीला रंग दिखाई पड़ रहा है तो आप बिल्कुल ही सत्य कह रहे हैं कि चारों तरफ सभी चीजें नीली हैं। फिर भी असत्य कह रहे हैं। हम सबकी दृष्टि पर चश्मे हैं—बहुत तरह के। हम सबके अपने विचार हैं। जब हम सत्य बोलते हैं तो हम ही तो निर्णय करते हैं कि सत्य क्या है। और हम इतने गलत हैं कि हमारा निर्णय क्या सही हो पाएगा ? फिर भी ऋषि संकल्प करता है कि मैं ऋत भाषण ही करूंगा। जैसा है, वैसा ही कहूंगा, अन्यथा नहीं कहूंगा। सत्य ही बोलूंगा। जो मुझे सत्य मालूम होगा,

वही मैं बोलूंगा। फिर भी मेरी रक्षा करो। वह प्रभु से कह रहा है, फिर भी मेरी रक्षा करो।

यह बड़ी कीमती बात है। असत्य बोलने वाला परमात्मा से प्रार्थना करे कि मेरी रक्षा करो, समझ में आता है। सत्य बोलने वाला परमात्मा से प्रार्थना करे कि मेरी रक्षा करो, तो समझ में नहीं आता। सत्य काफी है, सत्य स्वयं ही रक्षा कर लेना। लेकिन ऋषि भली भांति जानता है कि आदमी का सत्य जरूरी नहीं कि परमात्मा का सत्य हो। आदमी इतना कमजोर और इतने विकारों से भरा, इतना अंधेरे में पड़ा है कि वह जो देखेगा वह, हो सकता है, उसे सत्य मालूम पड़े और बिल्कुल असत्य हो। इसलिए ऋषि कहता है कि सत्य मैं बोलूंगा, फिर भी मेरी रक्षा करो। वह जो स्वाभाविक है, उसके अनुसार मैं चलूंगा, लेकिन फिर भी मेरी रक्षा करो। क्योंकि जिसे मैं स्वाभाविक समझूंगा वह स्वाभाविक है, या नहीं है, यह निर्णय मैं कैसे करूंगा। सत्य बोलकर भी अपनी रक्षा की आकांक्षा समर्पण है। ऋतु के अनुसार चलकर भी रक्षा की आकांक्षा समर्पण है।

ऋषि यह कह रहा है कि मैं सब कुछ भी करूं तो भी गलत हो सकता है। तो मेरी रक्षा की जरूरत पड़ती ही रहेगी। इसमें दोहरी बातें हैं। घोषणा है अपनी तरफ से कि मैं सत्य बोलूंगा और यह भी घोषणा है अपनी तरफ से कि मेरे सत्य के होने का भरोसा क्या है।

मैंने सुना है कि एक नगर में एक ईसाई पादरी और एक यहूदी पुरोहित पड़ोसी थे। कभी-कभी उनकी बातचीत हो जाती थी। एक दिन ईसाई पादरी ने यहूदी पुरोहित को कहा कि हम दोनों ही तो ईश्वर का काम करते हैं। फिर झगड़ा कैसा, फिर विरोध कैसा ! मैं भी तो सत्य का काम करता हूं, तुम भी तो सत्य का काम करते हो, फिर विवाद क्या है ! यहूदी ने कहा कि बात तो ठीक है। हम दोनों ही सत्य का काम करते हैं, लेकिन तुम उस सत्य का काम करते हो, जैसा तुम्हें दिखाई पड़ता है और मैं उस सत्य का काम करता हूं, जैसा परमात्मा को दिखाई पड़ता है। इसलिए विवाद है।

कौन तय करेगा कि कौन-सा सत्य परमात्मा का सत्य है। अगर हम तय करेंगे तो वह भी हमारा ही तय करना है। इसलिए महावीर-जैसे व्यक्ति ने, जिसने कि सत्य को पहला धर्म और सत्य पर ही सारे जीवन को आधारित करने की चेष्टा की, किसी को भी असत्य कहना बन्द कर दिया था। अगर कोई बिल्कुल सरासर झूठ बोल रहा हो, सरासर झूठ—जैसे कि सूरज निकला हो और कोई कहता हो कि आधी रात है—तो भी महावीर कहते थे, तुम्हारी बात में कुछ सत्य तो है। क्योंकि महावीर कहते थे, माना अभी आधी रात नहीं है, लेकिन यही सूरज आधी रात को थोड़ी देर में ले आएगा। इस भरी दोपहरी में आधी रात छिपी है, तुम्हारी बात में भी थोड़ा सत्य है।

अगर कोई जीवित व्यक्ति को भी कह देता कि यह मरा हुआ है, तो महावीर कहते, तुम्हारी बात में थोड़ा सत्य है, क्योंकि जिसे हम जीवित कह रहे हैं, वह थोड़ी देर में मर ही तो जाएगा। और जो मर ही जाएगा, उस पर क्या विवाद करना कि वह अभी मरा है कि नहीं मरा है। मर ही जाएगा तो मरा ही है। तुम्हारी बात में भी सत्य है।

महावीर का विचार बहुत प्रभावी नहीं हो सका क्योंकि किसी भी विचार के प्रभावी होने के लिए आग्रहशील आदमी चाहिए—डागमेटिक, जो कहें 'यही' सत्य है। अब ऐसे आदमी की बात कौन सुनेगा जो कहेगा कि तुम भी सत्य हो, वह भी सत्य है, सभी सत्य हैं। ऐसे आदमी की बात में आग्रह न होने के कारण पंथ का निर्माण बहुत मुश्किल है। अति कठिन है।

उपनिषदों का कोई पंथ निर्मित नहीं हुआ। उपनिषद् बिल्कुल ही गैर-पांथिक, नान्-सेक्टेरियन हैं और उसका कारण है कि ऋषियों की पूरी चेष्टा यह है कि सत्य कहें। फिर भी इस बोध के साथ कि हमारा सत्य हमारा ही सत्य होगा, आदमी का सत्य आदमी का ही सत्य होगा। और आदमी क्या उस विराट् सत्य को छू पाएगा, आदमी रहते हुए! इसलिए ऋषि कहता है, 'प्रभु, मेरी रक्षा करना। सत्य मैं बोलूंगा, जितनी मेरी सामर्थ्य है, सत्य मैं खोजूंगा, जितनी मेरी सामर्थ्य है। लेकिन मेरी सामर्थ्य का मुझे पता है। तू रक्षा कर। वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।'

वक्ता को क्यों बीच में ले आया, मेरी रक्षा पर्याप्त थी? मेरी रक्षा में वक्ता की रक्षा भी आ जाती थी। लेकिन विशेष रूप से ऋषि कहता है दो-दो बार, 'वक्ता की रक्षा करो'। यह बहुत मजे की बात है। सत्य का अनुभव जब होता है किसी को, तब सत्य बहुत बड़ा होता है और जब वही व्यक्ति सत्य को बोलने जाता है तो सत्य उतना ही बड़ा नहीं रहता, और भी सिकुड़ जाता है।

एक तो सत्य है बहुत विराट् और आदमी बहुत छोटा। जब आदमी सत्य देखता है तो वह ऐसे ही जैसे एक छोटे-से पानी के डबरे में चांद का प्रतिबिम्ब बनता है। बहुत छोटा आदमी जब सत्य को देखता है तब सत्य उसके ही अनुपात में छोटा हो जाता है। लेकिन दूसरी दुर्घटना घटती है तब, जब वह सत्य को बोलने जाता है। वह और बड़ी दुर्घटना है। फिर तो उतना भी नहीं बचता, जितना उसने देखा था।

परमात्मा का सत्य तो कितना है, पता नहीं। आदमी को जितना सत्य मालूम पड़ता है उतना भी वाणी नहीं कह पाती। वह और सिकुड़ जाता है। इसलिए ऋषि कहता है कि मेरी रक्षा करो कि मैं जब सत्य को जानूं तो ऐसा न समझ लूं कि यहीं पूरा हो गया। जानता रहूं कि शेष है, यात्रा बाकी है। जानता रहूं कि सागर को मैंने छू लिया, लेकिन सागर को पा नहीं लिया। सागर में मैं खड़ा हो गया, फिर भी सागर की सीमाएं मेरी हाथ की मुट्ठी में नहीं आ गईं। यही

मैं जानता रहूं और जब मैं कहने आऊं, जब मैं बोलने जाऊं, तब मेरी और भी रक्षा करना। क्योंकि शब्द सत्य को जिस बुरी तरह विकृत करते हैं, कुछ और विकृत नहीं करता। उसका कारण है।

सभी शब्द कामचलाऊ हैं। सत्य को जब हम कामचलाऊ शब्दों में प्रकट करते हैं (और कोई शब्द है भी नहीं) तो वह जो कामचलाऊ दुनिया की दुर्गन्ध है, धूल है, वह सत्य के साथ जुड़ जाती है। वह कामचलाऊ शब्द हमारे होंठों पर चल-चल कर वैसे ही घिस गए हैं जैसे सिक्के चल-चल कर घिस जाते हैं। जिन शब्दों में सत्य को कहना पड़ता है, वे भी घिस जाते हैं।

फिर अनुभूति तो सदा ही गहन होती है, शब्द सदा छिछले होते हैं। बड़ी अनुभूतियां तो छोड़ दें, छोटी अनुभूतियों को भी शब्द में कहना कठिन है। जैसे आपके पैर में कांटा गड़ गया है और पीड़ा हो रही है। लेकिन जब आप किसी को बताते हैं कि मेरे पैर में पीड़ा हो रही है तो क्या आप पीड़ा को बता पाते हैं? और जब आप यह कहते हैं कि मेरे पैर में पीड़ा हो रही है तो क्या वह आदमी समझ पाता है कि कैसी पीड़ा हो रही है! हां, अगर उसके पैर में भी काटा गड़ा हो तो बात और है। अगर उसके पैर में कांटा न गड़ा हो तो कुछ भी समझ में नहीं आता। जिस आदमी ने जीवन में किसी को प्रेम न किया हो, उसे प्रेम की बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। जिस आदमी ने जीवन के संगीत को कभी अनुभव न किया हो और जिसके जीवन में कभी वह, जो चारों ओर अस्तित्व का छाया हुआ काव्य है, प्रवेश न कर गया हो तो उसे कुछ भी समझ में नहीं आता।

रामकृष्ण के जीवन में उल्लेख है कि उन्हें जो पहली समाधि मिली वह छह वर्ष की उम्र में मिली। ऐसे ही किसी पहाड़ के निकट से गुजरते थे, खेत की मेड़ पर से। हरे-भरे खेत फैले थे। सुबह का सूरज निकला था, पीछे काले बादलों की एक कतार अकाश में थी। खेत की मेड़ से गुजरते ही खेत में बैठे हुए बगुलों की एक भीड़ रामकृष्ण के पैर की आहट सुनकर उड़ गई। एक पंक्तिबद्ध बगुले उड़े। पीछे से काले बादल, सुबह का सूरज, नीचे थी हरियाली और सफेद बगुलों की पंक्ति का खिंच जाना उन काले बादलों की पृष्ठभूमि में। रामकृष्ण वहीं आंख बन्द करके समाधिस्थ हो गए। अगर रामकृष्ण से बाद में लोग पूछते थे तो रामकृष्ण कहते थे कि बहुत प्रार्थना-पूजा करके भी उस गहराई को पाना मुश्किल मालूम पड़ता है, जो उस दिन बगुलों की वह उड़ी हुई कतार दे गई थी। आप कहेंगे, क्या बगुलों की कतार से समाधि मिल सकती है? हमने भी बगुले देखे हैं, काले बादल देखे हैं, हमने भी पहाड़ देखे हैं। लेकिन जिसे जीवन के काव्य का कोई अनुभव नहीं हुआ है वह रामकृष्ण के इस अनुभव को न समझ पाएगा।

हमें जो अनुभव है, वह हम समझ पाते हैं। शब्द उसकी सूचना दे पाते हैं। इसलिए जितना गहरा अनुभव होने लगता है, उतनी ही कठिनाई शब्दों में होने

लगती है। और सत्य का अनुभव तो अन्तिम है, अल्टीमेट है, आत्यंतिक है, आखिरी है। ऋत का अनुभव तो चरम है। उस अनुभव को शब्द में कहने जब मैं जाऊं तब तुम मेरी रक्षा करना, ऋषि प्रभु से कहता है। लेकिन कौन कहता है कि कहने जाना। मत जाना। लेकिन एक कठिनाई है।

जितना गहरा अनुभव हो उतनी ही तीव्रता से वह प्रकट होना चाहता है। उसके कारण हैं। सत्य का जब अनुभव होता है तो प्राण हृदय से प्रफुल्लित हो जाते हैं आनन्द का गुण है, बंटने की इच्छा। आनन्द बंटना चाहता है। जब आप दुख में होते हैं तो सिकुड़ जाते हैं, चाहते हैं कोई न मिले, कमरे में छिप जाएं, मर जाएं। जब आप आनन्द में होते हैं तो दौड़ते हैं कि कोई मिल जाए तो उसे बांट दें। महावीर और बुद्ध जब दुख में थे तो जंगल चले गए। जब आनन्द से भरे तो गांव में वापस लौट आए।

यह बहुत मजे की बात है कि जब भी कोई दुखी था तो जंगल में गया और जब आनन्द से भरा तो बांटने के लिए नगरों में वापस आ गया। आना ही पड़ेगा। आनन्द बंटना चाहता है। शेयर, किसी के साथ साझा, कोई बांट ले, कोई थोड़ा ले ले। क्यों? क्योंकि आनन्द जितना बंटता है उतना बढ़ता है। अगर आप अपने पूरे हृदय के आनन्द को उलीच दें तो आप तत्काल पाएंगे कि उससे अनन्तगुना आनन्द आपके हृदय में फिर भर गया। कबीर ने कहा है, दोनों हाथ उलीचिए। उलीचो। क्योंकि अनन्त स्रोत के करीब आ गए हो। कितना ही उलीचो, समाप्त नहीं होगा।

आनन्द तो आनन्द है ही, उसका बांटना परम आनन्द है। इसलिए ऋषि कहता है, मेरी रक्षा करना, क्योंकि सत्य का जब मुझे अनुभव होगा, ऋत में मैं जब जीऊंगा तो मैं कहना चाहूंगा, जो मैंने जाना है, वह बताना चाहूंगा। शब्द नष्ट कर देते हैं। तुम मेरी रक्षा करना।

यह रक्षा की आकांक्षा है ताकि परमात्मा एक छाया की तरह चारों तरफ आपको घेर ले और आपके साथ चलने लगे और जब आप सत्य बोलें तब भी जान-कर बोलें कि वह आपका सत्य है। जब तक परमात्मा का उसको सहयोग न हो तब तक उसका कोई मूल्य नहीं है। और जब आप बोलने जाएं तब जाने की जो आप बोल रहे हैं वह सीमित है, और जब तक असीम पीछे न खड़ा हो, तब तक उसका कोई भी मूल्य नहीं है। यह ऋषि प्रार्थना करता है शान्ति-पाठ में कि मेरी रक्षा करना। ओम् शांतिः शांतिः शांतिः।

एक शांति-पाठ पूरा हुआ। निर्वाण उपनिषद् कहने के पहले परमात्मा से यह प्रार्थना कि जो मैं बोलूं उसमें मेरी रक्षा करना, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अब ऋषि बोलेगा। अब वह कहेगा उसे जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता। ऐसा नहीं कि निःशब्द में नहीं कहा जा सकता, लेकिन निःशब्द में सुनने वाला खोजना

बहुत मुश्किल है। इसलिए मजबूरी में शब्द में कहना पड़ता है। और अगर लोगों को निःशब्द के लिए तैयार भी करना हो तो भी शब्द के ही सहारे उनको निःशब्द में ले जाना पड़ता है। कठिन है, विपरीत मालूम होता है, लेकिन सम्भव है।

जैसे वीणा का एक तार छेड़ दें। वीणा के तार से ध्वनि पैदा होगी। वह सुनते रहें, सुनते रहें, सुनते रहें। धीरे-धीरे ध्वनि खोती जाएगी, निर्ध्वनि प्रकट होने लगेगी। उसे सुनते रहें। ध्वनि क्षीण होने लगेगी। लेकिन जब ध्वनि क्षीण हो रही है, तब जानना कि साथ ही अनुपात में निर्ध्वनि प्रखर हो रही है। जब ध्वनि मिट रही है, तब निर्ध्वनि जन्म ले रही है। जब ध्वनि खो रही है, तब निर्ध्वनि का आगमन हो रहा है। फिर थोड़ी देर में ध्वनि खो जाएगी, तब क्या शेष रह जाएगा? अगर कभी ध्वनि का पीछा किया है तो आपको पता चल जाएगा कि ध्वनि निर्ध्वनि में ले जाती है। शब्द निःशब्द में ले जाते हैं। संसार मोक्ष में ले जाता है, शांति भी शांति में ले जाने के लिए सेतु बन जाती है। बीमारी भी सीढ़ी बन जाती है स्वास्थ्य के मन्दिर तक पहुंचने के लिए। विपरीत का उपयोग करना है। पर उपनिषद् की घोषणा करने के पहले, क्योंकि ऋषि महत् घोषणा करेगा।

जीवन ने जो भी गहराइयां छुई हैं और ऊंचाइयों के दर्शन किए हैं जीवन ने जो भी स्वर्णकलश सत्य के देखे हैं, ऋषि इन आने वाले शब्दों में उनकी घोषणा करेगा। वह परमात्मा से कहता है, मेरी रक्षा करना। भूल-चूक हो सकती है। शब्द वह कह सकते हैं जो मैं नहीं कहना चाहता था। सुनने वाले वह सुन सकते हैं जो मैंने नहीं कहा था। समझने वाले वह समझ ले सकते हैं जो प्रयोजित ही नहीं था। मेरी रक्षा करना, क्योंकि कहीं सत्य कहने जाऊं और असत्य को कहने-वाला न बन जाऊं। कहीं सत्य को प्रकट करूं और असत्य को देने वाला न बन जाऊं। चाहूं कि लोगों को आनन्द बांट दूं, और कहीं ऐसा न हो कि उनके झोले में दुख पहुंच जाए। मेरी रक्षा करना।

अथ निर्वाणोपनिषदम् व्याख्यास्यामः
परमहंसः सोऽहम् ।
परिव्राजकाः पश्चिम लिंगाः ।
मन्मथक्षेत्रपालाः ।

अब निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान करते हैं ।
मैं परमहंस हूं ।
संन्यासी अन्तिम स्थिति रूप चिह्न वाले होते हैं ।
कामदेव को रोकने में पहरेदार-जैसे होते हैं ।

प्रवचन : २
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक २६ सितम्बर, १९७१

निर्वाण उपनिषद्—अव्याख्य की व्याख्या का एक दुस्साहस

निर्वाण उपनिषद् के पहले सूत्र में ऋषि कहता है कि अब निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान करते हैं । अब उसकी चर्चा करते हैं, जिसकी चर्चा कठिन है । अब उसकी व्याख्या करते हैं, जो अव्याख्य है । जो नहीं कहा जा सकता, उसे अब कहने चलते हैं । जो सिर्फ जाना ही जा सकता है और जिया ही जा सकता है, उसे भी अब शब्द देते हैं ।

बुद्ध के पास कोई जाता था तो बुद्ध बहुत-से प्रश्नों के उत्तर में कह देते थे— 'अव्याख्य,' और चुप हो जाते थे । वे कह देते थे, नहीं, इसकी व्याख्या नहीं होगी । ऐसे उन्होंने कुछ प्रश्न तय कर रखे थे जिन्हें पूछते ही वे इतना ही कह देते थे कि यह अव्याख्य है, इसकी व्याख्या नहीं हो सकती । लोग उनसे पूछते थे कि क्यों नहीं होगी ? क्योंकि लोग सोचते हैं कि जो प्रश्न पूछा जा सकता है, उसका उत्तर होना ही चाहिए । लोग सोचते हैं कि चूंकि हमने प्रश्न बना लिया, इसलिए उत्तर होना ही चाहिए । आपके प्रश्न बना लेने से यह जरूरी नहीं है कि उसका उत्तर हो ही । सच तो यह है कि जिस प्रश्न का उत्तर न हो, जानना कि उस प्रश्न के बनाने में कहीं कोई बुनियादी भूल हुई है । लेकिन भाषा ऐसी भ्रांति पैदा कर सकती है कि प्रश्न बिल्कुल रिलेवेंट है, संगत है ।

अब कोई आदमी पूछ सकता है कि सूरज की किरण का स्वाद कैसा है । प्रश्न में क्या गलती है ? प्रश्न बिल्कुल ठीक है । कोई आदमी पूछ सकता है कि प्रेम की ध्वनि कैसी है । प्रश्न बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है । लेकिन प्रेम में कोई ध्वनि नहीं होती । यह प्रश्न असंगत है । प्रेम का ध्वनि-निर्ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं । सूर्य की किरण में स्वाद नहीं होता, न वह बेस्वाद होती है । प्रश्न ही असंगत है, स्वाद का कोई सम्बन्ध ही नहीं ।

मेटाफिजिक्स, दर्शनशास्त्र बहुत से फिजूल प्रश्न पूछता है । इसीलिए तो दर्शन-शास्त्र किसी प्रश्न का हल नहीं निकाल पाता । मगर प्रश्न भाषा में मालूम पड़ता है, बिल्कुल ठीक है ! एक आदमी पूछ लेता है कि इस जगत् को किसने बनाया ?

बिल्कुल ठीक सवाल है, बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है। सवाल में क्या गलती है? लेकिन एकदम गलत है। गलत क्यों है? गलत इसलिए है कि बनाने का सवाल उठाना ही एक ऐसा सवाल उठाना है जिसका कोई भी जवाब हल न कर पाएगा। क्योंकि अगर हम कहें कि परमात्मा ने बनाया तो सवाल परमात्मा के पीछे खड़ा हो जाएगा कि परमात्मा को किसने बनाया। अगर हम कोई और नम्बर दो का परमात्मा खोजें तो सवाल उसके पीछे खड़ा हो जाएगा कि इस नम्बर दो के परमात्मा को किसने बनाया? यह सवाल किसी भी जवाब के पीछे खड़ा हो जाएगा। ऐसा कोई जवाब नहीं हो सकता जिसके लिए यह सवाल न खड़ा किया जा सके। फिर जवाब का कोई मतलब नहीं रह जाता।

इसलिए अगर बुद्ध से आप पूछें कि इस जगत् को किसने बनाया तो वे कहेंगे यह अव्याख्य है। इसकी व्याख्या नहीं होती। इसलिए नहीं कि बुद्ध को व्याख्या का पता नहीं है। बल्कि इसलिए है कि आप एक गलत सवाल पूछ रहे हैं। और गलत सवाल का जवाब जब भी दिया जाएगा, वह जवाब उतना ही गलत होगा, जितना गलत सवाल है। हम बहुत गलत सवाल पूछते हैं और हमारे बीच पूछने वालों से भी ज्यादा गलत जवाब देने वाले लोग मौजूद हैं। वे तैयार हैं कि आप पूछें और वे जवाब दें। पृथ्वी गलत जवाबों से बहुत परेशान है, बहुत पीड़ित है।

ऋषि कहता है कि अब हम निर्वाण उपनिषद् की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। बड़ा असम्भव कार्य अपने हाथ में लेना है। इंच-इंच फूंक कर पैर रखना पड़ेगा। शब्द-शब्द तौलकर बोलना पड़ेगा। क्योंकि निर्वाण उपनिषद् बहुत अद्भुत उपनिषद् है। इसमें एक-एक शब्द तुला हुआ है, कटा हुआ है, निखरा हुआ है। बहुत छोटा उपनिषद् है। एक-एक शब्द में बात कहने की कोशिश की गई है। क्योंकि जितने कम शब्द हों, उतनी कम भूल की सम्भावना है।

सूफियों के पास एक किताब है। उस किताब का नाम है, 'बुक ऑफ दी बुक्स (किताबों की किताब)।' उसमें कुछ भी लिखा हुआ नहीं है। खाली है। उसे छापने को कोई प्रकाशक राजी नहीं था। छाप कर भी क्या होगा, और कौन उसको छापने के पागलपन में पड़ेगा। छापकर उसको लेगा कौन? जो भी उसको भीतर देखेगा, उसमें कुछ है ही नहीं। अभी एक प्रकाशक ने हिम्मत की, तो उसने भी इसलिए हिम्मत की कि वह जो शून्य है किताब, उस पर मुहम्मद का एक वंशज छोटी-सी टिप्पणी लिखने को राजी हो गया। इदरिस शाह ने एक छोटी-सी भूमिका लिखी। वह जो खाली किताब है, जिसमें कुछ भी नहीं है, उसके लिए भूमिका लिखी दस-बीस पन्नों की। तो बीस पन्नों में भूमिका है और दो सौ पन्ने खाली हैं। अभी वह किताब छपी है। अनेक लोग उसको भूल से खरीद भी लेते हैं, क्योंकि वे पहले भूमिका देखते हैं। कौन पूरी किताब देखता है! जब वे भूमिका के बाद किताब पर पहुंचते हैं तो वहां तो बिल्कुल खाली है। भूमिका

में उसने यह समझाने की कोशिश की है किताब खाली क्यों है। लेकिन मैं मानता हूं कि इदरिस शाह ने अन्याय किया। पांच-सात सौ साल से हिम्मतवर लोगों ने उसे खाली रखा था। जब किताब वालों ने ही खाली रखी थी तो उसके लिए किसी भूमिका की जरूरत नहीं है। वह खाली ही होनी चाहिए। छापने को कोई राजी नहीं था। पढ़ने को भी कोई राजी नहीं होता, इसलिए बेचारे इदरिस शाह को गलत काम करना पड़ा।

एक अर्थ में तो ऋषि गलत काम करने जा रहा है, इसीलिए परमात्मा से रक्षा मांगता है। गलत काम इसलिए कि जो शब्दों में नहीं कहा जा सकता, उसको वह शब्द में कहेगा। ऋषि का वश चले तो किताब को खाली छोड़ दे। लेकिन तब वह आपके काम की न होगी। क्योंकि खाली किताब को पढ़ना बड़ी कठिन बात है। और जो खाली किताब को पढ़ने में समर्थ हो जाता है, उसे और किताब पढ़ने की इस दुनिया में जरूरत नहीं रह जाती।

ऋषि कहता है, व्याख्यान शुरू करते हैं, व्याख्या शुरू करते हैं निर्वाण उपनिषद् की। इसमें एक और बात छिपी है। इसमें यह बात छिपी है कि ऋषि निर्वाण उपनिषद् नहीं लिख रहा है, सिर्फ निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान कर रहा है। यह बहुत अद्भुत मामला है। इसका मतलब यह हुआ कि निर्वाण उपनिषद् तो शाश्वत् है, वह तो सदा से चल रहा है। ऋषि सिर्फ व्याख्या करते हैं। जिसे हम आज निर्वाण उपनिषद् कहते हैं, वह तो इसी ऋषि ने कहा है। पर वह कहता है, हम सिर्फ व्याख्या कर रहे हैं उसकी जो सदा से है। हम तो सिर्फ व्याख्यान कर रहे हैं उसका, जो सदा से है। इसलिए किसी ऋषि ने उपनिषद् का अपने-आप को लेखक नहीं माना। सिर्फ व्याख्यान करने वाला माना।

ऋषि कहता है कि सत्य सदा से है, हम उसकी व्याख्या करते हैं। हमारी व्याख्या गलत भी हो सकती है, उससे सत्य गलत नहीं होता। हमारी व्याख्या भूल-चूक भरी हो सकती है, उससे सत्य भूल-चूक भरा नहीं होता है। इसलिए परमात्मा से प्रार्थना कर लेते हैं कि हम एक उपद्रव के काम में उतरते हैं, तू हमारी रक्षा करना।

इतना विनम्र जो व्यक्ति है, इतनी ह्यूमिनिटी जिसमें है, वह इस पहले ही सूत्र में जो घोषणा करता है, वह बहुत अद्भुत है। वह कहता है, मैं परमहंस हूं (परमहंसः सोऽहम्)। जो इतना विनम्र है कि सत्य बोलने में भी कहता है कि परमात्मा मेरी रक्षा करना, जो इतना विनम्र है कि इस उपनिषद् को रचता है और कहता है हम सिर्फ व्याख्यान कर रहे हैं, उस उपनिषद् पर जो सदा से है। वह पहली ही घोषणा में कहता है कि मैं परमहंस हूं। बड़ा विपरीत मालूम पड़ेगा। लेकिन ध्यान रहे, जो इतने विनम्र हैं, वे ही इतनी स्पष्ट घोषणा कर सकते हैं। विनम्रता ही कह सकती है अपनी गहराइयों में कि मैं परमात्मा हूं,

नहीं तो नहीं। अहंकार कभी हिम्मत नहीं जुटा सकता कहने की कि मैं परमात्मा हूं। यह बहुत मजे की बात है।

अहंकार कभी हिम्मत नहीं जुटा सकता कहने की कि मैं परमात्मा हूं। अहंकार बहुत निर्बल है। बहुत कमजोर है। यह उसका साहस नहीं है। वह छोटे-मोटे दावे कर सकता है कि मैं चीफ मिनिस्टर हूं, कि प्राइम मिनिस्टर हूं, कि राष्ट्रपति हूं। अहंकार ये दावे कर सकता है, लेकिन यह दावा कभी नहीं कर सकता है कि मैं परमात्मा हूं। नहीं करने का कारण है, क्योंकि राष्ट्रपति कोई भी हो जाए तो अहंकार बड़ा होता है। लेकिन परमात्मा कोई हो जाए तो अहंकार-शून्य होता है। मैं परमात्मा हूं, यह कहने का अर्थ है कि 'मैं' नहीं हूं। मैं परमात्मा हूं, यह कहने का अर्थ है कि 'मैं' की हत्या हो गई।

इस पृथ्वी पर सर्वाधिक अहंकारपूर्ण दिखने वाली घोषणाएं—सिर्फ दिखने वाली (जस्ट इन एपियरेंस)—उन लोगों ने की हैं जो बिल्कुल विनम्र थे, जिनके जीवन में अस्मिता थी ही नहीं। कृष्ण कह सकते हैं अर्जुन से कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। सब छोड़, मेरे चरणों में आ।' यह कोई अहंकारी नहीं कह सकता। अहंकारी कोशिश यही करता है कि सब छोड़ और मेरे चरणों में आ। लेकिन यह कह नहीं सकता! अहंकार होशियार है। वह जानता है कि अगर अपने अहंकार को प्रगाढ़ करना हो तो छिपाओ, बचाओ। अगर अपने अहंकार को बड़ा करना हो तो दूसरे के अहंकार को चोट मत पहुंचाओ, उसे परसुएड करो, दूसरे के को राजी करो। कृष्ण-जैसा निरहंकारी ही कह सकता है कि सब छोड़कर मेरे अहंकार चरणों में आ जा। यह उपनिषद् का ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूं। यह पहली घोषणा है निर्वाण उपनिषद् की।

क्या अर्थ है परमहंस होने का? यह पारिभाषिक शब्द है। हंस के साथ एक माइथोलॉजी, एक मिथ, एक पुराण-कथा चलती है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग करने में समर्थ है। है या नहीं, इससे कोई प्रयोजन नहीं। यह शाब्दिक है। यह 'हंस' शब्द का अर्थ रखता है कि जो दूध और पानी अलग करने में समर्थ है। और परमहंस उसे कहते रहे हैं जो सार और असार को अलग करने में समर्थ है, जो सत्य और असत्य को अलग करने में समर्थ है। तो ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूं। मैं वही हूं, जो सार और असार को अलग करने में समर्थ है। यह घोषणा पहले ही सूत्र में! यह घोषणा उचित है, क्योंकि पीछे सार और असार को अलग करने की भी चेष्टा है। ऋषि बड़ी विनम्रता से कहता है कि मैं सार और असार को अलग करने में समर्थ हूं। यह एक अर्थ है।

दूसरा अर्थ: ऋषि जब कहता है, मैं परमहंस हूं, तो सिर्फ अपने लिए ही नहीं कह रहा है। जो भी अपने को 'मैं' कह सकते हैं वे परमहंस हो सकते हैं। जहां-जहां 'मैं' है, वहां-वहां परमहंस छिपा है। उसका उपयोग करें, न करें, वह

आपकी मर्जी। सार-असार को अलग करें, न करें, वह आपकी मर्जी है। लेकिन क्या आपने कभी ख्याल किया है कि जब आप असत्य बोलते हैं तब आपके भीतर कोई जानता है कि असत्य है? जब आप सत्य बोलते हैं तब आपके भीतर कोई जागा हुआ जानता है कि सत्य है?

कभी आपने ख्याल किया है कि भीतर किसी बिन्दु पर आप अपने और चीजों के बीच के फासले को सदा जानते हैं? बात और है कि अपने को धोखा दे लेते हैं, बात और है कि अपने को समझा लेते हैं, बात और है कि आदत बना लेते हैं भ्रांति की। लेकिन कितनी ही गहरी आदत हो, एक भीतर कोई दीया जलता ही रहता है सदा, जो बताता रहता है कि कहां प्रकाश है और कहां अंधकार है। उस दीप का नाम परमहंस है। वह सबके भीतर है। वह बुरे-से-बुरे आदमी के भीतर उतना ही है, जितना भले से भले आदमी के भीतर है। उसके अनुपात में कोई भेद नहीं है। वह पापी से पापी के भीतर उतना ही है, जितना पुण्यात्मा के भीतर। जो फर्क है, वह उस भीतर की ज्योति का नहीं है, उस परमहंस का नहीं है। जो फर्क है, वह उस परमहंस को झुठलाने का है, उस परमहंस को इन्कार करने का है। हम चाहें तो अपने को प्रवंचना में डालते रह सकते हैं। जिस दिन हम चाहें, प्रवंचना को तोड़ सकते हैं। क्योंकि हम कितनी ही प्रवंचनाएं करें, हम उस परमहंस के स्वभाव को विकृत नहीं कर सकते। इसलिए ठीक अर्थों में कोई आदमी कभी पापी नहीं हो पाता। कितना ही पाप करें, फिर भी उसके भीतर एक निष्पाप तल सदा ही बना रहता है। और इसलिए अक्सर यह घटना घटती है कि बड़े पापी भी क्षण में निष्पाप में प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि जिन्हें पाप का बहुत अनुभव होता है। उसके साथ ही उन्हें भीतर के निष्पाप बिन्दु का भी अनुभव होता है। यह 'कण्ट्रास्ट' है, जैसे कि सफेद दीवार पर काली रेखा कोई खींच दे, या काली दीवार पर कोई सफेद रेखा खींच दे। पापी को अपने भीतर के निष्पाप बिन्दु का बड़ा गहरा अनुभव होता है। साफ दिखाई पड़ता है। और इसलिए जिनको हम 'मिडियाकर' (मध्यम) कहें—जो न पापी होते हैं, न पुण्यात्मा होते हैं, जो बड़े समन्वयी होते हैं, जो थोड़ा पाप कर लेते हैं, थोड़ा पुण्य करके बैलेंस (सन्तुलन) करते रहते हैं—ऐसे लोगों की जिन्दगी में क्रान्ति मुश्किल से घटित होती है, क्योंकि 'कण्ट्रास्ट' नहीं होता। न पाप होता है, न निष्पाप का बोध होता है। दोनों फीके हो जाते हैं। इसलिए कभी अगर गहरे पापी की आंखों में झांकें तो उसमें बच्चे की आंखें दिखाई पड़ जाएंगी। लेकिन एक साधारण आदमी जो पाप करना भी चाहता है, समझा भी लेता है, नहीं भी करता है, पार कर भी लेता है, संभालने के लिए पुण्य भी कर लेता है, हिसाब बराबर रखता है, ऐसे आदमी की आंखों में सदा 'कनिंगनेस', चालाकी दिखाई पड़ेगी, बच्चे की सरलता दिखाई नहीं पड़ेगी।

वह जो भीतर परमहंस है, वह तो सबके भीतर है। वह नष्ट नहीं होता। किसी भी क्षण में उसे पाया जा सकता है और छलांग लगायी जा सकती है। उस छलांग के लिए ऋषि पहले यह घोषणा करता है कि मैं परमहंस हूं। यह घोषणा सबकी तरफ से है। यह सिर्फ ऋषि के 'मैं' की घोषणा नहीं है। यह जो भी अपने को 'मैं' कह सकते हैं, उन सबकी तरफ से है। इस परमहंस को अगर विकसित करना हो, सजग करना हो, ज्योतिर्मय करना हो, तो इसका उपयोग करना चाहिए। हम जिस चीज का उपयोग करते हैं, वही प्रगाढ़ हो जाती है, प्रखर हो जाती है, तेजस्वी भी हो जाती है। अगर हम बैठे रहें तो पैर चलने की क्षमता खो देते हैं, अगर हम आंखें बन्द किए रहें तो कुछ ही दिनों में आंखें देखना बन्द कर देती हैं।

मैंने कोई दो सौ साल आगे की कहानी सुनी है। बाईसवीं सदी में जैसे और सब चीजें बिकती हैं, ऐसे ही लोगों के मस्तिष्क भी बिकने लगेंगे। आपको अपना दिमाग ठीक नहीं मालूम पड़ता है तो आप जा सकते हैं और अपनी खोपड़ी के भीतर जो है, उसे बदलवा सकते हैं। एक आदमी एक दूकान में गया है, जहां मस्तिष्क बिकते हैं। वहां अनेक तरह के मस्तिष्क उपलब्ध हैं। दुकानदार ने उसे मस्तिष्क दिखाए और कहा कि यह एक वैज्ञानिक का मस्तिष्क है, पांच हजार रुपए इसके दाम होंगे। उसने कहा, यह तो बहुत ज्यादा हो जाएगा। लेकिन इससे भी अच्छे मस्तिष्क हैं क्या? तो उसने बताया है कि यह एक धार्मिक आदमी का मस्तिष्क है, इसके दाम दस हजार रुपए हैं। उसने कहा, बहुत महंगा है। लेकिन क्या इससे भी कोई अच्छा है? उसने कहा, सबसे अच्छा तो यह मस्तिष्क है, इसके दाम पच्चीस हजार रुपए होंगे। उसने पूछा, यह किसका मस्तिष्क है? उसने कहा, यह राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क है। वह ग्राहक चकित हुआ। वैज्ञानिक का पांच हजार दाम है, धार्मिक का दस हजार दाम, और राजनीति के मस्तिष्क का इतना दाम! तो उस दुकानदार ने कहा, 'बिकाज इट हैज बिन नेवर यूज्ड (क्योंकि इसका कभी उपयोग नहीं किया गया है)।' राजनीतिज्ञ को दिमाग का उपयोग करने की जरूरत भी क्या है? यह बिल्कुल ताजा (फ्रेश) है, क्योंकि कभी भी इसका उपयोग नहीं हुआ। बिल्कुल ताजा है। इसलिए इसका दाम ज्यादा है।

किसी दिन अगर मस्तिष्क बिकें तो राजनीतिज्ञों के मस्तिष्कों के दाम सबसे ज्यादा होंगे। जिन चीजों का उपयोग न किया जाए, वे बन्द पड़ जाते हैं। अगर एक घड़ी की गारण्टी दस साल चलने की हो और आप उसे चलाएं ही न, तो सौ साल चल सकती है। चल सकती है मतलब चलाएं ही न! जिस चीज का हम उपयोग नहीं करते उसके चारों तरफ अनुपयोग का एक आवरण, एक व्यवस्था निर्मित हो जाती है।

हम अपने जीवन में इस परमहंस-पन का जरा भी उपयोग नहीं करते। हम कभी

सार और असार में फर्क नहीं करते। धीरे-धीरे हम भूल ही जाते हैं कि हमारे भीतर वह बैठा है जो जहर और अमृत को अलग कर सकता है। ध्यान रहे, हम जहर को चुन ही इसलिए पाते हैं क्योंकि वह जो अलग करने वाला है, करीब-करीब निष्क्रिय पड़ा है। नहीं तो जहर कोई चुन न पाए। अगर आपको दिखाई पड़ जाए कि सार क्या है और असार क्या है, तो क्या असार को चुन सकिएगा? सार को छोड़ सकिएगा? दिख गया तो बात समाप्त हो गई।

सुकरात कहता था, ज्ञान ही क्रांति है, ज्ञान ही आचरण है। अगर दिखने लगा कि यह पत्थर है, हीरा नहीं, तो उसको कैसे ढोइएगा। अगर समझ में आ गया कि यह नकली सिक्का है, असली नहीं, तो इसको तिजोरी में संभाल कर कैसे रखिएगा! तिजोरी में तभी तक संभाल कर रख सकते हैं जब तक वह असली मालूम पड़ता रहे।

जिन्दगी की सारी बुराई, जिन्दगी की सारी भूल का एकमात्र कारण है—हमारे भीतर के परमहंस का सोया होना। एक बार उसका आविर्भाव हो जाए तो गलत को छोड़ना नहीं पड़ता। गलत को जान लेना कि वह गलत है, गलत का छूट जाना हो जाता है। सही को पकड़ना नहीं पड़ता, सही का सही दिखाई पड़ जाना, सही का पकड़ना हो जाता है। गलत को कोई पकड़ ही नहीं सकता। वह असम्भव है। अगर गलत को भी पकड़ना हो तो उसमें सही की भ्रांति पैदा करनी पड़ती है। और सही की शांति पैदा करनी हो तो परमहंस का सोया होना जरूरी है।

तो ऋषि कहता है, मैं परमहंस हूं। इस घोषणा से अपनी व्याख्या शुरू करता है। निश्चित ही यह पहला सूत्र होना चाहिए। यह पहला सूत्र होना चाहिए अध्यात्मिक ज्यामिति का कि मैं परमहंस हूं, क्योंकि फिर सार और असार में फर्क किया जा सकेगा, भेद किया जा सकेगा।

दूसरे सूत्र में ऋषि कहता है, संन्यासी अन्तिम स्थिति रूप चिन्ह वाले होते हैं। मैं परमहंस हूं। संन्यासी कौन है? संन्यासी वह है जो परमहंस के अन्तिम चिन्ह-वाला होता है। परमहंस का पहला चिन्ह क्या है? परमहंस का पहला चिन्ह है सार और निसार में भेद। परमहंस का अन्तिम चिन्ह है, भेद ही नहीं करना, वरन् उसे जीना। परमहंस का पहला चिन्ह है सार और असार के भेद का अभ्यास। परमहंस का अन्तिम चिन्ह है अभ्यास भी नहीं, वरन् सहज जीवन।

साधारण साधक जब यात्रा शुरू करता है तो उस बात को करने की कोशिश करता है, जो ठीक है। उसको छोड़ने की कोशिश करता है, जो ठीक नहीं है। लेकिन साधक, जब सिद्ध हो जाता है, तब हम ऐसा नहीं कह सकते कि सिद्ध, जो गलत है, उसको नहीं करता और जो सही है, उसको करता है। सिद्ध का अर्थ होता है कि वह जो करता है वही सही है और जो नहीं करता है, वही गलत है। यह अन्तिम लक्षण है। प्राथमिक लक्षण है कि जो सही है वह हम करेंगे, जो गलत

है वह न करेंगे । अन्तिम लक्षण है कि हम जो करेंगे वही सही है, हम जो नहीं करेंगे, वही गलत है । संन्यासी परमहंस के अन्तिम लक्षण वाले होते हैं । वे वही करते हैं, जो वे कर पाते हैं । वही उनका स्वभाव हो जाता है, जो सही है ।

रिंझाई जापान में एक फकीर हुआ है । अपने गुरु से उसने पूछा कि सही क्या है, गलत क्या है ? तो उसके गुरु ने कहा, मैं जो करता हूं उसका ठीक से निरीक्षण कर । जो मैं करता हूं, वह सही है, जो मैं नहीं करता, वह गलत है । रिंझाई ने अपने गुरु से कहा, क्या आपसे कभी गलती नहीं होती ? गुरु ने कहा, अगर मैं होता तो गलती हो सकती थी । वह आदमी अब न रहा जिससे गलती हो सकती थी । मैं बचा नहीं, जिससे गलती हो सकती है । कौन करेगा गलती ? मैं हूं नहीं । और अगर तुम सोचते हो कि परमात्मा गलती कर सकता है तो फिर गलती ही सही है ।

यह रिंझाई का गुरु अत्यन्त विनम्र आदमी था । जापान का सम्राट् उत्सुक था किसी को गुरु बनाने के लिए । उसने न मालूम कितने संन्यासियों को बुलाया, लेकिन कोई उसे नहीं जंचा । उसने बड़ी खोज की तो किसी ने उससे कहा कि एक ही आदमी है—रिंझाई का गुरु । ध्यान रहे, रिंझाई के गुरु का कोई नाम नहीं था, इसलिए मैं बार-बार कह रहा हूं 'रिंझाई का गुरु' । नाम नहीं था इस आदमी का । और वह आदमी कहता है कि मैं जो करता हूं, वही सही है और जो नहीं करता, वही गलत है ।

सम्राट् को कहा गया कि एक आदमी है, लेकिन उसका नाम नहीं है । इसलिए उसको बुलाइएगा कैसे ! और वह दरबार में आने को राजी होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता ! कभी तो वह झोंपड़ी में भी जाने को राजी हो जाता है, परन्तु राजमहल में जाने को वह कभी राजी नहीं होता है । वह हवा-पानी की तरह है । उसका कोई भरोसा नहीं कि वह किस तरफ बहने लगे । आपको ही जाना पड़ेगा । उस सम्राट् ने कहा कि जिसका नाम नहीं है उसके सम्बन्ध में मैं पूछूंगा कैसे कि किसको खोज रहा हूं । तो सलाह देने वालों ने कहा कि यही कठिनाई है । लेकिन आप यही पूछते हुए खोजें कि मैं उसको खोज रहा हूं, जिसको खोजना बहुत मुश्किल है । शायद कोई बता दे । शायद वह कहीं मिल जाए ।

सम्राट् गया । गांव के बाहर पत्थर पर, एक चट्टान पर बैठा हुआ एक फकीर था । सम्राट् ने उससे पूछा कि मैं उसको खोज रहा हूं जिसको खोजा नहीं जा सकता । कुछ पता बता सकते हो ? उसने कहा, बहुत लम्बी यात्रा है । वर्षों लग जाएंगे । मिल तो जाएगा वह आदमी, लेकिन वर्षों लग जाएंगे । सम्राट् ने पूछा कि वह कब मिलेगा, तो उस फकीर ने कहा कि अब खोजने वाला भी मिट जाएगा । सम्राट् ने कहा कि किस पागल के चक्कर में पड़ गए । उसे खोजना है जो खोजा नहीं जा सकता है और तब खोज पाएंगे जब खुद ही मिट जाएंगे । लेकिन उस

फकीर की आंखों ने मोह लिया और सम्राट् उसकी बात मानकर खोज पर निकल गया । कहते हैं, तीस साल उसने खोज की । पूरे जापान का कोना-कोना खोज डाला । जहां-जहां फकीर थे, संन्यासी थे, साधु थे, वहां-वहां वह गया ।

तीस साल बाद सम्राट अपने गांव वापस लौटा तो उसी चट्टान पर वही फकीर बैठा था । सम्राट् ने उसे देखा और पहचान लिया कि वह वही आदमी है जिसकी मैं खोज कर रहा था । उसने उसके पैर पकड़े और कहा कि तुम आदमी कैसे हो ! अगर तुम ही थे वह, जो पहले दिन मिले थे, तो तीस साल मुझे भटकाया क्यों ? तो उस फकीर ने कहा, लेकिन तब मुझे तुम पहचान न सकते थे, क्योंकि 'तुम थे ।' परमात्मा के पास से भी बहुत बार आदमी को निकल जाना पड़ता है, क्योंकि सवाल तो पहचानने का है । यह तीस साल भटकना जरूरी था ताकि तुम वहां पहुंच सको जो बिल्कुल निकट था, तुम्हारे गांव के बाहर था ।

जिनका नाम नहीं, वे ऐसी घोषणा कर सकते हैं । जो इतने विनम्र हैं कि मिट गए हैं, वे ऐसी घोषणा कर सकते हैं । ऋषि कहता है, परमहंस का अन्तिम लक्षण, अन्तिम चिन्ह यही है कि वे जो कहते हैं, वही सही है और जो वे नहीं कहते हैं, वही गलत है । यह बहुत खतरनाक वक्तव्य है । 'टू डेंजरस' और इसलिए जब उपनिषदों का अनुवाद पश्चिम में पहली बार हुआ तो पश्चिम के विचारकों ने कहा कि इनको पश्चिम में लाना खतरनाक है, डेंजरस है । इसमें बहुत एक्सप्लोसिव, बहुत बारूद छिपा है । वह बारूद आपको आगे ख्याल में आएगी ।

तीसरे सूत्र में ऋषि कहता है, कामदेव को रोकने में वे पहरेदार-जैसे होते हैं । वासना को रोकने में, काम को रोकने में वे पहरेदार-जैसे होते हैं । क्या मतलब है इसका ? बुद्ध कहते थे कि अगर घर का मालिक जगा हो तो चोर उसके घर में आने की हिम्मत नहीं जुटाते । घर में जब दीया जला हो और प्रकाश हो तो चोर उस घर से बचकर चलते हैं । घर के द्वार पर अगर पहरेदार बैठा हो तो चोर फिर उस घर में प्रवेश पाने की अनुमति तो मांगने नहीं आते । चोर तो वहां प्रवेश करते हैं जहां पहरेदार नहीं हैं, जहां घर का मालिक सोया है और अंधेरा है ।

ऋषि कहता है, ऐसे जो परमहंस की शक्ति को जगा लेते हैं उनके भीतर सतत पहरा, कांस्टैंट व्हिजिलेंस, होता है । उनके भीतर वासना प्रवेश नहीं करती । उनके भीतर कामना प्रवेश नहीं करती । उनके भीतर तृष्णा का रास्ता नहीं रह जाता । ऐसा समझें तो आसान होगा कि सोए मन में ही वासना का प्रवेश हो सकता है, अंधेरे से भरे मन में ही वासना का प्रवेश हो सकता है । जहां विवेक अजागरूक है वहीं वासना का प्रवेश हो सकता है । वासना प्रवेश वहां कर सकती है, जहां विवेक नहीं है, जैसे अंधेरा वहीं प्रवेश कर सकता है जहां प्रकाश नहीं है । तो इस परमहंस को जिसने भीतर जगा लिया है, वह संन्यासी है । उस संन्यासी के भीतर कामवासना प्रवेश नहीं करती ।

ध्यान रहे, ऋषि यह नहीं कहता है कि संन्यासी वह है जो काम-वासना पर नियन्त्रण पा लेता है। ध्यान रहे, ऋषि यह नहीं कहता कि 'जिसने काम पर नियन्त्रण पा लिया।' जिसने नियन्त्रण पा लिया उसके भीतर तो प्रवेश भली-भांति है। नियन्त्रण पा लेने के लिए भी मकान के भीतर ही रहना पड़ेगा। अगर काम-वासना पर नियन्त्रण पाना है तो भी उसे आपके भीतर होना चाहिए, तभी तो आप उस पर नियन्त्रण पा सकेंगे। नहीं, ऋषि यह भी नहीं कहता कि संन्यासी संयमी होता है। फिर उस संयम का क्या प्रयोजन है? संयम का तो वहीं प्रयोजन है जहां असंयमित होने की आकांक्षा मौजूद है। ऋषि इतना ही कहता है कि जैसे पहरेदार बैठा हो और चोर भीतर प्रवेश नहीं करते, ऐसे ही उस व्यक्ति में वासनाएं प्रवेश नहीं करतीं। नहीं, ऐसा नहीं कि वह वासनाओं को हटाता है और निकालता है। बस वे प्रवेश नहीं करतीं—पर परमहंस बिना जागे नहीं है। सार और असार दिखाई पड़ने लगे, सार्थक और निरर्थक दिखाई पड़ने लगे तो अपने आप उस प्रकाश के वर्तुल के भीतर उन सबका कोई प्रवेश नहीं होता, जिनसे हम पीड़ित हैं।

दो उपाय हैं। एक उपाय है नैतिक व्यक्ति का। वह कहता है, गलत को हटाओ, सही को लाओ। एक उपाय है धार्मिक व्यक्ति का। वह कहता है कि सिर्फ जागो, प्रकाशित हो जाओ। वह जो छिपा हुआ तुम्हारे भीतर प्रकाश-बीज है, उसे तोड़ दो। वह जो आवृत्त दीया है, उसे अनावृत्त कर दो। फिर बुरा नहीं आता, और जो आता है वह भला ही होता है। ये दो मार्ग हैं—एक मॉरलिस्ट का, नैतिकवादी का और दूसरा एक धार्मिक का।

ध्यान रहे, धर्म और नीति के रास्ते बड़े अलग हैं। नीति के रास्ते से अनीति कभी समाप्त नहीं होती। धर्म के रास्ते से अनीति का कोई पता ही नहीं चलता। लेकिन नैतिक आदमी धर्म से भी डरता है। क्योंकि उसे डर लगता है कि अगर अनीति पर कोई नियन्त्रण न रहे तो फिर क्या होगा? उसे पता ही नहीं है कि चेतना की ऐसी दशा भी है जहां नियन्त्रण की कोई जरूरत ही नहीं होती। चेतना की इतनी प्रबुद्ध स्थिति भी है जहां विकार सामने आने की हिम्मत ही नहीं करते। इतना जागरूक व्यक्तित्व भी होता है जहां अन्धेरा निकट आने का साहस नहीं जुटा पाते। वहां कोई नियन्त्रण नहीं है।

संन्यास धर्म की परम आकांक्षा है। संन्यासी वह नहीं है जो नियन्त्रित है, कण्ट्रोल्ड है। संन्यासी वह नहीं है जिसने अपने ऊपर संयम थोप लिया। संन्यासी वह है जो इतना जागा कि संयम व्यर्थ हो गया, नियन्त्रण की कोई जरूरत न रह गई। यह ठीक से समझ लें, क्योंकि आगे के सूत्र बहुत ही क्रांतिकारी हैं और इसको समझेंगे तभी ख्याल में आ सकेगा। इसको ठीक से समझ लें, अन्यथा आगे के सूत्र कठिन हो जाएंगे। इसलिए उपनिषदों ने नीति की कोई बात नहीं की।

ईसाइयों के पास टेन कमाण्डमेंट्स हैं और ईसाई बड़े गौरव से कह सकते हैं कि तुम्हारे उपनिषदों के पास एक भी कमाण्डमेंट नहीं, एक भी आदेश नहीं है। दस उनके पास सूत्र हैं, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, झूठ मत बोलो—ऐसे दस सूत्र हैं।

एक मजाक मैंने सुनी है। सुना है कि परमात्मा उतरा और अनेक लोगों के पास गया। वह गया सबसे पहले एक राजनीतिज्ञ के पास। सोचा कि यह मान जाए तो बहुत लोग मान जाएंगे। परमात्मा ने उससे कहा कि मैं तुम्हें एक आदेश देने आया हूं, क्या तुम लेना चाहोगे? राजनीतिज्ञ ने पूछा, पहले मैं जान लूं कि आदेश क्या है। तो परमात्मा ने कहा, झूठ मत बोलो। तो राजनीतिज्ञ ने कहा, मर गए। अगर झूठ न बोलें तो हम मर गए। राजनीति का सारा धंधा झूठ पर खड़ा है। क्षमा करें, आप कोई और आदमी खोजें। यह आदेश हम नहीं मान सकेंगे।

परमात्मा पुरोहित के पास गया, क्योंकि राजनीतिज्ञ के बाद पुरोहित का प्रभाव है। परमात्मा ने उससे भी कहा कि मैं तुम्हें कुछ आदेश देने आया हूं। उसने कहा, कौन-सा आदेश? परमात्मा ने कहा, पहला आदेश झूठ मत बोलो। पुरोहित ने कहा, अगर हम झूठ न बोलें तो ये सारे मन्दिर, मस्जिद, ये गिरजे, गुरुद्वारे—ये सब गिर जाएं। हमें खुद ही पता नहीं है कि तुम हो, फिर भी हम कहते हैं कि तुम हो। हमें खुद ही पता नहीं है कि कोई मोक्ष है, फिर भी हम समझाते रहते हैं कि मोक्ष है। हमें खुद ही पता नहीं है कि पाप का कोई दुष्फल मिलता है, लेकिन हम लोगों को समझाते रहते हैं कि पाप का दुष्फल मिलता है और पीछे के दरवाजे से हम पाप किए चले जाते हैं। नहीं, यह नहीं हो सकेगा, यह तो हमारा पुरोहित का सारा धंधा ही गिर जाएगा। पुरोहित का धंधा ही झूठ पर खड़ा है। और जो पुरोहित जितनी हिम्मत से झूठ बोल सकता है उतना धंधा ठीक चलता है। पुरोहित ने कहा कि हमारे धंधे में झूठ और सच में एक ही फर्क है—हिम्मत से बोलने का। क्षमा करें, हम आपकी पूजा-प्रार्थना करते रहते हैं लेकिन यह काम अगर हमने किया तो बड़ी गड़बड़ हो जाएगी।

इस प्रकार ईश्वर बहुत लोगों के पास भटका। वह एक व्यापारी के पास गया। वह एक वकील के पास गया। उसने बहुत तरह के लोगों से सलाह ली, कोई राजी न हुआ। कहते हैं, फिर वह मूसा के पास गया जो यहूदियों के प्रॉफेट हैं। यहूदियों के सम्बन्ध में आपको एक बात ख्याल में दे दूं तो समझ में आ जाएगा। यहूदी खरीदने-बेचने की भाषा में सोचते हैं, व्यापारी हैं, पक्के व्यापारी हैं। जिनके भी पास ईश्वर गया, उन्होंने पूछा, कौन-सा आदेश? जब यहूदी मूसा के पास ईश्वर गया और उसने कहा, मैं कुछ आदेश तुम्हें देना चाहता हूं, तो मूसा ने पूछा, कितने दाम होंगे? 'हाउ मच इट विल कॉस्ट' यहूदी यही पूछेगा। जैनी के

पास आता तो जैनी भी यही पूछते कि 'हाउ मच इट विल कॉस्ट ।' ईश्वर ने कहा नहीं, कुछ भी कीमत नहीं, मुफ्त में दूंगा । तो मूसा ने कहा 'देन आई विल टेक टेन ।' (तो मैं दस लूंगा) क्या हर्जा है । अगर मुफ्त ही दे रहे हो तो दस दे दो । एक की क्या बात है । इसलिए दस आदेश ईश्वर ने दिए—टेन कमाण्ड-मेंट्स । लेकिन उपनिषदों के पास ऐसा कोई आदेश नहीं है । चोरी मत करो, बेईमानी मत करो, व्यभिचार मत करो, ये कोई आदेश नहीं हैं ।

उपनिषद् बिल्कुल नीतिशून्य हैं । कारण ? कारण यह है कि उपनिषद् धर्मग्रन्थ है, नीतिग्रंथ नहीं है । उपनिषद् कहते हैं, चोरी मत करो, यह तो चोरों से कहने की बात है । झूठ मत बोलो, यह तो झूठों से बोलने की बात है । हम तो उस परम सत्य के अन्वेषण करने वाले हैं, जहां झूठ प्रवेश नहीं करता, जहां चोरी की कोई खबर नहीं मिलती । वहां इन सबकी चर्चा का क्या अर्थ ? इसकी कोई चर्चा का कारण नहीं है । हम तो परम ज्योति की तलाश कर रहे हैं, जहां नीति-अनीति का कोई सवाल नहीं उठता, जहां आदमी द्वन्द्व के पार चला जाता है ।

संन्यास परमहंस अवस्था में पूरी तरह हो जाना है । यह कोई नैतिक धारणा नहीं, एक धार्मिक यात्रा है ।

गगन सिद्धान्तः अमृत कल्लोलनदी ।
अक्षयं निरंजनम् ।
निःसंशय ऋषिः ।
निर्वाणो देवता ।
निष्कुल प्रवृत्तिः ।
निष्केवलज्ञानम् ।
ऊर्ध्वाम्नायः ।

उनका सिद्धान्त आकाश के समान निर्लेप है, अमृत की तरंगों से युक्त (आत्मारूप) उनकी नदी होती है ।
अक्षय और निर्लेप उनका स्वरूप होता है ।
जो संशय शून्य है वह ऋषि है ।
निर्वाण ही उनका ईष्ट है ।
वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं ।
वहां मात्र ज्ञान ही शेष है ।
ऊर्ध्वगमन ही जिनका पथ है ।

प्रवचन : ३
साधना शिविर, माउण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २६ सितम्बर, १९७१

यात्रा—अमृत की, अक्षय की—निःसंशयता, निर्वाण और केवल-ज्ञान की

ऋषि परमहंस के स्वरूप की ओर इंगित और इशारा करता है। ऋषि कहता है, उनका सिद्धान्त आकाश की भांति निर्लिप्त है। जो भी घटित होता है, उसकी कोई रेखा आकाश पर नहीं छूटती। इसलिए आकाश के अतिरिक्त निर्लेपता का और कोई अच्छा उदाहरण नहीं है। आकाश का अर्थ है, स्पेस, खाली जगह। आपके भीतर भी आकाश है। एक बीज फूट रहा है, आकाश में जन्म ले रहा है। आकाश में वृक्ष बनेगा। कल मुर्झाएगा, वृद्ध होगा, जीर्ण-जर्जर होगा, आकाश में गिरेगा, खो जायेगा आकाश में। लेकिन आकाश पर कोई रूप रेखा न छूट पाएगी। आकाश को पता भी नहीं चलेगा। पानी पर हम हाथ से रेखा खींचें तो बनती है, पर बनते ही मिट जाती है। पत्थर पर रेखा खींचें तो बनी रह जाती है। आकाश में रेखा खींचें तो खिंचती ही नहीं। आकाश पर कुछ भी अंकित नहीं होता।

इसलिए ऋषि कह रहा है कि वे जो परमहंस हैं, उनका सिद्धान्त आकाश की भांति निर्लेप है। और अगर सिद्धान्त आकाश की भांति निर्लेप है तो सिद्धान्त मत नहीं हो सकता, ओपीनियन नहीं हो सकता। क्योंकि जहां मत है, वहां कोई रेखा खिंच जाती है। जैसे आकाश में बादल घिर जाएं, ऐसे ही जब चेतना पर विचार घिर जाते हैं और चेतना उन विचारों को पकड़ लेती है, तो मत का, ओपीनियन का जन्म होता है। आकाश से बादल हट जाएं खाली कोरा आकाश छूट जाए, जिसमें कुछ भी नहीं है—निपट शून्य है, ऐसे ही जब भीतर चेतना छूट जाती है, जिसमें कोई विचार के बादल नहीं होते, कोई बदलियां नहीं तैरतीं, जिसमें कोई मत नहीं होता, तब जो शून्य चेतना है, वहां जो होता है, उसे ऋषि ने कहा है, वही परमहंस का सिद्धान्त है।

सिद्धान्त का हम जैसा उपयोग करते हैं, वैसा उपयोग यह नहीं है। सिद्धान्त से हमारा अर्थ होता है, प्रिंसिपल, मत, विचार। एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धान्त जैन है; एक आदमी कहता है, मेरा सिद्धान्त बौद्ध है; एक आदमी

कहता है, मेरा सिद्धान्त हिन्दू है। लेकिन सिद्धान्त बौद्ध, हिन्दू और जैन नहीं हो सकता। तब तो आकाश बंट गया, तब तो आकाश लिप्त हो गया, तब तो आकाश के विशेषण हो गए। सिद्धान्त का तो अर्थ यह होता है कि अन्त में जो सिद्ध होता है, अन्ततः जो सिद्ध होता है। जीवन जब अपने परम शिखर पर पहुंचता है, वहां जाकर जो सिद्ध होता है, वहां जिसका दर्शन होता है, उस सिद्धान्त को आकाश की तरह निलिप्त कहा है।

इसलिए ऋषि किसी धर्म का नहीं होता। सभी धर्म ऋषियों से पैदा होते हैं, लेकिन ऋषि किसी धर्म का नहीं होता। न तो जीसस ईसाई हैं और न तो मुहम्मद मुसलमान हैं और न कृष्ण हिन्दू हैं और न महावीर जैन हैं। मजे की बात इसलिए है कि महावीर से जैन विचार चलता है, मुहम्मद से इस्लाम का विचार चलता है। लेकिन मुहम्मद मुसलमान नहीं हैं, हो भी नहीं सकते। यह दुर्घटना क्यों घटती है कि ऋषि तो निर्लिप्त होता है आकाश की तरह, आग्रह शून्य होता है, विचार और मतान्धता उसमें नहीं होती ? सिर्फ दर्शन होता है उसके पास। उसे दिखाई पड़ता है, जो है। लेकिन जब ऋषि कहने जाता है, तो जो दिखाई पड़ता है, वह शब्दों में बंधता है और संकीर्ण हो जाता है। और जब हम, जिन्हें सत्य का कुछ भी पता नहीं है, सुनते हैं, तो जो हम समझते हैं वह कुछ और ही होता है। जो ऋषि जानता है वह कुछ और है, जब ऋषि उसे कहता है तब वह कुछ और है, और जब हम उसे सुनते हैं तब वह कुछ और हो जाता है। और फिर हजारों साल की यात्रा करके वह सत्य से इतना दूर हो जाता है जितना असत्य दूर होता है, और कुछ भी नहीं। महावीर से जैन-सिद्धान्त उतना ही दूर हो जाता है, जितना सत्य से असत्य दूर हो जाता है, और मुहम्मद से इस्लाम उतना ही दूर हो जाता है, और जीसस से ईसाइयत उतनी ही दूर हो जाती है। हो ही जाएगी।

ऋषि तो 'देखता' है। वह सत्य के साथ एक हो गया होता है। कोई बीच में पर्दा और दीवार नहीं रह जाती। लेकिन जब कहता है, तो शब्दों के पर्दे और दीवारें उठनी शुरू हो जाती हैं। इसलिए बहुत से ऋषि चुप रह गये। और उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि उससे कुछ हल नहीं होता। कहने से भी तो कहा नहीं जाता है और नहीं कहने से भी नहीं कहा जाता। कहने से भूल का डर है, नहीं कहने से भूल का कोई डर नहीं है। लेकिन कहने में एक आशा भी है कि शायद उन्हें सुनने वाला कोई भूल न करे। न कहने में वह आशा भी नहीं है। हजार लोगों से सत्य कहा जाए, तो हो सकता है एक आदमी समझ ले। उस एक की आशा में ही कहा गया है। नौ सौ निन्यानबे न समझ पाएं, गलत समझ जाएं, लेकिन न कहा जाए, तब तो हजार ही नहीं समझ पाएंगे, वह एक भी वंचित रह जाएगा।

बुद्ध को ज्ञान हुआ तो उन्हें लगा कि जो जाना है उसे कहूंगा कैसे, इसलिए बुद्ध चुप रह गए। सात दिन तक वे चुप थे। बहुत मीठी कथा है कि देवताओं ने बुद्ध के चरणों में सिर रखे और उनसे कहा कि जो तुमने जाना है वह कहो, क्योंकि तुम्हारे-जैसा पुरुष हजारों वर्षों में पृथ्वी पर एक बार आता है। हजारों वर्षों में कभी यह अवसर मिलता है कि अन्धे भी प्रकाश की बात सुन सकें और बहरे भी संगीत से भर जाएं। लंगड़े भी चल सकें उठकर, मुर्दे भी जीवन की आशा से हरे हो जाएं। तुम बोलो। पर बुद्ध ने कहा, जो मैंने जाना है, वह बोला नहीं जा सकता और फिर मैं सोचता हूं कि मैं बोलूं भी तो जो मुझे समझ पाएंगे, वे मेरे बिना बोले ही समझ जाएंगे। जो इस योग्य होंगे कि मुझे समझ पाएं, वे मेरे बिना बोले ही समझ जाएंगे। और जो मेरे नहीं बोलने पर नहीं समझ रहे हैं, वे वे ही होंगे, जो मेरे बोलने पर भी नहीं समझ पाएंगे। इसलिए मेरे चुप रह जाने में हर्ज क्या है ?

देवता बहुत व्यथित हुए, बहुत चिन्तित हुए। उन्होंने आपस में बहुत मन्थन-मनन किया। फिर बुद्ध से निवेदन किया कि कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो बिल्कुल किनारे पर खड़े हैं (जस्ट ऑन दी बाउण्ड्री)। अगर आप न बोलें तो वे इसी पार रह जाएं, अगर आप बोलें तो वे एक कदम उठाएं और उस पार हो जाएं। आप ठीक कहते हैं कि कुछ जो मुझे सुनकर समझ पाएंगे वह मुझे बिना सुने ही समझ लेंगे। उनकी योग्यता इतनी है। कुछ, जो मुझे बिना बोले नहीं समझ सकते, वे मुझे सुनकर भी गलत समझ लेंगे। उनकी अयोग्यता इतनी है। इन दोनों के बीच में कुछ लोग हैं, जो आप नहीं बोलेंगे तो शायद इसी पार रह जाएंगे और आप बोलेंगे तो शायद उस पार हो जायेंगे। वे बिल्कुल किनारे पर हैं। जैसे पानी अगर निन्यानबे डिग्री पर उबलता हो तो आपके हाथ की गर्मी भी उसे सौ डिग्री कर देगी। वह भाप बन सकता है। माना कि जो बर्फ है, वह आपके हाथ को ही ठंडा करेगा और यह भी माना कि जो सौ डिग्री पर पहुंच ही गया है, उसको आपके हाथ की गर्मी की भी कोई जरूरत नहीं, वह भाप बन ही जाएगा। लेकिन इन दोनों के बीच में भी कुछ है, उन पर कृपा करें। बुद्ध को कुछ सूझा नहीं और उन्हें राजी होना पड़ा—उनके लिए बोलने को जो शायद दोनों के बीच में हों। ऋषि सदा उनके लिए ही बोले हैं, जो दोनों के बीच में हैं।

तो ऋषियों ने सिद्धान्त कहे—मत नहीं, वाद नहीं, इज्म नहीं। केवल वही कहा है जो जीवन का परम रहस्य है। वह ऋषियों का विचार नहीं है, वह उनका अनुभव है। अनुभव और विचार में थोड़ा फर्क होता है, उसे समझ लें। विचार होता है उस चीज के सम्बन्ध में जिसका हमें कोई पता नहीं। अगर आपसे कोई पूछे कि ईश्वर के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है, तो आप जरूर कोई विचार देंगे। आप कहेंगे, मैं मानता हूं ईश्वर को; या आप कहेंगे, मैं नहीं मानता ईश्वर

को। लेकिन ये दोनों आपके विचार हैं। न तो जो मानता है, उसे पता है और न उसे पता है, जो नहीं मानता है। वे एक ही गड्ढे में खड़े हैं। उन्होंने अपने गड्ढ का नाम अलग-अलग रख छोड़ा है। वे एक ही अंधेरे में खड़े हैं। लेकिन जो जागता है, वह यह नहीं कहेगा कि मैं मानता हूं या नहीं मानता हूं। वह कहेगा, मैं जानता हूं।

एक बहुत बड़े वैज्ञानिक लापलेस ने पांच ग्रन्थों में नेपोलियन के समय में विश्व की पूरी व्यवस्था के बाबत एक किताब लिखी। यह किताब अनूठी है—पूरे ब्रह्माण्ड के बाबत! बड़ी किताब है। नेपोलियन ने किताब को उल्टा-पलटा। वह चकित हुआ कि पांच खंडों में हजारों पृष्ठों की किताब है विश्व के सम्बन्ध में, लेकिन ईश्वर का एक जगह भी नाम नहीं आया। लापलेस को उसने राजमहल में बुलाया और कहा कि किताब अद्भुत है और तुमने श्रम किया है, जीवन भर लगाया है, लेकिन मैं सोचता था कि विश्व के सम्बन्ध में जो इतनी गहन किताब है, उसमें कहीं तो ईश्वर का उल्लेख होगा। पर ईश्वर शब्द का उल्लेख एक बार भी नहीं है। खंडन के लिए भी नहीं। यह भी तुमने नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है।

लापलेस ने कहा, ईश्वर की जो हाईपोथीसिस है, परिकल्पना है, ईश्वर का जो विचार है, उसकी मुझे जगत् को समझाने की कोई जरूरत नहीं। 'द हाईपोथीसिस ऑफ गॉड इज नॉट रिक्वायर्ड टू एक्सप्लेन द युनिवर्स।' नेपोलियन का प्रधान मंत्री पास में बैठा हुआ था। वह भी गणितज्ञ और विचारक था। उसने कहा, ईश्वर की परिकल्पना (हाईपोथीसिस) तुम्हारे लिए विश्व को समझाने के लिए जरूरी न हो, 'बट हाईपोथीसिस इज ब्यूटीफुल, इट एक्सप्लेन्स मेनी थिंग्स।' परिकल्पना खूबसूरत है, सुन्दर है। यह बहुत-सी चीजों को समझाने के लिए उपयोगी है। मैं भी ईश्वर को मानता हूं, उसने कहा। लापलेस ने कहा, मैं तो ईश्वर को नहीं मानता हूं। नेपोलियन ने पूछा, तुम दोनों में मुझे कोई फर्क नहीं मालूम पड़ता। तुम दोनों ही कहते हो, 'द हाईपोथीसिस ऑफ गॉड' तुम दोनों ही कहते हो, 'ईश्वर की परिकल्पना'। तुम दोनों ही कहते हो, ईश्वर का विचार। एक कहता है, नहीं मानता हूं, मानने की जरूरत नहीं है। दूसरा कहता है, मैं मानता हूं, जरूरत है। लेकिन तुम दोनों में से कोई भी यह नहीं कहता कि मैं जानता हूं कि ईश्वर है।

परिकल्पना की जरूरत है। उससे कुछ चीजें समझाने में आसानी पड़ती है। अगर कल हमें कोई दूसरी परिकल्पना मिल जाए, जो और अच्छे ढंग से समझा सके, तो हम ईश्वर को उठाकर बाहर कर देंगे। परिकल्पना का अर्थ होता है, अब तक उपलब्ध विचारों में सर्वाधिक उपयोगी। कल ज्यादा उपयोगी परिकल्पना मिल जाए, तो इसे हम हटा देंगे। इसलिए विज्ञान अपनी परिकल्पना रोज बदल लेता है। कल तक परिकल्पना एक काम करती थी। फिर परिकल्पना का अर्थ है

सिर्फ हाईपोथेटिकल, सिर्फ हमने कल्पना की है कि इस सत्य का हमें पता नहीं है। लेकिन कल्पना कर लेने से, इसको सत्य मान लेने से, कुछ उलझी बातों को सुलझाने में आसानी होती है। कल अच्छी कल्पना मिल जाएगी, तो हम इसे हटाकर रिप्लेस कर देंगे, उसे इसकी जगह रख देंगे।

नेपोलियन ने ठीक कहा कि जहां तक मैं समझता हूं, तुममें कोई विवाद नहीं है—'यू बोथ ऐग्री इन वन थिंग, दैट गॉड इज हाईपोथीसिस।' (तुम दोनों एक बात में राजी हो कि ईश्वर एक परिकल्नना है)। एक कहता है, उपयोगी नहीं है, एक कहता है, उपयोगी है। लेकिन विवाद गहरा नहीं है। ईश्वर है, ऐसा तुम दोनों नहीं कहते।

ऋषि यह नहीं कहता कि ईश्वर की परिकल्पना उपयोगी है। ऋषि यह भी नहीं कहता कि ईश्वर है। ऋषि कहता है, जो है, उसका नाम ईश्वर है। ऋषि ऐसा भी नहीं कहता कि 'ईश्वर है,' क्योंकि जिसे भी हम कहें, 'है' वह 'नहीं है' भी हो सकता है। हम कहते हैं, वृक्ष है, कल नहीं हो जाएगा। हम कहते हैं, नदी है, कल सूख जाएगी। हम कहते हैं, जवानी है, कल बुढ़ापा आ जाएगा। हम कहते हैं, सौंदर्य है, कल कुरूप हो जायेंगे। जो भी है, वह नहीं होने की सम्भावनाओं को भीतर लिए हुए है। इसलिए ऋषि यह भी नहीं कहते कि ईश्वर है। वे नहीं कहते कि 'गॉड एक्जिस्ट्स।' वे कहते हैं, जो है, उसका नाम ईश्वर है। 'दैट व्हिच एग्जिस्ट्स इज गॉड' जो है, उसका नाम ईश्वर है। यह और बड़ी बात है। इसका अर्थ हुआ ईश्वर, अर्थात् अस्तित्व। ईश्वर अर्थात् होना। जो भी है, वह ईश्वर है। ईश्वर और सब चीजों की तरह एक चीज नहीं है, और सब वस्तुओं की तरह एक वस्तु नहीं है। ईश्वर होने का गुण है। इसलिए ऋषि तो कहेंगे, 'ईश्वर है', ऐसा कहना पुनरुक्ति है, रिपीटीशन है। क्योंकि ईश्वर का मतलब होता है 'है' और है का भी मतलब होता है, ईश्वर। ऐसे परम सिद्धान्त को कहना बड़ा कठिन है।

ईश्वर, अस्तित्व, परम सत्य—इसे जानना तो उतना कठिन नहीं है, जितना उसे कहना कठिन है। क्योंकि कहते ही उन शब्दों का सहारा लेना पड़ता है, जो पूर्ण को कहने के लिए नहीं बने हैं, जो अपूर्ण को कहने के लिए बने हैं। पर ऋषियों का जो सिद्धान्त है, वह मत नहीं, विवाद नहीं, हाईपोथीसिस नहीं। वह उनकी अनुभूति है। यह अनुभूति आकाश-जैसी निर्लेप है। इसमें विचार का कोई भी आवरण नहीं है। यह खुले मुक्त आकाश-जैसा है।

आप जब आकाश की तरफ देखते हैं, तो आकाश नीला दिखाई पड़ता है। आप सोचते होंगे कि आकाश का रंग नीला है, तो आपने गलती कर दी। आकाश का कोई रंग नहीं है। दिखाई पड़ता है आपको नीला, पर आकाश का कोई रंग नहीं है। आपको नीला दिखाई पड़ने के कारण बीच की हवाएं हैं। बीच में हवाओं

की परतें हैं दो सौ मील तक। सूर्य की किरणें इन दो सौ मील तक हवाओं में प्रवेश करके नीलिमा की भ्रांति पैदा करती हैं। इसलिए जैसे ही इन दो सौ मील के पार अन्तरिक्ष में यात्री पहुंच जाता है, आकाश रंगहीन हो जाता है, कलरलेस हो जाता है।

आकाश में कोई रंग नहीं है, लेकिन हमारी आंख आकाश में रंग डाल देती है। उसे भी नीला कर देती है। अस्तित्व में भी कोई रंग नहीं है। लेकिन हमारे विचार और हमारी देखने की दृष्टि उसमें भी रंग डाल देती है। हम वही देख लेते हैं जो हम देख सकते हैं; वह नहीं, जो है। लेकिन ऋषि तो वही देखते हैं, जो है। अगर वही देखना है जो है, तो अपनी आंखों से छुटकारा चाहिए। अगर वही सुनना है जो है, तो कानों से छुटकारा चाहिए! यह बात बड़ी उल्टी लगेगी। बिना आंखों के देखेंगे कैसे, बिना कानों के सुनेंगे कैसे! और मैं कह रहा हूं, वही देखना है जो है, तो आंख बीच में नहीं चाहिए, नहीं तो आंख बीच में उपद्रव पैदा करती है। कभी आप प्रयोग करें, तो समझ में आ जाएगा।

जब पहली दफा गैलेलियो ने दूरबीन बनाई, खुर्दबीन बनाई, जिनसे दूर की चीजें देखी जा सकती हैं और पास की चीजें सैकड़ों गुनी बड़ी हो जाती हैं। तो गैलेलियो के सम्बन्ध में खबर उड़ गई; लोगों ने कहा कि यह आदमी कुछ चकमा दे रहा है। ऐसा कहीं हो सकता है? चीजें जितनी बड़ी हैं, उतनी बड़ी हैं। अगर एक पत्थर तीन इंच का है, तो तीन इंच का है; हजार इंच का कैसे दिखाई पड़ सकता है। और अगर दिखाई पड़ सकता है, तो कोई धोखा है। खुली आंख से तारे हैं, वे दिखाई पड़ते हैं। अगर दूरबीन से ऐसे भी तारे दिखाई पड़ते हैं जो खुली आंख से दिखाई नहीं पड़ते, तो कहीं जरूर कोई धोखा है।

बड़े-बड़े पण्डित और यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर गैलेलियो की दूरबीन से देखने को राजी नहीं हुए। उन्होंने कहा, तुम्हारी दूरबीन हमें धोखा दे सकती है। जो राजी हुए, वे देखकर हट गए। उन्होंने कहा, इसमें कुछ चालबाजी है। क्योंकि जिस चेहरे को हम सुन्दर और प्रीतिकर कहते थे, वह तुम्हारी खुर्दबीन से ऐसा दिखाई पड़ता है, जैसे ऊबड़-खाबड़ जमीन है। अगर चेहरे को बड़ा कर दिया जाए, तो उसके छोटे-छोटे छेद बड़े गड्ढे हो जाते हैं। सुन्दर से सुन्दर स्त्री ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे पहाड़ी स्थान पर यात्रा कर रहे हैं।

यह बहुत घबड़ाने वाला मामला है। लेकिन अब तो दूरबीन और खुर्दबीन स्वीकृत हो गई। अब बड़ी मुश्किल है। आंख जो कहती है, वह सच है या जो दूरबीन और खुर्दबीन कहती है, वह सच है? सच में आंख जिस चेहरे को सुन्दर कहती है, वह सुन्दर है या खुर्दबीन, जो और गहरा देखती है, आंख से ज्यादा देखती है? दूरबीन आंख के देखने की क्षमता को बड़ा कर देती है। तो वह जो चेहरा दिखाई पड़ता है खुर्दबीन से, वह भी सही है।

अब एल० एस० डी० का आविष्कार हुआ है। अगर एल० एस० डी० ले ले तो जो स्त्री बिल्कुल ही बदशक्ल मालूम पड़ती है, वह भी खूबसूरत मालूम पड़ती है। हक्सले ने जब पहली दफे एल० एस० डी० (एक रासायनिक द्रव जो आदमी को गहरी सम्मोहन तंद्रा में ले जाता है) लिया, तो उसके सामने रखी साधारण कुर्सी उसे इतनी खूबसूरत मालूम पड़ने लगी जितनी मजनू को लैला कभी भी मालूम नहीं हुई होगी। वह बहुत घबड़ाया, क्योंकि कुर्सी से ऐसे रंग निकलते मालूम पड़ने लगे और कुर्सी ऐसी प्रीतिकर लगने लगी कि उसने कहा, अगर कोई भी महानतम काव्य लिखा जा सकता है, अगर कालीदास और शेक्सपीयर को फिर से पैदा होकर काव्य लिखना हो, तो इस कुर्सी के सामने बैठकर लिखना चाहिए। यह बड़ी प्रेरक है। एल० एस० डी० का नशा उतर गया, कुर्सी वही की वही हो गई। सही क्या था? वह जो एल० एस० डी० के प्रभाव में दिखाई पड़ा था वह, या जो खाली आंख से दिखाई पड़ा था वह? नहीं, ऋषि कहते हैं, चाहे खुर्दबीन से देखो, चाहे आंख से देखो, जब तक किसी माध्यम से देखोगे, तब तक जो भी दिखाई पड़ेगा, वह माध्यम से ही निर्धारित होगा। अगर उसे देखना है 'जो है', तो फिर बीच में कोई माध्यम नहीं चाहिए।

मुझे याद आता है कि मुल्ला नसरूद्दीन जीवन के अंतिम दिनों में एक सम्राट् का प्रधान मंत्री हो गया था। महीने-दो महीने में वह विश्राम के लिए पास के एक हिल स्टेशन पर, एक पहाड़ी जगह पर चला आता था, जहां उसने एक बंगला बना रखा था। सम्राट् थोड़े दिनों में चकित हुआ क्योंकि नसरूद्दीन कभी कहकर जाता कि मैं बीस दिन बाद लौटूंगा तो पांच दिन में लौट आता। कभी कहकर जाता कि पांच दिन में लौटूंगा, तो बीस दिन लगा देता। सम्राट् ने पूछा कि बात क्या है? तुम कह जाते हो पर समय से वापस नहीं लौटते! तुम्हारे लौटने का ढंग क्या है? किस हिसाब से लौटते हो?

नसरूद्दीन ने कहा, अगर आप पूछते ही हैं तो मैं अपना हिसाब बता दूं। सम्राट् ने कहा, ऐसा कुछ गुप्त है? नसरूद्दीन ने कहा कि बहुत गुप्त है। मैंने एक नौकरानी छोड़ रखी है उस बंगले पर, पहाड़ पर। वह कोई सत्तर साल की बूढ़ी है। दांत उसके एक भी बचे नहीं है। एक आंख पत्थर की है। एक टांग लकड़ी की है। शरीर ऐसा है, जा कभी का मर जाना चाहिए था। जब वह औरत मुझे सुन्दर मालूम पड़ने लगती है, तब मैं भाग खड़ा होता हूं। पांच दिन लगें, सात दिन लगें, दस दिन लगें, लेकिन जैसे ही मुझे वह औरत सुन्दर मालूम पड़ने लगती हैं, मैं समझ जाता हूं कि अब यहां से भाग जाना चाहिए। कितने दिन लगेंगे इस घटना के लिए, यह पहले से बिल्कुल पक्का तय करना मुश्किल है। कभी वह मुझे पांच दिन में सुन्दर मालूम पड़ने लगती है, तो मैं अपना बोरिया-बिस्तर बांध-कर वहां से भाग खड़ा हो जाता हूं। कभी दस दिन भी लग जाते हैं, कभी बीस

दिन भी लग जाते हैं। लेकिन मापदण्ड मेरा यही है। मैं तब समझता हूं कि अब होश मेरे हाथ से गया। अब यहां से हट जाना चाहिए। एल० एस० डी० भीतर से पैदा हो जाता है। बाहर से लेने की जरूरत नहीं है, भीतर भी पैदा होता है।

सारा का सारा, जिसको हम सेक्सुअल अट्रैक्शन कहते हैं, कामुक आकर्षण कहते हैं, वह कुछ भी नहीं है। वह आपके ग्लैंड्स से बहने वाले रस-केमिकल्स के कारण है, और कुछ भी नहीं है। अगर आपके शरीर से थोड़ी-सी ग्रंथियां और रसों को पैदा करने वाले सूत्र अलग कर लिए जाएं, तो आपको कोई भी स्त्री सुन्दर दिखाई पड़नी बन्द हो जाएगी। कोई भी पुरुष सुन्दर दिखाई पड़ना बन्द हो जाएगा। आपके बीच और जो दिखाई पड़ता है उसके बीच में रस की एक धार आ जाती है—वह चाहे एल० एस० डी० बाहर से लेने पर आवे, चाहे भीतर से पैदा हो जाए। आदमी के भीतर भी हिप्नोटिक ड्रग्स पैदा होते हैं। जवानी में उसी तरह का पागलपन पैदा होता है। वही मूर्च्छा पकड़ लेती है।

ऋषि कहते हैं, माध्यम से जब भी कुछ देखा जाएगा—किसी भी माध्यम से—तो माध्यम भी विकार पैदा करेगा। वह जो निर्लेप आकाश-जैसा सिद्धान्त है, उसे तो तभी देखा जा सकता है, जब देखने वाले ने अपने देखने के सब साधन छोड़ दिए—ऑल इन्सटूमेंट्स ऑफ व्हिजन। न अपने कान का उपयोग करता है सुनने के लिए, न अपनी आंख का उपयोग करता है देखने के लिए, न अपने हाथ का उपयोग करता है छूने के लिए।

ध्यान रहे, ध्यान की गहराई में वह दिन आ जाता है, जब बिना छूए स्पर्श होता है और बिना आंख के दिखाई पड़ता है और बिना कान के स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं। जो बिना कान के सुनाई पड़ता है, उसे ऋषि ने अनाहद नाद कहा है। जो बिना आंख से दिखाई पड़ता है, उसे ऋषि ने अमूर्त कहा है। लेकिन उस अनुभव के पहले स्वयं भी आकाश-जैसा निर्मल और निर्लेप हो जाना चाहिए। सारी इन्द्रियां हट जाएं बीच से, तो भीतर वह, जो चेतना का आकाश है, मुक्त हो जाता है और बाहर के आकाश से एक हो जाता है।

अमृत की तरंगों से युक्त, जैसे अमृत से भरी हुई सरिता हो, ऐसी उनकी आत्मा है। हमें यह समझना कठिन होगा। हम तो यहां से समझना शुरू करें तो आसान होगा कि दुख की तरंगों से भरा हुआ सब कुछ, नरक की लपटों से भरा हुआ सब कुछ, ऐसी हमारी स्थिति है। वहां अमृत का तो कहीं कोई पता नहीं चलता, सिर्फ जहर ही जहर मिलता है। सुख नहीं होता, दुख ही दुख के कांटे सारे जीवन में चुभ जाते हैं। सुख का कोई फूल नहीं खिलता। तो जिन ऋषियों की यह बात की जा रही है कि अमृत की तरंगों से भरी हुई जैसे कोई सरिता हो, ऐसी उनकी चेतना है, यह हमारे ख्याल में न आएगा। कुछ भी रास्ता हमें नहीं सूझेगा कि हम इसे कैसे समझें। हम तो जानते है मृत्यु को, अमृत को तो नहीं जानते। हम

जानते हैं दुख को, आनन्द को तो हम नहीं जानते। हम जानते हैं विषाद को, पीड़ा को, आह्लाद को, अहोभाव को हम नहीं जानते। हमारा सारा अनुभव नरक का है। ठीक इसके विपरीत हो सकता है। हमारे नरक में ही सूचना छिपी है इसके विपरीत होने की। दुख का हमें अनुभव ही इसलिए होता है कि हमारी चेतना दुख के लिए निर्मित नहीं है। अगर हमारी चेतना दुख ही होती, तो हमें दुख का अनुभव न होता। अनुभव सदा विपरीत का होता है। इसे ठीक से ख्याल में ले लें।

अनुभव सदा विपरीत का होता है। अगर मुझे दुख का अनुभव होता है तो उसका अर्थ ही यही है कि मेरे भीतर कोई है, जिसका स्वभाव दुख नहीं है। नहीं तो अनुभव न होता। अगर मेरे भीतर जो हो, उसका स्वभाव भी दुख है, तो बाहर का दुख आता और मिट जाता और एक हो जाता। मैं और धनी हो जाता। मैं और सम्पत्तिशाली हो जाता। पीड़ा न होती, परेशानी न होती, चिन्ता न होती। अंधेरे में थोड़ा अंधेरा और आकार मिल जाता, तो कौन-सी खलल पड़ती। जहर में थोड़ा जहर और आ जाता, तो क्या जहर की मात्रा बढ़ने से कुछ परेशानी होती? नहीं, परेशानी विपरीत के कारण होती है। वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह परम आनन्द स्वभाव वाला है। जरा-सा दुख कांटे की तरह छिद जाता है।

वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह अमृत है। इसलिए मौत को कितना ही भुलाओ, वह भूलती नहीं। वह चारों तरफ से घेर कर खड़ी हो जाती है और दिखाई पड़ती है। अगर सच में हमारे भीतर भी मौत होती, तो हमें मौत का कोई भय भी न होता, मौत की कोई चिन्ता भी न होती। अगर हम मौत ही होते, तो मौत और हमारे बीच एक संगति होती, एक तारतम्य होता, एक हार-मोनी होती। लेकिन हमारे भीतर जीवन है, और इसलिए मौत से एक संघर्ष है, एक सतत् संघर्ष है। मजे की बात यह है कि आप रोज लोगों को मरते देखते हैं और साधु-सन्त आपको समझाते फिरते हैं कि देखो, इतने लोग मर रहे हैं, तुम भी मरोगे, अब तुम मौत को स्मरण करो। फिर भी हमारे भीतर न मालूम क्या है कि कितना ही लोगों को मरते देखो, यह ख्याल कभी नहीं आता कि मैं भी मरूंगा। सामने कोई मरा पड़ा है, तो भी हम कहते हैं, बेचारा मर गया। लेकिन ऐसा ख्याल नहीं आता कि मैं भी मरूंगा। हम बहुत समझाने की कोशिश करें अपने को, तो भी समझ में नहीं आता। कुछ बातें हैं, जो समझ में आ ही नहीं सकतीं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन काफी हाउस में बैठकर बात कर रहा था और अपने मित्रों को कह रहा था कि कुछ ऐसी बातें हैं, जो मानी ही नहीं जा सकतीं, जो असम्भव हैं। उन मित्रों ने पूछा कि उदाहरण के लिए एकाध बात कहो। तो मुल्ला ने कहा, जैसे कल मैं रास्ते से निकल रहा था। अंधेरा था, एक दरवाजे के पास दो

व्यक्ति खड़े होकर बात कर रहे थे कि सुना है हमने, मुल्ला नसरूद्दीन मर गया। मैंने भी सुना, लेकिन मुझे भरोसा न आ सका। कैसे भरोसा आ सकता है ?

आप जानकर हैरान होंगे कि जो लोग बिना किसी पीड़ा के चुपचाप मर जाते हैं, उन्हें मरने के बाद कई घंटे लग जाते हैं यह भरोसा करने में, कि वे मर गए। इसलिए हमने इन्तजाम किया है कि जैसे ही कोई मर जाता है, सारा घर छाती पीटकर रोता है, चिल्लाता है, अर्थी बांधी जाने लगती है। बैण्ड-ढोल बजने लगता है, ले जाने की तैयारी शुरू हो जाती है। ज्यादा देर नहीं करते, जल्दी मरघट पहुंचाते है, जलाते हैं। इसके पीछे कारण है। इसके पीछे कारण है ताकि उस चेतना को पता हो जाए कि उसका शरीर से सम्बन्ध टूट गया, और जिसे उसने अब तक जाना था कि मैं था, वह मर चुका है।

मृत शरीर को गाड़ने से यह फायदा नहीं होता। इसलिए जिन्होंने आत्मा और मृत्यु के सम्बन्ध में सर्वाधिक खोज की है, उन्होंने गाड़ने पर जोर नहीं दिया। हां, सिर्फ संन्यासी को गाड़ते हैं, क्योंकि उसको तो पहले ही से पता है। उसे जलाने से कुछ नया पता नहीं चलेगा। वह जलने के पहले भी जानता है कि जो जलने वाला है, वह जलेगा। इसलिए सिर्फ संन्यासी को हम गाड़ते हैं, या छोटे बच्चों को गाड़ते हैं। बाकी को हम जलाते हैं। छोटे बच्चों को भी इसीलिए गाड़ते हैं कि वे अभी इतने भोले हैं कि शायद अभी जीवन ने उन्हें विकृत नहीं किया होगा। संन्यासी को भी इसीलिए गाड़ते है कि वह इतना भोला हो गया है कि जीवन ने जो विकार दिए थे, वे पोंछ दिए गए। लेकिन बाकी को हमें जलाना पड़ता है। असल में हम इतने जोर से अपने शरीर के साथ बंधे हैं कि जब तक कोई हमारे शरीर को जलाकर राख न कर दे, तब तक हमें यह भरोसा नहीं होगा कि यह शरीर हमारा था और अब नहीं है, समाप्त हो गया।

इस अर्थ में हिन्दू इस पृथ्वी पर अद्भुत हैं। उन्होंने कुछ गहनतम बातें खोजी हैं। बाप मर जाता है, तो उसके बड़े लड़के से उसका सिर तुड़वाते हैं। यह बड़ा कठोर और कुरूप मालूम पड़ता है। बिना सिर फोड़े भी जलना हो सकता है। सिर फोड़ने की क्या जरूरत है ? और यह काम नौकर-चाकर से भी लिया जा सकता है। गांव में बाप के कोई दुश्मन भी होंगे, इसमें उनको आनन्द भी आ सकता था, उनसे यह काम लिया जा सकता था। यह उनके बेटे से ही करवाने का क्या कारण है ? हिन्दुस्तान में बाप इसलिए रोते हैं कि अगर बेटा न हुआ, तो अन्तिम क्रिया कौन करेगा। इसलिए बेटे को पैदा करते हैं कि वह अन्तिम जो क्रिया है 'कपाल-क्रिया', सिर तोड़ने की, वह बेटा करेगा। क्यों ? इनको सूत्र का पता था। शरीर तो जलेगा ही, इसके साथ एक और तरकीब और साधना का क्रम कि वह बेटा ही बाप के सिर को तोड़ देगा, जिसने जन्म दिया था इस बेटे को। वह उसकी मृत्यु में सहयोगी होगा। वह मरने की पूरी घटना करवा देगा ताकि बाप की जो

छूटती हुई चेतना है, वह सम्बन्धों के आग्रह से भी छूट जाए। अपना-पराया मानने का ख्याल भी टूट जाए। कौन मित्र है, कौन शत्रु है, यह भी छूट जाए। कौन बेटा है, कौन बेटा नहीं है, यह भी छूट जाए। सम्बन्ध जो पकड़ लेते हैं, वह राग भी टूट जाए। इस मृत्यु में हमने उसका भी उपयोग किया था। जब बाप ने इतनी कृपा की कि जन्म दिया, तो बेटा अब जन्म तो दे नहीं सकता बाप को। उऋण होगा कैसे ? मृत्यु दे सकता है। सर्किल पूरी हो जाती है। यह बड़ा कठोर है, लेकिन पीछे कुछ गणित है।

यह जो हमें स्मरण नहीं आता कि हम मर जाएंगे, यह सिर्फ अज्ञान के कारण नहीं है। वस्तुतः इसलिए स्मरण नहीं आता कि भीतर हमारे वह ह, जो नहीं मर सकता है। हमारे ऊपर कुछ है, जो मरेगा और हमारे भीतर कुछ है, जो नहीं मरेगा। जब हम दूसरे को मरते देखते हैं तो उसके ऊपर को ही मरते देखते हैं, भीतर का तो हमें कुछ पता नहीं चलता। वह हमारे भीतर जो अमृत है, वह कैसे माने। वह नहीं मान पाता। लाखों मौत घट जाएं, तो भी भीतर कोई कहे चले जाता है कि आप मर गए होंगे, लेकिन मैं अपवाद हूं, मैं नहीं मरूंगा। यह सिर्फ अज्ञान के ही कारण नहीं है। गहरे में तो कारण यही है कि भीतर कुछ है, मरना जिसका स्वभाव ही नहीं। कितना ही दुख मिल जाए, तो भी हम सुख की आशा बांधे चलते हैं। उसका भी कारण यही है कि कितना भी दुख मिल जाए, पर जो मेरा स्वभाव नहीं है, वह मेरी नियत नहीं बन सकता, वह मेरा अल्टीमेट, आखिरी रूप नहीं हो सकता। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में, कभी-न-कभी मैं उसे तो पा ही लूंगा, जो मेरा स्वभाव है। इसलिए आनन्द की अनन्त खोज चल रही है। ऋषि कहता है, वे जो परमहंस हैं, अमृत की तरंगों से युक्त जैसे कोई सरिता हो, ऐसी उनकी चेतना है।

ध्यान रहे, लेकिन ऋषि कहता है, अमृत की तरंगों से युक्त। यह जो जीवन की भीतरी धारा है, वह डायनेमिक है, स्टैगनेंट नहीं है—गत्यात्मक है, सरिता की तरह है, सरोवर की तरह रुका हुआ नहीं। वह मरे हुए तालाब की तरह नहीं है, जिसमें पानी भरा है। वह एक बहती हुई नदी की तरह है—उफनती, दौड़ती, भागती, जीवन्त। ध्यान रहे, सरोवर अपने में बन्द और कैद होता है, पर सरिता सागर की खोज पर होती है। सागर की तरफ जो दौड़, वही तो सरिता का रूप है। उस सागर की तरफ जो खिंचाव हैं, कशिश है, वही तो सरिता का जीवन है। तो ऋषि कहता है, अमृत की तरंगों से भरी हुई सरिता-जैसी चेतना है, जो निरन्तर गत्यात्मक है, गतिमान है, वह अगम की खोज में, अनन्त की खोज में भागी चली जा रही है।

ध्यान रहे, यह मत सोचना कि जब सरिता सागर में गिरती है, तो खोज समाप्त हो जाती है। सरिता सागर में गिरती है, तो हमारे लिए मिट जाती है, लेकिन

सरिता तो सागर में और गहरे, और गहरे डूबती ही चली जाती है। तट छूट जाते हैं, सरिता की सीमा मिट जाती है, लेकिन सागर की गहराइयों का कोई अन्त नहीं है। खोज चलती ही चली जाती है। छोटी लहरें बड़ी लहरें हो जाती हैं। अमृत के तूफान आने लगते हैं, अमृत का सागर हो जाता है; लेकिन खोज चलती ही रहती है।

यह खोज अनन्त है, क्योंकि ईश्वर को कभी चुकता नहीं किया जा सकता। ऐसा कोई क्षण नहीं आ सकता कि कोई आदमी कह दे कि (नाउ, आई पजेस) अब मेरी मुट्ठी में है ईश्वर। हां, ऐसा एक क्षण जरूर आता है कि खोजी कहता है कि ईश्वर ही बचा, मैं कहां गया! मैं कहां हूं अब! वह जो खोजने निकला था, खो गया है अब; जिसे खोजने निकला था वह हो गया है। बड़ी दुर्घटना की बात है कि व्यक्ति का और परमात्मा का कभी मिलन नहीं होता। क्योंकि जब तक व्यक्ति होता है, तब तक परमात्मा प्रकट नहीं होता है; और जब परमात्मा प्रकट होता है, तो व्यक्ति खोजने से मिलता नहीं। उसके साथ एक हो गया होता है। इसलिए अनन्त खोज के प्रति चेतना की धारा होती है, ऐसा ऋषि कहता है।

अक्षय और निर्लेप उसका स्वरूप है। अक्षय और निर्लेप स्वरूप है उस चेतना का। उस अन्तरात्मा का स्वरूप है अक्षय। कितनी भी गति हो, क्षय नहीं होता। कितनी भी यात्रा हो, ऊर्जा समाप्त नहीं होती। कितना ही चलो—अथक, थकता नहीं। वह जो भीतर है, जरा भी क्षीण नहीं होता। अनन्त है स्रोत उसका। कितना ही उलीचो, चुकता नहीं है। अक्षय है, क्षय नहीं होता। उस चेतना का कोई क्षय नहीं है। और जिसका कोई क्षय नहीं है, वह निर्लेप ही हो सकती है, क्योंकि क्षय तो लेप का होता है। इसे थोड़ा समझ लें।

हमारे ऊपर जिन-जिन चीजों की परतें हैं, उनका क्षय होता है। शरीर की परत है, वह क्षय होती है। आज जवान है, कल बूढ़ा होगा। आज युवा है, कल वृद्ध होगा। आज शक्तिशाली है, कल जर्जर होगा। आज चलता है, कल नहीं चल सकेगा। आज उठता है, कल गिरेगा—मिट्टी से एक हो जाएगा। 'डस्ट इन्टु डस्ट', धूलि में धूलि मिल जाएगी। मन भी एक परत है, उसका भी क्षय होता है। वह भी क्षीण होता चला जाता है। परतें सदा क्षीण हो जाती हैं, क्योंकि जो ऊपर से चढ़ाई हैं, वे अलग हो जाती हैं। जोड़ी गई हैं, टूट जाती हैं, संयुक्त की गई हैं, वियुक्त हो जाती हैं। लेकिन भीतर जो है, जो स्वभाव है, स्वरूप है, जो मैं हूं, जो सदा से मैं हूं, जिससे अन्यथा मैं कभी भी नहीं था और जिससे अन्यथा मैं कभी भी नहीं होऊंगा, उसका क्षय नहीं होता।

बुद्ध से कोई पूछता है कि मैं मरूंगा तो नहीं। तो बुद्ध कहते हैं, जो तुम्हारे भीतर मरा ही हुआ है, वह मरेगा। और जो तुम्हारे भीतर कभी जन्मा ही नहीं है, उसके मरने का सवाल क्या! एक है हमारे भीतर जो जन्मा है; जो जन्मा है,

वह मरेगा। जब एक छोर हो गया, तो दूसरा छोर भी अनिवार्य है। आप एक ऐसा डण्डा नहीं खोज सकते जिसमें एक ही छोर हो। और अगर किसी दिन खोज लें, तो समझना कि जो जन्मा है, अब नहीं मरेगा। नहीं, दूसरा छोर होगा ही! जब एक छोर है, तो दूसरा छोर होगा ही। असल में एक छोर हो ही नहीं सकता, दूसरे छोर के साथ ही होता है। जो जन्मा है वह मरेगा, जो मरा है वह जन्मता रहेगा। क्या कुछ ऐसा भी है भीतर, जो जन्मा नहीं है? अगर उसका पता चल जाए, तो उसका भी पता चल जाता है जो मरता नहीं। निश्चित ही ऐसा भीतर कुछ है। लेकिन गहरे उतरना पड़ेगा, परतों के पार उतरना पड़ेगा।

हम तो परतों के इतने मतवाले हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं। कोई ध्यान करता है। जरा उसका कपड़ा सरक जाता है, तो वह जल्दी से पहले कपड़ा संभालता है। ध्यान नहीं संभालता। कपड़ा संभालने में ध्यान चूक जाता है, उसकी फिक्र नहीं है, वह सस्ती चीज है, वह खोई जा सकती है। कपड़ा जल्दी से संभाल लेता है, यह बड़ी कीमती चीज है। इसको बचाना जरूरी है। बहुत दीन है आदमी। अपने हाथ से दीन है। क्षुद्र को बचाता रहता है। जो मिटेगा, उसे बचाता रहता है। जिसका कोई भी मूल्य नहीं है, उसको तिजोरी में ताले लगाकर रखता रहता है, और जो अमूल्य है, वह बाहर पड़ा रहता है सड़क पर। उसको कोई पूछता भी नहीं!

कभी-कभी मैं देखता हूं कि कितनी छोटी चीजें बाधा बन जाती हैं। कपड़ा बचाता है आदमी, शरीर बचाता है आदमी। किसी का धक्का लग जाता है; तो वह बच कर निकल जाता है; ध्यान के बाहर दूर जाकर बैठ जाता है। धक्का लग गया, इस शरीर को कितने दिन बचाइएगा? और धक्के से बचाने को सोचते हैं, क्या आखिरी धक्का नहीं लगेगा? अच्छा है, छोटे-मोटे धक्के का अभ्यास रखें, तो आखिर जो लगेगा तो बहुत घबराहट नहीं होगी। बिल्कुल बचा-बचा कर रखा, तो बहुत मुश्किल पड़ेगी। और धक्का तो लगेगा ही। यह बचाया नहीं जा सकता। धूप तेज हो गई, तो आदमी ध्यान छोड़ देता है क्योंकि धूप तेज है। क्या फर्क पड़ेगा? थोड़ा पसीना बह जाएगा। थोड़ी चमड़ी काली पड़ जाएगी। आज नहीं, कल; कोयला बनने वाली यह चमड़ी है। आप इतना धूप से बचाते हैं और कल उसे आपके ही सगे-सम्बन्धी आग में जला देंगे। पर हम उन परतों को बचाने में लगे हैं, जो नहीं बचाई जा सकतीं, और जो सदा बचा हुआ है, उसकी हमें खबर ही नहीं मिलती। हम इसी में उलझे-उलझे नष्ट हो जाते हैं। कितने जन्म हम गंवाते हैं।

ऋषि कहता है, वह अक्षय है। उसकी खोज करो, जो अक्षय है। जो अक्षय को पा लेता है, वही धनी है; बाकी सब निर्धन हैं। क्योंकि उसने उसे पा लिया, जिसे अब चोर चुरा नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, शस्त्र छेद नहीं सकते, जो मारा

नहीं जा सकता, मिटाया नहीं जा सकता। अब कोई भय न रहा। और जब भी कोई अक्षय की धारा में उतर जाता है, तो वह पाता है कि वहां सब निर्लेप है! वहां कोई विकार नहीं है।

सब विकार परतों के हैं और परतें बिना विकार के नहीं हो सकतीं, इसे समझ लें। अगर मुझे अपने शरीर पर धूलि चिपकानी हो तो पहले मुझे तेल लगाना पड़ेगा, नहीं तो धूलि का चिपकना मुश्किल होगा, क्योंकि धूलि और शरीर के बीच स्निग्धता होनी चाहिए। कुछ राग होना चाहिए, कुछ चिपकने वाला होना चाहिए, जो जोड़ दे। अगर आपको शरीर के साथ अपने को जोड़े रखना है, तो वासना चाहिए, कामना चाहिए, तृष्णा चाहिए, इच्छा चाहिए। ये बीच की स्निग्धताएं हैं, जिनसे जोड़ बनेगा। अगर ये बिल्कुल सूख जाएं, तो शरीर से चेतना मुक्त हो जाए।

इसलिए तो बुद्ध और महावीर निरन्तर कहते हैं कि छोड़ दो तृष्णा, छोड़ दो वासना, छोड़ दो इच्छा। क्यों? क्योंकि ये बीच से छूट जाएं, तो वह जो चारों तरफ धूल की परत है, उससे जोड़ टूट जाएं। लेकिन हम परतों को संभाले रखते हैं। परतों को संभाले रखने के लिए उस सारे इन्तजाम को भी संभालना पड़ता है जिनसे परतें हमसे जुड़ी रहती हैं। इसलिए हमें निर्लेप का कोई पता नहीं चलता। परतों के साथ तो विकारों का ही पता चलता है, क्योंकि विकार ही परतों को जोड़ते हैं। अगर विकार सब छूट जाएं, तो परतें सब छूट जाएं, उनके साथ ही अलग हो जाएं। जोड़ने वाला बीच का तत्त्व न रह जाए, तो जो अलग है वह अलग गिर जाए, जो मैं हूं वही बचे। इसलिए ऋषि कहता है, वह अक्षय है, निर्लेप है।

संशय से जो शून्य है, वही ऋषि है। संशय से शून्य होना ऋषि का सार अंश है। लेकिन संशय तब तक नहीं मिटता, जब तक इस अक्षय का अनुभव न हो। अनुभव के बिना संशय नहीं मिटता। ध्यान रखें, संशय श्रद्धा से नहीं मिटता, आस्था से नहीं मिटता, विश्वास से नहीं मिटता। संशय मिटता ही नहीं किसी उपाय से सिवा अनुभव के। कितना ही मैं कहूं कि आप आग में जलाए जाएंगे और आप नहीं जलेंगे तो आप कहेंगे, क्या कहते हैं! यदि मान भी लें मेरी बात, फिर भी आग में कूदने को तैयार नहीं होंगे और अगर तैयार होंगे, तो कारण मेरी बात न होगी, कारण कुछ और होगा।

मैंने सुना है कि हिटलर से मिलने एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ युद्ध के पहले यह देखने गया था कि हिटलर ने क्या तैयारी की है। एडाल्फ हिटलर उसे अपने कमरे में ले गया। उसका कमरा सातवीं मंजिल पर था। कोई दस सिपाही पहरा देते थे। एडाल्फ हिटलर ने कहा कि तुम ब्रिटिश, झंझट में मत पड़ो, क्योंकि मेरे पास ऐसे आदमी हैं, जो मेरी आवाज पर जान दे सकते हैं। उसने नम्बर एक के सिपाही

से कहा, कूद जा। वह सातवीं मंजिल से कूद गया। वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तो घबरा गया। हिटलर ने दूसरे से कहा, कूद जा। तो दूसरा सिपाही भी सात मंजिल से कूद गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तो कंप गया। अगर ऐसे सैनिक हैं इसके पास, तो ब्रिटेन न टिक सकेगा। हिटलर ने तीसरे सैनिक को कूदने की आज्ञा दी। उस राजनीतिज्ञ ने कहा, रुको, यह कर क्या रहे हो? रुको, मैं मान गया, मान गया, काफी है इतना, पर्याप्त है। पास जाकर उसने तीसरे सैनिक से पूछा, इतनी उतावली क्या है? इतनी जल्दी मरने की तैयारी क्या है? तो उस सैनिक ने कहा, अगर हम जी रहे होते, तो कौन मानता इस आज्ञा को। लेकिन इस आदमी के साथ जीने से सात मंजिल से कूद कर मर जाना बेहतर है।

कारण दूसरा ही है। अगर आप मेरी आज्ञा मानकर आग में कूद जाएं, तो मैं नहीं मानूंगा कि आप मेरी आज्ञा मानकर कूद गए। कारण कुछ और ही होगा। क्योंकि श्रद्धा, आस्था, भरोसा, विश्वास, सब ऊपरी है। जब तक स्वयं ही पता न चले उसका, जो अमृत है, तब तक आग में कूदते वक्त संशय बना ही रहेगा। पता नहीं इस आदमी ने जो कहा, वह ठीक है या नहीं? पता नहीं उपनिषद् के ऋषि जो कहते हैं, वह ठीक है या नहीं? दूसरे का कहा हुआ सदा ही संशय रहेगा। रहेगा ही। कोई उपाय नहीं है। स्वयं का जाना हुआ ही निस्संशय में ले जाता है।

ऋषि वही है, जो स्वयं जान लेता है। इसलिए कहा है, निस्संशय हो जाना, संशय रिक्त, संशय-शून्य हो जाना ऋषि का लक्षण है। ठीक लक्षण है। यही पहचान है। अगर कभी किसी ऋषि के पास होने का मौका मिले तो पहली बात एक ही खोजना, और वह यह कि उसे कोई संशय तो नहीं है! वह कभी सवाल तो नहीं पूछता, वह कभी प्रश्न तो नहीं उठाता! वह अभी भी तो कहीं यह पता लगाने नहीं जाता है कि सत्य क्या है? ऋषि निस्संशय है; जो उसने जाना है, उससे उसके अपने संशय गिर गए। अब कोई प्रश्न नहीं उठता, निष्प्रश्न है। अब भीतर कोई सवाल नहीं है। कोई जवाब की खोज भी नहीं है।

निर्वाण ही उसका इष्ट है। निःसंशय उसका चित्त है। उसका एक ही लक्ष्य है कि मिट जाएं, कैसे मिट जाएं। हम सबका लक्ष्य है कि हम कैसे बच जाएं—किस तरकीब से। अगर हम धर्म की तरफ भी जाते हैं, तो बचने के लिए। अगर हम शास्त्र भी पढ़ते हैं, तो इसी आशा में कि शायद कोई रास्ता बचने का मिल जाए। अगर हम यह भी श्रद्धा कर लेते हैं कि आत्मा अमर है, तो इसलिए ताकि मरना न पड़े। ठीक ही कहते होंगे ये लोग। अगर ये ठीक नहीं कहते, तो मरना पड़ेगा। इसलिए जितनी कमजोर कौमें हैं, आत्मा की अमरता में उतनी ही जल्दी विश्वास कर लेती हैं। और आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाली कौमें जमीन पर कमजोर सिद्ध हुई हैं। उनमें हम भी एक हैं। हमसे ज्यादा भयभीत और डरे हुए लोग जमीन पर मिलना मुश्किल है। हमसे ज्यादा आत्मवादी भी खोजना मुश्किल

है। दोनों में कोई भी ताल-मेल नहीं है, क्योंकि आत्मवादी का तो अर्थ ही यही होगा कि अब मृत्यु नहीं रही। तो भय किसका ? लेकिन हमारे मुल्क को हजार साल तक गुलाम रखा जा सकता है। हाथ में हथकड़ियां पड़ी रहीं और हम अपना शास्त्र पढ़ते रहे कि आत्मा अमर है।

आत्मा अमर है, ऐसा मानने से कुछ भी नहीं होता, जानना पड़ता है। जानना निश्चित ही दूभर है, कठिन है। एक अर्थ में असम्भव-जैसा है। हम एक छलांग लेने की हिम्मत नहीं जुटा पाते, एक कदम उठाने में डरते हैं। जिस सीढ़ी को पकड़ लिया, उसे ऐसा पकड़ते हैं कि फिर उसे कभी छोड़ना नहीं चाहते। जहां खड़े हैं, उस जमीन से हटना नहीं चाहते। और ऋषि कहता है कि ऋषियों का लक्ष्य--इष्ट—ही निर्वाण है। बुझ जाना है वहां। लक्ष्य यही है कि मिट जाऊं।

मिटने के लिए ऐसी आतुरता क्यों है ? क्योंकि ऋषि जानता है कि वही मिट सकता है, जो मिटने वाला है। वह तो मिटेगा नहीं, जो मिट नहीं सकता। इसलिए मिट कर देख लूं कि क्या मेरा है और क्या मेरा नहीं है। वह साफ हो जाए। वह निर्णय हो जाए। मैं मर कर देख लूं, ताकि निर्णय हो जाए कि क्या था जो मेरा था और क्या था जो मेरा नहीं था। मृत्यु ही निर्णायक होगी, इसलिए ध्यान मृत्यु का प्रयोग है। समाधि मृत्यु का अनुभव है। इसलिए हम संन्यासी की कब्र को समाधि कहते हैं। उसकी कब्र को हम समाधि इसीलिए कहते हैं, क्योंकि उस आदमी ने मरने के पहले ही जान लिया था कि क्या मरने वाला है, और क्या नहीं मरने वाला है। उसे नहीं मरने वाले का पता था।

साधक का इष्ट क्या है ? आप आए हैं लम्बी यात्रा करके यहां, किसलिए ? अगर मुझसे पूछें तो मैं कहूंगा, इसीलिए, ताकि लौटते वक्त आप न बचें। आए भले हों, जाते वक्त जाने वाला न बचे। जाएं जरूर, लेकिन भीतर सब खाली हो जाए। जिसे लेकर आए थे, उसे यहीं दफना जाना, तो ध्यान पूरा हुआ, ध्यान में गति हुई। अगर आप ही लौट गए वापिस, तो ध्यान में कोई प्रवेश न हुआ। इष्ट यही है कि मैं मिट जाऊं, ताकि परमात्मा ही शेष रह जाए। और मजा यह है कि जब तक मैं बचा हूं, तभी तक मैं उससे जुड़ा हूं, जो मिटेगा। और जिस दिन मैं मिट जाता हूं, उसी दिन उससे जुड़ जाता हूं, जिसका कोई मिटना नहीं है।

वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं। जब मिट ही गए, तो उपाधियां क्या होंगी ? क्योंकि सब उपाधियां 'मैं' के आसपास इकट्ठी होती हैं, वह 'मैं' का दरबार है। अहंकार के आस-पास सब बीमारियां इकट्ठी होती हैं। अहंकार चला गया, तो दरबारी अपने आप चले जाते हैं। उसकी कोई जगह नहीं रह जाती। वे अपदस्थ हो जाते हैं। उपाधि एक है। वह मेरे होने का मुझे जो ख्याल है, वही

मेरी उपाधि है, वही मेरी बीमारी है। फिर उस बीमारी में लोभ इकट्ठा होता है, क्योंकि मुझे बचाना है अपने को, तो लोभ करना पड़ता है। फिर उस बीमारी में भय आता है, हिंसा आती है। फिर उस बीमारी में काम आता है, वासना आती है, तृष्णा आती है। फिर हजार उपाधियां चारों तरफ खड़ी हो जाती हैं। उस मैं को बचाने के लिए सुरक्षा का सारा इन्तजाम है। लेकिन जब मैं ही मिटने को राजी हो गया, तो इस इन्तजाम की कोई जरूरत नहीं रह जाती। यह इन्तजाम गिर जाता है। वे उपाधियों से मुक्त हैं।

वहां ज्ञान मात्र ही शेष रह जाता है—निष्केवल ज्ञानम्। बस केवल ज्ञान ही शेष रह जाता है। यह शब्द महावीर को बहुत प्यारा था—'केवल ज्ञान।' बस मात्र ज्ञान ही शेष रह जाता है। वहां न ज्ञाता बचता है—जानने वाला, नोअर, न वहां वह बचता है जो जाना जाता है—नोन। वहां तो केवल नोइंग बच जाती है, जानना ही बच जाता है। मैं भी मिट जाता हूं, तू भी मिट जाता है। फिर सिर्फ बीच में जो चेतना की जीवन्त धारा है, ज्योति है, वही बच जाती है। जब भी हम जानते हैं, तो वहां तीन होते हैं—मैं होता हूं जानने वाला, आप होते हैं, जो जाना जाता है और उन दोनों के बीच का सम्बन्ध होता है, जिसे हम ज्ञान कहते हैं।

ऋषि जो मिट जाते हैं, ईश्वर को उपलब्ध हो जाते हैं, निर्वाण को पा जाते हैं, उपाधियां गिर जाती हैं तो वहां न जानने वाला बचता है, न जाना जाने वाला बचता है—न ज्ञाता और न ज्ञेय, बस ज्ञान ही शेष रह जाता है। वही ज्ञान इस अस्तित्व का परम स्वरूप है। ज्ञान मात्र—जस्ट नोइंग। ध्यान उसी की तरफ एक-एक कदम चढ़ने का उपाय है। ध्यान ज्ञान की सीढ़ी है। ध्यान दोहरा प्रयोग है। इस तरफ गिराना है मैं को, उपाधियों को, तैयारी करनी है मिटने की, खो जाने की; और उस तरफ जैसे-जैसे मैं खोऊंगा, ज्ञान का आविर्भाव होगा। ज्ञाता नहीं बचेगा, तब ज्ञान बचता है।

और ऊर्ध्वगमन ही उनका पथ है। निरन्तर ऊपर उठते जाना ही उनका मार्ग है। देखा है, दिए की ज्योति भागती रहती है ऊपर की तरफ। देखा है, आग भागती रहती है ऊपर की तरफ। कैसा ही करो, उल्टा-सीधा, भागती है ऊपर की तरफ। पानी भागता है नीचे की तरफ। चढ़ाना हो ऊपर, तो बहुत इन्तजाम करना पड़ता है, तब ऊपर चढ़ता है। इन्तजाम छोड़ दें, फिर नीचे उतर जाता है। आग को नीचे की तरफ बहाना हो, तो बहुत इन्तजाम करना पड़ेगा। ऊपर स्वभाव से जाती है।

शरीर का स्वभाव नीचे की तरफ है, पदार्थ का स्वभाव नीचे की तरफ है। चेतना का स्वभाव ऊपर की तरफ है। ऐसा समझ लें कि आदमी एक दीया है, मिट्टी का दीया। उसमें मिट्टी भी है, उसमें एक जलती हुई ज्योति भी है।

उसमें तेल भी भरा है, वह मिट्टी का दीया जमीन की कोशिश से चिपका रहता है। वह दीया टूट जाए, तो तेल नीचे की तरफ बह जाता है। लेकिन वह ज्योति सदा ऊपर की तरफ भागती रहती है। ऋषि उसे कहते हैं, जिसने अपने मिट्टी के दीए के साथ तादात्म्य तोड़ लिया, जिसने तेल के साथ संगम छोड़ दिया, जिसने केवल ऊपर भागती हुई ज्योति को ही अपना स्वरूप जाना।

ऊर्ध्वगमन ही उनका पथ है। ऊपर, और ऊपर, और ऊपर वे चलते ही चले जाते हैं।

नीरालम्ब पीठः ।
संयोगदीक्षा ।
वियोगोपदेशः ।
दीक्षा संतोषपावनम् च ।
द्वादश आदित्यावलोकनम् ।

आश्रय रहित उनका आसन है ।
(परमात्मा के साथ) संयोग ही उनकी दीक्षा है ।
संसार से छूटना ही उपदेश है ।
दीक्षा संतोष है और पावन भी ।
बारह सूर्यों का वे दर्शन करते हैं ।

प्रवचन : ४
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक २७ सितम्बर, १९७१

पावन दीक्षा—परमात्मा से जुड़ जाने की

साधक की अन्तर भूमिका के सम्बन्ध में ये सूत्र हैं । वे जो प्रभु को खोजने निकले हैं, उन्हें निरालम्ब हो जाना पड़ता है । उन्हें और सब आश्रय खो देने पड़ते हैं, तभी प्रभु का आसरा मिलता है । उन्हें असहाय—हेल्पलेस हो जाना पड़ता है, तभी सहायता उपलब्ध होती है । जब तक उन्हें लगता है, मैं ही कर लूंगा, जब तक उन्हें लगता है कि मैं ही समर्थ हूं, जब तक उन्हें लगता है कि मेरे पास साधना है, आसरा है, आलम्बन है, तब तक वे प्रभु की अनुकम्पा पाने से वंचित रह जाते हैं। ऐसे ही, जैसे वर्षा होती है—पहाड़ पर भी होती है, पर पहाड़ वंचित रह जाते हैं । वे खुद ही अपने से इतने भरे हैं कि उन्हें और भरने की जगह नहीं, सुविधा नहीं । गड्ढों में भी होती है वर्षा, पर गड्ढे भर जाते हैं, क्योंकि वे खाली हैं । जो खाली है वह भर दिया जाता है; जो भरा है, वह खाली रह जाता है । निरालंब पीठः, आलंबन रहित, आश्रयरहित, यही उनके होने का ढंग है । यही उनका आसन है । कोई सहारा नहीं, कोई आलंबन नहीं, असुरक्षित है । असुरक्षा की बात को थोड़ा गहरे में ख्याल कर लें ।

धन हो, तो आदमी को लगता है कि मेरे पास कुछ है; पद हो, तो लगता है कि मेरे पास कुछ है । ज्ञान हो, तो लगता है कि मेरे पास कुछ है । ये सब साधन हैं । ये सब आलम्बन हैं । ये सब आश्रय हैं । इनके आधार पर आदमी अपने अहंकार को मजबूत करता है । ऋषि कहता है—निरालंब पीठः । संन्यासी तो वे हैं, जिनके पास कोई साधन नहीं, जिनके पास कुछ भी नहीं है । कुछ भी नहीं है। कुछ भी नहीं है का यह अर्थ नहीं है कि वे बिना वस्त्रों के नग्न खड़े होंगे, तभी कुछ होगा । क्योंकि जो नग्न खड़ा है बिना वस्त्रों के, वह भी हो सकता है अपने त्याग को आलम्बन बना ले और कहे, मेरे पास त्याग है, दिगम्बरत्व है, नग्नता है, संन्यास है । मेरे पास कुछ है । तो फिर आलंबन हो गया ।

जब आपके पास कुछ है, तो आप परमात्मा के द्वार पर पूर्ण भिक्षु की तरह खड़े नहीं हो पाते । आपकी अकड़ कायम रह जाती है । बुद्ध ने इसलिए जान कर

संन्यासियों को स्वामी का नाम नहीं दिया। शब्द बहुत अद्भुत था। भिक्षु, नाम दिया—भिखारी, कुछ भी नहीं है जिसके पास। भिक्षा का पात्र है; बस, और कुछ भी नहीं। वह जो भिक्षा का पात्र बुद्ध ने संन्यासियों के हाथ में दिया, वह सिर्फ भीख मांगने के लिए ही नहीं था। बुद्ध कहते थे, अपने को भी एक भिक्षा का पात्र ही जानना, उससे ज्यादा नहीं; तभी उस परम सत्य की उपलब्धि हो सकेगी।

निरालम्बन हो जाना अति कठिन है। मन कहता है, कोई आलम्बन, कोई सहारा, कोई आश्रय—कुछ तो हाथ में हो। अकेला न रह जाऊं, असुरक्षित न रह जाऊं, खतरे से बचने का कोई तो इन्तजाम हो! हम सब इन्तजाम करते हैं। गृहस्थ का अर्थ है—जो आलम्बन की तलाश करता है। गृहस्थ का यह अर्थ नहीं है कि जो घर में रहता है। गृहस्थ का अर्थ है, जो सुरक्षा का घर खोजता रहता है, कहीं भी असुरक्षित नहीं हो सकता।

एलन वॉट ने एक अद्भुत किताब लिखी है। उस किताब का नाम है 'विजडम ऑफ इनसिक्यूरिटी (असुरक्षा की बुद्धिमत्ता)।' संन्यास का अर्थ यह है कि हम जान गए यह बात कि सुरक्षा का उपाय कितना भी करो, सुरक्षा हो नहीं पाती। कितना ही धन जोड़ो, आदमी निर्धन ही रह जाता है। भीतर गरीब ही रह जाता है। कितनी ही शक्ति का आयोजन करो, भीतर आदमी अशक्त ही रह जाता है। मृत्यु से बचने के लिए कितने ही पहरे लगाओ, मौत न मालूम किस अज्ञात मार्ग से बिना पदचाप किए आ जाती है। सारी सुरक्षा का इन्तजाम पड़ा रह जाता है और आदमी मिट जाता है। संन्यास इस बात की प्रज्ञा, इस बात की समझ है, अण्डरस्टैंडिंग है कि सुरक्षा करके भी सुरक्षा होती कहां है! हो भी जाती, तो भी ठीक था। होती ही नहीं, हो ही नहीं पाती। सिर्फ धोखा होता है, लगता है कि हम सुरक्षित हैं। हम सुरक्षित कभी हो नहीं पाते।

जिन्दगी असुरक्षा है। सिर्फ मरे हुए लोगों के अतिरिक्त कोई भी सुरक्षित नहीं है, क्योंकि सिर्फ मरे हुए लोग ही नहीं मर सकते। बाकी तो सभी मरते हैं। असुरक्षा चारों तरफ है। हम असुरक्षा के सागर में हैं। किनारे का कोई पता नहीं, गन्तव्य दिखाई नहीं पड़ता, पास में कोई नाव-पतवार नहीं। डूबना निश्चित है। फिर आंखें बन्द करके हम सपनों की नावें बना लेते हैं। आंखें बन्द कर लेते हैं और तिनकों का सहारा बना लेते हैं। तिनकों को पकड़ लेते हैं और सोचते हैं, किनारा मिल गया। यह धोखा, सेल्फ डिसेप्शन, आत्मवंचना है।

संन्यासी का अर्थ है, जिसने इस सत्य को समझा कि सुरक्षा करो कितनी ही, पर सुरक्षा नहीं होती है। मृत्यु से बचो कितना ही, मृत्यु आती ही है। कितना ही चाहो कि मैं न मिटूं, मिटना सुनिश्चित है। और जब सुरक्षा से सुरक्षा नहीं आती, तो संन्यासी कहता है कि हम असुरक्षा में राजी हैं। अब हम राजी हैं, अब

हम कोई झूठी नावें न बनाएंगे। अब हम कागज का सहारा न खोजेंगे। अब हम ताश के महल खड़े न करेंगे। अब हम पहरेदार न लाएंगे। अब हम तिनकों का सहारा न पकड़ेंगें। अब हम जानेंगे कि कोई किनारा नहीं। असुरक्षा का सागर है और डूबना निश्चित है और मरना अनिवार्य है। मिटेंगे ही, हम राजी हैं। अब हम कोई उपाय नहीं खोजेंगे। और जो इतने असुरक्षित होने को राजी हो जाते हैं, अचानक वे पाते हैं, असुरक्षा मिट गई। अचानक वे पाते हैं, सागर खो गया। अचानक वे पाते हैं, किनारे पर खड़े हैं।

क्यों? ऐसा क्यों हो जाता होगा? ऐसा चमत्कार क्यों घटित होता है कि जो सुरक्षा खोजता है, उसे सुरक्षा नहीं मिलती और जो असुरक्षा से राजी हो जाता है, वह सुरक्षित हो जाता है? ऐसा मिरेकल, ऐसा चमत्कार, क्यों घटित होता है? इसका कारण है। जितनी हम सुरक्षा खोजते हैं, उतनी ही हम असुरक्षा का अनुभव करते हैं। असुरक्षा का जो अनुभव है, वह सुरक्षा की खोज से पैदा होता है। जितना हम डरते हैं, जितना हम भयभीत होते हैं, उतना ही हम भय के कारण अपने चारों तरफ खोजकर खड़े करते हैं। वह जो असुरक्षा का सागर मैंने कहा, वह है नहीं, वह हमारी सुरक्षा की खोज के कारण निर्मित हुआ है; वह एक व्हिसस सर्किल, एक दुष्चक्र है। असुरक्षा से बचने की जो आकांक्षा है, वह असुरक्षा पैदा कर देती है। अब असुरक्षा पैदा हो जाती है, तो हमारे भीतर और बचने की आकांक्षा पैदा होती है। वह और असुरक्षा पैदा कर देती है। सागर बड़ा होता जाता है। भीतर बचने की आकांक्षा प्रगाढ़ होती जाती है। वही आकांक्षा सागर को बड़ा करती है।

संन्यासी का अनुभव यह है कि जो सुरक्षा का ख्याल ही छोड़ देता है, उसकी अब असुरक्षा कैसी? जिसने मरने के लिए तैयारी कर ली, जो राजी हो गया मरने के लिए, उसकी मौत कैसी? अब मौत करेगी भी क्या? वह तो उसी पर कुछ कर पाती है जो बचता था, भागता था, सुरक्षा का इन्तजाम करता था कि मौत आ न जाए। मौत उसी के लिए है, जो मौत से भयभीत है। जो भयभीत ही नहीं, जो मौत को आलिंगन करने को तैयार है, उसके लिए कैसी मौत। मौत, मौत में नहीं, मौत के भय में है। उस भय के कारण हमें रोज मरना पड़ता है। रोज मरने में ही जीना पड़ता है, हम जी ही नहीं पाते, हम मरते ही रहते हैं।

निरालम्ब पीठः—संन्यासी निरालम्ब होने को ही अपनी स्थिति मानते हैं। वही स्थिति है। वे और कुछ की मांग ही नहीं करते। वे कहते ही नहीं कि हमें बचाओ। वे कहते हैं, हम तैयार हैं, जो भी हो। वे सूखे पत्तों की तरह हो जाते हैं, हवाएं जहां ले जाती हैं, वहीं चले जाते हैं। वे नहीं कहते कि पश्चिम जाएंगे, कि पश्चिम हमारा किनारा है, कि पूरब जाएंगे, कि पूरब हमारी मंजिल है। वे नहीं कहते कि हवाएं हमें आकाश में उठाएं और बादलों के सिंहासन पर बिठा दें। हवा नीचे

गिरा देती है, तो वे विश्राम करते हैं वृक्षों के तले; हवा ऊपर उठा देती है, तो वे बादलों में परिभ्रमण करते हैं। हवा पूरब ले जाती है, तो वे पूरब चले जाते हैं, हवा पश्चिम ले जाती है, तो वे पश्चिम चले जाते हैं। उनका कोई आग्रह नहीं है कि हमें कहीं जाना है।

जिनका कोई आग्रह नहीं है, जो किसी विशेष स्थिति के लिए आतुर नहीं हैं कि ऐसा ही हो। जो भी होता है, उसके लिए राजी हैं। उनके जीवन में कष्ट समाप्त हो जाता है। इसलिए एलन वॉट ने कहा है, 'विजडम ऑफ इनसिक्यूरिटी'। जो बुद्धिमान हैं, वे असुरक्षा के लिए राजी हो जाते हैं और सुरक्षित हो जाते हैं। संन्यासी से ज्यादा सुरक्षित कोई भी नहीं है और गृहस्थ से ज्यादा असुरक्षित कोई भी नहीं है। गृहस्थ से ज्यादा सुरक्षा का इन्तजाम कोई नहीं करता। संन्यासी से कम सुरक्षा का इन्तजाम कौन करता है?

निरालंब पीठ:—ये दो बहुत अद्भुत छोटे-से शब्द हैं। उनकी बैठक, उनका आसन, निरालंब होना है। जब कोई व्यक्ति इतना साहस जुटा लेता है, तो उसे परमात्मा का आलंबन तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है। परमात्मा केवल उनके ही काम आ सकता है, जिनका यह भ्रम छूट गया है कि हम अपने काम आ सकते हैं। हम कुछ कर लेंगे, ऐसी जिनकी भ्रांति टूट गई, जिनके कर्त्ता का भाव टूट गया, परमात्मा की सहायता केवल उन्हीं को उपलब्ध होती है, क्षण की भी देर नहीं लगती। परमात्मा की ऊर्जा दौड़ पड़ती है, आपके रोएं-रोएं में समा जाती है। लेकिन हम अपने पर ही भरोसा करते चलते हैं। सोचते हैं, अपने को बचा लेंगे।

जहां आप बैठे हैं—एक-एक आदमी जहां बैठा है, वहां कम-से-कम दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी होगी। जमीन का एक भी टुकड़ा नहीं है, जहां दस कब्रें न बन चुकी हों। आदमियों की बात कह रहा हूं, और प्राणियों की तो बात अलग है। वे भी वही सोचते थे, जो आप सोच रहे हैं उन्हीं की जगह पर बैठकर, जहां दस आदमी गड़े हैं, जले हैं। यहां दस आदमियों की राख आपके नीचे है। वह भी यही सोच रहे थे, आप भी बैठकर यही सोच रहे हैं। आपके बाद भी इस जगह बैठकर और लोग यही सोचते रहेंगे। लेकिन आप एक बात नहीं देखते कि हमारे उपाय से तो कुछ भी नहीं होता। तो फिर हम निरुपाय होने का उपाय क्यों कर लें? निरालंब पीठ का अर्थ है, निरुपाय जो हो गए। जो कहते हैं, हम कुछ भी न कर पाएंगे। तेरी मर्जी, उसके लिए हम राजी हैं। तू डुबा दे यहीं, तो यही हमारा किनारा है।

संयोग ही उनकी दीक्षा है। ये सूत्र ऐसे हैं जैसे केमिस्ट्री के, रसायन शास्त्र के, सूत्र होते हैं। इसलिए मैंने कहा कि टेलीग्रैफिक है उपनिषद्। संयोग दीक्षा, बस इतना कहा है दीक्षा के लिए कि संयोग ही उनकी दीक्षा है। 'टु बी इन कम्यूनियन इज द इनीसियेशन। परमात्मा के साथ जुड़ जाना ही उनकी दीक्षा है।' परमात्मा

के साथ सेतु खोज लेना, ब्रिज बना लेना; परमात्मा और अपने बीच आवागमन की एक जगह बना लेना ही उनकी दीक्षा है। दीक्षित का अर्थ ही यही होता है। दीक्षा का अर्थ यही होता है कि मैं अब अपने तक नहीं जीऊंगा। वह जो विराट् है, जिससे मैं आया और जिसमें वापस लौट जाऊंगा, अब मैं उसके साथ संयुक्त होकर जीऊंगा। अब मैं अपने को पृथक् मान कर न जीऊंगा। अब मैं बूंद की तरह नहीं, सागर के साथ एक होकर जीऊंगा। निश्चित ही सागर के साथ एक होना खतरनाक है, क्योंकि बूंद मिट जाती है। लेकिन यह खतरा बहुत ऊपरी है। क्योंकि सागर के साथ बूंद तो मिट जाती है, लेकिन मिट जाती है इस अर्थ में कि सागर हो जाती है। क्षुद्रता टूट जाती है, विराट् के साथ मिलन हो जाता है। लेकिन विराट् के साथ हिम्मत तो जुटानी पड़ती है अपनी क्षुद्र सीमाओं को तोड़ देने की।

अगर अपने घर के आंगन को आकाश के साथ एक करना हो, तो घर के आंगन की दीवारें तो तोड़ ही देनी पड़ेंगी। अगर आप दीवारों को आंगन समझते थे, तो आपको लगेगा कि भारी नुकसान हुआ, और अगर दीवारों के बीच घिरे हुए आकाश को आंगन समझते थे, तो समझेंगे कि लाभ ही लाभ है। वह आपकी समझ पर निर्भर करेगा। अगर आपने अपने अहंकार की सीमा को समझा था, कि यही मैं हूं, तो आप समझेंगे मिटे। अगर आपने अहंकार के भीतर घेरे हुए शून्य को, चैतन्य को समझा था कि यही मैं हूं, तो दीवारें गिर जाने के साथ अनन्त के साथ आप एक हो गए। फिर विराट् की उपलब्धि है। खोना जरा भी नहीं है, पाना ही पाना है।

संयोग दीक्षा। ऐसे संयोग का नाम दीक्षा है, जहां आपके आंगन की दीवारें गिर जाती हैं और विराट् आकाश से मिलन हो जाता है। जहां बूंद अपनी सीमाएं छोड़ देगी। साहस का कदम है यह—बहुत बड़े साहस का, कहें दुस्साहस का। क्योंकि हम सबकी मनोदशा यही है कि हम अपनी सीमा को ही अपना अस्तित्व समझते हैं। सीमा में जो घिरा है, उसे नहीं; सीमा को ही अपना अस्तित्व समझते हैं। तो बड़े दुस्साहस की जरूरत पड़ेगी, अपने को छोड़ने, खाने और मिटाने के लिए। जीसस कहते थे, जो अपने को बचाएगा, वह मिट जाएगा; और जो अपने को मिटा देगा, उसके मिटने का कोई भी उपाय नहीं।

एक रात निकोडेमस नामक एक युवक जीसस के पास आया और कहा कि मैं सब छोड़ने को तैयार हूं, मुझे स्वीकार कर लें, मुझे अंगीकार कर लें। जीसस ने कहा, तू स्वयं को छोड़ने को तैयार है? उसने कहा, नहीं, लेकिन और सब छोड़ने को तैयार हूं। जीसस ने कहा, लौट जा वापस। जिस दिन स्वयं को छोड़ने को तैयार होगे, उस दिन आ जाना। क्योंकि हमें प्रयोजन नहीं कि तू कुछ और छोड़; हमें इतना ही प्रयोजन है कि तू अपने को छोड़। और अपने को कोई न छोड़े, तो

संयोग नहीं होगा, दीक्षा नहीं होगी।

यह तो प्रतीक है कि संन्यासी का हम नाम बदल देते हैं, सिर्फ इसी ख्याल से कि उसकी पुरानी आइडेन्टिटी, उसका पुराना तादात्म्य छूट जाए। कल तक जिन सीमाओं से, जिस नाम से समझा था कि मैं हूं, वह टूट जाए। उसके वस्त्र बदल देते हैं, ताकि उसकी इमेज बदल जाए, उसकी जो प्रतिमा थी कल तक कि लगता था कि यह मैं हूं, यह कपड़ा, यह ढंग, सब टूट जाए। बाहर से शुरू करते हैं क्योंकि बाहर हम जीते हैं। बाहर से ही बदलाहट की जिसकी हिम्मत नहीं है, वह भीतर से बदलने की तैयारी कर पाएगा, यह जरा कठिन है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, कपड़े तो बाहर हैं, बदलाहट तो भीतर की चाहिए। मैं उनसे पूछता हूं, कपड़े बदलने तक की हिम्मत तुम्हारी नहीं है, तुम भीतर की बदलाहट कर पाओगे? कपड़े बदलने में कुछ भी तो नहीं बदल रहा है, यह तो मुझे भी पता है। लेकिन तुम कपड़ा बदलने तक का साहस नहीं जुटा पाते और तुम कहते हो हम आत्मा को बदल देंगे। आत्मा को बदलने की बात में शायद अपने को धोखा देना आसान होगा क्योंकि किसी को पता नहीं चलेगा कि बदल रहे हो कि नहीं बदल रहे हो। खुद को भी पता नहीं चलेगा, ये कपड़े बता देंगे। लेकिन जो बदलने के लिए तैयार है, वह कहीं से भी शुरू कर सकता है। भीतर से शुरू करना कठिन है, क्योंकि भीतर का हमें कोई पता ही नहीं है। भोजन करते वक्त हम नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, क्यों भोजन करें। पानी पीते वक्त नहीं कहते कि यह तो बाहरी चीज है, इसके पीने से क्या प्यास मिटेगी। प्यास तो भीतर है।

नहीं, यह हम नहीं कहते; लेकिन संन्यास लेना हो तो हम सोचते हैं, कपड़े बदलने से क्या होगा, यह तो बाहर है। और आप जो हैं, वह बाहर का ही जोड़ हैं कुल जमा, फिलहाल। भीतर का तो कोई पता ही नहीं। उस भीतर का पता मिल जाए, इसी की तो खोज है। इमेज तोड़नी पड़ती है, प्रतिमा विसर्जित करनी पड़ती है। वह जो हम हैं अब तक, उसमें कहीं से तोड़ पैदा करना पड़ता है। अच्छा है कि सीमाओं से ही तोड़ शुरू करें, क्योंकि सीमाओं पर ही हम जीते हैं, अंतस में हम नहीं जीते। लेकिन वस्तुतः दीक्षा तो फलित तभी होती है, जब भीतर का तार अनन्त से जुड़ जाता है।

जब आप बैठे हों सागर के किनारे, मौन हो जाएं। थोड़ी देर में सागर कौन है और आप कौन हैं, यह फासला गिर जाएगा। आकाश के नीचे लेटे हों, मौन हो जाएं। कौन तारा है, और कौन देखने वाला है, थोड़ी देर में फासला गिर जाएगा। सब फासला विचार का है। वियोग विचार का है, संयोग निर्विचार का है। जहां भी निर्विचार हो जाएंगे, वहीं संयोग हो जाएगा। एक वृक्ष के पास बैठ जाएं और निर्विचार हो जाएं, तो वृक्ष और वृक्ष को देखने वाला दो नहीं रह जाएंगे। द

आब्जर्ड एण्ड द आब्जर्वर विल बी वन। जो देखता है वह, और वह जो देखा जा रहा है, एक हो जाएगा। एक क्षण को भी ऐसा अनुभव हो जाए कि वह जो धूप मुझे घेरे हुए है, वह और मैं एक हूं; वह जो वृक्ष मुझ पर छाया किए हुए है, वह और मैं एक हूं; बदलियां जो आकाश में तैर रही हैं, वह और मैं एक हूं। यह विचार से नहीं लाना है। यह आप सोच सकते हैं।

आप वृक्ष के पास बैठ कर सोच सकते हैं कि मैं और वृक्ष एक हूं। तब संयोग नहीं होगा, क्योंकि अभी सोचने वाला मौजूद है। यह जो कह रहा है, मैं एक हूं, यह अपने को समझा रहा है कि मैं एक हूं। समझाने को तभी तक जरूरत है, जब तक अनुभव नहीं होता कि एक हूं। वृक्ष के पास निर्विचार हो जाएं, तो अचानक उदघाटन होगा कि एक हूं। यह विचार तब नहीं होगा, यह रोएं-रोएं में प्रतीत होगा।

वृक्ष के पत्ते हिलेंगे, तो लगेगा मैं हिल रहा हूं। वृक्ष में फूल खिलेंगे, तो लगेगा मैं खिल रहा हूं। वृक्ष से सुगन्ध फैलने लगेगी, तो लगेगा मेरी सुगन्ध है। यह विचार नहीं होगा, यह प्रतीति होगी, यह आत्मिक अनुभव होगा। ऐसा जिस दिन समस्त अस्तित्व के साथ लगने लगता है, उस दिन दीक्षा है—संयोग दीक्षा है। उठते, बैठते, चलते—श्वास-श्वास में, कण-कण में, रोएं-रोएं में ऐसी प्रतीति होने लगती है। एक—एक ही है। वह जो आपकी छाती में छुरा भोंक दे, वह शत्रु भी एक ही है। वह हाथ, जो छाती में छुरा भोंक गया है, मेरा ही है। तब दीक्षा है। तब संयोग है।

ऋषि कहता है, संयोग दीक्षा है। वियोग उपदेश है। एक ही उपदेश है—वियोग। किससे वियोग और किससे संयोग? जो हम नहीं हैं, उससे वियोग और जो हम हैं, उससे संयोग जो स्वप्न-जैसा है, उससे वियोग और जो सत्य है, उससे संयोग। जो हमने ही प्रोजेक्ट किया है, हमने ही प्रक्षेप किया है; उस विचार के जगत् से वियोग; और जो है हमसे पहले और हम नहीं होंगे तब भी जो होगा, उस अस्तित्व के जगत् से संयोग।

हम सब एक अपनी दुनिया बनाकर जीते हैं—ए वर्ल्ड ऑफ आवर ओन। पर्ल बक ने एक किताब लिखी है अपने जीवन संस्मरणों की 'माइ सेवरल वर्ल्ड्स' (मेरे अनेक जगत्) ठीक है नाम, क्योंकि प्रत्येक आदमी अलग-अलग जगत् में जीता है। एक ही घर में अगर सात आदमी होते हैं, तो वहां सेवन वर्ल्ड्स, सात दुनियाएं होती हैं। बेटे की दुनिया वही नहीं हो सकती, जो बाप की है, और इसलिए तो घर में कलह होता है। सात दुनिया एक घर में रहें, तो कलह होने ही वाली है। सात बर्तन में हो जाती है, तो सात जगत् बड़ी चीजें हैं। घर बहुत छोटा है। उपद्रव सुनिश्चित है। ट्रेसपासिंग होगी ही। बाप की दुनिया बेटे की दुनिया पर चढ़ना चाहेगी, बेटे की दुनिया बाप की दुनिया पर चढ़ना

चाहेगी। पत्नी पति की दुनिया पर कब्जा करना चाहेगी। इस जमीन पर इस समय कोई चार अरब आदमी हैं, तो चार अरब जगत् हैं। जगत् वह नहीं है, जो हमारे बाहर है; जगत् वह है, जो हम निर्मित करते हैं। वह हमारा कंस्ट्रक्शन है।

कल्पना करें कि एक वृक्ष के पास आप बैठे हुए हैं। आप बढ़ई हैं। एक चित्रकार बैठा हुआ है, एक कवि बैठा हुआ है, एक प्रेमी बैठा हुआ है, जिसे उसकी प्रेमिका नहीं मिली, और एक ऐसा प्रेमी बैठा हुआ है, जिसे उसकी प्रेमिका मिल गई है। तो बढ़ई के लिए वृक्ष में सिवा फर्नीचर के कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। वह वृक्ष एक ही है, लेकिन बढ़ई फर्नीचर की दुनिया में वहां बैठा होगा। चमार को आपके जूते के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। वह आपको आपके जूते के नम्बर से पहचानता है। दर्जी की आपसे जो पहचान है, वह आपके कपड़े के नाप से है। चमार को चेहरा भी देखना नहीं पड़ता, सड़क पर गुजरते हुए लोगों के जूतों की हालत देख कर वह जानता है कि इस आदमी की माली हालत क्या होगी। चेहरा देखने की जरूरत नहीं और बैंक बैलेंस देखने की भी जरूरत नहीं। जूते की हालत ही बता देती है कि यह आदमी किस हालत में होगा। उसकी अपनी दुनिया है।

वह बढ़ई अगर बैठा है वृक्ष के नीचे, तो वह वृक्ष उसके लिए सम्भावी फर्नीचर है, इससे ज्यादा कुछ भी नहीं है। उस वृक्ष में फूल नहीं खिलते, कुर्सियां-मेजें लगती हैं। उसकी अपनी दुनिया है। उसके बगल में एक चित्रकार बैठा है, उसके लिए वृक्ष सिर्फ रंगों का एक खेल है। इधर इतने वृक्ष लगे हैं। साधारण आदमी को वृक्ष हरे दिखाई पड़ते हैं और हरा लगता है कि एक रंग है, लेकिन चित्रकार के लिए हजार हरे रंग हैं—हजार शेड हैं हरे रंग के। वह चित्रकार को ही दिखाई पड़ता है, आम आदमी को दिखाई नहीं पड़ता। हरा, यानी हरा—उसमें कोई और मतलब नहीं होता। लेकिन चित्रकार जानता है कि हर वृक्ष अपने ढंग से हरा है। दो वृक्ष एक-से हरे नहीं हैं। हरे में भी हजार हरे हैं। पत्ता-पत्ता अपने ढंग से हरा है। तो जब चित्रकार देखता है वृक्ष को, तो उसे जो दिखाई पड़ता है वह हमें कभी नहीं दिखाई पड़ता। उसे पत्ते-पत्ते का व्यक्तित्व दिखाई पड़ रहा है।

वहीं उसके पास एक कवि बैठा है। वृक्ष उसके लिए काव्य बन जाता है। थोड़ी ही देर में वृक्ष खो जाता है और वह काव्य के लोक में प्रवेश कर जाता है। यह हमें कभी ख्याल में नहीं आएगा कि कवि किस यात्रा पर निकल गया। उसका अपना जगत् है। उसी खिले हुए फूलों से लदे वृक्ष के नीचे, जहां वर्षा की तरह फूल गिर रहे हों, एक प्रेमी भी बैठा है, जिसे उसकी प्रेयसी नहीं मिल सकी है। वहां उसे फूल कांटे जैसे दिखाई पड़ेंगे। फूल उदास मालूम होंगे, वृक्ष रोता

हुआ और मरता हुआ मालूम होगा। इससे वृक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह उसके अपने भीतर के जगत् का विस्तार है, जो वह वृक्ष पर फैला देता है। पूर्णिमा भी उदास प्रेमी को उदास मालूम पड़ती है। प्रफुल्ल प्रेमी को अमावस की रात भी काफी चांदनी से भरी हुई मालूम पड़ती है, काफी उजाली होती है। हम अपने जगत् को अपने भीतर से फैलाते हैं। अपने चारों तरफ यह एक प्रोजेक्शन, एक प्रक्षेप है। हर आदमी अपने भीतर बीज लिए है अपने जगत् का, जिसे वह अपने चारों तरफ फैला लेता है।

ऋषि कहता है—इस जगत् से वियोग। निरन्तर हम सुनते हैं कि संन्यासी संसार को छोड़ देता है, लेकिन हमें पता ही नहीं कि संसार का मतलब क्या होता है। यह जो प्रत्येक व्यक्ति अपने बाहर एक जगत् का फैलाव करता है, वह सपने का जगत् है, वह बिलकुल झूठा है। वह मेरा फैलाव है, मेरे मरने के साथ मिट जाएगा वह जगत्। हर आदमी के मरने के साथ एक दुनिया मरती है। जो थी, वह तो बनी रहती है, लेकिन जो हमने फैलाई थी, बनाई थी, जो हमारा सपना था, वह खो जाता है।

संसार के त्याग का यह मतलब नहीं कि ये जो चट्टानें है उनको छोड़ देना, ये जो वृक्ष हैं उनको छोड़ देना या जो लोग हैं उनको छोड़ देना। संसार के त्याग का अर्थ है, वह जो प्रोजेक्शन है, प्रक्षेप है हमारा, उसे छोड़ देना। जो है उसे वैसा ही देखना, उस पर कुछ भी आरोपित न करना। अगर उसी वृक्ष के नीचे, जिसकी मैंने बात की, एक संन्यासी खड़ा हो, तो उसका कोई प्रक्षेपित जगत् नहीं है। संन्यासी का अर्थ है, जिसका कोई प्रक्षेपित जगत् नहीं है। चीजों को देखता है, जैसी वे हैं। अपनी तरफ से आरोपित नहीं करता, इम्पोज नहीं करता, उन पर कुछ थोपता नहीं। असल में किसी पर भी कुछ थोपना बड़ी हिंसा है। एक वृक्ष को मैं अपनी उदासी थोप दूं और कहूं कि वृक्ष बड़ा उदास मालूम पड़ता है, तो मैं हिंसा कर रहा हूं। चांद पर मैं अपनी प्रफुल्लता थोप दूं और कहूं कि चांद बड़ा आनन्दित मालूम पड़ रहा है क्योंकि मैं आज आनन्दित हूं, क्योंकि लाटरी मुझे मिल गई है, तो मैं बड़ी हिंसा कर रहा हूं और मैं एक झूठ का विस्तार कर रहा हूं।

वियोग उपदेश है। उपनिषदों का, ऋषियों का इतना ही उपदेश है कि इस संसार में जो हम फैला लेते हैं, उससे वियोग; उससे अलग हो जाओ। एक संसार है, जो परमात्मा का फैलाव है और एक संसार है जो हमारा फैलाव है। हमारा फैलाव गिर जाए, तो हम परमात्मा के संसार से सम्बन्धित हो जाते हैं। जब तक मेरा अपना फैलाव है, तब तक संयोग कैसे होगा उससे, जो परमात्मा का है।

मेरे एक मित्र थे। यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे। काफी नाम था। अर्थशास्त्र के

विद्वान् थे। ऑक्सफोर्ड में भी प्रोफेसर थे, फिर यहां भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में भी प्रोफेसर रहे थे। जब पहली दफे मेरी उनसे मुलाकात हुई तो बड़ी अजीब हुई। रास्ते से मैं निकल रहा था। सांझ का अंधेरा था, सूरज ढल रहा था, करीब-करीब ढल गया था। अंधेरा उतर रहा था। जैसे ही मैं उनके पास पहुंचा, उन्होंने जेब से निकाल कर जोर से सीटी बजाई। फिर दूसरी जेब से निकाल कर एक छुरा बाहर किया। मैंने पूछा, आप यह क्या कर रहे हैं? उन्होंने कहा कि दूर रहिए। मैंने पूछा, बात क्या है? फिर उनसे सम्बन्ध बना, मित्रता बनी, तो पता चला कि दो साल से वे भयभीत हैं और हर आदमी के सम्बन्ध में उन्हें लगता है कि वह हत्या करने आ रहा है। अकेले में किसी आदमी को देखकर वे दो इन्तजाम अपने साथ रखते है—एक जेब में सीटी रखते हैं जोर से बजाने के लिए, ताकि आसपास के लोगों को पता चल जाए। दूसरी जेब में छुरा रखते हैं।

यह आदमी एक दुनिया में रह रहा है—हत्यारों की, जो इसका ही फैलाव है। किसी को प्रयोजन नहीं है, किसी को मतलब नहीं है। प्रोफेसर को मारेगा भी कौन, और किसलिए मारेगा! मारने के लिए भी कोई कारण होना चाहिए और मरने की भी तो कोई योग्यता होनी चाहिए। निरीह प्रोफेसर को मारने कौन जाएगा और किसलिए? इस बेचारे से कुछ भी तो बनता-बिगड़ता नहीं है। जिस दिन लोग मास्टरों की हत्या करने लगेंगे, उस दिन तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। इनसे ज्यादा निरीह तो प्राणी होता ही नहीं।

मैंने उन्हें बहुत समझाया कि आपको मारने का कोई कारण भी नहीं है। कौन परेशानी में पड़ेगा आपको मार कर? पर उनको ख्याल है कि सारी दुनिया उनकी हत्या कर देगी। कारण वे भी खोज लेते हैं। वे देखते हैं कि आदमी आ रहा है, किस तरह की चाल चल रहा है। उसकी आंख किस ढंग की है, कुछ संदिग्ध, ससपीशियस तो नहीं है। उनको देखकर तथा उनके देखने और खड़े होने के ढंग को देखकर बेचारा दूसरा आदमी भी ससपीशियस हो जाता है। उनका जो ढंग है, वह ऐसा है कि दूसरा आदमी उनके साथ सहज नहीं रह सकता। उसकी बेचैनी उनको और भयभीत कर देती है, फिर वीसस सर्किल (दुष्चक्र) शुरू हो जाता है—थोड़ी देर में ही वे दुश्मन की हालत में उस आदमी को खड़ा कर देते हैं।

हम सब ऐसे ही जी रहे हैं। हमने एक-एक दुनिया बना रखी है। वियोग उपदेश है। इस दुनिया से वियोग होना पड़े, इसे छोड़ देना पड़े, तोड़ देना पड़े। यह गोरखधन्धा है। यह बिल्कुल मानसिक है, यह बिल्कुल विक्षिप्तता है, यह बिल्कुल पागलपन है। इस वियोग को ही ऋषियों का उपदेश कहा गया है। इस वियोग के बाद ही संयोग हो सकता है परमात्मा से। जब हमारे सब प्रोजेक्टेड

ड्रीम्स, हमारे सब प्रक्षेपित स्वप्न गिर जाएं, हमारी सारी कल्पनाएं गिर जाएं तो परमात्मा का जो अस्तित्व है, उससे संयोग हो सकता है।

दीक्षा संतोष है और पावन भी ('दीक्षा संतोष पावनम् च')। दो बातें हैं। एक कि दीक्षा संतोष है। यह कभी ख्याल में भी न आया होगा कि परमात्मा से मिल जाने के अतिरिक्त इस जगत् में कोई संतोष नहीं है। वियोग असंतोष है। जैसे किसी मां से उसका छोटा-सा बेटा बिछुड़ गया हो और मां असंतुष्ट हो, ठीक वैसे ही हम अस्तित्व से बिछड़ जाते हैं और असंतुष्ट रहते हैं। उस असंतोष में हम संतोष के बहुत उपाय करते हैं, लेकिन सब असफल होते हैं, सब फ्रस्ट्रेड हो जाते हैं।

एक ही संतोष है, वह मिलन, संयोग, उससे, जिससे हम छूट गए हैं—वापस उस मूल स्रोत से एक हो जाना। इसलिए संन्यासी के अतिरिक्त और कोई आदमी संतुष्ट होता ही नहीं। हो ही नहीं सकता। बाकी सब आदमी असंतुष्ट होंगे ही। वे कुछ भी करें, असंतोष उनका पीछा न छोड़ेगा। वे कुछ भी पा लें या खो दें, असंतोष से उनका सम्बन्ध बना ही रहेगा। वे धनी हों कि निर्धन, दरिद्र हों कि सम्राट्, असंतोष उनका पीछा करेगा। असंतोष छाया की तरह पीछे लगा ही रहेगा, कहीं भी जाएं। सिर्फ एक जगह असंतोष नहीं जाता। वह परमात्मा से जो मिलन है, वहां असंतोष नहीं जाता।

उसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हमने कभी पूछा ही नहीं अपने से कि हम असंतुष्ट क्यों हैं। रास्ते पर एक कार गुजरती दिखाई पड़ जाती है, तो हम सोचते हैं यह कार मिल जाए, तो संतोष मिल जाएगा। एक महल दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते हैं यह महल मिल जाए तो संतोष मिल जाएगा। एक सम्राट् दिखाई पड़ जाता है, तो सोचते हैं यह सिंहासन अपना हो तो संतोष मिल जाएगा। आपने कभी अपने से पूछा नहीं कि मेरे असंतोष का कारण क्या है। क्या कार न होने से मैं असंतुष्ट हूं? क्या महल न होने से मैं असंतुष्ट हूं? पद न होने से मैं असंतुष्ट हूं? तो फिर थोड़ा अपने मन में सोचें। समझ लें कि मिल गई कार, मिल गया महल, मिल गया सम्राट् का पद। पूछें अपने से, मिल गया? संतोष आएगा? और तत्काल लगेगा कोई संतोष आ नहीं सकता; लेकिन हो सकता है, यह सिर्फ हम सोच रहे हैं इसलिए न मालूम पड़े। तो वह जो कार में बैठा है, उसकी शक्ल को देखें, वह जो महल में विराजमान है, उसके आस-पास परिभ्रमण करें; वह जो पद पर बैठा हुआ है, उससे जाकर पूछें कि संतुष्ट हो? उसे भी ऐसा ही लगा था एक दिन। वह भी हमारे-जैसा ही आदमी है। उसे भी लगा था कि इस पद पर होकर संतोष हो जाएगा। फिर पद पर आए तो बहुत दिन हो गए, संतोष तो जरा भी नहीं आया। हां, उसे लग रहा है कि किसी और बड़े पद पर हों, तो संतोष हो जाए। इस प्रकार जीवन क्षीण होता

है, रिक्त होता है, मिटता है, टूटता है। रेत में खो जाती है जैसे कोई सरिता, वैसे ही हम खो जाते हैं और बिखर जाते हैं।

हमने कभी ठीक से पूछा ही नहीं कि हम असंतुष्ट क्यों है। हमारे असंतोष का कुल कारण इतना है कि हम अपनी जड़ों से टूट गए हैं, अपटूटेड हो गए हैं। हमें कोई पता ही नहीं कि हमारी जड़ें कहां हैं। हम किससे जुड़े हैं और किससे हम जीवन पाते हैं, उस मूल स्रोत से हमारा कोई सम्बन्ध मालूम नहीं पड़ता। हम अपनी खोपड़ी में कैद हो गए हैं। जड़ों से हमारा सम्बन्ध टूट गया है। हम सिर्फ विचार करते रहते हैं। अस्तित्वगत सत्ता से हमारा कहीं कोई मिलन नहीं होता। हम सिर्फ विचार करते रहते हैं, विचार में ही रहे हैं। विचार का कोई भी मूल्य नहीं है, अस्तित्व का मूल्य है। होना पड़ेगा कहीं, सिर्फ सोचने से कुछ भी नहीं होगा। ऋषि कहता है, दीक्षा संतोष है, क्योंकि जैसे ही मिलन होता है परमात्मा से, जरा-सा क्षण भर के लिए भी सम्पर्क जुड़ जाता है, वैसे ही संतोष की वर्षा हो जाती है। कहीं कोई असंतोष नहीं रह जाता। खोजे भी नहीं मिलता।

दूसरी बात ऋषि कहता है, दीक्षा पावन भी है। पावन बहुत कीमती शब्द है, उसे थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। पावन का अर्थ केवल पवित्र नहीं होता। भाषा-कोश में पावन का अर्थ है पवित्र। लेकिन भाषा-कोश की अपनी मजबूरियां हैं। पावन का अर्थ पवित्र होता है लेकिन एक भेद के साथ (विद ए डिफरेंस)। पवित्र अपवित्र हो सकता है। पर पावन उसे कहते हैं, जिसके अपवित्र होने की कोई सम्भावना नहीं है। पवित्र उसे कहते हैं, जिसमें विकल्प है कि अपवित्र भी हो सकता है। पावन उसे कहते हैं, जिसका पवित्रता स्वभाव है। जैसे सोना है, वह अशुद्ध भी हो सकता है, मिट्टी उसमें मिल सकती है। पवित्र सोना हो सकता है, अपवित्र सोना हो सकता है, लेकिन आकाश पावन है। उसको अपवित्र करने का कोई उपाय नहीं उसमें अशुद्धि मिलाने का कोई उपाय नहीं।

तो दीक्षा संतोष भी है और पावन भी। दीक्षा के बाद अपवित्र होने का कोई उपाय नहीं है। यह असंभावना है। संन्यासी अपवित्र नहीं हो सकता, वह पावन है। प्रभु से थोड़ी भी धारा जुड़ गई, तो फिर अपवित्रता का कोई उपाय नहीं।

भिक्षुओं में से एक भिक्षु ने एक दिन आकर बुद्ध को कहा कि गांव में एक वेश्या है, उसने मुझे निमंत्रण दे दिया है कि मैं उसके घर इस वर्षा काल में रुकूं। बुद्ध ने कहा, जाओ क्योंकि तुम पावन हो गए हो। भिक्षुओं में बड़ी बेचैनी फैल गई। वेश्या बहुत सुन्दरी थी। सम्राटों को भी उसके द्वार पर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। एक भिक्षु ने खड़े होकर कहा कि यह तो आप उचित नहीं कर रहे हैं। चार महीना वेश्या के घर में यह भिक्षु रहे, कहीं अपवित्र न हो जाए। तो बुद्ध ने

कहा, इसीलिए मैंने जाने को कहा है। अगर पवित्र होता, तो रोकता। वह पावन है। चार महीने बाद बात होगी। उस भिक्षु ने कहा, तो कल मैं भी अगर कहूं कि किसी वेश्या का मुझे निमंत्रण मिला है, तो मुझे आज्ञा मिलेगी? बुद्ध ने कहा, तुम पवित्र भी नहीं हो, और वेश्या तुम्हें निमंत्रण देगी, ऐसा भी नहीं है। तुम निमंत्रण मांग रहे हो। तुम वेश्या को निमंत्रण दे रहे हो। नहीं, तुम्हें आज्ञा नहीं मिलेगी।

स्वभावतः बेचैनी रही। चार महीने भिक्षुओं ने बहुत पता लगाने का कोशिश की कि वह भिक्षु, जो वेश्या के घर में ठहरा है, क्या कर रहा है, क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा है। खिड़की, द्वार-दरवाजों से झांका होगा, पता लगाया होगा, अफवाहें उड़ीं। बुद्ध के पास रोज खबरें आने लगीं कि भिक्षु भ्रष्ट हो गया, बर्बाद हो गया। यह आपने क्या किया? बुद्ध सुनते रहे। चार महीने बाद भिक्षु आया तो वह अकेला नहीं आया। वेश्या भी भिक्षुणी होकर आ गई। पवित्र अगर अपवित्र के सम्पर्क में आए, तो अपवित्र हो सकता है। पावन अगर अपवित्र के सम्पर्क में आए, तो अपवित्र भी पवित्र हो जाता है। वह पारस है, वह लोहे को भी सोना कर देता है।

दीक्षा संतोष है और पावन है। पावन के लिए अंग्रेजी में एक शब्द है। प्योर, एक शब्द है 'होली'। तो पावन का अर्थ है 'होली'—दिव्य, पारस-जैसी। कोई उपाय नहीं है उसे छूने का। उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। जैसे आग है। आग को अपवित्र नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें कुछ भी डालो, वह जल जाएगा और राख हो जाएगा और आग पावन ही बनी रहेगी। इसलिए अपवित्र आग नहीं होती। मुर्दा जब जलता है चिता पर, तब भी वे लपटें अपवित्र नहीं होतीं। वे लपटें पावन ही होती हैं। असल में अपवित्र को डालो, तो वह जल जाता है, राख हो जाता है, आग को नहीं छू पाता। अस्पर्शित आग दूर खड़ी रह जाती है। उसके पास पहुंचने की कोई गति नहीं है। तो ऋषि कहते हैं, दीक्षा पावन भी है, संतोष भी है और ऐसी दीक्षा को जो उपलब्ध हैं, वे बारह सूर्यों के दर्शन करते हैं।

बारह सूर्यों का क्या अर्थ है? एक सूर्य को तो हम जानते हैं। बारह सूर्य केवल कहने का ढंग है। वे इतने प्रकाश का भीतर अनुभव करते हैं जैसे कि उनके भीतर बारह सूर्य निकल गए हों। एक सूर्य नहीं, बारह। जैसे सारा उनका अन्तर-आकाश सूर्यों से भर गया हो। वे इतने प्रकाशोज्वल चेतना की अवस्था को उपलब्ध होते हैं जैसे भीतर-बाहर सूर्य हों। लेकिन इस क्रम से प्रवेश हो—आश्रय रहित हो उनका आसन, निरालम्ब पीठ; संयोग हो उनकी दीक्षा—संयोग दीक्षा, संसार से छूटना ही उनका उपदेश। दीक्षा संतोष हो और पावन हो, तो वे बारह सूर्यों के, अनंत सूर्यों के दर्शन को उपलब्ध होते हैं। वे

उस परम सूर्य को जान लेने में समर्थ हो जाते हैं, जो जीवन और चेतना का उद्गम, आधार, आश्रय, सब कुछ है। इन सूर्यों को कहीं बाहर खोजने नहीं जाना पड़ता है। ये सूर्य भीतर ही छिपे हैं। लेकिन हम भीतर जाते ही नहीं। बाहर है अंधकार, भीतर है प्रकाश; बाहर कितने ही सूर्य हों तो भी अंधकार मिटता नहीं, वह शाश्वत है।

ख्याल किया आपने कि बाहर कितने ही सूर्य कितने अनंत वर्षों से प्रकाश देते हैं, लेकिन अंधकार शाश्वत है। सूर्य आते हैं, जाते हैं, जलते हैं, बुझते हैं। यह आप मत समझें कि सूर्य सदा जलते रहते हैं। उनका भी जन्म है और मरण है। कितने ही सूर्य जन्मे और मिट गए। यह हमारा सूर्य बहुत नया है। इससे बुजुर्ग सूर्य भी आकाश में हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि अब तक कोई तीन अरब सूर्यों की गणना वे कर पाए हैं। यह भी अन्त नहीं है, यहां तक अभी हमारी पहुंच है। उसके आगे भी सूर्यों का विस्तार है। इन तीन अरब सूर्यों में रोज कोई एकाध सूर्य मरता है, कोई नया सूर्य पैदा होता रहता है। अस्तित्व के किसी कोने में कोई सूर्य मरता है, बुझ जाता है, राख हो जाता है, बिखर जाता है। अस्तित्व के किसी दूसरे कोने में नया सूर्य पैदा हो जाता है।

अनंत-अनंत वर्षों से सूर्य जलते हैं, लेकिन अंधेरा शाश्वत है। सूर्य आते हैं और चले जाते हैं, अंधेरे का कुछ बिगड़ता नहीं। सुबह सूर्य निकलता है, हमें लगता है कि अंधेरा खो गया। अंधेरा सिर्फ छिप जाता है। हमें दिखाई नहीं पड़ता, यही कहना चाहिए। या हमारी आंखें इतनी आवृत हो जाती हैं सूर्य के प्रकाश से कि अंधेरे को देख नहीं पातीं। सांझ सूरज थक जाता है, ढल जाता है। अंधेरा अपनी जगह है। अंधेरे को आना नहीं पड़ता। वह अपनी ही जगह है। ख्याल किया आपने, प्रकाश को आना पड़ता है। अंधेरा अपनी जगह है, शाश्वत ठहरा हुआ है। कल सूर्य हमारा बुझ जायेगा, अंधेरा शाश्वत रहेगा। सूर्यों का जीवन है, अंधेरा शाश्वत मालूम होता है। अंधेरा कभी नहीं मिटता। वह सदा है। दीया जल जाता है, तो लगता है अंधकार मिट गया। दीया बुझ जाता है, तो पता चलता है कि अंधकार है। अंधकार जरा भी कंपित नहीं होता, प्रकाश तो कंपता भी है। अंधेरा कंपता भी नहीं, अकंप है। बाहर ऐसा है। अंधेरा शाश्वत है। प्रकाश क्षण भर को है। चाहे दीए का हो और चाहे सूर्यों का हो, उसका भी एक क्षण है, एक मूवमेंट है और फिर वह खो जाता है।

भीतर इससे उल्टी स्थिति है। प्रकाश शाश्वत है, अंधेरा क्षण भर का है। कितना ही हम अज्ञान में भटकें और अंधेरे में जाएं और कितने ही पापों में उतरें और नर्कों की यात्रा करें, भीतर के प्रकाश में कोई अन्तर नहीं पड़ता, वह अकंप है। पाप आते हैं, चले जाते हैं। नर्कों की यात्रा होती है और समाप्त हो जाती है। जिस दिन हम लौटकर भीतर पहुंचते हैं, हम पाते हैं वहां शाश्वत प्रकाश है।

भीतर शाश्वत प्रकाश है, बाहर शाश्वत अंधेरा है। बाहर क्षणिक प्रकाश होता है, भीतर क्षणिक अंधेरा होता है। जो ऐसी चित्त-दशा को उपलब्ध होता है, ऋषि कहते हैं, वह अनंत सूर्यों का अनुभव करता है। बारह तो केवल दर्शन की सीमा है। इसलिए बारह हैं। बारह का मतलब ? ज्यादा से ज्यादा सूर्य उसके भीतर भर जाते हैं।

यह प्रकाश बहुत भिन्न है। क्योंकि बाहर जो प्रकाश क्षण भर के लिए होता है या युग भर के लिए—उसका स्रोत है। वह सूरज से आता है, दीए से आता है। जो भी चीज किसी स्रोत से आती है, वह स्रोत के चुक जाने से नष्ट हो जाती है। जैसे दीए का तेल चुक जाता है, ज्योति बुझ जाती है। सूरज की ऊर्जा नष्ट हो जाती है, सूरज चुक जाता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि चार हजार साल तक यह सूरज और चलेगा। चार हजार साल बाद यह बुझ जाएगा। इसके बुझने के साथ ही ये हमारे वृक्ष, यह हमारा जीवन, ये पौधे-पत्ते, ये हम सब बुझ जाएंगे, क्योंकि सूर्य की किरणों के बिना हम नहीं हो सकते। जहां स्रोत है और सीमा है, वहां तो सभी चीजें क्षणिक होंगी। भीतर जो सूर्य है, अगर ठीक से कहें तो वहां कोई सोर्स नहीं है, सोर्सलेस लाइट है। वहां कोई स्रोत नहीं है, वहां है स्रोतरहित प्रकाश। इसलिए वह कभी चुकता नहीं। इसलिए अंधेरा बाहर नहीं चुकता, क्योंकि अंधेरे का कोई स्रोत नहीं है।

अंधेरा कहां से आता है ? आपको पता है ? कहीं से नहीं आता। बस, अंधेरा है। उसका कोई स्रोत नहीं है, इसलिए वह तेल चुकता नहीं जिससे कि अंधेरा आता हो। इसलिए दीया मिटता नहीं जिससे अंधेरा आता हो। इसलिए सूरज समाप्त नहीं होता, जिससे अंधेरा आता हो। अंधेरा है। ठीक ऐसे ही जैसे बाहर अंधेरा है, भीतर प्रकाश है—बिना स्रोत के, स्रोतरहित। जो स्रोतरहित है, वही शाश्वत हो सकता है। जो स्रोतरहित है, वही नित्य हो सकता है। जो स्रोतरहित है, वही सदा हो सकता है। बाकी सब चुक जाता है। निरालम्ब होकर जो संयोग को उपलब्ध होते हैं—संयोग के संतोष को, संयोग की पावनता को, वे उस स्रोत-रहित प्रकाश को पा लेते हैं।

विवेक रक्षा।
करुणैव केलि:।
आनंद माला।
एकासन गुहायाम् मुक्तासन सुख गोष्ठी।
अकल्पित भिक्षाशी।
हंसाचार:।
सर्वभूतान्तर्वर्तीम् हंस इति प्रतिपादनम्।

विवेक ही उनकी रक्षा है।
करुणा ही उनकी क्रीड़ा है।
गुह्य एकान्त ही उनका आसन और मुक्त आनंद ही उनकी गोष्ठी है।
अपने लिए नहीं बनाई गई भिक्षा उनका भोजन है।
हंस-जैसा उनका आचार होता है।
सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाला एक आत्मा ही हंस है—इसी को वे प्रतिपादित करते हैं।

प्रवचन : ५
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २७ सितम्बर, १९७१

संन्यासी अर्थात् जो जाग्रत है, आत्मरत है, आनन्दमय है, परमात्म-आश्रित है

मैंने सुना है कि एक अंधे आदमी ने किसी फकीर को कहा कि मुझे इस गांव के रास्ते बता दें ताकि मैं भटक न जाऊं। मुझे ऐसी विधि बता दें ताकि मैं किसी से टकरा न जाऊं। मुझे ऐसे उपाय सुझा दें जिससे आंख वाले लोगों की दुनिया में मैं अंधा भी जीने में सफल हो सकूं। उस फकीर ने कहा, न हम कोई विधि बताएंगे, न कोई उपाय बताएंगे और न हम कोई मार्ग बताएंगे।

स्वभावत: अंधा दुखी और पीड़ित हुआ। उसने सोचा भी नहीं था कि फकीर—करुणा जिनका स्वभाव है—ऐसा व्यवहार करेगा। उसने कहा कि मुझ पर कोई करुणा नहीं आती? फकीर ने कहा, करुणा आती है, इसीलिए न तो मार्ग बताऊंगा, न उपाय बताऊंगा, न ऐसी विधि बताऊंगा जिससे तू अंधा रह कर आंख वाले लोगों की दुनिया में जी सके। मैं तुझे आंख खोलने का उपाय ही बता देता हूं। तब तुम सीख लोगे इस गांव के रास्ते, लेकिन गांव रोज बदल जाते हैं। सीख लोगे इन आंख वालों के बीच रहना, लेकिन कल दूसरी आंख वालों के बीच रहना पड़ेगा। सीख लोगे विधियां, लेकिन विधियां सदा सीमित परिस्थितियों में काम करती हैं। मैं तुझे आंख ही खोलने का उपाय बता देता हूं।

उपनिषद् का यह ऋषि कहता है : विवेक रक्षा। संन्यासी के पास और कुछ भी नहीं है सिवा उसके विवेक के। वही उसकी रक्षा है। न कोई नीति है, न कोई नियम है, न कोई मर्यादा है, न कोई भय है, न नर्क के दण्ड का कारण है, न स्वर्ग के प्रलोभन की आकांक्षा है। बस, एक ही रक्षा है संन्यासी की—उसका विवेक, उसकी अवेयरनेस, उसकी आंखें।

इसे समझें। विवेक रक्षा, इन दो छोटे शब्दों में बहुत-कुछ छिपा है। सब साधना का सार छिपा है। एक ढंग तो है व्यवस्था से जीने का। क्या करना है, यह हम पहले ही तय कर लेते हैं। कहां से जाना है, कैसे गुजरना है, यह हम पहले ही तय कर लेते हैं। क्योंकि हमारा अपनी ही चेतना पर कोई भरोसा नहीं। इसलिए हम सदा ही भविष्य का चिन्तन करते रहते हैं और अतीत की पुनरुक्ति करते रहते

हैं। जो हमने कल किया था, उसी को आज करना सुगम मालूम पड़ता है क्योंकि उसे हम जानते हैं। वह परिचित है, पहचाना हुआ है। लेकिन संन्यासी जीता है क्षण में—अभी और यहीं। अतीत को दोहराता नहीं, क्योंकि अतीत को केवल मुर्दे दोहराते हैं। भविष्य की योजना नहीं करता, क्योंकि भविष्य की योजना केवल अंधे करते हैं। इस क्षण में उसकी चेतना जो उसे कहती है, वही उसका कृत्य बन जाता है। इस क्षण के साथ ही वह सहज जीता है।

खतरनाक है यह। इसलिए उपनिषद् कहता है, विवेक ही उसकी रक्षा है। होशपूर्ण जीता है, बस इतनी ही उसकी रक्षा है। उसके पास और कोई उपाय ही नहीं है। पहले से वह तय नहीं करता कि कसम खाता हूं, क्रोध नहीं करूंगा। जो आदमी ऐसी कसम खाता है, वह पक्का क्रोधी है। एक तो तय है बात कि वह क्रोधी है। यह भी तय है कि वह जानता है कि मैं क्रोध कर सकता हूं। यह भी वह जानता है कि अगर कसमों का कोई आवरण खड़ा न किया जाए, तो क्रोध की धारा कभी भी फूट सकती है। इसलिए अपने ही खिलाफ इन्तजाम करता है। कसम खाता है कि क्रोध नहीं करूंगा। फिर कल कोई गाली देता है और क्रोध फूट पड़ता है। फिर और गहरी कसमें खाता है, नियम बांधता है, संयम के उपाय करता है, लेकिन क्रोध से छुटकारा नहीं होता। क्योंकि जिस मन ने नियम लिया था और मर्यादा बांधी थी और जिस मन ने कसम खाई थी, उतना ही मन नहीं है, मन और बड़ा है। बहुत बड़ा है। जो मन तय करता है कि क्रोध नहीं करेंगे, गाली दी जाती है तो मन के दूसरे हिस्से क्रोध करने के लिए बाहर आ जाते हैं। वह छोटा हिस्सा जिसने कसम खाई थी, पीछे फेंक दिया जाता है। थोड़ी देर बाद जब क्रोध जा चुका होगा, तो वह हिस्सा, जिसने कसम खाई थी, फिर मन के दरवाजे पर आ जाएगा। वह पछताएगा, पश्चाताप करेगा, कहेगा, बहुत बुरा हुआ। कसम खाई थी, फिर कैसे क्रोध किया। लेकिन क्रोध के क्षण में इस हिस्से का कोई भी पता नहीं था।

मन का बहुत छोटा-सा हिस्सा हमारा जागा हुआ है। शेष सोया हुआ है। क्रोध आता है सोए हुए हिस्से से और कसम ली जाती है जागे हुए हिस्से से। जागे हुए मन की कोई खबर सोए हुए मन को नहीं होती। सांझ आप तय कर लेते हैं, सुबह चार बजे उठ जाना है और चार बजे आप ही करवट लेते हैं और कहते हैं, आज न उठें तो हर्ज क्या है। कल से शुरू कर देंगे। छह बजे उठकर आप ही पछताते हैं कि मैंने तो तय किया था चार बजे उठने का, उठा क्यों नहीं। निश्चित ही आपके भीतर एक मन होता, तो ऐसी दुविधा पैदा न होती।

लगता है, बहुत मन हैं। आदमी मल्टी साइकिक है, ऐसा भी कह सकते हैं। एक आदमी एक आदमी नहीं, बहुत आदमी है, एक साथ भीड़ है, क्राउड है। उसमें एक आदमी भीतर कसम खा लेता है सुबह चार बजे उठने की, बाकी पूरी भीड़ को पता ही नहीं चलता। सुबह उस भीड़ में से जो भी निकट होता है, वह कह देता

है, सो जाओ, कहां की बातों में पड़े हो। इस प्रकार हमारी जिन्दगी नष्ट होती है।

नियम से बंध कर जीने वाला व्यक्ति कभी भी परम सत्य के जीवन की तरफ कदम नहीं उठा पाता है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि नियम तोड़ कर जिएं। मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि मर्यादाएं छोड़ दें। उस फकीर ने भी उस अंधे को नहीं कहा था कि आंख ठीक न हो जाए, तब भी अपनी लकड़ी फेंक दे। मैं भी नहीं कहता हूं। लकड़ी रखनी ही पड़ेगी, जब तक आंख फूटी है; लेकिन लकड़ी को ही आंख समझ लेना नासमझी है। और यह जिद करना कि आंख खुल जाएगी, तब भी हम लकड़ी को संभालकर ही चलेंगे, पागलपन है।

संन्यासी वह है, जो अपने को जगाने में लगा है। वह इतना जगा लेता है अपने भीतर सारे सोए हुए अंगों को कि अपने सारे खंडों को जगाकर एक कर लेता है। उस अखंड चेतना (इन्टीग्रेटेड कांससनेस) का नाम विवेक है। जब मन टुकड़े-टुकड़े नहीं रह जाता, इकट्ठा हो जाता है और एक ही व्यक्ति भीतर हो जाता है, तो 'हां' का मतलब 'हां' और 'न' का मतलब 'न' होने लगता है। उस एक सुर से बंध गई चेतना का नाम विवेक है। जागी हुई चेतना का नाम विवेक है। होश से भर गई चेतना का नाम विवेक है। ऋषि कहता है, विवेक ही रक्षा है, और कोई रक्षा नहीं है। अद्भुत है यह रक्षा। क्योंकि विवेक जगा हो, तो भूल नहीं होती। ऐसा नहीं कि भूल नहीं करनी पड़ती। ऐसा नहीं कि भूल को रोकना पड़ता है। ऐसा भी नहीं कि भूल से लड़ना पड़ता है, बस ऐसा कि भूल नहीं होती। जैसे आंखें खुली हों, तो आदमी दीवार से नहीं टकराता और दरवाजे से निकल जाता है। ऐसे ही भीतर विवेक की आग जगी हो, तो आदमी गलत को नहीं चुनता और उसका मार्ग ठीक बन जाता है।

विवेक रक्षा। जागा हुआ होना ही इस जगत् में एक मात्र रक्षा है। सोया हुआ होना इस जगत् में हजार तरह की विक्षिप्तताओं को, हजार तरह की रुग्णताओं को निमंत्रण देना है। हजार तरह के शत्रु प्रवेश कर जाएंगे और जीवन को नष्ट कर देंगे, छिद्र-छिद्र कर देंगे और खंड-खंड कर देंगे। तो जागना ही सूत्र है।

संन्यासी का अर्थ है, जो निरन्तर जागा हुआ जी रहा है, होशपूर्वक जी रहा है। कदम भी उठाता है, तो जानते हुए कि कदम उठाया जा रहा है। श्वास भी लेता है, तो जानते हुए कि श्वास ली जा रही है। श्वास बाहर जाती है, तो जानता है कि बाहर गई; श्वास भीतर जाती है, तो जानता है कि भीतर गई। एक विचार मन में उठता है, तो जानता है कि उठा, गिरता है, तो जानता है कि गिरा। मन खाली होता है, तो जानता है कि मन खाली है। मन भरा होता है, तो जानता है कि मन भरा है। एक बात पक्की है कि जानने की सतत धारा भीतर चलती रहती है। कुछ भी हो, जानने का सूत्र भीतर चलता रहता है। यही रक्षा है, क्योंकि जानकर कोई गलत नहीं कर सकता। सब गलती अज्ञान है या सब गलती मूर्च्छा है।

अभी तो कभी-कभी कोई व्यक्ति जागता है—कभी कोई बुद्ध, कभी कोई महावीर, कभी कोई क्राइस्ट। कभी-कभी एकाध व्यक्ति जागता है इस सोए हुए लोगों की दुनिया में। हम उससे बहुत नाराज भी होते हैं। क्योंकि जहां बहुत लोग सोए हों, वहां एक आदमी का जागना दूसरों की नींद में बाधा बनता है। और वह जागा हुआ उत्सुक हो जाता है कि सोए हुओं को भी जगावें। सोए हुए नाराज होते हैं, बहुत नाराज होते हैं। उनकी नींद में बाधा होती है। और यह जागा हुआ इस तरह की बातें करने लगता है कि उनके सपनों का खंडन होता है। इसलिए हम सोए हुए लोग जागे हुए आदमी को समाप्त कर देते हैं। जब वह समाप्त हो जाता है, तब हम उसकी पूजा करते हैं। पूजा नींद में चल सकती है। जागे हुए आदमी की दोस्ती नहीं चल सकती।

जागे हुए आदमी के साथ जीना हो, तो दो ही उपाय हैं—या तो वह आपकी माने और सो जाए, या आप उसकी मानें और जग जाएं। पहले का तो उपाय है नहीं। जो जाग गया, वह सोने को राजी नहीं हो सकता है। जिसके हाथ में हीरे आ गए, वह कंकड़-पत्थर रखने को राजी नहीं हो सकता। जिसको अमृत दिखाई पड़ गया, उसको आप डबरे का पानी पीने को कहें, मुश्किल है, असम्भव है। आपको ही जगना पड़ेगा उसके साथ।

सत्संग का यही अर्थ था। किसी जागे हुए पुरुष के पास होना, अर्थ था। उस जागे हुए के पास होने से शायद आपकी नींद भी टूट जाए। चाहे तो नींद का एकाध कण भी टूटे, करवट बदलते वक्त जरा-सी आंख भी खुले और जागे हुए व्यक्तित्व का दर्शन हो जाए, तो शायद आकांक्षा, प्यास जगे, अभीप्सा पैदा हो और आप भी जागने की यात्रा पर निकल जाएं। यदि कभी ऐसा हुआ कि बहुत लोग जाग सकें और जागे लोगों का समाज बन सका, तो निश्चित ही यह बात हम उस दिन कहेंगे कि पूरे इतिहास में हमने जिन लोगों को जुल्मी ठहराया, अपराधी ठहराया, वह गलती हो गई। सोए हुए लोग थे। सोए हुए लोग अपराध करेंगे ही।

अदालतें माफ कर देती हैं, अगर नाबालिग व्यक्ति अपराध करे। क्योंकि अदालत कहती है, अभी समझ कहां। लेकिन बालिग के पास समझ है। अदालतें क्षमा कर देती हैं अपराधों को या कम कर देती हैं, न्यून कर देती हैं, अगर आदमी ने नशे में किया हो, क्योंकि वे कहते हैं कि जो होश में नहीं था, उसके ऊपर जिम्मेवारी क्या! लेकिन हम तो होश में हैं।

सच तो यह है कि हमारा पूरा इतिहास सोए हुए आदमियों के कृत्यों का इतिहास है। इसीलिए तो तीन हजार वर्षों में सिवा युद्धों के और कुछ नहीं मिलता। तीन हजार वर्ष में जमीन पर चौदह हजार सात सौ युद्ध हुए। और ये तो बड़े युद्ध हैं, जिनका इतिहास उल्लेख करता है। दिन भर छोटी-मोटी लड़ाइयां जो हम लड़ते हैं, परायों से और अपनों से, उनका तो कोई हिसाब नहीं, लेखा-जोखा नहीं। हमारी

पूरी जिन्दगी कलह के अतिरिक्त और क्या है! पूरी जिन्दगी हम सिवा दुख के और क्या अर्जित कर पाते हैं! यह सोए हुए होने की अनिवार्य परिणति है।

ऋषि कहता है, संन्यासी के लिए तो विवेक ही रक्षा है। हिम्मतवर लोग थे, बड़े साहसी लोग थे, जिन्होंने यह कहा। यह नहीं कहा कि नीति में रक्षा है, नियम में रक्षा है। यह नहीं कहा कि मर्यादा में रक्षा है, शास्त्र में रक्षा है, गुरु में रक्षा है। उन्होंने कहा कि विवेक में रक्षा है, होश में रक्षा है। होश के अतिरिक्त कोई रक्षा नहीं हो सकती।

करुणा ही उनकी क्रीड़ा है। करुणैव केलिः। एक ही खेल है जागे हुओं का—करुणा। एक ही उनका रस बाकी रह गया है, बस एक ही बात उन्हें और करने योग्य रह गई है—करुणा।

बुद्ध को ज्ञान हुआ। फिर वे चालीस वर्ष जीवित रहे। हम पूछ सकते हैं कि जब ज्ञान हो गया, तब चालीस वर्ष जीवित रहने का कारण क्या है?—करुणा। महावीर को ज्ञान हुआ, उसके बाद भी वे इतने ही समय जीवित रहे। जब ज्ञान हो ही गया और परम अनुभूति हो गई, तो अब इस शरीर को ढोने की और क्या जरूरत है?—करुणा। जो भी जान लेता है, तो जानने के साथ ही उसके भीतर वासना तिरोहित हो जाती है और करुणा का जन्म होता है। वासना में जो शक्ति काम आती है, वही रूपांतरित होकर करुणा बन जाती है।

हम वासना में जीते हैं। वासना ही हमारा जीवन है। वासना का अर्थ है, हम कुछ पाने को जीते हैं। जब वासना रूपांतरित होकर करुणा बनती है, तो उल्टी हो जाती है। करुणा का अर्थ है, हम कुछ देने को जीते हैं। लेकिन उलटी है यह हमारी दुनिया, बड़े कण्ट्राडिक्शंस, बड़े विरोधाभासों से भरी। वासना से जो भरे हैं, उन्हें हम सम्राट कहते हैं; करुणा से जो भरे हैं, उन्हें हम भिक्षु कहते हैं। जो दे रहे हैं सिर्फ, वे भिखारी हैं; जो ले रहे हैं सिर्फ, वे सम्राट हैं।

गहरा व्यंग्य है बुद्ध का इसमें। बुद्ध अपने को भिक्षु, भिखारी कहते हैं। और हम सब भी राजी हो जाते हैं कि ठीक है, दो रोटी तो बुद्ध हमसे मांगते ही हैं, तो भिखारी हो ही गए। बुद्ध हमें क्या देते हैं, उसकी कोई कीमत आंकी जा सकती है? लेकिन हमें यह भी पता न चले कि वे हमें दे रहे हैं, उसकी भी वे चेष्टा करते हैं। इसलिए दो रोटी हमसे लेकर भिखारी बन जाते हैं, कहीं हमें ऐसा न लगे कि वे हमें कुछ देकर हम पर कोई एहसान कर रहे हैं। करुणा इतना भी नहीं चाहती है।

हम ऐसे नासमझ हैं कि अगर हमें यह पता चल जाए कि बुद्ध हमें कुछ दे रहे हैं, तो हमारे अहंकार को चोट लगे। शायद हम लेने का दरवाजा ही बन्द कर दें। बुद्ध हमसे दो रोटी ले लेते हैं। हमारे अहंकार को बड़ा रस आता है। लेकिन हमें पता नहीं कि हम एक बहुत हारती हुई बाजी लड़ रहे हैं। बुद्ध दो रोटी लेते

हैं, पर वे जो देते हैं, उसका हमें पता भी नहीं चलता। दो रोटी में बुद्ध को कुछ भी नहीं मिलेगा, लेकिन वह जो हमें दे रहे हैं वह हमारे अहंकार को पूरी तरह भस्मीभूत कर देगा, राख कर देगा। हमारे भीतर वह जो अस्मिता है, उसे मिटा देगा।

करुणा का अर्थ है, देने के लिए जीना। वासना का अर्थ है लेने के लिए जीना। वासना भिखारी है, करुणा सम्राट है। लेकिन दे कौन सकता है? दे वही सकता है, जिसके पास हो और वही दिया जा सकता है, जो हमारे पास हो। वह तो नहीं दिया जा सकता है, जो हमारे पास न हो। हम तो मांगकर ही पूरे जीवन में जीते हैं। हमारे पास कुछ भी नहीं है। प्रेम भी हम मांगते हैं कि कोई दे। धन भी हम मांगते हैं कि कोई दे। यश भी हम मांगते हैं कि कोई दे। बड़े से बड़ा राजनेता भी भिखारी ही होता है, क्योंकि वह सबसे मांग कर जीता है। आप यश देते हैं, तो उसे मिलता है, आप खींच लेते हैं तो खो जाता है। दो दिन अखबार में उसका नाम नहीं छपता, तो बात खत्म हो गई। लोग भूल जाते हैं कि कहां गया। कौन था, था भी या नहीं था।

१९१७ में लेनिन जब सत्ता में आया तो उसके पहले जो रूस का प्रधानमंत्री था करेंस्की, वह १९६० तक जिन्दा था। जब वह मरा, तभी लोगों को पता चला कि वह अब तक जिन्दा था। वह अमरीका में एक किराने की दुकान कर रहा था। लोग भूल ही चुके थे, बात ही खत्म हो चुकी थी। वह मरा, तब पता चला कि वह आदमी जिन्दा था। कभी वह रूस का सर्वाधिक शक्तिशाली आदमी था। पर अपने पद से हटते ही उसकी कोई पूछ नहीं रही।

राजनेता भी हमसे यश मांगकर जीता है। जो भी हमसे मांगकर जीता है, वह संन्यासी नहीं है। संन्यासी तो वह है, जो हमें देकर जीता है। वह देने की बात भी नहीं करता कभी कि आपको कुछ दिया है। ऐसा उपाय करता है कि आपको लगे कि आपने ही उसे कुछ दिया।

करुणा की उसकी क्रीड़ा है। करुणा भी क्रीड़ा है, यह बहुत मजेदार बात है। यह नहीं कहा कि करुणा ही उसका काम है। इट इज नॉट ए वर्क, बट ए प्ले। काम नहीं है करुणा; वह खेल है, क्रीड़ा है। क्रीड़ा और काम में क्या फर्क है? कुछ बुनियादी फर्क है। एक तो यह कि काम अपने आप में मूल्यवान नहीं होता, क्रीड़ा अपने आप में मूल्यवान होती है।

अगर आप सुबह घूमने निकले हैं और कोई पूछे कि किसलिए घूमने निकले हैं; तो आप कहेंगे कि घूमने में आनन्द है। कहीं पहुंचने के लिए नहीं निकले हैं। कोई मंजिल नहीं है, कोई गन्तव्य नहीं है। फिर उसी रास्ते से आप अपने दफ्तर जाते हैं। कोई आदमी पूछता है, बड़े आनन्द से टहल रहे हैं आप। तो आप कहते हैं, टहल नहीं रहा हूं। दफ्तर जा रहा हूं। कभी आपने ख्याल किया है कि रास्ता

वही होता है, आप वही होते हैं। सुबह जब टहलने निकलते हैं, तब पैरों का आनन्द और है, और जब उसी रास्ते से दफ्तर की तरफ जाते हैं, तो छाती पर पत्थर और है। रास्ता वही, पैर वही, चलना वही, आप वही, सब वही। सिर्फ एक बात बदल गई कि अब चलना काम है, और तब चलना खेल था। जो बुद्धिहीन हैं, वे अपने खेल को भी काम बना लेते हैं और जो बुद्धिमान हैं, वे अपने काम को भी खेल बना लेते हैं।

ऋषि कहता है, करुणा उनकी क्रीड़ा है, वह काम नहीं है। वह कोई बोझ नहीं है। वह भी कुछ ऐसा नहीं है कि बुद्ध ने तय ही कर रखा है कि इतने लोगों का निर्वाण करवा कर रहेंगे। अगर न हुआ, तो बड़े दुखी होंगे, बड़े पीड़ित होंगे, बड़े पछताएंगे। बुद्ध ने कुछ तय नहीं कर रखा है कि आपका अज्ञान तोड़कर ही रहेंगे, नहीं टूटा तो छाती पीटकर रोएंगे। खेल है, आनन्द है कि आप जग जाएं। न जगें, आपकी मर्जी, बात समाप्त हो गई। खेल पूरा हो गया। एक व्यक्ति भी बुद्ध के प्रयासों से न जगे तो भी बुद्ध उसी आनन्द से परिभ्रमण करते विदा हो जाएंगे। उस आनन्द में कोई फर्क न पड़ेगा।

बुद्ध का आनन्द था कि वे बांट दें। आपने नहीं लिया, वह जिम्मा आपका है। उसके लिए उन्हें पीड़ित होने का कोई भी कारण नहीं। इसलिए कहा कि यदि करुणा क्रीड़ा, खेल बन जाए तो आनन्द है और काम बन जाए तो बोझ है। तो फिर बुद्ध मरते वक्त हिसाब रखेंगे कि इतने लोगों से कहा, किसी ने लिया? नहीं लिया। इतने लोगों को समझाया, कोई समझा? नहीं समझा, तो मेरा श्रम व्यर्थ गया। ध्यान रखिए, काम अगर पूरा न हो, फल न लाए, तो श्रम व्यर्थ चला जाता है। लेकिन क्रीड़ा का श्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह क्रीड़ा में ही पूर्ण हो गया। कोई फल का सवाल नहीं। और इसलिए भी क्रीड़ा कहा कि सिर्फ क्रीड़ा ही फलाकांक्षा से मुक्त हो सकती है। काम कभी भी फलाकांक्षा से मुक्त नहीं हो सकता।

कृष्ण ने गीता में फलाकांक्षारहित कर्म की बात कही है। यह उपनिषद् का ऋषि ज्यादा ठीक शब्द का प्रयोग कर रहा है, कृष्ण से भी ज्यादा ठीक शब्द का, क्योंकि फलाकांक्षारहित कर्म यदि कर्म होगा तो उसमें फलाकांक्षा हो जाएगी, या फिर कर्म का अर्थ क्रीड़ा करना पड़ेगा। इसलिए ऋषि ने यह नहीं कहा कि करुणा उनका कर्म है। कहा, करुणा उनकी केलि, उनका खेल है। कहीं कोई आकांक्षा उससे तृप्त होने की नहीं। कहीं कोई इच्छा भविष्य में पूरा होने के लिए यात्रा पर नहीं निकले हैं। किसी वासना का तीर प्रत्यंचा पर नहीं चढ़ा है। कोई लक्ष्य नहीं है, जिसे वेध डालना है। नहीं, बस यह मौज है।

भीतर आनन्द भर गया है, वह बाहर बिखरना चाहता है, लूटना चाहता है। जैसे फूल खिल गए हैं वृक्ष पर और उनकी सुगन्ध रास्ते पर गिरती है, यह क्रीड़ा

है। वृक्ष इसकी चिन्ता में नहीं है कि कौन निकलता है नीचे से और जो निकलता हैं वह 'व्ही आई पी' है या नहीं, कोई प्रतिष्ठित आदमी निकलता है, कि कोई गरीब मजदूर निकलता है, कि आदमी निकलता है, कि गधा निकलता है। वृक्ष को कोई मतलब नहीं है। गधे को भी वृक्ष अपने फूलों की सुगन्ध वैसे ही दे देता है, जैसे एक राजनैतिक नेता को देता है। फूल कोई भेद नहीं करता। यदि कोई नहीं निकलता, रास्ता निर्जन हो जाता है, तो भी फूल की सुगन्ध गिरती रहती है, क्योंकि यह फूल का अंतर-आनन्द है। यह किसी के प्रति प्रेरित नहीं है। यह जो सुगन्ध है, इस पर किसी का पता नहीं लिखा है कि इसके पास पहुंचे—अनऐड्रेस्ड है वह। यह किसी के प्रति नहीं है। यह तो फूल का अन्तर आविर्भाव है। यह तो भीतर उसके प्राणों में जो सुगन्ध बढ़ गई है, उसे वह लुटा दे रहा है। हवाएं ले जाएंगी। खाली खेतों में पड़ जाएगी, निर्जन रास्तों पर लुट जाएगी। उसे लुटा देने में आनन्द है।

एक बहुत अद्भुत घटना मैंने सुनी है। एक बहुत बड़ा मनोचिकित्सक विल्हेम रेक, अभी पश्चिम में जो थोड़े से कीमती आदमी इस आधी सदी में हुए, उनमें से एक था। और जो होता है कीमती आदमियों के साथ, वही उसके साथ भी हुआ। विल्हेम रेक को आखिर में दो साल जेलखाने में रहना पड़ा। जो आदमी कम से कम पागल था, उसे अमरीका के कानून और समाज ने पागल करार देकर पागलखाने में डाल दिया। हमारे ढंग नहीं बदलते। हजारों साल बीत जाएं, हम वही करते हैं। उसमें कोई फर्क नहीं होता।

विल्हेम रेक एक मरीज का इलाज कर रहा था—एक मानसिक बीमारी थी। उसका मनोविश्लेषण कर रहा था। तीन बजे का उसे वक्त दिया था, तीन बजे मरीज नहीं आया। सवा तीन बज गए, घड़ी देखी। ठीक सवा तीन बजे मरीज भागा हुआ आया। उसने कहा, क्षमा करना, मुझे थोड़ी देर हो गई। विल्हेम रेक न कहा,—'यू केम जस्ट इन टाइम, अदरवाइज, आई वाज टु बिगिन माई वर्क।' तुम ठीक वक्त पर आ गए, समय के भीतर आ गए, नहीं तो मैं अपना काम शुरू करने वाला था। उस मरीज ने कहा, लेकिन जब मैं आता ही नहीं, तो आप काम कैसे शुरू करते। मेरा ही तो मनोविश्लेषण होना है। फूल निर्जन में सुगन्ध डाले तो हमारी समझ में आ सकता है, लेकिन विल्हेम रेक अगर बिना मरीज के विश्लेषण शुरू कर दे, तो हम भी कहेंगे पागल है। विलियम रेक ने कहा कि तुम तो सिर्फ निमित हो। तू नहीं भी आता, तो हम काम शुरू कर ही देते। वह हमारा आनन्द है।

यह समझना कठिन होगा। फूल को समझ लेना आसान है, क्योंकि फूल को हम पागल नहीं सोच सकते। आदमी को समझना कठिन है। ऐसा हो सकता है, ऐसा हुआ है कि फूल की तरह निर्जन में भी जागे हुए पुरुषों की वाणी गूंजी है।

लाओत्से के बाबत मैंने सुना है कि कई बार ऐसा हुआ कि वह किसी वृक्ष के नीचे बैठा है और बोल रहा है। राहगीर कोई निकला, ठिठक कर खड़ा हो गया। चौंक कर उसने देखा, सुनने वाला कोई भी नहीं। पास जाकर राहगीरों ने पूछा कि यहां कोई सुनने वाला दिखाई नहीं पड़ता। आप किससे बोल रहे हैं? लाओत्से कहता, यह अन्तर्भाव है। कोई चीज भीतर जन्म गई है, उसे बाहर डाले दे रहा हूं। अभी सुनने वाला नहीं हैं, शायद कभी कोई सुन ले। आज मौजूद नहीं है सुनने वाला, लेकिन आज बोलने की बात पैदा हो गई है। कहीं ऐसा न हो कि कल सुनने वाला हो और कहने वाला न रहे, तो मैं बात छोड़े जा रहा हूं। हवाएं इसे संभाले रखेंगी, आकाश इसका स्मरण रखेगा और कभी कोई जब सुनने को तैयार होगा तो सुन लेगा। यह समझना हमें कठिन होगा। लेकिन बात यही है। ऐसे लोग काम से नहीं जीते, ऐसे लोग क्रीड़ा से जीते हैं। इन्हें जीवन एक बोझ नहीं, एक नृत्य है।

ऋषि कहता है, आनन्द ही उनकी माला है। वे और कुछ नहीं पहनते, आनन्द की ही माला पहने रहते हैं। उसमें आनन्द के ही गुरिए हैं, उसमें आनन्द का ही धागा पिरोया हुआ है। वे प्रतिक्षण अहोभाव में जीते हैं—प्रतिपल। कोई ऐसी परिस्थिति नहीं है, जो उन्हें दुख में डाल सके। हम परिस्थिति से दुखी होते हैं, परिस्थिति से सुखी होते हैं। कारण होता है हमारे दुख का और कारण होता है हमारे सुख का। ध्यान रहे, जब तक कारण होता है हमारे सुख का और दुख का, तब तक हमें आनन्द का कोई भी पता नहीं, क्योंकि आनन्द अकारण है। कारण सब बाहर होते हैं, इसलिए सुख भी बाहर होता है और दुख भी बाहर होता है। अकारण जो अवस्था है, वह भीतर होती है। इसलिए आनन्द भीतर होता है।

और ध्यान रहे, जो परिस्थिति पर निर्भर होकर जीता है, वह गुलाम है, वह गुलाम होगा ही। गुलाम इसलिए होगा कि परिस्थिति कभी भी बदल सकती है और उसका सुख-दुख हो सकता है। परिस्थिति उसके हाथ में नहीं, परिस्थिति मेरे हाथ में नहीं।

आनन्द ही उनकी माला है। संन्यास में जो गहरे गए, वे परिस्थिति पर निर्भर होकर नहीं जीते। उनके सुख-दुख का कोई कारण बाहर नहीं होता। बस, वे अकारण आनंदित होते हैं। तब फिर परिस्थिति कुछ भी नहीं कर सकती। आग लगा दें उनमें, तो भी वे उसी आनन्द में होते हैं। फूल बरसा दें उनके ऊपर, तो भी वे उसी आनन्द में होते हैं। उनके भीतर कोई रंच मात्र भी फर्क नहीं पड़ता। और जब भीतर रंच मात्र परिस्थिति से फर्क नहीं पड़ता, तभी हम बाहर से, पदार्थ से, मुक्त हुए, ऐसा समझें; उसके पहले नहीं।

इसका यह मतलब नहीं कि बुद्ध की छाती में आप छुरा मारेंगे, तो बुद्ध के

प्राण निकल जाएंगे। यह भी मतलब नहीं कि बुद्ध के पैरों में कांटा पड़ेगा और खून न बहेगा। जरूर बहेगा, शायद आपसे ज्यादा ही बहेगा, क्योंकि बुद्ध कांटे पर भी कठोर नहीं हो सकते। और छुरा भी छाती में जाएगा तो बुद्ध उसके साथ भी कोआपरेट करेंगे, सहयोग करेंगे। वह और भीतर चला जाएगा। बुद्ध को जहर देंगे, तो बुद्ध भी मर जाएंगे। लेकिन फिर भी भीतर कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। बुद्ध जहर से ही मरे। भूल से दिया था जहर, जान कर नहीं डाला था।

एक गरीब आदमी ने बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रण दिया था। बिहार में लोग कुकुरमुत्त को इकट्ठा कर लेते हैं। वह जो बरसात में, गीली जगह में लकड़ी पर कहीं भी पैदा हो जाता है, बरसात की छतरी, उसे कुकुरमुत्ता कहते हैं। उसे इकट्ठा कर लेते हैं। सुखा लेते हैं, तो वह वर्ष भर सब्जी का काम देता है, लेकिन वह कभी-कभी पायजनस (जहरीला) हो जाता है। गलत जगह में पैदा हो, तो उसमें कभी-कभी जहर हो जाता है। एक गरीब आदमी ने बुद्ध को निमंत्रण दिया। बहुत रोका लोगों ने। वहां का सम्राट् भी निमंत्रण देने आया, लेकिन थोड़ी देर हो गई थी। बुद्ध ने कहा, थोड़ी देर हो गई, निमंत्रण तो मैं स्वीकार कर चुका हूं। उसने कुकुरमुत्ते की सब्जी बनाई थी। और तो उसके पास कुछ था नहीं—रोटी थी, नमक था, कुकुरमुत्ते की सब्जी थी। वह जहरीली थी। कड़वा जहर था। लेकिन बुद्ध उसे खाते चले गए और उसकी सब्जी का गुणगान करते रहे। उससे कहते रहे, तूने कितने प्रेम और आनन्द से बनाई है। मैंने भोजन तो बहुत जगह किए, आहार बहुत सम्राटों के यहां किए, लेकिन तेरे जैसा प्रेम कहीं भी नहीं मिला। लेकिन घर आते ही, जहां ठहरे थे, पता चला कि जहर फैलना शुरू हो गया। चिकित्सक बुलाए गए, लेकिन देर हो गई। बुद्ध की मृत्यु उसी जहर से हुई।

मरने के पहले बुद्ध ने आनन्द को पास बुलाकर उसके कान में कहा—आनन्द, गांव में जाकर डुण्डी पीट देना कि जिस व्यक्ति के घर मैंने अंतिम भोजन किया है, वह महाभाग्यवान् है, क्योंकि एक तो भाग्यवान् वह मां थी मेरी, जिसके साथ मैंने अपना पहला भोजन लिया था, और उसी मां की कीमत का यह आदमी है, जिसके साथ मैंने अंतिम भोजन लिया।

आनन्द ने कहा, यह आप क्या कहते हैं, हमारे प्राण उस आदमी के खिलाफ खौल रहे हैं। बुद्ध ने कहा, इसीलिए कहता हूं, डुण्डी पीट देना। नहीं तो मेरे मरने के बाद वह गरीब मुसीबत में पड़ जाएगा। लोग कहीं उस पर टूट न पड़ें कि तेरे भोजन से मृत्यु हो गई। मृत्यु तो जहर से हो जाएगी, लेकिन भीतर वही करुणा कि वह आदमी मुसीबत में पड़ जाए। मरते हुए बुद्ध को यही फिक्र है। कहीं उसके नाम के साथ निन्दा का स्वर न जुड़ जाए। कहीं इतिहास ऐसा न लिख दे कि उस गरीब आदमी पर ही पाप चला जाए कि उसी ने हत्या करवा

दी। बुद्ध के भीतर अन्तर नहीं पड़ता। आनन्द ही उनकी माला है। आनन्द ही उनका अस्तित्व है।

गुह्य एकांत ही उनका आसन है—एकासन गुहायाम्। इसमें दो शब्द समझ लेने-जसे हैं। गुह्य और एकांत खोजना है, तो स्वयं के भीतर खोजे बिना नहीं मिलेगा। कहीं भी चले जाएं, पहाड़ पर जाएं, कैलाश पर जाएं, जंगलों में जाएं, गुफाओं में जाएं, कहीं भी जाएं एकान्त नहीं मिलेगा। जो बाहर एकांत को खोजता है, वह एकांत को पा नहीं सकेगा। जाएं कहीं भी, दूसरा सदा मौजूद होगा। आदमी न होंगे, पशु-पक्षी होंगे। पशु-पक्षी न होंगे, पौधे वृक्ष, पत्थर की चट्टानें होंगी। लेकिन दूसरा मौजूद होगा। दूसरे से बचने का कोई उपाय नहीं। एक ही जगह है, अन्तर गुहा। भीतर एक गुह्य स्थान है, जहां स्वयं के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। वहीं एकान्त है।

ऋषि कहता है, एकासन गुहायाम्। वह जो अन्तर की गुहा है, उस एकांत में ही प्रवेश कर जाना उनका आसन है। वे इसी आसन को खोजते हैं। हम सब आसन जानते हैं, हम योगासन जानते हैं। कोई सिर के बल खड़ा है, कोई शीर्षासन कर रहा है, कोई सिद्धासन कर रहा है, लेकिन ऋषि कहता है, ये आसन उनके आसन नहीं हैं। ये भी बाहर की क्रियाएं हैं। उपयोगी हैं, हितकर हैं, उनसे लाभ ही होता है, लेकिन यह उनका आसन नहीं है। जो परम गति में प्रवेश करना चाहते हैं, उनका आसन तो एक है, स्वयं की ही गुहा में अकेले बच रहना। वही एकासन है, वही एक काम है। जहां मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यह बहुत मजे की बात है कि जहां मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं है, वहां मैं भी नहीं बचता हूं। मेरे बचने के लिए दूसरे का होना जरूरी है। क्योंकि मैं दूसरे का ही छोर हूं। अगर 'तू' न बचे तो 'मैं' के बचने के कोई उपाय नहीं हैं। 'तू' को देखकर ही 'मैं' जन्मता है इसलिए तो आप भीड़ को खोजते हैं। हर आदमी भीड़ को खोजता है, क्योंकि भीड़ में जितना मैं मालूम पड़ता है उतना अकेले में बिखर जाता है। बड़ी भीड़ आपके ऊपर नजर रखे तो आपका 'मैं' बहुत संगठित हो जाता है, बहुत क्रिस्टलाइज्ड, मजबूत हो जाता है। नेतृत्व का रस यही है कि लाखों लोगों की आंखें मुझ पर हैं। मेरा 'मैं' मजबूत हो जाता है। कोई देखने वाला नहीं, कोई 'तू' नहीं, तो 'मैं' के बचने का कोई उपाय नहीं।

'मैं' एक रिऐक्शन है, एक प्रतिक्रिया है, 'तू' के सामने एक प्रतिध्वनि है। तो जहां मेरे भीतर मैं पहुंचूं अकेले में, नितांत एकांत में, जहां कोई भी न बचे, दूसरा रहे ही न, द्वैत का पता ही न चले, दूसरा मिट ही जाए, भूल ही जाए तो ध्यान रखना, वहां मैं भी न बचूंगा।

दूसरे के गिरते ही मैं भी गिर जाता है। तब सिर्फ गुह्य एकान्त रह जाता है। वहां न तू होता है, न मैं होता है। वहां न कोई अपना होता है, न पराया होता

है। स्वयं का भी होना नहीं होता। अहंकार भी वहां नहीं है। ऐसे गुह्य एकान्त को ऋषि आसन कहता है। यही है आसन लगाने-जैसा, यही है जिसमें बैठें और जिसमें डूबें और जिसमें जिएं और जिसके साथ एक हो जाएं।

मुक्तासन सुख गोष्ठी—मुक्त आनन्द में उनकी गोष्ठी है। मुक्त आनन्द उनकी चर्चा है, मुक्त आनन्द ही उनका उपदेश है। मुक्त आनन्द तभी सम्भव है, जब मैं इतना अकेला हो जाऊं कि मैं भी न बचूं अगर दूसरा मौजूद है, तो बन्धन जारी रहेगा। अगर मैं भी मौजूद हूं, तो भी बन्धन जारी रहेगा। न तू बचे, न मैं बचूं, तो वहां चेतना मुक्त हो जाती है, सब बन्धन से बाहर हो जाती है। उस मुक्त आनन्द को ऋषि ने कहा है, वही उनकी गोष्ठी है। वही उनका सत्संग है। उस आनन्द के साथ ही उनकी चर्चा है, उस आनन्द के साथ बिहरना ही उनकी चर्या है, उस आनन्द में जीना ही उनका जीवन है। इतना अकेला हो जाना कि जहां मैं भी न बचूं।

अपना भी साथ होता है। कभी आपने ख्याल किया कि जब और कोई बात करने को नहीं मिलता है तब आप अपने से ही बात करते हैं ? कभी आपने ख्याल किया कि लोग ताश के पत्तों का ऐसा खेल तक खेलते हैं, जिसमें दोनों तरफ से चालें वे ही चलते हैं ? कोई खेलने वाला न मिले, तो क्या कीजिएगा ? ताश के पत्ते बिछाकर आदमी दोनों तरफ की चालें चलता है—अकेला खुद ही। आप भी चौबीस घंटे इस तरह की चाल चलते हैं आपको भीतर निरन्तर डायलॉग चलता है। दो नहीं हैं वहां, इसलिए डायलॉग होना नहीं चाहिए। दूसरा हो, तो बातचीत चलनी चाहिए; आप अपने ही से बातचीत चलाते हैं। आप ही चोर बन जाते हैं, आप ही मजिस्ट्रेट भी बन जाते हैं। भीतर बड़ा नाटक चलता है। करीब-करीब आप सभी का अभिनय भीतर कर लेते हैं। आप वह भी कह लेते हैं, जो आप कहना चाहते हैं। जिससे आप कहना चाहते हैं, उसकी तरफ से जवाब भी आप ही दे देते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन में यात्रा कर रहा है। बीच-बीच में अकारण खिलखिला कर हंस पड़ता है। फिर चुप हो जाता है। आपस के लोग चौकन्ने हो गए हैं कि आदमी कुछ अजीब है। कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। खाली बैठा है, आंखें बन्द किए है। फिर एक दम से खिलखिला कर हंसता है। फिर चुप हो जाता है। सम्भलकर फिर बैठ जाता है। आखिर नहीं रहा गया। जिज्ञासा बढ़ी। एक आदमी ने हिम्मत कर उसे हिलाया और कहा, महानुभाव ! मामला क्या है, आप अचानक खिलखिला पड़ते हैं ? नसरुद्दीन ने कहा, 'बाधा मत डालो। आई एम टेलिंग जोक्स टु माइ सेल्फ। (मैं अपने आपसे जरा मजाक की कुछ बातें कर रहा हूं)।' फिर उसने आंख बन्द कर ली। फिर वह बीच-बीच में खिलखिलाकर हंसता रहा। फिर कभी-कभी ऐसा भी होता कि हंसता तो नहीं, लेकिन ऐसा झिड़कता—हिः, हिः। आखिर फिर उनकी जिज्ञासा बढ़ी कि बात क्या है ! फिर

उसने पूछा बगल के आदमी ने कि महानुभाव, हंसते थे, ठीक था; अब कभी झिड़क देते हैं बीच-बीच में। तो उसने कहा, सम ओल्ड, टोल्ड जोक्स सुन चुके। कई दफा कह चुके, कई दफा वह मजाक बीच में आ जाती है।

पूरे समय हमारे भीतर भी यही चल रहा है। अकेले होकर भी हम अकेले नहीं हैं। अपने को बांट लेते हैं। बड़ा मजा है, बांट-बांट कर बातचीत चलती रहती है। जरा इस भीतर की चर्या पर ख्याल करना। ऋषि कहता है कि वह इतना अकेला हो जाता है, इतना अकेला कि अपने से भी अब बात नहीं हो सकती। अब तो आनन्द ही चर्या है। अब तो आनन्द ही भीतर स्पन्दित होता रहता है। कोई नहीं बचा। आनन्द अकेला बच गया। वही नृत्य करता है, वही नाचता है। बस वही गोष्ठी है।

अकल्पित भिक्षाशी। यह बहुत जरूरी बात है, समझने-जैसी। संन्यासी परमात्मा पर छोड़कर जीता है। योजना करके नहीं जीता। अनप्लैंड, अनायोजित उसका जीवन है। सुबह उठता है, भूख लगती है तो भिक्षा मांगने निकल जाता है। यह भी पता नहीं कि भिक्षा मिलेगी, यह भी पता नहीं कि भिक्षा में क्या मिलेगा, यह भी पता नहीं, कौन देगा ! अकल्पित है सब उसकी, कोई कल्पना भी नहीं करता। अगर कल्पना भी करे, तो वह संन्यासी की भिक्षा न रही। अगर वह सुबह से यह भी सोच ले कि आज फलां चीज खाने में मिल जाए, तो वह भिक्षा न रही संन्यासी की। वह भिखारी की भिक्षा हो गई।

संन्यासी के लिए सब अकल्पित है। भूख लगती है, निकल पड़ता है। किसी के द्वार पर खड़ा हो जाता है। कोई दे देता है ठीक, अन्यथा आगे बढ़ जाता है। जो दे देता है, ठीक। जो मिल जाता है, ले लेता है, स्वीकार कर लेता है। न कोई कल्पना है, न कोई योजना। नहीं, पहले से खबर भी नहीं देता कि कल आपके घर भोजन करने आऊंगा, क्योंकि अगर ऐसी खबर दे तो वह आयोजित हो जाएगी। वह अनायोजित जीता है। मानना यह है कि यदि अस्तित्व को जिलाना है, तो जिलाएगा। हम अपनी तरफ से मौन हैं।

सांझ को जो भी मिलता था, मुहम्मद उसे बंटवा देते थे। दिन भर लोग चढ़ा जाते, भेंट दे जाते। उन्हें वह सांझ तक बांट देते। फिर भिखारी हो जाते। रात भिखारी ही सोते। सुबह फिर कोई दे जाता। एक बार मुहम्मद बीमार थे, तो उनकी पत्नी ने सोचा कि रात दवा की जरूरत पड़ सकती है, वैद्य बुलाना पड़ सकता है, तो उनसे पांच दीनार, पांच रुपए, छिपा कर रख लिए। आधी रात मुहम्मद करवट बदलने लगे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, मुझे ऐसा लगता है कि इस मरते क्षण में मैं भिखारी नहीं हूं।

पत्नी तो बहुत घबरा गई। उसने कहा, आपको कैसे पता चला ? मुहम्मद ने ने कहा, जिन्दगी भर का भिखारी, रात बिना कुछ रखे सदा सोया हूं। आदत

बिगड़ गई। लगता है, घर में आज कुछ बचा हुआ है। तू निकाल ला, उसे बांट दे। अन्यथा मैं परमात्मा के सामने क्या जवाब दूंगा कि आखिरी दिन भरोसा खो दिया। और क्या जिसने जिन्दगी भर बचाया, वह रात को वैद्य नहीं भेज सकता था और जिसने जिन्दगी भर भोजन दिया, वह रात को दवा नहीं दे सकता था? आखिरी वक्त मुझे परेशानी में मत डाल। अब मरने के वक्त जब मैं उसके सामने जाऊंगा तो क्या मुंह लेकर जाऊंगा? वह मुझसे पूछेगा, मुझे छोड़कर पांच रुपए पर भरोसा किया, तो मैं तुझे कमजोर और पांच रुपए ज्यादा ताकतवर मालूम पड़े? जब जरूरत न थी, तब मैं तुझे सहयोगी लगता था और जब जरूरत पड़ी, तो रुपया सहयोगी हुआ! वह निकाल ला।" पत्नी घबरा कर रुपए बाहर निकाल लाई। मुहम्मद ने कहा, जा बाहर किसी को दे आ।

पत्नी यह देखकर बड़ी हैरान हुई कि सामने एक भिखारी खड़ा है। उस भिखारी ने कहा, मैं बड़ी विपत्ति में पड़ गया हूं। साथी मेरा बीमार पड़ा है और दवा की जरूरत है। मैं सोचता था, आधी रात में कौन देगा? अपने आप दरवाजा खुल गया और ये पांच रुपए तू दे रही है! मुहम्मद ने अपनी पत्नी को कहा, देख, उसके रास्ते अनूठे हैं। जिसको जरूरत थी, उसको रुपए मिल गए और जिसने बचाया था, उसके हाथ से चले गए। और जैसे ही वे रुपए दे दिए गए, मुहम्मद ने चादर ओढ़ ली और अपनी पत्नी से कहा, अब मैं निश्चिन्त मर सकता हूं। तत्क्षण उनकी श्वास निकल गई। जो जानते हैं, वे कहते हैं, वह श्वास इसलिए अटकी थी। वे पांच रुपए बहुत भारी पड़े। वे बहुत वजनी थे।

अकल्पित भिक्षाशी। संन्यासी कल्पना नहीं करता है—भिक्षा की ही नहीं, किसी चीज की कल्पना नहीं करता। किसी चीज की योजना नहीं बनाकर चलता। कुछ मिल जाए, ऐसा कोई सवाल नहीं है। जो मिल जाए, उसके लिए धन्यवाद और जो न मिले, उसके लिए भी उतना ही धन्यवाद। इसका अर्थ है कि वह अपने पर नहीं जीता, परमात्मा पर छोड़कर जीता है। परमात्मा जहां ले जाए, वहीं चला जाता है। दुख में तो दुख में, सुख में तो सुख में। महलों में तो महलों में सही और झोंपड़ों में तो झोंपड़ों में सही। परमात्मा जहां ले जाए, उसके हाथ में अपने को छोड़ देता है।

छोटे बच्चे को देखा है कभी? बाप का हाथ पकड़ कर रास्ते पर चलता होता है, तो वह बिल्कुल फिक्र नहीं करता। कहां जा रहा है, कहां ले जाया जा रहा है? जब बाप के हाथ में हाथ है, तो बात खत्म हो गई। अकल्पित भिक्षाशी। जब परमात्मा के हाथ में छोड़ दिया सब, तो अब बात खत्म हो गई। वह जो करवाए, वही ठीक है। उसी के लिए मन राजी है, उसकी स्वीकृति है।

हंस-जैसा उसका आचार है। हंस जैसा उसका आचरण है। हंस के आचरण की दो खूबियां हैं, वह ख्याल में ले लें। संन्यासी के आचरण की खूबियां भी वे

ही हैं।

एक तो मैंने आपसे पीछे कहा कि हंस की यह कल्पित क्षमता है, वैज्ञानिक न भी हो, काव्य-क्षमता है कि वह पानी और दूध को अलग कर लेता है। असार और सार को अलग कर लेता है। वह जो संन्यासी का जागा हुआ विवेक है, वह तलवार की तरह असार को और सार को काट कर अलग कर देता है। जस्ट लाइक ए सोर्ड—तलवार की तरह दो टुकड़े में कर देता है।

हंस की एक दूसरी क्षमता है, वह भी काव्य-क्षमता है। वह है कि हंस मोती के अतिरिक्त और कुछ आहार नहीं लेता। मर जाए, पर मोती ही चुनता है। तो संन्यासी भी मर जाए, पदार्थ नहीं चुनता, परमात्मा ही चुनता है। हर हालत में चुनाव उसका मोतियों का है, कंकड़-पत्थरों का नहीं। मौत के लिए राजी हो जाएगा, लेकिन कंकड़-पत्थरों के लिए राजी नहीं होगा। उसका चुनाव श्रेष्ठ का ही है। शुभ का, सुन्दर का, सत्य का ही उसका चुनाव है। यह जो हंस की क्षमता है, यह संन्यासी का आचरण है।

सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाली एक आत्मा ही हंस है, इसको ही वे प्रतिपादित करते हैं। जीवन से, शब्दों से, वाणी से, आचरण से एक ही बात वे प्रतिपादित करते हैं कि सबके भीतर जो बसा है, वह ऐसा ही परमहंस है। सबके भीतर ऐसी ही आत्मा का आवास है। सबके भीतर ऐसी ही चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है। जो जानते हैं, उनके भीतर भी और जो नहीं जानते हैं उनके भीतर भी। जो अपने आप आंख बन्द किए खड़े हैं, उनके भीतर भी वही परमात्मा है, जो द्वार बन्द किए हैं, उनके भीतर भी; जो आंख खोलकर देखते हैं, उनके भीतर भी। फर्क भीतर के परमात्मा का नहीं है, फर्क भीतर के परमात्मा से परिचित या अपरिचित होने का है। परम ज्ञानी है और परम अज्ञानी में जो फर्क है, वह स्वभाव का नहीं है; वह फर्क केवल बोध का है, अवेयरनेस का है।

मैं हूं, जेब में हीरे पड़े हैं, और मुझे पता नहीं। आपकी जेब में हीरे पड़े हैं और आपको पता है। जहां तक सम्पदा का सम्बन्ध है, हम दोनों में कोई भी भेद नहीं है। लेकिन फिर भी मैं निर्धन रहूंगा, क्योंकि मुझे अपनी सम्पदा का कोई पता ही नहीं है। आप धनवान रहेंगे, क्योंकि आपको अपनी सम्पदा का पता है। सम्पदा मेरे पास उतनी ही है, जितनी आपके पास है; लेकिन उस सम्पदा का क्या मूल्य, जिसका हमें पता ही न हो। उस तिजोरी का क्या मूल्य जो हमें मालूम ही न हो कि वह है। उस हीरे का क्या कीजिएगा, जिसको हम पत्थर समझ कर घर के एक कोने में डाल रखे हैं। पर इससे फर्क नहीं पड़ता। वह सम्पदा हमारी है।

यही ऋषि उपदेश करते हैं। यही वे समझाते रहते हैं—अहर्निश, सब रूपों में, सब भांति। वे सब प्रकार से एक ही बात समझाते रहते हैं कि जो उनके भीतर है,

वही तुम्हारे भीतर है। और सबके भीतर वही है। यह भरोसा एक बार आ जाए, यह ट्रस्ट एक बार आ जाए कि मेरे भीतर भी वही है, तो शायद मैं छलांग लगाने के लिए तैयार हो जाऊं।

शायद यह स्मरण एक बार आ जाए कि वही मेरे भीतर भी है, तो शायद मैं खोज पर निकल जाऊं। खोजने के लिए तैयार हो जाऊं! कोई कह दे कि वह खजाना मेरे घर के नीचे भी गड़ा है, तो शायद मैं कुदाली उठा लूं। आलसी आदमी हूं, सोया पड़ा रहता हूं, लेकिन खजाने की याद्दाश्त कोई दिला दे तो शायद मैं आलस्य में पड़ा रहने वाला, सोने वाला भी उठ जाऊं। दो-चार हाथ चलाऊं, तो शायद नीचे के घड़ों की आवाज आने लगे। और थोड़ा आगे बढ़ूं तो शायद घड़े मिल जाएं। घड़ों को फोड़ूं, तो शायद खजाना मिल जाए।

तो ऋषि निरन्तर कहते रहते हैं। उनकी श्वास-श्वास एक ही बात बन जाती है कि वह लोगों को याद दिलाते रहें कि वह परमहंस सबके भीतर छिपा हुआ है।

●

धैर्य कन्था ।
उदासीन कौपीनम् ।
विचार दण्ड: ।
ब्रह्मावलोक योग पट्ट: ।
श्रियां पादुका: ।
परेच्छाचरणम् ।
कुण्डलिनी बन्ध: ।
परापवाद मुक्तो जीवनमुक्त: ।

धैर्य उनकी कन्था (संन्यासियों की गुदड़ी, झोली) है ।
उदासीन वृत्ति लंगोटी है ।
विचार दण्ड है ।
ब्रह्मदर्शन योग-पट्ट है ।
सम्पत्ति उनकी पादुका है ।
परात्पर की अभीप्सा ही उनका आचरण है ।
कुण्डलिनी उनकी बंध है ।
जो दूसरों की निन्दा से रहित है, वह जीवनमुक्त है ।

प्रवचन : ६

साधना शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक २६ सितम्बर, १६७१

अनन्त धैर्य, अचुनाव जीवन और परात्पर की अभीप्सा

धैर्य उनकी कन्था—गुदड़ी—है । धैर्य को कई दिशाओं से समझना चाहिए । शायद धैर्य से बड़ी कोई क्षमता नहीं है । और जो सत्य की खोज पर निकले हों, उनके लिए तो धैर्य के अतिरिक्त और कोई सहारा भी नहीं है । धैर्य का अर्थ है अनन्त प्रतीक्षा की क्षमता—टु वेट इनडेफिनिटली । आज ही मिल जाए सत्य, अभी मिल जाए सत्य, ऐसी मन की वासना हो तो सत्य कभी नहीं मिलता । मैं प्रतीक्षा करूंगा, कभी भी मिल जाए सत्य । मैं मार्ग देखता रहूंगा, राह देखता रहूंगा, बाट देखता रहूंगा । अनंत-अनंत जन्मों में, कभी भी जब उसकी कृपा होगी मिल जाए, ऐसी मनोदशा हो तो सत्य अभी और यहीं मिल सकता है । जितना बड़ा धैर्य, उतनी ही जल्दी घटना होती है; जितना ओछा धैर्य, उतनी ही देर लगती है ।

प्रभु की तरफ पहुंचने के लिए प्यास तो गहरी चाहिए, लेकिन अधैर्य नहीं । अभीप्सा तो पूर्ण चाहिए, लेकिन जल्दबाजी नहीं । जितनी बड़ी चीज को हम खोजने निकले हैं उतनी ही मार्ग देखने की तैयारी चाहिए । और कभी भी घटे, घटता जल्दी ही है, क्योंकि जो मिलती है उसे समय से नहीं तौला जा सकता । अनन्त-अनन्त जन्मों के बाद भी प्रभु का मिलन हो, तो बहुत जल्दी हो गया । कभी भी देर नहीं है । क्योंकि जो मिलता है, उस पर अगर ध्यान दें, तो अनन्त-अनन्त जन्मों की यात्रा भी कुछ नहीं है । जो मंजिल मिलती है, उस पर पहुंचने के लिए कितना भी भटकाव कुछ नहीं है ।

तो ऋषि कहता है, धैर्य कन्था । संन्यासी के कन्धे पर जो झोली टंगी होती है, उसका नाम है कन्था । ऋषि कहता है, वस्तुतः संन्यासी की जो गुदड़ी है, झोली है, वह है धैर्य । और धीरज की इस गुदड़ी में बड़े हीरे आ जाते हैं । धैर्य तो हमारे भीतर जरा भी नहीं है । क्षुद्र के लिए तो हम प्रतीक्षा भी कर लें, विराट् के लिए हम जरा भी प्रतीक्षा नहीं करना चाहते । एक व्यक्ति साधारण-सी शिक्षा पाने विश्वविद्यालय की यात्रा पर निकलता है, तो कोई सोलह-सत्रह वर्ष स्नातक

होने के लिए लग जाते हैं। पाता कुछ नहीं। कचरा लेकर घर लौट आता है; लेकिन अगर कोई व्यक्ति ध्यान की यात्रा पर निकलता है, तो वह पहले दिन ही आकर मुझे कहता है कि एक दिन बीत गया, अभी तो कुछ नहीं हुआ।

क्षुद्र के लिए हम कितनी प्रतीक्षा करने को तैयार हैं, विराट् के लिए कोई प्रतीक्षा नहीं। इससे एक ही बात का पता चलता है कि शायद हमें ख्याल ही नहीं है कि विराट् क्या है। और शायद हमारी चाह इतनी कम है कि हम प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं। क्षुद्र की हमारी चाह बहुत है, इसलिए हम प्रतीक्षा करने को राजी हैं। एक आदमी थोड़े-से रुपए कमाने के लिए पूरा जीवन दांव पर लगाता है और प्रतीक्षा करता है कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों रुपए मिलेंगे ही। चाह गहरी है, इसलिए धन पाने की प्रतीक्षा करता है। परमात्मा के लिए वह सोचता है कि एकाध बैठक में ही उपलब्ध हो जाए और वह बैठक भी तब हो जब उसके पास अतिरिक्त समय हो, जो धन की खोज से बच जाता हो। छुट्टी का दिन हो, अवकाश का समय हो तभी। और फिर वह चाहता है कि जल्दी निपट जाए।

यह जल्दी निपटा देने की बात बताती है कि ऐसी कोई चाह नहीं है कि हम पूरा जीवन दांव पर लगा दें। और ध्यान रहे, विराट् तब तक उपलब्ध नहीं होता, जब तक कोई अपना सब कुछ समर्पित करने को तैयार न हो। सब कुछ समर्पित करना भी कोई बारगेन नहीं है, कोई सौदा नहीं है। नहीं तो आप कहें कि मैंने सब कुछ समर्पित कर दिया, अभी नहीं मिला। अगर इतना भी सौदा मन में है कि मैंने सब समर्पित कर दिया, तो मुझे प्रभु मिलना चाहिए, तो भी नहीं मिल सकेगा। क्योंकि हमारे पास क्या है, जिससे हम प्रभु को खरीद सकें। क्या छोड़ेंगे आप? छोड़ने को है क्या आपके पास? आपका कुछ है ही नहीं, जिसे आप छोड़ें। सभी कुछ उसी का है। उसी का उसी को देकर सौदा करेंगे?

क्या है हमारे पास? शरीर हमारा है? जमीन हमारी है? और हो सकता है, धन भी हमारा हो, जमीन भी हमारी हो, लेकिन एक बात पक्की है कि भीतर गहरे में वह जो हमारे भीतर छिपा है, वह हमारा बिल्कुल नहीं है। क्योंकि न तो हमने उसे बनाया है, न हमने उसे खोजा है, न हमने उसे पाया है। तो धन तो हो भी सकता है आपको हो, लेकिन आप अपने बिल्कुल नहीं हैं। क्योंकि कह सकते हैं कि धन मैंने कमाया। लेकिन यह जो भीतर दीया जल रहा है चेतना का, यह तो प्रभु का ही दिया हुआ है। आपका इसमें कुछ भी नहीं है। आप अपने बिल्कुल नहीं हैं, इसलिए देंगे क्या।

मारपा तिब्बत का एक बहुत अद्भुत कवि है। वह अपने गुरु के पास पहुंचा, तो उसके गुरु ने कहा कि तू सब दान कर दे। मारपा ने कहा, लेकिन मेरा अपना कुछ है कहां? गुरु ने कहा कि कम से कम तू अपने को समर्पित कर दे। तो

मारपा ने कहा, मैं! मैं तो उसका ही हूं। समर्पण करके, उसकी चीज उसी को लौटा कर, कौन-सा गौरव होगा! तो उसके गुरु ने कहा, भाग जा, अब दुबारा इस तरफ मत आना। क्योंकि जो मैं तुझे दे सकता था, वह तो तुझे मिल ही गया है। वह तेरे पास है। मारपा ने कहा, मैं फिर कोई जानने वाला पहचान ले, इसलिए आपके चरणों में आया हूं। अनजान हूं जो मिल गया है, उसे भी पहचान नहीं पाता, क्योंकि पहले वह कभी मिला नहीं था। आपने कह दिया, मुहर लगा दी। असल में गुरु की अन्तिम जरूरत साधना के शुरू के चरणों में नहीं पड़ती, अन्तिम जरूरत तो उस दिन पड़ती है, जिस दिन घटना घटती है। उस दिन कोई चाहिए, जो कह दे कि हां, हो गया। क्योंकि पहले तो कभी जाना हुआ नहीं है, उस लोक में प्रवेश हो जाता है, रिकगनीशन नहीं होता, पहचान नहीं होती कि हो गया है, वह क्या है। गुरु की जो जरूरत प्राथमिक चरणों में पड़ती है, वह बहुत साधारण है। अन्तिम क्षण में गुरु की जरूरत बहुत असाधारण है कि वह कह दे कि हां, वह बात हो गई जिसकी तलाश थी। वह गवाह बन जाए, वह साक्षी बन जाए।

धैर्य का अर्थ है, हमारे पास न दांव पर लगाने को कुछ है, न परमात्मा को प्रत्युत्तर देने को कुछ है, न सौदा करने के लिए कुछ है। हमारे पास कुछ भी नहीं है। मांग हमारी है कि परमात्मा मिले। प्रतीक्षा तो करनी पड़ेगी। धैर्य तो रखना पड़ेगा और अनन्त रखना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि चुक जाए कि दो-चार दिन बाद फिर हम पूछने लगें। तो उसमें वैसा ही नुकसान होता है, जैसे छोटे बच्चे कभी आम की गुठली को गाड़ देते हैं जमीन में और दिन में चार दफे उखाड़ कर देख लेते हैं, कि अभी तक अंकुर नहीं निकला? अधैर्य है तो अंकुर कभी नहीं निकलेगा। इस चार दफे उखाड़ने में अंकुर कभी नहीं निकलेगा। अंकुर निकलने का मौका भी तो नहीं मिल पा रहा है, अवसर भी नहीं मिल पा रहा है।

जमीन में बीज को बोकर भूल जाना चाहिए, प्रतीक्षा करनी चाहिए। हां, पानी डालें जरूर, पर अब बीज को उखाड़-उखाड़ कर मत देखते रहें कि अभी तक बीज फूटा, नहीं फूटा। तो फिर कभी नहीं फूटेगा, और ऐसे बीज खराब भी हो जाते हैं। तो ध्यान करके हर बार न पूछें कि अभी पहुंचे, कि नहीं पहुंचे। बोते जाएं, सींचते जाएं। जब अंकुर निकलेगा, तो पता चल जाएगा। जल्दी न करें, बार-बार उखाड़ कर मत देखें।

एक सूफी फकीर हुआ बायजीद। यह अपने गुरु के घर बारह वर्षों तक था। बारह वर्षों तक उसने यह भी न पूछा कि मैं क्या करूं। बारह वर्ष बाद एक दिन गुरु ने कहा, बायजीद, किसलिए आया है, कुछ पूछता भी नहीं। तो बायजीद ने कहा, प्रतीक्षा करता हूं। जब आप पाएंगे कि मैं योग्य हूं, तो आप खुद ही कह देंगे। यह संन्यासी का लक्षण है। बारह वर्ष! सांझ आकर पैर दाब जाता है,

सुबह कमरा साफ कर देता है, चुपचाप बैठ जाता है, दिन भर बैठा रहता है। रात जब गुरु कहता है कि अब मैं सो जाता हूं, तब चला जाता है। बारह वर्ष बाद गुरु पूछता है बायजीद, बहुत दिन हो गए तुझे आए, कुछ पूछता नहीं। बायजीद ने कहा, जब मेरी पात्रता होगी, जब आप समझेंगे कि क्षण आ गया कुछ कहने का, तो आप ही कहेंगे। मैं राह देखता हूं। जो मैं पूछता उससे मुझे जो मिलता, वह इस राह देखने में अनायास मिल गया। अब मैं बिल्कुल शान्त हो गया हूं। बारह वर्ष कुछ किया नहीं, बैठकर आतुर परीक्षा की। मैं ' कदम शान्त हो गया। भीतर कोई विचार नहीं रह गया।

आतुरता विचार ला देती है। जल्दबाजी विचार पैदा करवा देती है। अगर प्रतीक्षा हो, तो विचार शान्त हो जाते हैं। जल्दी कुछ हो जाए, इसी से मन में तूफान उठते हैं। कभी भी हो जाए, जब होना हो। और न भी हो, तो भी परमात्मा पर छोड़ देने का नाम प्रतीक्षा है। कोई शिकायत नहीं। धैर्य उनकी गुदड़ी है अर्थात् कोई शिकायत नहीं। वह जो दिखाए ठीक, वह जो न दिखाए ठीक। अन्तहीन प्रतीक्षा—इसका यह अर्थ नहीं है कि बात अन्तहीन हो जाती है। इतनी तैयारी हो, तो इसी क्षण बात घट जाती है; क्योंकि इतनी तैयारी वाले व्यक्ति के लिए अब और रोकने का कोई कारण नहीं। जिसके पास धैर्य की गुदड़ी है, उसके पास सत्य का धन तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है।

उदासीन वृत्ति उनकी लंगोटी है। उदासीन वृत्ति को थोड़ा समझ लें। साधारणत: जो हम उदासीन से समझते हैं, वह अर्थ नहीं है! उदासीन से हम समझते हैं कि जो व्यक्ति, जहां-जहां वासनाएं रस लेती हैं, वहां-वहां अपने को उदास रखता है, दूर रखता है। रस नहीं लेता। विराग रखता है, विरस रहता है। जहां-जहां इन्द्रियां मांग करती हैं, वहां-वहां अपने को रोक लेता है। नहीं, उदासीन का यह अर्थ नहीं है। अगर व्यक्ति अपने को पोजिटिवली, विधायक रूप से रोकता है, तो फिर उदासीन नहीं रहा। चुनाव शुरू हो गया।

मेरे मन ने कहा, यह बड़ा भवन मुझे मिल जाए, पर मैंने कहा कि नहीं लूंगा। मैं उदासीन हूं, मैं इस महल की तरफ देखूंगा ही नहीं। मैं सिर नीचा करके, आंख बन्द करके गुजर जाऊंगा। मैं उदासीन नहीं रहा, मैंने पक्ष ले लिया। मेरे भीतर दो पक्ष हो गए। एक, जो मांग करता था कि यह महल मिल जाए, और एक जो कहता था कि नहीं, महल से क्या होगा? इन दो पक्षों में मैंने एक पक्ष ले लिया, तो मैं उदासीन न रहा। उदासीन का अर्थ है कि मन का एक कोना कहता है महल मिल जाए, मन का एक कोना कहता है कि नहीं लेंगे, क्या रखा है महल में! तो इन दोनों के प्रति जो दूर खड़ा रहे, तटस्थ रह जाए, न्यूट्रल हो जाए, चुनाव न करे, च्वायसलेस हो। मन की ये दोनों बात चलती रहें, लेकिन द्वन्द्व में से कुछ भी न चुने।

उदासीनता अचुनाव है। उदासीनता का अर्थ है कि हम द्वन्द्व में कोई भी चुनाव नहीं करते। मन का एक हिस्सा कहता है, क्रोध करो; मन का दूसरा हिस्सा कहता है, क्रोध जहर है। न हम मन के पहले हिस्से की सुनते हैं, न हम मन के दूसरे हिस्से की सुनते हैं। हम दूर खड़े होकर दोनों ही हिस्सों को देखते हैं। न हम यह किनारा चुनते हैं, न वह किनारा चुनते हैं। हम कुछ चुनते ही नहीं। अचुनाव उदासीनता है। और प्रतिपल मन द्वन्द्व खड़े करता है क्योंकि मन का स्वभाव द्वन्द्व है—टु बी डुअल। मन एक-सा जी नहीं सकता। मन दो होकर ही जीता है।

आपने मन में कोई ऐसी लहर न पाई होगी जिसकी विपरीत लहर मन तत्काल पैदा नहीं कर देता। जहां आकर्षण होता है, तत्काल वहां विकर्षण पैदा हो जाता है। मन का एक हिस्सा कहता है, बाएं चलो; दूसरा हिस्सा फौरन कहता है, दाएं चलो। मन सदा ही द्वन्द्व खड़ा करता है। मन का स्वभाव द्वन्द्व है। अगर मन निर्द्वन्द्व हो जाए, तो मर जाए; अगर द्वन्द्व खो जाए, तो मन समाप्त हो जाए। अगर इस द्वन्द्व में से आपने कुछ भी चुना, तो आप मन के साथ ही हैं। और जिसको आप चुनेंगे, उसके विपरीत जो है वह मौजूद रहेगा, वह मिटेगा नहीं। वह प्रतीक्षा करेगा आपकी कि ठहरो, थोड़े दिन में ऊब जाओगे उस चुनाव से, फिर मुझे चुन लोगे। यही तो हो रहा है पूरे वक्त।

एक स्त्री को आप प्रेम करते हैं या एक पुरुष को आप प्रेम करते हैं, मन उस वक्त भी द्वन्द्व में होता है। मन का एक हिस्सा कहता है कि ठीक है, बहुत प्रीतिकर है, साथ रहें। मन का एक कोने का हिस्सा कहता है कि कहां फंस रहे हो, किस उपद्रव में जा रहे हो, मुसीबत में पड़ोगे। फिर इसमें जो मेजर पार्ट होता है, जो हिस्सा वजनी मालूम पड़ता है, उस क्षण वासना का आप चुनाव कर लेते हैं। दूसरा पड़ा रह जाता है। थोड़े ही दिन में उस स्त्री या उस पुरुष के साथ रहकर दुख शुरू होते हैं, क्योंकि दूरी में सब आकर्षण है। पास आते ही डिस-इल्यूजमेंट शुरू हो जाता है, सारे आकर्षण गिरने शुरू हो जाते हैं। वह स्त्री, जो अप्सरा मालूम पड़ती थी, चार दिन साथ रहने के बाद साधारण स्त्री हो जाती है। बीच का सम्मोहन गिर जाता है। जिसके शरीर से सुगन्ध मालूम होती थी, अब उसके शरीर से पसीने की दुर्गन्ध आने लगती है। जो हाथ ऐसे मालूम पड़ते थे कि छू लेंगे तो शायद फूलों का स्पर्श होगा, अब ऐसा होता है कि ये हाथ भी ठीक हड्डी और मांस के हाथ हैं, और सब बात साधारण हो जाती है।

फ्रांस के एक बहुत विचारशील व्यक्ति आस्कर वाइल्ड ने एक बात अपनी डायरी में जीवन भर के अनुभवों के बाद लिखी है। लिखा है, 'देयर आर टू मिसफारच्यून्स इन मैन्स लाइफ, वन इज नाट टू गेट द वन, वन लव्ज, एण्ड द अदर इज टू गेट हिम आर हर, एण्ड द सेकेन्ड वन इज द वर्स।' दो ही दुर्भाग्य हैं

मनुष्य के जीवन में। एक, जिसे प्रेम करते हैं, उसे न पा सकें। दूसरा, जिसे प्रेम करते है, उसे पा सकें। और दूसरा पहले से बदतर है। क्योंकि जिसे हम प्रेम करते हैं, उसे अगर हम न पा सकें, तो सम्मोहन सदा के लिए बना रह जाता है।

मजनूं को पता नहीं है असली दुर्भाग्य का। असली दुर्भाग्य तब होता जब लैला मिल जाती। बच गए, असली दुर्भाग्य से बच गए। नहीं मिली, सपना कायम रहा, आशा जगती रही, वासना प्रज्ज्वलित रही। मिल जाती तो जैसे आग पर पानी पड़ जाए, ऐसी लैला-मजनूं पर पड़ जाती। आस्कर वाइल्ड कहता है कि दूसरा पहले से बदतर है। दुर्भाग्य तो दोनों हैं, क्योंकि पहले में भी परेशानी है और दूसरे में भी परेशानी है, लेकिन फिर भी पहला बेहतर है, क्योंकि परेशानी में भी एक रस है, दूसरी परेशानी में रस भी नहीं है। लेकिन मन दोनों ही बातें पैदा करता है। पहले कहता है, पाओ। पा लेने पर कहता है, क्या रखा है। यह जो क्या रखा है, यह पहले भी मौजूद था, सिर्फ यह माइनर पार्ट था। इसलिए दबा पड़ा रहा। यह प्रतीक्षा करेगा कि मेरा भी अवसर तो आएगा। तब मैं ऊपर उठ आऊंगा और कहूंगा, देखो, पहले ही कहा था। सुना नहीं, अब मुसीबत में पड़ गए हो।

मन द्वन्द्व में जीता है। आप ऐसी कोई चीज नहीं चाह सकते, जिसके प्रति एक दिन अचाह पैदा न हो। आप ऐसा कोई प्रेम नहीं कर सकते, जिसमें आपको किसी दिन घृणा न जन्म जाए। आप ऐसा कोई मित्र नहीं बना सकते, जो किसी दिन शत्रु न हो जाए। जो भी चाहा जाएगा, उसका भ्रम टूटेगा। आप ऐसी कोई चीज नहीं पा सकते, जो एक दिन ऐसा न लगे कि गले में फांसी लग गई। इतनी मेहनत करके जो हम पाते हैं, अपनी ही फांसी बनाते हैं।

वोल्तेयर ने लिखा है कि एक वक्त था, जब मुझे कोई भी नहीं जानता था। रास्ते से जब मैं गुजरता था, तब बहुत पीड़ित होता था कि कोई नमस्कार भी नहीं करता। मन में एक ही आकांक्षा थी कि कब वह दिन आएगा कि लोग मुझे भी जानेंगे और जहां से गुजर जाऊंगा, आंखें मेरी तरफ फिर जाएंगी। वह दिन आ गया—दूसरे नम्बर का दुर्भाग्य। वोल्तेयर की हालत यह हो गई कि पुलिस को उसे चोरी से छिपाकर उसके घर पहुंचाना पड़ता था। क्योंकि इतने लोग उसको मानने लगे कि वह कपड़े पहने हुए घर नहीं पहुंच सकता था। फ्रांस में ऐसा रिवाज है कि जिसे हम आदर करते हैं, उसके कपड़े के टुकड़े का ताबीज बनता है। तो घर पहुंचने तक उसके कपड़े फट जाते थे। वोल्तेयर ने कहा, हे भगवान, किसी तरह इनसे बचाओ। इससे तो पहली वाली हालत अच्छी थी। कम से कम सुरक्षित घर तो आ जाते थे। अब तो कभी भीड़ में वह लुट भी जाता, हाथ में चोट लग जाती, क्योंकि लोग कपड़े फाड़ते। वह दिन फिर आ गया। वक्त बदलने में देर नहीं लगती, जैसा मौसम बदलने में देर नहीं लगती। लोगों के मन का क्या भरोसा है, क्षण-क्षण में बदल जाते हैं। वह वक्त फिर आ गया, वोल्तेयर

बदनाम हो गया। मरते वक्त वोल्तेयर को मरघट पहुंचाने चार प्राणी गए थे, तीन उसके मित्र और एक कुत्ता। लोग भूल चुके थे। मरते वक्त फिर वही पीड़ा थी। वह उतर आता है स्टेशन पर, कोई लेने नहीं आता। रास्ते से गुजरता है, कोई ख्याल नहीं करता। जब उसके मरने की खबर सुनी, तभी अनेक लोगों ने कहा, अरे, वोल्तेयर अभी जिन्दा था! हम तो समझते थे कि कभी का मर चुका होगा। बहुत दिनों से उसका नाम नहीं देखा, सुना नहीं।

जो भी हो जाए, उसी से मन दूसरे पहलू पर लौटने लगता है। यश मिल जाए, तो यश से परेशानी हो जाती है। यश न मिले, तो न मिलने से परेशानी होती है। धन मिल जाए, तो परेशानी देता है, धन न मिले, तो परेशानी होती है। इस संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो दोनों हालत में परेशानी न दे और उसका कारण है कि मन सदा द्वन्द्व में जीता है। एक को चुना कि दूसरा भी तैयार हो गया। जब यह थक जाएगा, तो दूसरा ऊपर आ जाता है।

उदासीन का अर्थ है जो चुनाव ही नहीं करता। इसलिए उदासीन धन्यभागी है, क्योंकि उदासीन दुखी नहीं हो सकता। वह जो आस्कर वाइल्ड ने दो विकल्प कहे, वह दोनों ही विकल्प नहीं चुनता। वह कहता है, हम मन का कोई भी विकल्प नहीं चुनते। हम मन में चुनाव ही नहीं करते। हम कहते हैं, मन, तुझे जो करना है, कर। हम दूर ही खड़े हैं। हम तुझे न चुनेंगे। न यह, न वह। न पक्ष, न विपक्ष। हम तटस्थ हैं!

उदासीनता बड़ी अद्भुत शांति है, क्योंकि जब आप मन का चुनाव ही नहीं करते, तो धीरे-धीरे दोनों द्वन्द्व मर जाते हैं। वे चुनाव से ही जीते हैं, आपके सहयोग से ही जीते हैं। दोनों धीरे-धीरे सूख जाते हैं, उनको जल मिलना बन्द हो जाता है। और जिस दिन मन का द्वन्द्व सूख जाता है, उसी दिन मन भी सूख जाता है। इसलिए ऋषि ने कहा, उदासीनता उनकी लंगोटी है। वे प्रतीक की तरह बात कर रहे हैं, ताकि ख्याल में आ जाए कि क्या है संन्यासी का रूप।

विचार उनका दण्ड है—विचार दण्डः। उनके हाथ की जो लकड़ी है, वह है विचार। लेकिन यहां विचार से क्या अर्थ है, वह थोड़ा समझ लें। विचार एक बात है और विचारों की भीड़ बिल्कुल दूसरी बात है। अगर एक विचार हो, तो हाथ की लकड़ी बन सकता है और अगर बहुत विचार हों, तो हाथ की लकड़ी नहीं बनता है। फिर सिर पर लकड़ी का गट्ठर बन जाता है। वह सहारा नहीं रहता, बोझ हो जाता है। विचारों में नहीं है संन्यासी, वह विचार में है। एक तो फर्क यह समझ लें कि हम सदा विचारों में होते हैं, विचार में नहीं। हमारे भीतर एक भीड़ होती है विचारों की। निर्जन, एकांत, अकेला विचार हमारे भीतर कभी नहीं होता। असंगत विचारों की भीड़ होती है। हम एक से दूसरे पर छलांग लगाते रहते हैं। विपरीत भीड़ होती है। एक विचार यह और उसका उल्टा भी वहीं

मौजूद होता है। उसके पीछे ही खड़ा होता है। अनेक विचार साथ ही खड़े रहते हैं। वही तो हमारी विक्षिप्तता है, पागलपन है, इनसेनिटी है।

विचारों के बीच हम सिर्फ दब जाते हैं। और जब विचार का आधिक्य हो जाता है, तो विवेक क्षीण हो जाता है। जैसे आकाश बदलियों में दब जाए, या किसी झील पर पत्ते ही पत्ते फैल जाएं और झील का जल दिखाई पड़ना बन्द हो जाए, ऐसे ही हमारे भीतर जो विवेक है, चेतना है, वह विचारों के पत्तों में दब जाता है। उसका फिर हमें पता ही नहीं चलता।

विचार दण्ड है अर्थात् संन्यासी अपनी चेतना के समक्ष एक विचार से ज्यादा को एक साथ नहीं आने देता। क्योंकि एक आवे, तभी उसकी परीक्षा हो सकती है, एक आवे, तभी उसकी चेतना जांच और परख सकती है। एक आवे, तो चेतना निर्णय कर सकती है। एक आवे, तो तत्काल दिखाई पड़ जाता है कि ठीक है या गलत। सोचना नहीं पड़ता। लेकिन एक फर्क और समझ लें।

यहां विचार से अर्थ थॉट का भी नहीं है, थिंकिंग का है। एक तो विचार का अर्थ होता है विचार—ऑबजेक्टिव। जैसे आपके भीतर एक विचार आया कि भूख लगी है, खाना खाना चाहिए। नींद आ रही है, सो जाना चाहिए। एक विचार आपके भीतर आया। इस विचार में आने से जरूरी नहीं है कि आप विचारवान हों या आपके भीतर थिंकिंग की, विचारणा की क्षमता हो। क्योंकि जब आपको ख्याल आया कि भूख लगी, तब विचारवान जो है, वह इसी विचार से नहीं जिएगा। वह इस विचार पर भी विचार करेगा। एक दूसरी परत पर खड़े होकर विचार करेगा। क्या सच में भूख लगी है?

बहुत बार तो सच में भूख नहीं लगती। सिर्फ आदत से लगती है। अगर एक बजे खाना खाते हैं और घड़ी ने एक घण्टा बजा दिया, तो बस विचार आ जाता है कि भूख लगी। वह भूख सच्ची नहीं है। अगर घड़ी में गलती से, बारह ही बजे हों और एक घण्टा बजा दिया हो, तो भी भूख लग आती है। वह भूख सच में नहीं लगती। अगर आप घण्टे भर रुक जाएं, तो वह भूख, चूंकि सच्ची नहीं थी, सिर्फ हैबीच्युअल थी, आदतन थी—तो घण्टे भर बाद आप पाएंगे कि भूख मर गई। अगर भूख सच्ची हो, तो घण्टे भर बाद और बढ़ जानी चाहिए। लेकिन झूठी भूख घण्टे भर बाद मर जाएगी, क्योंकि मन तो सिर्फ यंत्रवत् चल रहा है।

आपके भीतर जो विचार चलते हैं, वे आदतन हैं। वह आपकी चिन्तना का परिणाम नहीं है। वह आपके होश से नहीं जन्मे हैं, वे आपकी पुरानी जड़ आदतों, आपके अतीत और आपकी स्मृति की पैदाइश हैं—मेमोरी प्रोडक्ट हैं। एक आदत का समूह बना हुआ है, वह रोज काम करता रहता है। आप घर आते हैं, तो आपको सोचना थोड़े ही पड़ता है, विचार थोड़े ही करना पड़ता है कि अब बाएं घूमें, अब दाएं घूमें, अब अपने घर में जाएं, अब घर आ गया तो साइकिल का ब्रेक लगाएं।

ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। आपकी खोपड़ी में हजार चीजें चलती रह सकती हैं। हाथ वक्त पर ब्रेक लगाता है, हाथ साइकिल को मोड़ देता है। बाएं घूम जाते हैं, दाएं घूम जाते हैं, घर के पास पहुंच जाते है। कभी आपने ख्याल किया है कि आपको साइकिल चलाते वक्त सोचना नहीं पड़ता कि अब कहां, अब किस तरफ, आदतन सब हो जाता है। जरूरी भी है, क्योंकि जिन्दगी में अगर सभी चीजें सोचनी पड़ें, तो बहुत मुश्किल हो जाए जिन्दगी चलानी। अगर रोज-रोज सोचना पड़े कि क्या यह अपना ही घर है! बाहर खड़े होकर अगर यह विचार करें, तो मुश्किल हो जाए। ऐसे लोग भी हैं जिनको रोज सोचना पड़ता है कि अपना ही घर है!

मुल्ला नसरुद्दीन की जब शादी हुई तो पत्नी पहले ही दिन बहुत परेशान हो गई। अपने पड़ोसी से उसने कहा कि मैं तो बहुत दुखी हो गई हूं। पड़ोसी ने कहा, क्या हो गया पहले ही दिन। उसने कहा, जब खाना खाकर मुल्ला उठा तो उसने मेरे हाथ में टिप रख दी। तो उसके पड़ोसी ने कहा, इसमें कोई ऐसी चिन्ता की बात नहीं। यह आदतन हुआ है। बेचारा कुंवारा आदमी, अब तक होटल में ही खाता था। उसकी पत्नी ने कहा, नहीं, इससे भी मुझे चिन्ता न हुई। चिन्ता तो तब हुई, जब टिप रखने के बाद उसने मुझे चूम भी लिया। अगर टिप भी आदतन है और यह भी आदतन है, तो बहुत खतरनाक मामला है।

हम जीते हैं ऐसे ही। सब जड़ हो जाता है। सब बंध जाता है, एक लीक हो जाती है। उस पर ही हम चलते हैं। बाहर की जिन्दगी में ठीक भी है। काम करना मुश्किल होगा, लेकिन भीतर की जिन्दगी में बहुत खतरनाक है, क्योंकि कम होती चली जाती है। इसलिए बच्चे जितने विचारशील होते हैं, बूढ़े उतने विचारशील नहीं होते; यद्यपि बच्चों के पास विचार कम होते हैं और बूढ़ों के पास बहुत होते हैं। इसलिए फर्क को ख्याल में ले लें। बूढ़े के पास विचार तो बहुत होते हैं, विचारशीलता कम हो गई होती है। क्योंकि सब विचार उसकी आदत बन गए होते हैं, अब उसे विचार करना नहीं पड़ता। विचार आ जाते हैं। वे नियमित हो गए हैं।

बच्चे के पास विचार कम होते हैं, इसलिए विचारशीलता बहुत होती है। फिर धीरे-धीरे विचारों की परतें जमती जाएंगी। वह भी कल बूढ़ा हो जाएगा, तब विचार करने की जरूरत न पड़ेगी। विचार रहेंगे उसके पास। जब जिस विचार की जरूरत होगी, वह अपनी स्मृति के खाने से निकाल कर सामने रख देगा। ध्यान रहे, बूढ़े के पास अनुभव होता है, विचार होते हैं, लेकिन विचार-शीलता कम होती चली जाती है। क्योंकि बहुत पत्ते झील पर इकट्ठे हो जाते हैं। बच्चा खाली झील की तरह है, जिस पर पत्ते अभी नहीं हैं। इसलिए अगर बच्चों को ध्यान सिखाया जा सके, तो इस जगत् में क्रान्ति हो सकती है अन्यथा

क्रान्ति नहीं हो सकती; क्योंकि बूढ़े के साथ उल्टी मेहनत करनी पड़ती है। जिन्दगी भर उसने कचरा इकट्ठा किया है। इकट्ठा करने के पहले ही अगर उसको यह बोध आ जाता कि व्यर्थ इकट्ठा नहीं करना है, या इकट्ठा भी कर लेना है, तो उससे तादात्म्य नहीं करना है; और कितने ही विचार इकट्ठे हो जाएं, विचारशीलता को मरने नहीं देना है।

अपने विचार के प्रति भी तटस्थता का नाम विचारशीलता है। दूसरे के विचार के प्रति तो हम तटस्थ होते ही हैं। अपने विचार के प्रति भी तटस्थता का नाम विचारशीलता है। अपने विचार पर भी पुर्नविचार करने की क्षमता का नाम विचारणा है। और प्रतिदिन, आदतवश नहीं, होशपूर्वक; क्योंकि कल का कोई विचार आज काम नहीं पड़ सकता है। सब बदल गया होता है, विचार थिर हो जाता है, जड़ हो जाता है। वह पत्थर की तरह भीतर बैठ जाता है और जिन्दगी तो तरल है, लिक्विड है, वह बदलती जाती है और कंकड़-पत्थर भीतर इकट्ठे करते चले जाते हैं।

रमजान का महीना था और मुल्ला नसरूद्दीन ने भी तय किया कि वह भी उपवास करेगा। सोचा रोज-रोज हिसाब रखना पड़ेगा कि कितने दिन हो गए। उपवास में रखना ही पड़ता है। नहीं तो आदमी मर जाए, आशा लगाए रखता हैं कि चलो, एक दिन चुका। अब पन्द्रह दिन बचे, अब चौदह दिन बचे—गुजर ही जाएगा, इतनी तकलीफ कौन उठाए, कौन हिसाब रखे; तो उसने एक मटकी रख दी और रोज उसमें एक कंकड़ डालता गया। जब भी जरूरत होगी, कंकड़ गिन लेगा। कोई पन्द्रह दिन बीते होंगे उपवास के दिनों के और कोई यात्री राह से गुजरता हुआ, तीर्थयात्रा पर जाता हुआ नसरूद्दीन के द्वार पर रुका। नसरूद्दीन से उसने पूछा कि मैं जरा भूल गया हूं, रमजान के कितने दिन निकल गए। नसरूद्दीन अपनी मटकी लाया। थोड़ा डरा भी। मटकी उसने उलटायी। यात्री से कहा कि तुम जरा बाहर बैठो, मैं गिन कर आता हूं। गिने, बड़ा हैरान हुआ। हुआ ऐसा कि उसके लड़के को भी यह देखकर कि बाप रोज कंकड़ डालता है मटकी में, लड़का भी कंकड़ ला लाकर डालता चला गया। बाहर जाकर उसने कहा कि माफ करना भाई, ४५ दिन हो गए हैं। उस आदमी ने कहा, पैंतालिस! महीने में पैंतालिस दिन होते हैं? नसरूद्दीन ने कहा, यह तो बहुत कम करके बता रहा हूं। पत्थर तो डेढ़ सौ हैं। यह तो मैंने काफी कम करके बताया।

विचार भी ऐसे ही पत्थरों की तरह भीतर इकट्ठे होते चले जाते हैं। जिन्दगी बहुत तरल है, विचार बहुत ठोस हैं। फिर आखिर में उन्हीं कंकड़-पत्थरों को गिनकर हम जिन्दगी का हिसाब रखते हैं। और जैसा नसरूद्दीन के लड़के ने बहुत पत्थर डाल दिए, विचार सब आपके नहीं होते, आपके तो थोड़े ही होते हैं, बाकी तो दूसरे आप में डाल देते हैं। आखिर में जब आपके घड़े में पत्थर निकलते हैं,

तो वे सब आपके नहीं होते हैं। सब डाल रहे हैं आपके घड़े में पत्थर। आखिर में गिनती आप करेंगे, समझेंगे अपने हैं। बाप बेटे में डाल रहा है, पत्नी पति की खोपड़ी में डाल रही है, शिक्षक विद्यार्थी के, गुरु शिष्यों के। वे सब कंकड़-पत्थर इकट्ठे हो जाएंगे। उनका नाम विचार नहीं है। विचारों के संग्रह का नाम विचार नहीं है। विचार एक शक्ति है—सोचने की, देखने की, निष्पक्ष होने की, अपने ही विचार के प्रति तटस्थ होने की। वह जो कल का विचार था, वह भी पराया हो गया, उसके प्रति भी पुर्नविचार की जो योग्यता है—संन्यासी का वह दण्ड है। विचार दण्डः, वह सोचकर चलता है। सोचकर चलने का अर्थ है कि वह जड़ता से और आदत से नहीं जीता।

मुल्ला नसरूद्दीन पर एक मुकदमा था। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि आपकी उम्र क्या है? उसने कहा, चालीस वर्ष। मजिस्ट्रेट थोड़ा चौंका। उसने कहा चार साल पहले भी तुम आए थे, तब भी तुम्हारी उम्र चालीस ही वर्ष थी? मुल्ला नसरूद्दीन ने कहा कि मैं वचन का पक्का आदमी हूं, जो एक दफे कह दिया, कह दिया। असंगत मैं कभी नहीं होता—नेवर इनकंसिस्टेंट। जब अदालत के सामने कह दिया चालीस साल, तो अब तो बात खत्म हो गई। अब तुम कभी भी पूछ लो—सोते से जगाकर—मैं चालीस साल का ही हूं, और तुम्हीं ने तो कसम दिलाई थी। ओथ पर रखा था मुझे कि सत्य ही बोलना। जब बोल चुके सत्य, तो बोल चुके। ऐसी ही जड़ता हमारे भीतर पैदा होती है। वह सख्त हो जाती है। वह जो पांच साल की उम्र में सोचा था, वह पचास साल की उम्र में भी हमारे काम पड़ता है। आपको खयाल नहीं कि आप पचास साल की उम्र में भी कभी-कभी पांच साल के बच्चे जैसा व्यवहार करते हैं।

एक आदमी के मकान में मैंने आग लगी देखी। उस गांव में मैं मेहमान था। सामने के मकान में आग लग गई है। वह आदमी तो होगा कम से कम पचास-पचपन का, लेकिन आग लगी देखकर वह छोटे बच्चे-जैसा कूदने लगा, चिल्लाने लगा और रोने लगा और छाती पीटने लगा। इसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि वह रिग्रेस कर गया। असल में छोटे बच्चे चिल्ला सकते हैं, कूद सकते हैं, अपने को मार सकते हैं, रो सकते हैं और तो कुछ नहीं कर सकते। अब आग लग गई, तो पचपन साल के आदमी के लिए यह व्यवहार ठीक नहीं है, अगर वह विचारपूर्ण हो। विचार तो इस आदमी के पास बहुत होंगे। यह अपने बेटे को काफी ज्ञान दे रहा होगा, जो भी मिल जाता होगा उसको सलाह देता होगा। इसलिए हमारे पास दूसरों को देने के लिए बहुत सलाहें होती हैं। खुद पर मुसीबत आवे, तब पता चलता है कि सलाह काम आएगी या नहीं, क्योंकि हम रिग्रेस कर जाते हैं फौरन। हम उस अवस्था में पहुंच जाते हैं, जिसका हमें पता ही नहीं।

अब यह आदमी पांच साल के बच्चे का व्यवहार कर रहा है। इस वक्त

इसकी उम्र पांच साल से ज्यादा नहीं है, इस वक्त इसके भीतर वही हो रहा है, जो पांच साल में सीखा होगा कि जब कोई मुसीबत की बात आ जाए और कुछ करते न बने, तो हाथ-पैर पटककर रोना-चिल्लाना चाहिए। बच्चे के लिए तो ठीक है, क्योंकि पांच साल का बच्चा जब हाथ-पैर पटक कर रोता-चिल्लाता है तो वह परिणामकारी है, क्योंकि उसकी मां झुक जाती है, बाप राजी हो जाता है कि खोपड़ी मत खाओ, जो चाहिए वह ले लो। लेकिन अभी इसका कोई बाप नहीं है, कोई मां नहीं है। मकान में आग लगी है। असहाय जरूर है यह आदमी, वैसा ही जैसा पांच साल का बच्चा होता है। उसको एक खिलौना चाहिए। उसके पास कोई उपाय नहीं है, न पैसे हैं, न सुविधा है, वह कहां से लाए। वह चिल्लाता है, रोता है। मां-बाप परेशान हो जाते हैं। इस परेशानी से दो-चार रुपए खर्च करना ज्यादा सस्ता काम है। वार्गेनिंग हो जाती है। एकाध दफे डांटते हैं पहले। वे कोशिश करते हैं कि पांच रुपए बच सकें तो बेहतर है। नहीं बचते, फिर राजी हो जाते हैं। यह बच्चा एक ट्रिक सीख जाता है। इसने एक ट्रिक सीख ली कि अगर कोई ऐसी अवस्था हो जहां कुछ न सूझे, वहां रोने-चिल्लाने और पैर पटकने से भी काम होता है।

यह पचपन साल का आदमी है, मकान में आग लग गई है। परिस्थिति वही आ गई है, कुछ करने से बनता नहीं। वह पांच साल का बच्चा हो गया है। अब वह चिल्ला रहा है, रो रहा है, पीट रहा है। पांच साल में उसने जो कंकड़ इकट्ठे किए थे, पचपन साल में उपयोग कर रहा है। नहीं यह बात विचारपूर्वक नहीं है। नहीं तो वह भी सोचेगा, हाथ-पैर पटकने से क्या होगा। विचार तो उसके भीतर बहुत हैं। मकान में आग लगी है, तो बहुत विचार करता होगा। लेकिन अब वे विचार किसी काम के नहीं हैं।

विचारपूर्वक होने का अर्थ है अपने अतीत से निरन्तर छुटकारा, डाइंग टु द पास्ट–अपने अतीत के प्रति रोज मरते जाना—स्मृति तो इकट्ठी होगी, लेकिन अपने को विचार से अलग रखना और अपनी स्मृति पर भी विचार बनाए रखना है।

तो संन्यासी का दण्ड है विचार। वह चलता है स्मृति से नहीं, टटोलता है स्मृति से नहीं, मार्ग खोजता है स्मृति से नहीं, बल्कि विचार से। जब भी कोई परिस्थिति होती है, वह पुनर्विचार करने को, रीकंसिडर करने को राजी है। स्वभावतः संन्यासी को असंगत होना पड़ेगा। अगर मुल्ला नसरूद्दीन संगत हैं तो संन्यासी को असंगत होना पड़ेगा। परिस्थिति बदल जाएगी तो विचार बदलना पड़ेगा। नया क्षण होगा, तो नए विचार को जन्म देना पड़ेगा। आदत कहेगी, पुराने से काम चला लो; स्मृति कहेगी, उत्तर तैयार है; रेडीमेड उत्तर है, दे दो। लेकिन विचार कभी रेडीमेड उत्तर नहीं देता। तैयार विचार, विचार नहीं बल्कि स्मृति है। विचार

सदा स्पांटेनियस, सहज स्फूर्ति हैं, उसी क्षण में पैदा होता है, पूरी चेतना से पैदा होता है। एक क्षण में आप मुकाबला करते हैं चुनौती का, विचार जन्म लेता है। अगर अपनी पुरानी स्मृति का ही उपयोग किया, तो विचार नहीं है, आप एक मरे हुए आदमी हैं। संन्यासी जीवंत है, वह प्रतिपल, सहज स्फूर्त जीता है। इसका ही अर्थ है कि विचार उसका दण्ड है।

ब्रह्म-दर्शन उसका योग-पट्ट है। ब्रह्म-दर्शन ही उसका सर्टिफिकेट है उसका प्रमाणपत्र है—और कुछ भी नहीं। ब्रह्म को देख लेना ही उसकी परीक्षा, ब्रह्म को देख लेना ही उसका परीक्षा-फल, ब्रह्म को देख लेना ही उसका प्रमाणपत्र, ब्रह्म को देख लेना ही उसका योग-पट्ट है। उससे कम पर उसको राजी होने का कोई सवाल नहीं। ध्यान रहे, ब्रह्मसूत्र पढ़ लेने से नहीं, ब्रह्म के दर्शन से। ब्रह्म के सम्बन्ध में शास्त्र पढ़ लेने से नहीं, ब्रह्म के दर्शन से। ब्रह्म-दर्शन से काम पर संन्यासी राजी नहीं। इससे कम का कोई सवाल नहीं।

श्वेतकेतु ज्ञान लेकर, सब शास्त्र पढ़कर वापस लौटा। पिता ने उससे पूछा, तू सब पढ़ आया, लेकिन वह तूने जाना ही नहीं, जिसे जान लेने से सब जान लिया जाता है। श्वेतकेतु ने कहा, यह क्या है? यह तो हमारे कोर्स में नहीं था। यह क्या बला है? हम सब सीखकर लौटे हैं। ज्योतिष हम जानते हैं, आयुर्वेद हम जानते हैं, संगीत हम जानते हैं, चारों वेद हम जानते हैं, उपनिषद् हम पढ़कर आए हैं, ब्रह्म का पूरा ज्ञान लेकर आए हैं। लेकिन, यह तो सवाल ही समझ में नहीं आता कि उसको जानकर आए कि नहीं—उस एक को—जिसको जान लेने से सब जान लिया जाता है और जिसको न जानने से सब जाने हुए का कोई भी मूल्य नहीं है। मैं तो बड़े गौरव से भरकर आ रहा था, बहुत प्रमाणपत्र लेकर आ रहा था और आपने तो सब पर पानी गिरा दिया। पिता ने कहा, तो तू वापस जा। तू जो बटोर लाया है, वह ज्ञान नहीं है। वह केवल ज्ञान की राख है। बेटे को वापस लौटा दिया।

वर्षों बाद बेटा वापस आया। दूर अपनी झोंपड़ी की खिड़की से बाप ने देखा कि श्वेतकेतु वापस लौट रहा है। उसने अपनी पत्नी से कहा, पीछे का दरवाजा खोल देना, मैं भाग जाऊं। पत्नी ने कहा, क्या कहते हो, बेटा वापस आ रहा है। उसके पिता ने कहा, लेकिन वह उसे जानकर आ रहा है, जिसे मैंने भी अभी जाना नहीं। वह भी मैंने शास्त्र में पढ़ा था कि उस एक को जानने से सब जान लिया जाता है। वह लड़का झंझटी है। मैंने तो ऐसे ही पूछा था। वह चला ही गया वापस। अब वह जान कर लौट रहा है। उसकी चाल कहती है, उसके आस-पास की हवाएं खबर ला रही हैं, उसका चेहरा कहता है, उसकी आखें कहती हैं। उससे चारों तरफ जो आभा-मण्डल है, वह कहता है। मैं भाग जाऊं, क्योंकि अब उससे पैर छुलाना ठीक न होगा। अब जब तक मैं न जान लूं, तब तक इस बेटे के दर्शन

करना ठीक नहीं। बाप पीछे के दरवाजे से भाग गया।

ब्रह्म-दर्शन—उससे कम पर संन्यासी की तृप्ति नहीं है। शब्दों से नहीं, शास्त्र के सिद्धान्त से नहीं, ज्ञान की परीक्षाओं से नहीं। वेद की परीक्षा से कहीं ज्ञान मिलता है? वाराणसी में बैठ कर संस्कृत के श्लोक कण्ठस्थ कर लेने से कोई ज्ञान मिलता है? सच्चे पण्डित कितने हैं? हां, एक अकड़ तो जरूर मिल जाती है। भीतर अज्ञान होता है और पाण्डित्य अकड़ ला देता है कि मैं जानता हूं। जब अज्ञान को यह ख्याल आ जाता है कि मैं जानता हूं, तो अज्ञान से भी बद्तर स्थिति पैदा हो जाती है। अज्ञान को यह पता रहे कि मैं नहीं जानता, तो अज्ञान विनम्र होता है। कभी-न-कभी टूट सकता है। अज्ञान को यह ख्याल आ जाए कि मैं जानता हूं, तो अज्ञान अहंकार से भर जाता है, अकड़ से मजबूत हो जाता है। टूटना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अज्ञानी तो ब्रह्म तक पहुंच भी जाए, पण्डित बड़ी मुश्किल से पहुंच पाता है।

ब्रह्म-दर्शन ही—उससे कम नहीं—उसकी परीक्षा, वही उसका शास्त्र, वही उसका ज्ञान, वही उसका योग-पट्ट, वही उसका प्रमाण, बस वही उसका सब कुछ है। ध्यान रखें, दर्शन शब्द पर। अंग्रेजी में शब्द है फिलॉसफी। हम हिन्दी से दर्शन का अंग्रेजी में अनुवाद करते हैं, तो फिलॉसफी कहते हैं। या फिलॉसफी को हिन्दी में अनुवाद करते हैं, तो दर्शन कहते हैं। वह ठीक नहीं है, क्योंकि दर्शन फिलॉसफी नहीं है। फिलॉसफी का मत है विचार, चिन्तन, मनन—दर्शन नहीं। दर्शन का मतलब है, देखना।

एक अंधा आदमी भी प्रकाश के सम्बन्ध में सोच सकता है, सुन सकता है। ब्रल लिपि में लिखा गया हो, तो पढ़ भी सकता है। एक अंधा प्रकाश के सम्बन्ध में खूब चिन्तन कर सकता है और यह भी हो सकता है कि अंधा अगर ठीक बुद्धिमान हो, तो प्रकाश के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त भी खोज सकता है; प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ आविष्कार भी कर सकता है। प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सिद्धान्त निर्मित कर सकता है जो कि प्रकाश की उलझन को सुलझाने में सहयोगी हो जाएं। कोई बाधा नहीं है। लेकिन अंधा दर्शन नहीं कर सकता। दर्शन और ही बात है।

विचार तो खोपड़ी तक ही तैरते हैं, दर्शन हृदय तक पहुंच जाता है। विचार तो सिर्फ छाया मात्र हैं, दर्शन प्रतीति है, अनुभव है। इसलिए पिछले सौ वर्षों में न डा० राधाकृष्णन ने और न विवेकानन्द ने और न रामतीर्थ ने, जिन लोगों ने भी भारतीय दर्शन को पश्चिम में पहुंचाने की कोशिश की है, उन्होंने नहीं वरन् एक जर्मन विचारक हर्मन हेस ने दर्शन के लिए फिलॉसफी शब्द का उपयोग करने से इन्कार किया। उसने कहा कि मैं नया शब्द गढूंगा, जो पश्चिम की भाषाओं में नहीं है। वह शब्द उसने गढ़ा फिलॉसीया। फिलॉसफी के दो शब्द हैं—फिलॉ

और सफी। सफी का मतलब होता है ज्ञान और फिलॉ का अर्थ होता है प्रेम—ज्ञान का प्रेम। हरमन हेस ने एक नया शब्द बनाया, फिलॉसिया। फिलॉ का अर्थ होता है प्रेम और सिया का अर्थ होता है टु सी। फिलॉसिया का अर्थ हुआ दर्शन का प्रेम। भारत में फिलॉसिया-जैसी चीज रही नहीं। विचार का प्रेम भारत में नहीं है। भारत में दर्शन की आकांक्षा है। देखे बिना क्या होगा? कितना ही सुनो, कितना ही समझो, कितना ही कण्ठस्थ करो, देखे बिना क्या होगा। देखना पड़ेगा—ब्रह्म-दर्शन। संन्यासी की अभीप्सा है ब्रह्म-दर्शन।

श्रियां पादुका:। यह बड़ा अद्भुत सूत्र है। सम्पत्ति उनकी पादुका है। बड़ा अजीब है। सम्पत्ति का संन्यासी से क्या लेना-देना। और सब तो ठीक है, ब्रह्म-दर्शन करो, ठीक है। सम्पत्ति से संन्यासी का क्या लेना-देना। वही सूचना है इसमें। सम्पत्ति उनकी पादुका है। दो-तीन बातें हैं—एक, हम सब सम्पत्ति की पादुकाएं हैं, सम्पत्ति की जूतियां हैं। सम्पत्ति चलती है, हम जूते का काम करते हैं। हम गुलाम हैं सम्पत्ति के। संन्यासी ही मालिक हो सकता है। सम्पत्ति को जूते की तरह पैर में डालकर चल सकता है। इसलिए कि सम्पत्ति की उसकी कोई मांग नहीं है।

मैंने सुना है, कबीर का बेटा था कमाल। वह कभी-कभी ऐसी बातें कबीर से कह देता था कि अकारण कठिनाई पैदा हो जाती थी। एक दिन कबीर ने कहा कि बेहतर हो तू एक अलग ही झोंपड़ा बना ले। कबीर ने एक सूत्र कहा था कि चलती हुई चक्की देखकर कबीर रोने लगा कि दो पाटों के बीच में जो भी पड़ गया, वह पिस गया। ठीक ही कहा था, बिल्कुल ठीक ही कहा था। कमाल बोला या नहीं, पर चलती चक्की देखकर खूब हंसा। दो पाट तो पीस रहे थे दोनों को, लेकिन जिसने बीच के दंड का सहारा ले लिया, वह बच गया। वह झंझट अकारण है, यह भी ठीक है।

कबीर बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। कमाल भी बिल्कुल ठीक कह रहा है। जरूरी नहीं कि सत्य और असत्य में ही उपद्रव होता है। कई बार दो सत्यों में सीधा उपद्रव हो जाता है। कबीर ने कहा, बेटा, तू दूसरा ही झोंपड़ा बना ले, क्योंकि यहां अकारण उपद्रव होता है। तो कमाल अलग रहने लगा। कबीर ने तो ठीक कह दिया था। उसने पास में झोंपड़ा बना लिया। कुछ लोग कमाल को भी सुनने आते थे। वह आदमी कमाल का था। कबीर ने ही तो उसको नाम दिया था कमाल, वह कमाल का ही व्यक्ति था। और कबीर का बेटा अगर कमाल न हो, तो कबीर को ही तो ग्लानि उठानी पड़ती। कबीर ने तो सिर्फ इसलिए कहा था कि उस झोंपड़ी में व्यर्थ का विवाद न खड़ा हो और लोगों के मन में शंका न हो। तू अलग हो जा यहां से, तो लोग तुझे भी सुन लेंगे। तेरी बात भी सुनी जाएगी।

मगर शिष्यों में तो विरोध शुरू हो गया। कोई कमाल के शिष्य हो गए, कोई

कबीर के शिष्य हो गए। उपद्रव भी बढ़ा। कबीर के शिष्यों ने कहना शुरू किया कि कमाल तो कोई ज्ञानी नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि लोग पैसा दे जाते, तो वह रख लेता। कबीर को देते तो वे नहीं रखते। वह कबीर का ढंग है। शायद इसीलिए न रखते हों कि कहीं जो पैसा लेकर आया है वह कबीर से टूट न जाए क्योंकि अगर कोई पैसा लेकर आए, न रखो तो बड़ा प्रसन्न होता है, बड़ा प्रभावित होता है। कहता है कि त्यागी है। लेकिन आग्रह करता है कि रखो। दुखी मालूम पड़ता है कि आप मेरा इतना-सा भी आग्रह नहीं मानते। अगर रख लो, तो सुखी नहीं होता। चिंतित होकर जाता है कि कहीं चक्कर में तो नहीं पड़ गए। कमाल ने तो तत्काल रख लिया। आदमी का मन ऐसा है। कुछ भी करो, दुखी होगा। कबीर तो इन्कार कर देते थे। तो बहुत लोग दुखी होते थे कि हमें कोई सेवा का अवसर नहीं दिया। आदमी के मन का एक बड़ा दुख है।

पशुओं की जरूरतें पूरी हो जाएं, तो वे तृप्त हो जाते हैं। उनकी जरूरतें पूरी हो जाएं—खाना मिल जाए, विश्राम मिल जाए, नींद मिल जाए, काम-वासना तृप्त हो जाए, तो वे तृप्त हो जाते हैं। दे हैव नीड्स, इफ दे आर फुलफिल्ड, दे आर फुलफिल्ड। लेकिन आदमी में एक और अद्भुत बात है कि उसकी सब जरूरतें पूरी हो जाएं, तो भी वह तृप्त नहीं होता। एक बड़ी अद्भुत जरूरत आदमी में है—'ए नीड टु बी नीडेड'। दूसरे लोगों को भी उसकी जरूरत मालूम पड़नी चाहिए कि मैं किसी के काम पड़ रहा हूं। किसी के उपयोग में आ रहा हूं मेरे बिना बड़ी गड़बड़ हो जाएगी। सब जरूरतें पूरी हो जाएं, तो भी एक जरूरत भीतर रह जाती है। वह यह है कि मेरी जरूरत भी दूसरों को होनी चाहिए। अगर ऐसा लगे कि मेरी जरूरत किसी को भी नहीं, तो जिन्दगी बेकार है, भोजन है, कपड़ा है, नींद है, सब पड़ा रह गया। मेरी कोई जरूरत नहीं।

कोई आदमी आता है कबीर के पास और वे इन्कार कर देते हैं कि नहीं भाई, मैं कुछ न लूंगा। वे करुणा से ही इन्कार कर देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर वे ले लेंगे तो यह आदमी परेशान हो जाएगा, हो सकता है रात सो न सके और कहे कि कहां के लोभी के पास पहुंच गए। लेकिन कोई कुछ ले आता, तो कमाल रख लेता। वह कहता, बड़ी खुशी, रख जाओ। वह भी कृपा और करुणा है, क्योंकि इस आदमी को अगर ऐसा लगे कि कमाल इसके बिना न जी सकेगा, तो भी इसके भीतर एक फूल खिलने का उपाय बनता है। जिन्दगी बहुत पहेली है।

कबीर के शिष्यों ने कहना शुरू किया कि कमाल तो लालची दिखता है, कोई संन्यासी नहीं दिखता है। काशी का सम्राट् एक दिन कबीर के पास आया था, तो शिष्य बड़े बेचैन थे कि कहीं दूसरे झोंपड़े में न चले जाएं। तो उन्होंने कहा, चलिए चलिए, सीधे चलिए। पर उन्होंने कहा कि जरा कमाल से भी मिल लूं, कबीर

का बेटा यहां रहता है। पर उन्होंने कहा, वह आदमी ठीक नहीं है। पैसे पर उसकी बड़ी पकड़ मालूम पड़ती है। सम्राट् ने कहा कि चलें, परीक्षा कर लें। वह गया। हाथ में हीरे की बहुमूल्य अंगूठी थी, लाखों उसके दाम थे। सम्राट् ने वह निकाली और कमाल से कहा कि रख जाता हूं। कमाल ने कहा, जैसी मर्जी। सम्राट् थोड़ा चौंका, इतनी जल्दी उसने अंगूठी स्वीकार कर ली। उसे नहीं लेना चाहिए था, मना करना चाहिए था। मन हुआ कि वापस अपनी अंगुली में डाल लें, लेकिन बड़ी बेइज्जती होगी। उन शिष्यों ने ठीक ही कहा था कि यहां मत जाना। अब फंस गए। सम्राट् जरा रुका, तो कमाल ने कहा, अब रख ही दो, अब रुकते क्यों हो? उसने पूछा कि कहां रखें? कमाल ने कहा, जहां मर्जी हो। तो उसने झोंपड़ी में खोंस दी।

सम्राट् रात भर सो नहीं सका। एक दिन, दो दिन बड़ी बेचैनी रही कि कहां उलझ गए। कबीर अच्छा आदमी है। एक पैसा भी दो, तो कहता है, ले जाएं, क्या करेंगे। यह आदमी कैसा है! पन्द्रह दिन बाद मन नहीं माना। सम्राट् वापस गया। सोचा, देखें कि क्या हुआ उस अंगूठी का, अब तक तो बिक गई होगी। कमाल ऐसा आदमी दिखता है कि जरा रुके तो कहने लगा रख ही दो, अब ठहरते क्या हो। गया तो कमाल बैठा था। कमाल ने पूछा, फिर ले आए क्या अंगूठी? सम्राट् ने मन में सोचा, आदमी कैसा है? अब नहीं सहा गया उससे भी। उसने कहा कि तुम आदमी कैसे हो! तो कमाल ने कहा, कैसे आए? पिछली दफा अंगूठी लेकर आए थे, तो मैंने सोचा फिर लाए हो। सम्राट् ने कहा, इस बार अंगूठी लेकर नहीं आया हूं। यह पता लगाने आया हूं कि अंगूठी कहां है। कमाल ने कहा तुम जहां रख गए थे वहां देख लो। अगर कोई न ले गया हो, तो वहीं होगी। अगर कोई ले गया हो, तो हमने कोई ठेका नहीं लिया था उसकी रक्षा का। सम्राट् उठा, देखा, छप्पर के सींकों में अंगूठी अटकी है। सम्पत्ति संन्यासी की पादुका है, इसका यही अर्थ है।

मगर कोई अंगूठी ले भी जा सकता था। तब कमाल के सम्बन्ध में एक ना-समझी सदा के लिए शेष रह जाती। लेकिन सम्पत्ति पादुका ही है। उसकी इतनी भी मालकियत संन्यासी स्वीकार नहीं करता कि इन्कार भी करे। क्या करना है, इन्कार, या क्या करना है हां। मिट्टी है, तो है। छोड़ने या पकड़ने दोनों में हम सम्पत्ति को मूल्य देते हैं। जब हम कहते हैं, सम्पत्ति चाहिए, तब भी मूल्य है। अगर हम कहते हैं नहीं, हम सम्पत्ति न छुएंगे, तब भी मूल्य है। संन्यासी के लिए कोई मूल्य ही नहीं है, बात निर्मूल्य हो गई है। तुम कहते हो, रख दें तो कहता है रख जाओ। मिट्टी को इन्कार भी क्या करना।

इतनी मालकियत सम्पत्ति पर हो, तो ऋषि कहता है, तब संन्यासी है। पर पहचानना सदा मुश्किल है। यह एक-एक संन्यासी पर निर्भर करेगा कि वह

क्या करता है। वह उसकी अपनी निजी अभिव्यक्ति होगी। पर एक बात तय है कि सम्पत्ति उसके लिए मालकियत नहीं रखती, सम्पत्ति उसके ऊपर मालकियत नहीं रखती। सम्पत्ति उसे 'पसेज' नहीं कर सकती।

हम सबको ख्याल होता है कि वी आर द पजेसर-हम सम्पत्ति के मालिक हैं, लेकिन हम भ्रम में हैं। सम्पत्ति हमारी मालिक हो जाती है। क्योंकि जब आप रात सोते हैं, तो आपके तिजोरी के रुपए, रात भर नहीं जगते, सोए रहते हैं, आप जागते हैं। मालिक कौन है? जब आपके हाथ से रुपया गिर जाता है, तो रुपया नहीं रोता कि जो मेरा मालिक था, वह कहां गया। इतना भी नहीं रोता। आप रोते हैं। आप मालिक आप हैं? नहीं, जिसकी भी हम मालकियत करने की कोशिश करते हैं, वही हमारा मालिक हो जाता है। 'द पजेसर इज ऑलवेज द पजेस्ड।' जो भी मालिक बनेगा, स्वामित्व ग्रहण करेगा, वह गुलाम हो जाएगा।

संन्यासी सम्पत्ति की मालकियत की बात ही नहीं करता। वह कहता है, सम्पत्ति है कहां? किसको तुम सम्पत्ति कहते हो? अगर तुम्हारी शक्ल देखें तो सम्पत्ति मालूम नहीं पड़ती है। सम्पत्ति वालों की अगर शक्ल देखें, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि इनके पास विपत्ति है। सम्पत्ति तो बिल्कुल नहीं मालूम पड़ती। सम्पत्ति तो संन्यासी के पास मालूम पड़ती है। उसकी प्रफुल्लता, उसका आनन्द, उसका खिला हुआ फूल-जैसा व्यक्तित्व। न कोई चिन्ता है, न कोई फिक्र, न कोई तनाव है। सम्पत्ति तो उसके पास मालूम पड़ती है पर है उसके पास कुछ भी नहीं। और जिनके पास सब कुछ है, वे बड़ी विपत्ति में घिरे मालूम पड़ते हैं। संन्यासी के लिए ऋषि कहता है, सम्पत्ति उसकी पादुका है। उसे पता भी नहीं चलता। पैरों में पड़ी है तो पड़ी है। उसका उपयोग कर लेता है पादुका की तरह, लेकिन कभी उस पादुका को अपने सिर पर रखकर नहीं चलता।

बोधिधर्म हिन्दुस्तान से जब चीन गया, तो वह अपनी एक पादुका को सिर पर रखे हुए था और एक को पैर में पहने हुए था। वह बहुत अनूठा संन्यासी था। १४०० वर्ष पहले वह भारत से चीन गया था। चीन का सम्राट् उसके स्वागत को आया था। हजारों भिक्षु इकट्ठे हुए थे, क्योंकि भारत से बुद्ध की हैसियत का आदमी पहली दफा चीन आ रहा था। बड़ा स्वागत का समारोह था, लेकिन सम्राट् बहुत बेचैन हुआ। संन्यासी भी बहुत हैरान हुए। एक-दूसरे को देखने लगे कि यह क्या हो गया। यह आदमी तो पागल मालूम पड़ रहा है। एक जूता पैर में पहने था, एक सिर पर रखे हुए था। सम्राट् से न रहा गया। थोड़ा मौका मिला, तो उसने कहा, आप यह क्या कर रहे हैं, इससे बड़ी मुश्किल हो रही है। हमने तो बड़ा प्रचार किया है कि बहुत महान ज्ञानी आ रहा है। यह आप क्या कर रहे हैं? इससे खबर पहुंच जाएगी कि आप पागल हैं। तो बोधिधर्म ने कहा,

सिर पर जो रखे हैं, वह तुम्हारे ख्याल से और पैर में जो पहने हैं, वह अपने ख्याल से। सिर पर जो रखे हैं, वह तुम्हें याद दिलाने को कि तुम आदमी कैसे हो, तुम आदमी कैसे हो, तुम मुझको पागल कह रहे हो, पर तुम दोनों रखे हुए हो, मैंने सिर्फ एक रखा है।

जूतियों को हम सिर पर रखे हैं, अगर सम्पत्ति को हम सिर पर रखे हुए हैं। सम्पत्ति जहां होनी चाहिए, वहां होनी चाहिए। वह पैर का उपयोग है। जीवन की जरूरत हो, तो उसका उपयोग किया जा सकता है। लेकिन उसे मालिक नहीं बनाया जा सकता। पर भूल इसलिए हो जाती है कि हम मालिक होने जाते हैं और आखिर में गुलाम हो जाते हैं। जो मालिक होने जाएगा, वह गुलाम होने पर समाप्त होगा। इसलिए सम्पत्ति का मालिक होने जाना ही मत। अपने मालिक हो जाना, तो सम्पत्ति गुलाम हो जाएगी। इसलिए संन्यासी को हम स्वामी कहते हैं। किसी और का मालिक नहीं, अपना मालिक। और तो उसके पास कुछ है ही नहीं। अपना जो मालिक है, वह स्वामी है। सम्पत्ति उसके लिए गुलाम है. पादुक है।

परात्पर की अभीप्सा ही उनका आचरण है। वह जो पार और पार—बियोन्ड एण्ड बियोन्ड—वह जो दूर और दूर फैला है और अतिक्रमण कर जाता है हमारी सारी सीमाओं का, उसको पा लेने की प्यास उनका आचरण है। वे इस भांति जीते हैं कि उनके उठने में, उनके बैठने में, उनके चलने में, उनके सोने में एक ही प्यास उनकी श्वास-श्वास में गूंजती रहती है। उनका होना सिर्फ एक ही बात के लिए है कि वह जो परात्पर ब्रह्म है, वह जो पार छिपा हुआ, और पार छिपा हुआ, अज्ञात का लोक है, उससे मिलन हो जाए। वही उनका आचरण है। वही उनका चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना ओढ़ना—सब वही है। कबीर ने कहा है कि मेरा ओढ़ना भी राम, मेरा बिछौना भी राम। सोता भी उसी पर, बैठता भी उसी पर, चलता भी उसी पर।

आपने कभी ख्याल नहीं किया होगा कि आप सुबह क्यों उठ आते हैं? कौन-सी आकांक्षा कहती है कि उठो, चलो। क्यों रोज भोजन कर लेते हैं? कौन-सी आकांक्षा कहती है कि शरीर को बचाओ? क्यों धन इकट्ठा करते हैं? कौन-सी वासना कहती है कि धन के बिना नहीं चलेगा? आपके आचरण का क्या है आधार, क्या है केन्द्र? अगर हम एक शब्द में कहें तो वह है काम, सेक्स। उसके ही लिए उठते हैं, चलते हैं, कमाते हैं, मकान बनाते हैं। धन, यश सब उसी के लिए है। अगर गहरे में खोजने जाएं, तो बस काम मात्र हमारा केन्द्र है। आदमी अपने को धोखा दे सकता है, लेकिन आदमी को छोड़ दें, थोड़ी देर और जानवरों को देखें, और पशु-पक्षियों को देखें तो काम-वासना बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ेगी। आदमी थोड़ा धोखा देता है, इसलिए अस्पष्ट हो जाता है। लेकिन गहरे में उतर कर देखें, तो

कामवासना ही हमारे भीतर छिपी है । उसी के लिए हम जीते हैं । सारी उधेड़बुन उसी के लिए है । वही हमारा आचरण है, काम ही हमारा आचरण है ।

संन्यासी का आचरण राम है । वह भी उठता है सुबह, जैसे आप उठते हैं । लेकिन उसकी अभीप्सा उस परात्पर को पाने के लिए है । वह भी खाना खाता है, लेकिन आप जिस लिए खाना खाते हैं, उस लिए वह खाना नहीं खाता है । वह इसलिए खाता है कि यह शरीर साधन बन जाए उस परात्पर तक पहुंचने के लिए। वह भी रात सोता है । वह भी शरीर पर वस्त्र ढांक लेता है । सर्दी होती है, धूप होती है, तो छाया में बैठ जाता है । लेकिन सारी बातों के पीछे, सारे आचरण के पीछे एक ही अभीप्सा रहती है कि वह परात्पर का दर्शन कर ले ।

कई बार आपको लगता है कि संन्यासी आपके-जैसा खाना खाता, आपके जैसा उठता, आपके-जैसे कपड़े पहनता, तो फर्क क्या है । फर्क भीतर है, फर्क जीवन के केन्द्र पर है । फर्क इस बात में है कि किसलिए ? फॉर ह्वाट ? किसलिए जी रहे हैं ? अगर संन्यासी को पता चल जाए कि कोई परात्पर नहीं है, कोई है ही नहीं पार; बस यही उठना-बैठना, खाना-पीना और मर जाना ही जीवन है, तो संन्यासी की दूसरी सांस न चले, बात ही खत्म हो गई, बात ही समाप्त हो गई । अगर ऐसा है, तो जीने का कोई अर्थ नहीं है । अगर उसे पाया जा सकता है, तो जीवन का कोई प्रयोजन है। अगर उस तक पहुंचा जा सकता है, तो जीवन जीवन है, अन्यथा जीवन मरने की एक लम्बी प्रक्रिया के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।

कुण्डलिनी बन्धः । संन्यासी की शक्ति का जो मूल स्रोत है, वह कुण्डलिनी है । जैसा मैंने कहा, हमारे जीवन की, हमारी चर्या की जो आधारभूत वृत्ति है, वह काम वासना है । इसलिए हमारी शक्ति का जो स्रोत है, वह सेक्स-सेन्टर है, काम-केन्द्र है । उसी से हमारी सारी शक्ति आ रही है । हमारे शरीर में जो ऊर्जा दौड़ती है, वह काम-केन्द्र की ऊर्जा है । हमारी आंखों से जो शक्ति देखती है, वह काम-ऊर्जा है । हमारे कानों से जो शक्ति सुनती है, वह काम-ऊर्जा है । हमारे हाथों से जो शक्ति स्पर्श करती है वह काम-ऊर्जा है । हमारी शक्ति का केन्द्र, हमारी शक्ति का मूल स्रोत काम-केन्द्र है । काम-केन्द्र के बिल्कुल निकट कुण्डलिनी का केन्द्र है । उसके पास ही एक दूसरा सरोवर है, लेकिन उसको अभी हमने छुआ भी नहीं है । वही केन्द्र संन्यासी के जीवन का आधार है । वहीं से वह कुण्डलिनी को जगाकर शक्ति पाता है । संन्यासी शक्ति के एक दूसरे आयाम में प्रवेश करता है ।

मजे की बात यह है कि जैसे ही कुण्डलिनी जगती है, काम-वासना की सारी शक्ति कुण्डलिनी के केन्द्र पर गिर जाती है और रूपान्तरित हो जाती है ट्रांसफार्म हो जाती है, क्योंकि काम-वासना बहुत छोटा-सा सरोवर है । बड़ा छोटा-सा झरना है । वह झरना भी ऐसा है कि रोज-रोज उस शक्ति को हमें भोजन से, विश्राम से इकट्ठा करना पड़ता है । तब वह झरना थोड़ा-सा भरता है और मजा है कि हम

अजीब पागल हैं । बूंद-बूंद उसको भरते हैं और फिर उसको उलीच देते हैं । फिर उसको भरते हैं, फिर उलीच देते हैं । फिर भरते हैं । इसके पीछे जो कुण्डलिनी का, इससे ही बिल्कुल निकट, बिल्कुल इसके ही पड़ोस में जो बड़ा विराट् केन्द्र है, वह भोजन से नहीं बनता । वह पानी से नहीं बनता, वह विश्राम से नहीं बनता । वह परमात्मा का ही दिया हुआ है । काम-केन्द्र के लिए तो हमें रोज शक्ति अर्जन करनी पड़ती है, पर उसके लिए अर्जन नहीं करनी पड़ती । वह मिली ही हुई है, वह हमारा स्वभाव है । संन्यासी के लिए वही ऊर्जा का स्रोत है ।

कुण्डलिनी बन्धः । वह उसी को जगाता है, उसी को जीता है; और जब वह शक्ति जग जाती है, तो इस काम-केन्द्र का जो छोटा-सा झरना है, वह उसमें अपने आप गिर जाता है और काम-वासना भी राम-वासना में रूपान्तरित हो जाती है। ध्यान के प्रयोग में हम यहां उसकी ही कोशिश कर रहे हैं कि उस कुण्डलिनी पर चोट पड़ जाए । जो मैं इतना आग्रह करता हूं कि जोर से श्वास की चोट करें, वह इसीलिए आग्रह करता हूं कि उस श्वास की चोट से कुण्डलिनी के केन्द्र का बन्द द्वार टूट सकता है । जो आपसे कहता हूं, दिल खोलकर नाचें और कूदें, वह इसी-लिए कहता हूं कि उस हलन-चलन में वह जो सोई हुई ऊर्जा है, वह कम्पित होकर उठ सके । इसलिए आपसे कहता हूं कि जोर से हुंकार करें, हू की आवाज करें । पागल की तरह हू की जितने जोर से आवाज होती है, उतने ही सेक्स सेन्टर के निकट तक पहुंचती है, जहां कुण्डलिनी का केन्द्र है । वहां चोट पड़ती है । श्वास से शरीर की गति से, ध्वनि से, चोट करते हैं उस पर । अगर आप चोट करते रहे, अगर हैमरिंग जारी रही, तो वह टूट जाएगी; और जिस दिन वह टूटेगी, उस दिन काम-वासना तत्क्षण राम की यात्रा पर निकल जाएगी । फिर यह शरीर लक्ष्य नहीं रह जाता, साध्य नहीं रह जाता, साधन हो जाता है ।

परापवाद मुक्तो जीवन मुक्तिः । जो दूसरों की निन्दा से रहित है, वे जीवन-मुक्त हैं । हमारे मन में निन्दा का बड़ा रस है । उसका कारण है । असल में जब हम दूसरे की निन्दा करते हैं, तभी हमको लगता है कि हम भी हैं । जब हम दूसरे को नीचे गिरा देते हैं, तभी हमको लगता है कि हम ऊंचे हैं । जब हम दूसरे को बुरा सिद्ध कर देते हैं, तभी हमें लगता है कि हम भले हैं । जब दूसरे को चोर जाहिर कर देते हैं, तभी हमें लगता है कि हम अचोर हैं । हम हैं तो नहीं, इसलिए दूसरे की तरफ से हमें अपने को सिद्ध करना पड़ता है । जो अचोर है, वह दूसरे को चोर सिद्ध करके अपने को अचोर सिद्ध नहीं करता । जो ब्रह्मचर्य को उपलब्ध है, वह दूसरे को व्यभिचारी सिद्ध करके अपने को ब्रह्मचारी सिद्ध नहीं करता । निन्दा में इसीलिए रस है । प्रशंसा में बड़ी पीड़ा होती है । अगर कोई आपसे आकर कहे कि फलां व्यक्ति बड़ा साधु पुरुष है, तो धक से चोट लगती है, ऐसा हो कैसे सकता है मेरे रहते ! और कोई दूसरा पुरुष साधु कैसे हो सकता है, जब अभी हम

जमीन पर मौजूद है !

मुल्ला नसरुद्दीन मर रहा है। आखिरी घड़ी उसके सब शिष्य इकट्ठे हो गए है। मुल्ला आंख बन्द किए पड़ा है। मरते क्षण, शिष्य जितनी प्रशंसा कर सकते हैं, कर रहे हैं। एक शिष्य कह रहा है कि ऐसा ज्ञानी हमने कभी नहीं देखा। शास्त्र तो जीभ पर रखे थे। मुल्ला थोड़ी-सी आंख खोल कर देखता है और आंख बन्द कर लेता है। दूसरा शिष्य कहता है कि ऐसा दानी भी हमने नहीं देखा। कोई भी आ जाए, सदा देने को तैयार रहा। मुल्ला थोड़ी-सी आंख खोलकर फिर आंख बन्द कर लेता है। तीसरा कहता है, इतनी सेवा से भरा हुआ व्यक्ति हमने कभी नहीं देखा। मुल्ला फिर आंख खोलकर बन्द कर लेता है। फिर वे सब चुप हो जाते हैं। और कुछ बताने को बचता भी नहीं। तब मुल्ला कहता है, एक चीज तुम छोड़ दे रहे हो। मुझसे ज्यादा विनम्र आदमी भी कोई नहीं था। विनम्रता में भी अहंकार छिपा होता है। मुल्ला कहता है, मुझसे ज्यादा विनम्र आदमी भी कोई नहीं था, यह भी तो ख्याल करो। 'मुझसे ज्यादा विनम्र कोई भी नहीं था', यही तो अहंकार होगा। और क्या अहंकार होगा ?

दूसरे की प्रशंसा सुनकर चोट लगती है कि मुझसे भी आगे कोई है। इसलिए हम प्रशंसा को कभी मानते नहीं, सुन भी लें, तो मानते नहीं। हम जानते हैं, जरूर कहीं न कहीं कोई ट्रिक होगी, कहीं न कहीं कोई गड़बड़ होगी ही। पता नहीं चला होगा अब तक, लेकिन कहीं न कहीं कोई बात होगी, जो कल पता चल जाएगी और राज खुल जाएगा। लेकिन जब कोई निन्दा करता है किसी की, तो देखें, हमारे मुंह में कैसा पानी आ जाता है। फिर हम बिल्कुल नहीं पूछते कि सच कह रहे हो, झूठ कह रहे हो, कोई प्रमाण है ? और हम कभी नहीं सोचते कि यह आदमी जो कह रहा है, गलत भी हो सकता है, कभी न कभी पता चल जाएगा कि निन्दा गलत थी, यह ख्याल नहीं आता।

निन्दा कोई करे, तो हम तत्काल मान लेते हैं। कोई कहे कि फलां व्यक्ति साधु है, तो हम कभी नहीं मानते। हम कहते हैं, पता लगाकर देखेंगे। कोई कहे, फलां आदमी चोर है, व्यभिचारी, बदमाश है, तो हम बिल्कुल राजी हैं। हम कहेंगे कि बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, हमें पहले ही पता था। बुराई तो होगी ही, उसमें कोई शक का सवाल ही नहीं है। भलाई संदिग्ध है।

संन्यासी के लिए ऋषि कहता है, वे दूसरों की निन्दा से रहित हैं। वे जीवन-मुक्त हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि संन्यासी के सामने चोर हो, तो संन्यासी उसे चोर नहीं कहेगा। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि व्यभिचारी को संन्यासी व्यभिचारी नहीं कहेगा। अगर संन्यासी व्यभिचारी को व्यभिचारी न कहे, तो उसका वक्तव्य असत्य होगा। गलत को गलत न कहे, तो असत्य होगा। फर्क एक पड़ेगा कि संन्यासी गलत को ही गलत कहेगा और उसमें कोई रस नहीं होगा उसे। रस

नहीं होगा कि तुम गलत हो, तो उसको मजा आ जाए। तुम गलत हो, तो यह गणित की तरह गलत होगा कि दो और दो तीन नहीं होते। इसमें कोई रस नहीं है। संन्यासी भी चोर को चोर ही कहेगा, लेकिन चोर को ही चोर कहेगा और और कोई रस नहीं लेगा इस बात में। तुम चोर हो, तो उसे कोई रस आ रहा है या तुम्हारे चोर होने से उसके अचोर होने में कोई सुविधा मिल रही या तुम्हारे असाधु होने से उसके साधु होने का कोई सहारा मिल रहा है। नहीं, इसमें कोई रस नहीं होगा।

वे पर निन्दा से मुक्त होते हैं। अ अ है, ब ब है, अंधेरा अंधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। जो जैसा है, वैसा उसे वे देखते हैं। लेकिन कोई रस नहीं है इस बात में। एक फर्क जरूर पड़ता है और वह फर्क यह है कि दूसरे में जो भी भलाई दिखाई पड़े, उसकी चर्चा करने में वे जरूर रस लेते हैं। रस इसलिए लेते हैं कि जिसमें हम रस लें, उसके बढ़ने की सम्भावना हो जाती है। अगर हम इस बात में रस लें, कि दूसरा बेईमान है, तो हमें पता हो या न हो, हम उसकी बेईमानी को बढ़ाने के लिए रास्ता बना रहे हैं। हमारा रस उसके लिए सहारा बन जाता है। अगर हम एक बेईमान में भी गुण खोज लेते हैं और कहते हैं, बेईमान कितना ही हो, लेकिन आदमी बड़ा सरल है। बेईमान कितना ही हो, लेकिन आदमी बड़ा शान्त है। तो हम उस आदमी की शान्ति को बढ़ाने के लिए सहारा दे रहे हैं। और अगर शान्ति बढ़ जाए, तो बेईमानी टिक न सकेगी ज्यादा दिन। अगर सरलता बढ़ जाए, तो आदमी बेईमान कैसे रहेगा ? तो हम उसकी बेईमानी मिटाने में भी सहयोगी हो रहे हैं। हम जिस बात में रस लेते हैं, वह बढ़ती है क्योंकि रस लेना पानी सींचना है। इसलिए निन्दा में संन्यासी को रस नहीं होता। तथ्य में जरूर रस है और जो शुभ है, उसको जरूर वह सींचने की कोशिश करता है।

शिवयोगनिद्रा च खेचरी मुद्रा च गरमानन्दी ।
निर्गुण गुणत्रयम् ।
विवेक लभ्यम् ।
मनोवाग् अगोचरम् ।

निद्रा में भी जो शिव में स्थित हैं और ब्रह्म में जिनका विचरण है, ऐसे वे परमानन्दी हैं।
वे तीनों गुणों से रहित हैं ।
ऐसी स्थिति विवेक द्वारा प्राप्त की जाती है ।
वह मन और वाणी का अविषय है ।

प्रवचन : ७
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २८ सितम्बर, १९७१

अखण्ड जागरण से प्राप्त—परमानन्दी तुरीयावस्था

निद्रा में भी जो प्रभु में स्थित हैं । हम तो जागकर भी पदार्थ में ही स्थित होते हैं। निद्रा की तो बात बहुत दूर है, बेहोशी की तो बात बहुत दूर है । जिसे हम होश कहते हैं, वह भी होश नहीं मालूम पड़ता । क्योंकि उस होश में भी हम पदार्थ के अतिरिक्त और कहीं स्थित नहीं होते । मन दौड़ता रहता है नीचे की ओर । ऋषि कहता है, वे जो ज्ञान को उपलब्ध होते हैं, वे जो ज्ञान की तीर्थ-यात्रा पर निकलते हैं, वे जो स्वयं को जगाते हैं और विवेक में प्रतिष्ठित होते हैं, वे अपनी निद्रा में भी शिव में ही स्थित होते हैं । नींद में भी उनका होश नहीं जाता । हमें तो होश में भी होश नहीं होता । हम तो होश में भी सोए हुए ही होते हैं ।

हमारे जागरण को जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हम अपने जागरण में ऐसा सब कुछ करते हैं, जो केवल बेहोशी में ही किया जा सकता है । हमारे जागरण को इसलिए भी जागरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कैसा है यह जागरण, जिसमें हमें इसका भी पता नहीं चलता कि मैं कौन हूं । इस जागरण को इसलिए भी जागरण नहीं कहा जा सकता कि कुछ भी पता नहीं चलता कि मैं कहां से आता हूं, कहां मैं जाता हूं, क्या है प्रयोजन इस जीवन का, क्यों है यह जीवन, क्या है यह जीवन । जैसे चौराहे पर हम किसी से पूछें कि कहां जाते हो और वह कहे, मुझे पता नहीं और हम पूछें कहां से आते हो, और वह कहे मुझे पता नहीं और हम पूछें कि तुम कौन हो और वह कहे कि यही तो मैं आपसे पूछना चाहता था । तो उस व्यक्ति को हम क्या कहेंगे ? होश में ? जागा हुआ ? लेकिन हमारी भी उससे भिन्न हालत नहीं है ।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरूद्दीन एक ट्रेन में यात्रा कर रहा था । टिकट चेकर ने उससे टिकट मांगी, तो वह अपनी सभी जेबें तलाश गया । उसकी बेचैनी और उसकी पसीने-पसीने की हालत को देखकर टिकट चेकर ने कहा, रहने भी दें । जरूर होगी, जब इतनी उत्सुकता से खोजते हैं । जरूर होगी, जरूर होगी, चिन्ता न करें । नसरूद्दीन ने कहा कि तुम्हारे लिए चिन्ता नहीं कर रहा हूं, चिन्ता अपने

लिए है। सवाल यह है कि मैं कहां जा रहा हूं। तुम्हारे लिए चिन्ता कर ही कौन रहा है। अगर टिकिट खो गई, तो पता कैसे चलेगा कि मैं जा कहां रहा हूं। लेकिन हमारी टिकट खोई हुई ही है। कुछ भी पता नहीं है। हालत हमारी ऐसी है। बेहोशी हमारी थिर है। होश का हमें कोई पता नहीं, इसलिए बेहोशी का भी पता नहीं चलता, क्योंकि पता हमें सब विपरीत से चलता है। अगर अंधेरा सतत हो और रोशनी कभी देखी ही न हो, तो अंधेरे का पता नहीं चलता। कहीं जला हुआ दीया दिख जाए, तब पता चलता है कि कैसे अंधेरे में हम जीते थे, वह अंधेरा क्या था।

अंधेरे को जानने के लिए प्रकाश को जानना जरूरी है। अंधेरे की पहचान नहीं हो सकती। मुल्ला नसरूद्दीन ने पहली ही शादी की थी। पन्द्रह या बीस दिन हुए होंगे, पत्नी बहुत उदास है और अपनी किसी सहेली से कह रही है कि बहुत मुश्किल हो गई। कल ही मुझे पता चला कि नसरूद्दीन शराब पीता है। सहेली ने पूछा, क्या कल वह शराब पीकर आ गया था? उसकी पत्नी ने कहा, नहीं, कल वह बिना पिए आ गया। नहीं तो पता ही न चलता। शादी के पहले उससे मिलती थी, तब भी वह रोज पिए रहता था। तो मैं समझती कि यही उसका ढंग है। शादी के बाद भी पन्द्रह दिन वह पिए रहता था, तो मैं समझती थी कि यही उसका ढंग है। कल वह बिना पिए आ गया और उल्टी-सीधी बातें करने लगा। तब शक हुआ। मैंने पूछा कि क्या शराब पीकर आ रहे हो? ऐसी बात तो तुम कभी नहीं करते। उसने कहा, क्षमा करना, आज मैं पीना भूल गया हूं।

हमारी नींद इतनी थिर है कि हमें यह पता भी नहीं चलता कि वह नींद है। हमारी बेहोशी हमारे खून और हमारी हड्डियों में भर गई है। जन्मों-जन्मों का सघन अंधकार है भीतर। पता ही नहीं चलता। इसलिए चुपचाप जिए चले जाते हैं और इसी को होश कहे चले जाते हैं। यह होश नहीं है, यह केवल जागी हुई निद्रा है। निद्रा के दो रूप हैं—सोई हुई निद्रा और जागी हुई निद्रा।

सोई हुई निद्रा का अर्थ है कि हम भीतर भी सो जाते हैं, बाहर भी सो जाते हैं। जागी हुई निद्रा का अर्थ है, भीतर हम सोए रहते हैं, बाहर हम जाग जाते ठीक ऐसे ही दो तरह के जागरण भी हैं। जैसे दो तरह की निद्राएं हैं, ऐसे ही दो तरह के जागरण भी हैं। ऋषि उसी जागरण की बात कर रहा है। वह कह रहा है कि वे जो संन्यस्त हो जाते हैं, वे नींद में भी जागे रहते हैं। उनकी नींद भी प्रभु से ही भरी रहती है। वे कितनी ही गहरी नींद में सो रहे हों, उनके भीतर कोई जागकर प्रभु के मन्दिर पर ही खड़ा रहता है। वे स्वप्न भी नहीं देखते। वे कोई विचार भी नहीं करते, एक में ही रम जाते हैं। बुद्ध कहते थे, वे ऐसे हो जाते हैं, जैसे सागर का पानी कहीं से भी चखो, वह खारा है। उन्हें कहीं से भी चखो, वे प्रभु से ही भरे हुए हैं। उनका स्वाद ब्रह्म ही हो जाता है।

इस सूत्र में कहा है, निद्रा में भी जो शिव में स्थित हैं—'शिवयोगनिद्रा च खेचरीमुद्रा च परमानन्दी।' वे जो नींद में भी परम शिवत्व में ठहरे हुए हैं और ब्रह्म में जिनका विचरण है। उठते हैं, बैठते हैं चलते हैं तो ब्रह्म में। जगत् में नहीं, ब्रह्म में। लेकिन हम तो उन्हें जगत् में चलते देखते हैं। हमने बुद्ध को चलते देखा है इसी जमीन पर, महावीर को चलते देखा है इसी जमीन पर। यही जमीन है, यहीं उनके भी चरण-चिन्ह बनते हैं, इसी मिट्टी में, इसी रेत में, इन्हीं वृक्षों के नीचे उन्हें बैठे देखा गया है।

और यह सूत्र कहता है कि वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं। वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं, क्योंकि जो हमें जमीन दिखाई पड़ती है, वह उन्हें ब्रह्म ही मालूम होती है। और जो हमें वृक्ष मालूम पड़ता है, वह ही उन्हें ब्रह्म की छाया ही मालूम होती है। जो इस जमीन पर चलता है, उसका शरीर भी उन्हें ब्रह्म का ही रूप मालूम होता है। उनके लिए सभी कुछ ब्रह्म हो गया। जिसने अपने भीतर झांक कर देखा, उसके लिए सभी कुछ ब्रह्म हो जाता है। और जो अपने बाहर ही देखता रहा, धीरे-धीरे उसके भीतर भी पदार्थ भी रह जाता मालूम पड़ता है। जिसकी दृष्टि बाहर है, उसे भीतर भी आत्मा दिखाई नहीं पड़ेगी। जिसकी दृष्टि भीतर है, उसे बाहर भी आत्मा ही दिखाई पड़ती है। वे ब्रह्म में ही विचरण करते हैं और परम आनन्दित हैं। जिसका ब्रह्म में विचरण हो और जिसकी निद्रा भी भागवत-चैतन्य में हो, वहां दुख का प्रवेश कैसा!

और एक बात समझ लें। वहां दुख भी नहीं होता और सुख भी नहीं होता, अन्यथा हमें सदा भूल होती है। जब इस सूत्र को हम पढ़ेंगे या ऐसे किसी भी सूत्र का पढ़ेंगे, तो हमें लगेगा कि वहां सुख ही सुख होगा। लेकिन हमारा दुख भी भी वहां नहीं होता, हमारा सुख भी वहां नहीं होता, क्योंकि हम ही वहां नहीं होते। हमने जिसे दुख जाना है, वह तो होता ही नहीं। हमने जिसे सुख जाना है, वह भी नहीं होता। वहां दोनों ही शून्य हो जाते हैं और तब जो प्रकट होता है, उसका नाम आनन्द है।

आनन्द सुख नहीं है। इसे ठीक से समझ लें। आनन्द सुख नहीं है। आनन्द सुख और दुख दोनों का अभाव है। असल में दुख की भी अपनी पीड़ा है और सुख की भी अपनी पीड़ा है। दुख तो दुख है ही, जो जानते हैं वे कहते हैं, सुख भी दुख का एक ढंग है। दुख तो दुख है, सुख प्रीतिकर है, जिसे हम चाहते हैं। बस, इतना ही फर्क है। इसलिए कोई भी सुख किसी भी दिन दुख हो जाता है। हमारी चाह हट जाती है, दुख हो जाता है। कोई भी दुख किसी भी दिन सुख बन सकता है। अगर हमारी चाह उससे जुड़ जाए, तो वह भी सुख बन जाता है। सुख और दुख घटनाओं में नहीं होते, परिस्थितियों में नहीं होते, वस्तुओं में नहीं होते, सुख और दुख हमारे चाहने और न चाहने में होते हैं। जिसे हम चाहते हैं,

वह सुख मालूम पड़ता है; जिसे हम नहीं चाहते, वह दुख मालूम पड़ता है। लेकिन कोई बाधा नहीं है कि जिसे हम अभी चाहते हैं, क्षण भर बाद चाहें तो न चाह सकेंगे। क्षण भर बाद नहीं चाह सकते हैं। ऐसी भी कोई बात नहीं है कि जिसे आज हम नहीं चाहते, कल भी उसे नहीं चाहेंगे।

मुल्ला नसरूद्दीन की सास मर गई थी। मुल्ला बड़ा प्रसन्न था, बड़ा आनन्दित मालूम हो रहा था। उसकी पत्नी ने कहा, कुछ तो शर्म खाओ। मेरी मां मर गई है, तुम इतने प्रसन्न हो रहे हो! नसरूद्दीन ने कहा, इसीलिए तो प्रसन्न हो रहा हूं। उसकी पत्नी ने कहा, कभी तो मेरी मां में तुमने अच्छा देखा होता! और अब तो वह मर भी गई। एकाध गुण तो कभी देखा होता! नसरूद्दीन ने कहा, मैंने बहुत कोशिश की तेरी बात मानकर देखने की, लेकिन जब कोई गुण हो ही नहीं, तो दिखाई कैसे पड़े। उसकी पत्नी दुखी थी, मां के मरने से छाती पीटकर रोने लगी। उसने कहा, मेरी मां ने ठीक ही कहा था। शादी के पहले उसने बहुत जिद की थी कि इस आदमी से शादी मत करो। नसरूद्दीन ने कहा, क्या कहती है? तेरी मां ने शादी से रोका था? काश, मुझे पता होता तो मैं उसे इतना बुरा कभी भी नहीं समझता। बेचारी! अगर मुझे पता होता तो उसे बचाने की कोशिश करता, इतनी भली स्त्री थी, यह तो मुझे पता ही नहीं था। सास मर गई थी, तो सुख था, अब दुख हो गया।

वह जो चाह है भीतर, उसका जरा-सा सम्बन्ध कहीं से भी शिथिल कर ले, या जोड़ लें, तो सब बदल जाता है। यह जो हमारा मन है, जिससे जुड़ जाता है, वहां सुख मालूम होता है। सुख एक भ्रांति है, जो उसके साथ मालूम पड़ती है। जिससे मन जुड़ जाता है। दुख भी एक भ्रांति है, जो उसके साथ मालूम पड़ता है, जिससे मन टूट जाता है।

बुद्ध ने बहुत बार कहा है कि प्रियजनों के मिलने में सुख है और बिछड़ने में दुख। अप्रियजनों के मिलने में दुख है, बिछुड़ने में सुख। दोनों बराबर हैं। अनुपात तो बराबर है। सुख भी मन पर उसका एक तनाव है, जिसे हम पसन्द करते हैं। दुख भी मन पर उसका एक तनाव है, जिसे हम पसन्द नहीं करते। सुख का तनाव भी आदमी को रुग्ण कर जाता है, दुख का तनाव भी रुग्ण कर जाता है। क्योंकि दोनों ही मनुष्य के लिए बोझ सिद्ध होते हैं। आनन्द अतनाव, तनावरहित, उत्तेजनाशून्य अवस्था है। न वहां दुख है, न वहां सुख है। फर्क समझ लें, प्रियजन से मिलने में सुख है, अप्रियजन से बिछुड़ने में सुख है। प्रियजन से बिछुड़ने में दुख है। अप्रियजन से मिलने में दुख है। आनन्द कब होगा? जहां कोई भी नहीं बचता और सिर्फ मैं ही बच रहता हूं, सिर्फ चेतना ही बच रहती है। न किसी से मिलना और न किसी से बिछुड़ना। जहां स्वभाव में थिरता आ जाती है, वह आनन्द है।

ऋषि कहता है, ऐसे वे परममानन्दी हैं, वे परम आनन्द में हैं। क्योंकि वे स्वभाव में जीते हैं, शिव में जीते हैं, प्रभु में जीते हैं, ब्रह्म में जीते हैं। वह जो आत्यन्तिक सत्य है, उसमें जीते हैं। बाहर नहीं जीते, भीतर जीते हैं। वह जो भीतर में मूल-स्रोत है, उससे जुड़कर जीते हैं। वहां कोई दुख नहीं क्योंकि वहां कोई सुख नहीं। हमारा तर्क कुछ और है। हम कहते हैं, वहां कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां सुख ही सुख है। ऋषि कहते हैं, वहां कोई दुख नहीं, क्योंकि वहां कोई सुख नहीं। जहां सुख ही नहीं, वहां दुख नहीं हो सकता। और जहां दोनों नहीं हैं, वहां जो रह जाता है शेष, वह आनन्द है। इसलिए आनन्द को स्वभाव कहा है।

दुख भी दूसरे से मिलता है और सुख भी दूसरे से मिलता है। यह आपने ख्याल किया है? मिलता आपको है, लेकिन मिलता दूसरे से है। दूसरा सदा निमित्त होता है। दुख भी दूसरे से मिलता है, और सुख भी। गाली भी कोई देता है, प्रशंसा भी कोई करता है। आनन्द स्वयं से मिलता है, दूसरे से नहीं। दुख भी परतन्त्र है। दूसरा चाहे तो सुख खींच ले और दूसरा चाहे तो दुख खींच ले। वह दूसरे के हाथ में है। आप गुलाम हैं, लेकिन आनन्द स्वतन्त्र है। वह दूसरे के साथ नहीं मिलता। उसे दूसरा नष्ट नहीं कर सकता। जो इस भांति जागकर जीता है। कि प्रभु में ही उसका विचरण बन जाता है, वह परम आनन्द में जीता है।

वे तीनों गुणों से रहित हैं। ऐसी अवस्था को उपलब्ध चेतनाएं निर्गुण अर्थात् तीनों गुणों से रिक्त और मुक्त होती हैं। तीन गुणों से सारा जगत् निर्मित है। जो भी निर्मित है, वह तीन गुणों से निर्मित है। यह तीन का आंकड़ा बहुत कीमती है। और सबसे पहले, सम्भवतः, भारत ने ही तीन के इस गणित को खोजा। नाम बदलते रहे हैं, लेकिन तीन की संख्या नहीं बदलती है। भारतीय कहते रहे हैं, तीन गुण हैं—सत्, रज और तम। इन तीन से मिलकर यह जगत् बना। क्रिश्चियन कहते हैं, ट्रिनिटी है। त्रैत है जगत्, गॉड द फादर, होली घोस्ट, ऐण्ड जीसस क्राइस्ट द सन। पिता परमात्मा और पवित्र आत्मा—दो, और पुत्र क्राइस्ट—तीन, इन तीन से मिलकर सारा जीवन है। ये नाम अलग हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं, जितना हम अस्तित्व में प्रवेश करते हैं, उतना ही पता चलता है कि तीन से मिलकर सारा अस्तित्व बना है। उनके नाम अलग हैं। वैज्ञानिक कहते हैं, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन। इन तीन से मिलकर सारा जगत् बना है। लेकिन एक बहुत मजे की बात है कि चार कोई नहीं कहता, दो भी कोई नहीं कहता। वे क्या परिभाषाएं करते हैं, क्या नाम देते हैं, यह दूसरी बात है। युग भी बदलते हैं। शब्द बदलते हैं। परिभाषाएं भी बदल जाती हैं,

लेकिन यह तीन की संख्या कुछ महत्वपूर्ण मालूम पड़ती है। यह थिर मालूम पड़ती है।

जगत् एक त्रैत है। तीन से मिलकर बना है। लेकिन विज्ञान कहता है, बस इन तीन में सब समाप्त है। यहां उसकी भूल है। अभी उसे चौथे का पता नहीं है। क्योंकि जो इन तीन को जानता है, वह तीसरा नहीं हो सकता, तीन में नहीं हो सकता है। जो इन तीन को जानता है, और पहचानता है वह चौथा ही हो सकता है—द फोर्थ।

हिन्दू बहुत अद्भुत रहे है शब्दों की खोज में। पुरानी कौम है और उसने अनुभव किए हैं और बहुत-सी बातें खोजी हैं। हमने जो चौथे के लिए नाम रखा, वह नाम नहीं रखा क्योंकि नाम रखने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि पांचवां है ही नहीं। इसलिए चौथी अवस्था को हमने कहा, तुरीय। तुरीय का अर्थ होता है—सिम्पली द फोर्थ—चौथा। उसका कोई नाम नहीं है। बस, 'चौथे' से काम चल जाएगा, उसके आगे कोई बात ही नहीं।

अभी रूस के एक बहुत बड़े गणितज्ञ डा० पी० डी० आस्पेंस्की ने एक किताब लिखी है, 'द फोर्थ वे—चौथा मार्ग।' और आस्पेंस्की करीब-करीब घूम-घूमकर वहीं आ गया है, जहां तुरीय की धारणा आती है। तीन से काम नहीं चलेगा, क्योंकि तीन से जो निर्मित है, उसको जानने वाला एक चौथा भी है, जो अलग मालूम पड़ता है। पदार्थ तीन से निर्मित है, यह सत्य है; जगत् तीन से निर्मित है, यह सत्य है; लेकिन एक चौथा भी है जो जगत् के भीतर भी होकर जगत् के बाहर है। वह चौथा है—चेतना, कांशियसनेस, बोध। जो इस चौथे को जान लेता है, वह निर्गुण हुआ—तीन गुणों के पार हो जाता है।

द फोर्थ मस्ट बी नोन। उस चौथे के जाने बिना तीन के बाहर आदमी नहीं होता। और जब तक चौथे को नहीं जानता, तब तक तीन में से किसी एक के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर समझता है, यही मैं हूं। जन्मों-जन्मों तक यह भूल चलती चली जाती है। तीन में से किसी से हम अपने को जोड़ लेते हैं और कहते हैं, यही मैं हूं और उसका हमें पता ही नहीं, जो कह रहा है, जो देख रहा है, जो जान रहा है—उसका हमें कोई पता नहीं। पता इसलिए नहीं चलता, जैसे कि किसी दर्पण के सामने सदा ही भीड़ गुजरती हो। दर्पण बाजार में लगा हो, एक पान वाले की दुकान पर लगा हो। भीड़ दिन भर गुजरती है। कोई बैठा हुआ देखता है, दर्पण कभी खाली न दिखे। सदा भरा रहे, सदा भरा रहे, सदा भरा रहे। उस आदमी ने कभी खाली दर्पण न देखा हो, तो क्या उसे पता चलेगा कि इस भीड़ की जो तस्वीरें निकली हैं, उनके अलावा भी दर्पण कुछ है? कैसे पता चलेगा? वह जानेगा कि दर्पण उस भीड़ का नाम है, जो गुजरती रहती है। उसे दर्पण का कभी पता न है चलेगा। दर्पण का पता तो तभी चल सकता है, जब

दर्पण खाली हो, भीड़ न गुजर रही हो। भीड़ में दब जाता है। इसे छोड़ें, और दूसरे उदाहरण से आसान होगा समझना।

आप फिल्म देखने गए हैं। पर्दा दिखाई नहीं पड़ता, जब तक फिल्म चलती रहे। पर्दा दिखाई कैसे पड़ेगा, आवृत है, फिल्म दौड़ रही है, चित्र दौड़ रहे हैं। और बड़े मजे की बात है, पर्दा चित्रों से ज्यादा वास्तविक है। लेकिन जो ज्यादा वास्तविक है, वह चित्रों में दब गया है। चलचित्र में कुछ भी नहीं है, सिर्फ धूप-छांव है। वह सिर्फ छाया और प्रकाश का जोड़ है। लेकिन तब तक न दिखेगा पर्दा आपको, जब तक चलचित्र समाप्त न हो जाए, चित्र बन्द न हो जाए। चित्र बन्द हो, तो आप चौंकेंगे कि फिल्म तो झूठ थी, झूठ के पीछे एक अलग सच्चाई थी। वह सफेद पर्दा है।

हमारा वह जो चौथा है अंक, वह जो हमारा वास्तविक स्वभाव है, वह जो तुरीय है हमारे भीतर छिपा हुआ, उसका हमें तब तक पता नहीं चलेगा, जब तक हम विचारों की भीड़ और विचारों की फिल्म से दबे रहेंगे। जिस दिन विचार बन्द हो जाते हैं, उसी दिन अचानक पता चलता है कि मैं विचार नहीं, मैं तो कुछ और हूं। मैं शरीर नहीं, मैं तो कुछ और हूं। मैं मन नहीं, मैं तो कुछ और हूं। इसका तो मुझे पता ही नहीं।

ऋषि कहता है, जो निद्रा में जागकर सोते हैं, ब्रह्म में जिनका आचरण है, विचरण है, परम आनन्द में जो स्थिर हैं, वे चौथे को जान लेते हैं, वे तुरीय को पहचान लेते हैं, 'द फोर्थ' के जानने वाले हो जाते हैं। वे तीनों के पार हो जाते हैं।

वे तीनों गुणों के पार हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि अब वे अपना सम्बन्ध तीन गुणों से नहीं जोड़ते—सत्, रज, तम से नहीं जोड़ते। अब वे जानते हैं कि हम पृथक हैं, हम और हैं। हर स्थिति में जानते हैं। बूढ़े हो जाएं, तो वे जानते है कि जो बूढ़ा हो गया, वह तीन गुणों का जोड़ है, मैं नहीं। बीमार हो जाएं, तो वे जानते हैं कि वह तीन गुणों का जोड़ है, जो वह बीमार हो गया। मौत आ जाए, तो वे जानते हैं, मौत में वही मिट रहा है जो जन्म में जुड़ा है—तीन गुणों का जोड़। मैं नहीं। वे सदा ही अपने को पार, ट्रांसेंड, अतिक्रमण में देख पाते हैं—सदा हर स्थिति में। और जब ऐसा अनुभव हो कि हर स्थिति में कोई अपने को तीनों गुणों के पार देख पाए, तो उस अनुभव का सूत्र क्या होगा? कैसे यह अनुभव होगा? तो ऋषि कहता है, विवेक लभ्यम्। ऐसी जो स्थिति है वह विवेक के द्वारा, अवेयरनेस के द्वारा, होश के द्वारा प्राप्त होती है।

विवेक का बड़ा भ्रांत अर्थ समझा जाता है। विवेक से हम जो अर्थ लेते हैं, वह अंग्रेजी के शब्द डिसक्रिमिनेशन का है। आमतौर से भाषा-कोश में लिखा होता है, विवेक का अर्थ है भेद करने की बुद्धि—द पावर ऑफ डिसक्रिमिनेशन। सच में

विवेक की यह परिभाषा या यह अर्थ बहुत ही सीमित और आंशिक है। विवेक का पूर्ण अर्थ है होश, अमूर्च्छा, अवेयरनेस। विवेक का अर्थ है अप्रमाद, विवेक का अर्थ है आत्मस्मृतिपूर्वक जीना। गुरुजिएफ ने इसे सेल्फ रिमेंबरिंग कहा है।

गुरुजिएफ कहता था, रास्ते पर चलते हो, तो चलते वक्त चलने की क्रिया भी होनी चाहिए और चल रहा हूं मैं, इसे जानने की शक्ति भी पूरे वक्त सक्रिय होनी चाहिए। देखते हो, तो देखने की क्रिया भी होनी चाहिए और भीतर छिपा है जो देखने वाला, उसका भी स्मरण बना रहना चाहिए कि मैं देख रहा हूं। देखने की क्रिया हो रही है, इसका भी बोध बना रहना चाहिए। क्रियाओं के जाल के बीच में केन्द्र पर जागी हुई दीए की तरह चेतना को खड़ा रहना चाहिए और देखते रहना चाहिए। विवेक लभ्यम्। ऐसे दीए का जो लाभ है, जो फल है, जो परिणाम है, वह तीन गुणों के पार जाने वाला है। हम अपनी क्रियाओं को समझें, तो ख्याल में आ जाएगा।

कभी रास्ते के किनारे बैठ जाएं। रास्ते पर चलते हुए लोगों को जरा देखें। अनेक लोगों को पाएंगे कि वे अपने से ही बातचीत किए चले जा रहे हैं। उनके चेहरे पर हाव-भाव आ रहे हैं। भीतर बहुत-कुछ चल रहा होगा। रास्ता पार कर रहे हैं, लेकिन उन्हें पता नहीं कि वे रास्ता पार कर रहे हैं, क्योंकि भीतर चेतना तो किसी और बात में उलझी हुई है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अधिकतम दुर्घटनाएं, जो सड़कों पर हो रही हैं, वे हमारी मूर्च्छा के परिणाम हैं। एक आदमी कार चलाए जा रहा है और भीतर सोया हुआ है। होश तो नहीं है, खतरा तो होगा ही। दुर्घटनाए इतनी कम होती हैं, यही आश्चर्यजनक है। आदमी को देखते हुए खतरे बहुत कम होते हैं, दुर्घटनाएं बहुत कम होती हैं। अपने को भी ख्याल में लें। जब आप किसी से बात कर रहे होते हैं, तब बात होशपूर्वक करते हैं कि बात अलग चलती रहती है, भीतर कुछ और भी चलता रहता है और बेहोशी बनी रहती है!

अपनी सारी क्रियाएं हम मूर्च्छा में चला रहे हैं। अगर विवेक को जगाना हो, उस विवेक को, जो आधार बन जाता है आध्यात्मिक सिद्धि में, तो हमें एक-एक क्रिया के साथ होश को जोड़ना पड़ेगा। भोजन कर रहे हैं, होशपूर्वक करें। होश-पूर्वक का क्या अर्थ है? अर्थ है कि हाथ ऊपर उठे, तो भीतर चेतना जाने कि अब हाथ ऊपर उठता है, कौर बांधें तो चेतना जाने कि अब अभी कौर बनता है। मुंह में कौर जाए, चबाएं, तो चेतना जाने कि अब मैं चबा रहा हूं। छोटे से छोटा काम भी हो तो चेतना के जानते हुए हो। चेतना के अनजाने न हो पाए कोई काम। कठिन है, बहुत कठिन है। एक सेकेन्ड भी होश से भरे रहना बहुत कठिन है, लेकिन प्रयोग से सरल हो जाता है। छोटे-छोटे प्रयोग करते रहें।

ख़ाली बैठे हैं, आंख बन्द कर लें, श्वास को ही देखते रहें कि श्वास का होश

रखूंगा। आप बहुत हैरान होंगे कि एकाध सेकेन्ड भी होश नहीं रहता और होश दूसरी बात में चला जाता है। श्वास भूल जाती है। फिर होश को लौटा लाएं, फिर श्वास को देखने लगें। घूमने निकले हैं, तो अभ्यास करें कि ध्यानपूर्वक कदम रखूंगा—जानता रहूंगा कि बायां पैर उठा, दायां पर उठा। कहने को नहीं कह रहा हूं कि जब बायां पैर उठे, तो आप भीतर कहें कि बायां उठा और अब दायां उठे तो कहें, दायां उठा। अगर आप ऐसा कहने में लग गए, तो पैर का होश खो जाएगा। मैं यह करने को नहीं कह रहा हूं। 'फील इट'—बायां उठ रहा है, तो भीतर अनुभव करें, बायां उठ रहा है। मुझे तो कहना पड़ रहा है, आपको कहने की जरूरत नहीं है। जब बायां पैर उठे, तो आप सिर्फ जानें कि बायां उठा। जब दायां उठे तो जानें कि दायां उठा। दस-पांच कदम में ही आप पाएंगे कि हजार दफे भूल हो जाती है। एक पैर उठता है, दूसरा भूल ही जाता है। ख्याल ही नहीं रहता कि दायां कब उठ गया। तब आपको पता चलेगा कि कितनी मूर्च्छा है।

अपने चलते हुए पैर का भी पता नहीं है, तो जिन्दगी के और रास्तों का क्या पता होगा? क्षण भर को होश नहीं रख पाता हूं श्वास का, तो क्रोध का तो होश कैसे रख पाऊंगा। श्वास-जैसी निर्दोष (इनोसेंट) क्रिया, जिसमें किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, किसी को कुछ लेना-देना नहीं—निर्दोष बिल्कुल, निजी बिल्कुल—उसमें भी नहीं होश रह पाता। मैं कसमें लेता हूं कि अब क्रोध नहीं करूंगा, कैसे चलेंगी ये कसमें? कसम एक तरफ पड़ी रह जाएगी। जब क्रोध आएगा, तो होश का पता ही नहीं रहेगा। क्रोध हो जाएगा, तब पीछे से पता चलेगा। पीछे से तो दुनिया में सभी बुद्धिमान होते हैं।

मुल्ला नसरूद्दीन एक दिन किसी सभा में भाषण करके लौट रहा था। पत्नी से कहने लगा कि तीसरा भाषण सबसे जोरदार हुआ। पत्नी ने कहा, तीसरा भाषण? तुम्हारा अकेला तो भाषण ही था! मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, मेरा ही तीसरा भाषण। उसकी पत्नी ने कहा, लेकिन तीसरा! एक कुल जमा तुमने भाषण दिया। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, पहले मेरी बात सुनो। एक भाषण तो वह है, जो मैं घर से तैयार करके चला था कि दूंगा। एक वह है, जो मैंने दिया। और एक वह है, जो मैं अब सोच रहा हूं कि दिया होता। यह तीसरा सबसे अच्छा है—द बेस्ट, इसका कोई मुकाबला नहीं। बेहोश आदमी ऐसा ही चल रहा है। जो कहना चाहता था, वह नहीं कहा। जो कहा, वह कहना नहीं चाहता था। जो कहना चाहता था, वह अपने भीतर कह रहा है। यह सब चल रहा है, बेहोशी के कारण।

यदि त्रिगुण के पार जाना हो तो होश को जगाना होगा, विवेक को जगाना होगा। त्रिगुण के पार जाए बिना अमृत की प्राप्ति नहीं है। तीन गुणों के भीतर तो मृत्यु ही मिलती है, चौथे में अमृत है। इसको साधना पड़ेगा—उठते-बैठते,

जागते-सोते !

आप जिन्दगी में कितनी दफे सो चुके हैं। आदमी साठ साल जीता है, तो कम से कम बीस साल तो सोता है। आठ घंटे रोज सोए, तो साठ साल में बीस साल सोने में गुजर जाते हैं। बीस साल ! अगर आप साठ साल के हैं, तो बीस सो चुके हैं, लेकिन कभी आपने नींद को आते देखा ? कभी नींद को जाते देखा ? बीस साल सोते हो गए, आपको यह भी पता नहीं किस क्षण में आती है और किस क्षण में जाती है। अपनी ही नींद, लेकिन होश बिल्कुल नहीं ! अपना ही जागरण, लेकिन होश बिल्कुल नहीं ! तो प्रयोग करें।

रात सो रहे हैं, बिस्तर पर पड़े हैं। होश रखें कि कब नींद आ जाती है। जागते-जागते कब नींद का धुआं उतरता है। कब नींद का अंधेरा भीतर छा जाता है। कब हृदय की धड़कनें शिथिल हो जाती हैं। कब श्वास तंद्रिल हो जाती है। कब भीतर सपने जगने लगते हैं। देखते रहें। महीनों तक तो कोई पता नहीं चलेगा। सुबह ही आपको पता चलेगा अरे, नींद आ गई ! लेकिन अगर प्रयास किया धीरे-धीरे, तो किसी दिन अचानक अभूतपूर्व अनुभव होता है—जब कोई नींद को अपने ऊपर उतरते देख लेता है। और ध्यान रहे, जब आप नींद को अपने ऊपर उतरते देख लेते हैं, तब आप नींद में भी जागने में समर्थ हो जाते हैं। क्योंकि तब फिर क्या बात रही, नींद को हमने देखा कि नींद उतर रही है—हम देख रहे हैं, हम जागे हुए हैं। नींद आ गई, उसने सब तरफ से घेर लिया और हम देख रहे हैं कि भीतर कोई जागा हुआ है। लेकिन अभी तो जागने में ही जागने की कोशिश करें। अभी नींद में जागने की कोशिश से कोई फायदा न होगा। जो जागने में ही जागा हुआ नहीं, वह नींद में कैसे जागेगा ! अभी जागने में ही जागें। जो भी करते हैं, उसको करते समय होश भी रखने की कोशिश करें। कोई भी काम कर रहे हैं छोटा-मोटा, तो होश साथ में रखने की कोशिश करें।

अभी आप मुझे सुन रहे हैं। मैं बोल रहा हूं, आप सुन रहे हैं। तो सारा होश मुझ पर मत रखें। मुझे सुनें, लेकिन सुनने वाले का भी ख्याल रखें कि कोई सुन रहा है। कोई बोल रहा है बाहर, कोई सुन रहा है भीतर। दोनों के बीच शब्दों का आदान-प्रदान हो रहा है। लेकिन बोलने वाले में इतने सम्मोहित न हो जाएं इतने खो न जाएं कि सुनने वाले का पता ही न रहे, क्योंकि असली तो सुनने वाला ही है। उसकी याद बनी रहनी चाहिए। चेतना का तीर दोनों तरफ होना चाहिए—इधर बोलने वाले की तरफ, उधर सुनने वाले की तरफ। दोनों तरफ होश रहे। और तब आपकी जो समझ होगी, वह बहुत गहरी हो जाएगी। क्योंकि जब सुनने वाला सोया हुआ है, तो बोलने वाला क्या समझा पाएगा ? और अगर सुनने वाला जागा हुआ है, तो बोलने वाला चुप भी रह जाए, तो भी समझा सकता है।

इसी सम्बन्ध में आपको कल के लिए खबर दे दूं कि दोपहर को जो तीस मिनट का मौन है, वह अकारण नहीं रखा है। उस तीस मिनट में मैं आपसे मौन बोलने की कोशिश कर रहा हूं। तो आप तीस मिनट रिसेप्टिव, संग्राहक होने की कोशिश करें। पन्द्रह मिनट कीर्तन, पन्द्रह मिनट आपको जो मौज आए वह और फिर तीस मिनट आप अपने सब द्वार-दरवाजे खोल कर होशपूर्वक बैठ जाएं कि कोई आवाज किसी सूक्ष्म मार्ग से आए, तो मेरे दरवाजे बन्द न हों। तो मैं आपसे मौन में बोलने की कोशिश कल से शुरू करूंगा।

कल से आप मौन में सिर्फ अपने को खुला रखें और शान्त रहें, तो बिना वाणी के आपसे छोड़ी बात हो सके। सच तो यह है कि जो महत्त्वपूर्ण है, वह वाणी से नहीं कहा जा सकता, उसे तो मौन में ही कहा जा सकता है। और अगर वाणी का उपयोग भी किया जा रहा है, तो सिर्फ इसीलिए कि किसी तरह आपको वाणी के पार, मौन की क्षमता और मौन में समझने की योग्यता हो पाए। ऋषि कहता है, विवेक लभ्यम्। विवेक से उपलब्ध होती है वह स्थिति।

'मनोवाम् अगोचरम्।' वह स्थिति मन और वाणी का अविषय है। वह स्थिति, जो विवेक से उपलब्ध होती है, न तो मन से जानी जा सकती है और न वाणी से समझायी जा सकती है। वह इन दोनों के लिए अविषय है। इन दोनों का ऑब्जेक्ट नहीं है। इसे ठीक से समझ लें। मन और वाणी का अविषय है वह स्थिति।

मन का अविषय कौन होता है ? जो मन के पार है, वह मन का विषय नहीं बन सकता। मन उसे देख सकता है, जो मन के सामने है। मन उसे नहीं देख सकता, जो मन के पीछे है। जैसा मैंने कहा, दर्पण उसे देख सकता है, जो दर्पण के सामने है। दर्पण उसे नहीं देख सकता, जो दर्पण के पीछे है। लेकिन दर्पण नहीं देख सकता जो दर्पण के पीछे है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि दर्पण के पीछे कुछ भी नहीं है। दर्पण का न देखना अस्तित्व का अभाव नहीं है। सिर्फ दर्पण की क्षमता की सूचना है।

मन हमारा दर्पण है जगत् के लिए—जस्ट ए मिरर। ये जो चारों तरफ विराट् पदार्थ का जगत् है, इसे मिरर करने के लिए, इसे दिखाने के लिए, इसका प्रतिबिम्ब बनाने के लिए मन की इन्द्रिय है। मन के और अंग हैं। आंख मन का एक द्वार है, जहां से रूप प्रवेश करता है, आकृति और रंग प्रवेश करते हैं। कान दूसरा द्वार है, जहां से ध्वनि प्रवेश करती है या शब्द प्रवेश करते हैं। हाथ, नाक ये शब्द द्वार हैं। ये पांच इन्द्रियां मन के द्वार हैं। मन इनका आधार है। ये मन के एक्सटेंशन (फैलाव) हैं। इनके द्वारा मन बाहर के जगत् में जाता और जानता है। ये जरूरी है। मन की बड़ी उपयोगिता है। लेकिन आंख बाहर देख सकती है, भीतर नहीं। कान बाहर सुन सकते हैं, भीतर नहीं। हाथ बाहर ही

स्पर्श कर सकते हैं, भीतर नहीं। सब इन्द्रियां बाह्य को विषय बना सकती हैं, लेकिन जो भीतर है, उसे विषय नहीं बना सकती हैं। मन के भी भीतर चेतना हैं। मन के भी पार चेतना है। वह मन का अविषय है। कोई उपाय नहीं है मन के पास कि उस चेतना को जान सके। हमारी यही उलझन है। जगत् में सारी चीजें मन से जान लेते हैं, तो हम सोचते हैं कि मन से ही आत्मा को और चेतना को भी पहचान लें।

कुर्सी को देख लेते हैं मन से, चट्टान को देख लेते हैं मन से, दुकान को देख लेते हैं मन से। गणित पढ़ लेते हैं, भूगोल पढ़ लेते हैं, भाषा पढ़ लेते हैं मन से। विज्ञान के ज्ञाता हो जाते हैं मन से। इससे भ्रांति पैदा होती है कि सभी कुछ मन से जान लिया जाता है। विश्वविद्यालय में जो भी पढ़ाया जाता है, सभी मन से जान लिया जाता है। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में तीन सौ आठ विषयों को पढ़ाते हैं। उसमें सभी कुछ आ जाता है। वह सब मन से जान लिया जाता है, तो भ्रांति पैदा होती है कि फिर यह आत्मा और परमात्मा भी मन से जाने जा सकेंगे। जब मन की इतनी क्षमता है, तो मन सब जान लेगा। चूंकि मन अपने पीछे की चीजों को नहीं जान सकता है, इसलिए मन कह देता है, जिसे मैं नहीं जानता, वह नहीं है। पश्चिम की कठिनाई यही हो गई है।

पश्चिम ने मन से बहुत कुछ जाना है, पूरब से बहुत ज्यादा जाना है। पदार्थ में पश्चिम ने बहुत गति की है, बड़े रहस्य खोजे हैं। उसी से मुश्किल खड़ी हो गई है। वैज्ञानिक सोचता है कि परमाणु को जान सकता हूं मन से, तो यह आत्मा (जिसके लिए मुहम्मद कहते हैं कि गले की जो नस है, वह कट जाए तो आदमी मर जाता है, आत्मा उससे निकट है) जो इतना निकट है उसे न जान सकेंगे? जान लेंगे। मन से वह सदा कोशिश करता है। जब मन नहीं जान पाता, तो निष्कर्ष देता है कि आत्मा नहीं होगी। लेकिन ऋषि कहते हैं, न जानने का कारण यह नहीं है कि आत्मा नहीं है। न जानने का कारण यह है कि आत्मा मन के लिए अगोचर है, अविषय है—नौट एन ऑब्जेक्ट फॉर द माइन्ड—मन के लिए विषय नहीं है।

इसे हम ऐसा समझें, तो हमें आसानी पड़ेगी। आंख देख लेती है, लेकिन सुन नहीं पाती। अगर कोई संगीत सुनने आंख लेकर पहुंच जाए और कहे कि मेरी आंख बिल्कुल दुरुस्त है, चश्मा भी नहीं लगता, पर संगीत सुनाई क्यों नहीं पड़ता? आंख के लिए सुनना अविषय है। लिस्निंग इज नौट एन ऑब्जेक्ट फॉर द आई। सुनना आंख का विषय नहीं है, उसमें आंख का कोई कसूर नहीं है। आंख के पास ध्वनि को पकड़ने का उपाय ही नहीं है। आंख पकड़ती है रंग को, रूप को, आकार को, प्रकाश को—साउण्ड को नहीं, ध्वनि को नहीं। उसके पास इसके लिए यन्त्र नहीं है। ऐसे ही मन पकड़ता है पदार्थ को। चतन्य उसके लिए अविषय है।

इसलिए ऋषि कहता है कि वह मन का अविषय है, अगोचर है। मन को नहीं दिखाई पड़ेगा। इसलिए जो मन से खोजने चला, वह गलत साधन लेकर खोजने चला है। अगर आत्मा नहीं मिलती, तो इससे आत्मा का न होना सिद्ध नहीं होता, इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि आप जो साधन लेकर चले थे, वह असंगत था, इरेलेवेन्ट था। उसका कोई जोड़ ही नहीं बनता था। उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं जुड़ता था। उसके लिए कुछ और ही रास्ते खोजने पड़ेंगे। ध्यान वही रास्ता है। जो मन नहीं करता, वह ध्यान कर पाता है। जो मन के लिए अविषय है, वह ध्यान के लिए विषय है। ध्यान उस नई शक्ति को भीतर से जगाता है, जो मन से अतिरिक्त है—न आंख की है, न कान की है, न हाथ की है, न शरीर की है, न मन की है। इन सबों से अलग-अलग हम इसे दूसरे ढंग से समझें, तो आसानी हो जाएगी।

मैंने कहा, एक दर्पण लगा है। उसके सामने जो पड़ता है, वह दिखाई पड़ जाता है। हम दर्पण के पीछे एक और दर्पण लटका दें, तो पीछे का जो हिस्सा है, वह दिखाई पड़ता है। पदार्थ को पकड़ने के लिए मन एक दर्पण है। ध्यान भी एक दर्पण है, परमात्मा को पकड़ने के लिए। ध्यान के बिना परमात्मा गोचर नहीं हो पाता। ऋषि इसलिए भी कहता है कि वह मन और वाणी का अविषय है, क्योंकि मन सोच सकता है, जान नहीं सकता—इट कैन फील, इट कैन नॉट नो। मन का अर्थ ही होता है मनन की क्षमता—द कैपेसिटी टु थिंक। इसलिए उसको मन कहते हैं। इसीलिए मनुष्य को मनुष्य कहते हैं, क्योंकि वह सोच सकता है। मन का अर्थ है सोचने की क्षमता, विचारने की क्षमता। लेकिन ज्ञान और ही बात है। सच तो यह है कि जहां हमें ज्ञान नहीं होता, वहां मन सब्स्टीट्यूट, परिपूरक का काम करता है। जहां ज्ञान नहीं होता, वहां हम सोचकर ही काम चलाते हैं। जहां ज्ञान होता है, वहां सोचकर काम करने की कोई जरूरत नहीं रह जाती।

अंधे आदमी को कमरे के बाहर जाना है, तो वह पूछता है कि रास्ता कहां है। सोचता है, रास्ता कहां है। पता लगाता है, रास्ता कहां है। आंख वाले आदमी को जब निकलना होता है, तब वह सोचता नहीं है। ख्याल करना, नहीं सोचता कि रास्ता कहां है। सोचता भी नहीं कि दरवाजा कहां है। पूछने का तो सवाल ही नहीं है। भीतर भी नहीं सोचता कि दरवाजा कहां है। आंख वाला आदमी निकल जाता है—उठता है और निकल जाता है। आप उसको याद दिलाएं, तब शायद उसको ख्याल आए कि वह दरवाजे से निकला, अन्यथा दरवाजे का भी उसे ख्याल नहीं आता। आंख जब देख सकती है, तो सोचने की कोई जरूरत नहीं रह गई।

जहां भी ज्ञान होता है, वहां सोचने की जरूरत नहीं रह जाती। अज्ञान में सोचना चलता है। ज्ञान में सोचना बन्द हो जाता है। ऐसा समझें कि अज्ञान के

लिए मन उपाय है। अज्ञान के साथ जीना हो, तो मन चाहिए, बहुत सक्रिय मन चाहिए। ज्ञान में जिसे जीना है, ज्ञान जिसे उपलब्ध हुआ, उसके लिए मन की कोई भी जरूरत नहीं रह जाती। मन बेकार हो जाता है। उसे कचरे को घर में डाला जा सकता है। इसलिए भी ऋषि कहते हैं कि वह मन का विषय नहीं है, वह ज्ञान का विषय है। ज्ञान होता है चेतना को, विचार होते हैं मन को।

साथ ही ऋषि कहता है, वाणी का भी अविषय है वह, शब्दों से भी उसे कहा नहीं जा सकता। इसलिए दूसरे को बतलाने का कोई भी उपाय नहीं। नो वे टु कम्युनिकेट, संवाद करने का कोई उपाय नहीं। गूंगे का गुड़ हो जाता है। जिसे पता चल जाता है, वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है, क्योंकि वह कहना चाहता है किसी को, और कह नहीं पाता। हजार-हजार डिव्हाइसेज, हजार-हजार उपाय खोजता है जिनसे आपको कह दे। फिर भी पाता है कि सब उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, कह नहीं पाता। वाणी का वह अविषय है, क्योंकि वाणी मन की शक्ति है। जिसको मन जान नहीं सकता, उसको मन कहेगा कैसे? अगर मन जान सकता, तो वाणी कह सकती। इसलिए ध्यान रखें, मन जो भी जान सकता है, वाणी उसे कह सकती है। लेकिन जिसे मन जान ही नहीं सकता, वाणी उसे कहेगी कैसे? वाणी तो मन की ही दासी है। वह तो मन का ही एक हिस्सा है। इसलिए वाणी उसे कह नहीं पाती। फिर भी उपनिषद् तो कहा जाता है, वेद तो कहे जाते हैं। बुद्ध चालीस वर्ष तक सतत बोलते हैं, जीसस बोल-बोल कर फंस जाते हैं और सूली पर लटकते हैं।

सुकरात से अदालत कहती है कि तू अगर बोलना बन्द कर दे, तो हम तुझे माफ कर दें। सुकरात कहता है, बोलना कैसे बन्द हो सकता है? आप फांसी ही दे दें। जहर ही पिला दें। वह चलेगा। बोलना बन्द नहीं हो सकता। और यही सुकरात कहता फिरता है कि सत्य बोला नहीं जा सकता, और यही सुकरात बोलने के लिए मरने को तैयार है। मर जाता है, जहर पी लेता है। वह कहता है, बिना बोले रहूंगा कैसे। बोलूंगा ही, यह तो अपना धंधा है। सत्य बोलना तो मेरा धंधा है। इसके बिना मैं जीऊंगा कैसे? और कहता फिरता है कि सत्य कहा नहीं जा सकता! अदालत तो कोई गलत आग्रह नहीं कर रही थी। जब सुकरात खुद ही कहता है कि सत्य नहीं कहा जा सकता, तो अदालत क्या गलत मांग कर रही थी? वह यही कह रही थी कि जो नहीं कहा जा सकता, उसे कृपा करके मत कहो। जो कहा ही नहीं जा सकता, उसको कहने के चक्कर में क्यों पड़ते हो, और कह-कह कर मुसीबत में पड़ते हो! अदालत तक आ गए।

सुकरात ने कहा, वह कहा तो नहीं जा सकता, लेकिन उसे कहने से किसी को रोका भी नहीं जा सकता। जब मैं देखता हूं कि मेरे ही सामने कोई जा रहा है और गड्ढे में गिरेगा, मैं जानता हूं कि नहीं कहा जा सकता कि गड्ढा है, फिर

भी मैं चिल्लाऊंगा। फिर भी मैं आवाज दूंगा। कौन जाने, किसी तरह संकेत मिल जाए। और न भी मिले संकेत, तो कम-से-कम इतनी तो तृप्ति होगी कि मैं चुपचाप खड़ा नहीं रहा था। जो मुझे करना था, वह मैंने किया था। अब अगर परमात्मा की मर्जी नहीं, अस्तित्व का नियम नहीं, तो मेरा कसूर क्या? मेरी कोई जिम्मेवारी, नहीं।

सत्य को जान लेने के बाद एक अल्टीमेट रैस्पांसिबिलिटी है, एक आत्यंतिक जिम्मेवारी आदमी पर पड़ जाती है कि उसने जो जाना है, वह कह दे। कोई सुने तो ठीक, न सुने तो ठीक। सुनने वाला समझे तो ठीक, न समझे तो ठीक। जो कहा है, वह कहा जा सके तो ठीक, न कहा जा सके तो ठीक। लेकिन यह बोझ मन पर न रह जाए कि कुछ मैं जानता था, जिसे कोई और भी तलाश रहा था और मैंने उससे कहने का कोई उपाय न किया। और कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि अगर बुद्धिमान हो सुनने वाला तो जो बात वाणी से नहीं कही जा सकती, वह कभी वाणी की असमर्थता और विवशता से कुछ-कुछ समझी जा सकती है। जो बात शब्दों से नहीं कही जा सकती, वह शब्दों के पीछे छिपी हुई कहने की आतुरता से, शब्दों के पीछे छिपी हुई करुणा से कहीं हृदय का कोई तार झंकृत कर सकती है।

तो ऋषि कहता है, वह वाणी और मन दोनों के अतीत और अगोचर है और दोनों का विषय नहीं है। इसलिए जिसे जानना हो, उसे वाणी के भी पार जाना पड़ता है, मन के भी पार जाना पड़ता है, और उस नए दर्पण को निर्मित करना पड़ता है, जिसका नाम ध्यान है। कहें, विवेक है। जो भी शब्द दें, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। उस विवेक या उस ध्यान को जगाए बिना ऋषियों ने जिन सत्यों की बात कही है, वह हमारे कानों तक ही जाती है, प्राणों तक नहीं जाती। हम उसे सुनते हुए मालूम पड़ते हैं और फिर भी बहरे रह जाते हैं।

जीसस बार-बार कहते थे, जिनके पास आंखें हैं, वे देख लें, जिनके पास कान हों, वे सुन लें। जो भी उनको सुनने आते थे, सभी के पास कान थे। कान वाले लोग ही सुनने आते हैं। जो भी उनके दर्शन को आते थे, उनके पास आंखें थीं। आंख वाले लोग ही दर्शन को आते हैं। और आंख वाले लोगों से ही जीसस का यह कहना है कि आंखें हों, तो देख लो, कान हो, तो सुन लो। वे जरा भी गलत नहीं कह रहे हैं। कान होने से ही अगर सुना जा सकता सत्य, तो अब तक सब लोगों ने सुन लिया होता। और आंख होने से ही देखा जा सकता सत्य, तो अब तक सभी ने देख लिया होता। आंख और कान तो हमें जन्म से ही मिल जाते हैं, लेकिन एक और फेकल्टी, एक और हमारी अन्तःप्रज्ञा की क्षमता जन्म से नहीं मिलती, उसे हमें जन्माना पड़ता है।

जन्म से तो जीने के लिए जो उपयोगी यंत्र हैं, वे हमें मिले हुए हैं। सत्य तथा

जीवन को जानने के लिए जो उपयोगी है, वह यन्त्र तो हमें ही सक्रिय करना पड़ता है। वह बीज-रूप हमारे भीतर होता है, लेकिन उसे सक्रिय करना पड़ता है। अन्यथा वह बीज की तरह पड़ा-पड़ा फिर खो जाता है। जन्मों-जन्मों हमें अवसर मिलता है और हम चूकते चले जाते हैं। वह बीज है, ध्यान का, विवेक का। थोड़ा-सा ही श्रम, थोड़ी प्रतीक्षा, थोड़ा धैर्य, थोड़ा साहस, थोड़ा संकल्प, थोड़ा समर्पण; और उस बीच से जीवन-अंकुर फूटना शुरू हो जाता है। जिस व्यक्ति के भीतर ध्यान अंकुर जन्म गया, बस वही कह सकता है कि जीवन में कोई सार न रहा, अन्यथा जीवन सिर्फ अपने को व्यर्थ गंवाने से ज्यादा और कुछ नहीं है। ●

अनित्यं ज्जगद्यज्जनित स्वप्न जगभ्रगजादि तुल्यम्
तथा देहादि संघातम् मोह गणजाल कलितम् ।
तद्रज्जुस्वप्नवत् कल्पितम् ।
विष्णु विध्यादि शताभिधान लक्ष्यम् ।
अंकुशो मार्गः ।

जगत् अनित्य है, उसमें जिसने जन्म लिया है, वह स्वप्न के संसार-जैसा और आकाश के हाथी-जैसा मिथ्या है ।
वैसे ही यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त हैं । यह सब रस्सी में भ्रांति से कल्पित किए गए सर्प के समान मिथ्या हैं ।
विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है ।
अंकुश ही मार्ग है ।

प्रवचन : ८
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २९ सितम्बर, १९७१

स्वप्न-सर्जक मन का विसर्जन और नित्य सत्य की उपलब्धि

जगत् अनित्य है । अनित्य का अर्थ होता है, जो है भी और प्रतिक्षण नहीं भी होता रहता है । अनित्य का यह अर्थ नहीं होता कि जो 'नहीं' है । जगत् है, भलीभांति है । उसके होने में कोई सन्देह नहीं है । क्योंकि यदि वह न हो, तो उसके मोह में, उसके भ्रम में भी पड़ जाने की कोई संभावना नहीं । और अगर वह न हो, तो उससे मुक्त होने का कोई उपाय नहीं । जगत् है । उसका होना वास्तविक है । लेकिन जगत् नित्य नहीं है, अनित्य है । अनित्य का अर्थ है, प्रति-पल बदल जाने वाला । अभी जो था, क्षण भर बाद वही नहीं होगा । क्षण भर भी कुछ ठहरा हुआ नहीं है । इसलिए बुद्ध ने कहा है, जगत् क्षणिक सत्य है । बस, क्षण ही सत्य रह पाता है । हेराक्लतु ने यूनान में कहा है, यू कैन नॉट स्टेप ट्वाइस इन द सेम रिवर (एक ही नदी में दो बार उतरना सम्भव नहीं है) । नदी बही जा रही है । ठीक ऐसे ही कहा जा सकता है, यू कैन नॉट लुक ट्वाइस द सेम वर्ल्ड (एक ही जगत् को दोबारा नहीं देखा जा सकता) । इधर पलक झपकी नहीं कि जगत् दूसरा हुआ जा रहा है । इसलिए बुद्ध ने तो बहुत अद्भुत बात कही है । बुद्ध ने कहा, 'है' शब्द गलत है । 'है' का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए । सभी चीजें हो रही हैं । 'है' की अवस्था में तो कोई नहीं है ।

जब हम कहते हैं, यह व्यक्ति जवान है, तो 'है' का बड़ा गलत प्रयोग हो रहा है । बुद्ध कहते थे, यह व्यक्ति जवान 'हो रहा है' । जीवन भी गति है, प्रॉसेस है । स्थिति कहीं भी नहीं है । एक आदमी को हम कहते हैं, यह बूढ़ा है । कहने से ऐसा लगता है कि बूढ़ा होना कोई स्थिति है, जो ठहर गई है, स्टेगनेंट हो गई है । नहीं, बुद्ध कहते थे, यह आदमी बूढ़ा हो रहा है । 'है' की कोई अवस्था ही नहीं होती । सब अवस्थाएं होने की हैं ।

पहली बार जब बाइबिल का अनुवाद बर्मी भाषा में किया जा रहा था, तो बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि बर्मी भाषा बर्मा में बौद्ध धर्म के पहुंचने के बाद धीरे-धीरे विकसित हुई है । बौद्ध चिन्तन की जो आधारशिलाएं हैं, वे बर्मी भाषा में

प्रवेश कर गई। बर्मी भाषा में 'है' शब्द के लिए कोई ठीक-ठीक शब्द नहीं है। जो भी शब्द हैं, उनका मतलब होता है 'हो रहा है।' अगर कहें नदी है, तो बर्मी भाषा में उसका जो रूपांतरण होगा, वह होगा 'नदी हो रही है।' और सब तो ठीक था, लेकिन बाइबिल के अनुवाद करने में 'गॉड इज (ईश्वर है) का अनुवाद बर्मी भाषा में करें, तो उसका रूप हो जाता है, ईश्वर हो रहा है। बड़ी अड़चन थी।

बुद्ध कहते थे, कुछ भी 'है' नहीं, सब हो रहा है। वे ठीक कहते थे। यह वृक्ष आप देखते हैं। हम कहेंगे, यह वृक्ष है। जब तक आप कह रहे हैं, तब तक कुछ और ही हो गया। एक नई कोपल निकल आई होगी। एक पुरानी कोपल और पुरानी पड़ गई होगी। एक फूल थोड़ा और खिल गया होगा। एक गिरता फूल गिर गया होगा। जड़ों ने पानी की बूंदें सोख ली होंगी, पत्तों ने सूरज की नई किरणें पी ली होंगी। जब आप कहते हैं, वृक्ष है, जितनी देर आपको कहने में लगती है, उतनी देर में वृक्ष कुछ और हो गया है, जैसी कोई अवस्था जगत् में नहीं है। सब हो रहा है—जस्ट ए प्रॉसेस।

उपनिषद् यही कह रहे हैं। उपनिषद् का ऋषि कह रहा है, जगत् अनित्य है। नित्य उसे कहते हैं जो है, सदा है। जिसमें कोई परिवर्तन कभीं नहीं, जिसमें कोई रूपान्तरण नहीं होता। जो वैसा ही है, जैसा सदा था और वैसा ही रहेगा। निश्चित ही जगत् ऐसा नहीं है। जगत् है अनित्य। लगता है कि है, और बदला जा रहा है, भागा जा रहा है। जगत् एक दौड़ है—एक गत्यात्मकता, एक क्षण-भंगुरता। लेकिन भ्रांति बहुत पैदा होती है। सभी चीजें लगती हैं 'है।' शरीर लगता है, है। लेकिन, वह भी एक धारा है, प्रवाह है। अगर वैज्ञानिक से पूछें, तो वह कहता है, सात साल में आपके शरीर में एक टुकड़ा भी नहीं बचता जो सात साल पहले था। सात साल में सब बह जाता है, शरीर नया हो जाता है। जो आदमी सत्तर साल जीता है, वह सात बार अपने पूरे शरीर को बदल लेता एक-एक सेल बदलता जाता है—प्रतिपल।

आप सोचते हैं कि आप एक दफा मरते हैं, पर आपका शरीर हजार दफे मर चुका होता है। शरीर का एक-एक कोष्ठ मर रहा है, निकल रहा है शरीर के बाहर। भोजन से रोज नए कोष्ठ निर्मित हो रहे हैं। पुराने कोष्ठ मल के द्वारा बाहर फेंके जा रहे हैं और अनेक मार्गों से शरीर अपने मरे हुए कोष्ठों को बाहर फेंक रहा है। आपने ख्याल नहीं किया होगा, नाखून काटते हैं, तो दर्द नहीं होता, बाल काटते हैं, तो दर्द नहीं होता। आपने ख्याल नहीं किया होगा कि वे डेड पार्ट्स (मृत हिस्से) हैं, इसलिए दर्द नहीं होता। अगर ये शरीर के हिस्से होते, तो काटने से तकलीफ होती। ये मरे हुए हिस्से हैं। शरीर के भीतर जो कोष्ठ मर गए हैं, उनको फेंका जा रहा है बाहर—बालों के द्वारा, नाखूनों के

द्वारा, मल के द्वारा, पसीने के द्वारा। प्रतिपल शरीर अपने मरे हुए हिस्सों को बाहर फेंक रहा है और भोजन के द्वारा नए हिस्सों को जीवन दे रहा है। शरीर एक सरिता है, लेकिन भ्रम तो यह पैदा होता है कि शरीर है।

आज से तीन सौ साल पहले तक पता भी नहीं था कि शरीर के भीतर खून गति करता है। तीन सौ साल पहले तक ख्याल था कि शरीर के भीतर खून भरा हुआ है, क्योंकि शरीर के भीतर जो खून की गति है, उसका हमें पता तो चलता नहीं। और शरीर में खून नदी की तेज धार की तरह चल रहा है। जो आपके पैर में था, वह क्षण भर बाद आपके सिर में पहुंच जाता है। खून का तीव्र परि-भ्रमण चल रहा है। उस परिभ्रमण का भी उपयोग यही है कि वह आपके मरे हुए सेल्स को शरीर के बाहर निकालने के लिए माध्यम का काम करता है, धारा का काम करता है। वह मरे हुए हिस्सों को बाहर फेंकने में लगा रहता है। इस जगत् में भ्रांति भर पैदा होती है कि चीजें हैं। इस जगत् में कोई चीज क्षण भर भी वहीं नहीं हैं, जो थी। सब बदला चला जा रहा है। इस परिवर्तन को ऋषि ने कहा है अनित्यता।

इस जगत् को अनित्य कहने का कारण है, क्योंकि अगर हमें यह स्मरण आ जाए कि जगत् का स्वभाव ही अनित्य है, तो हम जगत् में कोई भी ठहरा हुआ मोह निर्मित न करें। अगर जगत् का स्वभाव ही अनित्य है, अगर सभी चीजें बदल ही जाती हैं, तो हम चीजों को ठहराए रखने का आग्रह छोड़ देंगे। जवान फिर यह आग्रह न करेगा कि मैं जवान ही बना रहूं, क्योंकि यह असम्भव है। यह हो ही नहीं सकता। असल में जवानी सिर्फ बूढ़े होने की तरफ एक रास्ता है, और कुछ नहीं। जवानी सिर्फ बूढ़े होने की कोशिश है, और कुछ भी नहीं। जवानी बुढ़ापे के विपरीत नहीं, उसी की धारा का अंग है। जवानी दो कदम पहले की धारा है, बुढ़ापा दो कदम बाद की। उसी सरिता में जवानी का घाट भी आता है, उसी सरिता में बुढ़ापे का घाट भी आ जाता है।

अगर हमें यह ख्याल में आ जाए कि इस जगत् में सभी चीजें प्रतिपल मर रही हैं, तो हम जीने का जो पागल आग्रह है, वह भी छोड़ देंगे। क्योंकि जिसे हम जन्म कहते हैं, वह मृत्यु का पहला कदम है। असल में जिसे मरना नहीं है, उसे जन्मना नहीं चाहिए। उसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। जन्मे, तो मरेंगे। जब जन्मे, उसी दिन मरने की यात्रा शुरू हो गई। यदि फस्ट स्टेप हैज बीन टेकन। जन्म मृत्यु का पहला कदम है और मृत्यु जन्म का आखिरी कदम। अगर इसे प्रवाह की तरह देखेंगे, तो कठिनाई न होगी। अगर स्थिति की तरह देखेंगे, तो जन्म अलग है, मौत अलग है। जवानी अलग है, बुढ़ापा अलग है। लेकिन ऋषि कहता है, जगत् एक अनित्य प्रवाह है। यहां जन्म भी मृत्यु में जुड़ा है और जवानी भी बुढ़ापे से जुड़ी है। यहां सुख दुख से जुड़ा है। यहां प्रेम घृणा

से जुड़ा है। यहां मित्रता शत्रुता से जुड़ी है। और जो भी चाहता है कि चीजों को ठहरा लूं, वह दुख और पीड़ा में पड़ जाता है।

आदमी की चिन्ता यही है कि जहां कुछ भी नहीं ठहरता, वहां वह ठहराने का आग्रह करता है। अगर मुझे यश है, तो मैं सोचता हूं कि मेरा यश ठहर जाए। अगर मेरे पास धन है, तो मैं सोचता हूं कि मेरे पास धन ठहर जाए। मेरे पास जो भी है, मैं चाहता हूं कि वह ठहर जाए। अगर मुझे कोई प्रेम करता है, तो मैं चाहता हूं, यह प्रेम चिर हो जाए। सभी प्रेमियों की यही आकांक्षा है कि प्रेम शाश्वत हो जाए। इसलिए सभी प्रेमी दुख में पड़ते हैं। क्योंकि इस जगत् में कुछ भी शाश्वत नहीं है, प्रेम भी नहीं है। यहां सब बदल जाता है। जगत् का स्वभाव बदलाहट है। इसलिए जिसने भी चाहा कि कोई चीज ठहर जाए, वह दुख में पड़ेगा, क्योंकि हमारी चाह से जगत् नहीं चलता। जगत् का अपना नियम है। वह अपने नियम से चलता है।

हम बैठ गए एक वृक्ष के नीचे और सोचने लगे कि यह हर पत्ता सदा हरा रह जाए, तो हम मुश्किल में पड़ेंगे, क्योंकि पत्ते का कोई कसूर नहीं। इसमें वृक्ष का कोई हाथ नहीं। इसमें जगत् की व्यवस्था ने कुछ भी नहीं किया। हमारी चाह ही हमें दिक्कत में डाल देती है कि पत्ता सदा हरा रह जाए। पत्ता तो हरा है ही, इसीलिए कि कल वह सूखेगा। उसका हरा होना सूखने की तरफ यात्रा है, सूखने की तैयारी है। अगर हम हरे पत्ते में सूखे पत्ते को भी देख लें, तब हमें पता चलेगा कि जगत् अनित्य है। अगर हम पैदा होते बच्चे में मरते हुए बूढ़े को भी देख लें, तब हमें पता चलेगा कि जगत् अनित्य है। अगर हम जगते हुए प्रेम में उतरता हुआ प्रेम भी देख लें, तब हमें समझ में आएगा कि जगत् अनित्य है। सब चीजें ऐसी ही हैं। लेकिन हम क्षण में जीते हैं, क्षण को देख लेते हैं और उसको थिर मान लेते हैं, आगे-पीछे को भूल जाते हैं। इस आगे-पीछे को भूल जाने से बड़ा कष्ट, बड़ी चिन्ता पैदा होती है।

मनुष्य की चिन्ता का मूल आधार यही है कि जो रुक नहीं सकता, उसे हम रोकना चाहते हैं। जो बंध नहीं सकता, उसे हम बांधना चाहते हैं। जो बच नहीं सकता, उसे हम बचाना चाहते हैं। मृत्यु जिसका स्वभाव है, उसे हम अमृत देना चाहते हैं। बस, फिर हम चिन्ता में पड़ जाते हैं। चिन्ता (एंग्जाइटी) यही है कि मैं जिसे प्रेम करता हूं, वह प्रेम कल भी ठहरेगा या नहीं। कल जिसे मैंने प्रेम किया था, वह आज बचा है कि नहीं। कल जिसने मुझे आदर दिया था, वह आज भी मुझे आदर देगा कि नहीं। कल जिन्होंने मुझे भला माना था, वे आज भी मुझे भला मानेंगे कि नहीं! बस, चिन्ता यही है। इसलिए जब-जब दुनिया में पदार्थवाद का आग्रह बढ़ जाता है, तो चिन्ता बढ़ जाती है। पश्चिम अगर आज पूरब की अपेक्षा ज्यादा चिन्तित है, तो उसका और कोई कारण नहीं है।

पूरब में परेशानी ज्यादा है—भूख है, गरीबी है, अकाल है, बाढ़ है। पश्चिम में अकाल भी खो गया, बीमारी भी कम हो गई, उम्र भी लम्बी मालूम पड़ती है, धन भी ज्यादा है, सुविधा भी है, स्वास्थ्य भी है, लेकिन चिन्ता ज्यादा है। होना तो यही चाहिए था कि पश्चिम में चिन्ता कम हो जाती और पूरब में चिन्ता ज्यादा होती। गणित से तो यही लगता है कि ऐसा होना चाहिए था। पश्चिम में भुखमरी नहीं रही, बीमारी नहीं रही, सब सुविधा पूरी हो गई। कोई आदमी काम न करे, तो भी जी सकता है। बीस-पच्चीस साल बाद पश्चिम में कोई काम नहीं करेगा, क्योंकि सारे यंत्र आटोमेटिक हुए चले जाते हैं और प्रत्येक मुल्क, जहां आटोमेटिक यंत्र काम करने लगेंगे, अपने विधान में एक नियम बना लेगा (जैसा हम कहते हैं कि स्वतन्त्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है)। ठीक बीस साल के भीतर, कांस्टीट्यूशंस में यह सूत्र आ जाएगा कि बिना श्रम के धन प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। जन्मसिद्ध अधिकार होना भी चाहिए, जब धन बहुत होगा, तो उसका क्या मतलब है? और जब धन मशीनें पैदा कर देंगी, तो आदमी बिना श्रम के धन पा सके, यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो जाने वाला है। लेकिन चिन्ता बढ़ती चली जाती है।

मैं मानता हूं कि जिस दिन मशीनें सारा काम कर देंगी, उस दिन आदमी मुश्किल में पड़ जाएगा (कम से कम पश्चिम में)। तब आदमी को बचाना मुश्किल हो जाएगा। कारण क्या है? कारण एक है कि पश्चिम की दृष्टि पदार्थ है पर, और वह सोचता है कि पदार्थ जगत् में थिरता मिल जाए। वह थिरता मिल नहीं सकती। वह असम्भव है।

ऋषि कहते हैं, जगत् अनित्य है। इसलिए जगत् में नित्य को बनाने की चेष्टा पागलपन है। अनित्यता की स्वीकृति समझ है, प्रज्ञा है। और व्यक्ति यह जान ले कि जगत् अनित्य है, सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; अनुभव की पाठशाला में जीकर सीख ले कि जगत् अनित्य है। चारों तरफ पाठशाला खुशी है। सब तरफ अनित्यता है और आदमी अद्भुत है कि वह नित्य मानकर जी रहा है। कुछ भी नहीं बचता, सब बदल जाता है। फिर भी अन्धापन अद्भुत है। हम आंखें बन्द किए हुए बैठे हैं। जहां चारों तरफ प्रवाह चल रहा है, वहां हम सपने संजोए बैठे हैं कि सब बच रहेगा, सब बच रहेगा। ऋषि कहता है, आंख खोलो और तथ्य को देखो। जगत् अनित्य है। उसमें जिसने जन्म लिया, वह स्वप्न के संसार-जैसा है।

स्वप्न और जगत् को साथ-साथ रखना भारतीय मनीषा की खोजों में से एक है। दुनिया में किसी ने भी ठीक-ठीक कहने की हिम्मत नहीं की है कि जगत् स्वप्न है—जस्ट ए ड्रीम। कहना मुश्किल भी है। कोई भी बता सकता है कि आप गलत कह रहे हैं। एक पत्थर उठाकर आपकी खोपड़ी पर मार दें, तो पता चल

जाएगा कि जगत् स्वप्नवत् नहीं है। उसके लिए कोई बहुत तर्क देने की जरूरत नहीं है। जो आदमी कह रहा था कि जगत् स्वप्नवत् है, वह लट्ठ लेकर आ जाएगा। खून बहने लगेगा, खोपड़ी में दर्द शुरू हो जाएगा। अगर जगत् स्वप्नवत् है, तो क्यों परेशान हो रहे हैं? बड़े हिम्मतवर लोग थे, जिन्होंने कहा कि जगत् स्वप्नवत् है, और कहा तो कुछ जानकर कहा।

दो-तीन बातें ख्याल में ले लेनी चाहिएं। पहली बात तो यह कि स्वप्नवत् जब हम किसी चीज को कहते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि जो नहीं है। यह गलत है। स्वप्न भी है—ऐज मच ऐज ऐनीथिंग। स्वप्न भी है, उतनी ही जितनी कि और भी चीजें हैं। स्वप्न एक्जिस्टेंशियल है। स्वप्न नहीं है, ऐसा नहीं, स्वप्न भी है। स्वप्न का स्थान है। स्वप्न का भी होना है। स्वप्न का नॉन-एक्जिस्टेंस नहीं है, उसका अतस्तित्व नहीं है, वह भी है।

स्वप्न की एक खूबी यह है कि जब वह होता है, तो प्रतीत होता है कि सत्य है। कभी आपको स्वप्न में पता चला है कि जो मैं देख रहा हूं, वह स्वप्न है? अगर किसी दिन आपको पता चल जाएगा, तो आप ऋषि हो गए। स्वप्न में पता चलता है कि जो मैं देख रहा हूं, वह सत्य है। हां, स्वप्न टूट जाता है, तब पता चलता है कि वह स्वप्न था। स्वप्न के भीतर कभी पता नहीं चला कि वह स्वप्न है। अगर पता चल जाए तो स्वप्न उसी वक्त टूट जाएगा। स्वप्न के चलने की अनिवार्य शर्त यही है कि आपको पता चले कि जो आप देख रहे हैं, वह सत्य है। नहीं तो स्वप्न नहीं चल सकता। स्वप्न के प्राण इसमें हैं कि जो है, यह सत्य है। रात में बड़े एब्सर्ड सपने आदमी देखता है—बड़े बेहूदे स्वप्न, फिर भी शक नहीं आता।

लियो टाल्स्टाय ने लिखा है कि मैं एक ही सपना हजार दफे कम से कम देख चुका हूं। जागता हूं, तब मैं कहता हूं, कैसा बेहूदा, यह हो कैसे सकता है, लेकिन जब मैं फिर सोता हूं तो फिर किसी दिन वही सपना देखता हूं, तो सपने में बिल्कुल याद नहीं रहता। सपने में बिल्कुल ठीक मालूम पड़ता है। लियो टाल्स्टाय ने लिखा है कि मैं एक सपना देखता हूं कि एक बड़ा रेगिस्तान है और यही सपना बार-बार दोहराता है। उस रेगिस्तान में दो जूते चलते चले जा रहे हैं, सिर्फ जूते! पैर नहीं हैं, आदमी नहीं है! और टाल्स्टाय कहता है, मैं इतनी दफे देख चुका हूं, फिर जब देखता हूं, तो वह शक भी पैदा नहीं होता—बिल्कुल ठीक लगता है कि जूते चल रहे हैं। सुबह जागकर बड़ी बेचैनी होती है कि जूते चल कैसे सकते हैं, जब आदमी भीतर नहीं है। और मन में घबराहट भी होती है कि यह मामला क्या है, यह स्वप्न बार-बार दोहरता क्यों है। सपने चलते ही चले जाते हैं, अन्तहीन रेगिस्तान है और वे जूते हैं, और कोई भी नहीं है। और वे चलते चले जाते हैं। टाल्स्टाय जब बिल्कुल घबड़ा जाता है उनको देखकर, तो नींद टूट जाती है। बहुत

बार देखने के बाद भी जब फिर देखता है, तो फिर वह सत्य ही मालूम होता है।

जब स्वप्न में आप होते हैं, तो स्वप्न नहीं होता वह, सत्य ही होता है। अगर आपको स्मरण आ जाए कि स्वप्न है, तो उसी क्षण स्वप्न की फिल्म टूट जाएगी। चित्त एक सफेद पर्दा हो जाएगा और आप स्वप्न के बाहर आ जाएंगे। लेकिन ऋषि कहते हैं कि वह छोड़ो, वह तो स्वप्न था ही—जागकर जो सुबह दिखाई पड़ता है, वह भी स्वप्नवत् है। हम कहते हैं, यह तो कम-से-कम मत कहो। यह तो काफी सच मालूम पड़ता है। यह मकान, यह परिवार, यह मित्र, यह पत्नी, यह बेटे, यह धन—यह सब एकदम सत्य मालूम पड़ता है। इसको तो स्वप्न मत कहो!

ऋषि कहते हैं, एक और जागरण है—विवेक-लभ्यम्—वह जो विवेक से उपलब्ध होता है। अनादर अवेकनिंग—एक और जागरण है। जब तुम उसमें जागोगे, तब तुम पाओगे कि वह जो तुम जागकर देख रहे थे, वह भी एक स्वप्न था। स्वप्न स्वप्न है, यह जानने के लिए यह अवस्था बदलनी चाहिए, तभी तो कम्पेरिजन—तुलना—हो सकती है। रात सपना देखते हैं, सत्य मालूम होता है, सुबह जागकर पता चलता है, असत्य था। सुबह जागकर जिसे देखते हैं, ऋषि कहते हैं, हम एक और जागरण तुम्हें बताते हैं, वहां जागकर तुम्हें पता चलेगा, वह भी स्वप्नवत् था।

स्वप्नवत् कहने का अर्थ है, एक तुलना। यह नहीं है इसका मतलब कि सिर में लट्ठ मार देंगे, तो नहीं फूटेगा, खून नहीं बहेगा। सपने में भी सिर पर लट्ठ मारने से सिर टूट जाता है और खून बहता है—सपने में भी। सपने में भी कोई छाती पर चढ़ जाता है, छुरा भोंकने लगता है, तो छाती कंपने लगती है, रक्त-चाप बढ़ जाता है, हृदय धड़कने लगता है और सपने से जागने के बाद भी थोड़ी देर तक धड़कता रहता है। पता भी चल जाता है, यह सब सपना था, कोई छाती पर चढ़ा नहीं, तकिया ही रखे हुए थे अपना। जाग गए हैं, लेकिन अभी भी हृदय की धड़कन तेज है और खून की गति तेज है, रक्त-चाप बढ़ा हुआ है। सपने में कोई मर गया था—रो रहे थे, जार-जार होकर। सपना टूट गया, पता चल गया कि जो मर गया वह सपने में था, लेकिन आंख में अभी भी आंसू बहाए चले जाते हैं। इतना गहरा घुस जाता है सपना भी! लेकिन पता चलता है, अवस्था-परिवर्तन पर, नहीं तो पता नहीं चलता। पता करने के लिए तुलना चाहिए।

आइन्स्टीन मजाक में कहा करता था कि सारा जगत सापेक्ष (रिलेटिव) है। मजाक में तो कहता ही था, उसका अनुभव भी यही था कि जगत् एक रिलेटिविटी है, एक तुलना है। जब भी आप कुछ कहते हैं, तो उसका अर्थ है तुलना। सीधी कोई बात नहीं कही जा सकती है। आप कहते हैं, फलां आदमी लम्बा है, इसका कोई मतलब नहीं, जब तक आप यह नहीं बताते, किससे लम्बा। अन्यथा यह

बिल्कुल बेमानी है, इस वक्तव्य में कोई अर्थ नहीं। आप कहते हैं, फलां आदमी गोरा है, यह वक्तव्य बिल्कुल बेकार है, जब तक आप यह नहीं बताते, किससे।

मुल्ला नसरूद्दीन रास्ते से निकल रहा है। एक मित्र मिल गया है। उसने पूछा कि ठीक तो हो नसरुद्दीन ? नसरूद्दीन ने पूछा, विथ हूम इन कम्पेरीजन ? किसकी तुलना में पूछ रहे हो ? वह आदमी तो हैरान हुआ, क्योंकि साधारण-सा सवाल था कि कैसे हैं। कहना था अच्छा हूं, लेकिन नसरूद्दीन ने कहा, किसकी तुलना में ? क्योंकि गांव में मुझसे भी ज्यादा अच्छी हालत में लोग हैं, मुझसे भी बुरी हालत में लोग हैं। किसकी तुलना में पूछ रहे हो ?

सारे वक्तव्य इस जगत् में तुलनात्मक हैं, रेलेटिव हैं, सापेक्ष हैं। जब हम कहते हैं, यह आदमी मर गया, तब भी असल में हमें पूछ लेना चाहिए, किस हिसाब से ? क्योंकि मुर्दे के भी नाखून बढ़ते हैं और बाल बड़े होते हैं। कब्र में रखे हुए मुर्दे के नाखून बड़े हो जाते हैं और बाल बड़े हो जाते हैं। सिर घुटा कर रखो, तो बाल बढ़ जाते हैं। अगर बाल बढ़ने को कोई जीवन का लक्षण समझता हो, तो यह आदमी मरा नहीं है। अगर तब आप सोचते हों कि इसके शरीर में प्राण है, तो वह मरा हुआ नहीं है।

एक-एक आदमी के शरीर में कोई सात करोड़ जीवाणु हैं। जब आप मरते हैं, तो जीवाणुओं की संख्या एकदम बढ़ जाती है। अगर उनके प्राण का हम हिसाब रखें, तो यह आदमी पहले की अपेक्षा और भी ज्यादा जीवन से भरा है। पहले सात ही करोड़ थे, मरते ही सड़ना शुरू होता है, जीवाणु और बढ़ जाते हैं। अगर हम उन जीवाणुओं से पूछें कि तुम जिस बस्ती में रहते थे, वह मर गई, तो वे कहेंगे, क्या कह रहे हैं ! बस्ती बढ़ गई, मर नहीं गई। संख्या बढ़ रही है जीवन की। उन कोष्ठों को, जो आपके भीतर हैं, उन्हें आपका तो पता ही नहीं।

गुरजिएफ एक बहुत अद्भुत बात कहा करता था। वह कहता था, यह हो सकता है कि जैसे हमारे शरीर में सात करोड़ जीवित कोष्ठ बसे हुए हैं और उन्हें हमारा कोई पता नहीं, ऐसा हो सकता है कि मनुष्य का पूरा समाज भी किसी एक और बृहत्तर शरीर में, सिर्फ एक जीव-कोष्ठ की तरह बसा हो और हमें उस वृहत्तर शरीर का कोई पता नहीं। इसकी सम्भावना है। गुरजिएफ यह भी कहा करता था (और वह इन पचास सालों में बहुत समझदार लोगों में से एक था) कि यह भी हो सकता है कि जैसे जीव-कोष्ठ हमारे भीतर बसे हैं, तो 'वी आर जस्ट फूड टु दोज सेल्स' वह जो हमारे भीतर कोष्ठ हैं, उनके लिए हम भोजन से ज्यादा नहीं हैं। हम उनके लिए क्या हैं, सिर्फ भोजन। वे हमारा भोजन करते हैं और जीते हैं। गुरजिएफ कहा करता था, यह हो सकता है कि हम इस पृथ्वी पर जहां बसे हुए हैं (और इस पृथ्वी को तो हम भोजन से ज्यादा कुछ समझते

नहीं), हो सकता है, हम सिर्फ एक पृथ्वी की बड़ी काया में जीवकोष्ठ हों और हमें इस पृथ्वी की आत्मा का कोई भी पता न हो, हमें इस पृथ्वी के व्यक्तित्व का और चेतना का कोई भी पता न हो।

गुरजिएफ यह भी कहता था कि हर चीज किसी के लिए भोजन होती है, तो आदमी के साथ अपवाद क्यों हो ? जब हर चीज किसी के लिए भोजन है, तो आदमी भी किसी का भोजन होना चाहिए। वह तो बहुत मजेदार बात कहता था। वह कहता था, आदमी चांद का भोजन है। इधर जब आदमी मरता है, तो हम समझते हैं मर गया है, पर चांद उसका भोजन कर लेता है। वह तो मजाक में कहता था। लेकिन यह बात सच हो सकती है, क्योंकि इस जगत् में सभी चीजें भोजन हैं। फल लगता है वृक्ष पर, तो आपका भोजन बन जाता है। एक जानवर दूसरे जानवर का भोजन कर लेता है, तो आदमी किसी और वृहत्तर जीवन का भोजन तो नहीं है ? किस हिसाब से हम कह रहे हैं, इस पर सब निर्भर करेगा। सारे वक्तव्य सापेक्ष हैं। इस सापेक्षता से भरे हुए जगत् में कोई चीज नित्य नहीं हो सकती, ऐब्सोल्यूट नहीं हो सकती। सब बदल जाता है।

आइन्स्टीन कहता था कि अगर हम सारे के सारे लोग एक साथ लम्बे हो जाएं सारी चीजें एक साथ लम्बी हो जाएं, जैसे मैं छः फुट का हूं और मैं जिस वृक्ष के पास खड़ा हूं, वह साठ फुट का है, यदि मैं बारह फुट का हो जाऊं, वृक्ष एक सौ बीस फुट का हो जाए, पहाड़ भी दुगना लम्बा हो जाए, आस-पास जितना है, वह सब एक क्षण में दुगना हो जाए किसी जादू के असर से, तो किसी को भी पता नहीं चलेगा कि कुछ भी बदलाहट हो गई, क्योंकि अनुपात थिर रहेगा, प्रोपोर्शन वही रहेगा। पता ही नहीं चलेगा। पता तभी चल सकता है, जब कि मैं लम्बा हो जाऊं, वृक्ष उतना ही रहे, पहाड़ उतना ही रहे, पहाड़ उतना ही रहें, पास में खड़ा हुआ आदमी उतना ही रहे। तब पता चलेगा, नहीं तो पता नहीं चलेगा। पता ही चलता है इसलिए कि अनुपात डांवाडोल हो जाता है, नहीं तो पता नहीं चलता।

हमारे बीच जो लोग विवेक में जाग जाते हैं, उनको विवेक में यह पता चलता है। बड़ी अड़चन हो जाती है उन्हें कि सारे लोग सोए चल रहे हैं, सपने में जी रहे हैं। वह उन्हें पता चलता है, हमें पता नहीं चलता है। हम सब एक-से सपने में जी रहे हैं। इसलिए हमारे बीच जब भी कोई व्यक्ति जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी पैदा होती है। इसलिए हमारे बीच जब भी कोई व्यक्ति जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी पैदा होती है। हम घसीट-घसीटकर उसको भी सुलाने की पूरी कोशिश करते हैं कि तुम भी सो जाओ। हम उसे भी समझाते हैं कि सपने बड़े मधुर हैं, बड़े मीठे हैं।

बुद्ध घर छोड़कर गए। अपने पिता का राज्य छोड़कर चले गए, क्योंकि पिता

के राज्य में उपद्रव होगा। आज नहीं, कल मेरा पीछा किया जाएगा। तो वे पड़ोसी के राज्य में चले गए। पड़ोसी सम्राट् को पता चला कि मित्र का बेटा संन्यासी हो गया है, तो उसे बड़ी पीड़ा हुई। वह खोज-पता लगाकर आया। वह बुद्ध के पास बैठा और उसने कहा, देखो, अभी तुम जवान हो, अभी तुम्हें जीवन का अनुभव नहीं। यह तुम क्या पागलपन कर रहे हो ? कोई फिक्र नहीं, अगर पिता से नाराज हो, या कोई अड़चन है, मेरे घर चलो। अपनी बेटी से तुम्हारा विवाह कर देता हूं और आधा राज्य दे देता हूं। बुद्ध ने कहा, मैं यही सोचकर वहां से भागा कि कोई मेरा पीछा न करे। आप यहां भी मौजूद हैं। जैसा कि कहना चाहिए था, उस सम्राट् ने कहा, तू अभी ना-समझ है, अभी तुझे जिन्दगी का कोई पता नहीं है। वापस लौट चलो। बुद्ध जहां-जहां गए, वहीं पीछा किया गया। कोई न कोई समझदार जरूर आ जाता और कहता कि चलो, सो जाओ। हम इन्तजाम कर देते हैं।

जब भी कोई आदमी जागने की दिशा में चलेगा, चारों तरफ से पंजे पड़ जाएंगे, आक्टोपस की तरह। सब तरफ से हाथ उसको पकड़ने लगेंगे कि सो जाओ। सब तरह के प्रलोभन इकट्ठे हो जाएंगे, वे कहेंगे सो जाओ। जब भी कोई आदमी हमारे बीच जागता है, तो हमें बड़ी बेचैनी होती है, क्योंकि वह नई वैल्यूज, नए मूल्य हमारे बीच में उतारना शुरू कर देता है। वह कहता है, तुम सपने में हो। वह कहता है, तुम सोए हो। वह कहता है, तुम होश में नहीं हो। वह कहता है, यह अनित्य है संसार। यह सब खो जाने वाला है। यह सब मिट जाने वाला है। ऐसे किसी आदमी को, जो मकान बना रहा है, कहो कि यह संसार अनित्य है, तो उसकी जान निकाल ले रहे हो। वह मानने को राजी नहीं हो सकता कि जो इतने खंडहर पड़े हैं, ऐसा ही उसका मकान भी खंडहर की तरह पड़ा रह जाएगा। वह मानने को राजी नहीं हो सकता।

मैं दो-तीन वर्ष पहले माण्डू में था। एक साधना-शिविर वहां था। पूछा, तो पता चला कि माण्डू की आबादी सिर्फ छह सौ साल पहले सात लाख थी और अब, मोटर स्टैंड पर जो तख्ती लगी है, उसमें नौ सौ तेरह है। मैं बहुत हैरान हुआ। सात लाख की आबादी का नगर, और सात लाख की आबादी के खंडहर फैले पड़े हैं। एक-एक मस्जिद है, जिसमें दस-दस हजार लोग एक साथ नमाज पढ़ सकें। आज तो दस आदमी भी पढ़ने वाले नहीं। इतनी बड़ी-बड़ी धर्मशालाएं हैं कि दस-दस हजार लोग इकट्ठे ठहर सकें। नौ सौ तेरह आदमी हैं उस बस्ती में। चारों तरफ खंडहर फैले हुए हैं, लेकिन जो आदमी उस बस्ती में अपना झोंपड़ा बना रहा है, वह यह नहीं देखता कि पीछे बड़े भारी महलों का खंडहर पड़ा है। वह इस झोंपड़े को इसी रस से बना रहा है, मानों वह सदा बना रहेगा।

जागा हुआ आदमी आपको वे बातें याद दिलाने लगता है, जो दुखद मालूम

पड़ती हैं। दुखद इसलिए मालूम पड़ती है कि उन बातों को समझकर आप जैसे जीते थे, वैसे ही जी नहीं सकते। आपको अपने को बदलना ही पड़ेगा और बदलाहट कष्ट देती मालूम पड़ती है। हम बदलना नहीं चाहते। हम जैसे हैं, वैसे ही रहना चाहते हैं, क्योंकि बदलने में श्रम पड़ता है और जैसे हैं, वैसे बने रहने में कोई श्रम नहीं है।

ऋषि कहते हैं, जगत् अनित्य है। उसमें जिसने जन्म लिया, उसने स्वप्न में जन्म लिया, स्वप्न के संसार-जैसा, आकाश के हाथी-जैसा। जैसे कभी आकाश में बादल घिर जाते हैं और आप जो चाहें, बादल में बना लें, चाहे हाथी देख लें। छोटे बच्चे चांद में देखते रहते हैं कि बुढ़िया चर्खा कात रही है। आपकी मर्जी, आप जो प्रोजेक्ट कर लें। चाहें तो आकाश में रथ चलते देखें, हाथी देखें, सुन्दरियां देखें, अप्सराएं देखें, जो आपको देखना हो। बादलों में कुछ भी नहीं है। आपकी आंखों में सब कुछ है। बादल तो सिर्फ निपट बादल हैं। आप उनमें जो भी बना लें।

पश्चिम में मनोविज्ञान ने इस प्रोजेक्शन, इस प्रक्षेपण के बाबत बहुत-सी नई खोजें की हैं। मनोविज्ञान को जो थोड़ा भी समझते हैं, उन्होंने अगर मनोविज्ञान की किताबें देखी हों, तो वहां स्याही के कई धब्बे भी चित्रों में देखे होंगे। मनोवैज्ञानिक उन धब्बों का उपयोग करते हैं—सिर्फ स्याही के धब्बे, जिनमें कुछ नहीं हैं, कुछ बनाए नहीं गए, सिर्फ स्याही के धब्बे हैं, जैसे कि ब्लाटिंग पेपर पर बन जाते हैं। मनोवैज्ञानिक उन्हें मरीज को दे देते हैं और उससे कहते हैं, देखो इसमें किसका चित्र है। मरीज उसमें कोई चित्र खोज लेता है, तो उसकी वह खोज मरीज के बाबत खबर देती है। वास्तव में तो वह चित्र कुछ भी नहीं है।

कहते हैं, मुल्ला नसरूद्दीन भी एक वैज्ञानिक के पास गया। उसका मन बेचैन था, अशान्त था। सलाह लेने गया था। तो मनोवैज्ञानिक ने जानना चाहा कि उसकी बेचैनी, अशान्ति जिस मन से पैदा हो रही है, उसके बीज क्या है। उसने उसे कई धब्बों के चित्र दिए। एक धब्बे का चित्र दिया और कहा कि जरा गौर से देखो, क्या दिखाई पड़ता है ? उसने कहा, एक स्त्री मालूम पड़ती है। मनोवैज्ञानिक उत्सुक हो गया, क्योंकि रास्ते पर बात पकड़ गई। आदमी की अधिक बीमारी स्त्री, स्त्री की अधिक बीमारी पुरुष है। और तो कोई ज्यादा बीमारियां नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक ने सोचा कि पकड़ा गया, रास्ते पर है आदमी, ठीक जवाब दिया है। दूसरा ब्लॉटिंग पेपर धब्बों वाला देकर पूछा, क्या है ? मुल्ला ने कहा, यह स्त्री तो बिल्कुल नग्न मालूम पड़ती है। मनोवैज्ञानिक आश्वस्त हुआ कि बिल्कुल ट्रैक पर है आदमी, जल्दी रास्ता निकल आएगा। तीसरा दिया। पूछा, क्या मालूम पड़ता है ? नसरूद्दीन ने कहा, कहना पड़ेगा ? यह स्त्री कुछ न कुछ गड़बड़ काम कर रही है—समथिंग नैस्टी। मनोवैज्ञानिक ने कहा, तुम्हारी बीमारी पकड़ में आ गई। तुम्हारे दिमाग में क्या चल रहा है, वह मुझे पता चल गया। नसरूद्दीन ने कहा,

मेरे दिमाग में ? यह चित्र तुम्हारे हैं कि मेरे ? यह तुमने बनाए हैं कि मैंने ? तुम्हारा दिमाग खराब मालूम पड़ता है । आज तो मैं जल्दी में हूं, कल फिर आऊंगा । लेकिन, 'कैन यू लेंड मी दिस पिक्चर फॉर ए डे ?' क्या एक दिन के लिए यह चित्र उधार दे सकते हो ? जरा रात को देखेंगे और मजा लेंगे ।

आकाश में देखे गए हाथियों-जैसा है यह संसार। खाली बादल है, स्याही के धब्बे । उनमें जो हम देखना चाहें, वह देख लेते हैं । जो हमें दिखाई पड़ता है, वह है नहीं। पर हम उसे ही देखते हैं । वह हम अपने ही भीतर से फैलाते हैं । वह हमारे ही मन का फैलाव है । हम पर ही निर्भर है सब । जिस जगत् में हम रहते हैं, वह हमारी सृष्टि है, हमारा सृजन है । हमें उस जगत् का तो कोई पता ही नहीं है, जो हमारे मन के पार, हमसे भिन्न, हमारे सृजन के बाहर है । वह तो केवल उसे ही पता चलता है, जिसका मन मिट जाता है। क्योंकि जब तक मन है, तब तक प्रोजेक्टर (प्रक्षेपण प्रणाली) है । वह भीतर से काम करता रहेगा। एक व्यक्ति के चेहरे में आप सौंदर्य देख लेते हैं । आपको पता है कि उसी के चेहरे में कुरूपता देखने वाले लोग मौजूद हैं ? एक व्यक्ति में आप सब गुण देख लेते हैं । आपको पता है कि उसके भी दुश्मन हैं और दुर्गुण देखने वाले भी मौजूद हैं ? जो आप देख रहे हैं वह व्यक्ति तो सिर्फ निमित्त है, आकाश के बादलों-जैसा । आप देख रहे हैं, वह आपका फैलाव है । फिर रोज दुख होता है, क्योंकि वह व्यक्ति जैसा है वैसा ही है । आपके फैलाव के अनुसार जी नहीं सकता । अब जो आपने कुछ मान रखा है, वह आज नहीं, कल टूटेगा । फिर झंझट शुरू हो जाएगी, क्योंकि आप अपेक्षा करते हैं ।

एक आदमी मुस्कुरा कर मेरे पास आता है, प्रशंसा की बातें करता है । मैं कहता हूं, बहुत भला आदमी है । फिर रात को वह मेरे पैसे लेकर गायब हो जाता है, मैं सोचता हूं कि अजीब आदमी है, ऐसा काम क्यों किया । अब उसकी मुस्कुराहट, उसकी प्रशंसा का क्या हुआ ? मैंने कुछ आरोपित कर लिया । अपेक्षा शुरू हो गई। उस आदमी से मैं अपेक्षा नहीं करता था कि वह चोरी करेगा । चोरी वह आदमी करेगा, यह आदमी के भीतर की बात है कि वह क्या करेगा । बादल में आपने हाथी देखा, कितनी देर तक वह हाथी रहेगा, कहना मुश्किल है। थोड़ी देर में बादल बिखरेगा, कुछ और बन जाएगा । तब आप रोते-चिल्लाते रहेंगे कि मैंने तो हाथी देखा था, वह बहुत धोखा हो गया । सब हमारी अपेक्षाएं हमें धोखे में डाल देती हैं । क्योंकि वह आदमी तो वही है, जो है । हम कुछ सोच लेते हैं । और फिर हम परेशानी में पड़ते हैं क्योंकि वैसा वह सिद्ध नहीं होता । इसलिए जब तक मन है, तब तक हमें गलत आदमी ही मिलते रहेंगे, क्योंकि हम गलत देखते ही रहेंगे। हम वह देखते रहेंगे, जो वहां हैं ही नहीं ।

यह जो हम चित्त का जाल फैला लेते हैं, यही हमारा स्वप्नवत् संसार है । मन

संसार है । मन के पार उठ जाना संसार के पार उठ जाना है । मन स्वप्न है, मन के पार उठ जाना स्वप्न के पार उठ जाना है ।

ऋषि कहता है कि यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त हैं । ये सब रस्सी में भ्रांति से कल्पित किए गए सर्प के समान मिथ्या हैं (तद्रज्जु स्वप्नवत् कल्पितम्) । जैसे राह पर पड़ी हो कोई रस्सी और कोई सांप देख ले । कठिन नहीं है सांप देखना रस्सी में । भयभीत आदमी तत्काल देख लेता है। भयभीत आदमी सांप के लिए तैयार रहता है कि कहीं दिख जाए। रस्सी दिखी, कि वह भागा। लेकिन रस्सी में भी सांप दिखे, तो दौड़ तो लगवा ही देता है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । पसीना तो छूट ही जाता है । छाती तो धड़कने ही लगती है । घबड़ाहट तो फैल ही जाती है । हाथ-पैर भी कंपने ही लगते हैं । रस्सी में देखा गया सांप भी काम तो वही कर देता है, जो असली सांप करता है । क्या फर्क है ? कोई फर्क नहीं है, जहां तक आपका सम्बन्ध है । रस्सी का जहां तक सम्बन्ध है, वहां तक रस्सी बेचैन हो सकती है कि यह आदमी कैसा है, देखकर भाग रहा है । हम सिर्फ रस्सी है ।

मुल्ला नसरुद्दीन गांव के बाहर जा रहा था। मित्रों ने कहा, उस रास्ते से न गुजरो । वहां डाकेजनी चलती है । रास्ता निर्जन हो गया है । कोई जाता नहीं । लेकिन जाना जरूरी था । काम कुछ ऐसा था कि मुल्ला ने कहा, जाना तो पड़ेगा ही । लेकिन ज्यादा मैं कुछ लेकर नहीं जा रहा हूं । मैं और मेरा गधा । हम दोनों जा रहे हैं । पर उन लोगों ने कहा, गधा भी छीना जा सकता है । एक मित्र ने तलवार दे दी और कहा कि तुम तलवार ले जाओ, ताकि मौका आ जाए तो काम पड़े । नसरुद्दीन तलवार लेकर चला । डरा हुआ तो था ही कि कोई गधा न छीन ले । आदमी को यह डर कम होता है कि खुद न मर जाए । ज्यादा डर होता है कि उसका गधा न छिन जाए, मकान न छिन जाए, धन न छिन जाए । यह न हो जाए, वह न हो जाए । खुद के खोने का इतना डर नहीं होता, क्योंकि खुद की कीमत का कोई पता नहीं होता । मकान की कीमत का पक्का पता है, गधे की कीमत का पक्का पता है ।

नसरुद्दीन अपनी नंगी तलवार लिए हुए बिलकुल तैयार है कि कोई हमला करे। देखा कि दूर से एक आदमी चला आ रहा है । समझ गया कि अब आई मुसीबत। रास्ता निर्जन है, कोई राहगीर निकलता नहीं । वह राहगीर तो हो नहीं सकता, डाकू ही हो सकता है । नसरुद्दीन के हाथ में नंगी तलवार देखकर उस आदमी ने भी अपनी तलवार खींच कर निकाली, क्योंकि वह भी डरा हुआ था । गांव वालों ने उससे भी कहा था, तलवार ले जा, रास्ता खतरनाक है, निर्जन है। जब उसने तलवार निकाली, तो नसरुद्दीन ने कहा भाई, ठहर । मेरे पास दो चीजें हैं, यह गधा और एक तलवार । तू क्या चाहता है, लूट ले । हम खुद ही तुझे दिए देते हैं।

उस आदमी ने देखा कि मुफ्त कुछ मिल रहा है, तो उसने सोचा, तलवार मंहगी चीज है। कहा, गधा तुम्हीं रखो, तलवार मुझे दे दो। नसरूद्दीन ने तलवार दे दी। जब घर वापस लौटा, तो मित्र ने पूछा, ठीक रहा, कोई दिक्कत तो नहीं आई ? नसरूद्दीन ने कहा, तलवार बड़ी काम आई। पूछा गया कि तलवार कहां है ? उसने कहा, वह तो काम आ गई। वह आदमी गधा छीनने को बिलकुल तैयार था तो मैंने तलवार उसको देकर अपना गधा बचा लिया।

प्रोजेक्शन्स से चौबीस घंटे हम वह देख रहे हैं, जो हम देखना चाहते हैं। रस्सियों में सांप देख रहे हैं। प्रोजेक्शन्स उल्टे भी होते हैं। सांपों में भी रस्सी देखी जा सकती है। तुलसीदास की कहानी का पता सबको है। ऐसा नहीं कि हम रस्सी में ही सांप देखते हैं, हम सांप में भी रस्सी देख लेते हैं। वक्त-वक्त की बात है। मन के प्रक्षेपण का सवाल है। तुलसीदास भागे हुए चले जा रहे हैं पत्नी से मिलने। तीन दिन से नहीं मिले हैं, बड़े बेचैन हैं। कथा कहती है कि वे नदी में उतर गए। बाढ़ आई हुई नदी, वर्षा के दिन। एक लाश का सहारा लेकर, जो नदी में बह रही थी, पार हुए। यह सोचकर कि कोई लकड़ी का टुकड़ा बहा जा रहा है, उसके सहारे पार हो गए। लाश दिखाई न पड़ी होगी, पानी में सड़ गई लाश से दुर्गन्ध न आई होगी। पत्नी की सुगन्ध कितनी भरी होगी मन में कि लाश की दुर्गन्ध बाहर रह गई। पत्नी से मिलने की आतुरता इतनी तीव्र रही होगी कि क्या है हाथ में, इसे देखने की फुर्सत न मिली होगी। सामने के दरवाजे से तो न जा सकते थे, क्योंकि अभी तीन ही दिन तो पत्नी को अपने मायके गए हुए थे। लोग क्या कहते ? पीछे के रास्ते से मकान में घुसे। देखा रस्सी लटकी है। पकड़ा और चढ़ गए। वह रस्सी नहीं थी, सांप लटकता था।

मन कल्पना ही करता है। कल्पना ही मन की क्षमता है। इसलिए मन से कभी सत्य नहीं जाना जा सकता। मन से केवल कल्पनाएं ही की जा सकती हैं। इस मन के द्वारा जो भी हम जानते हैं, वह रस्सी में देखे गए सांप की भांति है। इसलिए जो नहीं है, वह दिखाई पड़ता है। जो नहीं है, वह सुनाई पड़ता है, जो नहीं है, उसका स्पर्श होता है। और हम जिए चले जाते हैं अपने ही भ्रमों को पाल-पोस कर, अपने चारों तरफ अपना ही भ्रम-जाल खड़ा करके हम जिए चले जाते हैं। सत्य से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं हो पाता।

ऋषि कहते हैं, संन्यासी तो उसकी खोज पर निकला है जो है, वह नहीं जो उसका मन कहता है। दो में से एक ही चुनना पड़ेगा। अगर जो है, 'दैट व्हिच इज' उसे जानना है, तो मन को छोड़ना पड़ेगा और अगर मन को पकड़ना है, तो कल्पनाओं के जाल के अतिरिक्त कुछ भी कभी नहीं जाना जाता।

विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है। लक्ष्य है सत्य। उसे ही पाना है, 'जो है' क्योंकि 'जो है' उसे पाकर ही दुख का विसर्जन है, चिन्ता का

अन्त है, पीड़ा की समाप्ति है, दुख का निरोध है। 'जो है', उसे जानकर ही मुक्ति है, स्वतन्त्रता है। 'जो है' उसे जानकर ही सत्य के साथ अमृत का अनुभव है और मृत्यु की समाप्ति है। लेकिन 'जो है', उसके नाम हो सकते हैं। होंगे ही। बिना नाम दिए हमारी बात चलनी मुश्किल हो जाती है। इसलिए ऋषि कहता है कि 'शताभिधान लक्ष्यम।' वह जो अनंत-अनंत नाम वाला है, सैकड़ों नाम वाला है, कोई उसे ब्रह्म कहता है, कोई उसे ब्रह्मा कहता है, कोई इसे विष्णु कहता है, कोई राम कहता है, कोई रहीम कहता है। कोई कुछ और कहता है, कोई कुछ और कहता है। वह जो सैकड़ों नाम वाला सत्य है, नाम तो उसका कोई भी नहीं है, इसीलिए तो सैकड़ों नाम हो सकते हैं।

ध्यान रखें, अगर उसका कोई एक नाम हो, तो फिर उसके सैकड़ों नाम नहीं हो सकते। नाम उसका कोई भी नहीं है इसलिए किसी भी नाम से काम चल जाता है। वह तो अनाम है। लेकिन मनुष्यों ने, अलग-अलग भाषाओं में, अलग-अलग युगों में, अलग-अलग अनुभवों में बहुत-बहुत नाम उसे दिए हैं। इंगित उनका एक है। इशारा एक है। शब्द ही अलग-अलग हैं, लेकिन बड़ा उपद्रव पैदा हुआ। बड़ा उपद्रव पैदा हुआ है, क्योंकि नाम के आग्रह इतने गहन हो गए कि जिसका नाम था, उसकी हमें चिन्ता ही न रही। राम वाला उससे लड़ रहा है, जो कहता है, उसका नाम रहमान है। तलवारें चल जाती हैं। अल्लाह वाला उसकी हत्या कर रहा है, जो कहता है उसका नाम भगवान् है। असल में मन में जीने वाले लोग झूठे परमात्मा भी खड़े कर लेते हैं, रस्सी में सांप देखने लगते हैं, नाम में ही सत्य देखने लगते हैं।

नाम सिर्फ नाम है, इशारा है। और सब इशारे बेकार हो जाते हैं, जब वह दिख जाए, जिसकी तरफ इशारा है। अगर मैं उंगली उठाऊं और कहूं कि वह रहा चांद और आप मेरी उंगली पकड़ लें और कहें कि मिल गया चांद, तो कैसी झंझट हो जाएगी ? उंगली बेकार है। इशारा पर्याप्त है। उंगली छोड़ दें, चांद को देखें। चांद को कोई देखता नहीं, उंगली पहले दिखाई पड़ती है। नाम पकड़ में आ जाते हैं। लेकिन इस भूमि पर जिन्होंने जाना, उन्होंने बहुत पहले ही नामों के खतरे की घोषणा की। वह खतरा अभी भी दूसरे लोग नहीं समझ पाए। उन्होंने निरन्तर सब नाम उसके हैं। यह कहा कि उसके सैकड़ों नाम हैं। कोई भी नाम दे दो, चलेगा। वैसे कोई भी नाम पर्याप्त नहीं है और कोई भी नाम कामचलाऊ है, सहयोग दे सकता है।

यही वजह हुई कि हिन्दू धर्म कन्वर्टिंग रिलीजन नहीं हो सका। यही वजह बनी कि हिन्दू धर्म दूसरे धर्म के व्यक्ति को अपने धर्म में बदलने की चेष्टा से नहीं भर सका। कोई कारण नहीं था। क्योंकि जब सभी नाम उसके हैं, तो जो अल्लाह कहता है, वह भी वही कहता है, जो राम कहने वाला कहता है। जो कुरान से

उसकी तरफ इशारा लेता है, वह भी वही इशारा लेता है, जो वेद से उसकी तरफ इशारा लेता है। इसलिए कुरान को प्रेम करने वाले को वेद की तरफ लाने की चेष्टा व्यर्थ है। अगर कुरान काम कर रहा है, तो पर्याप्त है। काम उसी का हो रहा है। अगर बाइबिल काम करती है, तो काम पर्याप्त है। हिन्दू-दृष्टि से ज्यादा उदार दृष्टि पृथ्वी पर पैदा नहीं हो सकी। लेकिन वही हिन्दुओं के लिए मुसीबत बन गई। बन ही जाने वाली थी। इस सोए हुए जगत में जागे हुए लोगों की बात अगर सोए हुए लोग उपयोग में लावें, तो बहुत मुसीबत बन सकती है।

सभी नाम उसके हैं। कोई संघर्ष नहीं है, कोई विरोध नहीं है। सभी इशारों से काम चल जाएगा। ऋषि कहता है, ब्रह्मा कहो, विष्णु कहो, शिव कहो, जो भी कहो, लक्ष्य वह एक है, जो है। उसे जानना है, जो परिवर्तित नहीं होता, जो शाश्वत है, नित्य है। जो कल भी वही था, आज भी वही है, कल भी वही होगा। जो न नया है, न पुराना है, क्योंकि जो कल नया है, वह पुराना पड़ जाएगा। जो पुराना है, वह कल नया था। जो परिवर्तित होता है, उसे हम कह सकते हैं—नया, पुराना। लेकिन जो नित्य है, वह न नया है, न पुराना। वह पुराना नहीं पड़ सकता, इसलिए उसे नया कहने का कोई अर्थ नहीं। वह सिर्फ है।

वह जो 'है' मात्र है, उसे जानना ही लक्ष्य है। लेकिन उसे जानने के लिए हम जो कल्पनाएं फैलाते हैं, उन्हें तोड़ देना पड़ेगा, गिरा देना पड़ेगा। हम सब भरी हुई आंखों से देखते हैं जगत् को, खाली आंखों से देखना पड़ेगा। हम सब भरे हुए मन से देखते हैं जगत् को, खाली मन से देखना पड़ेगा। हम धारणाएं लेकर पहुंचते हैं जगत् के पास (विथ कंशेप्शंस) और उन धारणाओं के पर्दे में से देखते हैं। फिर जगत् वैसा ही दिखाई पड़ने लगता है, जैसे धारणा उसे बताती हैं। अगर उसे देखना है—अस्तित्व को, सत्य को, जैसा है, तो शून्य होकर जाना पड़ेगा, मौन होकर जाना पड़ेगा। खाली होकर जाना पड़ेगा, नग्न होकर जाना पड़ेगा। धारणाओं के सारे वस्त्र त्याग करने पड़ेंगे। विचारों के सारे वस्त्र अलग कर देने पड़ेंगे। निर्विचार और मौन और शून्य जो खड़ा हो जाता है, वह सत्य के अनुभव को उपलब्ध हो जाता है—उस सत्य को, जो नित्य है, शाश्वत है, सनातन है।

और अन्तिम सूत्र में ऋषि कहता है—अंकुशो मार्गः। अंकुश ही मार्ग है। किस बात पर अंकुश? इस मन पर—जो फैलाव करता है, जो प्रक्षेपण करता है—इस पर अंकुश ही मार्ग है। इस मन को रोकना, इस मन को ठहराना, इस मन को न चलने देना, इस मन को गतिमान न होने देना, इस मन को सक्रिय न होने देना ही मार्ग है। बड़े छोटे सूत्रों में बड़ी अमृत सूचनाएं हैं। अंकुशो मार्गः। इतना छोटा-सा, दो शब्दों का सूत्र। इस मन पर—यह जो स्वप्नों को जन्माने वाला हमारे भीतर छिपा हुआ मन है, इस पर अंकुश ही मार्ग है। धीरे-धीरे इस मन को विसर्जित कर देना ही सिद्धि है।

एक झेन फकीर हुआ लिंची। जब वह अपने गुरु के पास गया, तो उसने कहा, मैं मन को कैसा बनाऊं कि सत्य को जान सकूं। गुरु बहुत हंसने लगा। उसने कहा, मन को तू कैसा भी बना, सत्य को तू न जान सकेगा। तो उसने पूछा कि क्या मैं सत्य को जान ही न सकूंगा? गुरु ने कहा, यह मैंने नहीं कहा। सत्य को तू जान सकेगा, लेकिन कृपा कर मन को छोड़। नो माइण्ड इज मेडिटेशन। मन का न हो जाना ध्यान है। तू मन को बनाने की कोशिश मत कर कि ऐसा बनाऊं, अच्छा बनाऊं, बुरा बनाऊं। यह रंग दूं, वह रंग दूं। साधु का बनाऊं, सन्त का बनाऊं। किसका मन बनाऊं? मन से नहीं होगा, क्योंकि मन कैसा भी होगा, तो प्रक्षेपण करेगा। अच्छा मन अच्छा प्रक्षेपण करेगा, बुरा मन बुरा प्रक्षेपण करेगा। लेकिन प्रक्षेपण जारी रहेगा। प्रोजेक्शन जारी रहेगा। मन ही न हो, तो हमारे और जगत् के बीच, हमारे और सत्य के बीच जो-जो कल्पना के जाल हैं, वे तत्काल गिर जाएंगे।

हम वही देख पाते हैं, जो है। जिसे मैं ध्यान कर रहा हूं, वह भी नो माइण्ड, अ-मन, वह भी मन को फेंक देना है, हटा देना है। अंकुशो मार्गः। अंकुश से ही यात्रा शुरू करनी पड़ेगी। पहले तो धीरे-धीरे यात्रा शुरू करें। जैसे वृक्ष के पास खड़े हैं, सब धारणाओं को छोड़कर वृक्ष को देखें। न तो मन को कहने दें, बड़ा सुन्दर है, क्योंकि वह पुरानी धारणा है, उसको बीच में मत आने दें। मन को न कहने दें कि यह क्या कुरूप-सा वृक्ष है। मन को कुछ भी मत कहने दें। मन को कहें कि तू चुप रह, तू मौन रह, मुझे वृक्ष को देखने दे। तू बीच में मत आ।

बैठे हैं, धूप पड़ रही है। मन कहेगा, बड़ी तकलीफ हो रही है। मन को कहें कि तू चुप रह। मुझे जरा धूप को अनुभव करने दे कि क्या हो रहा है। मन कहेगा, बड़ा आनन्द आ रहा है धूप में, तो कहना, तू जरा चुप रह, तू बीच में मत आ। धूप से मुझे सीधा मिलने दे। और तब बड़े फर्क पड़ेंगे। तब धूप में एक और ही बात शुरू हो जाएगी। तब धूप जैसी है, वैसी ही अनुभव में आएगी। तब यह बीच में मन व्याख्या न करेगा।

सारी व्याख्याएं मन की हैं। एक दफा फैशन बदल जाए, तो व्याख्याएं बदल जाती हैं। अभी पूरब में सफेद चमड़ी का भारी मोह है। सफेद चमड़ी बड़ी सुन्दर चमड़ी है। पश्चिम में सफेद चमड़ी बहुत है। जो बहुत ज्यादा है, उसका मूल्य तो होता नहीं, न्यून का मूल्य होता है। जो कम है, उसका मूल्य होता है। पश्चिम में सुन्दरी वह है, जिसकी चमड़ी पर थोड़ी-सी श्यामलता हो, सुन्दरियां लेटी हैं समुद्रों के तट पर, धूप ले रही हैं, थोड़ा सा चमड़ी में श्याम वर्ण प्रवेश कर जाए। धूप में लेट कर बड़ा कष्ट उठा रही हैं, लेकिन कष्ट नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि मन कह रहा है, सौंदर्य पैदा हो रहा है, धूप से सौंदर्य आ रहा है।

जिस चीज में मन रस लेने लगे, वहां सौंदर्य मालूम पड़ने लगता है सुख मालूम

पड़ने लगता है। जिसमें विरस हो जाए, वहां तकलीफ शुरू हो जाती है। फैशन के बदलने के साथ सब बदल जाता है। ऐसी कौमें हैं, जो स्त्रियों का सिर घुटवा देती हैं। वे कहती हैं, घुटा हुआ सिर बहुत सुन्दर है। वे कहती हैं जब तक सिर घुटा न हो, तब तक स्त्री के पूरे चेहरे का सौंदर्य पता नहीं चलता, बाल की वजह से सब ढंक जाता है। असली सौंदर्य तो तभी पता चलता है, जब सिर घुटा हुआ हो, साफ-सुथरा हो। स्वच्छ बाल भी एक गन्दगी ही है। तो स्त्रियां सिर घुटाती हैं। ऐसी कौमें हैं, जो मानती हैं, बिना बाल के सौंदर्य नहीं हो सकता, तो स्त्रियां विग लगाती हैं, झूठे बाल ऊपर से लगाती हैं। इस वक्त विग का पश्चिम में बड़ा धन्धा है।

सब हमारी मौज है, हमारे मन का ही सारा खेल है। जैसा हम पकड़ लें, बस वैसा ही मालूम होने लगता है। ऋषि कहता है, इस मन पर अंकुश रखना पड़े, इस मन को धीरे-धीरे विसर्जित करना पड़े और वह क्षण लाना पड़े, जहां हम कह सकें, अब कोई मन नहीं। इधर रह गई चेतना, उधर रह गया सत्य। जहां मन नहीं, वहां चेतना और सत्य का मिलन हो जाता है। वहीं आनन्द है। वहीं नित्य की प्रतीति और अनुभूति है। ●

शून्यं न संकेतः ।
परमेश्वर सत्ता ।
सत्यसिद्धयोगो मठः ।
अमरपदं न तत् स्वरूपम् ।
आदिब्रह्म स्व-संवित् ।
अजपागायत्री विकारदण्डो ध्येयः ।
मनोनिरोधिनी कन्था ।

शून्य संकेत नहीं है ।
परमेश्वर की सत्ता है ।
सच्चा और सिद्ध हुआ योग (संन्यासी का) मठ है ।
उस आत्मस्वरूप के बिना अमरपद नहीं है ।
आदि ब्रह्म स्व-चेतन है ।
अजपा गायत्री है । विकारमुक्ति ध्येय है ।
मन का निरोध ही उनकी कन्था (संन्यासी की झोली) है ।

प्रवचन : ९
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २९ सितम्बर, १९७१

साधक के लिए शून्यता, सत्य योग, अजपा गायत्री और विकार-मुक्ति का महत्त्व

शून्य संकेत नहीं, परमेश्वर की सत्ता ही है । जिन्होंने भी जाना है, उन्होंने परमेश्वर को या तो पूर्ण कहा है, या शून्य कहा है । परमात्मा के सम्बन्ध में कोई संकेत करने के ये दो ही उपाय हैं । या तो हम कहें कि वह पूर्ण है, या हम कहें कि वह शून्य है । ये संकेत उल्टे मालूम पड़ते हैं । पूर्ण और शून्य से ज्यादा विरोधी और क्या होगा ? इसलिए जो जानते नहीं, वे अगर पूर्ण को मानते हैं, तो शून्य का विरोध करते हैं । न जानने वाले यदि शून्य को मान लेते हैं परमात्मा का स्वरूप, तो पूर्ण का वे विरोध करते हैं । लेकिन शून्य या पूर्ण परम सत्य के सम्बन्ध में कुछ कहने के दो उपाय हैं । या तो कह दो कि वह सभी कुछ है, या कह दो कि वह कुछ भी नहीं है, सभी से खाली है । या तो इन्कार कर दो उन सबों का, जो हमें ज्ञात है और कह दो, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं, यह भी वह नहीं। इसके बाद जो बच रहता है, वही है । यह शून्य का मार्ग है । या कहो, यह भी वही है, वह भी वही है, सब कुछ वही है । यह पूर्ण का मार्ग है ।

यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह किस मार्ग को प्रीतिकर समझेगा । गिलास आधा भरा हो, तो कोई कह सकता है कि आधा भरा है; कोई कह सकता है, आधा खाली है । विपरीत वक्तव्य हैं दोनों और जिन्होंने न देखा हो गिलास, वे इस पर विवाद भी कर सकते हैं कि हम आपस में विरोधी हैं । तुम कहते हो आधा खाली, हम कहते हैं, आधा भरा । निश्चित ही भरा और खाली विपरीत हैं । लेकिन जिन्होंने देखा है, वे कहेंगे, यह आधे भरे गिलास को कहने के दो ढंग हैं । और जब हम परम सत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहने चलते हैं, तो अति में ही बात कहनी पड़ेगी, एक्सट्रीम पर ही बात कहनी पड़ेगी। सीमांत पर बात कहनी पड़ेगी । या तो इन्कार कर देना पड़ेगा उन सबों का, जिन्हें हम जानते हैं या जो संसार है उसे स्वप्नवत् कह देना पड़ेगा कि यह वहां कुछ भी नहीं है।

बुद्ध से कोई पूछता था, कैसा है सत्य ? तो बुद्ध कहते थे, जो भी तुम जानते हो, वैसा जरा भी नहीं है । जो भी तुम पहचानते हो, वह काम नहीं पड़ेगा । जो

भी तुमने सुना है, समझा है, अनुभव किया है, वह वहां काम नहीं आएगा। और जैसा सत्य है, उनको कहने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि जिस तरह भी हम उसे कहेंगे, उसमें तुम्हारे सुने हुए, समझे हुए शब्दों का ही उपयोग करना पड़ेगा। इसलिए बुद्ध कहते थे, मुझे चुप रहने दो, मुझे मजबूर मत करो उसके सम्बन्ध में कुछ कहने को। और अगर कोई बहुत मजबूर ही करता, तो वह कहते, शून्य है। पहले तो वे इन्कार करते वक्तव्य देने से कि मैं कुछ न कहूंगा, मुझे चुप रह जाने दो। अगर कोई नहीं ही मानता और जिद किए चला जाता, तो बुद्ध कहते, वह शून्य है। लेकिन जब हम सुनते हैं, कोई कहे कि परमात्मा शून्य है, तो लगता है कि शायद वह कह रहा है, परमात्मा नहीं है। लेकिन अगर 'नहीं है' कहना था, तो शून्य के प्रयोग करने की कोई जरूरत ही न थी। सीधा ही कहा जा सकता था, नहीं है। जो नहीं है, उसे 'नहीं है' कहने में कौन-सी बाधा थी ? जो है उसे चाहे प्रकट न भी किया जा सके, लेकिन जो नहीं है, उसके सम्बन्ध में तो वक्तव्य दिया ही नहीं जा सकता। लेकिन बुद्ध कहते हैं, वह शून्य है। 'है' से इन्कार नहीं करते। 'है' निश्चित ही, लेकिन 'शून्य' है। और शून्य कहने का कारण यह है, ताकि हम अपने मन की कोई भी धारणाएं, वे जो हमारी कैटेगरीज ऑफ इन्टेलेक्ट हैं, हमारी बुद्धि की जो धारणायें हैं, उन सबको छोड़कर उसकी तरफ चलें। अपने को छोड़कर उसकी तरफ चलें।

परमात्मा को शून्य कहने का अर्थ है, केवल वे ही उसे जान पायेंगे जो शून्य होने की तत्परता दिखाएंगे। जब वे बिल्कुल शून्य हो जाएंगे, तो उसे जान पाएंगे, क्योंकि तब उन दोनों का एक-सा स्वभाव मिल जाएगा। एक हारमोनी, एक एफीनिटी, दोनों के बीच एक सम्वाद, शुरू हो जाएगा। 'शून्य है', ऐसा कहने का यह अर्थ है कि वहां कोई शब्द नहीं, कोई ध्वनि नहीं। वहां कोई रस नहीं। इन्द्रियां जो भी जानती और पहचानती हैं, उनमें से वहां कुछ भी नहीं। फिर भी वह है।

शून्य कहने का एक कारण और है। वह बहुत गहन है। पर ख्याल में ले लेना जरूरी है, क्योंकि हम गहन यात्रा पर निकले हैं। अगर कोई परमात्मा को पूर्ण कहे, तो यह भी सोचा जा सकता है कि और भी पूर्णतर हो सकता है। कितना ही पूर्ण हो, थोड़ा और पूर्ण होने में कौन-सी असुविधा है ? पूर्णतर हो सकता है। पूर्ण में और भी कुछ होने का उपाय बना रहता है। लेकिन शून्य में और शून्य नहीं हो सकता। जब कोई कहता है, परमात्मा शून्य है, तो आखिरी बात आ गई। दो शून्य छोटे और बड़े नहीं हो सकते। शून्य, यानी शून्य। वहां कोई है भी नहीं। अगर मैं कमरे में मौजूद हूं, तो भिन्न भी हो सकता हूं। मेरी मौजूदगी भिन्न भी हो सकती है। जैसा अभी हूं, कल उससे अन्यथा भी हो सकता हूं। लेकिन कमरे में मेरी गैरमौजूदगी है, ऐब्सेंस है, वह भिन्न नहीं हो सकती कभी भी। इट विल

रिमेन द सेम। ऐब्सेंस (अनुपस्थिति) में कैसे फर्क पड़ेगा ? शून्य सदा थिर होगा। होगा तो पूर्ण भी सदा थिर, लेकिन शून्य ज्यादा तर्कयुक्त है। पूर्ण के साथ हम सोच सकते हैं कि और भी पूर्णताएं हैं, लेकिन शून्य के साथ और भी शून्यताएं नहीं सोची जा सकती। शून्य का अर्थ ही है कि जो बिल्कुल खाली है। अब और खाली कैसे होगा ! तो बुद्ध ने शून्य का प्रयोग किया है।

यह उपनिषद् का ऋषि भी कहता है, शून्यं न संकेतः। वह कहता है, जब हम कहते हैं, परमात्मा शून्य है, तो तुम ऐसा मत सोचना कि हम केवल संकेत करते हैं। बड़े हिम्मत का वक्तव्य है। ऋषि कहता है, यह मत सोचना कि हम सिर्फ संकेत करते हैं शून्य से, और परमात्मा शून्य नहीं है। नहीं, हम कहते हैं, शून्य ही परमेश्वर की सत्ता है। सत्ताएं दो तरह की हो सकती हैं—पॉजीटिव (विधायक) और निगेटिव (नकारात्मक)। लेकिन जहां-जहां नकार होता है, वहां-वहां विधेय होता है। जैसे बिजली जल रही है, तो उसमें एक निगेटिव पोलेरिटी है, एक पॉजेटिव पोलेरिटी है। उसमें ऋण विद्युत् भी है, धन विद्युत् भी है। अगर दो में से हट जाए, तो बिजली बुझ जाए। दोनों का सर्किट, दोनों का वर्तुल चाहिए, तो बिजली जलती है। स्त्री है, पुरुष है। एक नकारात्मक है, एक विधायक है। दो में से एक हट जाए, तो जीवन की यात्रा बन्द हो जाती है।

जगत् में जिस चीज का भी अस्तित्व है, उसमें एक नकारात्मक और एक विधायक हिस्सा संयुक्त रूप से हमेशा है। जैसे बैलगाड़ी के दो चाक, या आदमी के दो पैर। ऐसे जिस चीज की भी सत्ता है, उसके दो पैर हैं, एक नकार है, एक विधेय है। लेकिन परमात्मा अगर नकार है, तो विधेय कौन होगा ? फिर तो हमें एक परमात्मा और सोचना पड़ेगा। इसीलिए कुछ धर्मों ने परमात्मा के साथ शैतान को भी सोचा है। नम्बर दो का परमात्मा है, बुरा परमात्मा। लेकिन है वह, और मिट नहीं सकता। क्योंकि उनको ख्याल में आया है कि सत्ता तो विभाजित है। अगर परमात्मा शुभ है, तो उसके विपरीत अशुभ की भी सत्ता होनी चाहिए, इसलिए शैतान को बना ही रहना पड़ा। सिर्फ भारत एक देश है, जहां हमने परमात्मा के विपरीत किसी सत्ता को निर्मित नहीं किया। ईसाइयत भी शैतान के बाबत सोचती है, इस्लाम भी शैतान के बाबत सोचता है, यहूदी भी शैतान के बाबत सोचते हैं, पारसी भी शैतान के बाबत सोचते हैं। सिर्फ इस देश में कुछ लोगों ने बिना शैतान के परमात्मा के होने की सम्भावना को स्वीकार किया है। लेकिन शैतान के साथ स्वीकार करना कोई स्वीकार करना नहीं है, क्योंकि फिर एक कांस्टेंट कांफ्लिक्ट (सतत् द्वन्द्व) है, जिसका कोई अन्त नहीं होगा। शैतान और परमात्मा का कभी अन्त नहीं हो सकता। वह विरोध चलता ही रहेगा।

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरूद्दीन जिस दिन मरा, मौलवी उसे पश्चात्ताप करवाने आए। मौलवी ने मुल्ला से कहा, पश्चात्ताप करो, परमात्मा से क्षमा मांगो, और मरते वक्त शैतान को इन्कार करो। मुल्ला कुछ देर चुप रहा। आंख खोलकर उसने देखा जरूर, फिर आंख बन्द कर ली। मौलवी ने कहा, तुमने सुना नहीं? ज्यादा देर नहीं है, आखिरी घड़ी है। क्षण-दो-क्षण की श्वास है। परमात्मा को स्वीकार करो और शैतान को इन्कार करो। मुल्ला ने कहा, आखिरी वक्त में मैं किसी को भी नाराज नहीं करना चाहता। क्योंकि पता नहीं, आगे की यात्रा किस तरफ हो। मैं चुप ही रहूंगा। जिस तरफ चला जाऊंगा, उसी की प्रशंसा करूंगा। मगर अभी तो कुछ पक्का नहीं है। ऐसे नाजुक क्षण (डेलिकेट मोमेन्ट) में जिद मत करो। अभी कुछ पक्का नहीं है कि शैतान की तरफ जाऊं, कि परमात्मा की तरफ जाऊं। और किसी को नाराज करना ठीक भी नहीं। जिन्दगी की बात और थी, अब तो यह आखिरी क्षण है, तो चुप ही मुझे मर जाने दो।

अगर शैतान और परमात्मा का अस्तित्व साथ-साथ है, तो यह अस्तित्व सदा ही द्वन्द्व होगा, द्वन्दातीत होना असम्भव है। इसलिए ऋषि नहीं कहते कि अस्तित्व द्वन्द्व है। ऋषि कहते हैं जगत् द्वन्द है—जगत्, जो हमें दिखाई पड़ता है वह। लेकिन जो है, वह निर्द्वन्द है। उस निर्द्वन्द को कैसे प्रकट करें? कहें, विधेय, पॉजेटिव? कहें निषेध, निगेटिव तो मुश्किल हो जाएगी, द्वन्द खड़ा हो जाएगा। तो दो ही उपाय हैं उसको प्रकट करने के। या तो कह दें दोनों, अर्थात् पूर्ण और शून्य एक साथ। या कह दें दोनों नहीं, अर्थात् शून्य। या तो परमात्मा को कह दें पूर्ण। ये दो उपाय हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि जो भी इस जगत् में है, सभी परमात्मा है। इससे बड़ी परेशानी पश्चिम में, खासकर ईसाई विचारकों को होती है। वे कहते हैं, फिर बुराई का क्या होगा? बुराई है, बीमारी है, मृत्यु है, दुख है, इसका क्या होगा? क्या यह भी परमात्मा है?

जो कहता है, पूर्ण है परमात्मा, वह यह भी स्वीकार कर रहा है कि जो बुराई है, वह भी परमात्मा है। वह जो चोर है, वह भी परमात्मा है। ईसाइयत को बड़ी कठिनाई पड़ी इस बात को समझने में। क्योंकि अगर चोर भी परमात्मा है और अगर रावण भी राम हैं, तो फिर आदमी के लिए विकल्प क्या है, आदमी क्या चुने? क्या बुरा है? इस जगत् में कोई बुराई नहीं है। अगर सभी परमात्मा है, तो फिर बुराई नहीं है। अकाल आता है, बाढ़ आती है, लोग मर जाते हैं, युद्ध होता है। सिर्फ हिन्दुओं ने हिम्मत की और कहा, वह भी परमात्मा है। यह हिम्मत बहुत अद्भुत है। समझ के थोड़े पार भी है। हमारा भी मन कहता है कि इसे इन्कार करो। अच्छाई को परमात्मा से जोड़ दो, बुराई को अलग करो। लेकिन ऋषि कहते हैं, बुराई को फिर कहां रखोगे? फिर तुम्हें शैतान निर्मित करना पड़ेगा। बुराई को रखोगे कहां? बुराई भी परमात्मा है। असल में अगर

बुराई भी परमात्मा है, तो बुराई-बुराई हो नहीं सकती अन्ततः। वह सिर्फ हमारे देखने की भूल होगी या पूरा पर्सपेक्टिव (परिप्रेक्ष्य) न होगा, पूरी बात दिखाई न पड़ रही होगी। एक घटना घटती है, पैर में कांटा चुभ जाता है, आप कहते हैं, यह तो सीधी बुराई है। दुख हो रहा है, पीड़ा हो रही है।

हसन नाम का सूफी फकीर एक रास्ते से गुजर रहा है। पत्थर से चोट लग गई और पैर से खून बहने लगा, तो उसने हाथ जोड़ कर आकाश की तरफ परमात्मा को धन्यवाद दिया कि तेरी बड़ी कृपा है। उसके शिष्य तो बहुत हैरान हुए। उन्होंने कहा, यह कृपा है, तो अकृपा क्या होती है? पैर में पत्थर लग गया है, खून बह रहा है। अगर यह कृपा है, तो हमें छुट्टी दो। हम सब परमात्मा की कृपा को खोजने निकले हैं और तुम्हारे पीछे इसीलिए चल रहे हैं। अगर यह कृपा है, तो हम वापस लौट जाएं। हसन ने कहा, जो इसमें भी कृपा न देख पाएगा, उसे परमात्मा की कृपा कभी भी न मिल सकेगी। और फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि आज मुझे फांसी होनी चाहिए थी, लेकिन उसकी कृपा है कि पैर में पत्थर लगकर मैं बच गया हूं। कर्म तो मेरे ऐसे हैं कि आज फांसी निश्चित थी। नियति तो मेरी फांसी की थी, लेकिन उसकी कृपा है। और ऐसा मत सोचना कि हसन को फांसी लगती, तो हसन न कहता कि तेरी बड़ी कृपा है। तो भी यही कहता, क्योंकि और बड़ी फांसियां हो सकती हैं। फांसी से भी बड़ी फांसियां हो सकती हैं।

मुल्ला नसरूद्दीन ने इकट्ठी चार शादियां कर ली थीं। जिस जगह वह रहता था, उस जगह का कानून उसे फांसी के योग्य मानता था। अदालत में हाजिर होना पड़ा। मजिस्ट्रेट ने कहा कि जुर्म तो तुमने बहुत भयंकर किया। फांसी ही इसकी सजा है। लेकिन मुल्ला, हम तुम्हें फांसी नहीं देते। हम तुम्हें माफ करते हैं और यह दण्ड देते हैं कि चारों स्त्रियों के साथ रहो। मुल्ला ने कहा, यह फांसी से भी बद्तर है। तुम फांसी दे दो, तो बड़ी कृपा होगी। फांसी से बद्तर स्थितियां हो सकती हैं। अगर हसन को फांसी भी लगती, तो वह कहता, तेरी बड़ी कृपा है। नहीं, सवाल यह नहीं है कि कौन-सी बात हुई है। सवाल इस हृदय का है, जो हर जगह परमात्मा को देख लेता है।

ऋषि कहते हैं कि वह परमात्मा या तो पूर्ण है—सभी कुछ वही है, क्षुद्रतम से लेकर विराटतम तक वही है। एक तो यह रास्ता है। दूसरा रास्ता यह है कि इसमें से कुछ भी वह नहीं है। निर्वाण उपनिषद् का ऋषि तो कहता है कि वह शून्य है। इस पर जोर देने का कारण है। मेरा भी झुकाव इस बात का है कि परमात्मा को पूर्ण न कहा जाए, शून्य ही कहा जाए, यह जानते हुए कि पूर्ण भी कहा जा सकता है। फिर भी मेरा अपना सुझाव भी यही है कि परमात्मा को

शून्य ही कहा जाए। क्यों? वह मैं आपको कहूं।

जसे ही हम परमात्मा को पूर्ण कहते हैं, हमारे अहंकार को परमात्मा के साथ मिटाना मुश्किल हो जाता है। यह बढ़ता है, क्योंकि लगता है कि परमात्मा को पाकर हम पूर्ण हो जाएंगे। लेकिन जब कहा जाता है, परमात्मा शून्य है, तो उसका अर्थ है कि परमात्मा को पाना हो, तो हमको मिटना पड़े और शून्य होना पड़े। इसलिए साधक की दृष्टि से परमात्मा को शून्य कहना ही उचित है। दर्शन की दृष्टि से पूर्ण भी कहा जा सकता है, लेकिन साधक की दृष्टि से पूर्ण कहना बहुत खतरनाक है, क्योंकि साधक बहुत नाजुक हालत में है। सवाल यही है कि अहंकार मिट जाए, तो वह परमात्मा को पा ले, जो पूर्ण है या शून्य है, जो भी है। लेकिन पूर्ण परमात्मा की कल्पना के साथ अपने को मिटाने का ख्यान नहीं आता, बल्कि और बड़े हो जाने का ख्याल आता है। ऐसा लगता है कि परमात्मा को पाकर हम और भी मजबूत, और भी विराट्, और भी अमृत, और भी दुख के पार ही जाएंगे और हम बच रहेंगे। मैं बच जाऊंगा।

हमारा अहंकार कह सकता है, 'अहम् ब्रह्मास्मि', मैं ब्रह्मा हूं। इसलिए अक्सर ऐसा हो जाता है कि अहम् ब्रह्मास्मि की घोषणा करने वाले साधु-संन्यासी अति अहंकार से पीड़ित हो जाते हैं। अहंकार उनके रोएं-रोएं पर लिख जाता है। उसका कारण है। अगर परमात्मा के पूर्ण होने को स्वीकार किया जाए, तो उस पूर्ण के साथ स्वयं को जोड़ने में शून्य होना कठिन पड़ेगा। इसलिए साधक को ध्यान में रखकर ऋषि कहता है कि शून्य उसका स्वभाव है, और जब तक तुम शून्य न हो जाओ, तब तक उसे न पा सकोगे। यद्यपि जो उसे पा लेते हैं, वे उसे पूर्ण भी कह सकते हैं, कोई अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन जिन्होंने नहीं पाया है, उनकी तरफ से अगर ध्यान रखना हो, तो शून्य कहना ही उचित है, क्योंकि परमात्मा को वही बताना उचित है, जो हमें बनना हो। परमात्मा को ऐसा कोई भी संकेत देना खतरनाक है, जो हमारे मिटने में बाधा बन जाए। मिट जाना है, खाली हो जाना है, तभी हम उससे भर पाएंगे। जो हमें हो जाना है, परमात्मा को वही कहना उचित है। इसलिए शून्य 'प्रेफरेबल' है, चुनाव-योग्य है। ऋषि ने शून्य को ही चुना और कहा कि यह शून्य संकेत नहीं है, ऐसा मत मानना कि हम सिर्फ शून्य से उस परमात्मा का इशारा करते हैं, जो कि पूर्ण है। वह शून्य ही है, शून्य से इशारा नहीं करते। उसका स्वभाव शून्य है। वह शून्य है, इसे और भी एक-दो दिशाओं से समझ लेना चाहिए।

असल में सारा अस्तित्व शून्य से पैदा होता है और शून्य में ही लीन होता है। एक बीज है वृक्ष का, उसे तोड़ें और खोजें कि वृक्ष उसमें कहां छिपा है। कहीं भी न मिलेगा। पीस डालें बीज को, लेकिन कहीं वृक्ष न मिलेगा। फिर भी इसी बीज से वृक्ष पैदा होता है। यही बीज टूटकर जमीन में बिखर जाता है और अंकुर

निकलता है और वृक्ष बन जाता है। लेकिन बीज में खोजने से वृक्ष कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता है। कहां से आता है यह वृक्ष? शून्य से आता है। बीज में तो सिर्फ इस वृक्ष की 'ब्लू प्रिन्ट' (योजना) होती है। वृक्ष नहीं होता। बीज में तो सिर्फ नक्शा होता है कि वृक्ष कैसे होगा। जस्ट ए ब्लू प्रिन्ट, ए बिल्ट-इन प्रोग्रैम, जैसे कोई आर्चिटेक्ट एक मकान बनाता है और अपनी फाइल में एक नक्शा दबा कर चलता है। आप उसके नक्शे में रहने की कोशिश न करें। वह नक्शा ब्लू प्रिन्ट है। वह सिर्फ रूपरेखा है; जैसा मकान बन सकेगा, उसकी सिर्फ रूपरेखा है। बीज में वृक्ष नहीं होता। बीज में सिर्फ रूपरेखा होती है। वृक्ष तो शून्य से आता है, बीज रूपरेखा देता है और वृक्ष निर्मित होता है। आप जब पैदा होते हैं, तो अपने पिता और माता से आप पैदा नहीं होते, जस्ट ए ब्लू प्रिन्ट इज गिव्हेन। मां और बाप सिर्फ ब्लू प्रिन्ट देते हैं, रूपरेखा देते हैं कि नाक कैसी होगी, आंख कैसी होगी, बाल का रंग कैसा होगा, उम्र कितनी होगी। सब रूपरेखा दे देते हैं, लेकिन जो जीवन आता है, वह शून्य से आता है।

सारा अस्तित्व शून्य से निकलता है और सारा अस्तित्व शून्य में लौट जाता है। जब एक वृक्ष गिरता है और नष्ट होता है, तो जमीन से मिलकर फिर मिट्टी हो जाता है। वह मिट्टी से ही आता है। रूपरेखा खो गई, जो बिल्ट-इन प्रोग्रैम था, वह समाप्त हो गया। सत्तर साल वृक्ष को रहना था, वह बात समाप्त हो गई। मिट्टी अपनी मिट्टी खींच लेती है, पानी अपना पानी वापस ले लेता है, आकाश अपना आकाश मांग लता है, सूर्य अपनी किरणों को वापस उठा लेता है, हवाएं अपनी हवाओं को खींच लेती हैं। लेकिन वह वृक्ष कहां गया? वह जो जीवन था, जिसने इस मिट्टी को इकट्ठा किया था और हवा को बाधा था और जिसने आकाश से पानी खींचा था और सूरज से किरणें ली थीं, वह जो जीवन था, जिसने यह सब संघट किया था, यह सारा आर्गनाइजेशन किया था, वह जीवन कहां है? वह शून्य से आया था और शून्य में वापस लौट गया।

परमात्मा को शून्य कहने का कारण है। जो भी दिखाई पड़ता है, वह तो पदार्थ है, जो भी पकड़ में आता है, वह पदार्थ है। इन सब दिखाई पड़ने वाले और पकड़ में आने वाले के अतिरिक्त कहीं कोई मूल-स्रोत जीवन का चाहिए। उसे हम क्या कहें? उसे हम कोई भी नाम देंगे, तो वह पदार्थ-जैसा मालूम पड़ेगा। शून्य ही एक शब्द है हमारे पास, जो पदार्थ-जैसा मालूम नहीं पड़ता। इसलिए परमात्मा को शून्य कहा है, इसलिए उसे निराकार कहा है। सिर्फ शून्य ही निराकार हो सकता है, इसलिए उसे निर्गुण कहा है। सिर्फ शून्य ही निर्गण हो सकता है, इसलिए उसे सनातन कहा है, सदा एक-जैसा रहने वाला—सिर्फ शून्य ही सदा एक जैसा हो सकता है। जैसे ही आकृति आती है, बदलाहट आ जाती है। जैसे

ही गुण आते हैं, परिवर्तन आ जाते हैं। जैसे ही रूप आता है, जन्म और मृत्यु आ जाती है। सिर्फ शून्य ही अजन्मा और अमृत हो सकता है। इसलिए ऋषि कहता है, शून्य संकेत नहीं है हमारा, शून्य उसकी सत्ता है। विराट् जगत् उसी से पैदा होता है और उसी में लीन हो जाता है।

शून्य परमात्मा की सत्ता है। उसका अस्तित्व, उसके होने का ढंग है। इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए परमात्मा का दर्शन कहना, ठीक शब्द नहीं है। आंख से तो वह दिखाई नहीं पड़ेगा। कहना पड़ता है, क्योंकि मजबूरी है। कोई भी शब्द उपयोग करेंगे, तो इन्द्रियों का होगा। परमात्मा की होती है प्रतीति, होती है अनुभूति, होती है एक्सपीरिएंसिंग, दर्शन नहीं। कहते हैं, क्योंकि शब्द के लिए कोई उपाय नहीं है। परमात्मा शून्य है, इसीलिए तो मौजूद होकर भी मौजूद नहीं मालूम पड़ता। सब तरफ होकर भी अनुपस्थित है। जगह-जगह होकर भी कहीं नहीं मालूम पड़ता।

स्वामी राम निरन्तर एक बात कहा करते थे। वे कहते थे, मैं परम नास्तिक था। मैंने कहीं दीवार पर लिख छोड़ा था—गॉड इज नो व्हेयर, ईश्वर कहीं भी नहीं है। मेरा छोटा बच्चा पैदा हुआ, बड़ा हुआ, स्कूल पढ़ने जाने लगा। अभी नया-नया पढ़ रहा था, तो पूरे लम्बे शब्द नहीं पढ़ पाता था। नो व्हेयर काफी बड़ा है। वह बच्चा पढ़ रहा था; दीवार पर लिखा हुआ था, गॉड इज नो व्हेयर। उसने पढ़ा, गॉड इज नाउ हियर। तोड़कर पढ़ा। 'नो व्हेयर' जो था, उसे तोड़ लिया। बड़ा लम्बा शब्द था। उतना लम्बा पढ़ना अभी उसकी सामर्थ्य के बाहर था। मैं तो बहुत चौंका। लिखा था—गॉड इज नो व्हेयर। पढ़ने वाले ने पढ़ा, गॉड इज नाउ हियर। उस दिन से मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया। जब भी मैं दीवार पर देखता, मुझे भी पढ़ाई में आने लगा, गॉड इज नाउ हियर।

एक दफा बात ख्याल में आ जाए, तो फिर उसे भुलाना बहुत मुश्किल होता है। 'नो व्हेयर', 'नाउ हियर' भी हो सकता है। जो कहीं नहीं है, वह सब कहीं भी हो सकता है। जो कहीं नहीं है, वह अभी और यहीं हो सकता है। लेकिन उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति-जैसी है। इट्स प्रेजेंस इज जस्ट लाइक ऐब्सेंस। असल में अगर परमात्मा की उपस्थिति भी उपस्थिति-जैसी हो, तो बहुत वायलेंट हो जाए, बहुत हिंसक हो जाए। उसे ऐसा ही होना चाहिए कि हमें पता ही न चले कि वह है, नहीं तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जाएं।

मैंने सुना है कि एक ईसाई नन, एक ईसाई साध्वी, बाइबिल में पढ़ते-पढ़ते इसी ख्याल पर पहुंच गई थी। बाइबिल में उसने पढ़ा कि ईश्वर सब जगह है और हर जगह देखता है। वह बड़ी मुश्किल में पड़ी। उसे लगा कि वह बाथरूम में भी होता ही होगा। वह कपड़े पहनकर स्नान करने लगी कि कहीं ईश्वर उसे नंगा न देख ले। दूसरी साध्वियों को पता चला तो उन्होंने कहा, तू यह क्या पागलपन

करती है कि तू बाथरूम में कपड़े पहनकर स्नान करती है! वहां कोई भी नहीं है। उस साध्वी ने कहा, नहीं, जब से मैंने बाइबिल में पढ़ा है कि वह सब जगह देख रहा है, उसकी आंख हर जगह है, तब से मैं कपड़े पहनकर ही नहाती हूं। लेकिन उस पागल को पता नहीं कि जो बाथरूम के भीतर देख सकता है, वह कपड़े के भीतर भी देख सकता है। उसे इसमें क्या कठिनाई होगी? नथिंग इज इम्पासिबल फॉर हिम—अगर दीवार के भीतर ही घुस जाता है, तो कपड़े के भीतर घुसने में ऐसी कौन-सी अड़चन होती होगी। और जो कपड़े के भीतर घुस सकता है, और जो दीवार के भीतर भी घुस सकता है, उसके लिए चमड़ी और हड्डी कोई बाधा बनेगी? जो इतना सब कहीं है, क्या वह भीतर भी नहीं होगा, प्राणों में नहीं होगा? लेकिन उसकी मौजूदगी बड़ी नॉन-वायलेंट है, बड़ी अहिंसात्मक है।

ध्यान रखें, मौजूदगी में हिंसा हो जाती है। बाप बैठा है, तब देखें; बेटे की चाल बदल जाती है। बाप कमरे में बैठा है, बेटा जब निकलता है, तो उसकी चाल बदल जाती है, क्योंकि बाप की मौजूदगी हिंसात्मक होगी। अगर परमात्मा इस तरह मौजूद हो, तो जीवन बड़ी मुश्किल में पड़ जाए, जीना मुश्किल ही हो जाए। उठना-बैठना मुश्किल हो जाए, कुछ भी करना मुश्किल हो जाए। नहीं, आदमी के जीवन के लिए पूरी स्वतंत्रता इसीलिए सम्भव है कि उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति-जैसी है। वह सिर्फ उन्हें ही दिखाई पड़ना शुरू होता है, जिन पर उसकी मौजूदगी की कोई हिंसा नहीं होती। वह सिर्फ उन्हें ही अनुभव में आना शुरू होता है, जो इतने विकाररहित हो गए होते हैं कि अब नग्न हो सकते हैं और प्रकट हो सकते हैं। वह सिर्फ उन्हीं के निकट जाहिर होता है, जिनके पास छिपाने को कुछ भी नहीं रह जाता। इसलिए ऋषि कहते हैं, वह शून्य है। यह संकेत नहीं, उसकी सत्ता है।

सच्चा और सिद्ध हुआ योग संन्यासी का मठ है। सत्य सिद्ध योगो मठः। सिद्ध हुआ योग ही संन्यासी का मठ है, वही उसका मन्दिर है, वही उसका आवास है। 'सिद्ध हुआ योग!' बड़ी जागरूकता ऋषि के मन में होगी। सिर्फ इतना नहीं कहा कि योग उसका मन्दिर है। क्योंकि योग सिर्फ बातों में हो सकता है, चर्चा में हो सकता है, सिद्धान्त में हो सकता है। उस योग का कोई मतलब नहीं। योग म्यूजियम में भी हो सकता है, यह मुझे आज पता चला। एक मित्र निमंत्रण दे गए हैं ब्रह्माकुमारियों का। उसमें लिखा है, राज-योग का म्यूजियम। मुझसे कह गए, आप जरूर देखें। राज-योग का बिल्कुल म्यूजियम बनाकर रखा है। अभी योग इतना नहीं मर गया है कि म्यूजियम बनाना पड़े। म्यूजियम तो मरी हुई चीजों के लिए बनाना पड़ता है।

बर्ट्रेन्ड रसेल के ऊपर कोई व्यक्ति थीसिस (शोध-प्रबन्ध) लिखना चाहता था। बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा कि कम से कम मुझे मर तो जाने दो। अन्वेषण का काम तो मेरे मरने के बाद ही शुरू होना चाहिए। अभी तो मैं जिन्दा हूं। अभी तुम कैसे थीसिस लिखोगे? अभी जिन्दा आदमी न मालूम और क्या-क्या कहेगा। तुम्हारी थीसिस गड़बड़ हो सकती है। तुम थोड़ा 'वेट' करो थोड़ा ठहरो। इतना घबराओ मत, मैं भी करूंगा ही। फिर तुम थीसिस लिख लेना।

लेकिन राज-योग के म्यूजियम का क्या मतलब हो सकता है? योग कोई म्यूजियम की बात है? लेकिन करीब-करीब हो गई। इसलिए ऋषि नहीं कहता कि योग उसका मठ है, क्योंकि योग सिद्धान्त में हो सकता है, चर्चा में हो सकता है, म्यूजियम में हो सकता है, विचार में हो सकता है, दर्शन में हो सकता है। ऋषि कहता है, सिद्ध हुआ योग—वही उसका मठ है। सिद्ध हुआ योग। जब वह अनुभूति बन जाए स्वयं की, तभी। वह पतंजलि के शास्त्र में तो लिखा है, उस शास्त्र को सिर पर लेकर ढोते रहें, तो कोई हल नहीं होता। उस शास्त्र को कण्ठस्थ कर लें, तो भी कुछ नहीं होता। उस शास्त्र पर थोड़ी व्याख्याएं कर डालें, तो भी कुछ नहीं होता। उस शास्त्र के बड़े जानकार बन जाएं, ऐसा कि पतंजलि भी मिल जाएं तो डरें, तो भी कुछ नहीं होता। क्योंकि योग जो है, वह विचार नहीं है, अनुभव है।

सिद्ध हुआ योग ही मठ है। लेकिन ऋषि एक शर्त और लगाता है, सच्चा और सिद्ध हुआ योग—'ट्रू ऐण्ड एक्सपीरिएंस्ड,' यह और कठिन शर्त है। इसका मतलब यह हुआ कि गलत योग भी सिद्ध हो सकता है। इसलिए ऋषि एक शर्त और लगाता है कि सत्य और सिद्ध हुआ योग। गलत योग भी सिद्ध हो सकता है। इस जगत् में कोई भी चीज ऐसी नहीं है, जिसका गलत रूप न हो सके। सब चीजों के गलत रूप हो सकते हैं। सही रूप जानना बड़ा कठिन होता है और गलत रूप चुनना सदा आसान होता है।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी का जन्म-दिन था। वह हीरे का हार लेकर आया। पत्नी तो पागल हो गई। लाखों का हार मालूम पड़ता था। उसने कहा, नसरुद्दीन, तुम इतना मुझे प्रेम करते हो, यह मुझे अभी पता नहीं। नसरुद्दीन ने कहा, बिना हीरे के हार के कहीं प्रेम का पता चलता है? अब तो पक्का है, यह हार देख। पर पत्नी ने कहा, लाखों खर्च हो गए होंगे। नसरुद्दीन ने कहा, हो ही गया। तो पत्नी ने कहा, जब लाखों ही खर्च करने थे, तो बेहतर है एक राल्स कार खरीदी होती। नसरुद्दीन ने कहा, 'इमीटेशन' (नकली) कार कहीं मिलती, तो हम वही खरीद लाते। यह इमीटेशन हार है। यह लाखों का दिखता है, पर है नहीं। लेकिन इमीटेशन कार तो कहीं मिलती नहीं।

जो भी चीज इस जगत् में हो सकती है, उसका इमीटेशन हो सकता है।

इमीटेशन सस्ता मिलता है और आदमी सस्ते को खरीदने को बड़ा उत्सुक होता है, सरलता से मिल सकती है। सस्ते योग भी हैं, इमीटेशन योग भी। इसलिए ऋषि ने कहा, सत्य और सिद्ध हुआ योग। इमीटेशन योग क्या है, बात थोड़ी-सी समझ लेनी चाहिए।

सम्मोहन से सम्बन्धित सब योग 'इमीटेशन योग' होते हैं। जैसे कि उदाहरण के लिए अभी फ्रांस में सम्मोहन विद्या का एक बहुत पारंगत व्यक्ति था इमायल कुवे। इमायल कुवे सिर्फ लोगों की सम्मोहन से चिकित्सा करता था। एक आदमी बीमार है, सिर में दर्द है तो कुवे कोई दवा नहीं देता था। वह सिर्फ उसे लिटाकर कहता कि तुम शिथिल पड़ जाओ और मन में सोचो कि दर्द नहीं है। वह दोहराता है कि दर्द नहीं है। वह बाहर से कहता कि दर्द नहीं है। दर्द झूठ है, दर्द नहीं है। मरीज मन में सोचता कि दर्द नहीं है, दर्द नहीं है। अगर यह भाव गहरा प्रवेश कर जाए, तो दर्द मिट जाता है। मिट जाने के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि निन्यानबे मौकों पर दर्द होता नहीं, सिर्फ ख्याल होता है। तो ख्याल से मिट जाता है। दर्द हो भी, तो विपरीत ख्याल से छिप जाता है। इमायल कुवे को मुल्ला नसरुद्दीन-जैसा आदमी नहीं मिला।

मैंने सुना है कि एक दूसरे सम्मोहन शास्त्री से मुल्ला नसरुद्दीन की मुलाकात हुई। नसरुद्दीन ने जाकर उससे कहा कि मैं बड़ी तकलीफ में पड़ा हुआ हूं। मुझे घर में बैठे-बैठे सर्दी पकड़ जाती है। भली धूप निकली है, सब ठीक है, नहीं तो अचानक सर्दी पकड़ जाती है। उस सम्मोहनविद् ने कहा, कोई फिक्र नहीं। तुम घर में बैठे, आंख बन्द किए सोचा करो कि सिर्फ सूरज की तेज किरणें पड़ रही हैं। सिर गरम हो रहा है। नसरुद्दीन ने कहा, ठीक है। सात दिन बाद नसरुद्दीन की पत्नी ने फोन किया कि महाशय, आपने क्या कर दिया। उनको घर में बैठे-बैठे लू लग गई है। लग ही जाएगी। वह सर्दी भी मन का खेल थी। यह लू भी मन का खेल थी। जो सर्दी लगा सकता है, वह लू भी लगा सकता है। इसमें कौन-सी कठिनाई है। कला तो वही है, ट्रिक तो वही है।

आदमी सम्मोहन से झूठे योग को भी सिद्ध कर सकता है। अपने मन में सिर्फ भाव करके। वे सच्चे योग नहीं हैं। सम्मोहन का भी उपयोग किया जा सकता है सच्चे योग के मार्ग पर, और किया जाता है, लेकिन वह बड़ा भिन्न है। आदमी में जो बीमारियां सम्मोहन से पैदा हुई हैं, उनको सम्मोहन से काट दिया जाता है। डी-हिप्नोटाइज (प्रति सम्मोहित) किया जाता है। आदमी के जो रोग सम्मोहन से पैदा हुए हैं उन्हें सम्मोहन से जरूर काट देना चाहिए। लेकिन सम्मोहन से स्वास्थ्य नहीं पैदा करना चाहिए, वह तो झूठा होगा। फर्क समझ लें। सम्मोहन से पैदा हुई बीमारी है झूठी, मन की मानसिक बीमारी है। मानसिक

विचार से उसे तोड़ा जा सकता है। लेकिन अगर कोई मानसिक विचार से समझे कि मैं स्वस्थ हूं, तो वह स्वास्थ्य भी मानसिक विचार होगा, वह स्वस्थ हो नहीं पाएगा। इसलिए हिप्नोटिज्म का निगेटिव उपयोग हो सकता है। योग में होता है; नकारात्मक, सिर्फ काटने के लिए। पुराने बंधे हुए सम्मोहन को काटने के लिए उपयोग होता है, लेकिन कोई नया सम्मोहन पैदा करने के लिए उपयोग नहीं होता। झूठे योग में नया सम्मोहन पैदा करने के लिए उसका उपयोग होता है। आप बैठकर, एक पत्थर की मूर्ति को भगवान् मानकर अगर सम्मोहन करते रहें, करते रहें, करते रहें तो मूर्ति भगवान् मालूम होने लगेगी। बात-चीत भी मूर्ति से हो सकती है। चर्चा भी हो सकती है, हालांकि और किसी को सुनाई नहीं पड़ेगी। सिर्फ आपको ही सुनाई पड़ेगी। लेकिन अगर दो-चार दिन भी अभ्यास छोड़ दें, तो चर्चा बन्द हो जाएगी, मूर्ति पत्थर मालूम होने लगेगी। वह जो सम्मोहन था, वह आपका प्रोजेक्शन (प्रक्षेपण) था

पत्थर में भी भगवान् खोजा जा सकता है। दो ढंग हैं—एक ढंग तो यह कि मैं पत्थर में भगवान् मानूं और आरोपित करूं। निरन्तर आरोपण करने से पत्थर में भगवान् दिखाई पड़ने लगेंगे। वे भगवान् मेरे ही कल्पित भगवान् हैं, वह सच्चा योग नहीं है। नहीं, मैं पत्थर में भगवान् मानूं ही नहीं। मैं तो सिर्फ अपने को भीतर विचारों से खाली करूं, खाली करूं, खाली करूं और वह घड़ी ले आऊं, जब चित्त बिल्कुल दर्पण की तरह शून्य हो जाए। पत्थर सामने होगा। भगवान् उसमें प्रकट हो जाएं, लेकिन यह भगवान् मेरे कल्पित नहीं हैं, क्योंकि कल्पना करने वाला चित्त और विचार तो मैं छोड़ चुका। कल्पना करने वाला मन तो मैं हटा चुका। अब तो वहां पत्थर है और यहां मेरी चेतना है। चेतना और पत्थर का मिलन हो जाए, तो पत्थर भगवान् हो जाता है। लेकिन बिना चेतना के मिलन के, मन के ही आधार पर अगर मैं निरन्तर चिन्तन करता रहूं, मनन करता रहूं, अभ्यास करता रहूं कि यह मूर्ति भगवान् है; भगवान् है, भगवान् है, ऐसा दोहराना रहूं, दोहराता रहूं, दोहराता रहूं, तो एक दिन वह भ्रांति पैदा कर लूंगा जिस दिन मूर्ति भगवान् हो जाएगी। पत्थर में भगवान् प्रकट होते हैं, लेकिन उस आदमी के लिए, जिसका मन गिर जाता है; और जो मन से ही पत्थर में भगवान् प्रकट करता है, वह झूठा योग है।

तो ऋषि कहता है, सच्चा और सिद्ध हुआ योग—अनुभवित हो, अनुभव से ठहरा हो, जाना हो और फिर भी जरूरी नहीं कि सच्चा हो, क्योंकि अनुभव काल्पनिक भी हो सकता है। अनुभव झूठा भी हो सकता है। अनुभव स्वप्नवत् हो सकता है। इसलिए एक शर्त और लगाई—सच्चा। दो तरह की हमारी सम्भावनाएं हैं। अगर हम मन से सत्य की तरफ चलें, तो जो भी होगा सच्चा नहीं, झूठा होगा। अगर हम मन को छोड़कर चलें, तो जो भी होगा वह सच्चा

होगा। योग का अर्थ सत्य है, मन से साधा गया नहीं, मन के विसर्जन से पाया गया। झूठे योग का अर्थ है, मन से ही साधा गया। मन के पार का कुछ भी पता नहीं।

उस आत्म स्वरूप के बिना अमरपद नहीं। वह जो सच्चा और सिद्ध हुआ योग है, उससे मिलने वाला जो अनुभव है, अमरपद न तत् स्वरूपम्। उसे जाने बिना, उसे पाए बिना अमर पद नहीं, उसे पाए बिना अमृत की कोई उपलब्धि नहीं, मृत्यु बनी ही रहेगी। इसका अर्थ हुआ कि जहां तक मन होगा, वहां तक मृत्यु होगी। मन की सीमा मृत्यु की सीमा है। मन और मृत्यु एक ही अस्तित्व के नाम हैं। मन के पार अमृत्व है, मन की सीमा के पार अमृत्व है। अमृत को पाए बिना चैन नहीं मिल सकता—कोटि-कोटि जन्म भटक कर भी चैन नहीं मिल सकता है। क्योंकि जब मृत्यु पीछा कर रही हो निरन्तर, तो कैसे चैन मिल सकता है? मृत्यु गले में हाथ डाले खड़ी हो निरन्तर, तो कैसे चैन मिल सकता है? थोड़ी दूर भुलावा हो सकता है, वह दूसरी बात है। लेकिन फिर-फिर याद आ जाती है, बार-बार याद आ जाती है। मौत फिर-फिर घेर लेती है। अमृत को जाने बिना निश्चिन्तता नहीं हो सकती। जब तक मुझे लगता है, मिट जाऊंगा, मिट सकता हूं, तब तक प्राण कंपते ही रहेंगे।

एक बहुत कीमती विचारक हुआ पश्चिम में—सोरेन कीर के गार्ड। उसने एक किताब लिखी है, जिसमें उसने कहा है कि मैन इज ऐ ट्रैम्बलिंग—आदमी एक कंपन है। पर व्हाई मैन इज ए ट्रैम्बलिंग? बिकॉज ऑफ डेथ। आदमी क्यों एक कम्पन है? मृत्यु के कारण। मृत्यु चौबीस घंटे सामने खड़ी हो, कंपेंगे नहीं, तो क्या करेंगे? अमृत का पाए बिना कम्पन नहीं मिटेगा। कम्पन के मिटे बिना स्वभाव की सरलता, निर्दोषता अज्ञात ही रहेगी। ऋषि कहता है, उस आत्म-स्वरूप के बिना अमरपद नहीं। उस आत्म-पद को जानना ही पड़ेगा। उस आत्म-स्वरूप को जानना ही पड़ेगा। उसे जानना ही पड़ेगा, जो है; उस मन को छोड़ना ही पड़ेगा, जो भरमाता है, भटकाता है, भ्रम पैदा करता है, स्वप्न जन्माता है।

आदि ब्रह्म स्व-संचित। वह जो ब्रह्म है, वह जो चैतन्य है, वह हमारे भीतर छिपा हुआ, आदि चैतन्य है, हमारे भीतर वह स्व-संवित है। यह बहुत कीमती विचार है उपनिषद् का—स्व-संवित, सेल्फ-कांशियस। यहां हम बैठे है, बिजली बुझ जाए, तो फिर हम एक दूसरे को निश्चित ही दिखाई न पड़ेंगे। क्योंकि एक दूसरे को देखना जो है, वह स्व-प्रकाशित नहीं है, पर प्रकाशित है। प्रकाश पर निर्भर हैं। यह बिजली जलती है, तो मैं आपको देख रहा हूं। बिजली बुझ गई, तो मैं आपको नहीं देख सकूंगा। सूरज है, तो मुझे रास्ता दिखाई पड़ रहा है, सूरज ढल

गया, तो मुझे रास्ता दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि रास्ता स्व-प्रकाशित नहीं है। दूसरे से प्रकाशित है।

मुल्ला नसरूद्दीन अपने कमरे में बैठा है। अमावस की रात है। एक मित्र मिलने आया है। सांझ थी, सूरज ढल रहा था, तब आया था। तब सब चीजें दिखाई पड़ती थीं। फिर गप-शप में काफी वक्त निकल गया। रात अंधेरी हो गई। मित्र ने मुल्ला नसरूद्दीन से कहा कि तुम्हारे बाएं हाथ की तरफ दीया रखा है, ऐसा मैंने सांझ को देखा था। उसे जला क्यों नहीं लेते? मुल्ला ने कहा, आर यू मैड, अंधेरे में पता कैसे चलेगा कि कौन-सा मेरा बांया हाथ है और कौन-सा मेरा दाहिना हाथ है। और अगर अंधेरे में पता चलता है कि कौन-सा बांया है और कौन-सा दायां, तो भीतर कोई शक्ति है जो स्व-संवेदित है, स्व-प्रकाशित है। कुछ पता न चले, इतना तो पता चलता है कि मैं हूं अंधेरे में। कुछ पता न चले, इतना तो पता चलता है कि मैं हूं। अपना तो पता चलता है अंधेरे में भी। इसका मतलब यह हुआ कि अपने होने में जरूर कोई प्रकाश होगा, जिससे कि अंधेरे में भी मैं अपने को दिखाई पड़ता हूं। कोई चेतना होगी। इतना तो तय है कि मेरा होना किसी और चीज के आधार से मुझे पता नहीं चलता, मेरे ही आधार पर मुझे पता चलता है। लेकिन हम भीतर तो कभी जाकर देखते नहीं कि वहां एक स्व-संवित, स्व-प्रकाशित, स्व-ज्योतिर्मय तत्व मौजूद है। और कभी अगर देखें भी, तो हम ऐसी उल्टी कोशिशें करते हैं, जिनका कोई हिसाब नहीं।

एक रात मुल्ला नसरूद्दीन अपने घर के बाहर पकड़ लिया गया। दो बजे थे। पुलिस वाले ने धीमे-धीमे आकर जोर से उसकी कमर पकड़ ली। मुल्ला एक खिड़की से झांक रहा था। घर उसी का था। अंधेरी रात थी, लेकिन पुलिस वाले को क्या पता? जब पुलिस वाले ने पकड़ा तो मुल्ला ने कहा, धीमे-धीमे बोलो, आवाज मत करो। कहीं वह जाग न जाए। पुलिस ने पूछा, कौन जाग न जाए, तुम खुद ही मुल्ला नसरूद्दीन मालूम पड़ते हो। उसने कहा, मैं ही हूं लेकिन, चुप रहो। पुलिस ने कहा, कर क्या रहे हो? बड़ी देर से मैं देख रहा हूं, मैं समझा कोई चोर है। इधर-उधर घूमते हो, खिड़की से झांकते हो। मुल्ला ने कहा तू बकवास मत कर। जोर से तो मत बोल। सुबह आना, बता दूंगा। पुलिस ने कहा, मैं छोड़कर भी नहीं जा सकता। बात क्या है? नसरूद्दीन ने कहा, नहीं मानते हो, तो सुनो। बात यह है कि लोग कहते हैं कि मैं नींद में उठकर चलता हूं। 'सो आई एम जस्ट चेकिंग।' वे ठीक कहते हैं कि नहीं। मैं खिड़की से देख रहा हूं कि मुल्ला चल तो नहीं रहा है। लेकिन कोई नहीं चल रहा है, बिस्तर पर भी कोई नहीं है। कोई सो भी नहीं रहा है, चलने का तो सवाल ही नहीं। आधी रात खराब हो गई। अभी तक तो चलता हुआ दिखाई नहीं पड़ा। लोग कहते हैं, मैं सोते में चलता हूं। जस्ट चेकिंग। कभी-कभी जब हम अपने को भी ऐसे ही

खोजने जाते हैं, तो ऐसे ही दरवाजे-खिड़की से झांकते हैं। अपने ही भीतर दरवाजे-खिड़की से झांकते हैं। वहां कोई न मिलेगा, क्योंकि जिसको खोजने गए हैं, वह बाहर खड़ा है। स्व-संवित होने का अर्थ है, जिसे हम बाहर से नहीं जान सकते। जिसे हमें भीतर से ही जानना पड़ेगा। जिसे हम भीतर से जान ही रहे हैं, पर भूल गए हैं, विस्मरण हो गया है, याद खो गई है।

मुल्ला अपने गधे पर बहुत तेजी से भागा जा रहा है। सारा गांव चौकन्ना हो गया है। सड़क पर लोगों ने रास्ते छोड़ दिए हैं। लोगों ने चिल्ला कर पूछा कि मुल्ला जा कहां रहे हो। मुल्ला ने कहा, मेरा गधा खो गया। तो लोगों ने कहा, ठहरो, तुम गधे पर सवार हो। मुल्ला ने कहा, अच्छा बताया। मैं इतनी तेजी में था कि मैं सारी जमीन खोज आता और पता न चलता कि गधे पर बैठा हूं। तेजी में था, 'इन टू मच हरी'। बहुत जल्दी में था। ठीक किया जो तुमने याद दिला दिया। अन्यथा आज बड़ी भूल हो जाती, लौटना मुश्किल हो जाता, क्योंकि नीचे देखने की फुर्सत किसको! मेरी आंखें तो आगे टिकी थीं कि गधा कहां है। चारों तरफ देख रहा था और नीचे देखने का मौका निश्चित ही न आता। क्योंकि जो चारों तरफ देख रहा है, वह नीचे कैसे देखेगा? जो बाहर देख रहा है, वह भीतर कैसे देखेगा?

स्व-संवित का अर्थ है कि हमारे भीतर वह जो आदि चेतना है, वह जो ओरीजनल कांश्यिसनेस हैं, वह जो चेतना सदा से हमारे भीतर है, हम उसे भूल गए हैं, क्योंकि हम उस पर ही सवार हैं और उसी को खोज रहे हैं। तो खोजते रहें। ऋषि चिल्ला कर कहते हैं कि जरा ठहरो, किसे खोजने निकले हो? जरा रुको, जरा सुनो भी! क्योंकि तुम जिसे खोजने निकले हो, कहीं उसी पर सवार तो नहीं हो! कहीं तुम वही तो नहीं हो, जिसको खोजने निकले हो। जो जानते हैं, वे कहते हैं, दी सीकर इस दी सॉट। वह जो खोज रहा है, उसकी ही खोज चल रही है, इसलिए खोज हो नहीं पाती, असफलता ही हाथ आती है। जेन फकीर कहते हैं, डोन्ट सीक, इफ यू वान्ट टु सीक। खोजो मत, अगर खोजना है। रुक जाओ, क्योंकि खोजने में तो दौड़ना पड़ेगा। ठहर जाओ। एक दफा तुम देखो तो कि तुम कौन हो, तुम किसे खोजने निकले हो? कहीं वह तुम्हारे भीतर ही तो नहीं है?

स्व-संवित का अर्थ होता है, जिसे जानने के लिए किसी और प्रकाश की जरूरत न पड़ेगी, और जिसे पहचानने के लिए किसी से पूछना न पड़ेगा। जिसके होने में ही जिसकी पहचान छिपी है, जिसके होने में ही जिसका प्रकाश छिपा है, जो अपने से ही प्रकाशित है। दूसरे किसी प्रकाश की कोई भी जरूरत नहीं है।

'अजपा गायत्री विकार दण्डो ध्येयः।' गायत्री तो हम सब जानते हैं कि क्या

है। लेकिन ऋषि कहता है, अजपा गायत्री। लेकिन जिस गायत्री को हम जानते हैं, वह जो जपी जाती है। वह तो 'जपा' है, 'अजपा' नहीं है। यह ऋषि तो उल्टी बात कर रहा है। यह कह रहा है, 'अजपा गायत्री विकारदण्डो ध्येयः।' जिसे जपा ही नहीं जा सकता, उसमें ठहर जाना गायत्री है। जिसका कोई नाम ही नहीं, उसे जपोगे कैसे? जिसका कोई शब्द नहीं, उसे जपोगे कैसे? जिसका कोई रूप नहीं, उसे जपोगे कैसे? सब छोड़कर, जप भी छोड़कर जहां पहुंचा जाता है, वहां गायत्री है। वहां मंत्र है, जहां मंत्र भी नहीं रह जाता। जहां प्रभु का नाम भी नहीं रह जाता, वहीं उसके नाम की उपलब्धि है।

हम अपने भीतर देखें। जब हम शब्द बोलते हैं, तो उसके पहले भी शब्द होता है एक परत नीचे। जब हम शब्द को सोचते हैं—बोला नहीं गया अभी शब्द, सिर्फ सोचा गया है। अभी बाहर प्रकट नहीं हुआ, अभी भीतर ही प्रकट हुआ—लेकिन सोचा गया शब्द भीतर प्रकट होता है, तो उसके पहले भी होता है। तब वह सोचा भी नहीं गया होता है। कई दफे आपको लगा होगा कि किसी का नाम भूल गए। याद है, लोग कहते हैं जीभ पर रखा है, फिर भी याद नहीं आता। बड़े अजीब लोग हैं। अगर जीभ पर ही रखा है, तो और क्या दिक्कत है? मगर उनकी कठिनाई मैं समझता हूं। उनकी कठिनाई सच्ची है, जीभ पर ही रखा है। उन्हें पक्का पता है कि याद है और याद नहीं आ रहा है। ये दोनों बातें एक साथ ही रही हैं। इसका मतलब यह हुआ, उन्हें याद है, पर यह याद कहां होगी? यह याद उनके विचार के तल के नीचे है; और विचार के तल में पकड़ में नहीं आ रहा है। कई दफा अगर आप बहुत कोशिश करें—इन टू मच हरी, सवार हो जाएं खोजने के लिए, तो न मिलेगा। घबड़ा जाएंगे, परेशान हो जाएंगे। सिर पीट लेंगे। फिर भूल जाएंगे। छोड़ देंगे कि जाने दो। चाय पी रहे हैं और अचानक, वह जो नहीं मिल रहा था, निकल आया और आ गया। यह कहां से आया, यह कहां था? निश्चित ही यह विचार में तो नहीं था, नहीं तो आप पहले ही पकड़ लेते। यह विचार से नीचे के तल पर था।

तीन तल हुए—एक वाणी में प्रकट हो, एक विचार में प्रकट हो, एक विचार के नीचे अचेतन में हो। ऋषि कहते हैं, उसके नीचे भी एक तल है। अचेतन में भी होता है, तो भी उसमें आकृति और रूप होता है। उसके भी नीचे एक तल है। उसे महा अचेतन कहें, जहां उसमें रूप और आकृति भी नहीं होती। वह अरूप होता है। जैसे एक बादल आकाश में भटक रहा है। अभी वर्षा नहीं हुई। ऐसा एक कोई अज्ञात तल पर भीतर कोई सम्भावित, पोटेंशियल विचार घूम रहा है। वह अचेतन में आकर अंकुरित होगा, चेतन में आकर प्रकट होगा, वाणी में आकर अभिव्यक्त हो जाएगा। ऐसे चार तल हैं। गायत्री उस तल पर उपयोग के लिए है जो अन्तिम तल है, सबसे नीचे। उस तल पर अजपा का प्रवेश है।

तो आप जप का नियम समझ लें। अगर कोई भी जप शुरू करें—समझें कि राम, राम जप शुरू करते हैं, या 'ओम्, ओम्', या 'अल्लाह, अल्लाह', कोई भी जप शुरू करें तो पहले उसे वाणी से शुरू करें। पहले कहें, राम, राम, राम—जोर से कहें। फिर जब यह इतना सहज हो जाए कि करना न पड़े और होने लगे—इसमें कोई एफर्ट (प्रयास) न रह जाए पीछे, प्रयत्न न रह जाए, यह होने लगे; जैसे श्वास चलती है, ऐसा हो जाए कि राम, राम चलता ही रहे, तो फिर ओंठ बन्द कर लें। फिर उसको भीतर चलने दें। फिर न बोलें राम, राम—फिर भीतर ही बोल चले राम, राम, राम। फिर इतना इसका अभ्यास हो जाए कि उसमें भी प्रयत्न न करना पड़े, तब इसे वहां से भी छोड़ दें, तब यह और नीचे डूब जाएगा और अचेतन में चलने लगेगा—राम, राम, राम। आपको भी पता न चलेगा कि चल रहा है, पर चलता रहेगा। फिर वहां से भी नीचे गिरा दिए जाने की विधियां हैं और तब वह अजपा में गिर जाता है। फिर वहां राम, राम भी नहीं चलता। फिर राम का भाव ही रह जाता है—जस्ट क्लाउड लाइक, एक बादल की तरह छा जाता है। पहाड़ पर कभी बादल बैठ जाता है धुआं-धुआं, ऐसा भीतर प्राणों के गहरे में अरूप छा जाता है। उसको कहा है ऋषि ने—अजपा। और जब कोई मंत्र अजपा हो जाए, तब वह गायत्री बन गया। अन्यथा वह गायत्री नहीं है।

इस अजपा का उपयोग क्या है? इस अजपा से सिद्ध क्या होगा? इससे सिद्ध होगा विकारमुक्ति। विकार दण्डो ध्येयः। इस अजपा का लक्ष्य है विकार से मुक्ति। बहुत अद्भुत कीमिया है, कैमेस्ट्री है इसकी। मंत्र शास्त्र का अपना पूरा रसायन है। मंत्र शास्त्र यह कहता है कि अगर कोई भी मंत्र का उपयोग अजपा तक चला जाए, तो आपके चित्त से सब वासनाएं क्षीण हो जाएंगी। सब विकार गिर जाएंगे। क्योंकि जो व्यक्ति अपने अंतिम अचेतन तल तक पहुंचने में समर्थ हो गया, उसको फिर कोई चीज विकारग्रस्त नहीं कर सकती, क्योंकि सब विकार ऊपर-ऊपर हैं। भीतर जो निर्विकार बैठा हुआ है, हमें उसका पता नहीं, इसलिए हम विकार से उलझे रहते हैं।

ऐसा समझें कि एक घाटी है अंधेरी, सीलन और बदबू से भरी हुई। वहां जंगली जानवर हैं और सांप हैं और सब कुछ उपद्रव है। एक आदमी उस घाटी में है। वह बड़ा परेशान है कि सांपों से कैसे बचूं और सिंह न खा जाए और कोई हमला न कर दे और अंधेरा है और बदबू है और बीमारी है। फिर वह आदमी पहाड़ पर चढ़ना शुरू कर दे। वह थोड़ा ऊपर पहुंचता है, सूरज की रोशनी मिल जाती है। वहां अंधेरा नहीं है। वहां सांप नहीं सरकते। घाटी में अब भी सरक रहे होंगे। पर वह आदमी घाटी से बाहर आ गया। वह आदमी और ऊपर चलता है, वह प्रकाश-उज्ज्वल शिखर पर पहुंच जाता है, जहां कोई भय नहीं। अब भी घाटी में

सांप सरक रहे होंगे।

ठीक ऐसे ही जब कोई अजपा तक किसी ध्वनि को पहुंचा लेता है, तो वह अपने भीतर उस गहराई में पहुंच जाता है, जहां विकार नहीं जमते, वे सतह पर चलते हैं—ऊपर, ऊपर। हम वहीं लड़ते रहते हैं, इसलिए परेशान रहते हैं। मंत्र शास्त्र कहता है, वहां मत लड़ो, वहां से हट जाओ। तुम्हारे भीतर और भी बड़ी जमीन हैं। तुम्हारे भीतर और भी फैलाव हैं। तुम्हारे भीतर और गहराइयां है, और शिखर हैं, वहां चले जाओ। लड़ो मत। एक दफा हट जाओ और अपने शिखरों को जान लो, फिर तुम लौटकर भी आ जाओगे उसी जगह पर, तो तुम वही आदमी नहीं हो। तब तुम अपने भीतर इतनी महिमा को जानकर लौटते हो कि तुम्हें क्षुद्र विकार पराजित न कर सकेंगे। तब तुम अपनी इतनी शक्ति से परिचित होकर लौटते हो कि तुम्हें अंधेरा भयभीत न कर सकेगा। तुमने अपने स्वरूप का दर्शन किया है और अब तुम्हें कोई लुभा न सकेगा, पर एक दफा वहां तक हो जाओ।

तो अजपा का उपयोग है विकार-मुक्ति के लिए और प्रत्येक विकार से मुक्ति के लिए विशेष-विशेष मंत्रों की व्यवस्था है। अगर कोई आदमी क्रोध से पीड़ित है, तो एक विशेष ध्वनि और मंत्र का आयोजन किया जाता है। उसको वह अजपा तक ले जाए, तो क्रोध के बाहर हो जाएगा। काम-वासना से पीड़ित है, तो दूसरा। भय से पीड़ित है, तो तीसरा। ध्वनियों के ऐसे समूह हैं, जिनके माध्यम से आपके विकारों को चोट की जाती है और उसे तिरोहित किया जा सकता है। कुछ महाध्वनियां हैं। महाध्वनियां ऐसी औषधियां हैं, जो सभी विकारों पर काम करती हैं। जैसे अभी हम एक ध्वनि का उपयोग कर रहे हैं—हुंकार। वह महाध्वनि है। उसकी चोट इतनी गहरी है कि अलग-अलग विकारों से लड़ने की जरूरत नहीं है, अगर वह एक ही चोट अजपा तक पहुंच जाए, तो सब विकार विसर्जित हो जाते हैं।

'अल्लाह' शब्द से हम सब परिचित हैं। 'अल्लाह' शब्द में भी 'हुंकार' का ही उपयोग है। जब कोई साधक 'अल्लाह' का उपयोग करता है, तो जो उपयोग बनता है वह होता है—अल्लाहु, अल्लाहु, अल्लाहु। फिर 'अल्ला' छूट जाता है और लाहु, लाहु, लाहु बच रहता है। फिर 'ला' भी छूट जाता है। फिर 'हु, हु, हु' रह जाता है। और आखिर में 'हु' भी टूटता चला जाता है और अजपा बन जाता है। जब 'हु' अजपा बन जाता है, तो सब विकार तिरोहित हो जाते हैं।

तिब्बती महामंत्र है—'ओम् मणि पद्मे हुं'। वह 'हू, हू, हू' का ही रूप है। 'ओम्' भी 'हू' जैसा काम कर सकता है। लेकिन अब शायद नहीं। बहुत सरल लोग हों, तो 'ओम्' भी 'हू' का काम करता है, लेकिन बहुत जटिल लोगों पर काम नहीं करता। क्योंकि ओम् की जो चोट है, वह बहुत माइल्ड (हल्की) है। 'ओम्'

की जो चोट है, वह बहुत माइल्ड है—'हू' की चोट बहुत गहरी है। घाव गहरा है। 'ओम्' की चोट बहुत माइल्ड है। वह बहुत कम मात्रा की दवा है। वह उनके लिए उपयोग में लाई गई थी, जो ज्यादा बीमार ही न थे। सरल चित्त के लोग थे, निर्दोष लोग थे, चालाक न थे, 'कनिंग' न थे, बेईमान न थे। सरल थे। 'ओम्' उनके लिए काफी था। होमियोपैथी की छोटी-सी मात्रा उनकी बीमारी को ठीक करती थी। अब एलोपैथी के बिना नहीं चल सकता। 'हू' एलोपैथिक है, 'ओम्' होमियोपैथिक है। 'हू' की चोट भयंकर है। गहरे से गहरे तक जाने वाली है। वह अजपा में उतर जाए, तो 'हू' गायत्री बन जाएगा और विकार विसर्जित हो जाएगा। कोई भी मंत्र गायत्री बन जाता है, जब अजपा हो जाए। यही सूत्र का अर्थ है अजपा गायत्री, विकार दण्डो ध्येयः।

मन का निरोध ही उनकी झोली है। वे जो संन्यासी हैं, उनके कन्धे पर एक ही बात टंगी हुई है चौबीस घंटे—मन का निरोध, मन से मुक्ति, मन के पार हो जाना। आपने एक शब्द सुना होगा, खाना-बदोश। यह बहुत बढ़िया शब्द है। इसका मतलब होता है, जिनका मकान अपने कन्धे पर है—खाना-बदोश। खाना का मतलब होता है मकान, जैसे दवाखाना में खाना, यानी मकान। 'दोश' का मतलब होता है कन्धा। 'बदोश' का मतलब होता है, कन्धे के ऊपर। जो अपने कन्धे पर ही अपना मकान लिए हुए हैं, उनको 'खानाबदोश' कहते हैं—घुमक्कड़ लोग, जिनका कोई मकान नहीं है, कन्धे पर ही मकान है। संन्यासी भी अपने कन्धे पर एक चीज ही लिए चलता है चौबीस घण्टे—मन का निरोध। वही उनकी श्वास की सतत धारा है, मन के पार कैसे जाऊं। क्योंकि मनातीत है सत्य। मन के पार कैसे जाऊं, क्योंकि मनातीत है अमृत। मन के पार कैसे जाऊं, क्योंकि मनातीत है प्रभु। जाया जा सकता है। ध्यान उनका मार्ग है।

योगेनसदानन्दस्वरूप दर्शनम् ।
आनन्द भिक्षाशी ।
महाश्मशानेऽप्यानन्द वने वासः ।
एकान्तस्थान मठम् ।
उनमन्यवस्था शारदा चेष्टा ।
उन्मनी गतिः ।
निर्मलगात्रम् निरालम्ब पीठम् ।
अमृतकल्लोलानन्द क्रिया ।

'योग द्वारा वे सदैव आनन्द-स्वरूप का दर्शन करते हैं ।
आनन्द-रूप भिक्षा का भोजन करते हैं ।
महाश्मशान में भी आनन्ददायक वन के समान निवास करते हैं ।
एकान्त ही उनका मठ है ।
प्रकाश-अवस्था के लिए वे नित नूतन चेष्टा करते हैं ।
अ-मन में ही वे गति करते हैं ।
उनका शरीर निर्मल है, निरालम्ब उनका आसन है ।
जैसे निनाद करती अमृत सरिता बहती है, ऐसी उनकी क्रिया है ।'

प्रवचन : १०
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक ३० सितम्बर, १९७१

आनंद और आलोक की अभीप्सा, उन्मनी गति और परमात्म-आलम्बन

आनन्द सदैव न हो तो आनन्द नहीं है । दुख आता है, जाता है । सुख भी आता है और जाता है । जो न कभी आता है और न कभी जाता है, उसका नाम ही आनन्द है । जो है ही हमारे भीतर, जो हमारा स्वभाव है, स्वरूप है । जो भी आता है और जाता है, वह 'पर' भाव है । वह स्वभाव नहीं है । वह हम नही हैं। जो भी हम पर आ जाता है और चला जाता है, वह हम नहीं हैं । हम तो वह हैं, जिस पर दुख आता है, जिस पर सुख आता है। हम भिन्न हैं । जिस पर सुख-दुख आते हैं वह 'स्वभाव' आनन्दस्वरूप है । पर हमें उस स्वभाव का पता नहीं चलता । हम उसमें ही उलझे रहते हैं, जो आता है और जाता है । जेन फकीर कहते हैं, द होस्ट इज लॉस्ट इन द गेस्ट । वह जो मेजबान है, वह मेहमानों में खो गया । घर का जो मालिक है, जो आतिथेय है वह अतिथियों की सेवा करते-करते यह भूल ही गया है कि मैं भी हूं—अतिथियों से अलग, भिन्न, पृथक् । ऐसे ही हम अतिथियों की सेवा करते-करते भूल ही गए हैं कि हम कौन हैं ।

दुख जिसमें निवास कर लेता है, सुख जिसमें निवास कर लेता है, वह कौन है ? वह कौन है जो अनुभव करता है कि मैं दुखी हो रहा हूं ? वह कौन है जो अनुभव करता है कि मैं सुखी हो रहा हू ? निश्चित ही वह सुख और दुख से अलग है, क्योंकि अनुभव करने वाला अलग ही होगा । अनुभोक्ता पृथक् ही होगा। मैं इस वृक्ष को देखता हूं, तो मैं इस वृक्ष से अलग हो गया । मैं आपको देखता हूं, तो आपसे अलग हो गया । मैं अपने शरीर को देखता हूं, तो मैं अपने शरीर से अलग हो गया । वह जो देखने वाला है, वह दृश्य से अलग हो गया। हो ही जाएगा, नहीं तो देख नहीं पाएगा ।अगर द्रष्टा दृश्य से अलग न हो, तो देखेगा कैसे ! देखने के लिए फासला चाहिए, डिस्टेंस चाहिए, दूरी चाहिए । तो जिसे भी हम देख पाते हैं, उससे हम भिन्न हो जाते हैं । इसलिए हम परमात्मा को देख नहीं पाते । क्योंकि हम भिन्न नहीं हैं । उससे हम अभिन्न हैं । देखेगा कौन, देखेगा किसको ? उसके साथ हम एक हैं । जिसे हम छू पाते हैं, उससे अलग हो

जाते हैं; जिसे सुन पाते हैं, उससे अलग हो जाते हैं इन्द्रियां जो भी जानती हैं, उससे हम अलग हो जाते हैं । मन जो भी पहचानता है, उससे हम अलग हो जाते हैं । सुख को भी जानते हैं, दुख को भी जानते हैं । जब सुख आता है, तब आप भलीभांति जानते हैं कि सुख आया । दुख आता है, तब भलीभांति जानते हैं कि दुख आया । दुख जाता है, तब भी जानते हैं कि दुख जा रहा है । यह जो जानने वाला है, यह अलग है । यह भिन्न है । यही स्वरूप है । इस स्वरूप में वे योग के द्वारा थिर हो जाते हैं और सदैव आनन्द का अनुभव करते हैं ।

जो व्यक्ति इस भीतर के स्वरूप में थिर हो जाता है, रमण को उपलब्ध हो जाता है, स्वयं में स्वस्थ हो जाता है, स्वयं में स्थित हो जाता है, ऐसा व्यक्ति (उपनिषद् का ऋषि कहता है) सदैव आनन्द में डूबा रहता है । क्या फिर उसके ऊपर दुख नहीं आते ? क्या फिर बीमारी नहीं आती ? क्या फिर जरा नहीं आती ? क्या फिर मृत्यु नहीं आती ? नहीं, मृत्यु तो फिर भी आती है लेकिन उस पर नहीं आती । वह पार और दूर और अछूता (अनटच्ड) खड़ा रह जाता है । दुख तो अब भी आते हैं, बीमारियां अब भी आती हैं, पैरों में अब भी कांटे गड़ते हैं, बुढ़ापा अब भी आता है, लेकिन अब उस पर नहीं आता । वह दूर खड़ा रह जाता है, अस्पर्शित—कमल के पत्ते-जैसा पानी की बूंद उस पर पड़ी है, लेकिन फिर भी छूती नहीं । पानी में डूबा है पत्ता, फिर भी दूर । पानी और पत्ते के बीच एक बारीक फासला है ।

जीसस को सूली लगती है, तो शरीर तो मर जाता है, पर जीसस दूर खड़े रह जाते हैं । मंसूर को काटा जाता है, शरीर तो टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, लेकिन मंसूर तो हंसता रहता है । जब कोई भीड़ में से पूछता है कि मंसूर, हंसने-जैसा इसमें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । हाथ पैर काटे जा रहे हैं । मंसूर कहता है, तुम जिसे काटते हो, अगर वह मैं होता, तो निश्चित ही न हंसता, न हंस पाता । हंस रहा हूं, इसलिए कि तुम जिसे समझ रहे हो कि मैं हूं, वह मैं नहीं हूं । और जो मैं हूं, उसे तुम काट न पाओगे ।

स्वरूप को, आनन्द को अनुभव करने वाला व्यक्ति दुख से घिर सकता है लेकिन दुख के तादात्म्य में नहीं पड़ता । अन्धेरा उसे घेर ले सकता है, लेकिन वह स्वयं अंधकार कभी नहीं होता । हमारे और उसके बीच एक ही फर्क है । जो हमें घेरता है, हम उसके साथ अपने को एक ही मान लेते हैं । ऐसा हम नहीं कहते कि मुझ पर दुख आया, कहते हैं, मैं दुखी हो गया । एक तादात्म्य (आइडेन्टिटी) बना लेते हैं ।

गुरुजिएफ की सारी साधना एक ही बात की थी । वह कहता था, नॉन-आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य तोड़ना—बस यही साधना है । हम चीजों से जुड़ जाते हैं और इतने जुड़ जाते हैं कि लगने लगता है, यही मैं हूं । जैसे दर्पण में

कोई तस्वीर बने और दर्पण समझ ले कि यह तस्वीर मैं ही हूं । जैसे झील में चांद दिखाई पड़ने लगे और झील कहने लगे, मैं चांद हूं, ऐसे हम हो जाते हैं । दुख छलकता है भीतर । दुख की छाया बनती है, तो मैं दुख हो जाता हूं । सुख आता है, तो मैं सुख हो जाता हूं । अशांति आती है, तो मैं अशांति हो जाता हूं। शांति आती है, तो मैं शांति हो जाता हूं । अपने को पार नहीं रख पाता, दूर नहीं रख पाता कि जो आ रहा है, वह मैं नहीं हो सकता, क्योंकि मैं तो उसके आने के पहले से ही मौजूद हूं । जब दुख नहीं आया था, तब भी मैं था और जब दुख चला जाएगा, तब भी मैं होऊंगा, तो मेरा होना दुख के साथ एक नहीं हो सकता । कितना ही दुख घेर ले, तब भी मैं किसी तल पर दूर ही खड़ा रह जाता हूं । इस दूरी की प्रतीति, इस तादात्म्य का टूट जाना (नॉन-आइडेंटिफिकेशन) ही योग है । ऋषि कहता है, 'योगेन', योग के द्वारा वे सदैव आनन्दस्वरूप में स्थित, सदैव आनन्द का दर्शन करते रहते हैं । क्षण भर को भी फिर आनन्द स्खलित नहीं होता । क्षण भर को भी आनन्द से सम्बन्ध नहीं टूटता । अभी भी टूटा नहीं है । सिर्फ स्मरण नहीं है । आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य स्मृति को नष्ट करता है, स्थिति को नहीं ।

विवेकानन्द निरन्तर एक कहानी कहा करते थे । बहुत पुरानी कथा है भारतीय मनीषियों की । एक सिंहनी ने छलांग लगाई एक पर्वत से । छलांग के बीच ही उसको बच्चा हो गया । वह गर्भिणी थी । नीचे से भेड़ों की एक भीड़ गुजरती थी, वह बच्चा उसमें गिर गया । भेड़ों ने उसे बड़ा किया । भेड़ों के बीच ही वह रहा भेड़ों का ही दूध पीया, भेड़ें ही उसकी मां थीं, पिता थे, संगी-साथी थे, मित्र थे । उस सिंह को कभी पता ही नहीं चला कि वह सिंह है । पता चलता भी कैसे ! पता चलने का कोई उपाय भी न था । वह सिंह अपने को भेड़ मानकर बड़ा हुआ । हालांकि उसके मानने से कुछ फर्क न पड़ा । रहा वह सिंह ही । लेकिन फिर भी फर्क पड़ा । फर्क यह पड़ा कि वह भेड़-जैसा व्यवहार करने लगा । भेड़ तो था नहीं, हो भी नहीं सकता था । लेकिन भेड़-जैसा व्यवहार उसका हो गया । एक दिन बड़ी अनूठी घटना घटी । एक सिंह ने उस भेड़ों की भीड़ पर हमला किया । वह सिंह यह देखकर चकित हुआ कि उस भेड़ों की भीड़ में भेड़ों से बहुत ऊपर उठा हुआ एक सिंह भी चल रहा है । भेड़ों-जैसा ही वह उनके साथ चल रहा था न भेड़ भागती है उससे, न वह सिंह । इस सिंह को देखकर भेड़ें भागीं, वह सिंह भी भागा । सिंह तो बहुत चकित हुआ कि इस सिंह को क्या हो गया ! आइडेंटिफिकेशन, तादात्म्य हो गया । भेड़ों के बीच रहते-रहते, भेड़ों की आकृति मन में बनते-बनते सिंह ने समझा कि मैं भेड़ हूं ।

सिंह ने भेड़ों की तो फिक्र छोड़ दी । इस दूसरे सिंह ने उस सिंह को पकड़ने की चेष्टा की । बामुश्किल पकड़ पाया, क्योंकि था तो वह सिंह, और भागता भी

सिंह की तरह था। गति उसकी सिंह की थी, मान्यता उसकी भेड़ की थी। बाकी तो किसी भी भेड़ को पकड़ लेना उस दूसरे सिंह को बड़ा आसान था। इस सिंह को तो घण्टों बाद बामुश्किल पकड़ पाया। पकड़ते ही सिंह तो मिमियाने लगा, जैसा भेड़ें मिमियाती हैं। उसको गर्जन का कोई पता ही न था। लेकिन गर्जन अब भी उसके हृदय के किसी कोने में पड़ा था, अभी भी बीज थी, पर अंकुरित नहीं हुई थी। उसे सिंह-गर्जन का कोई अनुभव ही नहीं था। कर सकता था, कैपेसिटी थी, क्षमता थी, लेकिन योग्यता न थी। कैपेबिलिटी और एबिलिटी का फर्क था। कैपेबिल था। कोई कारण न था, जब चाहे तब सिंह-गर्जन कर सकता था। लेकिन योग्यता न थी, क्योंकि योग्यता को तादात्म्य ने नष्ट कर दिया था। ख्याल में नहीं था। दूसरे सिंह ने पकड़ा, तो हाथ-पैर जोड़ने लगा, सिर रखने लगा, उसके पैरों पर मिमियाने लगा। आंखों से आंसू बहने लगे। कहने लगा, क्षमा करो। छोड़ दो। दूसरे सिंह ने कहा, तुझे हो क्या गया है? तू भेड़ नहीं है। उसने कहा, नहीं, मैं भेड़ ही हूं। तुम भूल में पड़े हो। सिंह ने बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन समझाने से कहीं कुछ समझ में आता है? जितना वह समझाने लगा, उतना वह और घबराने लगा। वह कहने लगा, तुम मुझे सिर्फ छोड़ दो। मुझे ज्ञान की कोई जरूरत नहीं। मुझे मेरे मित्रों के पास जाने दो। उनके बिना मैं बहुत घबरा रहा हूं। भेड़ भीड़ के बिना नहीं जी सकती। एकांत में तो सिंह ही जी सकता है। भेड़ तो भीड़ के बिना नहीं जी सकती है, क्योंकि भीड़ में उसे सुरक्षा मालूम पड़ती है, सब तरफ अपने हैं। परिवार, प्रियजन, पत्नी, मित्र, बेटे सब अपने हैं तो भीड़ के बीच में भेड़ सुरक्षित है, कोई डर नहीं है। अपने पर जिसे भरोसा नहीं है, उसे सदा भीड़ पर भरोसा होता है। भीड़ ही उसका सहारा है। सिंह अकेला जी सकता है, लेकिन सिंह होने का पता हो तब न। सिंह को भीड़ में नहीं रखा जा सकता।

कोई उपाय न देखकर उस सिंह ने उसको घसीटा। घसिट गया, क्योंकि वह भेड़ था। ऐसे यह जवान था और सिंह बूढ़ा था। लेकिन जवान सिंह बूढ़े सिंह से घसिट गया, क्योंकि बूढ़ा होने पर भी सिंह था। यह जवान होने पर भी भेड़ था। घसीट लिया उसने उसे। नदी के किनारे ले गया और कहा, देख पानी में मेरी शक्ल और तेरी शक्ल में कोई फर्क है? झांका, झांकते ही गर्जन निकल आया। वह बीज की तरह जो सम्भावना पड़ी थी, वह अंकुरित हो गई। झांककर देखा, दोनों शक्लें एक-सी थीं। रोमांच हो गया होगा, रोएं खड़े हो गए होंगे। भूल गया कि वह भेड़ है, गर्जन फूट पड़ा भीतर।

गुरु का काम समझाना कम, दिखाना ज्यादा है। कहीं किसी प्रतिबिम्ब द्वारा समझाना ज्यादा है कि जो मेरी शक्ल है, वही तुम्हारी भी है। जो मेरे भीतर छिपा है, वही तुम्हारे भीतर भी छिपा है। किसी भी क्षण गर्जना निकल सकती है, क्योंकि

वह भीतर का स्वभाव है।

ऋषि कहता है, सदैव उस आनन्द का अनुभव हो सकता है, लेकिन योग के द्वारा। योग का अर्थ है वे प्रक्रियाएं, जिनके द्वारा आप अपनी असली शक्ल को पहचान लेंगे। अपनी मौलिक दशा को, ओरीजनल स्टेट को समझ लेंगे। बड़े आइडेंटिफिकेशन्स (तादात्म्य) हैं। उस सिंह पर तो ज्यादा मुसीबत न थी, एक ही उसका तादात्म्य था कि मैं भेड़ हूं। हमारे तादात्म्य का कोई अन्त नहीं। हजार-हजार तादात्म्य हैं। मैं हिन्दू हूं, मैं मुसलमान हूं, मैं स्त्री हूं, मैं पुरुष हूं, मैं शरीर हूं, मैं मन हूं, मैं यह हूं, मैं वह हूं। कितने हजार! मैं धनी हूं, मैं निर्धन हूं, मैं सुन्दर हूं, मैं कुरूप हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं सबल हूं। उस सिंह को तो ज्यादा कठिनाई न थी, इसलिए गुरु को बहुत आसानी पड़ी। सिर्फ नदी में चेहरा दिखा दिया। आपके इतने चेहरे हैं कि आपको पक्का पता ही नहीं कि आपका असली चेहरा क्या है। अगर आपको नदी में भी झुकाया जाए, तो आप कोई दूसरा ही मास्क (मुखौटा) जो उस वक्त अपने चेहरे पर ओढ़े होंगे, वही दिखाई पड़ेगा पानी में भी। और चेहरे इतने हैं हमारे पास कि हम चेहरों के एक संग्रह हैं। सब तादात्म्य तोड़ने पड़ें, तो स्वरूप का पता चलता है। सब मुखौटे उतारने पड़ें, तो स्वरूप का पता चलेगा।

योग प्रक्रिया है हमारे झूठ चेहरों को तोड़ डालने की, फाड़ डालने की—सब चेहरों को, जो चेहरे भी हटाए जा सकते हैं, उन्हें हटा डालने की। जो नहीं हटाया जा सकता, वही हमारा 'ओरीजनल फेस', वही हमारा मौलिक चेहरा है। जो नहीं हटाया जा सकता। जो नहीं काटा जा सकता। न कोई योग काट सकता, न कोई तलवार काट सकती। न कोई विधि मिटा सकती। सब उपाय मिटाने के, करने के बाद भी जो पीछे सदा शेष रह जाता है, जिसको मिटाने का उपाय नहीं, हटाने का कोई उपाय नहीं, वही मेरा स्वभाव है। जिसको भी आप हटा सकते हैं, समझना वह चेहरा है। आप कहते हैं, मैं हिन्दू हूं, मैं मुसलमान हूं, मैं ईसाई हूं। इसे हटाने में कोई दिक्कत है! ईसाई को हिन्दू होने में कोई अड़चन है? हिन्दू को मुसलमान होने में कोई दिक्कत है? जाकर चोटी कटा ले, मस्जिद में चला जाए, नमाज पढ़ने लगे, तो मुसलमान हो गया। जिस चेहरे के बदलने में इतनी सुविधा हो, वह 'ओरीजनल फेस' नहीं हो सकता। वह मुखौटा है। अभी हिन्दू का मुखौटा लगाए थे, अभी मुसलमान का मुखौटा लगा लिया। गरीब को अमीर होने में कोई बड़ी अड़चन है? डाका डालना भर आना चाहिए। अमीर को गरीब होने में कोई अड़चन है?

मुल्ला नसरुद्दीन के दरवाजे पर एक भिखारी एक सुबह खड़ा हुआ भीख मांग रहा था। मुल्ला ने उससे कहा, तेरी यह हालत कैसे हो गई? ऐसे तो स्वस्थ दिखाई पड़ते हो। तेरी यह हालत कैसे हो गई? आंख से उस भिखारी के आंसू

गिरने लगे। उसने कहा, मत पूछो मेरा हाल। बड़ी बेहाली का है। मुल्ला ने जल्दी से सौ रुपए का एक नोट निकाला और उनको दिया। उसने आंसू पोंछकर जेब में नोट रख लिया और मुल्ला से कहा, यही कर-कर के मैं भी गरीब हो गया हूं। सावधान रहना, ऐसे ही बांट-बांट कर मैं फंस गया। जरा सरलता हो, तो अमीर को गरीब होने में कोई दिक्कत है ? जरा बेईमानी हो, तो गरीब को अमीर होने में कोई कठिनाई है ?

चेहरा बदलना जहां इतना आसान हो, वह चेहरा हमारा मौलिक चेहरा नहीं हो सकता, वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता। एक बात ध्यान रखें कि जो भी बदला जा सकता है वह हमारा स्वभाव नहीं है। लेकिन कुछ बातें हम सोचते हैं, नहीं बदली जा सकतीं। आप गलती में हैं। गरीब और अमीर होना मुश्किल है, हिन्दू का मुसलमान होना मुश्किल, पुरुष का स्त्री हो जाना बहुत ही सुगम है। एक इंजेक्शन से हो सकता है। एक ग्लैंड काट देने से हो सकता है। और जल्दी ही, जो अभी जवान हैं, पैंतीस साल के इस तरफ हैं वह अपनी जिन्दगी में यह देख पाएंगे कि आदमी के लिए सुविधा हो जाएगी अल्टरनेटिव की (विकल्प की) कि कोई आदमी पुरुष होने से थक गया, तो स्त्री हो जाएगा। स्त्री होने से थक गया, तो पुरुष हो जाएगा। थक तो जाते हैं सभी। स्त्रियां सोचती हैं, पता नहीं पुरुष कौन-सा आनन्द ले रहे हैं; पुरुष सोचते हैं, स्त्रियां, पता नहीं, कौन-सा आनन्द ले रही हैं। बदलाहट जल्दी हो जाएगी। अब तो उपाय खोज लिए गए हैं, अब कठिनाई नहीं है। जरा से ही हार्मोन्स का फर्क है, और कुछ बात नहीं है। हार्मोन बहुत ज्यादा भी नहीं, एक सीरिंज में समा जाए इतना। उनको डाल देने से पुरुष स्त्री हो सकता है, स्त्री पुरुष हो सकती है। तब स्त्री पुरुष का यह चेहरा फिर मौलिक नहीं रह गया। यह स्त्री या पुरुष होना कोई बड़ी मतलब की बात नहीं है। यह बड़ी ऊपरी है, कपड़ों जैसी है। अब तक हम कपड़े बदलना नहीं जानते थे, यह बात दूसरी है। अब हम जानते हैं। लेकिन ऋषि तो बहुत पहले से कहते रहे हैं जब कि स्त्री पुरुष नहीं बनाई जा सकती थी, तब भी वे कहते थे, तुम न स्त्री हो, न तुम पुरुष हो। तुम तो वह हो, जो भीतर से जानता है कि मैं स्त्री हूं, मैं पुरुष हूं। तुम तो वह ज्ञाता हो।

प्रवेश करना है भीतर वहां, जहां कोई आवरण नहीं रह जाता। जहां सिर्फ वही रह जाता है, जो जानने की क्षमता है। बस जानना मात्र एक ऐसी चीज है जिससे हम अपने को अलग नहीं कर सकते, जिससे हमारा तादात्म्य नहीं है, जो हमारा स्वरूप ही है। और जिस दिन कोई जानने की शुद्ध क्षमता को उपलब्ध होता है, उसी दिन आनन्द से भर जाता है। उसी दिन अमृत से भर जाता है। इसलिए ऋषियों ने उस स्थिति के लिए कहा है, सच्चिदानन्द। सत्, चित्, आनन्द। सत् का अर्थ है, वह जो सदा रहेगा—द इटरनल, द इटरनली ट्रू, शाश्वत रूप

से जो सत्य होगा। सत् का अर्थ है जो कभी भी अन्यथा नहीं होगा। चित् का अर्थ है चैतन्य, ज्ञान, बोध। जो सदा बोध से भरा रहेगा, जिसका बोध कभी नहीं खोएगा। और आनन्द का अर्थ है 'ब्लिस', जो सदा सुख-दुख के परम रहस्य में, आनन्द में, मस्ती में डूबा रहेगा। एक ऐसी मस्ती में, जो बाहर से नहीं आती, जिसके स्रोत भीतर हैं। उस स्वभाव को कहा 'सच्चिदानन्द'।

उपनिषद् का यह ऋषि कहता है, वे आनन्द-रूप भिक्षा का ही भोजन करते हैं। आनन्द भिक्षा है, आनन्द ही भोजन है। एक ही चीज मांगते हैं भिक्षा में आनन्द, और कुछ भी नहीं मांगते। एक ही मांग है, एक ही अभीप्सा है—आनन्द, और एक ही भोजन है, एक ही आहार है—आनन्द।

इसे दो तरह से ख्याल में ले लेना जरूरी है। हम भी मांगते हैं, लेकिन हम आनन्द कभी नहीं मांगते। हम वे वस्तुएं मांगते हैं जिनसे आनन्द मिल सके। इसमें फर्क है। हम मांगते हैं वे वस्तुएं, जिनसे आनन्द मिल सके, जिनसे हमें ख्याल है, आनन्द मिलेगा। सीधा आनन्द हम कभी नहीं मांगते। इसलिए कुछ विचारक हुए हैं, जिनका कहना है कि यह बात ही गलत है कि आदमी आनन्द चाहता है। पश्चिमी दार्शनिक डेविड ह्यूम कहता है, 'नहीं, कोई आदमी आनन्द नहीं चाहता। मैंने ऐसा आदमी नहीं देखा, जो आनन्द चाहता हो। कोई आदमी कार चाहता है, कोई आदमी बंगला चाहता है, कोई आदमी पत्नी चाहता है, कोई आदमी बेटा चाहता है। कोई आदमी स्वास्थ्य चाहता है आनन्द तो मैंने किसी आदमी को चाहते नहीं देखा। वह ठीक कहता है, क्योंकि उपनिषद् के ऋषि से मिलना तो बहुत मुश्किल है। हम ही मिल जाते हैं। हम ही मिल जाते हैं सब तरफ। ह्यूम ठीक कहता है। जिससे भी पूछता है, कोई कहता है, जमीन चाहिए; कोई कहता है, धन चाहिए; कोई कहता है पद चाहिए। आनन्द तो कोई भी नहीं चाहता। कोई ऐसा मिलता नहीं जो कहता हो आनन्द चाहिए। पर क्यों ? कोई कार क्यों चाहता है, मकान क्यों चाहता है, धन क्यों चाहता है ? पद क्यों चाहता है ? क्या कारण है ? ख्याल है उसका कि इसको चाहने से आनन्द मिलेगा ? कार तो मिल जाती है, आनन्द नहीं मिलता। मकान मिल जाता है, आनन्द नहीं मिलता। धन मिल जाता है, आनन्द नहीं मिलता। जो हमने सोचा था कि वे साधन तो मिल जाते हैं लेकिन साध्य हमें नहीं मिलता। असल में आनन्द का कोई भी साधन नहीं है। इसे थोड़ा समझ लें।

आनन्द का कोई भी साधन नहीं है। क्योंकि साधन उसके लिए होते हैं, जो हमसे दूर हो। अगर मुझे उस पहाड़ की चोटी पर जाना है, तो साधन की जरूरत पड़ेगी ही। चढ़ने के लिए, जाने के लिए, पहुंचने के लिए मार्ग चाहिए, विधि चाहिए, कोई बताने वाला चाहिए, कोई गाड़ी चाहिए, घोड़ा चाहिए, पैर चाहिए, कोई साधन चाहिए। लेकिन मुझे अपने ही भीतर जाना है, तो वहां कोई साधन

नहीं जाएगा। अगर पराय के पास पहुंचना है, 'पर' के पास पहुंचना है तो बीच में सेतु चाहिए, लेकिन अगर अपने ही पास पहुंचना है, तो किसी सेतु की कोई जरूरत नहीं है। अगर दूर जाना है, तो चलना पड़ेगा और अगर अपने ही पास आना है, तो चलने की कोई भी जरूरत नहीं। चले कि भटक जाएंगे। चले कि दूर निकल जाएंगे। जो अपने को खोजने के लिए चलेगा, वह दूर निकल जाएगा, पास नहीं आएगा।

आनन्द सीधा ही चाहा जा सकता है, उसका कोई साधन नहीं है। क्योंकि वह हमारा स्वभाव है। हमें मिला ही हुआ है—आलरेडी गिवेन। जो मिला ही हुआ है उसे सिर्फ पहचानना पड़ता है, उसे पाना नहीं पड़ता। लेकिन मकान तो मिला ही हुआ नहीं है, जमीन तो मिली हुई नहीं है, धन तो मिला ही हुआ नहीं है। उसे लाना पड़ेगा, खोजना पड़ेगा, बनाना पड़ेगा, निर्मित करना पड़ेगा, अर्जित करना पड़ेगा। जो भी कमाया जा सकता है, वह आनन्द नहीं है। आनन्द तो 'अन-अर्न्ड' है, ऑलरेडी गिवेन है।

आनन्द को अर्जित करना नहीं होता, वह है ही। सिर्फ उस तल पर जा कर देखना ही काफी है। आंख भर भीतर मुड़ जाए तो काफी है। खजाना घर में ही गड़ा है। हम बाहर खोजते हैं। मकान के चारों तरफ दौड़ रहे हैं, पूरी जमीन का चक्कर लगा रहे हैं। वह नहीं मिल रहा है। मिलेगा भी नहीं। जितना ही चक्कर में हम पड़ते जाएंगे, मिलने की सम्भावना उतनी ही क्षीण होती जाएगी। क्योंकि चक्कर का एक तर्क है। जब आदमी दौड़ता है उसे खोजने जो उसके भीतर है, और दौड़कर नहीं पाता—(क्योंकि दौड़कर पा नहीं सकता। ठहर कर पा सकता है।) जब दौड़ता है और नहीं पाता है तो दौड़ का तर्क यह कहता है कि तुम जरा धीरे दौड़ रहे हो। इसलिए नहीं मिल रहा है। तेजी से दौड़ो, पूरी ताकत लगाओ।

दौड़ने का एक दूसरा तर्क भी है। जब वह पूरी ताकत लगा देता है तब भी नहीं मिलता, तो दौड़ने का तर्क कहता है कि तुम गलत रास्ते पर दौड़ रहे हो। रास्ता बदलो। रास्ता बदल दे और तेजी से दौड़ता रहे, अनेक रास्तों की पहचान कर ले तब भी आनन्द न मिले, तो दौड़ने का एक आखिरी तर्क काम करता है। अगर फिर भी आनन्द न मिले, (मिलेगा ही नहीं, मिलने का तो कारण ही नहीं है) तो दौड़ने का तर्क कहता है, आनन्द है ही नहीं। इसलिए नहीं मिलता है।

ये तीन तर्क हैं दौड़ने के। पहले वह कहता है, जोर से दौड़ो तो मिलेगा ऐसे धीरे-धीरे चलने से कहीं मिलता है? देखो पड़ोस के लोग कितनी तेजी से दौड़ रहे हैं। देखो फलां आदमी को मिल गया, वह दिल्ली पहुंच गया। उसको मिल गया आनन्द, तुम भी तेजी से दौड़ोगे, तो तुमको भी मिल जाएगा। तेजी से दौड़ो। फिर अगर तेजी से दौड़कर दिल्ली भी पहुंच जाओ और वहां न मिले, तो उसका

मतलब है, रास्ता बदलो। गलत रास्ते पर दौड़ रहे हो। रास्ते जन्म-जन्म बदलोगे, क्योंकि अनन्त रास्ते हैं जो कहीं नहीं ले जाते। कम से कम आनन्द तक तो नहीं ले जाते। क्योंकि आनन्द तक किसी रास्ते की जरूरत नहीं है। वह है भीतर, वहां आप खड़े हैं। सिर्फ आपकी नजर बहुत दूर के रास्तों पर भटक गई है, बहुत दूर चली गयी है—अपने से बहुत दूर चली गयी है। तो फिर आखिर में थका हुआ तर्क कहता है कि आनन्द होगा ही नहीं, इसलिए नहीं मिलता है। क्योंकि अगर होता, तो हमने सब रास्ते खोज डाले, सब साधन प्रयोग कर लिए, सब राजधानियां तलाश डालीं, सब महलों में रह चुके। नहीं, आनन्द है ही नहीं।

नीत्से ने कहा है, आनन्द है ही नहीं। जिसे तुम खोजते हो वह है ही नहीं, इसलिए मिलेगा कैसे! आनन्द सिर्फ आशा है। नीत्से ने कहा है, सिर्फ कल्पना है। नीत्से ने कहा है लेकिन जरूरी कल्पना है, क्योंकि उसके बिना आदमी को जीना बहुत मुश्किल पड़ेगा—ए नेसेसरी अनट्रुथ। नीत्से के लिए सत्य है। एक आवश्यक झूठ। है नहीं कहीं आनन्द। लेकिन अगर ऐसा पता चल जाए कि आनन्द नहीं है तो आदमी यहीं गिरकर मिट्टी का ढेर हो जाएगा। चलेगा कैसे, बैठेगा कैसे, दौड़ेगा कैसे!

नीत्से ने कहा है, सत्य से नहीं जीता है आदमी, आदमी असत्य से जीता है। असत्य जरूरी है। नहीं तो जी नहीं सकता। उन्हीं के सहारे तो जीता है। और नीत्से पागल होकर मरा, मरेगा ही। क्योंकि यह आखिरी तर्क है दौड़ की बात। तीसरा तर्क है—अल्टीमेट। नीत्से बहुत विचारशील व्यक्ति था, बहुत विचारशील, अति विचारशील। कहा जा सकता है, इन सौ वर्षों में इतना तर्कयुक्त और इतना गहन विचार करने वाला व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ। लेकिन मरा बहुत दुख में। दुख में जिया, विक्षिप्त हुआ। इन सौ वर्षों में इतनी नेनिट्रेटिंग, इतनी गहरे प्रवेश कर जाने वाली बातें किसी दूसरे आदमी ने नहीं कही। लेकिन इस आदमी को क्या फल मिला? वह आखिरी तर्क पर था। प्रतिभा थी, तो तर्क को उसने बिल्कुल साफ-सुथरा कर लिया। उसने कहा, जो नहीं मिलता है इतना खोजने से, वह है ही नहीं। मिलेगा कैसे?

ऋषि कहते हैं, नहीं मिलता है, फिर भी है। नहीं मिलता है, क्योंकि तुम खोजते हो, क्योंकि तुम दौड़ते हो। मिल सकता है, रुक जाओ, ठहर जाओ। मत दौड़ो, मत भागो, दृष्टि को मत भटकाओ। रोक लो, दृष्टि को भीतर डूब जाने दो। मिलता है, लेकिन खोजने से नहीं। क्योंकि वह पहले से ही मिला हुआ है। स्वरूप का यह अर्थ होता है, जो है ही। इसलिए आनन्द मांगना चाहिए, साधन नहीं। जो साधन मांगेगा, वह दौड़ता रहेगा, दौड़कर तर्कों में उलझता रहेगा और अनन्त जन्मों तक यह दौड़ चल सकती है। इस दौड़ का कोई अन्त नहीं आता। और बुद्धि हो, विवेक हो, तो क्षण में यह दौड़ छूट सकती है और आदमी उसी

क्षण भीतर प्रवेश कर सकता है। एक क्षण में भी यह घटना घट सकती है। और अनन्त काल में भी न घटे। अगर आप गलत दिशा में निकल पड़े हैं, तो अनन्त काल चलने पर भी नहीं पहुंचेंगे और ठीक दिशा में एक कदम उठा लेने से भी पहुंचना हो जाता है। मंजिल दूर नहीं है। मंजिल बिल्कुल भीतर है। यही उपद्रव है। अगर मंजिल दूर होती, तो हम पहाड़ चढ़ लेते, एवरेस्ट चढ़ जाते। प्रशान्त महासागर में दबी होती, तो डूब जाते। चांद पर होती, पहुंच जाते। उपद्रव यही है कि मंजिल हमारे भीतर है। खोजी के भीतर गन्तव्य है। वही तकलीफ है।

तो ऋषि साधन नहीं मांगता। वह यह नहीं कहता कि हे प्रभु, मुझे धन दो, ताकि मैं आनन्द पा सकूं। मुझे बड़ा भवन दो कि मैं आनन्दित हो सकूं। वह कहता है, न भवन, न धन, तुम मुझे आनन्द ही दो। मुझे सीधा आनन्द ही दो। जब साधन से कोई आनन्द मिलता है, तो वह आनन्द नहीं होता है, सुख होता है।

ध्यान रखना, साधन से जब भी कुछ मिलता है, तो वह सुख होता है। और सुख थिर नहीं हो सकता। आता है, जाता है। इसलिए साधन से जो भी मिलता है, उससे दुख पैदा होता है, क्योंकि सुख आएगा और जब जाएगा तो दुख छोड़ जाएगा। असाधन से, बिना साधन के जो मिलता है, वह आनन्द है। इसलिए ध्यान को साधन मत समझना। ध्यान साधन नहीं है—नॉट ए मेथड। कहते हैं, क्योंकि कहने की तकलीफें हैं, कोई उपाय नहीं है। कहते हैं साधना कर रहे हैं। साधना का मतलब साधन का उपयोग कर रहे हैं। कहते हैं कि ध्यान एक साधन है। तो कहने की तकलीफें हैं, कोई उपाय नहीं, लेकिन ध्यान असाधन है—नो मेथड है।

ध्यान कोई साधन नहीं है, वस्तुतः कोई विधि नहीं है। ध्यान सब विधियों को छोड़कर अपने भीतर डूब जाने का नाम है। इसलिए जब तक विधि चलती है, तब तक ध्यान नहीं होता। विधि सिर्फ 'जंपिंग बोर्ड' (कूदने के लिए आधार) है। एक आदमी नदी में कूदता है, तख्ते पर खड़ा है। उछल रहा है, अभी नदी नहीं आई, अभी 'जंपिंग बोर्ड' पर है। फिर जंपिंग बोर्ड ने उसे फेंक दिया, छलांग मारी, वह नदी में चला गया। लेकिन एक मजे की बात है, जंपिंग बोर्ड नदी में छलांग लगाने के लिए सहयोगी बनता है। लेकिन अगर जंपिंग बोर्ड पर ही कूदते रहें, तो एक जिन्दगी नहीं, अनन्त जिन्दगी कूदते रहें, नदी में नहीं पहुंचेंगे। 'मेथड कैन बी यूज्ड ओनली टु जम्प इन टु द नो-मेथड। विधि का उपयोग करना है, अवधि में कूदने के लिए।

हम जो ध्यान करते हैं, उसमें जो पहले तीन चरण हैं, वे सिर्फ जंपिंग बोर्ड हैं। चौथा चरण ध्यान है। तीन तो सिर्फ तैयारी है उछलने की, कूदने की, इतने जोश से भर जाने की कि हिम्मत जुटा कर कूद ही जाएं तो पानी में पहुंच जाए। जहां

ध्यान है, वहां कोई साधन नहीं, और जब तक साधन है, तब तक ध्यान नहीं। लेकिन ध्यान के लिए भी साधन का उपयोग करना पड़ता है, पर ध्यान स्वयं साधन नहीं है। ध्यान अवस्था है—ए स्टेट ऑफ माइण्ड।

ऋषि कहता है आनन्द की ही वे भिक्षा मांगते हैं, वही उनका भोजन है। वही उनका आहार है, वही उनका जीवन है। साधन वे नहीं मांगते। जिसने साधन मांगा, वह गृहस्थ है। जिसने साध्य मांगा, वह संन्यासी है, जिसने रास्ते मांगे, उसे मंजिल कभी न मिलेगी, जिसने मंजिल मांगी, उसके लिए मंजिल यहीं है।

अगर आपसे कोई कहे कि आनन्द सीधा ही मिल जाता है, मत मांगो कार। तो जरा आंख बन्द करके भीतर सोचना। मन कहेगा, छोड़ो ऐसे आनन्द को, जो बिना कार के ही मिल जाता है। हम तो कार वाला, मकान वाला, महल वाला, स्त्री वाला, पुरुष वाला आनन्द चाहते हैं। छोड़ो ऐसे आनन्द को। ऐसे आनन्द में क्या रस होगा? करोगे क्या ऐसे आनन्द का? ऐसे आनन्द से विवाह करोगे? ऐसे आनन्द के साथ रहोगे, करोगे क्या ऐसे आनन्द को, छोड़ो! ऐसे आनन्द में क्या हो सकता है जो बिना किसी चीज के मिल जाता है! चीज तो चाहिए ही। कण्टेनर तो चाहिए ही। डब्बा तो चाहिए ही, चाहे वह खाली ही हो। कण्टेंट से किसी को प्रयोजन नहीं। संन्यासी आत्मा ही मांगता है, काया नहीं। साधन नहीं, साध्य ही मांगता है। वस्तु नहीं, अस्तित्व ही मांगता है।

महाश्मशान में भी वे ऐसे विचरण करते हैं, जैसे आनन्द-वन में हों। मरघट में भी ऐसे जीते हैं, जैसे महल में हों। असल में मरघट और महल का फासला उनके लिए ही है, जिनके मन में महल की आकांक्षा है। ध्यान रखना, मरघट और महल में कोई फासला नहीं है। फासला हमारी आकांक्षा का है। महल हम चाहते हैं, मरघट हम नहीं चाहते। इसी से फासला है, अन्यथा महल और मरघट में क्या फासला है! जहां महल खड़े हैं, वहां मरघट बहुत दफे बन चुके। और जहां मरघट बने हैं, बहुत दफे महल बनकर गिर चुके हैं। सब महल अन्ततः मरघट बन जाते हैं और मरघटों पर महल खड़े हो जाते हैं। फर्क क्या है, फासला क्या है? हमारी आकांक्षा में फासला है।

महल हम चाहते हैं, मरघट हम नहीं चाहते। इसलिए महल तो हम बस्ती के बीच में बनाते हैं, और मरघट गांव के बाहर कि दिखाई भी न पड़े। उधर से गुजरना भी न पड़े। ऐसी जगह बनाते हैं, जहां से कोई रास्ता भी न गुजरता हो, आगे न जाता हो, मरघट पर ही खत्म हो जाता हो। और मरघट हम सदा दूसरों को पहुंचाने जाते हैं। दूसरों को पहुंचाने में तो बड़ा रस भी आता है। अपने को पहुंचाने का तो मौका नहीं आता। दूसरे करते हैं वह काम। जब हमने उनकी इतनी सेवा की, तो वे भी हमारी कुछ सेवा करेंगे ही।

मुल्ला नसरुद्दीन के पड़ोस में किसी की पत्नी मर गई। यह तीसरी पत्नी थी।

पहले दो और मर चुकी थीं। ऐसी अच्छी पत्नियां मुश्किल से मिलती हैं। मुल्ला मित्र की दो पत्नियों को मरघट तक पहुंचा आया था। तीसरी मर गई। मरघट पर ले जाने की तैयारी हो गई। मुल्ला की पत्नी बार-बार देखती है कि मुल्ला बैठा ही हुआ है। उसने कहा, जाना नहीं है, लोग बिल्कुल तैयार हो गए, बैण्ड-बाजा बजने लगा। मुल्ला ने कहा, मैं बार-बार जाता हूं और उसको मैंने अभी तक एक बार भी मौका नहीं दिया—नॉट ए सिंगल अपरचुनिटी। अच्छा भी तो नहीं लगता है, संकोच भी होता है। उसकी पत्नियों को मैं दो बार पहुंचा आया और मैंने उसे एक भी मौका नहीं दिया, तो बार-बार जाना अच्छा नहीं है, जब तक चुका न दें। एकाध तो कम से कम हम भी मौका दें। फिर मर जाना ठीक होगा। उसका काफी ऋणी हो गया है।

तो दूसरों को हम पहुंचाते हैं, बड़े दुख से पहुंचाते हैं। बड़ा दुख प्रकट करते हुए पहुंचाते हैं, लेकिन एक भीतरी सुख मन में मिलता है कि मैं अभी भी जिन्दा हूं। यह सदा दूसरा ही मर रहा है। हम तो जिन्दा ही हैं। आज 'अ' मरा, कल 'ब' मरा, परसों 'स' मरा। हम ? हम जिन्दा हैं ! न मालूम कितनों को मरा हुआ देखा, लेकिन हम नहीं मरते। एक भीतरी रस मिलता है कि फिर कोई दूसरा मरा। अपने मरने का तो पता भी नहीं चलता, क्योंकि जब आप मर ही गए, तो पता कैसा ! इसलिए अपने मरने का किसी को पता नहीं चलता। अपने को मरघट कोई नहीं पहुंचाता। पर संन्यासी वही है, जो अपने को मरघट पहुंचा देता है। जो कहता है, मरघट भी हमारा आवास है। महल और मरघट में उसे फर्क नहीं रह जाता। मरघट ही उसके लिए आनन्द है, विहार है। वहां भी ऐसे जीने लगता है, जैसे घर हो।

मृत्यु और जीवन में फर्क हटे, तभी महल और मरघट का फर्क गिर सकता है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मृत्यु ही मालूम होने लगे, तभी जिसे हम मरघट कहते हैं, वह आवास बन सकता है। जिसे हम दुख कहते हैं, जिसे हम सुख कहते हैं, जब उनके बीच का फासला गिर जाए और दुख सुख मालूम होने लगे, और सुख दुख मालूम होने लगे, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू मालूम होने लगें, उस दिन मरघट आनन्द-वन हो सकता है। उसके पहले नहीं। तो यह केवल सूचना है कि संन्यासी को महाश्मशान भी आवास ही मालूम पड़ता है, आनन्द विहार ही मालूम पड़ता है। कोई फर्क नहीं रह जाता।

एकान्त ही उनका मठ है। एकान्त के दो अर्थ हैं। एक तो 'टु बी लोनली' अकेलापन। और दूसरा एकाकी, 'टु बी अलोन'। दोनों में बड़ा फर्क है। यहां ऋषि जब कहता है, एकान्त ही उनका मठ है तो उसका अर्थ है एकाकीपन—अकेलापन नहीं। (इट मीन्स टु बी एलोन, नॉट लोनलीनेस।) ध्यान रहे, जब हमें अकेलापन लगता है, लोनलीनेस लगती है तो उसका मतलब है कि दूसरे की अपेक्षा

अभी मौजूद है। इसीलिए तो अकेलापन लगता है। आदमी कहता है कि बहुत अकेलापन लग रहा है। कल मुझे किसी ने खबर दी कि एक साधिका (मैं कहता हूं साधिका, अपनी तरफ से, ऐसे वह साधिका नहीं हो सकती) रोती हुई पाई गई, क्योंकि उसकी बाकी साथिनें चुप और मौन हो गई हैं। और उसने कहा, जब कोई बात ही न करेगा, तो यहां सात दिन कैसे गुजरेंगे। सात दिन बिना बात किए अकेलापन लगेगा। मुश्किल मालूम पड़ेगी, क्योंकि हम दूसरे में अपने को उलझाए रहते हैं। इसलिए कोई अकेला नहीं होना चाहता। यह बहुत मजे की बात है, आप अपना साथ कभी पसन्द नहीं करते। आप खुद ही अपने को इतना पसन्द नहीं करते कि अपना साथ पसन्द करें। अपने साथ आनन्दित होने का मतलब तो तभी हो सकता है, अब मैं अपने को चाहूं, प्रेम करूं, अपने को पसन्द करूं। हम सब अपने को घृणा करते हैं। कहते हैं लोग, लेकिन सब अपने को घृणा करते हैं। कोई अकेला नहीं होना चाहता, क्योंकि अकेले में अपने से ही साथ रह जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन कम बात करना पसन्द करने लगा। लोग चकित थे, क्योंकि वह अकेले में भी कभी-कभी बहुत बात करता था। मित्र चिन्तित हुए कि उसका दिमाग तो खराब नहीं हुआ जाता है। क्योंकि जब भी लोग होते, तब वह चुप बैठा रहता और जब भी अकेला होता, तो बात करता। मित्रों ने एक दिन इकट्ठा होकर पूछा कि बात तो बताओ, राज क्या है इसका, दिमाग तो खराब नहीं हो गया तुम्हारा ! जब हम आते हैं, तो तुम चुप हो जाते हो, जब हम चले जाते हैं, तो हमने दीवार और खिड़कियों से झांक कर देखा कि तुम अकेले में बात करते हो। मुल्ला ने कहा, आई वान्ट टू टॉक विद ए वाइज मैन, (मैं बुद्धिमान आदमी से बात करना चाहता हूं।) आई वान्ट टु हियर ए वाइज मैन (और मैं बुद्धिमान आदमी की ही बात सुनना चाहता हूं।) इसलिए अपने से ही बात करता हूं।

अपना साथ हम नहीं चाहते। कोई अपने साथ हो, तो हमें पागल मालूम होगा। मुल्ला नसरुद्दीन दूसरों को पागल लगा। अपने साथ मजा ले रहे हो, यह भी कोई बात हुई ? मजा सदा दूसरे के साथ लिया जाता है। अपने ही साथ मजा ले रहे हो, दिमाग खराब हो गया है, मालूम होता है।

संन्यासी वही है, जो अपने साथ मजा ले लेने में समर्थ हो गया है। दूसरे की जरूरत न रही। अकेला ही काफी है—एनफ। इसका नाम है एकान्त। अकेला ही काफी है, (टु बी अलोन, इज एनफ) लोनलीनेस (अकेलेपन) का कहीं कोई पता नहीं है। पता ही नहीं है कि मैं अकेला हूं। यह तो पता तभी चलता है, जब दूसरे की आकांक्षा मन में सरकती है कि दूसरा होना चाहिए था और नहीं है। दूसरे का अभाव अकेलापन पैदा करता है। अपना आविर्भाव एकान्त पैदा करता

है। दूसरे की मौजूदगी नहीं है, तो खलती है, अकेलापन लगता है और मैं मौजूद हूं पूरी तरह तो आनन्द प्रकट होता है। यही एकांत हुआ। भाषा-कोश में तो 'लोनलीनेस' और 'एलोननेस' एक ही हैं। लेकिन जीवन के कोश में एक नहीं हैं। जीवन के कोश में बड़ी उल्टी बातें हैं। अगर कोई आदमी कहता है कि अकेलापन लगता है, तो जानना कि उसे एकान्त का पता ही नहीं चला है। कोई आदमी कहता है कि एकान्त में दूसरे की याद ही नहीं आती, अपना ही होना पर्याप्त है, तो ऐसा एकान्त मठ है संन्यासी का। वही उसका मन्दिर है। वही उसका आवास है।

प्रकाश के लिए सतत् उनकी चेष्टा है, नित्य नूतन वे निरन्तर, निरन्तर रोज, प्रतिपल प्रकाश के लिए ही आतुर और चेष्टा में रत हैं। यह बड़े मजे की बात कही है ऋषि ने नित, नूतन। यह थोड़ा कठिन पड़ेगा समझना। क्योंकि हम जो करते हैं, उसे हम सदा कल किए हुए से जोड़ लेते हैं। वह पुराना हो जाता है। कल भी किया था ध्यान, आज भी कर रहे हैं ध्यान। तो कल जो ध्यान किया था, वह अतीत की स्मृति बन गई। उसी से इसको भी जोड़ लेते हैं। एक मित्र मुझसे पूछने आए थे कि क्या सात दिन यही ध्यान करना है या कुछ दूसरा भी होगा? अगर अतीत से जोड़ेंगे, तो सब पुराना हो जाता है। अगर अतीत से नहीं जोड़ेंगे और पल-पल जियेंगे, मोमेन्ट टु मोमेन्ट, तो सब नया है। कल जो ध्यान किया था, वह आज किया ही कैसे जा सकता है? क्योंकि न आज वह आकाश है, न आज वे किरणें हैं, न आज वह आप हैं, सब तो बदल गया। कल जो किया था, आज उसे करने का उपाय कहां है! सब बदल गया है। इस जगत् में पुराने को करने का उपाय कहां है। तो संन्यासी नित्य नूतन चेष्टा करता है। उसकी कोई चेष्टा पुरानी नहीं पड़ती। पुरानी पड़ने से ऊब भी पैदा हो जाती है कि इसी को कब तक करते रहेंगे। वह जानता है कि यहां तो सब प्रवाह है, सब बहा जा रहा है और जो अप्रवाह है उसका हमें पता नहीं, उसकी हम खोज कर रहे हैं। संसार तो परिवर्तनशील है और संसार में जो भी किया जाता है, वह परिवर्तनशील है। सब चेष्टाएं परिवर्तनशील हैं, वही फिर नहीं किया जा सकता।

बुद्ध से कोई मिलने आता, नमस्कार करता, जाते वक्त बिदा लेता, तो बुद्ध कहते, ध्यान रखना! जिसने नमस्कार किया था, वही बिदा नहीं दे रहा है। घण्टे भर में नदी का बहुत पानी बह गया। संन्यासी वह है, जो मोमेन्ट टु मोमेन्ट, क्षण-क्षण जीता है। एक क्षण काफी है। न पीछे के क्षण से जुड़ता है, न आगे के क्षण से जुड़ता है। तब सब चेष्टा नई है। जब वह सुबह उठकर फिर हाथ जोड़कर परमात्मा के सामने खड़ा होता है, तो सब बिल्कुल नया है—ताजा, फ्रेश। कुछ पुराना नहीं, कल की धूल है ही नहीं। कल भी हाथ जोड़े थे, इसका ख्याल किसको है, इसका हिसाब किसको है? लेकिन हम बड़ा हिसाब रखते हैं।

मुल्ला नसरूद्दीन ने किसी मेहमान को भोजन के लिए निमंत्रण दे दिया था। काफी देर चल चुका था भोजन। मुल्ला नसरूद्दीन फिर भी आग्रह कर रहा था कि एक पूड़ी तो और ले लें। मेहमान ने कहा, मैं कोई पांच-सात पूड़ियां ले चुका हूं, अब बहुत हो गया। मुल्ला ने कहा, 'पांच-सात नहीं, बाईस पूड़ियां हो गई हैं। बट हू इज कैलक्युलेटिंग?—हिसाब कौन रख रहा है? हिसाब ही कौन रख रहा है! बाईस हो गई हैं, मजे से खाओ।' मगर हिसाब भीतर चलता है। तीन दिन हो गए ध्यान करते, अभी कुछ नहीं हुआ। (हू इज कैलक्युलेटिंग!) लेकिन तीन दिन हो गए। कैलक्युलेशन (हिसाब) चलता ही रहता है। माइन्ड इज कनिंग ऐण्ड कैलक्युलेटिंग। मन चालाक है, बहुत चालाक है। और सब चालाकियां कैलक्युलेशन (हिसाब-किताब) होती हैं।

संन्यासी कुछ जोड़ता नहीं, वह परमात्मा से यह नहीं कहता कि पन्द्रह दिन हो गए प्रार्थना करते, कहां हो? नित्य नूतन चेष्टा करता रहता है। कल की बात छोड़ देता है। कल का कोई सवाल नहीं है और यह क्षण काफी है। और सवाल यह नहीं है कि ध्यान से कुछ मिले, ध्यान ही काफी है। यह भी सवाल नहीं है कि कोई फल मिले, ध्यान ही फल है। इसलिए वह रोज नई-नई चेष्टा करता चला जाता है। उसकी चेष्टा कभी पुरानी नहीं पड़ती। वह जन्मों-जन्मों तक प्रतीक्षा करता है, चेष्टा करता है। कभी यह नहीं कहता कि इतने दिन कर चुका, अभी तक दर्शन नहीं हुआ, अन्याय हो रहा है। इतने उपवास किए, इतने ध्यान किए, इतनी प्रार्थनाएं हो चुकीं, अभी तक कुछ फल नहीं मिला। नहीं, जिसने सोचा, वह गृहस्थ हैं, वह संन्यासी नहीं है। वह हिसाब-किताब रख रहा है। वह एक दुकान का हिसाब है। वही खाता-बही है, वह बैलेंस कर रहा है कि इतना नुकसान, इतना लाभ। इतना दिया, इतना लिया। वह लगा है हिसाब-किताब में।

संन्यासी सब हिसाब-किताब छोड़कर जीता है। कोई हिसाब-किताब नहीं। किसी दिन परमात्मा उसे मिले तो वह कहेगा, कैसे मिल गए तुम, मैंने कुछ भी तो नहीं किया! इसीलिए जिन्होंने परमात्मा को जाना, उन्होंने कहा, वह प्रसाद रूप मिलता है—जस्ट एज ए ग्रेस। हमारे करने का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने जो किया, उससे कुछ सम्बन्ध नहीं बनता। वह तो उसकी अनुकम्पा है, इसलिए मिलता है। उसकी दया है, करुणा है इसलिए वह मिलता है। हमारे किए हुए का क्या मूल्य? लेकिन यह वही कह सकता है, जिसने हिसाब न रखा हो, नहीं तो किए हुए का मूल्य मालूम पड़ता है।

उनकी चेष्टा प्रकाश के लिए है। एक ऐसी अवस्था के लिए, जहां कोई अन्धकार न हो। क्योंकि अन्धकार के कारण ही तो सारा भटकाव है। अन्धकार के कारण ही तो हमें टटोलकर जीना पड़ता है। और अंधकार के कारण ही तो कुछ पता नहीं चलता कि हम कहां खड़े हैं, क्यों खड़े हैं, कहां जा रहे हैं, कहां से आ रहे

हैं । अंधकार के कारण ही तो जीवन के सारे विकार हैं । अंधकार के कारण ही तो सारी उलझन और सारा उपद्रव है और सारा रोग और सारी विक्षिप्तता है । प्रकाश का अर्थ है, एक ऐसी चित्त की दिशा जहां सब साफ है—क्रिस्टल क्लियर—सब दिखाई पड़ता है, जैसा है, वैसा दिखाई पड़ता है, सब स्वच्छ है, आलोकित है । कहां जा रहे हैं, दिखाई पड़ता है; कहां से आ रहे हैं, दिखाई पड़ता है, कहां खड़े हैं, दिखाई पड़ता है; कौन हैं, दिखाई पड़ता है; क्या है चारों तरफ, दिखाई पड़ता है ।

प्रकाश की आकांक्षा मूलतः सत्य के दर्शन की आकांक्षा है । क्योंकि दर्शन प्रकाश के बिना नहीं हो सकेगा । बाहर प्रकाश होता है, तो चीजें दिखाई पड़ती हैं और जब भीतर प्रकाश होता है, तो परमात्मा दिखाई पड़ता है । बाहर अंधेरा हो जाता है, तो पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता, भीतर अंधेरा छा जाता है, तो परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता ।

प्रकाश की आकांक्षा, भीतर जो छिपा है, उसके दर्शन की आकांक्षा है । और जिसे भीतर का छिपा हुआ दिखाई पड़ गया, अपने भीतर का, सबके भीतर का दिखाई पड़ना शुरू हो जाता है । क्योंकि हम दूसरे के भीतर वहीं तक देख सकते हैं, जहां तक हम अपने भीतर देख सकते हैं । हम दूसरे के भीतर उससे ज्यादा गहरा कभी नहीं देख सकते, जितनी गहराई में हमने अपने भीतर झांका है । जब हम अपने को शरीर ही मालूम पड़ते हैं तब दूसरा भी शरीर ही दिखाई पड़ता है । जो हम अपने को जानते हैं, वही हम दूसरे में भी देख पाते हैं । जिस दिन हम अपने भीतर परमात्मा को देख लेते हैं, उस दिन इस जगत् में कोई कण परमात्मा से खाली नहीं रह जाता । वह सबकी आंतरिकता में दिखाई पड़ जाता है । लेकिन भीतर प्रकाश चाहिए । उस प्रकाश की आकांक्षा, अभीप्सा, उसकी ही पुकार, उसकी ही प्यास, इसी की नित नूतन चेष्टा वे करते हैं । वे थकते नहीं—अथक हैं । ऐसा कोई दिन नहीं आता कि वे निराश हो जाएं और कहें कि बस, हो गया बहुत । अब तक नहीं हुआ, तो आगे क्या होगा ? नहीं, वे थकते ही नहीं ।

सूफी फकीर हसन जब मरा और उसके मित्रों और शिष्यों ने पूछा कि हसन, तुमने कभी बताया नहीं कि तुम्हारा गुरु कौन था । जानने का मन होता है कि तुम इतने अलौकिक हो, तुम्हारा गुरु कौन था ? हसन ने कहा, 'नहीं बताने का कारण यह नहीं है कि मैं गुरु को छिपाना चाहता हूं । नहीं बताने का कारण यह है कि इतने गुरु थे कि बताना मुश्किल है । और ऐसे-ऐसे गुरु थे कि बताने में थोड़ी दुविधा भी होती है ।' शिष्यों ने कहा, बहुत गुरु हों तो बताना मुश्किल मालूम पड़ता है । किस किसका नाम लें ! लेकिन यह दूसरी बात समझ में नहीं आती कि बताने में थोड़ी दुविधा भी होती है । हसन ने कहा 'दुविधा होती है । जैसे उदाहरण के लिए—एक गांव में आधी रात पहुंचा । भटक गया रास्ता । सारा

गांव सो गया था । सराय का दरवाजा खटखटाया, कोई उठा नहीं । कहां ठहरूं । एक मकान के पास से गुजरता था । एक चोर दीवार में सेंध लगा रहा था । वही अकेला जागा हुआ आदमी था । उससे मैंने कहा कि भाई, बड़ी मुश्किल में पड़ा हूं । ठहरने की कोई जगह है ? उसने कहा, जरूर ठहरा दूंगा । फकीर मालूम पड़ते हो । मेरे घर ठहरने की हिम्मत हो, तो मेरे घर ही ठहर जाओ । मैं एक चोर हूं । लेकिन हसन ने कहा, इतना ईमानदार आदमी मुझे इससे पहले नहीं मिला था, जिसने कहा हो कि मैं एक चोर हूं । हसन ने कहा, 'मेरा मन भी डरा कि ठहरूं इसके घर कि नहीं, क्योंकि कल सुबह गांव के लोग क्या कहेंगे' । मगर जब चोर ने आमंत्रण इतने प्रेम से दिया है और कहकर दिया कि मैं चोर हूं, तो इन्कार करते नहीं बना । चोर के घर जाकर ठहर गया । चोर ने कहा, तुम विश्राम करो । मैं भोर होते-होते आ जाऊंगा और तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा ।

कोई पांच बजे चोर आया, हसन ने दरवाजा खोला । हसन ने पूछा, 'कुछ पाया ? चोर ने कहा, आज तो कुछ नहीं मिला । लेकिन जिन्दगी लम्बी है और रातों की क्या कमी है । हसन ने कहा, मैं महीने भर उस चोर के घर रहा । रोज चोर घर आता और मैं पूछता, कुछ मिला ? वह कहता, नहीं । लेकिन कल मिलेगा । जिन्दगी लम्बी है और रातों की क्या कमी है । महीने भर बाद जिस दिन हसन ने उसका घर छोड़ा, उस दिन भी यही बात थी, उस दिन भी कुछ नहीं मिला ।

हसन ने कहा, जब मैं परमात्मा को खोजता था, तो बार-बार थक जाता था । सोचता था, अब तक नहीं मिला; तब वह चोर मेरे सामने खड़ा हो जाता और वह कहता, रातों की क्या कमी, जिन्दगी लम्बी है । तब फिर मैं हैरान होता कि जब एक चोर नहीं थकता और साधारण धन की तलाश, इतनी आशा से, इतने अथक धैर्य से करता है, तो मैं परम धन को खोजने निकला हूं और इतनी जल्दी ! तो जिस दिन मुझे परमात्मा की प्रतीति हुई, तो मैंने परमात्मा को पहले धन्यवाद नहीं दिया, पहले उस चोर को आंख बन्द करके नमस्कार किया कि सत्य तुझे मिला हो या न मिला हो, बाकी तू मेरा गुरु है । इसलिए तुम्हें बताने में दुविधा होती है ।'

ऋषि कहता है, संन्यासी थकते नहीं, वे निरन्तर उस प्रकाश की खोज में लगे रहते हैं । और अ-मन में ही वे गति करते हैं—उन्मनी गतिः । बड़ा अद्भुत सूत्र है । यह सूत्र वैसा ही जैसा कि आइन्सटीन ने एनर्जी का फार्मूला खोजा । यह सूत्र उतना ही कीमती है, उससे भी ज्यादा क्योंकि आइन्सटीन के बिना दुनिया में कुछ बड़ा फर्क न पड़ेगा । अगर एनर्जी का फार्मूला न हो तो भी आदमी हो सकता है । मजे से था । एनर्जी के फार्मूले के बाद ही दिक्कत शुरू हुई है।

हिरोशिमा नहीं होता, अगर एनर्जी का फार्मूला नहीं होता। नागासाकी नहीं बनता।

अ-मन में ही वे गति करते हैं—'उन्मनी गतिः' एक ही उनकी गति है, उस दिशा में, जहां मन नहीं है। एक ही उनकी यात्रा है, उस तरफ जहां मन नहीं। वे मन को छोड़कर चलते चले जाते हैं। एक दिन आता है कि वे मन से बिल्कुल नग्न हो जाते हैं। मन गिर जाता है। हम भी गति करते हैं, पर मन में और मन के लिए। हम जो भी करते हैं, वह मन का पोषण हैं। मन को हम बढ़ाते हैं, मजबूत करते हैं। हमारे अनुभव, हमारा ज्ञान-हमारा संग्रह सब हमारे मन को मजबूत और शक्तिशाली करने के लिए हैं। बूढ़ा आदमी कहता है, मुझे सत्तर साल का अनुभव है। मतलब ? उसके पास सत्तर साल का पुराना मजबूत मन है, जैसे शराब पुरानी अच्छी होती है, लोग सोचते हैं पुराना मन भी अच्छा होता है। वैसे शराब और मन में कुछ तादात्म्य है, एक रसता है, जैसे पुरानी शराब और नशीली हो जाती है, वैसे ही मन जितना पुराना होता है, उतना नशीला होता है। चेतना नहीं बदलती, चेतना तो वही बनी रहती है। मन की परत चारों तरफ घिर जाती है। मांग वही बनी रहती है, वासना वही बनी रहती है।

सुना है मैंने, एक रात मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी ने कहा कि चालीस साल हो गए विवाह हुए। जब शुरू-शुरू में विवाह हुआ था तो तुम मुझे इतना प्रेम करते थे कि कभी मेरी उंगुलियां काट लेते थे, कभी मेरे ओठों पर घाव हो जाता था। लेकिन अब तुम वैसा प्रेम नहीं करते। और कल मेरा जन्म-दिन है, आज तो कुछ वैसा प्रेम करो। मुल्ला ने कहा, सो भी जा। रात खराब मत कर। पत्नी नाराज हो गई। उसने कहा, कल मेरा जन्म-दिन है। मुल्ला ने कहा, बाहर बहुत सर्दी है। उठना ठीक नहीं। पत्नी ने कहा, उठने की जरूरत क्या है। मैं यहां पास ही हूं। एक बार तो तुम मेरी उंगुलियों को फिर वैसा काटो, जैसा चालीस साल पहले प्रेम में तुमने काटा था। मुल्ला ने कहा, ठीक, नहीं मानती। मुल्ला बिस्तर से उठा। पत्नी ने कहा, कहां जाते हो ? उसने कहा, बाथरूम से दांत तो ले आऊं।

उम्र ढल जाती है, वासनाएं वहीं की वहीं चली आती है। दांत गिर जाते हैं। काटने का मन, कटवाने का मन नही गिरता। शरीर सूख जाता है। वासना हरी ही बनी रहती है। नहीं, अनुभव वगैरह कुछ नहीं है हमारा। जिसको संसार का अनुभव कहते हैं, वह मन का पोषण है।

संन्यासी अ-मन की तरफ चलता है। गृहस्थ मन की तरफ चलता है। सभी लोग मन लेकर पैदा होते हैं, लेकिन धन्य हैं वे जो मन के बिना मर जाते हैं। सभी लोग मन लेकर जन्मते हैं, लेकिन अभागे हैं वे, जो मन को लेकर ही मर जाते है। तो जीवन में कोई फायदा न हुआ। फिर यह यात्रा बेकार गई। अगर

मृत्यु के पहले मन खो जाए, तो मृत्यु समाधि बन जाती है। अगर मृत्यु के पहले मन खो जाए, तो मृत्यु के बाद फिर दूसरा जन्म नहीं होता, क्योंकि जन्म के लिए मन जरूरी है। मन ही जन्मता है। मन ही उन अपूर्ण वासनाओं के कारण, जो पूरी नहीं हो सकीं, उनके लिए पुनः-पुनः जन्म की आकांक्षा करवाता है। जब मन ही नहीं रहता, तो जन्म नहीं रहता। मृत्यु पूर्ण हो जाती है। हम सब भी मरते हैं, परन्तु हम अधूरे मरते हैं, क्योंकि वहां जन्म की आकांक्षा भीतर जीती चली जाती है। वह जन्म की वासना फिर नया शरीर ग्रहण करती है। संन्यासी जब मरता है, तो पूरा मरता है—टोटल डेथ। शरीर ही नहीं मरता, मन भी मरता है। भीतर कोई और जीने की वासना नहीं रह जाती है। और जो पूरा मर जाता है, वह उस जीवन को उपलब्ध हो जाता है, जिसका फिर कोई अन्त नहीं। लेकिन मार्ग क्या है ? मार्ग है अ-मन—नो-माइण्ड।

धीरे-धीरे मन को गलाना, छुड़ाना, हटाना, मिटाना है—ऐसा कर लेना है कि भीतर चेतना तो रहे, मन न रह जाए। चेतना और बात है। चेतना हमारा स्वभाव है। मन हमारा संग्रह है। इसलिए दुनिया जितनी सुशिक्षित और सभ्य होती जाती है, ध्यान उतना ही मुश्किल होता चला जाता है। क्योंकि सुशिक्षा और सभ्यता का मतलब क्या है ? एक ही मतलब है—मन का प्रशिक्षण (ट्रेनिंग ऑफ द माइण्ड)। मन और ट्रेण्ड (प्रशिक्षित) हो जाता है। इसलिए मनुष्य जितना सुशिक्षित और जितना सभ्य होता जाता है, उतना ही मन से छूटना मुश्किल होता जाता है, क्योंकि मन का प्रशिक्षण लम्बा होता जाता है।

हमारी सारी शिक्षा, हमारी सारी व्यवस्था, हमारा सारा अनुशासन मन की मजबूती के लिए तैयारी है। ताकि बाजार में मन सफल हो सके, ताकि धन्धे में मन सफल हो सके, ताकि संघर्ष में, प्रतियोगिता में, प्रतिस्पर्धा में मन सफल हो सके, इसलिए मन को ट्रेण्ड कर रहे है। ऋषि तो उल्टी बात कहते हैं। वे कहते हैं, मन को विर्सजित करना है। ट्रान्सेन्ड द माइण्ड। यह ठीक है। अगर संसार में गति करनी हो, तो मन प्रशिक्षित होना चाहिए। अगर परमात्मा में गति करनी हो, तो मन विर्सजित होना चाहिए। अगर पदार्थ को पाने जाना हो, तो बहुत सुशिक्षित होना चाहिए। सुआयोजित, सुसंगठित, 'वेल आर्गनाइज्ड' मन चाहिए। लेकिन अगर परमात्मा में जाना हो, तो मन चाहिए ही नहीं—शिक्षित-अशिक्षित कोई भी नहीं, संगठित-असंगठित कोई भी नहीं। मन चाहिए ही नहीं।

अ-मन उनकी गति है। वे निरन्तर इस चेष्टा में ही लगे रहते हैं कि मन कैसे कम होता चला जाए। बढ़ता कैसे है मन ? मन को बढ़ने का ढंग क्या है ? उसे समझ लें, तो घटने का ढंग ख्याल में आ जाएगा। मन कैसे बढ़ता है ?

मन को हम सहारा देते है, उससे को-आपरेट करते हैं। रास्ते से गुजर रहे हैं, भूख बिल्कुल नहीं है, लेकिन रेस्तरां दिखाई पड़ गया। मन कहता है, भूख लगी है। पैर

रेस्तरां की तरफ बढ़ने लगते हैं। पूछते भी नहीं अपने से कि भूख तो जरा भी नहीं लगी थी, जब तक यह बोर्ड दिखाई नहीं पड़ा था। बोर्ड दिखाई पड़ने से भूख लगती है। यह मन है। मन से भूख का कोई सम्बन्ध नहीं है, स्वाद की आकांक्षा है। मन को शरीर से प्रयोजन नहीं, शरीर से, न मन को स्वास्थ्य से प्रयोजन है। भूख तो बिल्कुल नहीं लगी थी, लेकिन रेस्तरां देखकर भूख लग गई। यह भूख झूठी है। अब आप पैर रेस्तरां की तरफ बढ़ाते हैं, तो मन से उनको बढ़ाते हैं, उन्हें मजबूत करते हैं।

अंकुशो मार्गः। सोच से, विवेक से खड़े होकर ठहर जाएं एक क्षण। भीतर खोजे, भूख है कि नहीं। एक क्षण भी अगर रुक सकें, तो रेस्तरां में प्रवेश नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि मन कितना ही शक्तिशाली दिखाई पड़े, बहुत निर्बल है। विवेक के सामने। लेकिन विवेक हो ही न, तो मन बहुत सबल है, जैसे अंधेरा कितना ही हो, छोटा-सा दीया पर्याप्त है। हां, दीया हो ही नहीं तो अंधेरा बहुत सघन है। एक क्षण के लिए भी विवेक हो, तो पैर ठहर जाएंगे।

शरीर में कहीं कोई काम-वासना की लहर न थी, एक सुन्दर स्त्री दिखाई पड़ गई, एक सुन्दर पुरुष दिखाई पड़ गया और लहर उठ गई। यह मन है। इसलिए आदमी को छोड़कर इस पृथ्वी पर कोई भी जानवर सेक्सुअलिटी, कामुकता से पीड़ित नहीं है। काम-वासना है, कामुकता नहीं है। सेक्स है, सेक्सुअलिटी नहीं है। इसलिए मनुष्य को छोड़कर सभी जानवरों का सेक्स पीरिआडिकल है। उसकी एक अवधि है। वर्ष में एक महीने, दो महीने या तीन महीने काम आता है, बाकी नौ महीने काम से रिक्त हो जाते हैं। लेकिन आदमी चौबीस घण्टे कामुक है—चौबीस घण्टे, तीन सौ पैंसठ दिन; और दुखी होता है कि साल में तीन सौ पैंसठ दिन ही क्यों होते हैं। थोड़े ज्यादा भी हो सकते थे, इतनी कृपणता की क्या जरूरत है? क्या बात क्या होगी? मनुष्य अकेला काम-वासना को मन से जी रहा है, शरीर से नहीं।

शरीर से सारे पशु जी रहे हैं, पौधे जी रहे हैं, सारी प्रकृति जी रही है, पर मनुष्य मन से ही जी रहा है। काम-वासना तो प्राकृतिक है, लेकिन कामुकता विकृति है। काम-वासना से ऊपर उठ जाना परम क्रान्ति है, लेकिन आदमी काम-वासना से भी नीचे गिर गया है। वह कामुकता में, सेक्स से भी नीचे, सेक्सुअलिटी में गिर गया है। जब एक सुन्दर पुरुष को देखकर मन में कामवासना जगने लगती है, तब एक क्षण खड़े हो जाना और कहना, यह बायलॉजिकल है, यह कहीं कोई जैविक-प्राण की गति है या मन का ही खेल है। हां, मन का ही खेल है। तो जहां-जहां मन का खेल दिखे, डोन्ट को-आपरेट विथ इट, नॉन को-आपरेशन विल डू। सहयोग न करें—असहयोग करें। सिर्फ खड़े रह खाएं और कहें कि यह मन की बात है। वासना एकदम गिर जाएगी। इस प्रकार मन क्षीण होगा, नहीं तो सहयोग से मन बढ़ता चला जाएगा।

बैठे हैं खाली। मन बेकार के विचार कर रहा है, जिससे कुछ लेना-देना नहीं और आप उसमें भी सहयोग दिए चले जाते हैं। रुकें और कहें कि इसकी क्या

जरूरत है। यह सब मैं क्या कर रहा हूं? यह कैसा पागलपन है, जो भीतर में ही चलता है? असहयोग करो तो मन धीरे-धीरे विसर्जित होता जाता है। और अगर चौबीस घण्टे असहयोग चले और उसके साथ ध्यान हो, तो अ-मन में गति हो जाती है।

उनका शरीर निर्मल है और निरालम्ब उसका आसन है। जिसका मन शान्त हो जाए, मन अ-मन हो जाए, उसका शरीर बड़ा निर्मल हो जाता है क्योंकि शरीर में सारा मल मन से आता है। इसे थोड़ा ख्याल में ले लेना। शरीर बिल्कुल स्वच्छ चीज है। शरीर में कोई मल नहीं है। शरीर में जो भी विकार आते हैं, वे मन से आते हैं। लेकिन हम बड़े होशियार हैं। हम कहते हैं, शरीर हममें विकार पैदा करवाता है। नहीं, गलत है यह बात। शरीर विकार पैदा नहीं करवाता है। शरीर में विकार तो मन डालता है। हां, शरीर सहयोग देता है। लेकिन शरीर आपका सेवक है। आप, जो चाहते हैं, वह कर देता है। आप कहते हैं, चोरी करनी है, तो पैर खजाने की तरफ चल पड़ते हैं। आप कहते हैं, प्रार्थना करनी है और पैर मन्दिर की तरफ चल पड़ते हैं। न तो पैरों का आग्रह है कि हम चोरी करने जाएंगे, न पैरों का आग्रह है कि हम प्रार्थना करने जाएंगे। पैरों का कोई आग्रह ही नहीं है। अगर आप कामवासना में उत्सुक होते हैं, तो शरीर की ग्रन्थियां काम-वासना के लिए तैयार हो जाती हैं। अगर आप ब्रह्म की तरफ यात्रा करते हैं, तो शरीर की वे ही ग्रन्थियां ब्रह्म-यात्रा के लिए तैयार हो जाती हैं।

शरीर का कोई भी आग्रह नहीं है। शरीर बिल्कुल तटस्थ शक्ति है—ऐब्सोल्यूटली न्यूट्रल। जो भी होता है, वह मन से होता है। इसलिए अ-मन के बाद ऋषि कहता है, शरीर उनका निर्मल है क्योंकि जब मन न बचा, तो शरीर में कौन-सा पाप बच जाएगा। शरीर ने कोई पाप कभी किया ही नहीं है। सब पाप मन के हैं। शरीर ने कोई पुण्य भी नहीं किया, ध्यान रखना। सब पुण्य मन के हैं। शरीर ने न शुभ किया है, न अशुभ किया है, लेकिन शरीर को अकारण बड़े दण्ड भोगने पड़ते हैं, और हम शरीर को जिम्मेवार ठहराते हैं।

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरूद्दीन पर चोरी का एक मुकदमा चला। उसके वकील ने बड़ी जिरह की। मुल्ला तो चुप ही खड़ा रहा। आखिर में वकील ने एक दलील दी और उसने मजिस्ट्रेट को कहा कि आप यह तो मानेंगे कि मेरा मुवक्किल, पूरा का पूरा चोरी के लिए जिम्मेवार नहीं है, सिर्फ उसका दायां हाथ जिम्मेवार है। वह निकलता था खिड़की के पास से और खिड़की में कोई चीज रखी दिखाई पड़ गई। दायां हाथ बढ़ा और उसने खिड़की से चीज निकाल ली। इसके पैरों का तो कोई कसूर नहीं है। मजिस्ट्रेट ने कहा, बात तो तर्कयुक्त है। वकील ने कहा, आप पूरे मुल्ला नसरूद्दीन को दो साल की सजा दे रहे हैं, यह अन्याय है। सिर्फ इसके दाएं हाथ को सजा देनी चाहिए। मजिस्ट्रेट ने कहा, यह बात भी ठीक है, क्योंकि

वह होशियार आदमी है। हम सिर्फ दाएं हाथ को दो साल की सजा देते हैं। मुल्ला नसरूद्दीन दाएं हाथ के साथ जेल में रहना चाहे रहे, रहे, न रहना चाहे, न रहे। तत्काल नसरूद्दीन ने दायां हाथ निकाल कर टेबुल पर रख दिया और दरवाजे के बाहर हो गया। वह लकड़ी का हाथ था।

मन कुछ भी करे, तो वह यह भी कहता है कि जिम्मेदार वह नहीं है। शरीर पर जिम्मेदारी ठहराता है। जो अ-मन में पहुंच गए, उनका शरीर निर्मल हो जाता है, स्वच्छ जल की भांति, शरीर बहुत ही निर्मल है। मन ही सारा विकार पैदा करता है।

निर्मल उनका शरीर और निरालम्ब उनका आसन है। और जब मन नहीं रह जाता, तो उनका कोई आलम्बन नहीं रह जाता। वे किसी चीज का सहारा नहीं लेते, वे किसी चीज के सहारे नहीं जीते, वे किसी चीज को साधन नहीं बनाते। और जब कोई व्यक्ति सब भांति निरालम्ब हो जाता है, तो उसे परमातमा का आलम्बन मिलता है, उसके पहले नहीं। जब तक हम सोचते हैं कि हम ही अपने सहारे खड़े कर लेंगे, तब तक परमात्मा प्रतीक्षा करता है। ठीक भी है। सहारा तभी मिल सकता है हमें, जब हम बिल्कुल बेसहारे हो जाएं—टोटली हैल्पलेस। उसके पहले नहीं।

लेकिन मन कहता है, क्या जरूरत है बेसहारा होने की, सहारा हम देते हैं। क्या चाहिए तुम्हें? ज्ञान चाहिए? तो चलो शास्त्र का अध्ययन कर लो, ज्ञान मिल जाएगा। मन कहता है, शास्त्र का अध्ययन कर लो, ज्ञान मिल जाएगा। नहीं मिलेगा। मन शास्त्र से जो इकट्ठा करेगा, वह सिर्फ स्मृति होगी, ज्ञान नहीं, मैमोरी होगी ज्ञान नहीं। वह आत्म अनुभव नहीं होगा। वह पराए का अनुभव होगा। मन धोखा दे देगा, कहेगा कि अपना ही अनुभव है। मन सब सहारे देने को तैयार है। वह कहता है कि क्या जरूरत है, मैं तो हूं, मैं सब कर दूंगा। मन परमात्मा बनने को तैयार है। वह कहता है कि क्या जरूरत है, हम पूरा करने के लिए तैयार हैं। परमात्मा के लिए प्रार्थना करने जाने की क्या जरूरत है।

एक नाव डूबने के करीब है। सभी यात्री हाथ जोड़कर, घुटने टेक कर प्रार्थना कर रहे हैं। सिर्फ मुल्ला नसरूद्दीन शान्त बैठा हुआ है। कोई यात्री कह रहा है कि हे प्रभु, बचाओ। मेरा जो मकान है, वह मैं दान कर दूंगा। कोई कह रहा है कि बचाओ, अब मैं व्रत-उपवास रखूंगा, नियम से जीऊंगा, कोई बुराई न करूंगा। कोई कुछ कह रहा है, कोई कुछ कह रहा है। आखिर में मुल्ला नसरूद्दीन जोर से चिल्लाया कि ठहरो, जरूरत से ज्यादा वचन मत दे देना। जमीन दिखाई पड़ रही है। नमाज-प्रार्थना टूट गई। लोग उठ गए। सामान-बिस्तर बांधने लगे। सब वचन, सब प्रतिज्ञाएं भूल गईं।

एक बार मुल्ला खुद ऐसी मुसीबत में पड़ गया था। उस वक्त उसने वचन दे दिया था। उसने कहा, उसी अनुभव से मैंने तुमको रोका। एक बार मेरी नाव भी इसी तरह डूबने लगी, तो मैंने कहा कि अगर मैं बच जाऊंगा तो अपना मकान बेच दूंगा और बेचकर सारा धन गरीबों को बांट दूंगा। बड़ा मकान था, दस लाख उसका दाम था। कहने के बाद मैं सोचने लगा कि अब नहीं बेचूं, तो अच्छा। लेकिन दुर्भाग्य ने पीछा किया। झंझट फिर आ गई। मकान बेचना पड़ा, और धन गरीबों में बांटना पड़ा। लेकिन मैंने तरकीब की। मकान जब नीलाम किया और सारा गांव इकट्ठा हुआ, तो मैंने मकान के साथ एक छोटी-सी बिल्ली भी बांधी और कहा कि दोनों साथ बिकेंगे। मकान का दाम एक रुपया है, बिल्ली का दाम दस लाख रुपया है। कई लोगों ने कहा, हम तो मकान खरीदने आए हैं। मुल्ला ने कहा, हम तो दोनों साथ ही बेचेंगे। फिर लोगों ने देखा कि कोई हर्ज तो है नहीं, दस लाख में बिल्ली खरीद लो, तो भी एक रुपए में मकान मिल रहा है। मकान के दाम इतने थे ही। मुल्ला ने दस लाख में बिल्ली बेच दी, एक रुपए में मकान। एक रुपया गरीबों में बांट दिया।

उसने कहा, एक दफे मैं भी फंस गया था, तो बड़ी झंझट हुई। जरूरत से ज्यादा वचन मत दे देना। जमीन दिखाई पड़ रही है।

मन सब भांति के सहारे देता है। जो मन से रहित हो जाते हैं, वे ही निरालम्ब हो पाते हैं। वे कहते हैं, अब परमात्मा ही है। अब वह जो करे ठीक। अब अपनी तरफ से करने को कुछ नहीं बचता।

जैसे निनाद करती अमृत-सरिता बहती है, वैसे ही उनके जीवन की प्रक्रियाएं हो जाती हैं। जैसे निनाद करती हुई गंगा उतरती है हिमालय से—गीत गाती हुई, नाचती हुई, आनन्दमग्न, जैसे अपने प्रियतम से मिलने जाती हो, जैसे घूंघरू बंधे हों उसके पैरों में, जैसे हृदय में उसके गीत हो, ऐसा ही उनका सारा जीवन है। आनन्द, अमृत के कल्लोल करता हुआ। उनका उठना, उनका बैठना सब प्रभु-मिलन है। उनका चलना, उनका बोलना, उनका चुप होना सब प्रभु-मिलन है। उनका होना एक अमृत की सरिता है। वह किलोल करती, आनन्द के गीत गाती सागर की ओर भागती रहती है।

पाण्डरगगनम्, महासिद्धान्तः
शमदमादि दिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्र पात्र पटुता
परावर संयोगः तारकोपदेशः ।
अद्वैतसदानन्दो देवता नियमः
स्वान्तरिन्द्रिय निग्रहः ।

शुद्ध परमात्मा उनका आकाश है । यही महा-सिद्धान्त है ।
शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है ।
परात्पर से संयोग ही उनका तारक उपदेश है ।
अद्वैत सदानन्द ही उनका देव है ।
अपने अन्तर की इन्द्रियों का निग्रह ही उनका नियम है ।

प्रवचन : ११
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २७ सितम्बर, १९७१

अन्तर-आकाश में उड़ान, स्वतन्त्रता का दायित्व और शक्तियां प्रभु-मिलन की ओर

'पाण्डरगगनम् महासिद्धान्तः ।' परमात्मा ही उनका आकाश है, यही महा-सिद्धान्त है । एक आकाश, एक स्पेस तो बाहर है, जिसमें हम चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, जहां भवन निर्मित होते हैं और खंडहर हो जाते हैं, जहां आकाश में पक्षी उड़ते, पृथ्वियां जन्म लेती और विलुप्त होती हैं । एक आकाश हमारे भीतर भी है । यह जो बाहर है हमारा आकाश, यह जो बाहर फैला है हमारा आकाश, यही अकेला आकाश नहीं है । दिस स्पेस इज नॉट द ओनली स्पेस । एक और भी आकाश है । वह हमारे भीतर है । जो आकाश हमारे बाहर फैला है, वह असीम है । वैज्ञानिक कहते हैं, उसकी सीमा का कोई पता नहीं लगता । लेकिन जो आकाश हमारे भीतर फैला है, उसके सामने यह बाहर का आकाश कुछ भी नहीं है । वह असीम से भी ज्यादा असीम है । अनंत आयामी उसकी असीमता है—मल्टी डाय-मेंशनल इनफिनिटी है । बाहर के आकाश में चलना, उठना होता है, भीतर के आकाश में जीवन है । बाहर के आकाश में क्रियाएं होती हैं, भीतर के आकाश में चैतन्य है ।

तो जो बाहर के ही आकाश में खोजता रहेगा, वह अभी भी जीवन से मुलाकात न कर पाएगा । चेतना से उसकी कभी भेंट न होगी । उसका परमात्मा से कभी मिलन न होगा । ज्यादा से ज्यादा पदार्थ मिल सकता है बाहर, परमात्मा का स्थान तो भीतर का आकाश है, अन्तराकाश है, इनर स्पेस है । ऋषि कहता है, यही महासिद्धान्त है । और तो सब सिद्धान्त ही हैं, यह महासिद्धान्त है कि अगर जीवन के सत्य को पाना हो, तो अन्तर-आकाश में उसकी खोज करनी पड़ती है । लेकिन हमें अन्तर-आकाश का कोई भी अनुभव नहीं है । हमने कभी भीतर के आकाश में कोई उड़ान नहीं भरी । हमने भीतर के आकाश में एक चरण भी नहीं रखा है, हम भीतर की तरफ गए ही नहीं । हमारा सब जाना बाहर की तरफ है । हम जब भी जाते हैं, बाहर ही जाते हैं । उसके कुछ कारण हैं ।

एक मित्र ने प्रश्न पूछा है इस सम्बन्ध में । उन्होंने पूछा है कि जब भीतर की,

स्वरूप की स्थिति परम आनन्द है, तो यह मन कहां से आ जाता है। जब भीतर नित्य आनन्द का वास है, तो ये मन के विकार कैसे जन्म जाते हैं? ये कहां से अंकुरित हो जाते हैं।

इस अन्तर आकाश के सम्बन्ध में समझ लेना उपयोगी है। यह प्रश्न सदा ही साधक के मन में उठता है कि जब मेरा स्वभाव ही शुद्ध है, तो यह अशुद्धि कहां से आ जाती है, और जब मैं स्वभाव से ही अमृत हूं, तो यह मृत्यु कैसे घटित होती है। और जब भीतर कोई विकार ही नहीं है, भीतर निर्विकार, निराकार का आवास है सदा से, सदैव से, तो ये विकार के बादल कैसे घिर जाते हैं? कहां से इनका जन्म होता है? कहां इनका उद्गम है? ये अंकुरित कैसे होते हैं? इसे समझने के लिए थोड़ी-सी गहराई में जाना पड़ेगा।

पहली बात तो यह समझनी पड़ेगी कि जहां भी चेतना है, वहां चेतना की स्वतन्त्रताओं में एक स्वतन्त्रता यह भी है कि वह अचेतन हो सकेगी। ध्यान रखें, अचेतन का अर्थ जड़ नहीं होता। अचेतन का अर्थ होता है, चेतन, जो कि सो गया। चेतन जो कि छिप गया। यह चेतना की ही क्षमता है कि वह अचेतन हो सकती है। जड़ की यह क्षमता नहीं है। आप पत्थर से यह नहीं कह सकते कि तू अचेतन है। जो चेतन नहीं हो सकता, वह चेतन भी नहीं हो सकता। वह जाग नहीं सकता, वह सो भी नहीं सकता। और ध्यान रखें, जो सो भी नहीं सकता, वह जागेगा कैसे!

चेतना की ही एक क्षमता है, अचेतन हो जाना। अचेतन का अर्थ चेतना का नाश नहीं है। अचेतन का अर्थ है चेतना का प्रसुप्त हो जाना, छिप जाना, अप्रकट हो जाना। चेतना की यह मालकियत है कि चाहे तो प्रकट हो, चाहे तो अप्रकट हो जाए। यही चेतना का स्वामित्व है। या कहें, यही चेतना की स्वतन्त्रता है। अगर चेतना अचेतन होने को स्वतन्त्र न हो, तो चेतना परतन्त्र हो जाएगी। फिर आत्मा की कोई स्वतन्त्रता न होगी।

इसे ऐसा समझें कि अगर आपको बुरे होने की स्वतन्त्रता ही न हो, तो आपके भले होने का अर्थ क्या होगा? अगर आपको बेईमान होने की स्वतन्त्रता ही न हो तो, आपके ईमानदार होने का कोई अर्थ नहीं होता? और जब भी हम किसी व्यक्ति को कहते हैं कि ईमानदार है, तो इसमें निहित है, इम्प्लायड है, कि वह चाहता तो बेईमान हो सकता था और नहीं हुआ। अगर हो न सकता हो बेईमान, तो ईमानदारी दो कौड़ी की हो जाती है। ईमानदारी का मूल्य बेईमानी होने की क्षमता और सम्भावना में छिपा है। जीवन के शिखर छूने का मूल्य, जीवन की अंधेरी घाटियों में उतरने की भी हमारी क्षमता है, इसमें छिपा है। स्वर्ग पहुंच जाना इसलिए सम्भव है कि नर्क की सीढ़ी भी हम पार कर सकते हैं। प्रकाश इसीलिए पाने की आकांक्षा है कि हम अंधेरे में भी हो सकते हैं।

ध्यान रहे, अगर आत्मा के लिए बुरा होने का उपाय ही न हो, तो आत्मा के भले होने में बिल्कुल ही नपुंसकता, इम्पोटेन्सी हो जाएगी। विपरीत की सुविधा होनी चाहिए। अगर चेतना को भी विपरीत की सुविधा नहीं है, तो चेताना गुलाम है। गुलाम चेतना का क्या अर्थ होता है? उससे तो अचेतन होना, जड़ होना बेहतर है।

यह जो हमारे भीतर छिपा हुआ परमात्मा है, यह परम स्वतन्त्र है, ऐब्सोल्यूट फ्री है। इसलिए शैतान तक को होने का उपाय है और परमात्मा होने की भी सुविधा है। एक छोर से दूसरे छोर तक हम कहीं भी हो सकते हैं और जहां भी हम हैं, वहां होना हमारी मजबूरी नहीं, हमारा निर्णय है (आवर ओन डिसीजन अगर मजबूरी है, तो बात खत्म हो गई। अगर मैं पापी हूं और पापी होना मजबूरी है, पापी मुझे परमात्मा ने बनाया है या मैं पुण्यात्मा हूं और पुण्यात्मा मुझे परमात्मा ने ही बनाया है, तो मैं पत्थर की तरह हो गया, मुझमें चेतना न रही। मैं एक बनाई हुई चीज हो गया, फिर मेरे कृत्य का कोई दायित्व मेरे ऊपर नहीं है।

कुछ दिन हुए, एक मुसलमान मित्र मुझसे मिलने आए थे। बहुत समझदार व्यक्ति हैं। वृद्ध हैं। वे मुझसे कहने लगे कि मैं बहुत लोगों से मिला हूं, बहुत साधु-संन्यासियों के पास गया हूं, लेकिन कोई हिन्दू मुझे यह नहीं समझा सका कि आदमी पाप में क्यों गिरा। हिन्दू, जैन या बौद्ध, इस भूमि पर पैदा हुए। तीनों धर्म यह मानते हैं कि 'अपने कर्मों के कारण'। उस मुसलमान मित्र का पूछना बिल्कुल ठीक था। वे कहने लगे, अगर आदमी अपने कर्मों के कारण गिरा, तो पहले जन्म में जब उसकी शुरुआत ही हुई होगी, तब तो उसके पहले कोई कर्म नहीं थे। ठीक है, जब पहला ही जन्म हुआ होगा चेतना का, तब तो वह निष्कपट, शुद्ध पैदा हुई होगी। उसके पहले तो कोई कर्म नहीं थे। इस जन्म में हम कहते हैं कि फलां आदमी बुरा है, क्योंकि पिछले जन्म में बुरे कर्म किए। लेकिन कोई प्रथम जन्म तो मानना ही पड़ेगा। उस प्रथम जन्म के पहले तो कोई बुरे कर्म नहीं हुए, फिर बुरे कर्म आ कैसे गए?

मैंने उन मुसलमान मित्र से कहा कि यह बात बिल्कुल तर्कयुक्त है। लेकिन क्या इस्लाम और ईसाइयत जो उत्तर देते हैं उन पर आपने विचार किया? उन्होंने कहा, वह ज्यादा ठीक मालूम पड़ता है कि ईश्वर ने आदमी को बनाया, जैसा चाहा वैसा बनाया। तो मैंने कहा, यहीं थोड़ी-सी बात समझनी है। इस देश में पैदा हुआ कोई भी धर्म ईश्वर पर जिम्मेवारी नहीं डालना चाहता, मनुष्य पर डालना चाहता है। यह मनुष्य की गरिमा की स्वीकृति है। रिस्पौंसिबिलिटी इज ऑन मैन, नॉट ऑन गॉड। ध्यान रहे, गरिमा तभी है, जब दायित्व हो।

अगर दायित्व नहीं है—अगर मैं बुरा हूं तो परमात्मा ने बनाया, भला हूं तो परमात्मा ने बनाया. जैसा हूं परमात्मा ने बनाया—तो सारी जिम्मेवारी परमात्मा की हो जाती है। और तब और भी उलझन खड़ी होगी कि परमात्मा को बुरा आदमी बनाने में क्या रस हो सकता है? और परमात्मा ही अगर बुरा बनाता है, तो हमारी अच्छे बनने की कोशिश परमात्मा के खिलाफ पड़ती है। परमात्मा आदमी को बुरा बनाता है और तथाकथित साधु-संन्यासी आदमी को अच्छा बनाते हैं, यह तो मुश्किल है।

गुरजिएफ कहा करता था कि दुनिया के सब महात्मा परमात्मा के खिलाफ मालूम पड़ते हैं, दुश्मन मालूम पड़ते हैं। वह आदमी को बुरा बनाता है या जैसा भी बनाता है, फिर आप कौन हैं सुधारने वाले! कर्म का सिद्धान्त कहता है, व्यक्ति पर जिम्मेवारी है, लेकिन व्यक्ति पर जिम्मेवारी तभी हो सकती है जब व्यक्ति स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता के साथ दायित्व है—फ्रीडम इम्प्लाइज रिस्पौंसिबिलिटी। अगर स्वतन्त्रता नहीं है, तो दायित्व बिल्कुल नहीं है। अगर स्वतन्त्रता है, तो दायित्व है। लेकिन हमारी स्वतन्त्रता द्विमुखी है। हम दोनों तरफ की स्वतन्त्रता चाहते हैं—कर्म की स्वतन्त्रता और दायित्य से स्वतन्त्रता।

मुल्ला नसरूद्दीन का बेटा जब बड़ा हो गया, तो मुल्ला ने उससे कहा, बेटा तिजोरी तेरी है, चाभी भर मेरे पास रहेगी। ऐसे तू जितना भी खर्च करना चाहे, खर्च कर सकता है, लेकिन ताला भर मत खोलना। स्वतन्त्रता पूरी दी जा रही मालूम पड़ती है पर जरा भी नहीं दी जा रही है।

मैंने एक मजाक सुना है कि जब पहली दफा फोर्ड ने कारें बनाईं, पहली दफा मोटरें बनी अमरीका में तो एक ही रंग की बनाईं, काले रंग की। और फोर्ड ने अपने दरवाजे पर, अपनी फैक्ट्री में, एक वचन लिख छोड़ा था—यू कैन चूज एनी कलर प्रोवाइडेड इट इज ब्लैक। आप कोई भी रंग चुन सकते हैं, अगर वह काला है। काले रंग की कुल गाड़ियां ही थीं, कोई दूसरे रंग की तो गाड़ियां थीं नहीं, लेकिन स्वतन्त्रता पूरी थी; आप कोई भी रंग चुन लें। बस, काला होना चाहिए। इतनी शर्त थी पीछे।

अगर आदमी से परमात्मा यह कहे कि यू आर फ्री प्रोवाइडेड यू आर गुड; आप स्वतन्त्र हैं, अगर आप अच्छे हैं—तो स्वतन्त्रता दो कौड़ी की हो गई। स्वतन्त्रता का अर्थ ही यही होता है कि हम बुरे होने के लिए भी स्वतन्त्र हैं। और जब स्वतन्त्रता हो, तभी दायित्व है। तब फिर जिम्मा मेरा है, अगर मैं बुरा हूं, तो मैं जिम्मेवार हूं। और अगर भला हूं, तो मैं जिम्मेवार हो जाता हूं। जिम्मेवारी मुझ पर पड़ जाती है।

फिर भारत यह भी कहता है कि परमात्मा हमसे बाहर नहीं है। वह हमारे भीतर छिपा है। इसलिए हमारी स्वतन्त्रता अन्ततः उसकी ही स्वतन्त्रता है। इसे

और समझ लेना चाहिए। क्योंकि परमात्मा अगर बाहर बैठा हो हमसे और हमसे कहे कि 'आई गिव यू फ्रीडम', मैं तुम्हें स्वतन्त्रता देता हूं, तो भी वह परतन्त्रता हो जाएगी, क्योंकि किसी दूसरे के द्वारा दी गई स्वतन्त्रता कभी स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि वह किसी भी दिन कैंसिल कर सकता है। वह किसी भी दिन कह देगा, अच्छा, बस बन्द। इरादा बदल दिया है। अब स्वतन्त्रता नहीं देते। तब हम क्या करेंगे? नहीं, स्वतन्त्रता अत्यांतिक है, अल्टीमेट है, क्योंकि देने वाला और लेने वाला दो नहीं है। वह हमारे भीतर ही बैठी हुई चेतना परम स्वतन्त्र है, क्योंकि वही परमात्मा है। वह जो अन्तरस्थ आकाश है, वही परमात्मा है। परमात्मा को भी अगर बुरे होने की सुविधा न हो तो परमात्मा की परतन्त्रता के अतिरिक्त और क्या घोषणा होगी। इसलिए मन पैदा हो सकता है। वह हमारा पैदा किया हुआ है। वह परमात्मा का पैदा किया हुआ नहीं है।

एक और बात ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि जीवन के प्रगाढ़ अनुभव के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य हो जाता है। प्रौढ़ता के लिए, मैच्योरिटी के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य होता है। जिसने दुख नहीं जाना, वह सुख कभी जान नहीं पाता। जिसने अशांति नहीं जानी, वह शांति भी कभी नहीं जान पाता। जिसने संसार नहीं जाना, वह स्वयं परमात्मा होते हुए भी परमात्मा को नहीं जान पाता। परमात्मा की पहचान के लिए संसार की यात्रा पर जाना अनिवार्य है। अनिवार्य है, उससे कोई बचाव नहीं है। और जो जितना गहरा संसार में उतर जाता है, उतने ही गहन परमात्मा के स्वरूप को अनुभव कर पाता है। उसे उतरने का भी प्रयोजन है।

कोई चीज जो हमारे पास सदा से हो, उसका हमें तब तक पता नहीं चलता, जब तक वह खो न जाए। खोने पर ही पता चलता है। मेरे पास कुछ था, इसका अनुभव भी खोने पर पता चलता है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा है। खोना भी ठीक से पाने का उपाय है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा, अनिवार्य अंग है। जो हमारे भीतर छिपा है, उसे अगर हमें ठीक-ठीक अनुभव करना हो, तो हमें उसे खोने की ही यात्रा पर जाना पड़ता है।

लोग कहते हैं कि जब तक कोई परदेश नहीं जाता, तब तक अपने देश को नहीं पहचान पाता। वे ठीक कहते हैं। कहते हैं कि जब तक दूसरों से कोई परिचित नहीं होता, तब तक अपने से परिचित नहीं हो पाता। 'ईवन द वे टु वनसेल्फ पासेस थ्रू द अदर'? जॉनपाल सार्त्र का बहुत प्रसिद्ध वचन है कि दूसरे को जाने बिना स्वयं को जानने का कोई उपाय नहीं। दूसरे से गुजरना पड़ता है स्वयं की पहचान के लिए। शिक्षक काले ब्लैक बोर्ड पर सफेद खड़िया से लिखता है। सफेद दीवार पर भी लिख सकता है, लिखने में कोई अड़चन नहीं है, लेकिन

तब दिखाई नहीं पड़ेगा। लिखा भी जाएगा और दिखाई भी नहीं पड़ेगा। लिखा तो जाएगा, पढ़ा नहीं जा सकेगा। और ऐसे लिखने का क्या प्रयोजन, जो पढ़ा न जा सके।

मैंने सुना है कि एक आदमी सुबह-सुबह मुल्ला नसरूद्दीन के द्वार पर आया। नसरूद्दीन गांव में अकेला ही पढ़ा-लिखा आदमी था। जहां एक ही आदमी पढ़ा-लिखा होता है, समझ लेना चाहिए, पढ़ा-लिखा कितना होगा! उस आदमी ने कहा, जरा एक चिट्ठी लिख दो मुल्ला। मुल्ला ने कहा, मेरे पैर में बहुत दर्द हैं, मैं न लिख सकूंगा। उस आदमी ने कहा, हद हो गई। कभी हमने सुना नहीं कि लोग पैर से चिट्ठी लिखते हैं। हाथ से लिखो। पैर में दर्द हैं, हाथ में क्या अड़चन है? नसरूद्दीन ने कहा, यह जरा रहस्य की बात है, यह न पूछो तो अच्छा। हम लिख न सकेंगे, चिट्ठी हम न लिखेंगे, पैर में बहुत तकलीफ है। उस आदमी ने कहा, जरा रहस्य ही बता दें। बात क्या है, मेरी समझ में नहीं आता। नसरूद्दीन ने कहा, बात यह है कि हमारी लिखी चिट्ठी हमारे सिवा और कोई नहीं पढ़ पाता। फिर दूसरे गांव की यात्रा करने की अभी हमारी हैसियत नहीं। पैर में तकलीफ बहुत है। जो पढ़ा ही न जा सके उसके लिखने का क्या फायदा; इसलिए हाथ तो फुर्सत में है। लेकिन पढ़ेगा कौन?

सफेद दीवार पर हम लिख तो सकते हैं, लेकिन पढ़ा नहीं जा सकता। और जो पढ़ा नहीं जा सकता, वैसा लिखने का कोई अर्थ नहीं। इसलिए काले ब्लैक बोर्ड पर लिखना पड़ता है। उस पर दिखाई पड़ता है। आकाश पर जब काले बादल होते हैं, तो कौंधती बिजली साफ दिखाई पड़ती है। भीतर जो छिपा है परमात्मा, उसके अनुभव के लिए पदार्थ की गहनता में उतरना अनिवार्य है। संन्यास को भी जानने के लिए गृहस्थ हुए बिना कोई मार्ग नहीं। सत्य को भी जानने के लिए असत्य के रास्तों से गुजरना पड़ता है। और इसे जब कोई अनिवार्यता समझता है और इस रहस्य को समझ जाता है तो फिर जिस असत्य से गुजरा, उसके प्रति भी धन्यवाद मन में उठता है। क्योंकि उसके बिना सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता था। जिस पाप से गुजर कर पुण्य तक पहुंचे, उस पाप की भी अनुकम्पा ही मालूम होती है, क्योंकि उसके बिना पुण्य तक नहीं पहुंचा जा सकता था।

बोधिधर्म इस पृथ्वी पर दस-पांच लोगों में एक है, जिसने गहनतम सत्य के अनुभव को जाना। बोधिधर्म ने कहा है मरने के क्षण में, कि संसार, तेरा धन्यवाद। क्योंकि तेरे बिना निर्वाण को जानने का कोई उपाय नहीं। शरीर, तुझे धन्यवाद, क्योंकि तेरे बिना आत्मा को पहचानने की सुविधा भी नहीं। पाप, तुम्हारी अनुकम्पा मुझ पर है, क्योंकि तुमसे गुजर कर मैं पुण्य के शिखर तक पहुंचा। तुम सीढ़ियां थे। तब जीवन विपरीत रहकर भी विपरीत नहीं रह जाता। तब जीवन विपरीत होकर भी एक रस हो जाता है और विपरीत में भी एक हॉर्मनी और एक

संगीत उत्पन्न हो जाता है। संगीत पैदा होता है विभिन्न स्वरों से। और अगर संगीत के किसी स्वर को बहुत उभारना हो, तो उसके पहले बहुत धीमा स्वर पैदा करना पड़ता है। तब उभर कर संगीत प्रगट होता है।

सब अभिव्यक्ति विपरीत के साथ हैं, इसलिए चेतना मन को पदा करती है। यह चेतना का ही काम है। चेतना ही बाहर जाती है। बाहर ही भटक-भटक कर उसे पता चलता है कि बाहर कुछ नहीं है। तब चेतना भीतर वापस आती है और ध्यान रहे, जो चेतना कभी बाहर नहीं गई उस चेतना में और जो चेतना बाहर भटक कर भीतर आती है उसमें 'रिचनेस' का, समृद्धि का बहुत फर्क है। इसलिए जब पापी कभी पुण्यात्मा होता है, तो उसके पुण्य की जो गहराई है, वह साधारण आदमी के पुण्य की गहराई नहीं होती, जो कभी पापी नहीं हुआ। क्योंकि पापी बहुत जानकर पुण्य तक पहुंचता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अच्छे आदमी की कोई जिन्दगी नहीं होती। अगर आप नाटककारों से पूछें, उपन्यासकारों से पूछें, फिल्म-कथा लिखने वालों से पूछें, तो वे कहेंगे कि अच्छे आदमी पर तो कोई कथा ही नहीं लिखी जा सकती। अगर आदमी बिल्कुल अच्छा हो, तो कोरा सपाट होता है। रामायण में से राम को छोड़ने में बहुत असुविधा नहीं है, रावण को छोड़ने में सब कथा गड़बड़ हो जाती है, क्योंकि राम के बिना चल सकता है, रावण के बिना नहीं चल सकता। कोई कितना ही कहे कि राम नायक हैं, पर जो कथा लिखना जानते हैं, वे कहेंगे, रावण नायक है, क्योंकि सारी कथा उसके इर्द-गिर्द घूमती है। अगर राम भी प्रखर होकर प्रकट होते हैं, तो रावण के सहारे और रावण के कन्धे पर। रावण के बिना राम भी सफेद दीवार पर खींची गई सफेद रेखा हो जाएंगे। वह काला ब्लैक बोर्ड तो रावण है। लेकिन स्कूल में शिक्षक जब काले ब्लैक बोर्ड पर लिखता है, तो बच्चे ब्लैक बोर्ड का विरोध नहीं करते। वे जानते है कि सफेद रेखा उसी पर उभरती है। लेकिन जब रावण के ब्लैक बोर्ड पर राम उभरते हैं, तो हम नासमझ विरोध करते हैं कि रावण को नहीं होना चाहिए। रावण को दुनिया से मिटा दो। जिस दिन आप रावण को दुनिया से मिटा देंगे, उस दिन राम तिरोहित हो जाएंगे। वह कहीं खोजने से भी नहीं मिलेंगे।

जीवन विपरीत स्वरों के बीच एक सामंजस्य है। चेतना ही पैदा करती है मन को। चेतना ही विचार को पैदा करती है, ताकि निर्विचार को जान सके। परमात्मा ही संसार को बनाता है, ताकि स्वयं को अनुभव कर सके। यह आत्म-अन्वेषण की यात्रा है। इसमें भटकना जरूरी है।

इस कहानी को मैं निरन्तर कहता रहा हूं। एक गांव के बाहर एक आदमी अपने घोड़े से उतरा। झाड़ के पास बैठे नसरूद्दीन के सामने उसने अपने हाथ की झोली

पटकी, और कहा कि करोड़ों के हीरे-जवाहरात इस झोली में हैं। इसे मैं लेकर घूम रहा हूं गांव-गांव। मुझे कोई रत्ती भर भी सुख दे, दे तो मैं यह सब हीरे उसे सौंप दूं, लेकिन अब तक मुझे कोई रत्ती भर सुख नहीं दे पाया।

नसरूद्दीन ने पूछा, क्या तुम बहुत दुखी हो ? उसने कहा, मुझसे ज्यादा दुखी कोई और नहीं हो सकता। तभी तो मैं रत्ती भर सुख के लिए करोड़ों के हीरे देने को तैयार हूं। नसरूद्दीन ने कहा, तुम ठीक जगह आ गए हो, बैठो। वह जब तक बैठा, तब तक नसरूद्दीन उसकी थैली लेकर भाग खड़ा हुआ। वह आदमी स्वभावत: नसरूद्दीन के पीछे चिल्लाता हुआ भागा कि मैं मर गया, मैं मर गया। यह आदमी डाकू है, यह लुटेरा है। किसी ने कहा कि यह फकीर है, किसी ने कहा कि यह ज्ञानी है। लेकिन गांव के गली-कूचे नसरूद्दीन के परिचित थे। उसने काफी चक्कर खिलाए। पूरा गांव जग गया। सारा गांव दौड़ने लगा। करोड़ों का मामला था। नसरूद्दीन आगे और वह धनपति छाती पीटता हुआ जोर-जोर से चिल्ला रहा है कि मेरी जिन्दगी भर की कमाई वही है। मैं सुख खोजने निकला हूं, और यह दुष्ट मुझे दुख दिए दे रहा है।

भाग कर नसरूद्दीन उसी झाड़ के पास पहुंच गया, जहां उसका घोड़ा खड़ा था। झोला घोड़े के पास रखकर वह उस झाड़ के पीछे खड़ा हुआ। दो क्षण बाद ही अमीर भागा हुआ पहुंचा, पूरा गांव भागा हुआ पहुंचा। अमीर ने झोला पड़ा हुआ देखा, उठाकर छाती से लगा लिया और कहा, हे परमात्मा, तेरा बड़ा धन्यवाद है। नसरूद्दीन ने झाड़ के पीछे से पूछा, कुछ सुख मिला ? पाने के लिए खोना जरूरी है। उस आदमी ने कहा, कुछ ? कुछ नहीं, बहुत मिला। इतना सुख मैंने जीवन में जाना ही नहीं। नसरूद्दीन ने कहा, अब तू जा। नहीं तो इससे ज्यादा अगर मैं सुख दूंगा, तो तुम मुसीबत में पड़ सकते हो। अब तू एकदम चला जा।

पाने के लिए खोना बहुत जरूरी है। असली सवाल यह नहीं है कि हमने क्यों अपने को खोया। असली सवाल यह है कि या तो हमने पूरा अपने को नहीं खोया या हम खोने के इतने अभ्यासी हो गए कि लौटने के सब रास्ते टूट गए मालूम पड़ते हैं। असली सवाल यह नहीं है कि क्यों हमने खोया। खोना अनिवार्य है। असली सवाल यह है कि कब तक हम खोए रहेंगे ? इसलिए बुद्ध से अगर कोई पूछता था कि यह आदमी अंधकार में क्यों गिरा। तो बुद्ध कहते, व्यर्थ की बातें मत करो। अगर पूछना हो तो यह पूछो कि अंधकार के बाहर कैसे जाया जा सकता है। यह संगत सवाल है। बुद्ध कहते थे, इस बेकार की बातचीत में मुझे मत खींचो कि आदमी अन्धकार में क्यों गिरा ? वह तुम बाद में खोज लेना। अभी तुम मुझसे यह पूछ लो कि प्रकाश कैसे मिल सकता है ?

बुद्ध कहते कि तुम उस आदमी-जैसे हो, जिसकी छाती में जहरीला तीर घुसा हो और मैं उसकी छाती से तीर खींचने लगूं तो वह आदमी कहे कि रुको, पहले यह

बताओ कि यह तीर किसने मारा ? पहले यह बताओ कि यह तीर पूरब से आया कि पश्चिम से ? और पहले यह बताओ कि यह तीर जहर-बुझा है या साधारण है ? तो बुद्ध कहते, मैं उस आदमी से कहता कि यह सब तुम पीछे पता लगा लेना, अभी मैं तीर को खींचकर बाहर निकाल दे रहा हूं। लेकिन वह आदमी कहता है कि जब तक जानकारी पूरी न हो, तब तक कुछ भी करना क्या उचित है ?

यह फिक्र मत करें कि मन कैसे पैदा हुआ ? यह फिक्र करें कि मन कैसे विसर्जित हो सकता है। और ध्यान रहे, बिना विसर्जन किए आपको कभी पता न चलेगा कि कैसे इसका सर्जन किया। उसके कारण हैं। उसके कारण हैं, क्योंकि सर्जन किए अनन्त काल बीत गया। इस स्मृति को खोजना आज आपके लिए आसान नहीं होगा। रास्ता है। अगर आप लौटें अपने पीछे जन्मों में। लौटते जाएं, लौटते जाएं। आदमी के जन्म चुक जाएंगे, पशुओं के जन्म होंगे। पशुओं के जन्म चुक जाएंगें, मकोड़ों के जन्म होंगे। कीड़े मकोड़ों के जन्म चुक जाएंगे, पौधों के जन्म होंगे। पौधों के जन्म चुक जाएंगे, पत्थरों के जन्म होंगे। लौटते जाएं उस जगह जहां पहले दिन आपकी चेतना सक्रिय हुई और मन का निर्माण शुरू हुआ। लेकिन वह बड़ी लम्बी यात्रा है और अति कठिन है। इसमें मत पड़ें कि यह मन कैसे बना। हां, लेकिन एक सरल उपाय है कि इस मन को विसर्जित करें। और विसर्जन को अभी आप देख सकते हैं। और जब आप विसर्जन को देख लेंगे तो आप जान जाएंगे कि विसर्जन की जो प्रक्रिया है उससे उलटी प्रक्रिया सर्जन की है।

बुद्ध एक दिन अपने भिक्षुओं के बीच सुबह जब बोलने गए, तो उनके हाथ में एक रेशम का रूमाल था। बैठकर उन्होंने उस पर पांच गांठें लगाईं। भिक्षु बड़े चिन्तित हुए क्योंकि बुद्ध कभी कुछ हाथ में लेकर न आते थे। रेशम का रूमाल क्यों ले आए और फिर बोलने की जगह बैठकर उस पर गांठें लगाने लगे। बड़ी उत्सुकता, बड़ी आतुरता हो गई। क्या कोई जादू दिखाने का ख्याल है ? क्योंकि जादूगर रूमाल वगैरह लेकर आते हैं। बुद्ध से क्या रूमाल लेकर आने की बात ? लेकिन बुद्ध ने शांति से, सन्नाटे में पांच गांठें लगाईं और फिर उन्होंने कहा भिक्षुओ, रूमाल में गांठें लग गईं। मैं तुमसे दो सवाल पूछना चाहता हूं। एक तो यह कि जब रूमाल में गांठें नहीं लगी थीं तब के रूमाल में, और जब रूमाल में गांठें लग गई हैं, अब के रूमाल में क्या कोई स्वरूपगत फर्क है ? एक भिक्षु ने कहा, स्वरूपगत तो फर्क बिल्कुल नहीं है, रूमाल वही का वही है। जरा भी, इंच भर भी तो रूमाल के स्वरूप में फर्क नहीं है, लेकिन आप हमें फंसाने की कोशिश कर रहे हैं। फर्क हो गया, क्योंकि तब रूमाल में गांठें न थीं और अब गांठें हैं। लेकिन फर्क बहुत ऊपरी है, क्योंकि गांठें रूमाल के स्वभाव पर नहीं लगतीं, केवल

शरीर पर लगती हैं।

संसार और निर्वाण में इतना ही फर्क है। निर्वाण में भी वही स्वरूप होता है, जो संसार में। सिर्फ संसार में रूमाल पर पांच गांठें होती हैं। बुद्ध ने कहा, भिक्षुओ, यह तो रूमाल है गांठ लगा हुआ, ऐसे ही तुम हो। तुममें और मुझमें बहुत फर्क नहीं। स्वरूप एक-जैसा है। सिर्फ तुम पर कुछ गांठें लगी हैं।

बुद्ध ने कहा, इन गांठों को मैं खोलना चाहता हूं। उस रूमाल को पकड़ कर बुद्ध ने खींचा। स्वभावतः खींचने से गांठें और मजबूत हो गईं। एक भिक्षु ने कहा, आप जो कर रहे हैं, इससे गांठें खुलेंगी नहीं, खुलना और मुश्किल हो जाएगा। बुद्ध ने कहा, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक गांठों को ठीक से न समझ लिया जाए, तब तक खींचना खतरनाक है। हम सब गांठों को खींच रहे हैं बिना समझे कि गांठें कैसे लगी हैं।

एक भिक्षु से बुद्ध ने कहा, तो मैं क्या करूं? उस भिक्षु ने कहा, जानना जरूरी है कि गांठ कैसे लगी। तभी गांठ को खोला जा सकता है, क्योंकि लगने का जो ढंग है, उससे विपरीत खुलने का ढंग होगा। बुद्ध ने कहा, गांठें अभी लगी हैं, इसलिए तुम्हारे ख्याल में है कि कैसे लगीं, लेकिन गांठें अगर बहुत काल पहले लगी होतीं, तो तुम कैसे पता लगाते कि गांठें कैसे लगीं। लग चुकीं। तब उस भिक्षु ने कहा, तब तो हम खोलकर ही पता लगाते। खोलने से पता लग जाएगा। क्योंकि खोलने का जो ढंग है, उसका उल्टा ढंग लगने का होगा।

तो आप इस फिक्र में न पड़ें कि यह मन कैसे पैदा हुआ, आप इस फिक्र में पड़ें कि यह मन कैसे चला जाए। जिस क्षण चला जाएगा, उसी क्षण आप जानेंगे कि कैसे पैदा हुआ था। जो विसर्जन करता है, वह सर्जन करने वाला है और जो विसर्जन कर सकता है, वह सर्जन कर सकता था। विसर्जन की जो प्रक्रिया है, उससे उल्टी प्रक्रिया सर्जन की है।

ऋषि कहता है, 'शुद्ध परमात्मा ही उनका आकाश है।' यही महा-सिद्धान्त है। जब भीतर का आकाश बादलरहित, मेघरहित, विचाररहित, मनरहित हो जाता है, तभी परमात्मा का पता चलेगा। जब आकाश में बादल घिर जाते हैं, तो बादलों का पता चलता है, आकाश का पता नहीं चलता। हालांकि आकाश मिट नहीं गया होता। सदा बादलों के पीछे खड़ा रहता है। बादल भी आकाश में ही होते हैं, आकाश के बिना नहीं हो सकते। लेकिन जब बदलियों से घिरा होता है आकाश, तो बदलियों का पता चलता है, आकाश का पता नहीं चलता। विचारों से और मन से घिरे हुए होने पर भीतर के आकाश का पता नहीं चलता।

डेविड ह्यूम ने कहा है कि ये बातें सुनकर कि भीतर भी कोई है, मैं बहुत बार खोजने गया, लेकिन जब भी भीतर गया, तो मुझे कोई आत्मा न मिली, कोई परमात्मा न मिला। कभी कोई विचार मिला, कभी कोई वासना मिली, कभी कोई

वृत्ति मिली, कभी कोई राग मिला लेकिन आत्मा कभी भी न मिली। वह ठीक कहता है। अगर आप हवाई जहाज को उड़ाएं, या अपने पंखों को फैलाएं आकाश की तरफ और बदलियां आपको मिलें और बदलियों की ही खोज करके आप वापस लौट आएं, बदलियों को पार न करें, तो लौटकर आप भी कहेंगे, आकाश कोई भी न मिला। बदलियां ही बदलियां थीं, धुआं ही धुआं था, बादल ही बादल थे, कहीं कोई आकाश न था। अपने भीतर भी हम सिर्फ बदलियों तक जाकर लौट आते हैं। उनके पार प्रवेश नहीं हो पाता। जब तक उनके पार प्रवेश न हो, तब तक अन्तर आकाश का अनुभव न हो सकेगा। जैसे आप कभी हवाई जहाज पर बादलों के ऊपर उड़े हों, और बादल नीचे छूट जाते हैं, वैसे ही ध्यान में भी उड़ान होती है, जब विचार नीचे छूट जाते और आप ऊपर हो जाते हैं, तब अन्दर का खुला आकाश मिलता है। इसे ऋषि कहता है, महा-सिद्धान्त। क्योंकि इस पर सब कुछ निर्भर है।

ऋषि ने कहा है, शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना चतुराई है। मनुष्य के पास शक्तियां हैं। मनुष्य के पास शक्तियां तो जरूर हैं, लेकिन समझ जागी हुई नहीं है। इसलिए शक्तियों का दुरुपयोग होता है। शक्ति के साथ समझ न हो, तो खतरनाक है। हां, समझ के साथ शक्ति न हो, तो कोई खतरा नहीं। लेकिन होता ऐसा है कि समझ के साथ अक्सर शक्ति नहीं होती और नासमझी के साथ अक्सर शक्ति होती है। इस दुनिया का दुर्भाग्य यही है कि नासमझों के हाथ में काफी शक्ति होती है। उसका कारण है कि नासमझ शक्ति की ही तलाश करते हैं। समझदार तो शक्ति की तलाश बन्द कर देते हैं।

नीत्से ने अपने जीवन का सार-सिद्धान्त जिस किताब में लिखा है, उसका नाम है, 'द विल टु पावर', (शक्ति को खोजने की वासना, आकांक्षा, अभीप्सा, संकल्प)। नीत्से कहता है, इस जगत् में पाने योग्य एक ही चीज है, वह है शक्ति, पावर। नीत्से कहता है, कोई सुख पाना नही चाहता। सब लोग शक्ति पाना चाहते हैं। और जब शक्ति मिलती है, तब सुख एक बाय-प्रोडक्ट है। और शक्ति पाने के लिए आदमी कितने दुख उठा लेता है। अनंत दुख उठाने को राजी हो जाता है।

नीत्से की बात, जहां तक साधारण आदमी का सवाल है, सौ प्रतिशत सही है। आपको जब भी सुख का अनुभव हुआ है, वह वही क्षण है, जब आपको शक्ति का अनुभव हुआ है। अगर चार आदमी की गर्दन आपकी मुट्ठी में है, तो आपको बड़ा सुख मालूम पड़ता है। राष्ट्रपतियों को, प्रधानमंत्रियों को कौन-सा सुख मालूम पड़ता होगा? कितने आदमियों की गर्दन है उनकी मुट्ठी में। प्रधानमन्त्री पद

से नीचे उतर जाता है तो ऐसी हालत हो जाती है क्रीज मिट गई हो कपड़े की। सब लुंज-पुंज हो जाता है। जान निकल जाती है, रीढ़ टूट जाती है, बिना रीढ़ के सरकने वाले पशु-जैसी हालत हो जाती है। कोई रीढ़ नहीं रह जाती। यही आदमी राजसिंहासन पर ऐसा रीढ़ वाला मालूम पड़ता था, लेकिन वह रीढ़ इसकी नहीं थी, वह सिंहासन के पीछे की हड्डी है, इसकी अपनी हड्डी नहीं है।

धन पाकर आदमी को क्या मिलता होगा ? और उस धन को पाकर जिससे कुछ खरीदने को नहीं बचता, क्या मिलता होगा ? धन पोटेंशियल पावर है। एक रुपया मेरी जेब में पड़ा है, तो बहुत चीजें पड़ी हैं एक साथ। चाहूं तो एक आदमी से रात भर पैर दबवा लूं। चाहूं तो एक आदमी से कहूं कि रात भर कहते रहो, हुजूर, हुजूर, तो वह हुजूर, हुजूर कहता रहेगा। इस एक रुपए में बहुत कुछ, बहुत शक्ति छिपी है। इसलिए रुपया जेब में होता है, तो भीतर आत्मा मालूम पड़ती है कि मैं भी हूं। क्योंकि अभी कुछ भी करवा लूं। जेब में रुपया नहीं होता है, तो भीतर से आत्मा सरक जाती है। हालत उल्टी होती है, कि जिसकी जेब में रुपया है, वह मुझसे कुछ करवा ले।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन पर, एक अंधेरे रास्ते पर, चार चोरों ने हमला कर दिया। मुल्ला ऐसा लड़ा जैसा कोई लड़ सकता था। चारों को परास्त कर दिया। वे भी चार थे, चारों की हड्डी-पसली तोड़ दी। मुश्किल से वे चार मुल्ला पर कब्जा पा सके। जेब में हाथ डाला, तो केवल एक अठन्नी निकली। उन्होंने नसरुद्दीन से कहा, भई, अगर रुपया तेरी जेब में होता, तो आज हम जिन्दा न बचते। हद कर दी तूने भी। अठन्नी के पीछे ऐसी मार-काट मचाई ! और हम इसलिए सहते गए और लड़ते चले गए कि तेरी मार-पीट से ऐसा लगा कि बहुत माल होगा। मुल्ला ने कहा, सवाल बहुत माल का नहीं है। आई कैन नॉट एक्पोज माई फाइनेंसियल कण्डीशन टु टोटल स्ट्रैंजर्स। अपनी माली हालत मैं बिल्कुल अजनबी लोगों के सामने प्रकट नहीं कर सकता। अठन्नी ही है, लेकिन इससे माली हालत खराब हो गई न ! तुम चार आदमियों के सामने पता चल गया कि अठन्नी है। सब बात ही खराब हो गई। इसलिए लड़ा। अगर मेरी जेब में लाख दो लाख रुपए होते, तो लड़ता ही नहीं। कहता निकाल लो।

माली हालत पावर है, सम्बल है। धन चाहते हैं शक्ति से, पद चाहते हैं शक्ति से। लेकिन नीत्से को पता नहीं है कि कुछ लोग हैं जो शक्ति नहीं चाहते, शान्ति चाहते हैं। बहुत थोड़े हैं, न्यून हैं। ऐसा कभी कोई ऋषि होता है, जो शांति चाहता है। और जो शांति चाहता है, उसे समझ मिलती है और जो शक्ति चाहता है, वह नासमझ होता चला जाता है। इसलिए इस दुनिया में शक्तिशाली लोगों से ज्यादा नासमझ और स्टुपिड (मूढ़) आदमी खोजना कठिन है। चाहे वह हिटलर हो, चाहे माओ हो और चाहे निक्सन हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। असल में

शक्ति की खोज ही मूढ़ता है। उससे कुछ मिलने वाला नहीं। उससे सिर्फ दूसरे को दबाने की सुविधा मिलती है, अपने को पाने की नहीं। दूसरे को मैं कितना ही दबाऊं, इससे क्या हल होता है ? समझदार खोजता है शांति, शक्ति नहीं। शांति में समझ का फूल खिलता है।

यह दुर्भाग्य है कि जिनके पास समझ होती है, उनके पास शक्ति नहीं होती; जिनके पास शक्ति होती है, उनके पास समझ नहीं होती। यह इतिहास की दुर्घटना है। इससे हम पीड़ित हैं। क्योंकि समझदार राह के किनारे खड़ा रहता है और बुद्धू राजसिंहासनों पर चढ़ जाते हैं। फिर उपद्रव होने ही वाला है। यह जो सारा उपद्रव है, उसका कारण यही है। यह उपद्रव मिट नहीं सकता। क्योंकि शक्ति मिलते ही, जिसके पास बुद्धि नहीं है, वह भी शक्ति की गर्मी में बुद्धिमान मालूम पड़ने लगता है। वह भी बुद्धिमानी की बातें करने लगता है।

सुना है मैंने कि नसरुद्दीन एक सम्राट् के घर सेवक हो गया था। भोजन के लिए पहले ही दिन बैठा था, तो सम्राट् ने कहा, देखो, यह सब्जी कैसी बनी है ? नसरुद्दीन ने कहा, यह सब्जी, यह अमृत है। रसोइए ने सुना, दूसरे दिन भी वही सब्जी बना लाया। सम्राट् थोड़ा बेचैन हुआ, लेकिन नसरुद्दीन उसकी तारीफ हांके जा रहा था कि बिल्कुल अमृत है। इसको जो खाता है, वह कभी मरता ही नहीं। सम्राट् किसी तरह खा गया। रसोइए ने तारीफ सुनी। तीसरे दिन फिर बना लाया। सम्राट् ने कहा, हटाओ इस अमृत को यहां से। यह मरने के पहले ही मुझे मार डालेगा। हाथ मारकर उसने थाली नीचे पटक दी। नसरुद्दीन ने कहा, हुजर, यह बिल्कुल जहर है। इससे सावधान रहना। सम्राट् ने कहा, तू आदमी कैसा है ? तू दो दिन तक अमृत कहता रहा, अब जहर कहने लगा ? उसने कहा, मैं सब्जी का गुलाम नहीं, आपका गुलाम हूं। 'यू पे मी', तुम मुझे तनख्वाह देते हो, सब्जी मुझे तनख्वाह नहीं देती। जब तुम खा रहे थे तो अमृत थी, जब तुम फेंक रहे हो, तो जहर है। हमें क्या लेना-देना है। न हम खा रहे हैं, न हम फेंक रहे हैं।

जिसके हाथ में ताकत है, उसके आस-पास ऐसे लोग इकट्ठे हो जाते हैं, जो कहते हैं, आप ईश्वर हैं।

हिटलर ने एक नाटक मण्डली में काम करने वाले एक अभिनेता को पकड़वा कर बुलवाया। वह वहां मजाक का काम करता था। नाट्य मण्डली में मसखरे का काम करता था। जर्मनी में जब हिटलर ताकत में था, तो 'हेल हिटलर, की जय हो, वह महामंत्र था। जर्मनी का वह गायत्री मंत्र-जैसा था। यह जो अभिनेता था, मसखरा, यह मंच पर आकार कहता था 'हेल···? और फिर कहता, 'क्या नाम है उस नालायक का ? इतना ही कहकर रुक जाता। 'हेल···क्या नाम है उस मूर्ख

का !' सारे लोग समझ तो जाते थे कि 'हेल' के बाद 'हिटलर' होना चाहिए क्योंकि इसमें कोई शक तो था नहीं। पूरा हॉल हंसता।

हिटलर ने उसको बुलवा लिया। उसने कहा, तूने मेरा व्यंग्य किया ? उसने कहा, मैंने कभी जिन्दगी में आपका नाम ही नहीं लिया। मैं तो सिर्फ इतना ही कहता हूं, 'हेल ! क्या नाम है उस मूर्ख का ?' इससे ज्यादा मैंने कभी कुछ कहा नहीं। उसको जेल में डाल दिया गया, वह जेल में सड़ा और मरा, क्योंकि शक्ति के अन्धे लोग व्यंग्य भी तो नहीं समझते। हिटलर की जगह कोई बुद्धिमान होता, तो हंसता, प्रसन्न होता, पुरस्कार देता। भारी चोट पड़ गई। यह जो शक्ति की तलाश है, हिंसक मन की तलाश है।

ऋषि कहता है, शक्तियों का समुचित उपयोग चतुराई है। शक्तियां सब दिव्य हैं। जो भी हैं, सब दिव्य हैं। अगर आज एटम बम हमारे हाथ में है, तो वह भी दिव्य है। उससे विराट शुभ फलित हो सकता है, मंगल की वर्षा हो सकती है। लेकिन दिव्य शक्तियों का सम्यक उपयोग चतुराई, बुद्धिमत्ता, विजडम है। वह 'विजडम' (बुद्धिमत्ता) उस व्यक्ति को ही उपलब्ध होती है, जो अपनी इन्द्रियों, अपनी वासनाओं, अपनी इच्छाओं के पार खड़े होकर देख पाता है, जो अपने मन से दूर होकर देख पाता है। तब बुद्धिमान होता है। बुद्धिमान वही होता है, जो तटस्थ होता है स्वयं से भी। अगर अपने से भी बहुत लगाव है, तो आदमी तटस्थ नहीं हो पाता। तटस्थ होने के लिए अपने मन से भी लगाव नहीं होना चाहिए।

अन्तर-आकाश में जो मन की बदलियों के पार जाता है, वही अपनी शक्तियों का सम्यक उपयोग कर पाता है, बुद्धिमानीपूर्वक उपयोग कर पाता है। शक्तियां हम सबके पास समान हैं—बुद्ध हो या हिटलर, महावीर हो या स्टैलिन, मुहम्मद हो या माओ, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। शक्तियां सबके पास बराबर हैं। लेकिन बुद्धिमानीपूर्ण उपयोग करने की क्षमता सबके पास नहीं दिखाई पड़ती। अधिक लोग अपनी ही शक्तियों के दुरुपयोग में दबते हैं और नष्ट होकर मर जाते हैं। काम-वासना शक्ति है। वह ब्रह्मचर्य बन सकती है, लेकिन व्यभिचार बनकर समाप्त हो जाती है। जो भी हमारे पास है, अगर उसका प्रज्ञापूर्वक उपयोग न हो सके, तो दिव्यशक्ति आत्मघाती हो जाती है। हम उपयोग करने को स्वतन्त्र हैं। कोई कहेगा नहीं कि ऐसा मत करो। हम स्वतन्त्र हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक पेड़ पर बैठा है कालिदास के पोज (मुद्रा) में। काट रहे हैं उसी शाखा को जिस पर बैठे हुए हैं। बिल्कुल गिरने के करीब हैं। नीचे से एक आदमी गुजरता है। वह कहता है, देखो महानुभाव, आप गिर जाएंगे। मुल्ला ने कहा, तुम कोई ज्योतिषी हो ? अभी हम गिरे नहीं, तो तुम भविष्य बता रहे हो और मुफ्त में बता रहे हो। बिना पूछे बता रहे हो। जाओ अपने रास्ते, ज्योतिष में मेरा विश्वास नहीं ! ज्योतिष का कुछ लेना-देना नहीं है। काट रहे थे शाखा,

काटते चले गए, क्योंकि ज्योतिष में उनका भरोसा नहीं था। फिर गिरे तो कहा कि मान गया, आदमी ज्योतिषी था। भागे उस आदमी के पीछे। दूर निकल गया था, दो मील वह आदमी। उसे पकड़ा, पैरों पर गिर पड़े। कहा, जरा हाथ देख कर बता, मेरी मौत कब होगी। उस आदमी ने कहा कि मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूं। मुल्ला ने कहा, अब मैं छोड़ूंगा नहीं। हम समझ गए, भविष्य तू देख लेता है। बताना ही पड़ेगा। उसने कहा, ज्योतिष से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। साधारण आंखों का, छोटी सी-बुद्धि का उपयोग किया है। मुझे कुछ पता नहीं भविष्य का। लेकिन इतना कोई भी कह सकता है कि जिस डाल पर बैठे हो, उसको काटोगे तो गिरोगे, मरोगे।

करीब-करीब हम सभी जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काट रहे हैं। सभी कालिदास के 'पोज' में हैं। यह कालिदास, कहना चाहिए, ऐसा आदमी है जो हम सबके भीतर के टाइप की खबर देता है। हम सब उसी डाल को काटते रहते हैं। पर पता नहीं चलता, क्योंकि डालें सूक्ष्म हैं, काटने का ढंग सूक्ष्म है। एक साधारण वृक्ष पर कोई बैठकर काटता है, तो हमको भी दिख जाता है कि गिरेगा। लेकिन हम सब काट रहे हैं। न हमें उन डालों का पता है, जिन पर हम बैठे हैं; न हमें उन हथियारों का पता है, जिनसे हम काट रहे हैं। न हमें नीचे की गहराई का पता है, जहां हम गिरेंगे और अगर कोई नीचे से कहता हुआ भी निकले कि देखो गिर जाओगे, तो हम उससे कहते हैं, तुम कोई ज्योतिषी हो ? भविष्य बता रहे हो और बिना पूछे बता रहे हो।

हम अपनी शक्तियों के साथ क्या कर रहे हैं ? स्युसाइड, आत्मघात कर रहे हैं। तर्क, एक दिव्य शक्ति है हमारे पास, लेकिन हम करते क्या हैं ? तर्क हमें परमात्मा तक पहुंचा सकता है, अगर हम उसका ठीक उपयोग कर पाएं। लेकिन तर्क का हम उपयोग करते हैं परमात्मा से दूर रहने के लिए, बचने के लिए। हम तर्क का ठीक उपयोग करें जैसा कि सुकरात ने किया। सुकरात ने तर्क का बहुत उपयोग किया। और आखिर में उसने कहा कि तर्क का उपयोग करके मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि तर्क से मैं दोनों ही बातें सिद्ध कर सकता हूं, इसलिए उसके सिद्ध करने का कोई अर्थ नहीं। दोनों ही बातें सिद्ध कर सकता हूं। कह सकता हूं ईश्वर है और सिद्ध कर सकता हूं, और कह सकता हूं ईश्वर नहीं है और सिद्ध कर सकता हूं। ऐसा हुआ है।

मुल्ला नसरुद्दीन को एक आदमी ने चैलेंस कर दिया, चुनौती दे दी कि विवाद होकर रहेगा। तुम बड़े ज्ञानी बने हो। तुम जो बातें कह रहे हो, उसका खंडन किया जाएगा। दिन तय हो गया, भीड़ इकट्ठी हो गई। नसरुद्दीन आया। नसरुद्दीन ने उस आदमी से कहा कि बोलो मेरे खिलाफ। तुम्हें जो कहना है, कहो। उस आदमी

ने नसरूद्दीन का खूब खण्डन किया। जो-जो नसरूद्दीन के विचार थे, उनको तोड़ा। एक-एक को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। गौरव से, जीत के भाव से उसने नसरूद्दीन की तरफ देखा। नसरूद्दीन ने कहा, आश्चर्य है। कुशल हो, प्रतिभाशाली हो। अब एक काम और कर दो। अब जितनी चीजें तुमने खण्डित की हैं, उनको सिद्ध करके बताओ। तब तुम्हारे तर्क की पूरी कुशलता का पता चलेगा। वह आदमी तो आ गया था जोश में। गर्मी में था, होश में तो था नहीं। वह नसरूद्दीन की ट्रिक समझ न पाया। उसने नसरूद्दीन सही है, यह सिद्ध करना शुरू कर दिया। घण्टे भर में जिसे तोड़ा था जमीन पर, घण्टे भर में फिर उसी नसरूद्दीन को बना कर खड़ा कर दिया। नसरूद्दीन ने लोगों से कहा कि देखो। यह आदमी पागल है। इसकी तुम कौन-सी बात में भरोसा करते हो—पहली कि दूसरी ? उन लोगों ने कहा, इसकी हम अब कभी भी किसी बात में भरोसा न करेंगे। नसरूद्दीन ने कहा कि जाओ, तुम हार गए। नसरूद्दीन ने एक तर्क भी न दिया।

असल में तर्क दोनों ही काम कर सकता है। तर्क दुधारी तलवार है। वह दोनों काम बराबर करता है। सागर यूनिवर्सिटी के निर्माता डाक्टर हरीसिंह गौड़ के सम्बन्ध में एक बहुत प्रसिद्ध घटना है कि वह प्रिवी कौंसिल में एक मुकदमा लड़ रहे थे। सम्भवत: भारत में उन जैसा कानूनविद् उस समय नहीं था। हिन्दुस्तान के शायद वह अकेले वकील थे, जिनके तीन आफिस थे—एक पेकिंग में, एक लंदन में और एक दिल्ली में। पूरे साल यहां से वहां भागते रहते थे। करोड़ों रुपए उन्होंने कमाए और सब सागर विश्वविद्यालय पर लगाए, लेकिन कभी किसी भिखारी को एक पैसा दान नहीं दिया। सागर में ऐसा कहा जाता था कि अगर कोई भिखारी उनके घर की तरफ चला जाए, तो लोग समझ जाते थे कि नया भिखारी है। नया भिखारी है, परिचित नहीं है गांव से, क्योंकि हरीसिंह गौड़ के घर से कभी एक पैसा किसी को नहीं मिला। लोग सोचते नहीं थे, कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि यह आदमी चुकता दान कर देगा।

वे एक बड़े मुकदमे में थे। भूल-चूक हो गई कुछ। जल्दी में थे, रात काम में उलझे रहे, फाइल न देख पाए। वे समझते थे कि 'अ' के वकील हैं, पर थे 'ब' के वकील। दो पार्टी में 'ब' के वकील थे, 'अ' के वकील नहीं थे। भूल-चूक हो गई। अदालत में जाकर उन्होंने जो वक्तव्य दिया उससे उनका जो मुवक्किल था, उसका तो पसीना छूट गया, क्योंकि वह उसके खिलाफ बोल रहे थे। उसकी तो जान निकलने लगी, वह तो मरने के करीब आ गया, क्योंकि अभी दूसरा तो खिलाफ बोलने ही वाला है। जब अपना खिलाफ बोल रहा है, तब तो कोई उपाय ही नहीं रहा। करोड़ों का मामला था, बड़ा मुकदमा था, किसी स्टेट का मुकदमा था। घबराहट फैल गई, मजिस्ट्रेट भी चकित हुआ। विरोधी वकील भी घबड़ाया कि हो क्या रहा है। किसी की समझ न पड़ा। लेकिन डाक्टर गौड़ को रोकने की हिम्मत भी किसी

में नहीं कि कोई बीच में रोक दे। जब वह पूरा बोल चुके, तो सदा बोलने के बाद वे एक गिलास पानी पीते थे, वह पानी पी रहे थे तब उनके असिस्टेन्ट ने कहा कि एक भूल हो गई। आप अपने ही आदमी के खिलाफ बोल दिए। उन्होंने कहा, कोई फिक्र मत कर। गिलास नीचे रखकर उन्होंने मजिस्ट्रेट से कहा कि अभी मैं वे बातें कह रहा था, जो मेरा विरोधी कहना चाहेगा। अब मैं इनका खण्डन करता हूं। नाऊ आई बिगिन द रेप्यूटेशन। अभी तो मैंने वे दलीलें दीं जो विरोधी देगा। अब मैं विरोध में खण्डन शुरू करता हूं, और वे मुकदमा जीत गए।

तर्क का कोई बहुत मूल्य नहीं है। जो तर्क नहीं जानते, उन्हीं को मूल्य मालूम पड़ता है। जो तर्क जानते हैं, वे समझते हैं कि तर्क से फिजूल और कुछ भी नहीं है। लेकिन तर्क को जो इतना समझ लेता है, वह फिर जीवन में अनुभव की दिशा पर बढ़ता है। तर्क को छोड़ देता है। तर्क को जानने वाला बुद्धिमान व्यक्ति तर्क को छोड़ देता है और अतर्क्य अनुभव की तरफ जाता है। जो अभी तर्क ही कर रहा है, वह अभी बचकाना है, जुविनायल है और अगर ऐसा बुद्धिमान पुरुष कभी तर्क का उपयोग करता है, तो सिर्फ इसीलिए कि अतर्क्य की तरफ आपको ले जाया जा सके। अन्यथा उपयोग नहीं करता।

शक्तियां तटस्थ हैं। सारी शक्तियां दिव्य हैं। उनका कैसा उपयोग किया जाता है, इस पर सब निर्भर करता है। ऋषि कहता है, इन शक्तियों का क्षेत्र और पात्र के हिसाब से अनुसरण करना ही बुद्धिमानी है। समय, स्थान, स्थिति इन सबको ध्यान में रखकर शक्ति का सदुपयोग करना चाहिए, नहीं तो कई बार शक्ति अपव्यय होती है, कई बार अपने ही विरोध में पड़ जाती है, कई बार घातक हो जाती है। और यह कहा है क्षेत्र और काल, समय और स्थिति, स्थान और परिस्थिति, इनको देखकर शक्ति का उपयोग करना, क्योंकि कोई भी नियम इस जगत् में ऐब्सोल्यूट नहीं है, निरपेक्ष नहीं है, सापेक्ष है। कहीं तो जहर भी अमृत हो जाता है—किसी काल और किसी क्षेत्र में। किसी रोग में जहर औषधि बन जाता है और किसी रोग में भोजन जहर हो जाता है।

अगर हमने अंधे की तरह सिद्धान्तों का अनुसरण किया, तो वह बुद्धिमानी नहीं है। लेकिन हम करते हैं। हम सब अन्धों की तरह अनुसरण करते हैं। बिल्कुल अंधों की तरह। एक सिद्धान्त को पकड़ लेते हैं लकीर के फकीर की तरह और फिर चाहे स्थिति बदले, समय बदले, काल बदले, हम नहीं बदलते। हम तो अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हैं। यह मूढता का लक्षण है। कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जो काल और स्थिति के साथ बदल न जाता हो। लेकिन हम कहते हैं, सब बदल जाए, लेकिन हम सिद्धान्त नहीं बदलेंगे। सिद्धान्त तो हमारा अटल है। ऐसा अटल सिद्धान्त बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है।

कृष्ण-जैसा आदमी सिद्धान्तों की तरलता को जानता है। कृष्ण को भी पता है कि अहिंसा बहुमूल्य है, परम सिद्धान्त है, भली-भांति पता है। लेकिन अर्जुन को हिंसा के लिए तत्पर करते हैं, क्योंकि काल और क्षेत्र बिल्कुल भिन्न हैं। क्योंकि सवाल अहिंसा का नहीं है इस जगत् में। इस जगत् में कृष्ण के सामने सवाल यह था कि अर्जुन से जो हिंसा होगी, वह हिंसा दुर्योधन से होने वाली हिंसा से बेहतर होगी।

चुनाव अहिंसा और हिंसा के बीच नहीं है, चुनाव सदा कम हिंसा और ज्यादा हिंसा के बीच है। चुनाव अच्छाई और बुराई के बीच नहीं है, चुनाव सदा कम बुराई और ज्यादा बुराई के बीच है। 'लेसर ईविल'—वह जो कम से कम बुरा है, उसे चुनना ही पड़ेगा इस जगत में, व्यवहार में—चारों ओर जो फैलाव है जीवन का उसमें। इसलिए कृष्ण को अहिंसक मानने वाले लोग सदा बड़ी दुविधा में देखे गए हैं। जैनों ने तो नर्क में डाला। 'कन्सीडर्डली', काफी सोच-विचार कर ऐसा किया। गांधीजी को भी बड़ी मुसीबत थी कृष्ण से। गीता को माता कहते थे, लेकिन माता को ऐसे कपड़े पहनाते थे जो बिल्कुल उनके अपने खुद के थे। उनका गीता से कोई सम्बन्ध न था।

गांधीजी को अड़चन होती थी। अहिंसा की बात करनी और गीता को माता कहना बिल्कुल इनकंसिस्टेंट, असंगत बातें हैं। हिंसा के परम व्याख्याकार कृष्ण, जिन्होंने हिंसा को ऐसा सबल बल दिया और अहिंसा को परम धर्म कहना, इनमें कोई ताल-मेल नहीं था, पर ताल-मेल बिठाया जा सकता है। तर्क कुशल है। गांधीजी कहते थे, यह युद्ध कभी हुआ नहीं। यह युद्ध तो सिर्फ मिथ (पुराण-कल्पना) है। कौरव और पाण्डव कभी वास्तविक रूप से लड़े नहीं। कौरव बुराई के प्रतीक हैं, पाण्डव भलाई के प्रतीक हैं। यह दो आदमी के भीतर जो शुभ और अशुभ की वृत्तियां हैं, उनकी लड़ाई है। यह युद्ध कभी हुआ नहीं। यह ट्रिक उपयोग कर गई, तो फिर दिक्कत न रही। बुराई से लड़ने में कोई हर्जा नहीं है। बुराई से लड़ने में हिंसा भी नहीं है। लेकिन यह बात झूठ है।

महाभारत युद्ध हुआ है। कृष्ण बुराई और भलाई के बीच लड़ाई नहीं करवा रहे हैं, यह युद्ध बहुत वास्तविक हुआ है। लेकिन कृष्ण को समझना हो, तो जो बात समझनी पड़ेंगी, वह ऋषि जो कह रहा है, वही बात है। कृष्ण भी कहते हैं कि अहिंसा परम धर्म है लेकिन वे कहते हैं, अहिंसा परम धर्म होते हुए भी जीवन में सीधा चुनाव कभी नहीं आता है—हिंसा और अहिंसा का। जीवन में सदा चुनाव आता है कम हिंसा और ज्यादा हिंसा का। कम हिंसा को चुनना अहिंसक का लक्षण है। इसलिए कृष्ण कम हिंसा को चुनने को राजी हुए। अहिंसा के नाम से कम हिंसा से भी भाग जाना सिर्फ कायर का लक्षण है।

ऋषि कह रहा है काल, क्षेत्र और परिस्थिति का पूरा हिसाब रखकर जो सिद्धान्तों का अनुसरण करता है, वही बुद्धिमान है।

मैंने सुना है, पंचतन्त्र में एक बहुत अद्भुत प्रसिद्ध कथा है कि चार बहुत बुद्धिमान पण्डित काशी से वापस लौटे। बारह वर्ष काशीवास करके ज्ञानी बनकर वापस लौटे। चारों परम ज्ञानी हैं, अपने-अपने शास्त्रों में स्पेशलिस्ट हैं। और जैसे 'स्पेशलिस्ट' (विशेषज्ञ) खतरनाक होते हैं वैसे ही ये खतरनाक हैं क्योंकि 'स्पेशलिस्ट' का मतलब ही यह होता है कि 'वन हू नोज मोर ऐण्ड मोर अबाउट लेस ऐण्ड लेस।' विशेषज्ञ का मतलब यह होता है कि कम से कम के सम्बन्ध में जो ज्यादा से ज्यादा जानता है। उसका उल्टा मतलब यह हो जाता है कि जो ज्यादा से ज्यादा के सम्बन्ध में कम से कम जानता है।

स्वभावतः चारों एक्सपर्ट थे, विशेषज्ञ थे। जब रास्ते में रुके पड़ाव पर, तो उसमें जो वनस्पति शास्त्र विशेषज्ञ था, उसे तीनों ने कहा, तुम सब्जी खरीद लाओ। वनस्पति शास्त्र का विशेषज्ञ था। सब्जी तो कभी खरीदी नहीं थी। सब्जियों के बाबत जानकारी भारी थी। उसने बैठकर बड़ा चिन्तन-मनन किया। अन्ततः उसने कहा कि नीम की पत्तियों के सिवा कोई चीज उचित नहीं है। सिद्धान्त यही है कि सभी चीजों में कोई न कोई कमी, कोई न कोई खामी (दोष) है। कोई बात पैदा करती है, कोई कुछ पैदा करती है, कोई कुछ पैदा करती है। नीम की पत्ती एकदम निर्दोष है। वह नीम की पत्तियां तोड़कर बड़ा प्रसन्न वापस लौटा। शास्त्र का पूरा उपयोग हुआ। वह पूर्ण विशेषज्ञ था।

दूसरा था तर्कशास्त्री, लॉजीशियन। नव्य-न्याय बढ़कर लौट रहा था। न्याय की गहराइयों में उतरा था। न्यायशास्त्र में उदाहरण में सदा यह आता है कि घृत रखा है पात्र में, तो प्रश्न उठाया जाता है कि पात्र घृत को सम्भालता है। कि घृत पात्र को सम्भालता है। कौन किसको सम्भालता है? इसको उसने किताब में पढ़ा था! तर्कशास्त्री को भेजा गया था घी लेने, क्योंकि तर्कशास्त्री से निरन्तर उसके मित्रों ने यह बात सुनी थी कि कौन किसको सम्भालता है—पात्र घृत को सम्भालता है या घृत पात्र को सम्भालता है। लेकिन तर्कशास्त्री ने न तो कभी घृत पकड़ा था, त पात्र पकड़ा था हाथ में। बाजार से लौटते वक्त जब घी का पात्र लेकर वह चला, तो उसने कहा, आज अवसर मिला है कि देख ही लूं कि कौन किसको सम्भालता है। उसने उल्टा कर देखा। जो होना था, वह हुआ। घृत तो नीचे गिर गया, पात्र खाली रह गया। वह बड़ा प्रसन्न लौटा। उसने कहा, सिद्ध हो गया कि पात्र ही सम्भालता है।

वह जो तीसरा व्यक्ति था, वह व्याकरण का विशेषज्ञ था। उसको कहा गया था कि तू आग वगैरह जला ले। चूल्हा तैयार रख, पानी चढ़ा देना। सब सामान आ रहा है, भोजन पका लेना। चौथे को भेजा था लकड़ियां लेने। क्योंकि वह एक मूर्तिकार था और लकड़ियों पर उसने बड़ी मेहनत की थी और मूर्तियां बनाई

थीं। लेकिन उसे यह पता ही नहीं था कि गीली लकड़ियां जलाई नहीं जातीं। वह सौन्दर्य का पारखी था, मूर्तिकार था, चित्रकार था तो वह सुन्दरतम लकड़ियां जंगल से छांटकर लाया, लेकिन वे सब गीली थीं। असल में सूखी लकड़ी सुन्दर रह भी नहीं जाती। हरी होना चाहिए थी—जीवन्त, युवा। युवा से युवा, कोमल से कोमल, सुन्दर से सुन्दर लकड़ियां काटकर वह सांझ होते-होते वापस लौटा, क्योंकि चुनाव करने में बड़ी मुश्किल पड़ी। जंगल बड़ा था। लकड़ियां मतलब की न थीं, एक भी जल न सकती थी।

तीसरा व्यक्ति जो व्याकरण का विशेषज्ञ था, उसको दिया था अवसर कि वह आग थोड़ी जलाकर तैयार रखे, लकड़ियां आ जाती हैं, थोड़ी बहुत वह लकड़ियां वहीं चुनकर आग जला ले। लकड़ियां आ जाएंगी, तब तक सामान आ जाता है। उसने आग भी जला ली थोड़ी। पानी रख कर बर्तन चढ़ा दिया पानी में बुदबुद की आवाज होने लगी। वह था व्याकरण का ज्ञाता। उसने पढ़ा था कि अशब्द को न तो कभी सुनना चाहिए, न सहना चाहिए। यह बुदबुद तो कोई शब्द है नहीं। बहुत शास्त्र पढ़ डाले थे, लेकिन यह बुदबुद क्या बला है। यह निश्चित अशब्द है। शब्द नहीं है, तो अशब्द तो है ही पक्का। उसने कहा, इसको सुनना खतरनाक है। यह तो बिल्कुल पाणिनी के खिलाफ जाना है। उठाकर लट्ठ उसने बर्तन में मारा कि अशब्द को बन्द करो। वह बर्तन टूट गया, चूल्हा गिर गया, आग बुझ गई। सांझ को जब वे चारों मिले तो चारों भूखे ही सो गए। क्योंकि चारों विशेषज्ञ थे। सिद्धान्त उनके पक्के थे, गलती किसी ने न की थी। फिर भी गलती हो गई।

नहीं, जीवन तरल है, लोचपूर्ण है। सिद्धान्त सख्त और मुर्दा होते हैं। जिन्दगी सख्त और मुर्दा नहीं होती। जो आदमी सिद्धान्तों को लोचपूर्ण नहीं बना सकता, वह बुद्धिमान नहीं है। सब शक्तियां, सब सिद्धान्त, जीवन में जो भी है, वह जितना तरल हो, जितना लोचपूर्ण हो, जितना परिवर्तित हो सके, प्रवाहमान हो, डायनेमिक हो, गत्यात्मक हो, उतना बुद्धिमानीपूर्ण है।

तो शुभ की शक्तियां हों या धर्म की शक्तियां हों, जो भी शक्तियां हैं मनुष्य के पास, वे सब दिव्य हैं और उनका सम्यक उपयोग बुद्धिमानी है, चतुराई है।

परात्पर से संयोग ही उनका तारक उपदेश है। और उनका सम्यक उपयोग जिस बुद्धिमानी से होता है, उस बुद्धिमानी को ऋषि सदा कहते हैं, परात्पर से संयोग ही हमारा उपदेश है। अगर तुम अपनी सारी शक्तियों का, शम और दम की सारी शक्तियों का चतुराई से उपयोग करो, तो आज नहीं, कल तुम्हारा परात्पर, परम ब्रह्म से संयोग हो जाएगा। शक्तियां जब गलत उपयोग की जाती हैं, तो प्रभु से विपरीत बहती हैं। जब ठीक उपयोग की जाती हैं, तो प्रभु की ओर बहती हैं। शक्तियों का सम्यक उपयोग, शक्तियों का परमात्मा की ओर प्रवाह

है। शक्तियों का गलत उपयोग परमात्मा के विपरीत, उल्टा प्रवाह है। इसलिए जो शक्तियों का जितना गलत उपयोग करेगा, उतना धीरे-धीरे परमात्मा से रिक्त और खाली होता चला जाएगा।

आज पश्चिम में एक शब्द का बहुत ही प्रचलन है—वह शब्द है : 'एम्पटीनेस' खालीपन। आज पश्चिम के जो भी विचारशील लोग हैं, चाहे अल्बर्ट कामू, और चाहे जॉन-पॉल सार्त्र और चाहे हाइडेगर और चाहे काफ्का, जिन्होंने पिछले पचास वर्षों में पश्चिम की बुद्धि को थिर किया है, उन सबकी जबान पर एक शब्द जो बहुत चलता है वह है एम्पटीनेस, खालीपन, रिक्तता। क्या बात है, पश्चिम को खालीपन का ऐसा अनुभव क्यों हो रहा है। इतना खालीपन का ख्याल क्यों है। कहते हैं कि भीतर सब खाली है, आदमी के भीतर कुछ भी नहीं है।

पूरब के सब मनीषियों को जिन्हें पूर्णता का, फुलफिलमेंट का अनुभव हुआ है, वे कहते हैं, भीतर सब भरा है। अनन्त अनन्त भरा। और पूरब का मनीषी जब शून्य शब्द का भी उपयोग करता है, तब भी उसका अर्थ एम्पटीनेस नहीं होता। शून्य भी बड़ा भराव है। शून्य का अर्थ रिक्तता नहीं, शून्य का भी अपना भराव है। उसकी भी अपनी मौजूदगी है। उसकी भी अपनी 'बीइंग,' अपना अस्तित्व, अपनी सत्ता है। इसलिए शून्य का अर्थ एम्पटीनेस नहीं है। शून्य का अर्थ है : द व्हायड—रिक्त नहीं, खाली नहीं, शून्य। शून्य का अपना अस्तित्व है। रिक्तता तो केवल किसी का अभाव है, ऐब्सेंस है।

पश्चिम में इतने जोर से इस बीसवीं सदी में आकर रिक्तता की ऐसी प्रतिति का कारण इस ऋषि के सूत्र में है। ऋषि कहता है, अगर शक्तियों का सम्यक् उपयोग न हो, तो आदमी धीरे-धीरे परमात्मा के विपरीत हटता जाता है। और जब परमात्मा से विपरीत हटता है, तो रिक्तता का भाव होता है, खाली होता है। एक दिन लगता है, खाली डब्बा रह गया, भीतर कुछ भी नहीं। कुछ है ही नहीं। जो परमात्मा की तरफ चलता है, धीरे-धीरे भरता जाता है और एक दिन वह कहता है, भीतर इतना भर गया है, इतना भर गया है कि अब कोई जगह न बची। उसे पा लिया, जिसके अब पाने की भी कोई जगह नहीं, रखने के लिए भी कोई जगह नहीं। सब मिल गया।

महावीर ने कहा है, एक को पा लेने से सब पा लिया जाता है। इससे उल्टा भी होता है। एक को खोने से सब खो दिया जाता है। वह एक है परमात्मा। अगर उसकी तरफ हमारी पीठ है, तो आज नहीं कल हमें 'एम्पटीनेस' घेर लेगी, हम खाली हो जाएंगे : धन कितना ही हो, फिर भी भरेगा नहीं। यश कितना ही हो, फिर भी भरेगा नही। और महल कितने ही हों, पद कितने ही हों, ज्ञान कितना ही हो, फिर भी भरेगा नहीं, खाली ही हम होंगे। अगर परमात्मा की तरफ मुंह

हो, और न हो ज्ञान, न हो त्याग, न हो पद, न हो धन, तो भी सब भर जाता है। उसकी तरफ नजर उठाते ही सब भर जाता है। लेकिन उसकी तरफ नजर उनकी ही उठती है, ऋषि कहता है, जो अपनी शक्तियों का सम्यक्, ठीक-ठीक बुद्धिमानीपूर्वक उपयोग करते हैं।

अद्वैत सदानन्द ही उनका देव है। ऋषि जिसकी पूजा के लिए कहते हैं, जिसकी श्रद्धा के लिए कहते हैं, वह है अद्वैत सदानन्द, सदा ठहरने वाला आनन्द। अपने अन्दर की इन्द्रियों का निग्रह ही उनका नियम है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

इन्द्रियों के दो हिस्से हैं। एक तो बहिर्-इन्द्रिय है, जैसे आंख है, बाहर है। आंख को निकाल भी दें, तो भी देखने की वासना नहीं जाती। देखने की वासना अन्तर्-इन्द्रिय में है। आंख बहिर्-इन्द्रिय है। देखने की क्षमता बहिर्-इन्द्रिय है, देखने की वासना अन्तर्-इन्द्रिय है। आंख के कारण आप नहीं देखते हैं, देखने की वासना के कारण आंख पैदा होती है। अब तो वैज्ञानिक भी इसको स्वीकार कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, अगर अंधा आदमी देखने की वासना से बहुत भर जाए, तो उंगलियों से भी देख सकता है, पैर के अंगूठों से भी देख सकता है। क्योंकि आंख में जो चमड़ी काम में आई है, पूरे शरीर पर वही चमड़ी है। क्वालिटेटिवली कोई फर्क नहीं है, गुणात्मक कोई फर्क नहीं है। आंख में जो चमड़ी है, वह वही है, जो पूरे शरीर पर है।

आंख की चमड़ी के पीछे देखने की वासना ने हजारों-हजारों, लाखों-लाखों साल तक काम किया है। वह चमड़ी पारदर्शी हो गई, बस। कान के पीछे देखने की वासना ने काम किया है और वह चमड़ी सुनने में समर्थ हो गई हैं। हड्डियां सुनने में समर्थ हो गई हैं। उन हड्डियों में कोई क्वालिटेटिव फर्क नहीं है। शरीर की सब हड्डियां एक-जैसी हैं। और अभी तो बहुत प्रयोग हुए हैं, जिनसे यह सिद्ध हो सका है कि आदमी शरीर के और अंगों से भी देख सकता है, और अंगों से भी सुन सकता है, लेकिन तीव्र वासना करके उस अंग की तरफ उस वासना को प्रवाहित करना पड़ेगा। तब ऐसा हो सकता है।

ऋषि कहता है, अन्तर्-इन्द्रियों का निग्रह। बाहर की इन्द्रियों का सवाल नहीं है। भीतर की जो वासना की इन्द्रिय है, अन्तर्-इन्द्रिय है, जो सूक्ष्म इन्द्रिय है, उसका निग्रह ही उनका नियम है। ऐसा नहीं है कि वे अन्धे हो जाते हैं, आंख फोड़ लेते हैं। नहीं, वे देखने की वासना को शून्य कर लेते हैं। आंख फिर भी देखती है। लेकिन अब देखने की कोई वासना पीछे नहीं होती। इसलिए आंख अब वही देखती है, जो देखना जरूरी है; कान अब वही सुनता है, जो सुनना जरूरी है, हाथ वही छूता है, जो छूना जरूरी है। गैर-जरूरी गिर जाता है। इन्द्रियां मात्र दासियां हो जाती हैं।

●

भय मोह शोक क्रोध त्यागस्त्यागः ।
परावरैक्य रसास्वादनम् ।
अनियामकत्व निर्मल शक्तिः ।
स्वप्रकाश ब्रह्मतत्त्वे शिवशक्ति सम्पुटित प्रपंचच्छेदनम् ।
तथा पत्राक्षाक्षिक कमण्डलुः भावाभावदहनम् ।
बिभ्रत्याकाशाधारम् ।

'भय, मोह, शोक और क्रोध को छोड़ना यही उनका त्याग है ।
पर-ब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं ।
अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है ।
स्वयं प्रकाश ब्रह्म तत्त्व में शिव-शक्ति से सम्पुटित प्रपंच का छेदन करते हैं ।
जैसे इन्द्रिय रूपी पत्रों से ढंका हुआ मण्डल होता है, ऐसे ही ढंकने वाले भाव और अभाव के आवरण को भस्म कर डालने के लिए वे आकाश रूप आधार को धारण करते हैं ।

प्रवचन : १२
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः, दिनांक १ अक्टूबर, १९७१

सम्यक् त्याग, निर्मल शक्ति और परम अनुशासन मुक्ति में प्रवेश

ऋषि ने पहले ही सूत्र में एक बहुत अनूठी बात कही । कहा है, त्यागियों का त्याग है भय, मोह, शोक और क्रोध को छोड़ना । इसका अर्थ हुआ, भोगियों का भी कुछ त्याग होता है । भोगी जब कुछ छोड़ता है, तो धन छोड़ता है, मोह नहीं। भोगी जब छोड़ता है, कुछ वस्तु तो छोड़ता है, वृत्ति नहीं । और वस्तु के त्याग से कुछ भी नहीं होता । क्योंकि वस्तु से कोई सम्बन्ध ही नहीं, सम्बन्ध वृत्ति से है । दो बातें ख्याल में ले लें ।

भीतर मोह है, इसलिए बाहर मोह का विस्तार होता है—व्यक्तियों पर, वस्तुओं पर, सम्बन्धों में । भीतर क्रोध है, इसलिए निमित्त खोजे जाते हैं कारण खोजे जाते हैं बाहर, जिससे क्रोध प्रकट किया जा सके । जब कोई मुझे गाली देता है, मन को ऐसा लगता है कि उसने गाली दी, इसलिए मैं क्रोधित हुआ । सच्चाई उल्टी है । क्रोध तो मेरे भीतर है, गाली तो सिर्फ निमित्त है उसके बाहर आ जाने का । अगर कोई मुझे गाली न दे, तो क्रोध बाहर नहीं आएगा, लेकिन मैं अक्रोधी नहीं हो जाऊंगा—क्रोध मेरे भीतर ही बना रहेगा । इतना इकट्ठा करता है आदमी, अगर सारी वस्तुएं उससे छीन ली जाएं तो वह बिल्कुल दिगम्बर और नग्न हो जाए । वस्तुएं छीन ली जाएं, या वह स्वयं छोड़ दे, तो भी जरूरी नहीं है कि भीतर से मोह विदा हो गया । वस्तु तो सिर्फ मोह के विस्तार की सुविधा है, अपॉर्चुनिटी है, अवसर है । और छोटी से छोटी वस्तु भी बड़े से बड़े मोह के विस्तार के लिए सुविधा बन जाती है । ऐसा नहीं कि एक बहुत बड़ा राज्य ही चाहिए मोह को फैलने के लिए, एक छोटी-सी लंगोटी भी काफी है । एक आदमी दो पैसे की चोरी करे, कि दो लाख की, अगर दो पैसे की चोरी करेगा, तो भोगी कहेगा कि छोटी-सी ही तो चोरी है । दो लाख की करेगा, तो बहुत बड़ी चोरी है । लेकिन त्यागी कहेगा, चोरी बड़ी और छोटी नहीं होती । दो पैसे भी उतनी चोरी को फैलने के लिए अवसर बन जाते हैं, जितना दो लाख । जहां तक चोरी का सम्बन्ध है, दो पैसे या दो लाख की चोरी बराबर होती है । जहां तक पैसों का सम्बन्ध है, दो

पैसे में और दो लाख में बड़ा फर्क है। लेकिन जहां तक चोरी का सम्बन्ध है, दो पैसे और दो लाख की चोरी बराबर है। और थोड़ा भीतर उतरें, तो चोरी का भाव और चोरी का कृत्य भी बराबर है। दो पैसे भी चोर होने के लिए चुराने जरूरी नहीं, चोरी का भाव करना ही काफी है।

यह सूत्र कहता है, त्यागियों का त्याग···बड़ी मजे की बात है। क्योंकि इससे साफ हो जाता है कि भोगियों का भी त्याग है कुछ। त्यागियों का त्याग है भय, मोह, शोक और क्रोध आदि वृत्तियों का। वह अन्तर में जो छिपे हुए कारण हैं, मूल कारण, उनका त्याग। निश्चित ही जब मोह ही गिर जाता है, तो वस्तु से हमारा कोई सेतु, कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। फिर त्यागी महल के बीच में भी हो सकता है, लेकिन महल उसे बांध नहीं पाता। और अगर महल के बीच रहकर त्यागी को महल बांध लेता है, तो झोंपड़ी भी बांध लेगी। कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है। झोंपड़ा नहीं होगा, वृक्ष के नीचे बैठेगा, तो वृक्ष ही बांध लेगा।

जिसके भीतर मोह है, वह कहीं भी बंध जाएगा। क्षुद्रतम से बंध जाएगा। कोई बड़े साम्राज्य आवश्यक नहीं हैं बंधने के लिए, नहीं तो इस दुनिया में दो-चार ही लोग बंध पाएं, बाकी तो सब मुक्त ही रहें। हीरा ही जरूरी नहीं, कौड़ी भी बांध लेती है। त्यागी का त्याग या संन्यासी का त्याग तो उस आधार के ही विसर्जन का है, जिससे उपद्रव पैदा होता है। मूल पर आघात है।

एक आदमी वृक्ष के पत्ते काटता रहता है। अगर वह सोचता है कि वृक्ष के पत्ते काटना, वृक्ष को काटने का उपाय है, तो वह गलत समझता है, क्योंकि वृक्ष के पत्ते जब भी कोई काटता है, तो सिर्फ कलम होती है, वृक्ष कटता नहीं, और एक पत्ते की जगह दो पत्ते निकल आते हैं। लगता है, काट रहा है वृक्ष को, शाखाएं काट रहा है, लेकिन जो भी वृक्षों से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वृक्ष के फैलने के लिए और सुविधा दे रहा है। जब एक शाखा कटती है, तो अनेक अंकुर निकल आते हैं, कलम हो जाती है। अनंत-अनंत जन्मों तक काटते रहें शाखाओं को, पत्तों को, कहीं पहुंचेंगे नहीं, क्योंकि मूल पर कोई चोट नहीं की जा रही है। वृक्ष पत्तों से नहीं जीता, वृक्ष जड़ों से जीता है। जड़ें भीतर जमीन के छिपी हैं, वे दिखाई नहीं पड़तीं। वृक्ष जिनसे जीता है, वे छिपी हैं, भूमिगत हैं। इसीलिए छिपी हैं, क्योंकि जिनसे जीना है उन्हें भीतर छिपा होना जरूरी है, नहीं तो कोई भी नुकसान पहुंच सकता है। इसे ठीक से समझ लें।

वृक्ष भी अपनी जड़ों को सुरक्षा में छिपाए हुए है। प्रकट नहीं हैं। जो प्रकट है उसको चोट पहुंचाने से गहरी चोट नहीं पहुंचने वाली है। पत्ते फिर निकल आयेंगे, शाखायें फिर टूट जायेंगी। अभी पिछली बार जब मैं आया था आबू, तो सारा रास्ता सूखा हुआ था। एक पत्ता न था वृक्षों पर, लेकिन जड़ें भीतर हरी रही होंगी, क्योंकि अब आया हूं, तो वृक्ष हरे हो गए हैं। सूरज हमला न कर

पाए जड़ों पर, जानवर हमला न कर पाएं, आदमी हमला न कर पायें, धूप हमला न कर पाए जड़ों पर इसलिए जड़ें जमीन में छिपी हैं। वृक्षों की आत्मा वहां है। धूप आएगी, गर्मी आएगी, पत्ते सूखेंगे, गिर जायेंगे। वृक्ष निश्चित है। थोड़ी प्रतीक्षा की बात है। फिर वर्षा होगी, फिर अंकुर निकल आयेंगे। जड़ें सुरक्षित हैं, तो पत्ते कभी भी निकल आयेंगे। लेकिन इससे उल्टा नहीं हो सकता कि जड़ें टूट जायें, कट जायें, पत्ते सुरक्षित हों और जड़ें फिर से निकल आयें। इससे उल्टा नहीं होता।

हमारी बीमारी की जड़ क्या है? वह हमारा जो फैलाव है, विस्तार है, धन है, मकान है, मित्र हैं, प्रियजन हैं परिवार हैं, वहां हमारी जड़ें नहीं हैं। हमारी जड़ें भी भीतर छिपी हैं। सब जड़ें छिपी होती हैं। मोह भीतर छिपा है, मोह का विस्तार बाहर है। एक आदमी पत्नी को छोड़कर भाग जा सकता है, बच्चों को छोड़कर जंगल में जा सकता है। लेकिन उस आदमी को पता नहीं कि जिसने पत्नी बनाई थी और जिसने बच्चे निर्मित किए थे, वह मोह साथ चला गया। वह मोह नई पत्नियां निर्मित कर लेगा, नए बच्चे बना लेगा। मन इतना चालाक है कि नए नाम रख देगा, नई व्यवस्था कर लेगा। जड़ें सुरक्षित थीं, अंकुर फिर निकल आयेंगे। नाम से कोई फर्क नहीं पड़ता है। वह आदमी घर छोड़कर आश्रम बना लेगा। अब उसको आश्रम कहेगा और आश्रम के लिए उतना ही चिन्तारत हो जाएगा, जितना घर के लिए था। आश्रम की जमीन के लिए अदालत में वैसे ही मुकदमा लड़ेगा, जैसे घर के लिए लड़ता था। आश्रम की ईंट-ईंट के लिए पैसा जुटाएगा, जैसे घर के लिए जुटाता था। अब वह एक बड़े धोखे में है। वह है गृहस्थ, और जहां रह रहा है, उस जगह का नाम आश्रम है। अब वह अपने को और भी धोखा दे सकता है। 'सेल्फ डिसेप्शन' आत्म-वंचना और आसान है, क्योंकि वह कहेगा, मैं अपने ही लिए थोड़े ही करता हूं, आश्रम के लिए करना हूं। आप यह नहीं कह सकते कि मैं अपने लिए थोड़े करता हूं, हालांकि हम भी कोशिश करते हैं। बाप कहता है कि मैं अपने लिए थोड़े ही करता हूं, अपने बेटे के लिए करता हूं। अपने लिए थोड़े करता हूं, पत्नी के लिए करता हूं। जिम्मेदारी है।

अब वह कहेगा, परमात्मा के लिए कर रहा हूं। यह तो आश्रम है, यह कोई मेरा घर नहीं है। लेकिन उसके सारे सम्बन्ध वही हैं, जो उसके घर से थे। वह मोह तो साथ ले आया, क्रोध तो साथ ले आया, राग तो साथ ले आया आसक्ति तो साथ ले आया। इसलिए ऋषि कहता है, त्यागी का त्याग बाह्य त्याग नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि त्यागी बाह्य त्याग नहीं करेगा। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि त्यागी जड़ों को ही तोड़ देते हैं। फिर बाहर जो है, वह स्वप्नवत् हो जाता है। वह घर हो कि आश्रम, वह अपना हो कि पराया, वह महल हो कि

झोंपड़ा, वह स्वप्नवत् हो जाता है।

एक और मजे की बात है कि भोगी अगर छोड़कर भागता है, तो जिस चीज को छोड़कर भागता है, उससे डरता है। सदा डरता रहता है। क्योंकि उसे पक्का पता है कि वह चीज अगर फिर सामने आ जाए, तो उसके भीतर जो छिपी हुई जड़ें हैं, वे अंकुरित हो जायेंगी। अगर वह धन को छोड़कर भागा है, तो वह ऐसी जगह से बचकर निकलेगा। जहां धन फिर मिल सकता है। अगर वह स्त्री को छोड़कर भागा है, तो वह बचेगा ऐसी जगह से जहां स्त्री दिखाई पड़ सकती है। है। यह तो गृहस्थी से भी ज्यादा बद्तर स्थिति है। यह भय तो भयंकर होगा। यह तो दूध का जला छांछ भी फूंक-फूंक कर पीने लगा। यह तो बहुत भय से आक्रांत स्थिति है और भय से आक्रांत स्थिति ब्रह्म में प्रवेश नहीं कर सकती। यह सारा का सारा जो भय है, उसे ऐसी सीमायें निर्मित करने को मजबूर करेगा, जिनके भीतर वह एक कारागृह का कैदी हो जाएगा।

आगे जो सूत्र आता है, वह बहुत ही क्रांतिकारी—टू मच रिव्होल्यूशनरी है। शायद यही कारण है कि निर्वाण उपनिषद् पर टीकायें नहीं हो सकीं। यह उपेक्षित (नेग्लेक्टेड) उपनिषदों में से एक है। जब पहली दफा मैंने तय किया कि इस शिविर में इस पर बात करनी है, तो अनेक लोगों ने मुझे पूछा कि ऐसा भी कोई उपनिषद् है—निर्वाण उपनिषद्। कठोपनिषद् है, छांदोग्य है, माण्डूक्य है, यह निर्वाण क्या है? यह बहुत ही खतरनाक है। ऋषि कह रहा है, वे वही छोड़ देते हैं, जिससे फैलाव के बीज ही नष्ट हो जाते हैं, दग्ध हो जाते हैं।

भय है, इसलिए हम बहुत आयोजन करते हैं। जब एक आदमी महल बना रहा है, दीवारें उठा रहा है, परकोटे घेर रहा है, इसलिए कि इतनी सुरक्षा का इन्तजाम कर रहा है। एक आदमी तलवार बगल में लटकाए हुए चल रहा है, वह भयभीत है। हम बहादुरों की जो मूर्तियां बनाते हैं, तो उनके हाथ में तलवार जरूर रखते हैं। घोड़ों पर चढ़ा देते हैं, तलवारें रख देते हैं, चौरस्तों पर खड़ा कर देते हैं। वे भय की मूर्तियां हैं, क्योंकि निर्भय आदमी के लिए तलवार की क्या आवश्यकता है? कहां है जरूरी? वह तलवार बताती है कि भीतर भय छिपा है। अगर हमें ऐटम बम बनाना पड़ा है, तो उसका कारण है कि आदमी आज जितना भयभीत है, उतना इसके पहले कभी भी नहीं था।

हमारे अस्त्र-शस्त्र हमारे भय के अनुपात में विकसित होते हैं। जिस दिन आदमी निर्भय हो जाएगा, अस्त्र-शस्त्र फेंक दिए जायेंगे। उनकी कोई भी तो जरूरत नहीं है। अस्त्र-शस्त्र हमारे भय का विस्तार है। जितने अस्त्र बढ़ते हैं, वे खबर देते हैं, बिल्कुल आनुपातिक खबर देते हैं कि आदमी इतना भयभीत हो गया है कि बिना ऐटम बम के वह अपने को सुरक्षित अनुभव नहीं करता। बड़े से बड़े राष्ट्र—चाहे वह रूस हो या चाहे अमरीका, चाहे चीन, जिनके पास विराट शक्ति है, उनका

बड़प्पन क्या है! उनका यह है कि उनके पास विराट अस्त्र-शस्त्रों का ढेर है। लेकिन विराट अस्त्र-शस्त्रों का ढेर सिवा भीतर के भय के और किसी बात की सूचना नहीं देता।

और मजा यह है, कि आप अस्त्र-शस्त्र कितने ही बढ़ाते चले जायें, इससे कोई भीतर का भय नहीं मिट जाता। बढ़ता चला जाता है। एक तरकीब यह हो सकती है कि अस्त्र-शस्त्र का त्याग कर दें, छोड़ दें तो भी जरूरी नहीं कि आप अभय को उपलब्ध हो जायें। अगर अस्त्र-शस्त्र को आप छोड़ते हैं, तो आप दूसरे सूक्ष्म अस्त्र-शस्त्र बनाना शुरू करेंगे। आप कहेंगे, निर्बल के बल राम। यह भी अस्त्र है। कहना चाहिए, ऐटम से भी बड़ा। गांधीजी अस्त्र-शस्त्र का उपयोग नहीं करते थे, लेकिन रोज प्रार्थना करते थे, 'निर्बल के बल राम'। मगर बल, चाहे वह ऐटम से आवे चाहे राम से आवे, आना जरूर चाहिए। निर्बल होने को राजी नहीं हैं, बल कहीं से आना ही चाहिए। सूक्ष्म बल की खोज शुरू हो जाएगी। त्यागी वह है, जो सब सुरक्षा की खोज ही छोड़ देता है। और मजा यह है कि राम का बल तभी मिलता है जब निर्बल इतना निर्बल होता है कि राम का बल भी उसके पास नहीं होता। कोई बल नहीं होता उसके पास, वह सारे आयोजन छोड़ देता है, क्योंकि वह कहता है कि भयभीत होना असंगत है। जहां मृत्यु निश्चित है, वहां भयभीत होने की जरूरत क्या है? जहां मरना होगा ही, वहां अब भय का कारण क्या है?

मैंने एक घटना सुनी है कि जापान में, जैसे राजस्थान में राजपूत कभी थे—(अब तो नहीं हैं, कभी थे।) लड़ाकों का एक वर्ग था जो 'समुराई' कहलाता है। वे जापान के राजपूत थे। एक बहुत प्रसिद्ध समुराई था। कहते हैं कि जापान में उसकी जोड़ का कोई तलवारबाज नहीं था। एक दिन घर लौट आया जल्दी, देखा कि उसका रसोइया उसकी पत्नी से प्रेम कर रहा है। तलवार खींच ली, लेकिन तभी उसे ख्याल आया कि जब दूसरे के हाथ तलवार न हो तब उसे मारना समुराई धर्म के खिलाफ है, क्षत्रिय धर्म के खिलाफ है। तो उसने एक तलवार रसोइए को दी कि तू भी तलवार हाथ में ले और मुझसे जूझ। रसोइए ने कहा, ऐसे ही मार डालो। इस जूझने का कोई मतलब ही नहीं है। नाहक तुम अपने को समझाओगे कि तुम बड़े क्षत्रिय हो। मैंने कभी तलवार पकड़ी नहीं, मुझे पता नहीं की तलवार पकड़ी कैसे जाती है। तुम क्षण भर में मुझे मार डालोगे। तो ऐसे ही मार डालो, यह और बहाना क्यों लेते हो? लेकिन समुराई ने कहा, किसी को ऐसे ही मार डालना तो नियमयुक्त नहीं है। इससे मैं सदा के लिए कलंकित हो जाऊंगा और समुराई की बदनामी होगी कि एक निहत्थे आदमी को मार दिया। तुझे मैं समय दे सकता हूं। तू चाहे तो छः महीने तलवार चलाना सीख ले। उसने कहा कि मुझ से कुछ न होगा। छः महीने क्या छः जन्म भी सीखूं तो भी मैं

तुम्हारे सामने तलवार नहीं चला सकता। यह मुझे भलीभांति पता है। पूरे मुल्क में तुम्हारे मुकाबले कोई आदमी नहीं है। तो समुराई ने कहा, फिर मरने के लिए तैयार हो जा।

उस रसोइए ने सोचा, एक उपाय कर लेने में हर्ज क्या है। जब मरना ही है, तो ले लें तलवार। समुराई ने सोचा भी न था कि रसोइया इतने जोर से लड़ेगा। लेकिन जब मृत्यु सुनिश्चित हो, तो भय मिट जाता है। 'व्हेन डेथ इज डेफिनिट, फियर डिसअपीयर्स। भय तो तभी तक रहता है जब मृत्यु अनिश्चित होती है। रसोइए की मृत्यु तो निश्चित थी। उसने तलवार उठाकर उल्टे-सीधे हाथ चलाने शुरू कर दिए।

समुराई तो घबड़ाया, क्योंकि रसोइया नियम के विपरीत तलवार चला रहा था! वह डरा, क्योंकि वह नियम से सदा लड़ा था। नियम थे, मर्यादाएं थीं, ढंग थे, जानता था कि दूसरा आदमी क्या वार करेगा। एक-एक वार परिचित था, लेकिन यह रसोइया तो ऐसे वार करने लगा, जो तलवार के शास्त्र में कहीं लिखे ही नहीं हैं। समुराई के लिए तो जीवन अभी शेष था। रसोइए का जीवन समाप्त हो चला था। समुराई बड़ा बहादुर लड़ाका था, लेकिन भीतर भय था। क्योंकि मौत निश्चित न थी। रसोइया सिर्फ रसोइया था, लेकिन मौत इतनी निश्चित थी कि उसके लिए भय का कोई कारण न था। थोड़ी ही देर में रसोइये ने समुराई को दीवार से टिका दिया। छाती पर तलवार रख दी। समुराई ने कहा, माफ कर। तू ऐसा लड़ाका है, यह मैंने कभी सोचा भी न था। उसने कहा, लड़ाका मैं बिल्कुल नहीं हूं। यह तो मौत के सुनिश्चित हो जाने से हुआ।

संन्यासी जानता है, मौत सुनिश्चित है. तो भय कैसा! भय का कोई अर्थ ही नहीं है। भय इर्रेलैवेंट है, असंगत है। जो होना ही है, वह एक अर्थ में हो ही गया। अब भय कैसा!

मोह को हम क्यों फैलाते हैं? क्योंकि अकेले हम काफी नहीं हैं। दूसरा हो साथ, तीसरा हो साथ। अपने लोग हों, तो भरा-भरा लगता है। लेकिन संन्यासी जानता है कि अकेला होना नियति है। (टु बी एलोन इज द डैस्टिनी), क्योंकि कोई उपाय नहीं है दूसरे के साथ होने का। है ही नहीं उपाय। चाहे पत्नी बनाओ, चाहे पति बनाओ, चाहे मित्र बनाओ, पिता, बेटा कुछ भी बनाओ, दूसरा दूसरा ही रहेगा। कोई उपाय नहीं, कोई मार्ग नहीं है। अकेला होना नियति है। धोखा दे सकते हैं दूसरे को साथ रखकर कि अकेले नहीं हैं, और धोखा देने में तो हम बड़े कुशल हैं। आदमी अंधेरी गली से गुजरता है तो सीटी बजाने लगता है। कोई नहीं है, मालूम है कि मैं ही सीटी बजा रहा हूं। लेकिन अपनी ही सीटी सुनकर ताकत आती मालूम पड़ती है। आदमी गाना गाने लगता है। अपना ही गाना गाता सुनकर ऐसा लगता है कि अकेले नहीं हैं। आदमी के धोखे का कोई अन्त नहीं

है।

अकेला है आदमी, इसलिए मोह को फैलाता है, बांधता है, भ्रम खड़े करता है कि अकेला नहीं हूं, मेरे साथ कोई है, संगी है, साथी है। और उसको पता नहीं है कि जिसको उसने संगी-साथी बनाया है, उसने भी उसे इसीलिए संगी-साथी माना हुआ है कि वह अकेला है। ध्यान रखें, दो अकेले मिलकर दुगने अकेले हो जाएंगे तो क्या होगा? गणित तो कहेगा, दुगुने अकेले हो जाएंगे—द लोनलीनेस विल बी डबल्ड। होना भी यही चाहिए। अगर दो बीमार मिलें तो बीमारी दुगुनी हो जाती है। अगर दो अकेले आदमी इकट्ठे हो जाएं तो अकेलापन दोहरा और गहरा हो जाता है। संन्यासी कहता है, दो होने का मार्ग ही नहीं, अकेले हम हैं। इसकी स्वीकृति से मोह का विसर्जन हो जाता है—इसकी स्वीकृति से एक्सेप्टीबिलिटी होती है कि मैं अकेला हूं।

शोक क्या है, दुख क्या है? एक ही दुख है जगत् में। सब दुख उपेक्षाओं से आते हैं, थ्रू एक्सपेक्टेशन। सोचते कुछ हैं, होता कुछ है। सोचते थे कि जो आदमी रास्ते पर मिलेगा, नमस्कार करेगा, पर वह आंखें बचाकर निकल गया। शोक पैदा हो गया। शोक क्या है? अपेक्षाओं की राख। और शोक से हम पीड़ित होते हैं, दुख से हम पीड़ित होते हैं। दुख बहुत छिद जाता है, छाती में छिदता चला जाता है। फिर भी हम अपेक्षाएं किए चले जाते हैं, बिना यह देखे कि दुख के आने का दरवाजा क्या है—अपेक्षा। जहां अपेक्षा की, वहां दुख आया। दुख से हम बचना चाहते हैं और अपेक्षा करते चले जाते हैं। वही कालिदास का 'पोज' बैठे हैं जिस शाखा पर, उसे ही काट रहे हैं। रोज दुखी होते हैं और रोज अपेक्षाएं करते हैं। कभी इस तर्क को नहीं देख पाते, इस नियम को नहीं देख पाते कि अपेक्षाएं दुख पैदा करती हैं।

संन्यासी कहता है, दुखी नहीं होना है तो अपेक्षा नहीं करना। अपेक्षा तो अपने हाथ में है। जिस दिन मैंने अपेक्षा की, किसी भी भांति की अपेक्षा की, उस दिन शोक उतर आएगा, क्योंकि इस दुनिया में कोई आदमी मेरी अपेक्षाएं पूरा करने के लिए पैदा नहीं हुआ। हर आदमी अपनी अपेक्षाएं पूरा करने को पैदा हुआ है। बाप की अपेक्षा और है बेटे से, बेटी की अपेक्षा और है बाप से। होगी ही, क्योंकि बेटा बेटा है, बाप बाप है। दोनों की अपेक्षाएं दोनों को दुखी कर देंगी। जितना दुख होता है, उतनी अपेक्षाएं हम ज्यादा करने लगते हैं। हम सोचते हैं अपेक्षाओं से सुख मिलेगा। पर अपेक्षाओं से दुख मिलता है। शोक क्या है? एक ही शोक है जो हम चाहते हैं, वह नहीं होता। जैसा हम चाहते हैं, वैसा नहीं होता। जैसा हम मानकर चलते हैं, वह नहीं होता।

मुल्ला नसरूद्दीन से किसी ने कुछ रुपए उधार मांगे। पचास रुपए उधार मांगे हैं। मुल्ला ने पचास रुपए लाकर उसे दे दिए हैं। वह बड़ा हैरान हुआ। ऐसी

अपेक्षा न थी कि मुल्ला बिना कुछ कहे उठेगा और चुपचाप पचास रुपए दे देगा। पन्द्रह दिन बाद वायदे के अनुसार वह पचास रुपए वापस लौटा गया। मुल्ला बहुत चकित हुआ, क्योंकि ऐसी अपेक्षा न थी कि वह रुपए वापस लौटा जाएगा। लेकिन महीने भर बाद वह फिर हाजिर हुआ। उसने कहा कि पांच सौ रुपए मुझे दीजिए। मुल्ला ने कहा, अब की बार तुम धोखा न दे पाओगे। पिछली बार तुम धोखा दे गए। (यू डिसीव्ड मी लास्ट टाइम।) उसने कहा, धोखा! मैं तुम्हारे पचास रुपए लौटा नहीं गया? उसने कहा, वही तो धोखा है, क्योंकि अपेक्षा यह थी कि रुपए लौटने वाले नहीं हैं। वही तो धोखा हुआ। पिछली दफे धोखा दे गए, लेकिन अबकी दफे न दे पाओगे। मैं रुपए देने वाला नहीं।

हम सब ऐसे ही जी रहे हैं। भीतर बड़े रस पैदा कर रहे हैं। लेकिन आपने कभी ख्याल किया कि रास्ते से आप गुजर रहे हैं और एक आदमी आपका गिरा हुआ छाता उठाकर दे देता है, तो कितना अनुग्रह मालूम पड़ता है क्योंकि कोई अपेक्षा नहीं है कि उठाकर दे। यदि आपकी पत्नी उठाकर दे देगी, तो कोई अनुग्रह पैदा नहीं होगा। क्योंकि यह अपेक्षा थी ही कि उठाकर देना चाहिए। अगर न दे तो दुख पैदा होता है, लेकिन दे दे, तो सुख पैदा नहीं होता।

जहां-जहां अपेक्षा बन जाती है वहां-वहां सुख क्षीण हो जाता है और दुख गहन हो जाता है। अपेक्षाएं बिल्कुल थिर हो जाती हैं, तो दुख ही दुख हाथ में रह जाता है, सुख का कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इसलिए अजनबी कभी थोड़ा-बहुत सुख भले दे दें, अपने लोग सुख नहीं दे पाते। इसका कारण अपने लोग नहीं हैं, इसका कारण अपेक्षा है। अपरिचित, अनजान लोग कभी सुख की झलक दे जाएं, लेकिन परिचित, जाने-माने सम्बन्धित, मित्र, परिवार के लोग कभी सुख नहीं दे पाते।

कोई बेटा किसी मां को सुख नहीं दे पाता। यह वक्तव्य थोड़ा अतिश्योक्तिपूर्ण मालूम पड़ेगा। आप कहेंगे कि चोर हो जाता है, तो नहीं दे पाता। नहीं, बुद्ध हो जाए, तो भी नहीं दे पाता। बेईमान हो जाए, तब तो दे ही नहीं पाता, ईमानदार हो जाए, तब भी नहीं दे पाता। सजा काटे, जेलखाने में चला जाए तो दे ही नहीं पाता। साधु हो जाए, सरल हो जाए, तो भी नहीं दे पाता। कुछ भी करे बेटा, कोई मां आज तक तृप्त हुई है? इसकी खबर नहीं मिली। बात क्या है? कारण क्या है? बाप की अपनी अपेक्षाएं हैं। बेटे का अपना जीवन है। और यह भी बड़े मजे की बात है और बड़े राज की कि अगर बेटा बिल्कुल बाप की मानकर चले तो भी सुख नहीं दे पाता, क्योंकि तब वह गोबर-गणेश मालूम पड़ेगा—बिल्कुल गोबर के गणेश, बाप कहे बैठो तो बैठ जाए, बाप कहे उठो तो उठ जाए। बाप कहे चलो, तो चलने लगे। बाप सिर ठोक लेता है कि बेटा बिल्कुल गोबर-गणेश है। अगर बेटा बाप की न माने, तो दुख होता है। हमारे एक्सपेक्टेशंस कंट्राडिक्ट्री हैं, बड़े

विरोधी हैं। अगर पति पत्नी की न माने, तो पीड़ा होती है, अगर बिल्कुल मानकर चले तो समझती है, कैसा पति है! किसी मतलब का नहीं, हुए न हुए, बराबर। पति तो ऐसा चाहिए, रोबीला, और ऐसा भी चाहिए कि गुलाम। बड़ी मुश्किल है। पति चाहिए पुरुष, और ऐसा चाहिए कि पैर दबाता रहे। दोनों बातें हो नहीं सकतीं। वह पैर दाबे, तो पुरुषत्व क्षीण हो जाता है। पुरुषत्व क्षीण हो जाता है, तो पत्नी की दृष्टि गिर जाती है उस पर। वह नौकर-चाकर की तरह हो जाता है।

मुल्ला नसरूद्दीन एक दिन घर लौटा है। वह पत्नी से कहने लगा, यह तूने क्या किया? मैनेजर नौकरी छोड़कर चला गया। पत्नी ने कहा, मैनेजर, और मेरा क्या सम्बन्ध? उसने कहा, तूने आज फोन करके इस तरह अपशब्द बोले कि उसने तत्काल इस्तीफा दे दिया। पत्नी ने कहा, अरे, बड़ी भूल हो गई। मैं तो समझती कि फोन पर तुम हो।

हमारी ऐसी अपेक्षाएं हैं। अगर प्रतिभाशाली बेटा होगा, तो बाप की खींची गई लक्ष्मण रेखाओं के भीतर नहीं चल सकता। प्रतिभा सदा स्वतन्त्र होती है। बाप चाहता है, बेटा प्रतिभाशाली हो, लेकिन बाप यह भी चाहता है कि मेरी मानकर सिर्फ मन्द-बुद्धि चल सकते हैं। अब बड़ी मुश्किल है। मन्द-बुद्धि और प्रतिभा एक साथ नहीं हो सकती। मन्द-बुद्धि होगा तो दुख देगा, प्रतिभाशाली होगा तो दुख देगा। यह खेल क्या है? संन्यासी इस सत्य को समझकर अपेक्षाएं करना बन्द कर देता है। वह कहता है, अपेक्षाएं विरोधीभासी हैं, इसलिए मैं अपेक्षाएं नहीं करता। अपेक्षाएं दूसरे से की जा रही हैं। दूसरा उनको पूरा करने के लिए बाध्य क्यों हो? दूसरा दूसरा है और जब मैं अपेक्षा करता हूं तो दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा डालता हूं। जब भी मैं छोटी-सी अपेक्षा भी, बिल्कुल छोटी-सी अपेक्षा, करता हूं जिसका कोई मतलब नहीं कि रास्ते से निकलूं तो नमस्कार कर लो (जिसका कोई मतलब नहीं है, जिसमें कुछ खर्च नहीं होता किसी का) तो इतनी सी अपेक्षा भी दूसरे की स्वतन्त्रता पर बाधा है, हिंसा है, वायलेंस है।

संन्यासी कहता है, जब मैं स्वतन्त्र होने को आतुर हूं, उत्सुक हूं, तो सभी स्वतंत्र होने को आतुर और उत्सुक हैं। नहीं, कोई अपेक्षा नहीं। अपेक्षा नहीं, तो शोक नहीं, दुख नहीं। अपेक्षा नहीं, तो संताप नहीं पैदा होगा। शोक को छोड़ना हो, तो अपेक्षा की जड़ें छोड़ देनी पड़ती हैं, शोक छूट जाता है। जब भी क्रोध पैदा होता है मन में, तब ऐसा लगता है कि दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध का कारण है, दूसरा जिम्मेवार है, ऐसी धारणा।

मुल्ला नसरूद्दीन एक नई जगह नौकरी करने गया। इन्टरव्यू हुआ। मालिक ने उसकी भेंट ली और कहा कि ध्यान रखो, तुम आदमी देखने से रिस्पांसिबिल (जिम्मेदार) नहीं मालूम पड़ते, अपने ढंग-डौल से। मैंने अखबार में जो विज्ञापन

दिया था, उसमें लिखा था कि इस पद के लिए बहुत रिस्पांसिबिल, योग्य, जिम्मेवार और उत्तरदायित्व को समझने वाला आदमी चाहिए। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि इसीलिए तो मैंने दरखास्त दी। बिकाज व्हेयरएवर ऐनीथिंग रोंग हैपंस आई एम आलवेज हेल्ड रिस्पांसिबिल। कहीं कुछ गड़बड़ हो जाए, जिम्मेवार सदा मैं ही सिद्ध होता हूं। मैं पच्चीस जगह नौकरी कर चुका, कहीं कोई भी गड़बड़ी हुई, जिम्मेवार सदा मैं ही सिद्ध हुआ हूं। आपने लिखा था कि जिम्मेवार आदमी की जरूरत है, तो मैं हाजिर हो गया।

क्रोध का सूत्र क्या है? सदा दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध का सूत्र यही है कि सदा दूसरा जिम्मेवार है। क्रोध छोड़ना हो, तो समझना पड़ेगा कि सदा मैं ही जिम्मेवार हूं। फिर क्रोध का कोई कारण नहीं रह जाता। फिर क्रोध की जड़ें कट जाती हैं। तो संन्यासी कसम नहीं खाता कि मैं क्रोध नहीं करूंगा। वह क्रोध के राज को, रहस्य को, उसकी जड़ों को समझ लेता है और मुक्त हो जाता है। मुक्त होने में कठिनाई नहीं है। लेकिन आप पुराने सूत्र पकड़े रखें और कसमें खाते चले जाएं, तो मुश्किल में पड़ेंगे। भीतर तो यही मानते रहें कि जिम्मेवार दूसरा है और ऊपर से कहें कि मैं क्रोध नहीं करूंगा। यह नहीं होने वाला है। क्रोध भीतर बनेगा। रास्ते खोजेगा और विचित्र रास्ते खोज सकता है।

एक ईसाई पादरी के बाबत मैंने सुना है कि उसने कसम ली थी कि गालियां नहीं देगा। बुरे शब्द, अपशब्द नहीं बोलेगा। जिस दिन वह पादरी के पद पर दीक्षित हुआ, उसी दिन उसके स्वागत-समारोह में गांव में एक भोज हुआ। कसम तो खा ली थी कि गाली नहीं देगा। पहले ही दिन मुसीबत में पड़ा। कसम खाने वाले सदा मुसीबत में पड़ जाते हैं, क्योंकि कसम कोई समझ नहीं है। समझदार आदमी कसम नहीं खा सकता। समझ काफी है, कसम की जरूरत नहीं है। गैर-समझदार आदमी समझ की कमी को कसम से पूरी करने की कोशिश करता है। और जब समझ ही नहीं है, तो कसम खाकर समझ पैदा नहीं हो जाएगी। कसम तो खा ली थी। पहले ही दिन भोज था। बड़े बढ़िया, अच्छे कपड़े पहनकर पहुंचा था। बेरा ने भोजन परोसते वक्त सब्जी का पूरा का पूरा बर्तन उसके कपड़ों पर गिरा दिया। आग जल गई भीतर, गालियां होठों पर आ गईं। लेकिन कसम खा चुका था, तो उसने कहा कि भाइयो, कोई गृहस्थ आदमी इस समय पर, जो कहना जरूरी है, जरा इससे कहे, क्योंकि मैंने तो कसम ले ली है। जरा ऐसी बातें कहो, जो इस वक्त बिल्कुल जरूरी है। यही होने वाला है। क्योंकि कसमें क्या करेंगी, कसमें समझ नहीं हैं। नासमझ कसमें खाते हैं, संन्यासी व्रत नहीं लेता। यह बहुत हैरानी होगी सुन कर कि संन्यासी व्रत नहीं लेता। संन्यासी समझ से ही जीता है। समझ ही उसका एकमात्र व्रत है। जो समझ जाता है, समझ में आ जाता है, वह विसर्जित हो जाता है।

परब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं। एक ही उनका स्वाद और एक ही उनका रस है। व्यक्तियों से नहीं है वह स्वाद। वस्तुओं से नहीं है वह स्वाद। वह रस व्यक्तियों से नहीं, वस्तुओं से नहीं। वह रस और स्वाद उनका सिर्फ परमात्मा से है। लेकिन वहां भी वे भय, मोह, शोक और क्रोध का सम्बन्ध नहीं बनाते। अब यह बहुत समझने-जैसी बात है।

आमतौर से भक्त जिनको हम कहते हैं, वे परमात्मा से भी भय, मोह, शोक और क्रोध का सम्बन्ध निर्मित कर लेते हैं। वे परमात्मा तक से रूठ जाते हैं। परमात्मा उनकी मानकर चले, इसकी अपेक्षा हो जाती है। वे जैसा कहें, वैसा परमात्मा करें, इसकी अपेक्षा बन जाती है। परमात्मा पर भी नाराज हो सकते हैं। उन्होंने अपने सब रोगों को परमात्मा पर आरोपित कर लिया। वे रोगों से मुक्त नहीं हुए। संन्यासी परमात्मा से कोई अपेक्षा नहीं करता। यही उसका सम्बन्ध बनता है। परमात्मा जो करता है, वह उसके लिए राजी है। क्रोध नहीं करता कि इससे अन्यथा होना था। परमात्मा से भी मोह नहीं बनाता, नहीं तो कोई भी निमित्त मोह के लिए कारण बन जाता है।

एक सन्त के सम्बन्ध में मैंने सुना है। वे राम के भक्त थे। कृष्ण के मन्दिर में गए, तो नमस्कार करने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा, जब तक धनुष-बाण हाथ में न लोगे, तब तक मैं सिर न झुकाऊंगा। यह भारी मोह हो गया। यह मोह तो पागलपन हो गया। यह तो विक्षिप्तता हो गई। धनुष-बाण हाथ में हो, तभी मेरा सिर झुकेगा। तब तो मेरे सिर झुकने में भी कण्डीशन हो गई, शर्त हो गई कि धनुष-बाण हाथ में रखो, नहीं तो मेरा सिर झुकने वाला नहीं। अब यह मेरा सिर ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया।

हम सबके मोह हैं। मस्जिद के सामने से हम ऐसे निकल जाते हैं, जैसे कुछ नहीं। मन्दिर के सामने सिर झुका लेते हैं। मन्दिर में भी फर्क है—अपने-अपने मन्दिर हैं। अपने मंदिर के सामने सिर झुका लेते हैं, दूसरे के मन्दिर के सामने ऐसे ही निकल जाते हैं। मोह वहां भी खड़ा है। संन्यासी का कोई मोह नहीं। इसलिए मैं कहता हूं, संन्यासी के लिए मंदिर और मस्जिद और गुरुद्वारा एक है। कभी मस्जिद करीब हो, तो वहां प्रार्थना कर लें, और कभी गुरुद्वारा करीब हो, तो वहां प्रार्थना कर लें, और कभी मन्दिर करीब हो, तो वहां प्रार्थना कर लें और कुछ भी करीब न हो, तो कहीं भी बैठ जाएं। वही मन्दिर है, वही मस्जिद है, वही गुरुद्वारा है। भीतर मन में बड़े मोह होते हैं।

संन्यासी का एक ही रस है, एक ही स्वाद है परम सत्ता की तरफ, और यह स्वाद तभी पैदा हो सकता है, जब ये चार ऊपर के स्वाद गिर गए हों, नहीं तो यह पैदा नहीं हो सकता। अगर ये चार स्वाद भय के, क्रोध के, मोह के, शोक के बने रहें, तो यह परम सत्ता की तरह बहने वाला रस, यह रसधार पैदा नहीं होता।

इसके बाद का सूत्र है, अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है। यह सूत्र बड़ा क्रांति का है। इसी सूत्र की मैं बात कर रहा था। अनियामक, इनडिसिप्लिन, अनुशासन-मुक्ति ही उनकी निर्मल शक्ति है। वे नियमन नहीं करते, वे अपने को अनुशासन में बांधते नहीं, वे व्रत नहीं लेते, डिसिप्लिन नहीं करते, वे अपने को अनुशासन में बांधते नहीं, वे व्रत नहीं लेते, नियम नहीं लेते। वे कोई मर्यादा नहीं बांधते, वे ऐसा नहीं कहते कि मैं ऐसा करूंगा। ऐसी कसम नहीं खाते। अनियम में जीते हैं, इनडिसिप्लिन में। बड़ी अजीब बात है। क्योंकि हम तो सोचते हैं कि संन्यासी को एक डिसिप्लिन में जीना चाहिए। लेफ्ट-राइट वाले डिसिप्लिन में होना चाहिए। हमारे तथाकथित संन्यासी हैं, बिल्कुल 'लेफ्ट राइट' हैं। लेकिन यह ऋषि कहता है, अनियामकपन।

कैसे अद्भुत और प्यारे लोग रहे होंगे और कैसा साहस और कैसी गहरी समझ रही होगी। ऋषि कहता है, संन्यासी का कोई नियम नहीं है। असल में सब नियमों के बाहर हो जाना संन्यास है। मन को घबराहट होगी। अगर सब नियम टूट गए, तब तो सब अस्त-व्यस्त, अराजक हो जाएगा। तब तो जिन्दगी की सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी। नहीं होगी, क्योंकि इस अवस्था तक आने के लिए ऋषि कहता है मोह, लोभ, काम, क्रोध ये सब विसर्जित हो जाएं। परमात्मा ही रस रह जाए, फिर अनियामकपन। जिसका काम न रहा, क्रोध न रहा, जिसका मोह न रहा, लोभ न रहा, भय न रहा, अब उस पर नियम की और क्या जरूरत रही ? और अगर अब भी नियम की जरूरत है, तो स्वतन्त्रता फिर कब मिलेगी ? और जिसका परमात्मा ही रस रह गया, अब उसके लिए नियम की क्या जरूरत रही।

संन्यासी रेल की तरह पटरियों पर नहीं दौड़ सकता। वह सरिताओं की तरह स्वतन्त्र है। सागर ही उसकी खोज है। रेल की बंधी हुई पटरी, जिन पर रेलगाड़ी के डिब्बे दौड़ते रहते हैं, वह गृहस्थ के जीने का ढंग है। गृहस्थ रेलगाड़ी की पटरियों पर दौड़ता है और अक्सर कहीं नहीं पहुंचता, शंटिंग में ही होता है। कोई स्टेशन वगैरह कभी आता नहीं, शंटिंग ही चलती है। पत्नी इस तरफ जाती है, पति उस तरफ जाता है, बेटा उस तरफ जाता है। शंटिंग होती रहती है। धीरे-धीरे डिब्बे जीर्ण-जर्जर होकर वहीं गिर जाते हैं। कोई यात्रा कभी पूरी नहीं हो पाती। और ठीक भी है, क्योंकि गृहस्थ जो है, वह पैसेंजर गाड़ी की तरह कम और मालगाड़ी की तरह ज्यादा है—तो गुड्स ट्रेन की शंटिंग आप देखते ही हैं, होती ही रहती है।

गृहस्थ भारी बोझ और सामान लिए हुए चल रहा है। बोझ इतना है कि चलना हो नहीं पाता और बोझ बढ़ाता ही चला जाता है। रोज बोझ बढ़ता चला जाता है। पुराना तो रहता ही है, नए को इकट्ठा करता चला जाता है। आखिर में उसी बोझ के नीचे दबकर मरता है। नियम जरूरी है गृहस्थ की दुनिया में, क्योंकि इतने लोग हैं वहां कि अगर चारों तरफ सिपाही बन्दूकें लिए न खड़े हों, तो बड़ी कठिनाई हो जाती है। संन्यासी के लिए नियम का कोई सवाल न रहा, क्योंकि जिस चीज के लिए हम नियम करते थे, उसको छोड़ने को ही ऋषि संन्यास कह रहा है। इसे ठीक से समझ लेना चाहिए।

जिसे छोड़ने के लिए ऋषि संन्यास कह रहा है, उसी के लिए तो हम नियम बनाते हैं। नियम सिर्फ 'पुअर सब्स्टीट्युट' थे, बहुत कमजोर परिपूरक थे। रास्ते पर एक सिपाही खड़ा है, क्योंकि पक्का पता है कि सिपाही हटा कि बाएं चलने का नियम समाप्त हो जाता है। मेरे एक मित्र हैं—पद्मश्री हैं, वर्षों से एम० पी० हैं, बड़े कवि हैं, मगर भारतीय होने का गुण भी है। लन्दन पहली दफा गए थे। कहीं मित्र के घर से भोजन करके रात कोई एक बजे लौट रहे थे। टैक्सी में लौट रहे थे। रास्ता सुनसान था, कोई नहीं था। न पुलिस वाला था, न ट्रैफिक था, न कोई कुछ। लेकिन टैक्सी ड्राइवर ने लाल बत्ती को देखकर कार को जब रोक लिया, तो उन्होंने उससे कहा, जब कोई पुलिस वाला ही नहीं और रास्ते पर कोई गाड़ी भी नहीं, तो निकल चलो। यह भारतीय का गुण है और पद्मश्री हो तो यह गुण थोड़ा और ज्यादा ही होना चाहिए। उस ड्राइवर ने बहुत चकित होकर उन्हें देखा और कहा, खिड़की के बाहर जरा आंख खोलकर देखें। एक बूढ़ी औरत साइकिल रोक कर सर्दी में खड़ी कंप रही है, क्योंकि लाल लाइट है। आप तो कार के भीतर बैठे हैं। एक मिनट में क्या बिगड़ा जा रहा है। पुलिस वाला खड़ा हो, तब तो एक बार निकला भी जा सकता है धोखा देकर, लेकिन जब कोई भी नहीं खड़ा है और हम पर ही सारी बात छोड़ दी गई है, तो यह धोखा किसी दूसरे को नहीं देना है, अपने को देना है।

ऋषियों ने संन्यासी को मुक्त कहा है। उस पर हम कोई नियम हम नहीं रखते, क्योंकि हम मानते हैं कि वह अपने को धोखा नहीं देगा। बस इतना सूत्र है उसका कि अपने को वह धोखा नहीं देगा। जिसे यह पता चल गया कि अपने को धोखा नहीं दिया जा सकता, 'देन ए न्यू डिसिप्लिन इज बॉर्न, ऐन इनर डिसिप्लिन।' तब एक नया अनुशासन पैदा होता है, जो आन्तरिक है, जिसे ऊपर से आयोजित नहीं करना पड़ता। संन्यासी ऐसा नहीं कहता कि मैं सत्य बोलूंगा। जब भी घटना घटती है, वह सत्य बोलता है। संन्यासी ऐसा नहीं कहता कि मैं चोरी नहीं करूंगा। जब भी ऐसा अवसर आए, तो वह चोरी नहीं करता है। ये भीतरी अनुशासन हैं और बाहरी कोई अनुशासन नहीं है।

अनियामकपन, टु बी अनडिसिप्लिण्ड। बट इज बैटर टु यूज अनडिसिप्लिन दैन इन-डिसिप्लिन। अनुशासन मुक्त, अनुशासनहीन नहीं। क्योंकि 'हीन' कहना ठीक नहीं। उसके भीतर एक नया अनुशासन जन्म गया। इसलिए बाहर के अनुशासन हटा लिए गए। लेकिन कोई अगर सोचता हो, और ऐसा मन में होता है और कई

आदमी को हुआ, जिससे बहुत उपद्रव इस मुल्क में पैदा हुए। कोई अगर सोचता हो कि यह तो बहुत बढ़िया बात हुई कि संन्यासी हो जाएं और अनियामकपन में प्रवेश कर जाएं। अनियामकपन बड़े नियमन से आता है। अनियामकपन की स्थिति और हैसियत बड़ी यात्रा से पैदा होती है। बड़ी साधना से जन्मती है। कोई सोचे कि हम यहीं, इसी क्षण अनियम में उतर जाएं, तो सिर्फ अराजकता में उतर जाएगा। और अराजकता में उतर कर बड़ा दुखी हो जाएगा। क्योंकि उसकी खुद की अपेक्षाएं दूसरों से तो यही रहेंगी कि वे नियम पालन करें।

मुल्ला नसरूद्दीन पकड़ लिया गया है। एक धोखे में, मजिस्ट्रेट पूछता है कि तुमसे इस आदमी को धोखा दिया, जो तुम पर इतना भरोसा करता था। नसरूद्दीन कहता है, योर ऑनर, अगर यह भरोसा न करता, तो मैं धोखा कैसे देता। अगर मैं धोखा दे पाया तो हम बराबर जिम्मेवार हैं। क्योंकि इसने भरोसा किया, तभी मैं धोखा दे पाया। अगर यह भरोसा नहीं करता, तो यह अपराध घटित ही नहीं होने वाला था। अगर सजा दी जाए, तो दोनों को बराबर दी जाए और मूल अपराधी यही है। हमारा नम्बर तो दो है। नम्बर एक यह है। इसने भरोसा कर लिया, हमने धोखा दे दिया। हमारा धोखा पीछे आया है। धोखा देने वाला भी आपके भरोसे पर निर्भर होता है। अराजक जो अपने को बना रहा है, वह भी आपकी व्यवस्था पर निर्भर होता है।

आज हिप्पी हैं, या सारी दुनिया में जो नए युवक अराजक हैं, वे अनियामक हुए जा रहे हैं, नियम छोड़कर जी रहे हैं। हमें ख्याल में नहीं है कि वह हमारी व्यवस्था पर निर्भर है। अगर हम पूरी व्यवस्था तोड़ दें, तो हिप्पी इसी वक्त मिट जाए, जी नहीं सकता। वह जी रहा है इसीलिए कि बड़ी व्यवस्था जारी है। जिसको हम क्रान्तिकारी कहते हैं, वह जी नहीं सकता, अगर वे लोग न बचें, जो कंफर्मिस्ट हैं। एक आदमी अगर रंग-बिरंगे, बेढब कपड़े पहनकर बाजार में खड़ा हो जाता है, तो वह इसीलिए खड़ा हो पा रहा है कि बाकी लोग व्यवस्थित ढंग के कपड़े पहनकर चलते हैं। अगर बाकी लोग भी वैसे ही कपड़े पहनकर खड़े हो जाएं, तो वह आदमी भाग खड़ा होगा। वह वहां चौराहे पर फिर खड़ा होने वाला नहीं, क्योंकि एग्जीबीशन (प्रदर्शन) का फिर कोई अर्थ ही न रहा। हो सकता है, वह आदमी व्यवस्थित कपड़े पहनकर चौरस्ते पर खड़ा हो जाए, क्योंकि भिन्न दिखाई पड़ने में उसे रस आ रहा था। जो लोग नियम तोड़ने में रस ले पाते हैं, वे इसीलिए ले पाते हैं कि नियम चारों तरफ जारी है।

मुल्ला नसरूद्दीन अदालत में लाया गया। मजिस्ट्रेट ने कहा कि हजार दफे तुम्हें कहा कि शराब पीना बन्द करो। फिर तुम आ गए वापस उसी जुर्म में। मुल्ला ने कहा, माइ ऑनर, आई फेल इनटु ए बैड कम्पनी, मुझे बुरे लोगों का साथ मिल गया। मजिस्ट्रेट ने कहा, यह मैं न मानूंगा। कैसे बुरे लोग? नसरूद्दीन ने कहा,

पूरी बोतल शराब की थी और तीनों ऐसे थे कि कहते थे कि शराब न पीएंगे। तीनों जिद्दी थे। तीनों कहने लगे, हमने शराब पीना बन्द कर रखी है। हम शराब नहीं पीते। ऐसी बुरी कम्पनी मिल गई, पूरी बोतल मुझे ही पीनी पड़ी। 'आई फेल इनटु ए बैड कम्पनी' उसका यह फल है। यह जिम्मा मेरा नहीं। वे तीनों दुष्ट अगर थोड़ी भी पी लेते, बंटा लेते हाथ, तो यह उपद्रव पैदा होने वाला नहीं था। पूरी शराब मुझे ही पीनी पड़ी।

अगर सारी दुनिया बेईमान हो जाए, तो बेईमानी गिर जाए। सारे लोग चोर हो जाएं, तो चोरी गिर जाए। चोरी को भी खड़े होने के लिए अचोर का साथ चाहिए। जो चोर है, वह अपेक्षा करता है कि आप चोरी न करेंगे। इस व्यवस्था के भीतर संन्यासी अव्यवस्था पैदा नहीं करता है। सिर्फ उन बीमारियों के बाहर हो जाता है, जिनको व्यवस्थित करने के लिए व्यवस्था थी। 'ही ट्रान्सेन्ड्स,' वह अतिक्रमण कर जाता है और आपसे कोई अपेक्षा नहीं करता। जो भी उस पर घटित हो जाए उसके अनियामकपन में जो भी परिणाम आ जाए, वह उसके लिए राजी होता है।

डायोजनीज नग्न घूमता था। पुलिस ने उसे पकड़ लिया। वह पुलिस के साथ चला गया। वह जेलखाने में बैठ गया। सम्राट् ने उसे बुलाया और कहा, डायोजनीज, तूने कोई विरोध न किया। तो उसने कहा, कोई अपेक्षा ही न थी। विरोध तो तब हो, जब अपेक्षा हो। नग्न रहना हमारी मौज है, बन्द करना तुम्हारी मौज है। हम राजी, बात खत्म हो गई। इसमें विरोध कैसा? अगर हम यह मान-कर चलें कि हम नग्न रहेंगे और तुम बन्द मत करो, तब झंझट खड़ी होगी। हम अपने लिए स्वतन्त्र हैं, तुम भी स्वतन्त्र हो। तुम नंगे आदमी को सड़क पर नहीं घूमने देना चाहते, तुमने बन्द किया। हम नंगे रहना चाहते हैं, हम जेल के भीतर नंगे रहेंगे। कहीं कोई उपद्रव नहीं है। कहीं विरोध नहीं है। हमारा मत बिल्कुल एक है। हम दोनों का मतैक्य है। सम्राट् ने कहा, इस आदमी को छोड़ दो, क्योंकि यह आदमी नियम के बाहर हो गया। फिर नियम का कोई अर्थ ही न रहा। हम इसको सजा नहीं दे सकते।

मुझे खुद बचपन में व्यायाम का बहुत शौक था। मेरे एक शिक्षक थे। जब मैं उनके क्लास में गया, तो उनके दण्ड देने की बात मालूम हुई। वे कहते थे, पच्चीस उठक-बैठक लगाओ। जब भी वे मुझसे कहते कि पच्चीस उठक-बैठक लगाओ, तो मैं सौ लगा जाता, क्योंकि मुझे उसका मजा ही था। उन्होंने मुझसे कहा कि यह नहीं चलेगा। हम कह रहे हैं पच्चीस लगाओ और तुम सौ लगा रहे हो। उनकी पक्की व्यवस्था थी उठक-बैठक लगाने की। उन्होंने मुझे एक ही दफा लगवायी, फिर नहीं लगवायी। मैंने दो-चार दफा उनसे पूछा, यह गलती मुझसे हो गई। उठक-बैठक लगाऊं? उन्होंने कहा, छोड़ो भी, उठक-बैठक की कोई जरूरत नहीं।

क्योंकि उठक-बैठक लगवाने का मजा तभी तक है, जब तक लगाने वाला दुखी हो रहा हो। यदि लगाने वाला प्रसन्न हो रहा हो, तो वह बेकार है। फिर तो मुझे तरकीब हाथ लग गई। फिर मुझे कोई शिक्षक दण्ड नहीं दे पाया। एक शिक्षक थे। वे जरा भी कुछ गड़बड़ हो, तो कमरे के बाहर कर देते थे। मैं कमरे के बाहर का आनन्द लेने लगा। उन्होंने मुझसे कहा, तुम्हें किस प्रकार का दण्ड दिया जाए। मैंने उनसे कहा, मुझे तो क्लास के बाहर, क्लास के भीतर से, ज्यादा अच्छा लगता है। मजे से दण्ड दें।

हमारी जो व्यवस्था है नियम है, वह तभी तक लागू है, तभी तक अर्थपूर्ण है, जब तक हम अपने लिए अलग और दूसरे के लिए अलग नियम की मांग करते चले जाते हैं। संन्यासी जो अपने लिए मानता है, वही सबके लिए मानता है। फिर अनियामक हो सकता है। उसे नियम में बांधने की कोई जरूरत नहीं है। इन्हीं सूत्रों की वजह से जिन लोगों ने भी पश्चिम में पहली दफे उपनिषद् पढ़ी, वे घबरा गए कि इससे तो सब टूट जाएगा, सब नष्ट हो जाएगा। पर उन्हें पता नहीं कि कुछ भी नष्ट नहीं होगा, क्योंकि इस सूत्र तक आने के पहले संन्यासी जो यात्रा करता है, उससे वह सब रोगों से मुक्त हो जाता है। अगर हम उससे कहते हैं, कोई दवा मत पियो, तो तभी कहते हैं जब वह बीमार ही नहीं रह जाता।

मुल्ला नसरुद्दीन बीमार था। जब वह ठीक हो गया दस दिन बाद, तो डाक्टर ने उससे पूछा, 'डिड यू फौलो द इंस्ट्रक्शंस गिवेन अण्डर द मेडिसिन ?' मुल्ला ने कहा कि नहीं, 'आई बिकेम आलराइट बिकाज आई डिडण्ट फौलो द इंस्ट्रक्शंस ऐण्ड डिडन्ट फौलो द मेडिसिन'। डाक्टर ने पूछा, मतलब ! मुल्ला ने कहा, सात मंजिल ऊपर से मैंने तुम्हारी दवा फेंकी है। अगर उसके पीछे फौलो करूं, तो फैसला हो जाए। तुम्हारा प्रेस्क्रिप्शन भी उसी में रख दिया था। सब फेंक दिया। बच गया। अगर दवा का पीछा करता या अनुसरण करता, तो मरता।

हम जिन नियमों का अनुसरण करके जीते हैं, जिनके बिना हमें लगता है हम जी ही न सकेंगे, उसका कारण है। भीतर बीमारियां छिपी हुई हैं। बीमारियां ही न हों, तो इन नियमों का पीछा जो करेगा, मरेगा। झंझट में पड़ेगा। अगर संन्यासी नियमों का पालन करेगा, तो झंझट में पड़ेगा, रुग्ण होगा, परेशान हो जाएगा। क्योंकि जो बीमारी नहीं है, उसकी दवा पीता रहेगा। इसलिए ऋषि कहता है, अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है।

यह बहुत अद्भुत बात है 'निर्मल शक्ति।' हम तो मानते हैं कि डिसिप्लिन क्रिएट्स फोर्स, डिसिप्लिन इज पावर। हम सब मानते हैं, शक्ति तो अनुशासनबद्ध होने में है। फौज की ताकत यही है कि वह अनुशासनबद्ध है, और जितनी अनुशासनबद्ध है, उतनी शक्तिशाली है। शक्ति तो पैदा होती है अनुशासन से। यह ऋषि कहता है कि अनियामकपन ही उनकी निर्मल शक्ति है। यह किसी और ही शक्ति की बात है, पर इसमें 'निर्मल' लगाया उसने।

असल में ऐसा समझें कि अनुशासन से जो शक्ति पैदा होती है, वह दूषित होती है। इसलिए जहां-जहां हमें दूषित शक्ति का उपयोग करना पड़ता है, वहां डिसिप्लिन थोपनी पड़ती है। चाहे वह पुलिस हो और चाहे अदालत का कानून हो और चाहे सेना हो, जहां-जहां हमें कुछ उपद्रव खड़ा करना पड़ता है, या उपद्रव को दबाने के लिए कोई दूसरा उपद्रव उसके प्रतिकार में खड़ा करना पड़ता है, वहां-वहां दूषित शक्ति का उपयोग होता है। दूषित शक्ति तथाकथित अनुशासन से पैदा होती है।

अगर हिटलर इस दुनिया में इतना उपद्रव पैदा कर सका, तो वह जर्मन कौम की अनुशासित होने की क्षमता की वजह से। भारत में हिटलर पैदा नहीं हो सकता। कोई लाख उपाय करे, यहां उपद्रव नहीं करवा सकता क्योंकि अनुशासन ही पैदा करवाना मुश्किल है। जर्मन कौम की जो प्रतिभा है, वह है अनुशासित होने की क्षमता, इसलिए जर्मन कौम से सदा खतरा रहेगा। वह कभी भी उपद्रव में पड़ सकता है। क्योंकि कोई भी अगर ठीक से आवाज दे, तो जर्मन कौम अनुशासित हो सकती है। वह उसके खून में और हड्डी में समा गया है।

हम भारतीय हैं, हमारी खून और हड्डी में अनुशासन नहीं है। उसका कारण है। वह सौभाग्य है, क्योंकि उसकी वजह से हमने कितने दुख सहे हों, लेकिन हमने किसी को दुख नहीं दिया। हमने कितनी गुलामी सही, लेकिन हम किसी को गुलाम बनाने नहीं गए। ऐसे काम के लिए बहुत अनुशासित होना जरूरी है। वह काम हमसे नहीं हो सका। इसका क्या कारण है कि इस मुल्क में अनुशासन नहीं पैदा हुआ ? इसका कारण है कि इस मुल्क में जो श्रेष्ठतम व्यक्ति था, वह अनुशासनमुक्त था और श्रेष्ठतम को देखकर ही लोग चलते हैं।

हिटलर हमारा श्रेष्ठतम व्यक्ति नहीं है। नेपोलियन नहीं है, सिकन्दर नहीं है, चंगेज नहीं है, तैमूर नहीं है। अगर हम ठीक से सोचें तो चंगेज, तैमूर, हिटलर, मुसोलिनी, स्टेलिन, माओ इनके मुकाबले हमने इतिहास में एक भी आदमी पैदा नहीं किया। पांच हजार साल का इतिहास, इतनी बड़ी कौम, एक चंगेज हमने पैदा नहीं किया। हम कर नहीं सकते, क्योंकि शिखर उठाने के लिए पूरा भवन चाहिए। नीचे एक-एक ईंट चाहिए। हम बुद्ध पैदा कर सके, महावीर पैदा कर सके, पतंजलि पैदा कर सके। ये बहुत और तरह के लोग हैं—अनियामक। ये अनुशासनमुक्त (अनप्रेडिक्टेबल) हैं, इनके बारे में कोई घोषणा नहीं कर सकता कि ये कल सुबह क्या करेंगे, क्या कहेंगे, क्या होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। हमने इस पृथ्वी पर एक और ही प्रयोग किया है, और शायद हमारा प्रयोग अन्ततः जगत् के काम आएगा। बीच में हमें चाहे कितनी तकलीफ उठा लेनी पड़ी हो, अन्ततः हमारा प्रयोग ही जगत् के काम आएगा।

आज पश्चिम के मनोवैज्ञानिक यह बात स्वीकार करने लगे हैं कि किसी भी कौम को बहुत ज्यादा डिसिप्लिन सिखाना अन्ततः युद्ध में घसीटने का रास्ता है। और अगर एक कौम भी डिसिप्लिण्ड हो जाएगी, तो वह युद्ध थोप देगी दूसरों पर, क्योंकि उसको पक्का भरोसा आ जाएगा कि हम किसी को मिटा सकते हैं, हमारे पास अनुशासनबद्ध शक्ति है। इसका मतलब यह हुआ कि मनोवैज्ञानिक कह रहे हैं कि अब बच्चों को डिसिप्लिन मत सिखाओ। अगर दुनिया से युद्ध मिटाना है, तो बच्चों को स्वतन्त्रता दो, पंक्तिबद्ध मत खड़ा करो उनको। उनको यूनिफॉर्म मत पहनाओ। उनको व्यक्तित्व दो, उनको भीड़ और समूह की व्यवस्था मत दो। तभी दुनिया से युद्ध मिट सकता है, नहीं तो दुनिया से युद्ध न मिट सकेगा।

कोई नहीं कह सकता कि आने वाले सौ वर्ष के भीतर भारत के ऋषियों ने जो कहा था, वह जगत् का परम ज्ञान नहीं बन जाएगा। बना जा सकता है। उसका कारण है, पहली दफा अनुशासन के हाथ में इतने खतरनाक अस्त्र पड़ गए हैं कि अगर दुनिया अब अनुशासित हुई, तो नष्ट होगी। अब हमें उन दिशाओं में खोज करनी पड़ेगी, जहां व्यक्ति को हम इतना सरल कर दें कि वह नियममुक्त होकर जी सके।

पर अनियम से जो शक्ति आती है, वह बड़ी निर्मल है। फर्क उसका ऐसा समझें। शक्ति तो वह भी है। आग जलती है, तो गर्मी पैदा होती है। पास जाएं, तो जलन पैदा होती है। हाथ लगा दें, तो जल जाते हैं। लेकिन ठण्डा आलोक भी होता है, जो सिर्फ स्पर्श करता है, लेकिन कोई उष्मा नहीं होती, कोई गर्मी नहीं होती। रात चांद भी निकलता है, उसका भी प्रकाश है। दिन में सूरज भी निकलता है, उसका भी प्रकाश है। लेकिन चांद का प्रकाश बड़ा शीतल है। वह आघात नहीं करता। छूता है, फिर भी स्पर्श का पता नहीं चलता, बहुत शीतल है। शक्ति के भी दो रूप हैं, एक तो बहुत उष्ण, तब वह हिंसा बन जाती है और दूसरे को छेदने लगती है। और एक बहुत निर्मल और शीतल, चांद-जैसी, जब वह दूसरे को सहलाती है, छूती है, लेकिन कहीं कोई आघात नहीं होता। पद-चाप भी नहीं होता, पैरों की आवाज भी नहीं मालूम होती। बुद्ध आपके पास से निकल जाएं, तो ऐसे निकल जाते हैं जैसे कोई भी न निकला हो। लेकिन चंगेज खां निकले, तो ऐसा नहीं निकल सकता।

सुना है मैंने कि चंगेज जब किसी गांव पर हमला करता, तो उस गांव के सब बच्चों के सिर कटवाकर भालों में छिदवा देता। चंगेज चलता अपने घोड़े पर, तो उसके सामने दस-दस हजार बच्चों के सिर भालों पर छिदे रहते थे। किसी ने पूछा, बच्चों के इन भालों पर छिदवाने का क्या मतलब है? ये बच्चे तुम्हारा क्या बिगाड़ रहे हैं? चंगेज ने कहा, पता कैसे चलेगा कि चंगेज इस गांव से गुजर गया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी को याद रहेगा कि चंगेज इस गांव से गुजरा था।

चंगेज एक गांव को लूट कर, गांव के बाहर जंगल में ठहरा हुआ है। गांव की वेश्याओं को बुला लिया है उसने नृत्य के लिए। तीन बजे रात तक वह नृत्य देखता रहा। अंधेरी रात है; वेश्याओं ने कहा, हम यहीं रुक जाएं? रात बहुत अंधेरी है और गांव तक जाना है और निर्जन वन है। चंगेज ने कहा, घबराओ मत। सैनिकों से कहा, आगे बढ़ो और जिन-जिन गांव से इनको गुजरना हो, उनमें आग लगा दो। दस गांव में आग लगा दी गई। वेश्याएं रोशनी में वापस अपने गांव लौट आईं। किसी ने कहा, इतनी सी छोटी बात के लिए वेश्याओं के चार सिपाहियों के साथ भी भेजा जा सकता था। चंगेज ने कहा, याद कैसे रहेगा कि वेश्याएं चंगेज के घर से वापस लौट रही हैं।

एक तामसिक शक्ति है, जिसका मजा यही है कि वह आपको धूल चटा दे, जमीन पर गिरा दे, और बता दे कि मैं हूं। निर्मल शक्ति वह है, जो आपको कभी नहीं बताती कि मैं हूं। आप ही उसे खोजें, तो बामुश्किल खोज पाते हैं। बामुश्किल। निर्मल शक्ति ऐसी अनुपस्थित होती है, जैसे परमात्मा अनुपस्थित है। पर ऐसी निर्मल शक्ति नियम से पैदा नहीं होती, आयोजन से पैदा नहीं होती, संगठन से पैदा नहीं होती। ऐसी शक्ति परम अनियामकपन में रहने से पैदा होती है। संन्यासी परम अनियमकपन को ही अपना सूत्र, अपनी मर्यादा, अपना नियम मानता है।

स्वयं प्रकाश ब्रह्म में शिव शक्ति से सम्पुटित वे प्रपंच का छेदन करते हैं। ऐसे अनियामकपन से उपलब्ध हुई ऊर्जा, यह जो विराट प्रपंच है, इसका छेदकर परम ब्रह्म में प्रवेश कर जाती है। अगर जगत् में कुछ बनाना हो तो तामसिक शक्ति चाहिए—दूषित, अंधेरी ब्लैक। अगर इस जगत् के पार जाना हो तो शुभ, ह्वाइट, निर्मल, साफ, पदध्वनिशून्य शक्ति चाहिए। अगर जगत् में कुछ करना हो, तो अनुशासन के बिना नहीं होगा; और जगत् के प्रपंच के पार यात्रा करनी हो, तो सब अनुशासन छोड़कर परम अनुशासनहीनता में और परम अनुशासनमुक्ति में प्रवेश करना पड़ता है। लेकिन यह वहां कर सकता है, जो भयभीत नहीं है, मोहग्रस्त नहीं है, क्रोधी नहीं है, शोकग्रस्त नहीं है। भयभीत तो सिर्फ नियम बनाएगा।

नीत्से ने एक बहुत अद्भुत बात कही है। उसने कहा है, दुनिया में जो भी नियम बनाए गए हैं, उन्हें कमजोर लोगों ने बनाया है। इस बात में थोड़ी सच्चाई है। शक्तिशाली क्यों नियम मानकर चले! शक्तिशाली कभी नियम मानकर चलता भी नहीं रहा। लेकिन निर्बल लोग भी हैं। अगर नियम न हो, तो निर्बल कहां टिकेंगे? निर्बल इकट्ठे होकर नियम बनाते हैं। निर्बल की भीड़ इकट्ठी हो जाए, तो सबल से ज्यादा सबल हो जाती है। नीत्से कहता था, 'डेमोक्रेसी इज ऐन

एफर्ट टु डीथ्रोन द पावरफुल।' लोकतंत्र शक्तिशालियों को सिंहासन से नीचे उता-रने के लिए एक प्रयास है। वह कमजोरों का षड्यंत्र है। (कांसपिरेसी ऑफ वीकलिंग।) नियम बना लेती है भीड़। शक्तिशाली को नीचे उतार देती है। अगर तथाकथित शक्तिशाली को भी पद पर रहना है, तो उसे भीड़ का अनुगमन करना पड़ता है। इसलिए नेता अनुयायियों के भी अनुयायी होते हैं। 'दे आलवेज फॉलो देअर फालोअर्स।' वे हमेशा पता रखते हैं, किस तरफ लोग जा रहे हैं, उसी तरफ चले जाते हैं।

मुल्ला नसरूद्दीन एक एलेक्शन (चुनाव) में खड़ा हो गया था। किसी टैक्स का भारी मामला था। सारी जनता में चर्चा थी कि वह टैक्स लगेगा कि नहीं लगेगा। जिस गांव से मुल्ला नसरूद्दीन एलेक्शन के लिए खड़ा था, वह आधा गांव बंटा था टैक्स के पक्ष में और आधा टैक्स के खिलाफ। मुल्ला बोलने के लिए खड़ा हुआ। गांव के पूरे लोग इकट्ठे थे। सब बातचीत हो गई। लोगों ने कहा, यह सब तो ठीक है, पर टैक्स के बावत क्या ख्याल है? लगना चाहिए कि नहीं? मुल्ला दिक्कत में पड़ा। अगर कहे, लगना चाहिए तो आधी बस्ती खिलाफ हो जाती है। कहे, नहीं लगना चाहिए तो भी आधी बस्ती खिलाफ हो जाती है। किसके साथ हो? जनता ने आवाज दी। मुल्ला ने कहा, 'आई एम आलवेज विद माई फ्रेंड्स ऐण्ड यू ऑल आर माई फ्रेंड्स।' मैं सदा अपने मित्रों के साथ हूं और इस गांव में सभी मेरे मित्र हैं। सभी ने तालियां बजाईं। क्योंकि सभी ने मन में समझा कि मुल्ला हमारे साथ हैं।

राजनीतिज्ञ ऐसे ही जवाब देता रहता है। जवाब उसके जवाब से बचने के लिए होते हैं, क्योंकि कोई भी जवाब फंसा सकता है। इसलिए राजनीतिज्ञ के जवाब जवाब नहीं होते। सिर्फ जवाब दिखाई पड़ते हैं। वह प्रश्नों से बचता है, क्योंकि सबका उसे साथ चाहिए। वह देखता है किस तरफ लोग जा रहे हैं, उसी तरफ वह चलने लगता है। अगर आप दो तरफ जा रहे हों, वह दोनों तरफ चलने लगता है। अगर आप तीन तरफ जा रहे हों, वह तीनों तरफ चलने लगता है। आप उसके देवता हैं।

यह जो संसार है, जिस ऋषि प्रपंच कह रहा है, वह जो फैलाव है, इस फैलाव में जिसे गति करनी है, उसे गति बहुत चालाकी, बहुत हिंसा, बहुत बेईमानी, बहुत योजना से करनी पड़ती है। लेकिन इसका जिसे छेदन करना है, इसके पार जिसे जाना है, उसे किसी चालाकी की कोई जरूरत नहीं है। उसे किसी हिंसा की कोई जरूरत नहीं। उसे किसी को धोखा देने की कोई जरूरत नहीं। उसे किसी अनुशासन की कोई जरूरत नहीं। उसका होना पर्याप्त है, उसका निर्मल हाना पर्याप्त है। उसका शांत और मौन होना पर्याप्त है। फिर इस प्रपंच को पार करके परम ब्रह्म की यात्रा पर उसकी चेतना का तीर निकल जाता है।

जैसे इन्द्रिय रूपी पत्तों से ढंका हुआ मण्डल होता है, ऐसे ढंकने वाले भाव और अभाव के आवरण को भस्म कर डालने के लिए वे आकाश रूप आधार को धारण करते हैं। यह इस सूत्र का आखिरी हिस्सा है। मन ढांके हुए है चेतना को, जैसे कोई झील पत्तों से ढंक गई हो। ऐसा मन ढंका है विचारों से, और विपरीत विचारों से—'पॉजिटिव-निगेटिव बोथ'। भाव और अभाव वाले विचार दोनों ही मन को ढांके हुए हैं। मन का एक हिस्सा कहता है, ईश्वर है; एक हिस्सा कहता है, नहीं है। मन का एक हिस्सा कहता है कि प्रेम करो; दूसरा हिस्सा कहता है, खतरा हो जाएगा; घृणा को कायम रखो, बाकी रखो। मन का एक हिस्सा कहता है, दान दे दो। दूसरा हिस्सा कहता है, दान दो, लेकिन जेब काटने का इन्तजाम पहले कर लो। विपरीत से भरा हुआ मन छाए हुए है चेतना को। पत्तों ही पत्तों से भरी हुई चेतना की झील ढंक गई है भीतर।

इससे कैसे मुक्त हों? क्या मन का कोई एक भाव चुन लें और विपरीत भाव का खण्डन करते रहे तो मुक्त हो पाएंगे? नहीं हो पाएंगे। जो भी मन में चुनेगा, वह बंध जाएगा, क्योंकि विपरीत मिटाया नहीं जा सकता। वह उसका ही हिस्सा है। जैसे एक सिक्का होता है, उसके दो पहलू होते हैं। अगर आप सोचें कि इसका एक पहलू फेंक दें और दूसरा बचा लें, तो आप झंझट में पड़ेंगे। क्योंकि जो आप बचाएंगे, उसके साथ, जिसे आपको फेंकना था वह बच जाएगा। अगर आप फेंकेंगे तो जिसे आपको बचाना था, वह फेंकने वाले के साथ फिक जाएगा। आप झंझट में पड़ जाएंगे। सिक्के के दोनों पहलू संयुक्त हैं। ऐसे ही मन में भाव और अभाव संयुक्त हैं, विधायक और नकारात्मक स्थिति संयुक्त हैं, घृणा और प्रेम जुड़े हैं, क्रोध और क्षमा जुड़े हैं, राग और विराग जुड़े हैं। अगर किसी ने कहा कि मैं राग को काटकर विरागी होता हूं, तो वह विराग को ऊपर फैला लेगा, राग कहीं पीछे छिपकर बैठा रहेगा। इसलिए हमने एक तीसरा शब्द गढ़ा, और वह शब्द है वीतराग। वीतराग का अर्थ होता है राग और विराग दोनों के पार। वीतराग का अर्थ विराग नहीं होता, क्योंकि विराग तो द्वन्द्व का हिस्सा है। वीत-राग का अर्थ होता है, दोनों के पार। ऋषि कहता है, जिसे इन दोनों के पार होना हो, उसे आकाश-भाव धारण करना पड़ता है।

यह आकाश-भाव क्या है? एक काला बादल आकाश में घूम रहा है, एक सफेद बदली का टुकड़ा घूम रहा है। दोनों आकाश में घूम रहे हैं, लेकिन आकाश दोनों में से किसी से भी आइडेंटिफाइड नहीं। आकाश यह नहीं कहता कि मैं सफेद बादल हूं। आकाश यह नहीं कहता कि मैं काला बादल हूं। सूरज निकला, किरणें भर गईं आकाश में, आलोकित हो गया सब। रात आई, अंधेरा छा गया। सब ओर अंधकार भर गया। आकाश दोनों को देखता रहता है एक साथ। दोनों को जानता रहता है एक साथ। दोनों को साक्षी बना रहता है। आकाश न तो

कहता कि मैं प्रकाश हूं और न कहता कि मैं अंधकार हूं। प्रकाश और अंधेरा आता-जाता है। आकाश अपनी जगह बना रहता है। न तो प्रकाश उसे मिटा पाता है, न अंधेरा उसे मिटा पाता है। आकाश-भाव का अर्थ है, दोनों के पार, दोनों का अतिक्रमण करके, दोनों से भिन्न, दोनों का साक्षी बन जाना। न तो भाव से बंधे, न अभाव से बंधे। न तो राग से बंधे, न विराग से बंधे। न तो भोग से बंधे, न त्याग से बंधे—दोनों के प्रति आकाश भाव धारण करे। जस्ट बी ए स्पेस। आने दें राग को भी, जाने दें। आने दें विराग को भी, जाने दें। आप दोनों को घेर कर खड़े रहें—शून्य, साक्षी मात्र। ऐसी साक्षी दशा का नाम ही समाधि है।

●

शिवम् तुरीयं यज्ञोपवीतं तन्मया शिखा ।
चिन्मयं चोत्सृष्टिदण्डम् संतताक्षि कमण्डलुम् ।
कर्म निर्मूलनं कन्था ।
मायाममताहंकार दहनं श्मशाने अनाहतांगी ।

"तुरीय ब्रह्म उनका यज्ञोपवीत है और वही शिखा है ।
चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दण्ड है, ब्रह्म का नित्य दर्शन कमण्डलु है ।
और कर्मों को निर्मूल कर डालना कन्था है ।
श्मशान में जिसने दहन कर दिए माया-ममता-अहंकार, वही अनाहत अंगी—पूर्ण व्यक्तित्व वाला है ।"

प्रवचन : १३
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक १ अक्टूबर, १९७१

असार बोध, अहं विसर्जन और तुरीय तक यात्रा—चैतन्य और साक्षीत्व से

तुरीय ब्रह्म ही उनका यज्ञोपवीत, वही उनकी शिखा है । तुरीय शब्द के सम्बन्ध में पहली बात तो यह जान लेनी जरूरी है कि यह सिर्फ संख्या का सूचक है । तुरीय का अर्थ है चौथा 'द फोर्थ' । बहुत-बहुत मार्गों से तुरीय को समझने की कोशिश की गई । तीन गुणों के जो पार है, 'द फोर्थ', वह है चौथा । उसे नाम जानकर नहीं दिया है । क्योंकि वह अनाम है, इसलिए अंक दिया है । नाम में झगड़ा भी हो सकता है, अंक में तो झगड़ा नहीं हो सकता । कोई उसे राम कहे कोई उसे रहीम कहे, तो झगड़ा हो सकता है; लेकिन 'द फोर्थ', चौथे में तो कोई झगड़ा नहीं हो सकता । चौथा चाहे हिन्दी में कहो, चाहे अंग्रेजी में कहो, चाहे अरबी में कहो, चाहे हिब्रू में कहो, कोई झगड़ा नहीं हो सकता । जिन्होंने उसे चौथा कहा है उन्होंने बड़ी अन्तर्दृष्टि की बात की है । नाम देते ही झगड़ा शुरू होता है, क्योंकि नाम के साथ मोह बनना शुरू हो जाता है । और मेरा नाम सत्य है, मेरा दिया नाम सत्य है, दूसरे का दिया नाम असत्य होगा, ऐसा मानना अहंकार शुरू कर देता है । लेकिन आंकड़े में झगड़े की सम्भावना न के बराबर है । जैसा ऋषियों ने कहा, तुरीय ऐसा अगर सारे जगत् ने कहा होता···आंकड़ा, अंक गणित का उपयोग किया होता तो विवाद नहीं हो सकता था ।

यह भी बहुत मजे की बात है कि उपनिषद् का ऋषि गणित के अंक का प्रयोग करता है, ब्रह्म के लिए । यह जानकर आप हैरान होंगे कि इस जगत् में, इस पूरे मनुष्य की जानकारी में गणित ही अकेला शास्त्र है, जिसमें सबसे कम विवाद है । उसका कारण है । क्योंकि शब्द का कोई उपयोग नहीं है । अंकों का उपयोग है । अंकों में विवाद नहीं हो सकते । दो और दो किसी भी भाषा में लिखे जायें, और परिणाम चार किसी भी तरह कहा जाए, तो अन्तर नहीं पड़ता है । इसलिए गणित सबसे कम विवाद-ग्रस्त विज्ञान है । वैज्ञानिक मानते हैं कि आज नहीं, कल हमें सारे विज्ञान की भाषा को गणित की भाषा में रूपान्तरित करना पड़ेगा, तभी हम अन्य विज्ञानों और शास्त्रों के विवाद से मुक्त हो सकेंगे । बहुत पहले, हजारों साल पहले ऋषि

उस ब्रह्म को, उस परम सत्ता को कहता है; द फोर्थ, चौथा, तुरीय।
तीन गुणों के जो पार है, वह चौथा है, एक और गहन खोज, जिसका सारा श्रेय उपनिषदों को है और आधुनिक मनोविज्ञान उस श्रेय के ठीक-ठीक मालिक को खोज लेने में समर्थ हो गया है, कि उपनिषद् ही उस श्रेय के हकदार हैं, वह है कि मनुष्य के चित्त की तीन दशायें हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जागते हैं, स्वप्न देखते हैं, सोते हैं। अगर इन तीनों में ही मनुष्य समाप्त है, तो वह कौन है जो जागता है, वह कौन है जो सोता है वह कौन है जो स्वप्न देखता है! निश्चित ही चौथा भी होना चाहिए जिस पर जागरण का प्रकाश आता है, जिस पर निद्रा का अन्धकार आता है, जिस पर स्वप्नों का जाल बुन जाता है। वह 'द फोर्थ', चौथा होना चाहिए, वह तीन में नहीं हो सकता। अगर मैं तीन में से एक हूं, तो बाकी दो मेरे ऊपर नहीं आ सकते। अगर मैं जाग्रत ही हूं, तो निद्रा मुझ पर कैसे उतरेगी? अगर मैं निद्रा ही हूं, तो मुझ पर स्वप्नों की तरंगें कैसी बनेंगी? ये तीन अवस्थायें हैं, और जो मैं हूं, वह निश्चित ही चौथा होना चाहिए। उपनिषद् उसे तुरीय कहते हैं वह जो चौथा है।

मनुष्य के चित्त की इन चार दशाओं की चर्चा सबसे पहले जगत् में उपनिषद् के ऋषियों ने की। पश्चिम के मनोविज्ञान ने अभी सौ वर्षों में सिर्फ नम्बर दो पर कदम रखा है। सिर्फ पिछले सौ वर्षों में पश्चिम के मनोविज्ञान को ख्याल आया कि मनुष्य को जाग्रत मात्र ही समझने की कोशिश खतरनाक है और आमूल गलत है। क्योंकि आदमी जितनी देर जागता है, वह सिर्फ अंग है। फिर सोता भी है, फिर स्वप्न भी देखता है। चारकॉट से लेकर फ्रायड तक ने बड़ी मेहनत की इस बात की कि हम मनुष्य के स्वप्नों के सम्बन्ध में जब तक न जान लें, तब तक मनुष्य के सम्बन्ध की जानकारी हमारी अधूरी होगी। जब फ्रायड मनुष्य के स्वप्न की गहराइयों में उतरा, तो उसने कहा, मनुष्य के जानने पर भरोसा ही मत करना, क्योंकि आदमी जागकर धोखा देता है। सपने से जो जाना जाता है, वही सत्य है। इसलिए आज मनोविश्लेषक आपके जागने की फिक्र नहीं करता। वह आपसे पूछता है, आप स्वप्न कौन से देखते हैं? क्योंकि स्वप्न में आप धोखा नहीं दे सकते। जागने में आप दूसरे को ही नहीं, अपने को भी धोखा दे सकते हैं। जागने में आप ब्रह्मचारी हो सकते हैं, लेकिन स्वप्न आपके ब्रह्मचर्य की सारी पट्टी उधेड़ देगा और आपके व्यभिचार को प्रकट कर देगा। इसलिए तथाकथित ब्रह्मचारी नींद से डरते हैं, सोने से भयभीत होते हैं, क्योंकि उनकी सब साधना जागरण के दरवाजे पर रखी रह जाती है। स्वप्न में उनका कुछ वश नहीं चलता। छोटे-मोटे साधक नहीं, जिन्हें हम बड़े साधक कहें, जो नीति को ही साध कर चलते हैं, उनके लिए भी यह कठिनाई बनी ही रहेगी। जो योग को बिना जाने, धर्म को बिना जाने, केवल नैतिक आचरण में ही अपने जीवन को लगा देते हैं, उनको

यह झंझट रहेगी।

महात्मा गांधी-जैसे साधक को भी अन्ततः यह कहना पड़ा कि जागने में ही मैं अपने संयम को साध पाता हूं, स्वप्न में तो मेरा संयम टूट जाता है। स्वप्न में मेरे संयम पर मेरा कोई काबू नहीं रहता। लेकिन स्वप्न में अगर संयम टूट जाता है, तो संयम अभी ऊपरी है। क्योंकि जो संयम स्वप्न तक को नहीं जीत पाता, वह सत्य को क्या जीत पाएगा? जो संयम स्वप्न तक से पराजित हो जाता है, उस संयम की सत्य में क्या गति हो सकेगी? वह बहुत निर्बल है, बहुत ऊपरी है, बहुत झीनी चादर की तरह है। भीतर सब रोग छिपे रहते हैं, ऊपर हम चादर की सजावट कर लेते हैं।

फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के चित्त को समझना हो, तो उसके स्वप्नों को जानना अनिवार्य है। पश्चिम का पूरा मनोविज्ञान आदमी के सम्बन्ध में जो भी जानकारी पा सका है, वह उसके सपनों के द्वारा ही है। यह बहुत उल्टा मालूम पड़ता है कि आपकी सचाई आपके सपने से पता चले। हद हो गई, आपकी सच्चाई आपके सपनों में खोजनी पड़े! आदमी ने अपने को निश्चित ही इतना धोखा दे दिया है कि जागना इतना भ्रांत और झूठ हो गया है कि सोए बिना आपके भीतर क्या चलता है, उसका कुछ भी पता चलना मुश्किल है। आपको ही पता नहीं चलता, दूसरे को पता चलना तो अति कठिन है।

लेकिन अभी पश्चिम का मनोविज्ञान सिर्फ दूसरी अवस्था पर गया है—बैंकिंग, ऐण्ड ड्रीमिंग। अभी 'डीप स्लीप' (सुषुप्ति) पर सिर्फ दस साल से काम शुरू हुआ है। ऋषि के वचन तो हजारों वर्ष पुराने हैं। केवल दस वर्षों में स्लीप लैब अमरीका में बने हैं, प्रयोगशालायें बनी हैं, जहां आदमियों की स्वप्नरहित निद्रा पर प्रयोग चल रहे हैं। कोई दस हजार लोगों पर अभी इन दस वर्षों में प्रयोग किए गए हैं। प्रयोगशालायें हैं, जिनमें लोग रात भर सोते हैं। हजारों तरह से यन्त्रों से जांच की जाती है कि उनका स्वप्न क्या है, और जब स्वप्न समाप्त हो जाता है, तो निद्रा की स्थिति में उनके मन की तरंगें (वेव्ज) कैसी होती हैं, उनके चित्त की दशा कैसी होती है। भीतर वे किन गहराइयों में उतर जाते हैं। निद्रा क्या है? क्योंकि जब स्वप्न से इतना पता चल सका कि हम मनुष्य को जानने में ज्यादा सफल हुए, तो शायद निद्रा से और गहरे सत्यों का पता चले।

तीसरी अवस्था पर पश्चिम का मनोविज्ञान गहन प्रयोगों में लगा है। पश्चिम में सिर्फ पिछले दस वर्षों में निद्रा के ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, इसके पहले नहीं। आदमी सोता सदा से रहा है। एक आदमी साठ साल जीता है, तो बीस साल सोता है। इतने बड़े हिस्से को अज्ञात छोड़ देना मंहगा है। जहां हम अपने जीवन के बीस वर्ष गुजारते हैं, उस अवस्था का हमें कुछ भी पता न हो, तो हम अपने आत्मज्ञान में गति नहीं कर सकते हैं। लेकिन अभी प्राथमिक चरण है।

निद्रा की खोज पश्चिम में अभी पहले कदम पर है। ऋषि तुरीय की बात करते हैं। वे कहते हैं, निद्रा भी ठीक, पर उसके भी पार एक है, जो इन तीनों से गुजरता है। ये तीनों तो सिर्फ उसकी स्थितियां हैं। एक आदमी गुजरता है, एक स्टेशन से दूसरे, दूसरे से तीसरे। और वह आदमी समझ ले कि मैं यही स्टेशन हूं, फिर समझ ले दूसरे स्टेशन पर कि मैं यही स्टेशन हूं, फिर तीसरे पर कि मैं यही स्टेशन हूं, तो भ्रांति होगी। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, जो स्टेशनों को पार कर रहा है, वह यात्री स्टेशनों से अलग है। जागते हैं, वह एक स्थिति है। स्वप्न देखते हैं, वह दूसरी स्थिति है। सो जाते हैं, वह तीसरी स्थिति है। लेकिन जिसकी ये स्थितियां हैं, वह इन तीनों के पार चौथा, तुरीय, 'द फोर्थ,' वह चौथा है, वह यात्री है। प्रथम तीन तो केवल पड़ाव हैं।

पश्चिम के मनोविज्ञान को शायद और सैकड़ों वर्ष लगेंगे, जब वह तुरीय की खबर ला पाए। लेकिन अब इतना तो उन्हें भी ख्याल होने लगा और कार्ल गुस्ताब जुंग ने स्वीकार किया है कि भारतीय मनीषा के इस सत्य को हम पहले कभी स्वीकार नहीं कर पाए थे कि स्वप्न का भी कोई मूल्य हो सकता है, पर अब हमें स्वीकार कर लेना पड़ा। हमें कोई ख्याल नहीं था कि निद्रा का भी कोई मूल्य हो सकता है। वह भी हमें स्वीकार कर लेना पड़ा। जिनके तीन चरण हमें स्वीकार कर लेने पड़े, उनके चौथे चरण को भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा, इसमें ज्यादा देर नहीं लगेगी। क्योंकि जो तीन तक सही निकले हैं, कोई कारण नहीं मालूम होता है कि वह चौथे पर क्यों सही न हो। जब इतने तक वे सही निकले हैं, जो चौथे पर सही होने की सम्भावना गहन हो जाती है और गलत कहने की हिम्मत क्षीण हो जाती है।

यह ऋषि कह रहा है कि वह जो ब्रह्म है—तुरीय, वह जो चौथी अवस्था है, वही संन्यासी का यज्ञोपवीत है। वह चौथी अवस्था को ही अपने गले में डालकर जीता है। वह उसकी शिखा है। इससे कम पर संन्यासी राजी नहीं है। यज्ञोपवीत ही डालना है, तो वह तुरीय अवस्था को डाल लेगा। वह तीनों के पार हट जाएगा और अपने को चौथे के साथ एक कर लेगा।

इसे थोड़ा प्रयोग करेंगे तभी ख्याल में आ सकेगा कि यह कैसा यज्ञोपवीत है। जब जागें तब ऐसा मत समझें कि मैं जाग रहा हूं। तब ऐसा ही समझें कि जागरण मेरे ऊपर आया, मैं देख रहा हूं। (बी ए विटनेस टु इट) साक्षी हों, एक मत हो जाएं। अगर आप दिन भर जागकर यह साक्षी भाव रख सकें कि यह जागरण भी एक स्थान है, जहां मैंने पड़ाव डाला, मैं यात्री हूं, यह स्थान पड़ाव है, तो धीरे-धीरे आप स्वप्न में भी यह स्मरण रख पाएंगे कि स्वप्न भी एक पड़ाव है और मैं एक यात्री हूं। और फिर निद्रा में भी इस साक्षी भाव का प्रवेश किया जा सकता है। तब आप यह भी जान पाएंगे कि निद्रा मुझ पर आती है और जाती है, मैं पृथक्

हूं। और जब आप तीनों से अपने को पृथक् जान पाएंगे, तभी वह यज्ञोपवीत आपके गले में पड़ता है, जो तुरीय ब्रह्म का है।

लेकिन जो हमारे ऊपर आता है, हम उसी के साथ एक हो जाते हैं। जो लहर हमें पकड़ लेती है, उसी के साथ हो जाते हैं, हम उसी से रंग जाते हैं। हम भूल ही जाते है कि रंग हमारे ऊपर पड़ा, हम रंग से पृथक् हैं। हम तत्काल जुड़ जाते हैं। हमारी हालत ऐसी है, जैसी फोटो प्लेट की होती है। कैमरे के भीतर जो फोटो प्लेट है या फोटो फिल्म है, हमारी हालत वैसी है। वह जरा-सा झांक लेती है कैमरे के बाहर, जो दिख जाता है उसी को पकड़ लेती है। सेकेंड के भी छोटे-से हिस्से के लिए कैमरे का पर्दा हटता है, आंख खुलती है और वह जो भीतर छिपी फोटो प्लेट है, वह जो भी बाहर दिख जाता है—दरख्त तो दरख्त, झील तो झील, आदमी तो आदमी—जो भी दिख जाता है, उसे पकड़ लेती है। उसी के साथ एक हो जाती है। इसलिए तो फोटो उतर पाता है, नहीं तो फोटो नहीं उतर पाएगा। फिर आप तस्वीर लिए फिरते हैं और कहते हैं, झील की तस्वीर है। झील की तस्वीर है माना, लेकिन यह जो फिल्म का टुकड़ा है, यह बड़ी भ्रांति में पड़ गया। यह जो था, वह न रहा और जो यह नहीं है, उसको पकड़ लिया।

संन्यासी जीता है दर्पण की भांति, फोटो प्लेट की भांति नहीं। दर्पण के सामने जो भी आता दिखाई पड़ता है, हट जाता है। हट जाता है तो दर्पण फिर खाली हो जाता है। दर्पण पकड़ता नहीं, रिफ्लेक्ट जरूर करता है। प्रतिबिम्ब जरूर बनाता है, लेकिन पकड़ता नहीं। सब तस्वीरें फिसलकर बिखर जाती हैं और दर्पण अपने स्वभाव में थिर रखता है। इसलिए दर्पण एक को देखकर खराब नहीं होता, फोटो प्लेट एक को ही देखकर खबर हो जाती है। दर्पण हजार को भी देखकर निर्मल बना रहता है। पकड़ता ही नहीं तो विकृत होने का कोई सवाल नहीं है। हम फोटो प्लेट की तरह हैं। जो भी सामने आ जाता है, उसी को पकड़ लेते हैं। जागरण होता है, तो समझ लेते हैं कि मैं जागरण, स्वप्न होता है तो समझ लेते हैं कि मैं स्वप्न, निद्रा होती है तो समझ लेते हैं कि मैं निद्रा, जन्म होता है तो समझ लेते है, मैं जीवन, मृत्यु होती है, तो समझ लेते हैं, मैं मुर्दा। बस ऐसे ही चलते हैं। जो भी आता है सामने, वह पकड़ लेता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक मरघट के करीब से गुजर रहा है। सांझ हो गई है और उसे डर लग रहा है। गांव अभी दूर है, तभी उसने देखा कि दूर से कुछ लोग चले आ रहे हैं। बैंड-बाजे हैं, वह और भी डरा कि कोई लुटेरे तो नहीं हैं। दीवार थी मरघट की, छलांग लगाकर उस तरफ चला गया कि छिप जाएं। नई कोई कब्र खुदी थी, अभी आया नहीं था उस कब्र का मेहमान। सोचा कि इसी में लेट जाएं। उपद्रवियों की जो भीड़ बाहर से गुजर रही है, वह निकल जाए, तब फिर अपने घर लौट जाएंगे। उसमें लेट गया। रात सर्द थी, थोड़ी देर में

हाथ-पैर ठण्डे होने लगे। किताब में उसने पढ़ा था कि आदमी जब मरता है, तो हाथ-पैर ठण्डे हो जाते हैं। सोचा कि गए। मर गए। जब सोचा कि मर गए, तब हाथ-पैर और ठण्डे होने लगे। तभी उसे ख्याल आया कि अभी तक सांझ का भोजन नहीं किया। कम से कम भोजन तो कर ही लेना चाहिए मरने के पहले। वह उचककर कब्र से बाहर निकला। दीवार कूदकर अपने घर की तरफ भागता था, तो वहां जो यात्री दल आया था, और अपने ऊंट बांधे थे और विश्राम की तैयारी कर रहे थे, उसके कूदने से ऊंट भड़क गए। भगदड़ मच गई, लोगों ने मुल्ला की पिटाई की।

मुल्ला पिटा-कुटा घर पहुंचा। पत्नी ने कहा, बड़ी देर लगाई, कहां रहे? मुल्ला ने कहां, यह कहो किस तरह लौट आए। मर गए थे। पत्नी मन में तो हंसी, फिर भी उसने जिज्ञासा वश पूछा, मर गए थे, मरने का अनुभव कैसा हुआ। मुल्ला ने कहा, मरने में तो कोई तकलीफ नहीं, (अनलेस यू डिसटर्ब देअर कैमल) जब तक उनके ऊंटों को तुम गड़बड़ मत करो, तब तक तो बड़ा शान्त, लेकिन ऊंट गड़बड़ करो, तो सब गड़बड़, बड़ी पिटाई होती है। तो अगर तू मरे, तो एक बात का ध्यान रखना, मुल्ला ने अपनी पत्नी से कहा, ऊंट भर गड़बड़ मत करना। मौत में तो कोई खतरा ही नहीं है। हम पूरा अनुभव करके आ रहे हैं, कब्र में लेट कर आ रहे हैं। वह तो हम लौटते भी नहीं, लेकिन सांझ का खाना नहीं लिया था, इसलिए लौट आए। तो एक ध्यान रखना सदा कि ऊंट से कभी गड़बड़ मत करना।

अप्रासंगिक जो है, इर्रेलेवेंट जो है, जिसकी कोई संगति भी जीवन की धारा से नहीं, वह भी पकड़ जाता है। और हमारे भीतर 'कॉज और एफेक्ट (कार्य-कारण) की शृंखला बन जाती है। ऐसा लगता है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध है। ऊंट का मौत से कोई लेना-देना नहीं, लेकिन सिलसिला तो है। मुल्ला ने जिसे मृत्यु समझी उसी के बाद ऊंट गड़बड़ हुए और वह पिटा। मन ने सब पकड़ लिया और सबका तादात्म्य हो गया। सब इकट्ठा जुड़ गया। जिन्दगी भर हम इसी तरह चीजें जोड़े चले जाते हैं। आखिर में यह जो संगत हमारे पास इकट्ठा हो जाता है, यह जो लम्बी फिल्म इकट्ठी हो जाती है, इसमें दर्पण जैसा कुछ भी नहीं होता। सब गन्दा होता है, सब बिगड़ गया होता है, सब पर धूल जम गई होती है। इस धूल से भरे हुए मन के साथ तुरीय को न जान सकेंगे। वह जो चौथी अवस्था है, उसे वही जान जाएगा जो दर्पण की तरह रहने में समर्थ है और जो प्रतिपल अपने दर्पण को साफ करता रहता है और पोंछता रहता है और धूल को जमने नहीं देता। जो किसी चीज को अपने दर्पण पर नहीं जमने देता, हमेशा झाड़-पोंछकर दर्पण को साफ रखता है तो निश्चित ही धीरे-धीरे उसे तीन के पार चौथे का अनुभव शुरू हो जाता है। वही दर्पण की चेतना वाला व्यक्ति संन्यासी

है, जिसने चौथे को जाना।

हमें तो सपने में भी याद नहीं रहता कि हम अलग हैं। सपने के साथ एक हो जाते हैं। इतने एक हो जाते हैं, जिसका हिसाब नहीं। सपने में आपको कभी याद नहीं रहता कि आप कौन हैं। सपने में यह भी पता नहीं रहता कि यह मैं जो कर रहा हूं, यह मैंने जागने में किया होता। सपने में असंगति भी दिखाई नहीं पड़ती। एक मित्र चला आ रहा है और अचानक आप देखते हैं मित्र घोड़ा हो गया। तो भी आपके मन में यह सवाल नहीं उठता कि यह आदमी एकदम से घोड़ा कैसे हो गया। सपने में यह भी स्वीकार हो जाता है। एक क्षण को झपकी लगती है, बरसों के सपने देख लेते हैं। आंख खुलती है, घड़ी में क्षण ही बीता होता है, लेकिन सपने में वर्ष बीत गए मालूम होते हैं। सपने में याद नहीं रह जाता उसका, जो आप जागे हुए थे। वह द्वार बन्द हो गया। कम्पार्टमेंट्स (कक्ष) हैं।

जैसे ही आप सपने में गए, जागने का द्वार बन्द हो गया। जागने के सब तर्क, जागने की सब विचारधारा, सब समाप्त हो गई। स्वप्न की दूसरी दुनिया शुरू हुई। अब आप उससे आइडेंटीफाई हो जाते हैं, उसके साथ एक हो जाते हैं। अब आप एक दूसरी दुनिया के साथ एक हैं। यह दुनिया मिट गई। अगर आप राजा थे तो भिखारी हो सकते हैं सपने में, इससे कोई अड़चन न आएगी। और अगर रंक थे, तो राजा भी हो सकते हैं सपने में, इससे भी कोई अड़चन न आएगी। कोई कोना चेतना का यह न कहता हुआ मालूम पड़ेगा कि मैं तो राजा था, जागकर भिखारी कैसे हो गया। यह नहीं हो सकता। नहीं, याद भी नहीं आएगा। वह तो द्वार बन्द हो गया। वह स्मृति का पर्दा गिर गया। नाटक का वह अंक समाप्त हुआ। यह दूसरी बात शुरू हो गई। अब आप इसमें ही एक हो गए।

फिर यह सपना भी छूट जाता है। गहरी नींद आ जाती है तब तीसरी दुनिया में आप प्रवेश कर जाते हैं। गहरी निद्रा में जो होता है, वह आपको कुछ भी याद नहीं रह जाता। सपने में भी जो होता है, वह पूरा याद नहीं रह जाता। बहुत आंशिक, एक या दो प्रतिशत याद रह जाता है। वह भी दस पन्द्रह मिनट से ज्यादा सुबह जागने के बाद याद नहीं रहता। थोड़ी सी 'ओवरलैपिंग' हो जाती है। आखिर सपना सुबह जो चलता होता है, उसकी थोड़ी-सी आवाज गूंजती रह जाती है, और जागना हो जाता है। थोड़ी-सी याददाश्त रह जाती है। इसलिए जो सपने सुबह आप लोगों को बताते हैं कि आपने देखे, बहुत भरोसे से मत बताना कि आपने देखे। बहुत-सा तो उसमें आपने बाद में सोच लिया, जो देखा नहीं। बहुत-सा आप भूल गए जो देखा था। इसलिए सुबह के सपने बहुत ही अजीब मालूम पड़ते हैं कि ये कैसे हो सकते हैं। उनके बहुत-से हिस्से छूट गए, भूल गए, स्मृति के बाहर हो गए। असल में 'ड्रीम मेमोरी' अलग है, आपके भीतर स्वप्न स्मृति के बाहर हो गए। जागने की स्मृति अलग इकट्ठी होती है, निद्रा

की स्मृति अलग इकट्ठी होती है और तीनों स्मृतियों का बहुत बाउन्ड्री पर ही, सीमान्त पर ही मिलन होता है अन्यथा कोई मिलन नहीं होता है ।

आपको गहरी नींद के बाद इतना ही याद रह जाता है कि खूब अच्छी नींद आई, और कुछ याद नहीं रहता । लेकिन जो इन तीन खण्डों से गुजरता है, वह चौथा ? उसकी तो हमें बिल्कुल ही स्मृति नहीं उसका तो हमें कोई ख्याल ही नहीं । उसका ख्याल इसीलिए नहीं है उसकी भी जो हमारे सामने होता है, उसी के साथ हम एक हो, गए होते हैं । कि जब स्मृति तो तभी आएगी, जब हमारे सामने जो हो, उसके साथ हम अपनी पृथकता को कायम रख पायें । जो भी देखें, जो भी जानें, जो भी अनुभव करें, उसके साथ एक दूरी को बनाए रखें, तभी यह संन्यासी की स्थिति कभी अनुभव में आएगी, जहां तुरीय ब्रह्म ही यज्ञोपवीत, तुरीय ब्रह्म ही शिखा हो जाता है ।

ऋषि ने कहा है, चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दण्ड है । चैतन्यमय होकर संसार-त्याग । क्रोध में भी संसार का त्याग होता है, दुख में भी संसार का त्याग होता है, चिन्ता में भी संसार का त्याग होता है, लेकिन वह संन्यास नहीं है । आपका दिवाला निकल गया है, बैंक्रप्ट हो गए हैं, तो संन्यास का मन होने लगता है कि संन्यास ही ले लें, संसार में कोई सार नहीं । अभी तक बिल्कुल सार था, बैंक्रप्ट होने से संसार का सार कैसे सूख गया, कुछ समझ में नहीं आता । क्योंकि आप के बैंक्रप्ट होने या न होने से संसार के रस की कोई निर्भरता नहीं है । फूल अब भी वैसे ही खिल रहे हैं, सूरज अब भी वैसा ही चल रहा है, जिन्दगी अपना गीत अब भी वैसे ही गाए जाती है, नाच रंग सब वैसा ही चल रहा है, सिर्फ आप दिवालिया हो गए हैं, तो आपको बड़ा विरस हो गया ।

रामकृष्ण कहा करते थे कि एक आदमी काली की पूजा के अवसर पर सैकड़ों बकरे कटवाता था, बड़ी पूजा करवाता था। फिर पूजा धीरे-धीरे उसने बन्द कर दी । काली की पूजा के दिन अब भी आता, लेकिन उत्सव उसने समाप्त कर दिया। रामकृष्ण ने एक दिन उससे पूछा कि बात क्या है ! उसने कहा, अब दांत ही न रहे । तो रामकृष्ण ने कहा, वह काली की पूजा चलती थी कि दांतों की ? वह पूजा किसकी चलती थी ? वह इतने बकरे क्यों कटते थे ? हमने तो यही समझा था कि काली से लिए कटते हैं । उसने कहा, आप ने बिल्कुल गलत समझा । काली तो सिर्फ बहाना थी, कटते तो अपने ही लिए थे । अब दांत ही न रहे ।

आपके दांतों के साथ सारी दुनिया बदल जाती है । लेकिन वह संन्यास नहीं है, वह तो केवल शिथिलता है । वह तो खंडहर हो जाना है । वह तो केवल हार जाना है, पराजित हो जाना है । वह तो जिन्दगी ने खुद ही आपसे छीन लिया सब । संन्यास त्याग है और जब जिन्दगी ही छीन लेती है तब त्याग का क्या सवाल है ? आप खुद ही बैंक्रप्ट हैं । जिन्दगी ने आपको दिवालिया कर दिया । अब आप

त्याग की बातें करें, बेमानी है । अब कोई अर्थ नहीं है । लेकिन आदमी होशियार है ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक बैलगाड़ी में बैठकर किसी गांव के पास से गुजर रहा था । साथ में उसका मित्र है, वह भी दुकानदार है । डाकुओं ने हमला कर दिया। मुल्ला ने कहा, एक मिनट रुको । जेब से रुपए निकाले, अपने साथी से कहा, ये पांच हजार रुपये तुझे देने थे, ले । हिसाब पूरा हो गया । डाकुओं से कहा, अब जो तुम्हें करना है, करो । अब कोई डर न रहा । छीनने का भी मौका आ जाए, छिन जाने का भी मौका आ जाए, तो भी हम कोशिश करते हैं कि जैसे त्याग कर रहे हैं । लुट जाने का भी क्षण आ जाए, तो भी ऐसा दिखावा करते हैं कि हम लुटे नहीं, दान कर दिया ।

नहीं, ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर जिन्होंने संसार को छोड़ा । 'चैतन्यमय होकर', दुखमय होकर नहीं, क्रोध से भरकर नहीं, परेशान पीड़ित होकर नहीं, पूरे आनन्द भाव से; होश से जब उन्होंने देखा जिन्दगी को कि वह बेकार है । यह बेकार होना किसी बाहरी कारण से नहीं, भीतरी बोध से आया । यह बेकार होना दो तरह से हो सकता है ।

बहुत लोग कहते सुने जाते हैं कि धन में क्या रखा है । लेकिन अक्सर ये वे ही लोग होते हैं, जिनके पास धन नहीं होता । इनकी बात का कोई भी अर्थ नहीं है । यह चार बार इनका कहना कि धन में क्या रखा है, यह मन का समझाना है, कन्सोलेशन है । धन इनके पास है नहीं, इन्हें धन का पता भी शायद कुछ नहीं है। शायद धन में कुछ नहीं रखा है, ऐसा बार-बार अपने को भरोसा दिला रहे हैं कि हम कुछ चूक नहीं रहे, अगर धन अपने पास नहीं । नहीं, जब किसी के पास धन है और वह कहता है, धन में क्या रखा है, तब इस बात के आमूल अर्थ बदल जाते हैं । आमूल ही अर्थ बदल जाते हैं । परिस्थिति प्रतिकूल हो, तब जो त्याग होता है, वह त्याग सम्यक् त्याग नहीं । परिस्थिति जब बिल्कुल अनुकूल हो, तब जो त्याग होता है वह सम्यक् त्याग है । संसार को जिन्होंने पीड़ित होकर छोड़ दिया है, वे संसार से बंधे ही रह जाते हैं । क्योंकि जिससे हमें पीड़ा मिल सकती थी, अभी हम उसका त्याग नहीं कर सकते हैं । इसे थोड़ा समझना पड़ेगा ।

जिससे हमें पीड़ा मिलती थी, वह मिलती ही इसीलिए थी कि हमें अब भी उससे सुख पाने की अपेक्षा थी। अन्यथा पीड़ा का कोई कारण न था । इसलिए जो जानता है, वह यह नहीं कहता कि संसार दुख है, वह कहता है, संसार असार है। इन दोनों में बड़ा फर्क है । वह यह नहीं कहता कि दुख है, वह यह कहता है कि दुख के योग्य भी नहीं है, क्योंकि जिससे सुख मिल ही नहीं सकता, उसे दुख कहने का क्या अर्थ है । जिससे सुख मिलने की आशा बंधी है और सुख नहीं मिलता, उससे लगता है कि दुख मिला । जो जानता है, भीतर बोध जिसका जगता है,

चैतन्यमय हो जाता है, वह देखता है कि संसार असार है। इतना भी सार नहीं कि वह दुख दे सके—टोटली मीनिंगलेस। इतना भी अर्थ नहीं, उसमें दुख देने जैसा। क्योंकि जो दुख दे सकता है, वह सुख क्यों नहीं दे सकता।

जिससे दुख मिल सकता है, उससे कम दुख मिल सकता है, ज्यादा दुख भी मिल सकता है। जिससे दुख मिल सकता है, उससे सुख क्यों नहीं मिल सकता! क्योंकि कम दुख, और कम दुख, और कम दुख सुख हो जाता है। और कम सुख, और कम सुख, और कम सुख दुख हो जाता है। तारतम्यताएं हैं, डिग्रीज हैं। पानी को थोड़ा और कम ठण्डा करो, गरम हो जाता है। पानी को थोड़ा और कम गरम करो ठण्डा हो जाता है। गर्मी और सर्दी कोई शत्रु नहीं मालूम होते, तारतम्यताएं, डिग्रीज मालूम होते हैं। सुख-दुख भी ऐसे ही हैं। अगर कोई कहता है कि संसार से बहुत दुख मिलता है इसलिए छोड़ दो, तो गलत कहता है। क्योंकि बहुत दुख जिससे मिलता है, उससे सुख क्यों नहीं मिल सकता। कोई कारण नहीं हैं। जिससे दुख मिल सकता है, उससे सुख मिल सकता है क्योंकि जिससे सुख मिल सकता है उससे दुख मिल सकता है। असल में सुख की आशा जहां है वहीं दुख मिलता है। दुख मिलता ही इसलिए है कि उससे पहले सुख की आशा खड़ी थी।

नहीं, संसार असार है—जस्ट मीनिंगलेस। दुख भी नहीं है वहां, सुख भी नहीं है वहां। वहां कुछ है ही नहीं। वहां जो भी हम देखते हैं, वह हमारा ही डाला हुआ है। वहां जो भी हम पाते हैं, वह हमारी ही देन है। वह हमने ही दिया है। संसार से हम जो भी पाते हैं, वह हमारी ही प्रतिध्वनि है। इसलिए दुख के कारण जो छोड़ दे…प्रियजन मर गया हो, कि प्रियजन न मिल पाया हो, कि प्रियजन प्रिय सिद्ध न हुआ हो, और आदमी संसार छोड़ दे, तो उसका छोड़ना इसाइडल (आत्मघाती) है—'रिनसिएशन' नहीं, त्याग नहीं, आत्मघात है। जब धन नहीं होता है, तब आदमी आत्महत्या करने की सोचने लगता है। प्रियजन बिछुड़ जाएं तो आत्महत्या की सोचने लगता है। प्रियजन, प्रियजन सिद्ध न हो तो आत्महत्या की सोचने लगता है। यश खो जाए, तो आत्महत्या की सोचने लगता है।

इसलिए एक बहुत मजे की बात है कि जिन मुल्कों में संन्यासी ज्यादा होते हैं, उन मुल्कों में आत्महत्या की संख्या कम होती है। जिन मुल्कों में संन्यासी कम होते हैं, उन मुल्कों में आत्महत्या की संख्या ज्यादा होती है। और दोनों का मिलाकर अनुपात सदा बराबर होता है। अमेरिका तब तक अपनी आत्महत्याएं कम न कर पाएगा, जब तक कि वह संन्यास को न फैलाए। झूठा ही सही, झूठा संन्यास भी आत्महत्या से तो रोक लेता है, क्योंकि विकल्प बन जाता है। संन्यास लेने से भी आत्महत्या घटित हो जाती है। दुख है, परेशानी है, एक आदमी ने संन्यास ले लिया; मरने से भी बचे, संसार से भी बचे, बचे भी रहे। लेकिन ऋषि कहता है, संन्यास सम्यक् त्याग के आंतरिक आविर्भाव से, चैतन्य से होता है।

बाहर की वस्तुओं से मिले हुए दुख के कारण आदमी संन्यास लेने की सोचने लगता है और ऐसा आदमी खोजना कठिन है जिसने कभी संन्यास के बाबत न सोचा हो। ऐसा, आदमी ही खोजना कठिन है, जिसने आत्महत्या के बाबत न सोचा हो। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम जो-जो सोचते हैं, अगर करने लगें, जैसा कि कुछ लोग समझाते हैं कि जैसा विचार, वैसा आचरण; तो एक-एक आदमी की जिन्दगी में कम से कम चार दफे आत्महत्या करनी पड़े। यह हो नहीं सकता, क्योंकि एक दफे में खत्म हो जाएगा। लेकिन इसका कोई उपाय हो, तो एक-एक आदमी कम से कम, (एवरेज) चार दफे आत्महत्या करे। जीवन तो रोज ऐसे मौके खड़े कर देता है, तब मन होता है कि खत्म हो जाओ। वह तो और भी कमजोरियां हैं जो बचा लेती हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने कमरे में फांसी लगा रहे थे। पत्नी ने झांककर देखा। उसने पूछा यह क्या कर रहे हो? मुल्ला खड़े थे मेज पर। एक छत से लटकती हुई रस्सी कमरे से बंधी थी। पत्नी ने पूछा, यह क्या कर रहे हो? मुल्ला ने कहा, आत्महत्या कर रहा हूं। पत्नी ने कहा, लेकिन कमर में रस्सी? मुल्ला ने कहा, गले में बांधी तो बहुत 'सफोकेशन' (घुटन) मालूम हुआ। पहले गले में बांधकर देखी थी, बहुत घबराहट होने लगी थी, इसलिए मैंने कमर में बांध ली। मरने के तो बहुत मौके आ जाते हैं, लेकिन 'सफोकेशन' मालूम होता है। आदमी कमर में बांध कर मौके निपटा देता है।

भाव क्षणजीवी होते हैं। फिर वापस खड़े हो जाते हैं अपनी दुनिया में। फिर सम्भल जाते हैं। फिर चलने लगते हैं। दो बातें हैं। एक तो आब्जेक्टिव रिनसिएशन होता है, और एक सब्जेक्टिव रिनसिएशन। एक तो त्याग है जो वस्तुगत होता है, और एक त्याग है जो आत्मगत होता है। वस्तुगत त्याग वस्तु से हुई पीड़ा के कारण होता है। आत्मगत त्याग चैतन्य के बढ़ जाने के कारण होता है। इसलिए जो त्याग ध्यान के परिणामस्वरूप आता है, उसके अतिरिक्त और कोई त्याग—त्याग नहीं है। क्योंकि ध्यान अकेली कीमिया है, जिससे आपकी चेतना बढ़ती है। ध्यान तेल है, जिससे भीतर की चेतना की ज्योति बढ़ती और प्रखर होती है। ध्यान ईंधन है, जिससे भीतर की चेतना जगती है और आन्दोलित होती है।

चेतना भीतर बढ़ती है, तो जगत् असार मालूम पड़ता है। अगर वस्तुओं के कारण आदमी त्याग की सोचता है, तो जगत् दुखपूर्ण मालूम पड़ता है, पीड़ादायी मालूम पड़ता है। जगत् शत्रु मालूम पड़ता है। जगत् को छोड़ देने से सुख मिलेगा, ऐसा मालूम पड़ता है। लेकिन चैतन्य भीतर जगता है, तो जगत् असार है। न उसे पकड़ने से सुख का कोई सम्बन्ध है, न उसे छोड़ने से सुख का कोई सम्बन्ध है। हां, जगत् चित्त से गिर जाए तो चित्त खाली हो जाता है—परमात्मा को झेलने

और संभालने और देखने और पाने के लिए।

भरा हुआ चित्त कैसे परमात्मा को जाने। जगह भी चाहिए भीतर, स्पेस चाहिए। इतने बड़े मेहमान को बुलाते हैं, परमात्मा को—भीतर जगह नहीं, वहां कूड़ा-कबाड़ा भरा हुआ है। वहां रत्ती भर जगह नहीं। परमात्मा कई दफे आपकी पुकार सुनकर चारों तरफ चक्कर लगाकर लौट जाता है। देखता है भीतर, भीतर क्या कोई कबाड़ी की दुकान है! भीतर जगह ही नहीं है। आप खुद ही अपने भीतर घुसें, तो पता चले। कितनी कोशिश करें, भीतर आप न पहुंच पाएंगे। इतना सब कचरा इकट्ठा खड़ा हुआ है वहां कि भीतर गति के लिए कोई जगह भी तो चाहिए। इसीलिए तो आदमी बाहर रहता है। अपने दरवाजे पर जिन्दगी गुजार देता है। क्योंकि भीतर जाए कौन, झंझट में पड़े कौन। बाहर से सब कचरे को इकट्ठा करके भीतर डालता रहता है। खुद बाहर बैठा रहता है। कचरे को भीतर डालता रहता है। हिम्मत ही नहीं होती पीछे लौटकर भीतर देखने की।

जो लोग ध्यान में उतरना शुरू करते हैं, वे बहुत घबराते हैं। वे कहते हैं, हम अपने भीतर ऐसी चीजें देख रहे हैं जो हमने सोची भी नहीं थी कि हमारे भीतर हो सकती हैं। हैं ही, सोची नहीं थी। भलीभांति जानते थे कि आपने ही डालीं, क्योंकि वहां कुछ ऐसा नहीं हो सकता जो आपके बिना डाले हो। यह बात दूसरी है कि डाले बहुत देर हो गई हो, जन्म-जन्म हो गए हों। डाली आपने ही हैं। अभी भी डाल रहे हैं। अगर कोई आदमी किसी की निन्दा सुनाने लगे तो चेतना ऐसी सजग हो जाती है, जीवन में रस आ जाता है, कान फैल जाते हैं, सजग हो जाते हैं, फिर बैण्ड-बाजे भी बजते रहें दुनिया में, वह सुनाई नहीं पड़ते। और वह आदमी फुसफुसाकर बोले, तो भी सुनाई पड़ता है। मुल्ला नसरूद्दीन तो कहता था कि अगर ज्यादा लोगों को सुनवाना हो कोई बात, तो कान में फुसफुसाकर बोलो, नहीं तो लोग ज्यादा सुनेंगे नहीं। जब तुम फुसफुसाते हो, तो दूसरा आदमी समझता है जरूर कोई सुनने-जैसी उपद्रव की बात हो रही है।

हम चारों तरफ से कचरा इकट्ठा करते हैं, बटोरते रहते हैं। अगर कोई हीरा देने जाए, तो हम मानेंगे नहीं कि यह हीरा है। हम कहेंगे, ले जाओ, नासमझ समझा है हमें? कोई ऐसे हीरा देने आता है? कोई कचरा देने आए, तो हमारी बांहें फैली हैं, हम बिल्कुल तैयार हैं। हम सब एक दूसरे के मन में कचरा डालते रहते हैं। हजार-हजार उपाय से पैसा भी खर्च करके आदमी अपने भीतर कचरे का इन्तजाम करवाता है। कभी फिल्म देखता है, कभी कोई डिटेक्टिव नावेल (जासूसी उपन्यास) पढ़ता है। न मालूम क्या-क्या आदमी करता है और किस-किस तरह से कचरा बटोरता है! अगर हम उसके कचरे बटोरने के श्रम का हिसाब रखें, तो कहना पड़ेगा कि आदमी एक चमत्कार है। फिर भीतर जाने को जगह नहीं

मिलती। हम परमात्मा को बुलाते हैं, तब बहुत कठिन हो जाता है। भीतर जाना हो, तो भीतर खाली होना जरूरी है। और खाली वही हो सकता है, जो संसार को अपने भीतर प्रवेश न करने दे।

संन्यासी का सूत्र आपसे कहता हूं। संन्यासी भी संसार में रहता है और गृहस्थ भी संसार में रहता है। लेकिन एक बात में फर्क है। संन्यासी संसार में रहता है, लेकिन संसार संन्यासी में नहीं रहता। गृहस्थ भी संसार में रहता है, लेकिन संसार भी गृहस्थ में रहता है। अपने भीतर भरता चला जाता है। संन्यासी घूमता है, इन्हीं रास्तों पर चलता है, इन्हीं रास्तों पर बुद्ध गुजरते हैं, लेकिन इन रास्तों की धूलि उन्हें नहीं छूती। इन्हीं बाजारों से महावीर भी गुजरते हैं, लेकिन इन बाजारों की ध्वनियां उनके कानों में प्रवेश नहीं करती। जेन फकीर लिंची कहता था, जिस दिन पानी में चलो और पानी तुम्हें न छू पाए, समझना कि तुम संन्यासी हो गए। उसका कहना था कि संसार में चलो और संसार तुम्हें न छू पाए, तुम्हारे भीतर प्रवेश न कर पाए।

ऋषि कहता है, संन्यासी चैतन्यमय होकर संसार का त्याग करते हैं। उनके भीतर बोध इतना जग जाता है कि उस बोध के कारण जो कचरा है वह कचरा दिखाई पड़ने लगता है, फिर उसे सम्भालने की जरूरत नहीं रह जाती। हाथ से छूट जाता है और गिर जाता है। त्याग किया नहीं जाता, त्याग हो जाता है ज्ञान में। अज्ञानी त्याग करता है। ज्ञानी से त्याग होता है। 'इट जस्ट हैपेन्स विदाउट एनी एफर्ट।' बिना किसी प्रयत्न के घटित होता है।

बुद्ध घर छोड़कर जा रहे हैं। उनका सारथी उनसे कहता है, ऐसा सुन्दर महल, ऐसी प्रीतिकर पत्नी, नवजात शिशु, ऐसा साम्राज्य, सब सुख-सुविधाएं छोड़कर कहां जाते हो? लौट चलो। तो बुद्ध ने कहा, लौटकर पीछे देखता हूं, मुझे कोई महल दिखाई नहीं पड़ता। सिर्फ आग की लपटें दिखाई पड़ती हैं। लौटकर पीछे देखता हूं, मुझे कोई सुन्दर प्रीतिकर पत्नी दिखाई नहीं पड़ती, सिर्फ अपने ही मोह का फैलाव मालूम पड़ता है। मुझे कोई साम्राज्य दिखाई नहीं पड़ता, सिर्फ भविष्य में हो जाने वाले खण्डहर दिखाई पड़ते हैं। तो बुद्ध त्याग करके नहीं जा रहे हैं, क्योंकि जिसे लपटें दिखाई पड़ रही हों महल में, उसे त्याग नहीं करना पड़ता, त्याग हो जाता है। आपसे भी हो जाए, अगर लपटें दिखाई पड़ें।

आपके घर में आग लग जाए, फिर भी आप घर का त्याग करते हैं? फिर ऐसे भागते हैं कि घर कहीं पकड़ न ले। कहीं रोक ही न ले कि जरा ठहरो। इतने दिन साथ दिया, कहां जाते हो? घर, द्वार-दरवाजे बन्द नहीं करते। घर को आपसे कोई लगाव नहीं है, नहीं तो आग लग जाए, तो निकलने न दे बाहर कि अब जाते कहां हो। साथी का पता तो दुख में ही पड़ता है। अब मौका आया तो भाग रहे हो। यही तो अवसर है, पलायन करते हो, एस्केपिस्ट हो जाते हो। रुको। घर को

आपसे कोई मोह नहीं है। वह बड़ा प्रसन्न होता है कि चलो, मौका मिला, यह सज्जन गए। लेकिन आग लगी हो, तो फिर आपको छोड़ना नहीं पड़ता है, छूट जाता है।

अब जिसे संसार में ही व्यर्थता की, असारता की आग लगी दिखाई पड़े, उसे छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, चैतन्यमय होकर संसार का त्याग ही उनके हाथ की लकड़ी है, उनका दण्ड है। ब्रह्म का नित्य दर्शन ही उनका कमण्डलु है।

ऋषि प्रतीक कह रहा है। ब्रह्म का नित्य दर्शन ही उनका कमण्डलु है और कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उनकी झोली है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है। कर्मों को निर्मूल कर डालना। कर्म पकड़ते हैं, इसलिए कि हमें भ्रांति है कि हम कर्त्ता हैं। अगर कोई सोचता हो कि मैं कर्मों को निर्मूल कर दूंगा, तो वह निर्मूल करने के नए कर्म का बन्ध पैदा करेगा। कर्म बांधते इसलिए हैं कि मुझे ख्याल है कि मैं कर्त्ता हूं। मैंने चोरी की, मैंने दान दिया। मैंने यह किया, मैंने वह किया। यह जो मैं हूं पीछे, मैं कर्त्ता हूं, ऐसा जो भाव है, वह कर्मों को मुझसे जोड़ता चला जाता है।

जन्मों-जन्मों में न मालूम कितने कर्म का भाव हमारे भीतर इकट्ठा हो जाता है। हम बड़े कर्त्ता हो जाते हैं जब कि कर्त्ता सिवा परमात्मा के और कोई भी नहीं है। तो हम झूठ ही कर्त्ता होने का ख्याल अपने भीतर बना लेते हैं। तो सब कर्मों को सम्भालकर रखते हैं, लेखा-जोखा रखते हैं। क्या-क्या मैंने किया, क्या-क्या मैंने किया। उसकी हमारे चारों तरफ भीड़ इकट्ठी हो जाती है। वही हमारे भीतर कूड़ा-कबाड़ भर जाता है। उसकी वजह से जीवन के सत्य का अनुभव नहीं हो पाता, प्रभु का नित्य दर्शन नहीं हो पाता।

कैसे कटेंगे ये कर्म? यह ऋषि क्या कहता है? ये कर्म कैसे कटेंगे? ये कट जाते हैं एक क्षण में। अगर इतना ही स्मरणपूर्वक अपने भीतर कोई सजग हो जाए कि मैं अपने कर्मों का कर्त्ता नहीं, सब कर्म परमात्मा के हैं। मैं केवल उसके हाथ की बांसुरी हूं। स्वर उसके हैं, गीत उसके हैं, मैं सिर्फ बांस की पोंगरी हूं। कबीर ने कहा है कि जिस दिन यह जाना कि मैं बांस की पोंगरी हूं, उसी दिन झंझट कट गई। अब वह जाने, उसकी झंझट जाने। अपना कोई लेना-देना न रहा।

मरने लगे कबीर तो काशी छोड़कर चले गए। काशी लोग मरने आते हैं। मरे मराए लोग काशी मरने आते हैं। ख्याल है कि काशी में जो मरता है, वह स्वर्ग में जन्म लेता है। काशी के पास एक छोटा-सा गांव है, मगहर। कहावत है कि जो मगहर में मरता है, वह नर्क में गधा होता है। कबीर मरते वक्त मगहर चले गए। बहुत समझाया मित्रों ने, प्रियजनों ने, शिष्यों ने कि क्या करते हैं, मगहर में कोई मरता ही नहीं! मगहर में आदमी मर भी जाए, तो उसके रिश्तेदार उसे लेकर

भागते हैं कि अभी थोड़ी सांस चल रही है, मगहर के बाहर निकाल लो, नहीं तो आदमी नर्क में गधा होता है। काशी दूर-दूर से लोग मरने आते हैं और तुम काशी जिन्दगी भर रहे और मरने के वक्त मगहर जा रहे हो, दिमाग खराब हो गया! कबीर ने कहा कि काशी में रहकर अगर मैं मरा और स्वर्ग में गया, तो कर्त्ता का भाव पकड़ जाएगा। अपनी वजह से मगहर में मरूं, तो जहां उसकी मर्जी हो, नर्क का गधा बना दे तो भी उसकी मर्जी रहेगी। हम तो मगहर में ही मरेंगे। और स्वर्ग गए, तो फिर कह सकेंगे, तेरी अनुकम्पा। तेरी कृपा। मरे तो मगहर में थे, होना तो गधा था। लेकिन काशी में मरकर अहंकार पकड़ेगा कि मरे काशी में। हमारे तो हर कर्म के पीछे कर्त्ता खड़ा हो जाता है कि मैं कर रहा हूं।

कर्मों की निर्जरा न हो, तो मुक्ति नहीं है, स्वतन्त्रता नहीं है, चेतना का परम विकास नहीं है। संन्यासी यह कहता है कि अब मैं कुछ नहीं करता। अब वह जो कराता है। अब मैंने अपने सिर पर से बोझ हटा दिया। नर्क जाऊं, तो वह जाने; स्वर्ग जाऊं, तो वह जाने। जीऊं तो ठीक, मरूं तो ठीक। जो भी हो। अब मैं नहीं हूं अपने कर्मों के पीछे। अगर कोई ऐसा सरक जाए कर्म के पीछे से, तो आज के कर्म ही नहीं क्षीण हो जाएं, अनंत-अनंत जन्मों के कर्मों से सम्बन्ध टूट जाता है।

कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उसकी कन्था है। और निर्मूल वे तभी होंगे, जब मूल कट जाए; और मूल है अहंकार। मूल है कर्त्ता का भाव कि मैं कर रहा हूं। मैं ध्यान कर रहा हूं, इतना भी पकड़ जाए, तो कर्म का बंध होता है। मैं धर्म कर रहा हूं, प्रार्थना कर रहा हूं, पूजा कर रहा हूं, इतना भी पकड़ जाए, तो कर्म का बंध होता है।

उमर खय्याम ने एक बहुत प्यारा गीत लिखा है। उमर खय्याम बहुत कम समझा जा सका, क्योंकि बातें उसने ऐसी कहीं कि नासमझों को बहुत जंची। नासमझों ने उनके अपने अर्थ लगा लिए जो उनको जंचे। उमर खय्याम कीमती सूफी फकीर था। वह जिस बुरी तरह 'मिस इन्टरप्रेटेड' हुआ है सारी दुनिया में, कि उसका कोई हिसाब लगाना कठिन है। फिट्जेराल्ड ने पश्चिम में जब उसका अनुवाद किया, तो मिट्टी कर दी। बहुत अच्छा अनुवाद किया लेकिन उसकी जो सूफियाना पकड़ थी, वह जरा भी न बची। भारत में भी बहुत अनुवाद उमर खय्याम के हुए हैं, लेकिन एक भी अनुवाद ठीक नहीं है। हो नहीं सकता। क्योंकि उन अनुवाद करने वालों में एक भी सूफी नहीं है। वे कवि हैं, तो गीत तो उतार देते हैं। आपने देखा होगा, शराबखानों के नाम लोगों ने रख दिए हैं, 'उमर खय्याम'। क्योंकि ऐसा लगा कि उमर खय्याम शराब पीने की गवाही देता है और कहता है पीयो। लेकन उमर खय्याम समझा नहीं जा सका।

उमर खय्याम कहता है कि पीयो, क्योंकि पिलाने वाला वही है। और इस भ्रम में मत पड़ना कि तुम पीना छोड़ दोगे, क्योंकि उसके बिना छुड़ाए कैसा छोड़ना।

हमने सुना है कि वह बहुत रहीम है, रहमान है। हमने सुना है कि वह बड़ा दया-वान है, तो हम पुण्य करने का बोझ अपने सिर पर क्यों लें ? हम जैसे हैं, वैसे रह आएंगे। उसके सामने मौजूद हो जाएंगे । अगर उमर खय्याम-जैसे छोटे-से आदमी के पाप भी उसकी दया से न धुल सके—छोटे से आदमी के, छोटे ही पाप उसकी दया से न धुल सके, तो हमारी कोई बदनामी नहीं, उसी की दया बदनाम हो जाएगी।

मगर जिन्होंने इनके अनुवाद किए उन्होंने तो सब खराब कर डाला। उन्होंने तो मतलब निकाला कि मजे से पीयो। मजे से पीयो, अपना क्या बिगड़ेगा। उसी की बदनामी होगी। उमर खय्याम कुछ और ही बात कह रहा है। वह कह रहा है कि उसके बिना कराए क्या होगा ! न पकड़ सकते कुछ, न छोड़ सकते कुछ और जब वह छुड़ाएगा तो हमारी क्या ताकत कि हम पकड़ रखेंगे। और जब तक वह पकड़ाए है, तब तक हम इस अहंकार को क्यों कहें कि हम छोड़ देंगे । शराब तो सिर्फ बहाना है, बातचीत का बहाना है। जो जानते हैं, वे कहते हैं कि उमर खय्याम ने कभी शराब नहीं छुई और सब बातें तो उसने शराब की ही लिखी हैं। शराब उसके लिए प्रतीक है, सूफियों के लिए प्रतीक है। वह प्रतीक है कई अर्थों में । दो-तीन बातें ख्याल में ले लेने जैसी हैं।

एक तो यह कि शराब पीकर आदमी इतना बेहोश हो जाता है कि उसे अपने होने का पता नहीं रहता। उमर खय्याम कहता है कि परमात्मा की शराब भी ऐसी है कि जो पी लेता है, उसे अपने होने का पता नहीं रहता। वह कर्त्ता, वह मैं, वह खो जाता है। शायद शराब का जो इतना आकर्षण है सारी जमीन पर, वह इसीलिए है कि हम इतने कर्त्ता से भरे हुए हैं कि थोड़ी देर के लिए भुलाने के लिए सिवा शराब के हमारे पास और कोई उपाय नहीं है। इसलिए सच में ही इस शराब से वे ही लोग बच सकते हैं, जो परमात्मा की शराब पी लें, क्योंकि फिर कर्त्ता ही उनके पास नहीं बचता, जिसे भुलाने की जरूरत हो।

निर्मूल करना हो, जड़ से ही काट डालना हो, तो कर्त्ता को काटना पड़ता है, कर्मों को नहीं । कर्म तो पत्ते हैं, मूल नहीं हैं और उस मूल अहंकार को, कि मैं करने वाला हूं, कैसे काटेंगे ? कौन-सी तलवार काम पड़ेगी वहां, कौन-सी कुदाली वहां खोदेगी। कौन-सी कुल्हाड़ी वहां काटेगी ? जहां-जहां कर्त्ता का भाव हो, वहां-वहां साक्षी का भाव स्थापित करें। जहां-जहां लगे कि मैं कर रहा हूं, वहीं-वहीं जानें कि मैं कर नहीं रहा हूं, केवल ऐसा हो रहा है, इसे देख रहा हूं।

किसी के प्रेम में आप पड़ गए हैं। आप कहते हैं, मैं बहुत प्रेम करता हूं, लेकिन अब तक कोई प्रेमी सच नहीं बोला। सच इसलिए नहीं बोला कि प्रेम क्या कभी किसी ने किया है ? प्रेम हो जाता है। नहीं तो करके दिखाएं। बता दें आपको कि यह रहा, इस आदमी को प्रेम करके बताओ। हां, फिल्म की स्टेज पर बात और

है, बताया जा सकता है । लेकिन आप प्रेम करके बता नहीं सकते। इसके लिए ऑर्डर (आदेश) नहीं किया जा सकता कि चलो, करो प्रेम। अगर हो भी थोड़ा-बहुत तो तिरोहित हो जाएगा एकदम, ऑर्डर सुनते ही। इसलिए तो बच्चों का प्रेम नष्ट हो जाता है, क्योंकि बच्चों को हम ऑर्डर कर रहे हैं। कह रहे हैं, यह तुम्हारी मां है, करो प्रेम। यह पागलपन की बात है। अगर मां है तो प्रेम अब तक पैदा हो जाना चाहिए था। अगर मां है और अब तक प्रेम पैदा नहीं हुआ, तो क्या करने से अब प्रेम हो सकेगा ? साथ रहकर मां होने से नहीं हुआ, तो अब कहने से क्या होगा ? लेकिन मां ही कह रही है कि चलो, करो प्रेम । चलो, यह तुम्हारी चाची है, इसके गले लगो। यह तुम्हारे पिताजी हैं, इनके पैर छूओ। बच्चे बेचारे जबर्दस्ती करके उस हालत में पहुंच जाते हैं कि फिर उनसे कभी बिना जबर्दस्ती के कुछ होता ही नहीं। कण्डीशनिंग हो जाती है।

यह पत्नी है, करो प्रेम; यह पति है, करो प्रेम । फिर पूरी जिन्दगी करो । लेकिन प्रेम तो एक घटना है, हैपनिंग है। किया नहीं जाता, हो जाता है। जब आपको प्रेम हो, तब अगर आप यह समझ पाएं कि यह हो रहा है, मैं कर नहीं रहा हूं, तो आपको प्रेम का कर्म बांधेगा नहीं। आप कहेंगे, अवश हूं, विवश हूं, मेरे हाथ के बाहर कुछ हो रहा है। तब आप साक्षी बन सकते हैं, द्रष्टा बन सकते हैं, और जो व्यक्ति प्रेम का द्रष्टा बन जाए, वह और सब चीजों का द्रष्टा बन सकता है, क्योंकि प्रेम बहुत गहरा अनुभव है। और सब चीजें तो ऊपर-ऊपर हैं, बहुत ऊपर-ऊपर ।

द्रष्टा बनें। जहां-जहां कर्त्ता का भाव सघन होता है, वहां-वहां द्रष्टा को लाएं। धीरे-धीरे कर्म की जड़ कट जाएगी और आप अचानक पाएंगे कि कर्मों का सारा जाल आपसे दूर होकर गिर पड़ा, जैसे आपके वस्त्र गिर गए हों और आप नग्न खड़े हैं। जिस दिन कर्मों से नग्न होकर कोई खड़ा हो जाता है, उस दिन परमात्मा के लिए द्वार सीधा खुल जाता है। हमारे और उसके बीच कर्मों की श्रृंखला की आड़ है, दीवार है। इसलिए ऋषि कहता है, कर्मों को निर्मूल कर डालना ही उनकी कन्था है।

अन्तिम सूत्र में ऋषि कहता है कि श्मशान में जिसने दहन कर दिए माया, ममता, अहंकार, वही अनाहत अंगी—पूर्ण व्यक्तित्व वाला है। इस सूत्र में ऋषि बात को पूरा करता है, जैसे किसी ने मरघट पर जाकर जला दिए हों सब—ममता, माया, अहंकार। असल में सब अहंकार का विस्तार है। अहंकार अपने को ममता से फैलाता है। ममता उसकी शक्ति है, उससे अपने को बड़ा करता है। जब कोई कहता है 'मेरा बेटा', तो अहंकार की परिधि बड़ी हो गई। बेटे को भी उसने उसी में समा लिया। 'मेरी जाति', अहंकार की परिधि बहुत बड़ी हो गई। अब पूरी जाति को उसने अपने अहंकार के साथ जोड़ लिया। अब अगर कोई उसकी जाति

को गाली देगा, तो यह उसको दी गई गाली है । अगर अब कोई उसकी जाति का झंडा नीचा करेगा, तो यह उसका झंडा नीचा हो गया । 'मेरा राष्ट्र', उसको और भयंकर बड़ा कर दिया । और जितना वह बड़ा हो जाए, उतना पहचान में नहीं आता । वह इतना बड़ा हो जाता है कि हमारी आंखें उसका ओर-छोर नहीं देख पातीं । अगर मैं कहूं कि मैं बहुत महान व्यक्ति हूं, तो फौरन दिखाई पड़ जाएगा कि मैं बड़ा अहंकारी हूं, लेकिन जब मैं कहता हूं, हिन्दू धर्म महान् है, तो किसी को पता नहीं चलता कि हम केवल तरकीब कर रहे हैं । हम यह कह रहे हैं कि हिन्दू धर्म महान् है, क्योंकि हम हिन्दू हैं । इस्लाम महान् है, क्योंकि मैं मुसलमान हूं । इस्लाम महान् है, इसीलिए कि मैं मुसलमान हूं । अगर मैं न होता, तो महान् नहीं हो सकता । फिर जहां मैं होता, वह महान् होता ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक सभा में गया था । जरा देर से पहुंचा । बड़े आदमी को देर से पहुंचना चाहिए । सिर्फ छोटे आदमी वक्त पर पहुंचते हैं, बहुत छोटे वक्त के और पहले पहुंच जाते हैं । बड़ा आदमी जरा देर करके पहुंचता है । देर से पहुंचा, सभा भर गई थी । रास्ता नहीं था, अध्यक्ष जम चुके थे । नेता ने अपना व्याख्यान शुरू कर दिया था । मुल्ला इस इच्छा से गए थे कि किसी तरह मंच पर तो बैठ ही जाएंगे । लेकिन मंच तक जाने का उपाय नहीं था । मुल्ला दरवाजे पर ही बैठ गया, जहां लोगों ने जूते उतारे । फिर उसने वहीं गपशप करनी शुरू कर दी । उसकी बातें तो बड़ी कीमती थीं ही । लोग धीरे-धीरे उसकी तरफ मुड़ गए । सभा का रुख बदल गया । अध्यक्ष चिल्लाया कि नसरुद्दीन, तुम बहुत गड़बड़ कर रहे हो । तुम्हें पता होना चाहिए कि अध्यक्ष का स्थान यहां है । नसरुद्दीन ने कहा, नसरुद्दीन जहां बैठता है, अध्यक्ष का स्थान सदा वहीं होता है, और कहीं नहीं होता । अगर न मानों तो सभा से पूछ लो । पीठ किसकी तरफ, मुंह किसकी तरफ ?

आदमी अपने को जहां बैठा मानता है, सदा वही अध्यक्ष का स्थान है । कुछ लोग गलती में हों, बात दूसरी है । कहीं भी बैठ जाएं, उससे फर्क नहीं पड़ता । जहां मैं बैठता हूं, वही अध्यक्ष का स्थान है । हर आदमी इस जगत् में पूरे जगत् का सेन्टर है, केन्द्र—हर आदमी । यही तो झगड़ा है कि हर आदमी सेन्टर है । उसको सेन्टर मानकर पूरा जगत् परिभ्रमण कर रहा है । चांद-तारे चल रहे हैं, परमात्मा सेवा में लगा है, सारा खेल चल रहा है । पर सेन्टर आप हैं ।

अहंकार छोटा होता है तो दिखाई पड़ जाता है । आपको न भी पड़े, तो आपके पड़ोसी को दिखाई पड़ जाता है । बड़ा हो, तो पड़ोसी भी समा जाता है, फिर दिखाई नहीं पड़ता । जितना बड़ा हो जाए अहंकार, उतना कम दिखाई पड़ता है । इसलिए हमने चालाकियां की हैं और विराट् करने की कोशिश की है अहंकारों को । जाति, राष्ट्र, धर्म, समाज—इनका अहंकार इस ढंग से हो जाता है कि फिर

ठीक है, फिर कोई दिक्कत नहीं । मैं जोर से चिल्ला सकता हूं कि भारत दुनिया का सबसे श्रेष्ठ राष्ट्र है । कोई उपद्रव नहीं करेगा, कम से कम भारत में तो नहीं करेगा । क्योंकि वह उसका भी अहंकार है । वह कहेगा, बिल्कुल ठीक है, आप उचित कहते हैं । पाकिस्तान में पाकिस्तान महान् बना रहेगा, चीन में चीन महान् बना रहेगा । इस तरह सबके अहंकार तृप्त होते रहते हैं । रस पोषण पाते रहते हैं ।

अहंकार जीता है ममता के विस्तार से, 'मेरे' के विस्तार से । जितना बड़ा 'मेरे' का घेरा होगा, उतना मेरा 'मैं' बड़ा हो जाएगा और सुरक्षित होगा । इसलिए क्या-क्या मेरा है, इसको हम फैलाते चले जाते हैं । ममता, 'मेरे' के फैलाव का नाम है । आप कितनी चीजों को 'मेरा' कह सकते हैं, उतना ही आपका अहंकार पुष्ट होगा । लेकिन किसी चीज को मेरा कहना हो, तो पहले उसे माया से रंजित करना होता है । उसे (इल्यूजरी) करना पड़ता है । क्योंकि बिना 'इल्यूजन' (भ्रम) के किसी चीज को मैं 'मेरी' नहीं कह सकता ।

एक जमीन पर मैं खड़ा होकर कहता हूं, 'मेरी जमीन' । मैं यह कैसे कह सकता हूं ? जब मैं नहीं था, तब भी यह जमीन थी और जब मैं नहीं रहूंगा, तब भी यह जमीन रहेगी । और यह जमीन अगर हंस सकती, तो हंसती होगी, क्योंकि इस पर खड़े होकर न जाने कितने लोगों ने कहा होगा, मेरी जमीन है । वे लोग खो गए, जमीन अपनी जगह पड़ी है । अगर मुझे 'मेरे' का विस्तार करना है, तो मुझे बहुत ही हिप्नोटिक इल्यूजन (भ्रम) में अपने को सम्मोहित करना पड़ेगा, एक भ्रम में (जिसमें मुझे सत्य को देखने की जरूरत नहीं) असत्य खड़े करने पड़ेंगे । जितना असत्य झूठ में खड़ा कर सकूंगा अपने पास, उतना ही 'मेरे' का विस्तार होगा और उतना ही मेरे भीतर 'मैं' मजबूत होगा । एक बहुत अद्भुत खेल में हम लगे हैं । कैसा जाल हम बुनते हैं । माया का अर्थ है, हिप्नोटिक इल्यूजन (सम्मोहक भ्रम) ! जैसा आपने देखा होगा, कभी कोई जादूगर एक झोले में से पौधा निकालता है । पौधा एकदम बड़ा हो जाता है, उसमें आम लग जाते हैं, वह आपको आम तोड़कर दे देता है । न कोई झाड़ है वहां, न कोई आम है ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक जादूगर से मिलने गया था । जा तो रहा था दूसरे काम से, लेकिन जादूगर बीच में मिल गया । जादूगर ने जैसे ही मुल्ला को देखा, उसने अपना डमरू बजाया । मुल्ला चौंका । डमरू बजाकर उसने अपनी झोली में से एक पौधा निकाला । पौधा बड़ा हुआ । उसमें आम लगे । मुल्ला निकट गया । मुल्ला ने कहा, गजब की चीज है, 'मैजिक बैग', जादू का थैला । पूछा—क्या दाम है ? जादूगर ने कहा, पहले इसका पूरा राज तो समझ लो । पौधे को एक तरफ रख दिया । अन्दर हाथ डाला । एक खरगोश निकाला, और अन्दर हाथ डाला, चीजें निकलती आईं । जो उसने कहा, वही निकलती आई । मुल्ला ने कहा, बहुत बढ़िया ।

जा रहे थे खरीदने कुछ सामान। मैजिक बैग खरीद लिया। निकले थे कुछ और काम से, लेकिन जब मैजिक बैग मिल रहा हो, तो कौन नहीं खरीदेगा ? सोचा, सामान पीछे ले लेंगे। जरूरी चीजें फिर भी ली जा सकती हैं, गैर-जरूरी चीजें चूकी नहीं जा सकतीं। खाना एक दिन का छोड़ा भी जा सकता है, लेकिन हीरे की अंगूठी के बिना काम नहीं चल सकता। जो गैर-जरूरी है, वह तात्कालिक मांग करता है। जो जरूरी हैं, उसे पोस्टपोन किया जा सकता है।

मुल्ला जा रहा था बहुत जरूरी काम से। पत्नी के लिए कुछ दवा वगैरह खरीदने निकला था। फिर सोचा कि दवा की जरूरत क्या, जब मैजिक बैग अपने पास है। इसी में से निकाल लेंगे। मन में ख्याल पहले तो आया कि पत्नी के लि ; दवा निकाल लेंगे, लेकिन मन ने सोचा कि नई पत्नी ही क्यों न निकाल लें, जब मैजिक बैग ही पास है। मरने दो पुरानी को। फौरन जितने पैसे थे, दे दिए।

चलते वक्त उस आदमी ने कहा, जरा एक बात का ख्याल रखना, दीज बैग्स आर वेरी टेम्परामेंटल। ये बड़े मूडी हैं। यह मैजिक बैग है, कोई साधारण नहीं है। यह जादू का झोला है। यह बहुत संवेदनशील है। जरा होशियारी से, कुशलता से परसुएड करना, फुसलाना। नाराज हो गया तो मुश्किल हो जाएगी। मुल्ला ने ने कहा, मैं समझता हूं। जब इतनी ऊंची चीज है, तो टेम्परामेंटल तो होगी ही। जादूगर ने कहा कि जल्दबाजी मत करना। घर जाना, आराम से बैठकर सुस्ताना। (क्योंकि तब तक वह जादूगर जरा दूर निकल जाएगा) मुल्ला को घर पहुंचना बहुत मुश्किल हुआ। रास्ते में ही जोर से प्यास लग आई। उसने कहा, ऐसा भी क्या टेम्परामेंटल होगा, एक गिलास पानी तो दे ही सकता है। अन्दर हाथ डाला और कहा, प्यारे, जादू के बस्ते, जरा एक पानी का गिलास दो। वहां से कुछ भी न आया। कहा, अरे, क्या खरगोश और आम वगैरह निकालने की आदत तो नहीं है इसकी ! कहा, कोई हर्ज नहीं, अच्छा आम का पौधा ही निकाल। उसका भी कोई पता नहीं चला। पूरे बैग में अन्दर हाथ डाला, वह बिल्कुल खाली था। जो चीजें निकल सकती थीं, वे निकल चुकी थीं। उसने कहा, बहुत टेम्परामेंटल मालूम होते हो। ऐसी भी क्या नाराजगी। अभी एक अपशब्द भी तुमसे नहीं बोला। जो तुम्हारी मर्जी हो, वही निकालो। हाथ डाला, फिर भी कुछ नहीं आया। बड़ी मुसीबत हो गई। पैसे भी खराब गए, अब क्या करें। इसका कोई उपयोग तो होना ही चाहिए।

आदमी ऐसा ही सोचता है। उतने पैसे खराब किए, तो अब इसका कोई उपयोग तो होना चाहिए। उसने सोचा, अब इसका और क्या उपयोग हो सकता है। मुल्ला के पास एक गधा था, लेकिन उसके मुंह का जो तोबड़ा था, वह तो था ही। उसने सोचा इस तोबड़े के लिए एक गधा खरीद लेना चाहिए। बैग का क्या उपयोग करे ! भागा बाजार, गधा खरीदने लगा, तो गधा बेचने वाले ने कहा,

दो-दो गधे का क्या करोगे ? उसने कहा, दो-दो कहां, एक गधा और उसका तोबड़ा। और एक तोबड़ा और उसका गधा। दो कहां हैं।

आदमी पूरे वक्त मैजिक बैग लेकर जी रहा है। थैला टेंपरामेंटल है। कुछ निकालो, कुछ निकल आता है। नया कुछ कभी नहीं निकलता, जो डालो वही निकलता है। यह जिसको हम माया कहते हैं उसका अर्थ है कि हम इस पूरे जगत् में बहुत-से इल्यूजन्स पैदा करते हैं, बहुत से भ्रम पैदा करते हैं और उन भ्रमों के सहारे ही जीते हैं। नहीं तो जीना बहुत मुश्किल है। हर आदमी अपना मैजिक बैग लिए हुए है और उसमें से चीजें निकालता रहता है। हालांकि कोई उसकी मानता नहीं, लेकिन कम से कम वह खुद मानता है। कोई उसकी नहीं मानता। वह खुद तो कम से कम भरोसा करता है।

मैं पूरे मुल्क में घूमा। मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, आपने जो बात कही, वह हमारी समझ में तो आ गई, लेकिन साधारण आदमियों की समझ में कैसे आएगी। पहले मैंने सोचा, कभी तो वह साधारण आदमी भी एकाध दफे आएगा और कहेगा, असाधारण लोगों की समझ में तो आ गई, मुझ साधारण की समझ में नहीं आती। अभी तक नहीं आया वह साधारण आदमी ! वैसे जब भी आता, साधारण आदमी आता। वह कहता, हमारी समझ में तो आ गई, साधारण आदमियों की समझ में कैसे आएगी। अपने को छोड़कर बाकी को वह साधारण समझता है। बाकी भी यही समझते हैं। हर आदमी अपना मैजिक बैग लिए है, उसमें से चीजें निकालता रहता है। कोई उसकी मानता नहीं, लेकिन वह अपनी तो मानता ही है।

मुल्ला नसरूद्दीन एक दिन अपनी पत्नी से कह रहा है कि तुझे मालूम है कि इस दुनिया में कितने महान् पुरुष हैं ? उसकी पत्नी ने कहा कि मुझे भी पक्का, भलीभांति मालूम है। तुम जितना सोचते हो, उससे एक कम। मुल्ला ने कहा, बर्बाद कर दिया। एक ही तो हम सोचते हैं। फैसला हो गया। घटाने की कोई जरूरत नहीं, एक तो हम सोचते ही हैं। दो का सवाल कहां है। नसरूद्दीन की पत्नी भी जानती है कि वह महान् पुरुष कौन है, इसलिए उसने पहले एक घटा दिया और कहा कि तुम एक तो घटा ही दो। बाकी संख्या कोई भी हो, मैं राजी हो जाऊंगी।

हर आदमी अपने आस-पास एक भ्रम-जाल खड़ा करके जी रहा है। उस भ्रम-जाल में वह न मालूम क्या-क्या निर्मित करता रहता है। वह सब माया है। वह सब झूठ है। वह है नहीं, वह सिर्फ दिखाई पड़ता है। और दिखाई भी उसको पड़ता है, जो देखने के लिए आतुर है। वह भी जरा संभलकर देखेगा तो दिखाई नहीं पड़ेगा, बैग खाली पाएगा। वहां कुछ भी नहीं है।

ऋषि कहता है कि हमारी माया, ममता, अहंकार सब उल्टा चल रहे हैं।

माया सबसे बड़ा घेरा है हमारे भ्रम का। उसके बाद जो सेकेण्ड, जो दूसरी परिधि है, घेरा है, वह है ममता और उसके भीतर जो सेन्ट्रल फोर्स (केन्द्रीय शक्ति) है, वह है अहंकार। वह जो केन्द्र पर शक्ति है, उसका ही यह सारा फैलाव है। जो माया को, ममता को, अहंकार को मरघट पर चिता के जैसा जला देता है, वही अनाहत अंगी है। यह शब्द बहुत अद्भुत है, 'अनाहत अंगी'। इसका अर्थ है, पूर्ण व्यक्तित्व। अनाहत, जिसका एक भी अंग आहत नहीं हुआ, जो पूर्ण है, 'द होल'।

अंग्रेजी में शब्द है 'होली'। 'होली' बनता है 'होल' से। पवित्र वही है, जो पूर्ण है। पावन वही हैं, जो पूर्ण है, जिसका कोई भी अंग आहत नहीं, खण्डित नहीं। लेकिन आदमी अजीब-अजीब काम कर लेता है। ऐसी कौमें हैं जमीन पर कि वह शरीर के किसी अंग का ऑपरेशन नहीं करवातीं। क्योंकि अगर आहत होकर मरे, तो खण्डित होकर मरे। अगर कभी मौके-बेमौके ऐक्सीडेंट हो जाए, हाथ टूट जाए, कुछ हो जाए, तो उसको संभालकर रख दें। इसलिए जब आदमी मर जाता है, तो उसके हाथ वगैरह को जोड़कर अनाहत अंगी करके, पूरे अंग करके उसको दफना देते हैं। यह मतलब नहीं है। लंगड़ा भी अनाहत अंगी हो सकता है, अंधा भी अनाहत अंगी हो सकता है। शरीर बिल्कुल न रहे, तो भी अनाहत अंगी हो सकता है। अनाहत अंगी होने का मतलब इस शरीर के अंगों से नहीं। अनाहत अंगी होने का अर्थ है भीतर जो अखण्ड है, एक है, बिना टूटा-फूटा है, जिसके भीतर कोई खण्ड नहीं, विभाजन नहीं, द्वैत नहीं जिसके भीतर, जिसे पूर्ण का अनुभव होता है, जिसे फुलफिलमेंट का अनुभव होता है, जिसे लगता है सब पा लिया, अब कुछ पाने को नहीं। अगर परमात्मा भी सामने आकर पूछे कि कुछ और चाहिए, तो ऐसा अनाहत अंगी जो है वह चुपचाप रह जायेगा। वह कहेगा कि जो है, वह पूर्ण से ज्यादा है। अब और क्या हो सकता है। अब कुछ भी नहीं चाहिए।

अनाहत अंगी का यह भी अर्थ है कि जो इन्टीग्रेटेड है, समग्र है। जिसके भीतर भीड़ नहीं, जिस पर भरोसा किया जा सकता है। हम तो एक भीड़ हैं। अगर आप क्रोधित हैं, तो समझदार आदमी को इससे कोई चिन्ता नहीं पैदा होती, क्योंकि यह आपका पूरा हिस्सा नहीं, सिर्फ एक अंग है। दूसरा अंग है, उसको जरा फुसलाया जाए, आपका क्रोध चला जाएगा। वह दूसरा अंग निकल आएगा सामने। आप कितने ही नाराज हैं, आप कितने ही दुखी हैं, पीड़ित हैं, सब बदला जा सकता है, क्योंकि आपके दूसरे हिस्से भीतर पड़े हैं, उन्हें जरा ऊपर लाने की जरूरत है।

इन्टीग्रेटेड का अर्थ है समग्र, जो एक ही है अपने भीतर। उसके वचन का वही अर्थ है, जो है। उसे बदला नहीं जा सकता। लेकिन आपको तो आपके छोटे-मोटे

बच्चे बदल लेते हैं। छोटा बच्चा कहता है, खिलौना चाहिए डैडी। आप भारी अकड़ दिखलाते हैं कि नहीं, कल ही लिवाया था। वह बच्चा जानता है कि आप में कितनी अकड़ है और कितनी दूर तक आपकी अकड़ चलेगी। वह वहीं खड़ा है। वह कहता है, चाहिए। अब की दफा आप जरा डर कर देखते हैं। फिर भी रौब दिखाने की कोशिश करते हैं कि देखो, मैंने तुमसे कहा कि नहीं, अभी सम्भव नहीं है। वह वहीं खड़ा है। वह जानता है कि तुम्हारी कितनी ताकत है। थोड़ी देर में तुम्हारे दूसरे हिस्से को फुसला लेगा। तीसरी बार आप 'हां' भर देते हैं। एक दफे आपने यह कर दिया कि बच्चा सदा के लिए पहचान गया कि आप एक आदमी नहीं हैं, आपकी बात का कोई पक्का भरोसा नहीं है। आपको बदला जा सकता है। जरा जोर से पैर पटको, शोरगुल करो और आपको रास्ते पर लाया जा सकता है। छोटे-छोटे बच्चे भी डिक्टेटोरियल ट्रिक (तानाशाही चालाकियां) सीख लेते हैं। उससे वे आपको चलाते रहते हैं। आप समझते हैं कि आप अपने छोटे बच्चे को चला रहे हैं। बड़ी भूल में हैं। छोटे बच्चे भली-भांति जानते हैं कि आपकी कमजोरियां क्या हैं, कहां से आपको परेशान किया जा सकता है।

नसरूद्दीन का बेटा नसरूद्दीन से पूछ रहा था, आप शेर से डरते हैं? नसरूद्दीन ने कहा, बिल्कुल नहीं। हाथी से डरते हैं? नसरूद्दीन ने कहा, कैसी बातें कर रहा है, हाथी से मैं डरूंगा? हाथी मुझसे डरते हैं। सांप से डरते हैं? नसरूद्दीन ने कहा, उठाकर फेंक देता हूं सांप को। पहाड़ से डरते हैं, समुद्र से डरते हैं? नसरूद्दीन ने कहा, किसी से डरता नहीं बेटा। तो उसके बेटे ने कहा, तो क्या मम्मी को छोड़कर आप किसी से भी नहीं डरते? किसी से नहीं! न शेर से, न हाथी से, न सांप से, न पहाड़ से?

आपके भीतर हिस्से हैं बहुत, डिसइंटीग्रेटेड, अलग-अलग। एक हिस्सा बहादुर का है, एक हिस्सा कायर का है। जब तक बहादुर का हिस्सा ऊपर है, तब तक आप और बातें कर रहे हैं। जब बहादुर का हिस्सा थक जाएगा और कायर का ऊपर आएगा, आप बिलकुल दूसरे आदमी सिद्ध होंगे।

अनाहत अंगी का अर्थ है, जिसके भीतर कोई खण्ड नहीं, जो एक रस, एक जैसा ही है। ऋषि कहते हैं, लेकिन ऐसा अनाहत अंगी तभी कोई हो पाता है जब अहंकार, माया और ममता को भस्मीभूत कर डालता है। लेकिन मरघट में नहीं जलती वह आग, जिसमें माया और ममता और अहंकार को भस्म किया जा सके। वह आग मन्दिर में जलती है। वह आग प्रार्थना से जलती है। ध्यान से जलती है, पूजा से जलती है।

अब हम उस आग को ध्यान से जलाने में लगें।

निस्त्रैगुण्य स्वरूपानुसंधानम् समयं भ्रांति हरणम् ।
कामादि वृत्ति दहनम् ।
काठिन्य दृढ़ कौपीनम् ।
चिराजिनवासः ।
अनाहत मंत्रं अक्रिययैव जुष्टम् ।
स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः ।
इति स्मृतेः ।
परब्रह्म प्लव वदाचरणम् ।

त्रयगुण रहित स्वरूप के अनुसंधान में तथा भ्रांति के भंजन में समय व्यतीत करना,
काम-वासना आदि वृत्तियों का दहन करना,
सभी कठिनाइयों में दृढ़ता ही उनका कौपीन है ।
सदैव संघर्षों में जिनका वास है ।
अनाहत जिनका मंत्र और अक्रिया जिनकी प्रतिष्ठा है ।
ऐसा स्वेच्छाचार रूप आत्मस्वभाव रखना यही मोक्ष है ।
और यही स्मृति का अन्त है ।
पर-ब्रह्म में बहना जिनका आचरण है ।

प्रवचन : १४
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, प्रातः दिनांक २ अक्टूबर, १९७१

भ्रांति भंजन, कामादि वृत्ति दहन, अनाहत मंत्र और अक्रिया में प्रतिष्ठा

संन्यासी करता क्या है ? गृहस्थ तो संसार बसाता है । निर्माण करता है स्वप्नों का । आरोपण करता है विचारों का, माया का, मोह का, ममता का । संन्यासी क्या करता है ? गृहस्थ को तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि संन्यासी कुछ भी नहीं करता, भगोड़ा है, एस्केपिस्ट है, क्योंकि जो-जो गृहस्थ करता है, वह संन्यासी नहीं करता है । लेकिन संन्यासी भी कुछ करता है । इस सूत्र में ऋषि कहता है, त्रयगुणों से रहित स्वरूप के अनुसंधान में तथा भ्रांति के भंजन में समय व्यतीत करता है । गृहस्थ से ठीक उलटी यात्रा है संन्यासी की । गृहस्थ, तीन गुणों का जो फैलाव है, उसमें ही डूबा रहता है । कभी रज में, कभी तम में, कभी सत्व में । कभी अच्छे में, कभी बुरे में, कभी आलस्य में । संन्यासी उन तीनों के पार चौथे में चलने की चेष्टा में संलग्न होता है ।

यहां एक बात समझ लेनी जरूरी है । सत्व, शुभ जिसे हम कहते हैं, संन्यासी उसके भी पार चलने में लगा रहता है । अशुभ जिसे हम कहते हैं, उसके पार तो वह जाता ही है, लेकिन जिसे हम शुभ कहते हैं, संन्यासी उसके भी पार जाने में लगा रहता है । यह थोड़ा समझना कठिन मालूम पड़ेगा । यह तो ठीक है कि अशुभ के हम पार जाएं, यह तो ठीक है कि बुराई का त्याग हो, लेकिन संन्यासी भलाई का भी त्याग करता है । क्योंकि ऋषि की दृष्टि यह है कि जब तक भला भी न छूट जाए, तब तक बुरा पूरी तरह नहीं छूटता, क्योंकि बुरा और भला एक ही चीज के दो पहलू हैं । ऋषि की यह दृष्टि है कि अगर भले आदमी को यह भी याद रह जाए कि मैं भला आदमी हूं, तो उसके भीतर बुराई दबी रह जाती है । वस्तुतः भला आदमी वह है, जिसे यह भी पता नहीं रहता कि मैं भला आदमी हूं । भलाई भी छूट जाती है । भलाई छूट जाती है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भला करना बन्द कर देता है । भलाई छूट जाती है, इसका अर्थ यह है कि भलाई वह अपनी तरफ से नहीं करता, उससे जो भी होता है, वह भला है । सत्य के भी पार चला जाना संन्यास है ।

यह बहुत मौलिक क्रांति की बात है। जगत् में बहुत तरह के विचार पैदा हुए, लेकिन सत्व के पार ले जाने वाला विचार सिर्फ इस भूमि पर पैदा हुआ। जगत् में जो भी विचार पैदा हुए हैं, वे सब सत्व तक ले जाने की आकांक्षा रखते हैं। आदमी अच्छा हो जाए, यह अन्त नहीं है। आदमी अच्छे के भी पार हो जाए, यही अन्त है। क्योंकि इस बात की स्मृति भी कि मैं अच्छा हूं, अच्छा हूं, अच्छा कर रहा हूं, अस्मिता है, अहंकार है, इगो है। और ध्यान रहे, जहर कितना ही शुद्ध हो जाए; इससे जहर नहीं रह जाता, ऐसा समझने की कोई भी जरूरत नहीं है। सच तो उल्टा है कि शुद्ध होकर जहर और जहरीला हो जाता है।

बुरे आदमी का भी अहंकार होता है, अशुद्ध होता है। बुरा आदमी अपने अहंकार से परेशान भी होता है, बुरा आदमी अपने अहंकार को बुरा भी समझता है। किन्हीं क्षणों में पश्चात्ताप भी करता है। किन्हीं क्षणों में उसके पार जाने की चेष्टा भी करता है। लेकिन भला आदमी अपने अहंकार को बुरा भी नहीं समझता। पश्चात्ताप का तो सवाल ही नहीं है। अहंकार उसका भला है। कृष्णमूर्ति एक शब्द का प्रयोग करते हैं। वह ठीक शब्द है, पायस इगोइस्ट, पवित्र अहंकारी। दोनों शब्द उल्टे मालूम पड़ते हैं। पवित्र अहंकारी। अहंकारी पवित्र कैसे होगा ? और जो पवित्र है वह अहंकारी कैसा होगा ? लेकिन होता है। जिनको अच्छे होने की भ्रांति पैदा हो जाती है, वे पवित्र अहंकारी हैं।

लेकिन ध्यान रखें, अहंकार पवित्र होकर शुद्ध जहर हो जाता है—प्योर पॉयजन। बुरा आदमी तो थोड़ी-सी पीड़ा भी पाता है, उसे कांटे की तरह चुभता भी है कि मैं बुरा आदमी हूं। इसलिए बुरा आदमी अपने अहंकार को उसकी पूरी शुद्धता में खड़ा नहीं कर सकता। उसकी अकड़ में एक कमी रह ही जाती है, भीतर ही उसके कोई कहे चला जाता है, तुम बुरे आदमी हो। तो बुराई के आधार पर अहंकार का पूरा विस्तार नहीं हो सकता। आधारशिला में ही कमी रह जाती है। लेकिन मैं भला आदमी हूं, तब तो अहंकार के फैलाव की पूरी सुविधा और गुंजाइश है। जब अहंकार छतरी की तरह छा जाता है। बड़े सुदृढ़ आधार पर खड़ा होता है।

भले आदमी का जो अहंकार है, संन्यासी के लिए वह भी सार्थक नहीं है। लेकिन समाज इसका उपयोग करता है, क्योंकि समाज को पता है कि आदमी को अहंकार के पार ले जाना अति कठिन है। इसलिए समाज के पास एक ही उपाय है कि वह भलाई के लिए प्रेरित करने में आदमी के अहंकार का उपयोग करे। इसलिए हम आदमी से कहते हैं, ऐसा मत करो, लोग क्या कहेंगे। काम बुरा है, यह नहीं कहते। बाप अपने बेटे को समझाता है कि झूठ मत बोलो; पकड़े जाओगे, तो बड़ी बदनामी होगी। झूठ मत बोलना, लोग क्या कहेंगे। झूठ मत बोलना, चोरी मत करना। हमारे कुल में कभी किसी ने चोरी नहीं की। यह सब अहंकार

को उकसाया जा रहा है। एक बीमारी को दबाने के लिए दूसरी बीमारी को उठाया जा रहा है। लेकिन समाज की अपनी कठिनाई है। समाज अब तक ऐसे सूत्र नहीं खोज पाया है कि आदमी में बिना अहंकार के भलाई का जन्म हो सके। इसलिए हम अहंकार का उपयोग करते हैं और अहंकार को भलाई के साथ जोड़ते हैं। इससे जो घटना घटती है, वह यह नहीं है कि अहंकार भलाई के साथ जुड़कर भला हो जाता हो। घटना यह घटती है कि अहंकार के साथ भलाई जुड़कर बुरी हो जाती है। जहर की एक खूबी है कि वह एक बूंद भी काफी है, सब जहरीला हो जाएगा।

हम अहंकार को भलाई से जोड़ देते हैं, क्योंकि हमें दिखता नहीं कि और कोई उपाय है। अगर किसी आदमी से मन्दिर बनवाना है, तो पत्थर पर उसका नाम खोदना ही पड़ेगा। कोई आदमी ऐसा मन्दिर बनाने को राजी नहीं है, जिस पर उसका नाम ही न लगे। वह कहेगा, फिर प्रयोजन ही क्या रहा। मन्दिर में किसी को रस नहीं है। वह जो मन्दिर के भीतर की प्रतिमा है, उसमें किसी को रस नहीं है, वह जो मन्दिर के बाहर पत्थर लगता है नाम का, उसमें रस है। ऐसा नहीं है कि मन्दिर बनाए जाते हैं और फिर पत्थर लगाए जाते हैं। पत्थर के लिए मन्दिर बनाए जाते हैं। पत्थर पहले बन जाता है। मन्दिर बनवाना हो, तो वह पत्थर लगवाना पड़ता है नहीं तो मन्दिर बन नहीं सकता।

मन्दिर भी हम बनाएंगे, तो अहंकार के लिए ही बनवाएंगे। लेकिन कठिनाई तो यह है कि जो मन्दिर अहंकार के लिए बनता है, वह मन्दिर नहीं रह जाता। इसलिए सारी दुनिया में मन्दिर और मस्जिद उपद्रव के कारण बने। क्योंकि जहां अहंकार है, वहां सिर्फ उपद्रव ही पैदा हो सकता है। होना उल्टा चाहिए था कि मन्दिर और मस्जिद जगत् में प्रेम की वर्षा बन जाते, अमृत के द्वार खोलते, लेकिन उन्होंने बहुत जहर के द्वार खोले। नास्तिकों के ऊपर इतने पापों का जिम्मा नहीं है, जितना तथाकथित आस्तिकों के ऊपर है।

वोल्तेयर ने कहीं कहा है कि हे परमात्मा, अगर तू कहीं है, तो कम से कम मन्दिर और मस्जिद तो गिरवा दे। तेरे होने से हमें कोई अड़चन नहीं, लेकिन तेरे मन्दिर और मस्जिद बहुत दिक्कतें दे रहे हैं। यह बात ठीक ही है। भलाई में अगर एक बूंद भी अहंकार का पड़ गया, तो भलाई बुराई हो जाती है। समाज जो तरकीब जानता है, वह यह है कि अगर आपको भला बनना है तो आपके अहंकार को परसुएड करना (फुसलाना) पड़ता है। आपसे कहना पड़ता है कि कैसे महान् हैं आप, दिव्य हैं, तब आपके भीतर रस जन्मता है। यह रस उसी अहंकार में जन्म रहा है। इसलिए मनोवैज्ञानिक एक बहुत अनूठी बात कहते हैं। वे कहते हैं कि जिनको हम अपराधी कहते हैं और जिनको हम तथाकथित अच्छे आदमी कहते हैं, सज्जन कहते हैं, इनमें बुनियादी फर्क नहीं होता। दोनों ही

अटेंशन (ध्यान) चाहते हैं। समाज का ध्यान उन पर जाए, इसकी आकांक्षा में वे जीते हैं। एक आदमी भला होकर सड़क पर चलने लगता है, ताकि लोगों का ध्यान उस पर जाए। एक आदमी को कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता भला होने का, तो वह बुरा हो जाता है।

अभी बेल्जियम में एक मुकदमा था। एक आदमी ने चार हत्याएं की थीं। और चारों अजनबी थे, जिनकी हत्याएं की थीं। उन्हें उसने हत्या करने के पहले कभी देखा भी नहीं था। समुद्र के किनारे लेटे हुए चार आदमियों की हत्या कर दी। अदालत में उसने कहा कि मैं अखबार में 'मेन हेडिंग्स' (शीर्ष स्थान) में अपना नाम देखना चाहता था। मुझे कोई उपाय नहीं दिखता था महात्मा होने में बहुत देर लगे और महात्मा होना पक्का भी नहीं है, और कोई कितना बड़ा महात्मा हो जाए, सभी लोग उसे महात्मा कभी स्वीकार नहीं कर पाते। फिर महात्माओं को भी सूली लग जाती है इसलिए सुरक्षित मार्ग वह भी नहीं है। जब जीसस को सूली लग जाती है और सुकरात को जहर मिल जाता है, तो उसने कहा, वह भी कोई बहुत सुरक्षित रास्ता नहीं दिखता। समय ज्यादा लेता है। भारी कठिनाई झेलो। अक्सर ऐसा होता है कि जिन्दगी भर मेहनत करने पर भी मरकर ही आदमी महात्मा हो पाता है। क्योंकि जिन्दा आदमी को कोई महात्मा कहे, तो कहने वाले के भी अहंकार को चोट लगती है, सुनने वाले के भी अहंकार को चोट लगती है। जब कोई मर जाए, तब मुर्दे को जो जी चाहे कहो, किसी को कोई अड़चन नहीं होती। नसरुद्दीन कहता था कि कब्रिस्तानों में देखकर मुझे ऐसा लगा कि नर्क में अब तक कोई भी आदमी नहीं गया होगा। क्योंकि कब्रों पर जो वचन लिखे हैं और प्रशस्तियां लिखी हैं, वे बताती हैं कि सभी लोग स्वर्ग गए होंगे। मरते ही आदमी भला हो जाता है। पैदा होते ही बुरा हो जाता है।

वोल्तेयर का एक जिन्दगी भर का शत्रु था। हर चीज में वोल्तेयर से उसका मतभेद था। वह मर गया। स्वभावत: उसके शत्रु के मित्रों ने वोल्तेयर के पास जाकर कहा कि तुम्हारे जिन्दगी भर के सम्बन्ध थे। कोई वक्तव्य तुम दोगे, तो अच्छा होगा। माना कि शत्रुता थी। वोल्तेयर ने एक पत्र लिखकर दिया, जिसमें उसने लिखा है कि 'ही वाज ए ग्रेट मैन, ए वेरी रेयर जीनियस, बट प्रोवाइडेड ही इज रिअली डेड।' बहुत महापुरुष था वह, बड़ा प्रतिभाशाली था, लेकिन अगर मर गया हो तब। अगर जिन्दा हो, तो यह वक्तव्य मैं नहीं दे सकता हूं।

मर जाए आदमी, तो फिर अच्छा हो जाता है, यही तो दुख है। दुनिया का कि मरा हुआ आदमी अच्छा होता है, और जिन्दा आदमी बुरा होता है। यह जो हम भलाई का जाल खड़ा किए हुए हैं, उसके भीतर हम अहंकार को ही पोषण करके खड़ा करते हैं। अगर बच्चे को शिक्षित करना है, तो उसे प्रथम लाना पड़ता है, गोल्ड मेडल देना पड़ता है। अगर शिक्षित करना है, तो उसके अहंकार

को तृप्त करना पड़ता है, उसे विशेषता देनी पड़ती है, फिर उपद्रव होते हैं। लेकिन समाज इससे बेहतर कोई रास्ता नहीं खोज पाया है और यह बहुत बदतर रास्ता है।

ऋषि कहता है कि संन्यासी तो शुभ के भी पार चला जाता है। अशुभ के पार तो चला ही जाता है, शुभ के भी पार चला जाता है। अंग्रेजी में तीन शब्द हैं—एक शब्द है इम्मॉरल, अनैतिक। एक शब्द है मॉरल, नैतिक। एक शब्द है एमोरल या अति नैतिक। संन्यासी इम्मॉरल तो होता ही नहीं, मॉरल भी नहीं होता, एमोरल होता है। वह न तो नैतिक होता है, न अनैतिक होता है, वह नीति-मुक्त होता है। लेकिन इस तीसरी सीढ़ी तक पहुंचने के लिए अनीति को छोड़कर नीति में और नीति को छोड़कर अतिनीति में प्रवेश करना होता है। इसलिए ऋषि इंच-इंच आगे बढ़ रहा है। पीछे की सब बातें ख्याल रखेंगे, तभी तो ये सूत्र समझ में आयेंगे, जो आगे आ रहे हैं, अन्यथा समझ में नहीं आयेंगे। ये सूत्र अलग-अलग नहीं हैं, पीछे की पूरी श्रृंखला से बंधे हुए हैं। तो ऋषि कहता है, वह दो काम में लगा रहता है, एक नो तीन गुणों के पार जाने की सतत् चेष्टा करता रहता है। और दूसरा, भ्रांति के भंजन में समय लगाता है। ये दोनों एक ही प्रक्रिया के अंग हैं।

हम सब भ्रांति के सृजन में जीवन व्यतीत करते हैं। नीत्से ने कहा है, मैन कैन नॉट लिव विदाउट इल्यूजन। जरूरी हैं भ्रांतियां, उन्हीं के सहारे आदमी जीता है, नहीं तो नहीं जी सकता। नीत्से दूर तक ठीक कहता है। जहां तक हमारा सम्बन्ध है, नीत्से सौ प्रतिशत ठीक कहता है कि आदमी बिना भ्रांतियों से नहीं जी सकता। हजार तरह की भ्रांतियों उसके चारों तरफ चाहिएं। उन्हीं के बीच वह जी सकता है। तो नीत्से ने कहा—इल्यूजन्स आर नेसेसरी। भ्रम भी जरूरी हैं, और झूठ भी उपयोगी हैं। नीत्से ने बहुत बढ़िया बात कही है। उसने तो यह कहा है कि सत्य का कोई अर्थ ही नहीं है। जो असत्य काम पड़ जाए, वही सत्य है। पर असत्य काम पड़ते हैं, चौबीस घण्टे काम पड़ रहे हैं। थोड़ा-सा हम देख लें कि किस भांति काम पड़ते हैं।

हमें कोई पता नहीं कि आत्मा अमर है, लेकिन जिन्दा रहना है, तो मन में यह ख्याल लेकर चलना चाहिए कि आत्मा अमर है, नहीं तो जिन्दा रहना मुश्किल हो जाएगा। हमें कोई पता नहीं है कि प्रेम शाश्वत होता है, चारों तरफ देखें तो क्षणिक होता है। शाश्वत नहीं होता है, क्षण में बिखर जाता है। लेकिन जिन्दा रहना है, तो मानकर चलना चाहिए कि प्रेम शाश्वत चीज है। कवितायें बड़ी जरूरी हैं आदमी के आस-पास जीने के लिए। उनके सहारे वह अपने को भुलाये रखता है। कल होगा, इसका कोई निश्चय नहीं है। लेकिन हम कल का इन्तजाम करके सोते हैं। नहीं तो रात सोना ही मुश्किल हो जाएगा। सवाल कल

के इन्तजाम का इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, आज की रात सोने का सवाल है। कल का इन्तजाम कर लेते हैं, और कल होगा ही, ऐसी मान्यता मन में रख लेते हैं तो रात नींद आसानी से आ जाती है। अगर यह पक्का हो जाए कि कल सुबह नहीं होगी, कल सुबह मौत है, तो कल सुबह मौत होगी कि नहीं होगी, यह बड़ा सवाल नहीं है, आज की नींद खराब हो जाएगी। फिर आज सोया नहीं जा सकता। सोना हो, तो कल का भ्रम बनाए रखना जरूरी है। अगर जिन्दगी के दुखों को गुजारना हो, तो भविष्य की आशा को जिलाए रखना जरूरी है कि कोई बात नहीं, सुख मिलेगा। अगर इस मकान में नहीं मिला, दूसरे मकान में मिलेगा और इस व्यक्ति से नहीं मिला, दूसरे व्यक्ति से मिलेगा। आज नहीं मिला, कल मिलेगा। फ्यूचर ओरिएंटेशन, भविष्य की तरफ आशाओं को दौड़ाए रखना जरूरी है।

मनोवैज्ञानिक एक बहुत कीमती बात कहते हैं, जो बहुत नई खोज है एक अर्थ में पहले कभी किसी ने ख्याल नहीं किया था। रात आप सपने देखते हैं, तो आप सोचते होंगे, सपनों से नींद में बाधा पड़ती है। ऐसा सदा सोचा जाता रहा है। कई आदमी मेरे पास भी आते हैं। वे कहते हैं रात में बहुत सपने आते हैं, तो नींद ठीक नहीं हो पाती। सभी का यह ख्याल है। लेकिन मनोवैज्ञानिक ज्यादा निष्कर्ष पर हैं। वे कहते हैं, अगर सपने में हों, तो आप सो ही न पायें। वे बहुत उल्टी बात कहते हैं। वे कहते हैं सपने जो हैं, वे नींद में बाधा नहीं हैं, सहयोगी हैं। नींद टूट ही जाए, अगर सपने न हों। नींद को सतत जारी रखने के लिए सपने काम करते हैं। समझ लें, तो ख्याल में आ जाएगा।

नींद में आपको प्यास लगी है जोर से। आप एक सपना देखना शुरू कर देंगे कि पानी पी रहे हैं। झरना बह रहा है, झरने के पास बैठे पानी पी रहे हैं। अगर यह सपना न आए; तो प्यास आपकी नींद तोड़ देगी। आपको उठकर पानी पीने जाना पड़ेगा। नींद में बाधा पड़ जाएगी। यह सपना जो है, एक इल्यूजन पैदा करता है। कहता है कहां जाने की जरूरत है, नींद टूटने का तो कोई सवाल ही नहीं। झरना बह रहा है, पीयो। भूख लगी है, राजमहल में निमन्त्रण मिल जाता है। नहीं तो भूख नींद को तोड़ देगी। सपना सब्स्टीट्यूट है और नींद को सम्भालने का उपाय है। ठीक ऐसे ही जिन्दगी में भी भ्रांति जागरण को सम्भालने का उपाय है। जिसे हम जागरण कहते हैं, उसके आस-पास भ्रांति चाहिए, नहीं तो हम मुश्किल में पड़ जायेंगे।

मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में पड़ गया है। वह सम्राट् की पत्नी है। मुल्ला उससे बिदा ले रहा है। रात चार बजे उसने उससे कहा, तुझसे सुन्दर स्त्री मैंने अपने जीवन में न देखी और न मैं सोच भी सकता हूं कि तुझसे सुन्दर स्त्री हो सकती है। तू अनूठी है। परमातमा की अद्‌भुत कृति है। स्त्री फूल गई, जैसा

कि सभी स्त्रियां फूल जाती हैं। उस क्षण जमीन पर उसके पैर न रहे। लेकिन मुल्ला मुल्ला ही था। जब उसने उसे इतना फूला देखा, तो उसने कहा, लेकिन एक बात और, 'जस्ट फॉर योर इन्फार्मेशन' कि यह बात मैं और स्त्रियों से भी पहले कह चुका हूं। मैं वायदा नहीं कर सकता कि आगे और स्त्रियों से नहीं कहूंगा। वह स्त्री जो एकदम आनन्द की मूर्ति हो गई थी, कुरूप हो गई। प्रेम एकदम सूखा हुआ मालूम पड़ा। सब नष्ट हो गया। सपने खंडहर होकर गिर गए। मुल्ला ने एक सत्य कह दिया। सभी प्रेमी यही कहते हैं, लेकिन जब कहते हैं, तब इतने भाव से कहते हैं कि वे भी भूल जाते हैं कि यह बात हम पहले भी कह चुके हैं।

मुल्ला एक स्त्री के प्रेम में है, लेकिन शादी को टालता चला जाता है। आखिर उस स्त्री ने कहा, अंतिम निर्णय हो जाना चाहिए। आज आखिरी बात। शादी करनी है या नहीं। अब टालना नहीं हो सकता। मुल्ला ने कहा, भ्रम जब बहुत ताजे थे, तभी शादी हो जाती, तो हो जाती। अब तो भ्रम बहुत बासी पड़ गए हैं। अब तो हम उस हालत में हैं कि अगर शादी हो गई होती, तो तलाक का इन्तजाम हो रहा होता। उस स्त्री ने कहा, दरवाजे से बाहर निकल जाओ। मुल्ला ने कहा, जाता हूं, लेकिन मेरे प्रेम-पत्र लौटा दो। स्त्री ने कहा, क्या मतलब, क्या करोगे प्रेम-पत्रों का? मुल्ला ने कहा, फिर भी जरूरत पड़ेगी ही। दुबारा लिखने की झंझट कौन करे। और फिर मैंने यह एक 'प्रोफेशनल राइटर' से लिखवाए थे, पैसा खर्च किया था।

वही भ्रम बार-बार खड़ा करना पड़ता है। अन्यथा जीना मुश्किल है। एक कदम चलना मुश्किल है। इसलिए गृहस्थ हम उसे कहें, जो बिना भ्रम के नहीं जी सकता। अगर इसकी ठीक मनोवैज्ञानिक परिभाषा करनी हो, तो गृहस्थ वह है जो, 'वन हू कैन नॉट लिव विदाउट इल्यूजन्स'—उसे भ्रमों के घर बनाने ही पड़ेंगे उसे कदम-कदम पर भ्रम की सीढ़ियां निर्मित करनी पड़ेंगी। संन्यासी वह है, जो बिना भ्रम के रहने के लिए तैयार हो गया। जो कहता है, सत्य के साथ ही रहेंगे, चाहे सत्य जार-जार कर दे, तोड़ दे, खण्ड-खण्ड कर दे, मिटा दे, नष्ट कर दे, लेकिन अब हम सत्य जैसा है, उसके साथ ही रहेंगे। अब हम भ्रम खड़ें न करेंगे इसलिए संन्यासी भ्रमों को तोड़ने में लगा रहता है, भ्रांतियों को तोड़ने में लगा रहता है। जहां-जहां उसे लगता है, भ्रांतियां खड़ी की जा रही हैं, वहां-वहां वह तोड़ता है। मन के प्रति सजग होता है कि मन कहां-कहां भ्रांतियां खड़ी करवाता है। देखता है अपने चारों तरफ कि मैं कोई सपने तो नहीं रच रहा हूं जागने में या सोने में। मैं बिना सपने के जीऊंगा।

बिना सपने के जीने की बात बड़ा दुस्साहस है। यह साधारण साहस नहीं है, दुस्साहस है, क्योंकि इंच भर सरकना मुश्किल है बिना सपने के। बिना सपने के इंच भर भी सरकना मुश्किल है। एक कदम न उठेगा अगर सपने आपसे छीन

लिए जाएं। आप यहीं गिर जाएंगे। मिट्टी के ढेर हो जाएंगे। संन्यासी फिर भी चलता है, उठता है, बैठता है सारे भ्रम को तोड़कर। और जैसे ही भ्रमों को तोड़ देता है, वैसे ही उसकी सत्य में गति हो जाती है। टु नो द अनट्रू ऐज अनट्रू इज द ओनली वे टुवार्ड ट्रूथ। असत्य को असत्य की भ्रांति जान लेना सत्य की ओर एकमात्र मार्ग है। भ्रांति को भ्रांति की भांति पहचान लेना सत्य की अनुभूति का द्वार है। इसलिए प्राथमिक रूप से संन्यासी को भ्रांतियां तोड़नी पड़ती हैं।

संन्यासी के पास अगर कोई रहे, तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। संन्यासी तो मुश्किल में होता है अपने ढंग की, लेकिन उसकी मुश्किल तो ठीक है, उसके पास कोई रहे, तो बहुत मुश्किल में पड़ जाता है। क्योंकि संन्यासी भ्रम नहीं पोसना चाहता और जो भी उसके पास रहेगा, वह भ्रम पोसना चाहता है। अगर संन्यासी सत्य के ही साथ सीधा जीता है, तो जो भी उसके निकट है वह अड़चन में पड़ना शुरू हो जाता है। क्योंकि संन्यासी ऐसी बातें कहेगा, इस ढंग से जीएगा कि आप अपने भ्रमों को न पोस पावें। इसलिए एक बहुत दुर्घटना इस जमीन पर घटती रही है और वह यह है कि इस जमीन पर जिन लोगों ने भी सत्य की खोज की है, उनके आस-पास के लोग कभी भी उनको प्रेम नहीं कर पाए और कभी उनको समझ भी नहीं पाए।

सुकरात की पत्नी तक सुकरात को भली भांति नहीं समझ पाई, क्योंकि सुकरात कोई भ्रम में सहायता न देगा। सुकरात से उसकी पत्नी का कलह अनिवार्य हो गया, क्योंकि पत्नी चौबीस घण्टे भ्रमों की मांग करती और सुकरात कोई भ्रम नहीं दे सकता। पत्नी के मन में आकांक्षा होती थी कि कभी सुकरात कहे कि तुम सुन्दर हो। लेकिन सुकरात कहता कि सौंदर्य तो मन का भाव है। शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। शरीर से उसका कोई अर्थ नहीं है। अब पत्नी बड़ी मुश्किल में पड़ती। पत्नी चाहती थी कि सुकरात कभी कहे कि तुम्हारे बिना मैं न जी सकूंगा। सुकरात कहता था, सब सबके बिना जी सकते हैं। बल्कि अगर सुकरात से सच पूछो, तो वह कहेगा कि तुम्हारे बिना मैं ज्यादा आसानी से जी सकूंगा। लेकिन पत्नी के मन को तो बड़ी तकलीफ होगी, बड़ी पीड़ादायी हो जाएगी बात। बहुत कठिन हो जाएगा, क्योंकि उसके कोई सपने खड़े न हो पाएंगे और वह तोड़ने की तैयारी में नहीं होगी।

जब जीसस ने अपनी मां को कहा कि कोई मेरी मां नहीं, कोई मेरा पिता नहीं, तो हम समझ सकते हैं कि मां को कैसी पीड़ा हुई होगी। बेटा चोर होता, बेईमान होता और कह देता तू मेरी मां नहीं, तो मां प्रसन्न भी हो सकती थी कि झंझट मिटी। बदनामी अपने सिर न आएगी। बेटा हो गया है पैगम्बर। हजारों लोग उसे भगवान् का बेटा मानने लगे हैं। मां बहुत आतुरता से आई होगी। भीड़ के सामने जीसस कह देगा कि तू मेरी मां है। जीसस ने कह दिया, कौन किसकी

मां! कौन किसका बेटा! किसी का कोई भी नहीं। तो हम समझ सकते हैं कि मां को, मां के भ्रम को कैसा धक्का लगा होगा।

जब बुद्ध ने अपने पिता को कहा, आप नहीं जानते कि मैं कौन हूं, आप मुझे नहीं पहचानते। तो बुद्ध के पिता तो क्रोध से भर गए। उन्होंने कहा, मैं तुझे नहीं पहचानता? मैंने तुझे पैदा किया। ये तेरी हड्डियां, यह तेरा खून, यह तेरा मांस मेरा है। तेरी रगों में जो बह रही है ताकत, वह मेरी है। और मैं तुझे नहीं पहचानता? तू नहीं था, उसके पहले मैं था। बुद्ध ने कहा, वह सब ठीक है। वह खून भी आपका होगा, हड्डियां भी आपकी होंगी, वह शरीर भी आपका होगा, लेकिन मेरा उससे कुछ लेना-देना नहीं, मैं और ही हूं। बुद्ध के बाप ने कहा, मुझ से पैदा हुआ है। बुद्ध ने कहा, वह भी ठीक है। लेकिन आप एक चौराहे की तरह थे, जिस पर से मैं आया! लेकिन मेरी यात्रा आपके मिलने से बहुत पहले से चलती है। आप एक रास्ता थे, जस्ट ए पैसेज। जिससे मैं आया, वह ठीक है। लेकिन अगर दरवाजा यह कहने लगे कि चूंकि मैं उसमें से निकला, इसलिए वह मुझे जानता है, तो भ्रांति हो जाएगी। बाप तो आग-बबूला हो गया। उन्होंने कहा, तू मुझे सिखाता है? सभी बाप आग-बबूला हो जाएंगे कि तू मुझे सिखाता है। बुद्ध सत्य की बात कह रहे हैं, कठिनाई वही है और बाप अभी भ्रमों के बीच जीना चाहता है।

बुद्ध की पत्नी ने अपने बेटे को कहा कि राहुल, अपने बाप से वसीयत मांग ले। ये तेरे बाप खड़े हैं। गहन व्यंग्य था। बुद्ध के पास तो कुछ भी न था देने को। लेकिन पत्नी रोष में थी। यह आदमी छोड़कर भाग गया था। बेटे ने तो पहली बार बुद्ध को देखा था, क्योंकि बेटा तो पहले ही दिन का था, पैदा ही हुआ था, तब बुद्ध घर से निकल गए थे। बारह साल बाद लौटे हैं, तो राहुल को सामने खड़ा करके उनकी पत्नी ने कहा कि ये हैं तुम्हारे पिता इन्होंने तुम्हें जन्म दिया। जन्म देकर भाग गए। अब मिले हैं, मौका मत चूकना। फिर भाग जाएंगे। इनसे ले लो वसीयत कि मेरे लिए क्या देते हो जगत् में। मुझे पैदा तो कर दिया है।

बुद्ध की पत्नी जो व्यंग्य कर रही है। वह भ्रमों की दुनिया का व्यंग्य है। लेकिन बुद्ध ने कहा कि मेरे निकट आ, बड़ी सम्पदा मेरे पास है, वह मैं तुझे देता हूं। और जो दिया, वह भिक्षा-पात्र था। उन्होंने आनन्द को कहा, आनन्द संन्यास में दीक्षित करो राहुल को। पत्नी तो कंप गई। रोने लगी, लेकिन राहुल दीक्षित हो चुका था। बुद्ध ने कहा, जो मेरे पास श्रेष्ठ है, वही तो मैं दूंगा। जो सम्पदा है, वही मैं दूंगा। जिसको छोड़ गया था, वह विपदा थी। अब मैं सम्पदा लेकर आया हूं। वही मैं देता हूं। बुद्ध के बाप रोने लगे और उन्होंने कहा, तू बर्बाद करके रहेगा, अकेला तू मेरा बेटा था। तेरे जाने से भारी उपद्रव हुआ। अब तेरा बेटा ही सारे

साम्राज्य का मालिक है । इसको भी तू संन्यासी बना रहा है । बुद्ध ने कहा, आप भी राजी हो जाएं, क्योंकि यह साम्राज्य पाकर आपको क्या मिला ? मुझे छोड़कर क्या खो गया ? और यह मेरा बेटा भी इसी चक्की में पिसता रहे, तो क्या मिल जाएगा ? मैं इसे सम्पदा देता हूं । लेकिन सबको लगा कि बुद्ध भारी अन्याय कर रहे हैं । सारे गांव में दुख की लहर फैल गई कि बारह साल के लड़के को दीक्षा दे दी । हद अन्याय है । लेकिन बुद्ध जहां जीते हैं, वहां भ्रमों का जगत् नहीं है । संन्यासी चौबीस घण्टे भ्रम को तोड़ने में लगा रहता है, और भ्रम टूटते हैं, तभी तीनों गुणों के पार यात्रा शुरू होती है ।

काम वासना आदि वृत्तियों का दमन करना—कामादि वृत्ति दहनम् । यह दहन शब्द बहुत अद्भुत है । दमन नहीं, दहन । दबाना नहीं, जला डालना, राख कर देना । जैसे एक बीज है, बीज को दबाने से बीज नष्ट नहीं होता, आपको पता है ? दबाने से ही अंकुरित होता है । न दबाओ, तो बीज ही रह जाए । दबा तो जमीन में, अंकुर बन जाए । और जब बीज अंकुरित होता है, तो एक बीज से हजार लाख बीज पैदा हो सकते हैं । जब तक बीज बीज रहता है, एक बीज है । जब अंकुरित होता है, तो लाख हो सकते हैं । बीज को दबाने की भूल मत करना, नहीं तो एक बीज के लाख बीज हो जाएंगे । संन्यासी दबाने में नहीं लगता, 'नॉट इन सप्रेशन।' फ्रायड ने तो अभी इस सदी में आकर कहा कि सप्रेशन, दमन जो है, वह रोग है । ऋषि सदा से कहते रहे हैं कि दमन रोग है । दमन से कुछ होगा नहीं, दबाकर क्या होगा ? जिसे मैं दबाऊंगा, वह मेरे भीतर घुस जाएगा, और गहरे में उतर जाएगा और अचेतन जकड़ जाएगा । जिसे मैं दबाऊंगा, वह मेरी गर्दन को और जोर से पकड़ लेगा ।

मुल्ला नसरुद्दीन के घर कोई मेहमान भोजन करने को आने को है । मेहमान बड़ा आदमी है । राजनीतिज्ञ हैं, नेता है । भूतपूर्व मन्त्री है । एक और खूबी है कि उसकी नाक इतनी बड़ी है कि उसका मुंह दिखाई नहीं पड़ता, दब जाता है । पत्नी ने मुल्ला से कहा कि देखो, एक बात का ध्यान रखना । जो अतिथि आ रहे हैं, उनकी नाक की चर्चा मत चलाना । बात ही मत उठाना । कसम खा लो, नहीं तो कोई गड़बड़ कर दोगे । मुल्ला ने कहा, क्यों उठाएंगे । अपने को दबाकर रखेंगे । संयम रखेंगे । पहली बात तो बोलेंगे नहीं । लेकिन नाक इतनी बड़ी थी कि मुल्ला बड़ी मुश्किल में पड़ गया । देखो तो नाक दिखाई पड़े, आंख बन्द करे तो नाक दिखाई पड़े । मुंह तो दिखता ही नहीं था, नाक बहुत बड़ी थी । उनकी तरफ देखे, तो नाक दिखाई पड़े, उनकी तरफ मुंह करे, तो नाक दिखाई पड़े । बहुत परेशानी हो गई । तो दबाता रहा, दबाता रहा, दबाता रहा ।

अतिथि ने आखिर पूछा, नसरुद्दीन, बोलते बिल्कुल नहीं हो ? नसरुद्दीन ने कहा, नहीं बोलूं, उसी में सार है । नहीं, ऐसी क्या बात है ? पत्नी भी बड़ी हैरान थी कि बहुत संयम रखा । भोजन भी पूरा होने के ही करीब था । पत्नी ने कहा, ऐसी कोई बात नहीं है । इशारा किया हाथ से कि थोड़ा बहुत बोल सकते हो । नसरुद्दीन ने भी सोचा, क्या बोलूं । थोड़ी सी मिठाई उठाकर मेहमान को देने लगा । मेहमान ने कहा कि नहीं । नसरुद्दीन ने कहा कि नाक में डाल दूं, क्योंकि मुंह तो दिखाई नहीं पड़ता । बस भूल हो गई । वह नाक ही नाक तो भीतर चल रही थी । मुंह तो दिखाई पड़ता नहीं, नाक ही दिखाई पड़ती थी । लगता था कि सज्जन नाक से ही भोजन कर रहे हैं । जो भी हम दबाते हैं, वह जाता नहीं । दमन से इस जगत् में कोई चीज कभी नहीं जाती, सिर्फ इकट्ठी होती है, फूटती है और विस्फोट होती है ।

ऋषि कहते हैं, 'कामादि वृत्ति दहनम् ।' जैसे बीज कोई जला दे, तो फिर वह कभी अंकुरित न हो सकेगा । दबा दे, तो अंकुरित होगा । जला दे, दग्ध कर दे, तो फिर कभी अंकुरित न हो सकेगा । संन्यासी अपनी काम की वृत्ति के दहन में लगे रहते हैं, जलाने में लगे रहते हैं । किस आग में जलेगी काम की वृत्ति ? समझना पड़ेगा । काम की वृत्ति किस पानी से पल्लवित होती है ? ठीक उसके विपरीत करने से जल जाएगी ।

कभी आपने ख्याल किया कि जब काम-वासना मन को पकड़ती है, तो चित्त बिल्कुल मूर्च्छित हो जाता है, बेहोश हो जाता है । ऐसा पकड़ लेता है भीतर से जैसे कि नशे में हो गए । वैज्ञानिक कहते हैं, शरीर-शास्त्री कहते हैं कि शरीर के पास भीतरी ग्रन्थियां हैं, जिनके पास विषाक्त द्रव्य हैं, जहरीले द्रव्य हैं और अब नवीनतम खोजें कहती हैं कि शरीर के पास ऐसी ग्रन्थियां भी हैं, जिनमें सम्मोहन पैदा करने वाले रस, ड्रग्स हैं । कोई स्त्री जब आपको सुन्दर दिखाई पड़ती है या कोई पुरुष सुन्दर दिखाई पड़ता है, तब आपके शरीर में नए रासायनिक द्रव छूटने शुरू हो जाते हैं, जो हेल्यूसिनेशन पैदा कर देते हैं, जो सौन्दर्य का भ्रम पैदा कर देते हैं । और जब आप काम-वासना से भरे होते हैं, तब होश में नहीं होते, आप करीब-करीब बेहोश होते हैं, नशे में होते हैं । नशे में कुछ भी हो सकता है । होश आते ही पछताते हैं । ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो अपनी वासना-पूर्ति के बाद पछताता न हो । पश्चात्ताप करता है, रोता है, सोचता है क्या किया । क्या नासमझी है, लेकिन फिर थोड़े ही घण्टे बीते हैं कि वासना पकड़ लेती है, फिर रस बन गए । फिर शरीर में हेल्यूसिनेशन के द्रव्य इकट्ठे हो गए । अब वे फिर भ्रम पैदा करवा देंगे । फिर वही मूर्च्छा, फिर वही मूर्च्छा ।

मूर्च्छा काम-वासना के लिए पानी का काम करती है । इसलिए कामातुर जो व्यक्ति है, वह बहुत जल्दी शराब की तलाश में निकल जाता है । अगर ऋषियों ने शराब और नशे का विरोध किया है, तो इसलिए नहीं कि शराब अपने आप में कुछ बुरी है । बल्कि इसलिए कि वह उस आदमी की तलाश है, जो अपनी

काम-वासना को सींचना चाहता है। जिन लोगों की काम-वासना शिथिल हो गई होती है, शरीर शिथिल हो गया होता है, वे लोग शराब पी-पी कर अपनी वासना को सजग करने की चेष्टा में लगे रहते हैं।

मूर्च्छा, बेहोशी, तन्द्रा, काम-वासना के लिए जल का काम करती हैं, उसे सींचती हैं; और होश, जागरण, विवेक, ध्यान काम-वासना को दग्ध करने का काम करता है। जिस क्षण आप पूरे होश में होते हैं, उस क्षण काम-वासना भीतर नहीं रह सकती है। जिस दिन भीतर होश की पूरी अग्नि जलती है, उस दिन काम-वासना जल जाती है। इसे थोड़ा और तरफ से देखना जरूरी है। पशुओं के जगत् में बहुत-से राज छिपे हैं और आदमी अपने को समझना चाहे, तो पशुओं को समझना जरूरी है, क्योंकि आदमी के भीतर बहुत कुछ हिस्सा पशुओं का है।

अफ्रीका में एक मकोड़ा होता है। जब भी नर मकोड़ा मादा मकोड़े के साथ संभोग में जाता है और संभोग शुरू करता है, उधर मादा उस मकोड़े के शरीर को खाना शुरू कर देती है। एक ही संभोग कर पाता है वह मकोड़ा, क्योंकि वह संभोग करता रहता है और मादा उसके शरीर को खाती चली जाती है। वैज्ञानिक जब उसके अध्ययन में थे, तब बड़े हैरान हुए कि क्या उस मकोड़े को यह भी पता नहीं चलता कि मैं मारा जा रहा हूं, खाया जा रहा हूं, नष्ट किया जा रहा हूं। मकोड़ा संभोग के बाद मुर्दा ही गिरता है। उसकी लाश को मादा खा जाती है। बस एक ही संभोग कर पाता है। दूसरे मकोड़े यह देखते रहते हैं, लेकिन जब उनकी संभोग की वृत्ति जगती है तब वे भूल जाते हैं कि मौत में उतर रहे हैं। शरीर-शास्त्रियों ने उस मकोड़े का बहुत अध्ययन करके पता लगाया कि उसके शरीर में बड़ी गहरी विषाक्तता है। जब काम-वासना उसको पकड़ती है, तो उसे इतना भी होश नहीं रह जाता कि मैं काटा जा रहा हूं, मारा जा रहा हूं, खाया जा रहा हूं। यह भी भूल जाता है। आश्चर्यजनक है। लेकिन अगर हम अपने को भी समझें, तो आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगा।

वह कीड़ा है, इससे क्या फर्क पड़ता है? इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वही स्थिति मनुष्य की भी है। वह जानता है, भली-भांति पहचानता है। फिर वासना पकड़ लेती है, फिर वासना पकड़ लेती है। वासना के बाद अनुभव भी होता है कि व्यर्थ है। कोई अर्थ नहीं। लेकिन उस व्यर्थता के बोध का कोई लाभ नहीं होने वाला है, क्योंकि जब तक बेहोशी न टूटे, वह फिर आ जाएगा; जिसको व्यर्थ कहा, वह फिर सार्थक हो जाएगा। इसलिए ऋषि यह नहीं कहते कि उसे दबाओ। वे कहते हैं, इतना जागो, होश की इतनी अग्नि पैदा करो, द फायर ऑफ अवेकनिंग कि उसमें सब दग्ध हो जाए। और जब काम-वासना दग्ध हो जाती है, तो और शेष वासनाएं अपने आप दग्ध हो जाती हैं। यह कोई फ्रायड की नई खोज नहीं है कि काम-वासना सभी वासनाओं का केन्द्र है। यह तो ऋषि सदा से जानते

रहे हैं। जिन्होंने भी खोज की है मनुष्य के अन्तरात्मा में, वे सदा से जानते रहे हैं। बाकी सारी वासनाएं काम-वासना से ही पैदा होती हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन मर कर स्वर्ग के द्वार पर पहुंचा। सेंट पीटर ने, जो कि स्वर्ग के द्वारपाल हैं, मुल्ला नसरुद्दीन से पूछा कि जमीन पर काफी देर रहे। (क्योंकि वह एक सौ दस वर्ष का होकर मरा) कभी चोरी की, बेईमानी की? नसरुद्दीन ने कहा, कभी नहीं। पूछा, कभी शराब पी, नशा किया? नसरुद्दीन ने कहा, इन बातों से सदा दूर रहे।' फिर पूछा, स्त्रियों के पीछे भागते रहे? नसरुद्दीन ने कहा, कैसी बातें करते हैं आप! तो सेंट पीटर ने कहा, 'देन व्हाट यू वेयर डूइंग देअर फॉर सच ए लौंग टाइम?' एक सौ दस वर्ष तक तुम वहां कर क्या रहे थे जमीन पर? इतना लम्बा वक्त! अगर स्त्रियों के पीछे नहीं दौड़ रहे थे, तो गुजारा कैसे?

वह ठीक है बात। जिसको हम जिन्दगी कहते हैं, वह ऐसी ही दौड़ है। स्त्री पुरुष के पीछे, पुरुष स्त्री के पीछे; और यह कोई आदमी ही कर रहा है, ऐसा नहीं; वृक्ष, पौधे, पशु, पक्षी सभी वही कर रहे हैं। लेकिन हां, आदमी होश से भर सकता है। यह उसके लिए एक अवसर है। इसलिए पशुओं को हम दोषी नहीं ठहरा सकते कि वे कामुक हैं। कामुकता के पार जाने का उनके पास फिलहाल कोई उपाय नहीं है। जिस जगह उनकी चेतना है, उस जगह से कोई रास्ता काम-वासना से पार जाने के लिए नहीं निकलता। लेकिन आदमी को दोषी ठहराया जा सकता है, आदमी दोषी है, क्योंकि वह पार जा सकता है। और जब तक पार न जाए, तब तक कोई तृप्ति, कोई संतोष, कोई आनन्द उसे उपलब्ध होने को नहीं है। ऋषि कहते हैं, संन्यासी क्या करते रहते हैं—कामादि वृत्ति दहनम्। जलाते रहते हैं, दग्ध, करते हैं काम की वृत्ति को। क्योंकि काम की वृत्ति ही संसार के फैलाव का मूल स्रोत है।

सभी कठिनाइयों में दृढ़ता ही उनका कौपीन है। एक ही उनकी सुरक्षा है, एक ही उनका वस्त्र है—सभी कठिनाइयों में दृढ़ता। कठिनाइयां होंगी ही, बढ़ ही जाएंगी। गृहस्थ तो और तरह से इन्तजाम कर लेता है। तिजोरी है, बैंक बैलेंस है, मकान है, मित्र हैं, प्रियजन हैं, सगे-सम्बन्धी हैं। बहुत इन्तजाम कर लेता है। संन्यासी के पास तो कोई भी नहीं हैं, कुछ भी नहीं हैं। अपनी आंतरिक दृढ़ता के अतिरिक्त उसके पास और कोई उपाय नहीं है। जब कठिनाइयां आती हैं, तो गृहस्थ कठिनाइयों से लड़ने के लिए बाहर इन्तजाम कर लेता है। संन्यासी के पास तो सिर्फ भीतरी ऊर्जा और शक्ति है। जब कठिनाइयां आती हैं, तब वह भीतर से ही अपनी ऊर्जा को दृढ़ करके कठिनाइयों से लड़ सकता है, और तो कोई उपाय नहीं। संन्यासी अकेला है। पर एक मजे की बात है कि जितना आप भीतर की शक्ति का उपयोग करते हैं कठिनाइयों में उतना ही क्रमशः

दृढ़ होते चले जाते हैं। और एक दिन ऐसा आ जाता है कि कठिनाइयां कठिनाइयां नहीं मालूम पड़तीं, बड़ी सरलताएं, बड़ी सुगमताएं हो जाती हैं, क्योंकि वह तो तुलनात्मक है। जब आप भीतर चट्टान की तरह दृढ़ हो जाते हैं, तो बाहर की कठिनाइयों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए एक बड़े मजे की घटना घटती है।

गृहस्थ तो बहुत इन्तजाम करता है बाहर कठिनाइयों से लड़ने का, लेकिन कठिनाइयां बढ़ती चली जाती हैं, क्योंकि भीतर गृहस्थ दुर्बल होता चला जाता है। उसका रेजिस्टेंस (प्रतिरोध शक्ति) कम होता चला जाता है। अगर आप धूप में बिल्कुल नहीं बैठते, छाया में ही बैठते हैं, तो थोड़ी-सी धूप भी तकलीफ दे देगी, क्योंकि रेजिस्टेंस कम हो गई है, आपकी प्रतिरोधक शक्ति कम हो गई है। लेकिन एक दूसरा आदमी गड्ढे खोद रहा है धूप में, छाया में रहने का उसे कोई अवसर ही नहीं मिलता। वह घण्टों, दिन भर धूप में गड्ढे खोद रहा है और धूप उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाती है। कारण क्या है? उसके पास प्रतिरोधक शक्ति, रेजि-स्टेंस, इनर फोर्स खड़ी हो जाती है। इसलिए आदमी को जितनी दवाएं मिलती जाती हैं, उतनी बीमारियां बढ़ती चली जाती हैं। रेजिस्टेंस उसका टूटता चला जाता है। आदमी को जितनी सुविधाएं मिलती जाती हैं, उतनी असुविधाएं मिलती चली जाती हैं। आदमी जितना इन्तजाम कर लेता है, उतना ही पाता है कि मुश्किल में पड़ गया है। क्योंकि सब इन्तजाम बाहर होता है और भीतर से जो इन्तजाम हो सकता था, उसका इन्तजाम टूट जाता है। जब उसकी जरूरत ही नहीं रह जाती, बात समाप्त हो जाती है।

एक सूफी फकीर बायजीद नग्न घूम रहा था रेगिस्तान में। कुछ राहगीरों ने उसे देखा और उन्होंने कहा कि जलती धूप में, आग पड़ते रेगिस्तान में तुम नग्न घूम रहे हो? फिर रात रेगिस्तान बर्फीला हो जाता है, ठंडा, तब भी तुम नग्न ही पड़े रहते हो। बात क्या है, राज क्या है? तो बायजीद ने कहा कि अपने चेहरे से पूछो। तुम्हारे चेहरे पर भी वही चमड़ी है, जो तुम्हारे हाथ में, तुम्हारे पैर में, तुम्हारी छाती में है। लेकिन चेहरा धूप में भी परेशान नहीं होता, सर्दी में परेशान नहीं होता। उसका कुल कारण इतना है कि चेहरा सदा से खुला है, उसका रेजिस्टेंस ज्यादा है। बाकी सारा शरीर ढंका है, उसका रेजिस्टेंस कम है। बायजीद ने कहा, हमने पूरे शरीर को ही चेहरे की तरह कर लिया, तब से धूप और सर्दी का पता नहीं चलता। संन्यासी के पास जब बाहर कोई इन्तजाम नहीं, भीतर इन्तजाम है।

इस दिशा में एक बात और समझ लेनी जरूरी है जो कि पूरब और पश्चिम का बुनियादी फर्क है। पश्चिम ने सब इन्तजाम बाहर किए, इसलिए भीतर पश्चिम बिल्कुल दुर्बल और इम्पोटेंट हो गया, बिल्कुल नपुंसक हो गया। इन्तजाम

उन्होंने बहुत बढ़िया बाहर कर लिए। रेगिस्तान में भी हो तो भी शीतल इन्तजाम हो सकता है। बीमारी हो, तो तत्काल दवाएं पहुंचाकर बीमारी से लड़ा जा सकता है। अगर एक तरह के जीवाणु ने शरीर को पकड़ लिया है, तो उससे विपरीत जर्म फौरन शरीर में डालकर उसको मिटाया जा सकता है। पश्चिम ने सब इन्तजाम कर लिया है। लेकिन आन्तरिक शक्ति रोज दीन होती चली गई।

पूरब ने एक दूसरा प्रयोग किया। वह प्रयोग यह था कि हम बाहर से लड़ने के लिए सहायता न लेंगे, हम भीतर की शक्ति से ही लड़ेंगे। इसका फायदा हुआ। एक फायदा हुआ कि पूरब भीतर से समृद्ध हुआ, लेकिन एक नुकसान हुआ कि बाहर से दरिद्र हो गया, बाहर से गरीब होता चला गया। बाहर की गरीबी दिखाई पड़ती है और भीतर की समृद्धि दिखाई नहीं पड़ती। इसलिए पश्चिम से जब कोई आता है, तो पूरब की बाहर की दरिद्रता को देखकर कहता है, क्या बुरी हालत है! भीतर का तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता। भीतर का दिखाई पड़ नहीं सकता।

पूरब ने एक प्रयोग किया था। वह यह था कि हम व्यक्ति की चेतना को ही दृढ़ करते रहेंगे ताकि सब परिस्थितियों में वह स्वयं इतना दृढ़ हो कि पार हो जाए। पश्चिम ने एक प्रयोग किया कि हम बाहर की परिस्थितियों को ऐसा बना देंगे कि व्यक्ति को लड़ने की जरूरत ही न रह जाए। लेकिन जो लड़ता नहीं, वह लड़ने की क्षमता खो देता है। लड़ने की क्षमता कायम रखनी हो, तो लड़ना जारी रखना पड़ता है। यह निर्भर इस पर करता है कि आप किस शक्ति को जगाना चाहते हैं। अगर भीतर की शक्ति को जगाना चाहते हैं, तो ऋषि ठीक कहता है, सभी कठिनाइयों में दृढ़ता। असुरक्षित, अनसिक्योर, बिना इन्तजाम के सारी कठिनाइयों को झेल लेने की जो बात है, उससे भीतर की प्रतिरोधक शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि कठिनाइयां नीचे पड़ी रह जाती हैं और चेतना पार निकल जाती है।

सदैव संघर्षों में ही उनका वास है—चिरा जिन वासः। संघर्ष ही उनका घर है। संघर्ष ही उनका आवास है। इसे थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

संघर्ष ही उनका आवास है। एक तो संघर्ष है दूसरों से, परायों से। वह हिंसा है। एक संघर्ष है स्वयं से, अपने से, वह संघर्ष हिंसा नहीं है। एक संघर्ष है, जब हम किसी को जीतने जाते हैं, वह पाप है। यह संघर्ष है, जब हम स्वयं को अप-राज्य बनाने जाते हैं, वह संघर्ष पुण्य है। ऋषि कहता है, संघर्ष में उनका वास है। वे चौबीस घण्टे स्ट्रगल में हैं, किसी और से नहीं। असुरक्षित हैं, कोई उनके पास व्यवस्था नहीं, अनजाने भविष्य में कदम रख देते हैं बिना योजना के। सुबह उठते हैं, तब यह जानते हैं कि सुबह ने क्या मौजूद किया, उससे गुजरते हैं। रात आती है तब जानते हैं कि रात ने क्या मौजूद किया, तब उससे गुजरते हैं। लिविंग मोमेन्ट टु मोमेन्ट—एक-एक क्षण जीते हैं। निश्चित ही संघर्ष होगा। एक-एक

क्षण अगर कोई जीएगा, तो संघर्ष होगा ही।

हम तो भविष्य को व्यवस्थित करके जीते हैं, व्यवस्था का अर्थ ही है, संघर्ष को कम कर लेना। कल क्या करना है, कैसे करना है, उसका हमने पूर्व इन्तजाम कर लिया, तो कल संघर्ष न्यून हो जाएगा, कम हो जाएगा। कल अनजान, अपरिचित, अननोन में उतर जाना है, ऐसे ही जैसे कोई सागर में उतर जाए, और उसकी गहराइयों का पता न हो। जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसके किनारों का कोई पता न हो। जैसे कोई सागर में उतर जाए, जिसके तूफानों का कोई पता न हो, बिना किसी इन्तजाम के। संन्यासी ऐसे ही जीवन में चलता है बिना किसी इन्तजाम के। क्यों? इस संघर्ष की जरूरत क्या है? क्योंकि संन्यासी जानता है कि इसी संघर्ष से निखार है। इसी रोज-रोज के संघर्ष से, क्षण-क्षण के संघर्ष से निखार पैदा होता है। वह जो निखार है व्यक्तित्व का, वह जो प्रतिभा पर धार आती है, वह इसी संघर्ष से आती है। यह संघर्ष किसी और से नहीं है। यह किसी दूसरे से नहीं है। यह संघर्ष सहज जीवन की धारा से है। और इस संघर्ष में कोई दुख भी नहीं है, कोई पीड़ा भी नहीं है।

ऋषि कहता है, संघर्ष उनका घर है। संघर्ष से कोई शत्रुता भी नहीं है। यही उनका आवास है। इससे कोई दुश्मनी नहीं है, यही उनका आसरा, यही उनकी छाया, इसी के नीचे वे विश्राम करते हैं। ध्यान रखें, संघर्ष को घर कहना बड़ी उल्टी बात मालूम पड़ती है। संघर्ष ही उनकी छाया, उनका विश्राम, उनका बिछौना। इसका अर्थ हुआ, संघर्ष के प्रति कोई शत्रुता का भाव नहीं। इसका अर्थ हुआ कि वे संघर्ष को संघर्ष नहीं मानते। वे उसे जीवन का सहज क्रम मानते हैं। वे मानते हैं कि ऐसा होगा ही।

सिकन्दर हिन्दुस्तान से लौटता है। वह एक संन्यासी को यूनान ले जाना चाहता है। नंगी तलवारों से एक संन्यासी को घेर लिया जाता है। उसे कहा जाता है कि तुम यूनान की तरफ चलो। वह संन्यासी कहता है कि मैंने जिस दिन संन्यास लिया, उस दिन से मैंने किसी की आज्ञा मानना बन्द कर दिया। सिकन्दर कहता है, वह नंगी तलवार देखते हो, अभी काटकर तुम्हें यह टुकड़े-टुकड़े कर देगी। वह संन्यासी कहता है, जिस दिन मैंने संन्यास लिया, उस दिन जो काटा जा सकता था, उससे मैंने सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया। तुम काटोगे जरूर, लेकिन मुझे नहीं। तुम उसी को काटोगे, जिसे हम खुद ही काट चुके हैं।

सिकन्दर का इतिहास लिखने वाले लोगों ने लिखा है कि सिकन्दर की तलवार और हाथ पहली दफे कंपा हुआ दिखाई पड़ा। हाथ उठाया भी, पर रुक गया। सामने एक हंसता हुआ आदमी खड़ा था। सिकन्दर ने पूछा उस संन्यासी को, उसका नाम था ददामि, कि क्या तुम्हारे मन में ऐसा नहीं लगता कि कैसा दुर्भाग्य तुम्हारे ऊपर आ गया? उस संन्यासी ने कहा, सौभाग्य की अपेक्षा ही हम नहीं रखते। जो

आ जाए, हम उसके लिए राजी हैं।

संघर्ष ही उनका आवास है। इस संघर्ष के प्रति कोई भी विरोध नहीं है, तभी संघर्ष आवास बनेगा। अगर विरोध है, तो आवास नहीं बनेगा। संघर्ष स्वीकार है, तभी तो वह आवास बनेगा। उसका विरोध ही नहीं। क्योंकि संन्यासी मानता है, जीवन एक पाठशाला है, जहां संघर्ष शिक्षण की पद्धति है। जो जितना अपने को संघर्ष से बचा लेगा, वह उतना ही अपने को शिक्षित होने से बचा लेता है।

सुना है मैंने कि एक अरबपति महिला एक समुद्र तट पर विश्राम करने के लिए उतरी। होटल के सामने उसकी कार रुकी। जितने कुली वहां खड़े थे, सब को उसने बुलाया। कुली भी थोड़े चकित हुए। इतना सामान तो गाड़ी में नहीं होगा। एक-एक समान एक-एक कुली को पकड़ा दिया। फिर एक छोटा बच्चा बच गया। उस महिला का एक मोटा-तगड़ा बच्चा अभी आराम से गाड़ी में बैठा था। उसने कुली लड़के से कहा, तुम इसको कन्धे पर उठा लो। उस लड़के ने पूछा, क्या इसके पैर खराब हैं? उस बूढ़ी औरत ने कहा, 'थैंक गॉड, हिज लेग्स आर आलराइट, बट थैंक गॉड ही विल हैव नेवर टु यूज देम। उसके पैर बिल्कुल ठीक हैं, लेकिन भगवान् की कृपा कि उसको कभी उपयोग करने की जरूरत न पड़ेगी। उठाओ कन्धे पर।

अगर पैरों को भी उठाने की जरूरत न पड़े, तो पैर शक्ति खो देंगे। धीरे-धीरे शक्ति खो जाएगी। चलते रहें, तभी उनकी शक्ति है। न चलें, तो उनकी शक्ति तिरोहित हो जाएगी। हम जिसका उपयोग करते हैं, वह सक्रिय हो जाता है। संन्यासी अपनी पूरी चेतना का उपयोग करता है जीवन के संघर्ष में। कहीं बचाव नहीं करता। कहीं आड़ नहीं लेता। कहीं छिपता नहीं।

नसरूद्दीन सेना में भर्ती हुआ था। युद्ध चल रहा था जोर से। सभी जवान भर्ती कर लिये गये थे। नसरूद्दीन भी भर्ती हो गया था। जो जनरल था, वह नसरूद्दीन से बहुत प्रभावित हुआ, क्योंकि कैसी भी हालत हो, नसरूद्दीन सदा जनरल के पीछे खड़ा रहता। कितना ही संघर्ष हो, कितना ही उपद्रव हो, बम गिरते हों, तलवारें चलती हों, तीर आते हों, कुछ भी हो, नसरूद्दीन कभी जनरल का पीछा न छोड़ता। युद्ध समाप्त हुआ, तो जनरल ने कहा, नसरूद्दीन तुम बहुत बहादुर आदमी हो। इतना बहादुर आदमी मैंने नहीं देखा। हर हालत में तुम मेरे साथ रहे। नसरूद्दीन ने कहा, सच्चाई बता दें? जब मैं घर से चलने लगा, तो मेरी पत्नी ने कहा, सदा जनरल के पीछे रहना, क्योंकि जनरल कभी मारे नहीं जाते। उसी कारण आपके पीछे तकलीफें उठाकर भी मैं लगा रहा। घर लौट आए नसरूद्दीन, पर तलवार पकड़ना भी सीख न पाए, क्योंकि आड़ में ही समय बीता।

गांव में खबर फैल गई कि नसरूद्दीन लौट आए हैं युद्ध से। तो काफी हाउस में भीड़ इकट्ठी हो गई। लोग नसरूद्दीन से पूछने लगे कि कुछ सुनाओ। नसरूद्दीन

क्या सुनावें ! उन्होंने कुल एक ही काम किया था । फिर भी कुछ सुनाना जरूरी था । सोचने लगे, तभी एक और सैनिक काफी हाउस में बैठा था । उसने कहा, कुछ बताते नहीं, इतना भयंकर युद्ध हुआ, मैंने अकेले सैंकड़ों आदमियों की गर्दनें काट दीं । नसरूद्दीन, तुम तो तमगा लेकर लौटे हो जनरल का, कि तुम बड़े बहादुर आदमी हो । नसरूद्दीन ने कहा कि गर्दनें ? ऐसा हुआ एक बार कि तीन-चार आदमियों के पैर मैंने काट दिए ।

उस सैनिक ने कहा, पर यह बहादुरी हमने कभी नहीं सुनी । आदमी काटता है तो गर्दन ! नसरूद्दीन ने कहा, गर्दन तो कोई पहले ही काट चुका था । नो अपर्चुनिटी, कोई मौका ही न था, तो मैंने उठाई तलवार और चार-छह आदमियों के पैर धड़ल्ले से काट दिए । इतनी बहादुरी करके मुल्ला लौटा था । यह स्वाभाविक है । आड़, और आड़, और आड़, तो जिन्दगी ऐसी ही हो जाती है । लोच-पोच उसमें कुछ बचता नहीं । भीतर का सब कुछ गिर जाता है, नीचे गिर जाता है ।

ऋषि कहता है, संघर्ष ही उनका आवास है । आड़ में वे नहीं जीते । खुले वलनरेबल, ओपेन, जो भी हो राजी । तूफान आवे, आंधियां आवें, दुख आवें, पीड़ा आवें, मौत आए, वे वलनरेबल हैं—सदा खुले ।

अनाहत जिनका मंत्र, अक्रिया जिनकी प्रतिष्ठा । अनाहत मंत्रम् । इन संन्यासियों का मंत्र क्या है । इनकी साधना क्या है ? ऋषि कहता है, अनाहत मंत्र । इसे थोड़ा समझना पड़ेगा । हमारे शरीर के भीतर सात चक्र हैं । उनमें एक चक्र है अनाहत । प्रत्येक चक्र से साधना हो सकती है । इसलिए प्रत्येक चक्र की साधना अलग-अलग है, और प्रत्येक चक्र का मंत्र भी अलग-अलग है । उस मंत्र के द्वारा उस चक्र पर चोट की जाती है, जिससे वह चक्र सक्रिय हो जाता है और उसमें छिपी हुई ऊर्जा ऊपर की तरफ यात्रा पर निकल जाती है ।

ऋषि कहता है, संन्यासी का मंत्र अनाहत है । वह जो अनाहत चक्र है, वहीं वह चोट करता है । उस चोट की अपनी ध्वनियां हैं, जिनसे अनाहत पर चोट की जाती है । जैसे सोहम्, अनाहत पर चोट करने का ध्वनि सूत्र है । आपने कभी ख्याल न किया होगा कि जब भी आप कोई शब्द बोलते हैं, तो उसकी चोट आपके शरीर के अलग-अलग हिस्सों में पड़ती है । अगर आप भीतर कहें 'ओम्', तो हृदय से नीचे तक 'ओम्' की ध्वनि नहीं जाएगी । 'ओम्' का अधिक गुंजार मस्तिष्क में होगा । जैसे आप यहां उच्चारण कर रहे हैं 'हू', 'हू' तो 'हू' ठीक सेक्स सेन्टर तक जाएगा । बहुत-से मित्र मुझे आकर कहते हैं, अजीब बात है, इस 'हू' के प्रयोग करने से हमारी तो काम-वासना उठती हुई मालूम पड़ती है । पड़ेगी, क्योंकि उसकी चोट ठीक सेक्स सेंटर तक जाती है, काम-केन्द्र तक जाती है ।

हर शब्द की गहराई है आपके भीतर । हर ध्वनि आपके भीतर अलग गहरा-

इयों तक प्रवेश करती है । इसलिए मंत्र गुरु के द्वारा किया जाता रहा । इसका और कोई कारण नहीं था, और जब गुरु मंत्र देता है, तो कई दफे लेने वाले को लगता है कि अरे, यह मंत्र । यह तो हमें पहले ही मालूम था । तो गुरु के पास गए, उन्होंने बड़े प्राइवेट (गोपनीयता) में कान में कहा कि 'राम, राम' बोलना । हद हो गई, यह भी कोई मंत्र हुआ ? इस 'राम', 'राम' का किसको पता नहीं है ? यह तो हम पहले ही से बोल रहे थे । तो गुरु ने ऐसा कौन-सा खूबी का काम कर दिया कि कान में कह दिया, 'राम', 'राम' बोलना । उसके कारण और हैं । 'राम', 'राम' से तो आप परिचित हैं, लेकिन आपके उपयोग का है या नहीं, यह आपको पता नहीं है ।

कई बार लोग गलत मंत्रों का उपयोग करते रहते हैं, जो नहीं करना चाहिए । क्योंकि हो सकता है, उन मंत्रों के उपयोग से उनके भीतर जहां चोट पड़ती हो, वह उन्हें कठिनाई में डाले । जैसे कि मैं 'हू' पर आग्रह करता हूं । क्योंकि मेरा मानना है कि हमारा युग कामातुर युग है । 'सेक्स सेंटर इज द मोस्ट सिग्नीफिकेंट टु डे ।' आज की अधिकतम बीमारियां, आज की अधिकतम चिन्ता, आज की अधिकतम परेशानी, काम-केन्द्र से जुड़ी है । अगर इस युग में कोई भी रूपांतरण करना है, तो एक ऐसी ध्वनि का उपयोग करना पड़ेगा, जो काम-ऊर्जा को जगाए और कुण्डलिनी की तरफ प्रवाहित कर दे ।

संन्यासी का मंत्र अनाहत है, क्योंकि संन्यासी वह है जिसकी काम-ऊर्जा कुण्डलिनी की तरफ चल पड़ी । उसे वहां चोट करने का सवाल नहीं है । वह अनाहत पर चोट करेगा । 'अनाहत, सोहम्' । अनाहत का अर्थ होता है, जो बिना चोट के पैदा हो—बिना आहत, बिना किसी चोट के । अगर हम दोनों तालियां बजाएं तो यह आहत ध्वनि है । क्योंकि दो चीजों की चोट हुई, तब यह पैदा हुई । जो भी ध्वनि चोट से पैदा होगी, वह आहत ध्वनि है । वह अनाहत चक्र तक नहीं पहुंचेगी । अनाहत तक एक ही ध्वनि पहुंच सकती है, जो बिना चोट के पैदा होती है ।

जेन फकीर जापान में अपने साधक को कहते हैं कि जाओ और खोजो उस ध्वनि को, जो एक ही हाथ से पैदा होती है । एक ही हाथ से कोई ध्वनि पैदा नहीं होती । एक ध्वनि है जो अनाहत है, जैसे सोहम् । 'सोहम्' आपको पैदा नहीं करना पड़ता । अगर आप शांत बैठ जाएं और केवल अपनी श्वासों को आते और जाते देखते रहें, कमिंग इन, गोइंग आउट, सिर्फ श्वास को देखते रहें, थोड़ी ही देर में 'सोहम्' का उच्चार शुरू हो जाएगा बिना आपके । श्वासों की गति ही सोहम् के उच्चार को पैदा करती है । श्वास के होने में ही सोहम् की ध्वनि छिपी हुई है । इसलिए सोहम्, न तो संस्कृत है, न किसी और भाषा का है । सोहम्, निसर्ग की ध्वनि है, जो आपके भीतर श्वास से पैदा होती है । यह अनाहत ध्वनि है । इस

ध्वनि की चोट अनाहत चक्रपर होती है। इस ध्वनि की चोट बड़ी गहरी, बड़ी बारीक और बड़ी सूक्ष्म है। अनाहत चक्र में वह सारी शक्ति छिपी है, जो ऊर्ध्वगमन के लिए साधन बनती है।

संन्यासी का मंत्र अनाहत है। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता जो ओंठों से बोला जाएगा। वह ओंठों से गहरा नहीं जाता। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता, जो कण्ठ से बोला जाए, क्योंकि जो कण्ठ से बोला जाएगा, वह कण्ठ तक ही रह जाता है। वह ऐसे मंत्र का उपयोग नहीं करता, जो मन से बोला जाए, क्योंकि जो मन से बोला जाएगा, वह मन के पार नहीं ले जा सकता। ऋषियों ने एक ऐसे मंत्र को खोजा है, जो अनाहत है, जो न कण्ठ से बोला जाता है, न ओठ से बोला जाता—जो बोला ही नहीं जाता, अबोला है, अजपा है। उसका जप किया नहीं जाता। उसका जप चल ही रहा है, सिर्फ हमने सुना नहीं। जैसे कभी अंधेरी रात में सन्नाटा होता है। आप गपशप में लगे हैं, सुनाई नहीं पड़ रहा है। फिर गपशप बन्द हो गई। आप अकेले बैठे हैं, अचानक चारों तरफ सन्नाटे की आवाज गूंजने लगती है। वह जब आप बोल रहे थे, तब भी गूंज रही थी, लेकिन आपके बोलने में इतनी दबी हुई थी।

मुल्ला नसरुद्दीन एक संगीतज्ञ को सुनने गया है। साथ में उसकी पत्नी है। संगीतज्ञ बड़े जोर से आलाप कर रहा है। शास्त्रीय संगीतज्ञ है। नसरुद्दीन बड़ा बेचैन हो रहा है। पत्नी बड़ी आनन्दित हो रही है। पत्नी ने आखिर में पूछा, कैसा लग रहा है संगीत ? अद्भुत है। नसरुद्दीन ने कहा, जरा जोर से बोलो, इस दुष्ट की वजह से कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा है। यह इतने जोर से चिल्ल-पों मचा रहा है कि तुम क्या कहती हो, कुछ सुनाई नहीं पड़ता। तो उसकी पत्नी ने कहा, तुम बड़े डोल रहे थे, हिल रहे थे, तो मैं समझी कि तुम बड़े आनन्दित हो रहे हो।

नसरुद्दीन ने कहा, मैं बड़ा बेचैन हो रहा हूं। अपने घर जो बकरा मरा था, वह भी इसी हालत में मरा था। इसी तरह आलाप कर रहा था। मैं यह देख रहा हूं कि यह आदमी अब मरा, अब मरा। यह बिल्कुल आखिर घड़ी में है। इसको बचाना बहुत मुश्किल है। बकरे को भी हम बचा नहीं पाए। मैं इसलिए हिल-डोल रहा हूं कि कोई उपाय हो सकता है इसको बचाने का कि नहीं। यह दुष्ट बोलना बन्द करे, तो मैं सुन पाऊं कि तू क्या कहती है। नसरुद्दीन यह सब कह रहा है और पत्नी कह रही है कि अद्भुत है यह संगीत।

हम जब बन्द हों, यह हमारा शास्त्रीय संगीत जो चल रहा है चौबीस घण्टे, यह जब बन्द हो, तो हमें अनाहत नाद का पता चलेगा। वह चल रहा है पूरे वक्त। कहना चाहिए वह बायोलॉजिकल है, 'बिल्ट इन बायोलॉजिकल' है। वह हमारे होने में ही है। एग्जिस्टेंशियल (अस्तित्वगत) है। जब कुछ भी ध्वनि नहीं रह जाती भीतर, तब भी एक ध्वनि रह जाती है, जो हमारी पैदा की हुई नहीं है,

अनाहत है। और वह ध्वनि जहां चोट करती है। उस ध्वनि का नाम अनाहत है। और वह ध्वनि जहां चोट करती है, उस चोट के स्थान का नाम अनाहत चक्र है। अनाहत की वह ध्वनि ही संन्यासी का मंत्र है, क्योंकि संन्यासी उसकी ही खोज पर निकला है, जो असृष्ट है, अनक्रिएटेड है। संन्यासी उसकी खोज पर निकला है, जो अनबना है, अनक्रिएटेड है। अगर अनबने को खोजना है (ब्रह्म अनबना ही है) तो फिर अनबने साधन से ही खोजना पड़ेगा।

अनाहत उसका मंत्र है। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। वह अक्रिया में नहीं जीता, वह अक्रिया में ही प्रतिष्ठित रहता है—क्रिया करते हुए भी। इसलिए कहा, अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। ऐसा नहीं कहा कि वह क्रिया नहीं करता है। अक्रिय हो जाता है, ऐसा भी नहीं कहा। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है। चलता है, लेकिन चलते समय भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जो कभी नहीं चला है। बोलता है, लेकिन बोलते समय भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जो मौन है। भोजन करता है, लेकिन भोजन करते वक्त भी उसमें प्रतिष्ठित रहता है, जिसके लिए भोजन की कोई जरूरत नहीं है। अक्रिया उसकी प्रतिष्ठा है।

क्रिया तो संन्यासी भी करेगा। चलेगा, उठेगा, बैठेगा, सोएगा, भोजन करेगा, थकेगा, विश्राम करेगा। क्रिया तो संन्यासी को भी करनी पड़ेगी। इस जगत् में क्रिया तो अनिवार्य है। इसलिए अगर कोई सोचता हो कि अक्रिया कर लूंगा, तो संन्यासी हो जाऊंगा, यह गलत है। अक्रिया तो सिर्फ मरने से ही होती है। जीवन में क्रिया अनिवार्य है। जीवन क्रियाओं का नाम है। फिर संन्यासी क्या करेगा ? गृहस्थ भी क्रिया करता है। संन्यासी भी क्रिया करता है, फिर फर्क क्या रहा ? गृहस्थ भी चलता है, संन्यासी भी चलता है, फिर फर्क क्या रहा ? प्रतिष्ठा का फर्क है।

चलते वक्त, गृहस्थ चलने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। बोलते वक्त बोलने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। भोजन करते वक्त भोजन करने में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। संन्यासी दूर खड़ा देखता रहता है। उसकी प्रतिष्ठा अक्रिया में बनी रहती है। 'हि मूव्ज बट रिमेंस इन द इम्मूवेबल।' वह गति करता है, लेकिन अ-गति में ठहरा रहता है। चलता है, पूरी पृथ्वी घूम लेता है, फिर भी कहता है, हम वहीं हैं, जहां थे। हम चले ही नहीं।

बुद्ध के सम्बन्ध में बौद्ध भिक्षु (सिर्फ जापान के बौद्ध भिक्षु) एक मजाक करते रहते हैं कि बुद्ध कभी हुए ही नहीं, और रोज पूजा करते हैं। हिम्मतवर लोग हैं। और जब कोई धर्म हिम्मत खो देता है, तभी अपने गुरु के प्रति हंसने की हिम्मत भी खो देता है। वे कहते हैं, बुद्ध कभी हुए ही नहीं।

लिन ची एक बहुत बड़ा फकीर हुआ। रोज सुबह बुद्ध की मूर्ति पर फूल चढ़ाता है और रोज प्रवचन देता है कि बुद्ध कभी हुए ही नहीं। झूठ है यह बात।

कहानी है यह। एक दिन एक आदमी ने कहा, यह बर्दाश्त के बाहर हो गया। रोज तुम्हें देखते हैं, फूल चढ़ाते हो। रोज तुम्हारा प्रवचन सुनते हैं, बड़ी हैरानी होती है। बड़े कण्ट्राडिक्ट्री मालूम पड़ते हो, बड़े विरोधाभासी हो। कैसे आदमी हो तुम? सुबह जिसको फूल चढ़ाते हो, सांझ कहते हो, वह हुआ ही नहीं।

लिन ची ने कहा, निश्चित ही, क्योंकि मैंने कभी फूल चढ़ाए नहीं। प्रतिष्ठा हमारी अक्रिया में है। वह जो फूल चढ़ाता हूं सुबह, उसमें मेरी प्रतिष्ठा नहीं है। मैं खड़ा देखता रहता हूं कि लिन ची फूल चढ़ा रहा है। ऐसे ही बुद्ध भी खड़े देखते रहे कि बुद्ध पैदा हुए, कि बुद्ध चले, कि बुद्ध बोले, कि बुद्ध मरे। लेकिन प्रतिष्ठा अक्रिया में है। संन्यासी की प्रतिष्ठा अक्रिया है।

करते हुए 'न करने' में ठहरा रहना संन्यास है। करते हुए 'न करने' में ठहरा रहना संन्यास है—करने से भाग जाना नहीं। क्योंकि 'करने' से कोई भाग नहीं सकता। एक 'करने' को दूसरे 'करने' से बदल सकता है, और कुछ नहीं करता है। जब करने से हम भाग ही नहीं सकते, तो एक करने को दूसरे करने से भी क्या बदलना है, इसलिए मैं गृहस्थ को भी संन्यासी बना लेता हूं। प्रतिष्ठा बदल लो, काम बदलने से क्या होगा! दुकान न चलाओगे, आश्रम चलाओगे क्या फर्क पड़ेगा? ग्राहक न आएंगे, शिष्य-शिष्याएं आएंगी, क्या फर्क पड़ेगा? वह भी 'कस्टमर्स' (ग्राहक) हैं। इसलिए गुरुओं से झगड़ा हो जाता है, किसी का 'कस्टमर' किसी दूसरे के पास चला जाए, तो बड़ी झंझट होती है कि हमारा ग्राहक छीन लिया। सब धंधा हो जाता है। तो जब 'कस्टमर्स' में ही जीना है, तो हर्ज क्या है? दुकान पर बैठकर सामान ही बेचा, तो क्या हर्ज है? प्रतिष्ठा बदल जानी चाहिए। दुकान पर बेचते हुए दुकानदार न रह जाएं, काम करते हुए करने वाले न रह जाएं। अक्रिया में प्रतिष्ठा हो जाए, तो संन्यास है।

ऐसा स्वेच्छाचार रूप आत्म-स्वभाव रखना ही मोक्ष है। यह वचन तो अपूर्व है। अद्वितीय, इनकम्पेरेबल (अतुलनीय) है। मनुष्य जाति के साहित्य में, किसी भी साहित्य में ऐसा वचन खोजना असम्भव है। स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। 'स्वेच्छाचार जिनका स्वभाव है,' यह बड़ी कठिन बात है। स्वेच्छाचार तो बड़ा गलत शब्द है हम सब की नजरों में। जब किसी आदमी की हमें निन्दा करनी होती है, तो हम कहते हैं, स्वेच्छाचारी है। स्वेच्छाचारी का मतलब यह होता है, कि गया, भटक गया, न किसी की सुनता, न किसी की मानता, न कोई नियम, न कोई मर्यादा, स्वेच्छाचारी है। स्वेच्छाचार तो हमारे लिए गाली-जैसा है। ऋषि कहता है, स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। ऐसे स्वेच्छाचार में जिसने अपने स्वभाव को जाना, वही मोक्ष है। लेकिन वह सूत्र बहुत अन्त में आता है। इसके पहले सब विसर्जित हो चुका है। वह अहंकार जा चुका, जो स्वेच्छाचार कर सकता था। वह अहंकार अब नहीं बचा, जो स्वेच्छाचार में उतरने में अब रस

लेता, वह अब जा चुका। अक्रिया में प्रतिष्ठा हो गई। क्रिया में रस होता, तो स्वेच्छाचार खतरे कर सकता था।

नेपोलियन से कोई पूछ रहा था कि आपकी दृष्टि में कानून की परिभाषा क्या है। 'हाउ डू यू डिफाइन द लॉ।' नेपोलियन ने कहा, यह काम साधारण लोगों पर छोड़ो। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, 'आई एम द लॉ।' मैं कानून हूं। यह छोड़ो बेकार लोगों पर, कानूनविदों पर, वह इसका हिसाब लगाते रहेंगे कि परिभाषा क्या है। 'ऐज फार ऐज आइ एम कंसर्न्ड, आई एम द लॉ।' स्वेच्छाचार का यही मतलब होता है। लेकिन नेपोलियन का स्वेच्छाचार और संन्यासी के स्वेच्छाचार में नर्क और स्वर्ग का फर्क है।

नेपोलियन अब स्वेच्छाचारी होता है, तो सिर्फ इसीलिए कि वह दूसरे की इच्छाओं का खण्डन कर दे, तोड़ दे, मिटा दे; और जो अहंकार कहे, जो मन कहे, जो वासना कहे, जो कामना कहे, वृत्तियां कहें, वही करे। तो नेपोलियन का स्वेच्छाचार पाशविक हो जाता है, पशुओं-जैसा हो जाता है। पशुओं से भी बद्तर हो जाएगा। क्योंकि पशु की क्षमता आदमी से ज्यादा नीचे गिरने की नहीं है, क्योंकि पशु की क्षमता आदमी से ज्यादा ऊपर उठने की नहीं है। आदमी जितना ऊपर उठ सकता है, उतना ही नीचे जा सकता है। नीचे और ऊपर जाना समानुपाती होता है।

जो वृक्ष जितने ऊपर जाता है, उसकी जड़ें उतनी ही नीचे जाती हैं। वृक्ष की ऊंचाई देखकर आप कह सकते हैं कि जड़ों को कितने नीचे जाना पड़ा होगा। वे अनुपात में होते हैं, ऊपर और नीचे जाने की क्षमता समान होती है। पशु ऊपर नहीं जा सकते, क्योंकि पशु नीचे नहीं जा सकते। आदमी ही जा सकता है ऊपर और नीचे।

जब आदमी में वासना होती है, कामना होती है, वृत्तियां होती हैं, अहंकार होता है, मोह होता है, माया होती है, तो स्वेच्छाचार पाप है, नर्क है। और जब आदमी इन सबसे मुक्त हो जाता है, तो स्वेच्छाचार ही मोक्ष है। तब कोई नियम नहीं बांधते, तब कोई नियम अनिवार्य नहीं होते, तब कोई मर्यादा नहीं बचती। तब जो भी भीतर से उठता है, स्पांटेनियस सहज, वही आचरण बन जाता है तब स्वभाव ही आचरण है।

संन्यासी का उठना, बैठना, बोलना, करना सोचा-विचारा नहीं है, सहज है। जैसे हवाएं बहती हैं और पानी दौड़ता है सागर की तरफ और आग की लपटें दौड़ती हैं आकाश की तरफ, ऐसा ही स्वभाव में संन्यासी रहता है। वह स्वेच्छाचारी हो जाता है, पर यह स्वेच्छाचार बहुत दूसरा है। अपराधी भी स्वेच्छाचारी होता है संन्यासी भी स्वेच्छाचारी होता है। फर्क एक ही है कि स्वेच्छाचारी होता है वासनाओं के साथ, संन्यासी स्वेच्छाचारी होता है वासनाओं से रिक्त।

वासनाओं के साथ जिसने स्वेच्छाचार किया, वह नर्क की यात्रा पर निकलेगा। वासनाओं से छूटकर जो स्वेच्छाचार में उतरा है, वह मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है। ऋषि कहता है, स्वेच्छाचार स्वस्वभावो मोक्षः। इससे ज्यादा रैवोल्यूशनरी, इससे ज्यादा क्रांतिकारी मंत्र नहीं खोजा जा सकता।

इति स्मृतेः। और यही स्मृति का अन्त है। बड़ी अद्‌भुत बात है यह। इसके आगे स्मृति को कोई भी जरूरत नहीं। इसके आगे कुछ स्मरण करने योग्य न रहा, क्योंकि स्मरण रखने पड़ते हैं, नियम, मर्यादाएं, सीमा; स्मरण रखने पड़ते हैं अनुशासन, स्मरण रखनी पड़ती हैं व्यवस्थाएं। जो स्वेच्छाचार को उपलब्ध हो गया, स्वस्वभाव को उपलब्ध हो गया, उसे स्मृति की कोई जरूरत न रही। जब जब तक ज्ञान नहीं, तब तक स्मृति की जरूरत है। 'मेमोरी इज ए सब्सटीट्यूट फॉर नौइंग।' जो जानता है, उसे स्मृति की जरूरत नहीं रह जाती। जो नहीं जानता है, उसे स्मृति की जरूरत रहती है। हमें वही याद करना पड़ता है, जिसे हम भूल-भूल जाते हैं। लेकिन जिसका हमें ज्ञान ही हो गया, उसे क्या याद रखना पड़ता है? चोर को याद रखना पड़ता है कि चोरी करना ठीक नहीं, लेकिन जिसकी चोरी ही खो गई, क्या उसे यह याद रखना पड़ेगा कि चोरी करना पाप है? इसलिए कई दफे बड़ी मजेदार घटनाएं घट जाती हैं।

कबीर के घर बहुत लोग आते थे और कबीर सबको कहते, भोजन करके जाना। कबीर का लड़का कमाल मुश्किल में पड़ गया। उसने कहा, हम कितना ऋण लें। हम थक गए, आगे नहीं चल सकता। आप यह बन्द करें। कबीर कहते, अच्छा। कल सुबह फिर वही होता। लोग आते और कबीर कहते, भोजन के लिए रुक कर जाना। कमाल सिर ठोंक लेता कि फिर वही। इति स्मृतेः। ऐसे आदमी स्मरण से नहीं जीते, तत्काल जीते, हैं, जो सामने होता है, उसे ही जीते हैं, फिर भूल गए।

आखिर कमाल एक दिन बहुत क्रोध में आ गया। उसने कहा, अब यह आगे एक क्षण नहीं चल सकता। क्या मैं चोरी करने लगूं? कबीर ने कहा, यह तूने पहले क्यों न सोचा?

अद्‌भुत घटना है यह। इतनी अद्‌भुत घटना है कि कबीर पंथी इसका उल्लेख नहीं करते, क्योंकि इसमें तो बड़ा गड़बड़ हो जाएगा।

कबीर बोले, पागल, पहले क्यों न सोचा? अगर ऐसा कोई उपाय हो सकता है, तो कर। कमाल ने कहा, क्या कह रहे हैं? चोरी करने के लिए कह रहे हैं?

कबीर को अब स्मरण कहां कि चोरी पुण्य है, कि चोरी पाप है। 'इति स्मृतेः।' ऐसी जगह जाकर तो सब स्मृति खो जाती है। अब तो कबीर को याद दिलानी पड़ेगी उस जगत् की, जिस जगत् को, समय हुआ, वे छोड़ चुके, जहां चोरी पाप थी, उस लोक की, जहां चोरी करना जुर्म था, जहां समझाया जाता था, चोरी

मत करना और चोरी चलती थी; जहां चोर तो चोर था ही, जहां मजिस्ट्रेट भी चोर था। उस जगत् से कबीर का अब कोई नाता न रहा, वह आयाम न रहा, वह यात्रा और हो गई।

कबीर को अब पता ही नहीं कि चोरी भी पाप है। कबीर से कमाल ने पूछा, तुम कुछ ऐसा बेचैन दिखते हो, जैसे कोई गलत बात हो रही है। कमाल ने कहा, हद हो गई। चोरी के लिए कह रहे हैं, दूसरे का सामान उठा लाऊं? कबीर ने कहा, इसमें मुझे कुछ हर्ज दिखाई नहीं पड़ता। दूसरा, यात्री कौन? एक ही तो बचा है। सामान किसका? कौन उठा लाएगा?

कमाल ने सोचा कि परीक्षा लेनी ही पड़ेगी। ऐसे नहीं चलेगा। कमाल गजब का लड़का था। रात होने पर उसने कहा कि चलिए, मैं चोरी को जा रहा हूं, आप भी चलिए। कबीर उठे और साथ हो लिए। कमाल तो बहुत घबराया। उस ने सोचा कि क्या चोरी करवा कर रहेंगे? हद हो गई, अब तो सीमा के बाहर बात चली जा रही है। होश में हैं कि बेहोश हैं! मगर उनका ही वह बेटा था। उसने कहा, ऐसे न छोड़ूंगा, आखिरी क्षण तक जांच कर लेनी जरूरी है।

जाकर कमाल ने सेंध खोदी। कबीर खड़े रहे। सेंध खोदकर कमाल मकान के भीतर घुसा। एक गेहूं का बोरा खींचकर बाहर लाया। कबीर खड़े रहे। कमाल ने कहा, आप उठाने में सहारा दें, अकेले मुझसे न उठेगा। कबीर सहारा देने लगे।

कमाल ने सोचा, हद हो गई। अब और कहां तक? अब तो यह चोरी हुई ही जा रही है। कमाल ने पूछा, ले चलें घर? कबीर ने कहा, घर के लोगों को कह दिया न कि ले जा रहे हैं? लौटकर जा, घर के लोगों को कह आ। सुबह नाहक खोजेंगे, परेशानी में पड़ेंगे। कह दो कि हम एक बोरा गेहूं चोरी करके ले जा रहे हैं। इति स्मृतेः। ऐसी जगह जाकर जब स्मृति खो जाती है।

पर ब्रह्म में बहना ही उनका आचरण है। जस्ट फ्लोइंग इन द डिवाइन। चलते भी नहीं, तैरते भी नहीं, बस उस दिव्य परमात्मा में बहते हैं। यही उनका आचरण है।

ब्रह्मचर्य शान्ति संग्रहणम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमैऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्यासं संन्यासम् ।
अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम् नित्यं सर्व देहनाशनम् ।
एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम ।
इत्युपनिषत् ।

ब्रह्मचर्य और शांति जिनकी सम्पत्ति या संग्रह है ।
ब्रह्मचचर्याश्रम में, फिर वानप्रस्थाश्रम में अध्ययन से फलित सर्व त्याग ही संन्यास है ।
अन्त में समस्त शरीरों का नाश हो जाता है और ब्रह्म रूप अखण्ड आकार में प्रतिष्ठा होती है ।
यही निर्वाण दर्शन है, जिसका शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को उपदेश न करना, ऐसा यह रहस्य है ।
निर्वाण उपनिषद् समाप्त ।

प्रवचन : १५
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक २ अक्टूबर, १९७१

निर्वाण रहस्य अर्थात् सम्यक् संन्यास, ब्रह्म-जैसी चर्या और सर्व देहनाश

ऋषि कहता है ब्रह्मचर्य और शांति उनकी सम्पदा है । सम्पदा किसे कहें ? हम जिसे सम्पदा कहते हैं, वह हम से छीनी जा सकती है । हम जिसे सम्पदा कहते हैं, मृत्यु तो निश्चित ही हमें उससे अलग कर देती है । हम जिसे सम्पदा कहते हैं, उसके कारण सिवा विपदाओं के हमारे ऊपर आता हुआ और कुछ मालूम नहीं पड़ता है । ऋषि इसे सम्पदा नहीं कहते हैं । वे उसे सम्पदा कहते हैं, जो हमसे छीनी न जा सके । वही सम्पत्ति है । उसी के हम मालिक हैं, जो हमसे छीनी न जा सके । जो हमसे छीनी जा सकती है, उसकी मालकियत नासमझी का दावा है । लेकिन हम तो जिन-जिन संपत्तियों को जानते हैं, वे सभी हमसे छीनी जा सकती हैं । क्या ऐसी किसी सम्पत्ति का हमें पता है, जो हमसे छीनी न जा सके ?

उपनिषद् कालीन एक कथा है कि ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी सारी सम्पत्ति अपनी दोनों स्त्रियों को सौंपकर संन्यस्त होना चाहता है । उसकी एक पत्नी तो राजी हो गई । आधी सम्पत्ति बहुत सम्पत्ति थी । लेकिन दूसरी पत्नी ने पूछा कि आप जो मुझे दे जा रहे हैं, यह क्या है ? याज्ञवल्क्य ने कहा, यह सम्पदा है । पत्नी ने पूछा, सम्पदा को छोड़कर आप क्यों जा रहे हैं ? और अगर आप छोड़कर जा रहे हैं, तो आप किसकी तलाश में जा रहे हैं ? पति ने कहा, मैंने तो समझ लिया, यह सम्पदा नहीं है । मैं असली सम्पदा की खोज में जाता हूं । पत्नी ने कहा, फिर असली सम्पदा की खोज में मुझे भी ले चलें । इस कचरे को मेरे लिए क्यों छोड़ जाते हैं? अगर आपको पता ही चल गया है कि यह सम्पदा नहीं है, तो मुझे देने की बात ही क्यों उठाते हैं ?

सम्पदा जिनके पास है, वे भली-भांति जान लेते हैं, उससे वह नहीं मिलता है, जो मूल्यवान है । जो भी उससे खरीदा जा सकता है, वस्तुतः उसका कोई मूल्य नहीं है । सम्पत्ति से जो खरीदा जा सकता है, उसका कोई भी ऐसा मूल्य नहीं है जो शाश्वत हो, नित्य हो, ठहरने वाला हो । लेकिन हम उससे अपने खाली मन को भर लेते हैं ।

ऋषि कहता है, संन्यासी की सम्पदा क्या है ? उसकी सम्पदा को वह कहता है, एक तो ब्रह्मचर्य है । उसका आचरण ऐसा होगा, जैसे स्वयं परमात्मा उसके भीतर विराजमान होकर आचरण करता हो । ब्रह्मचर्य शब्द बहुत कीमती है । इसे तथाकथित नीतिवादियों ने बुरी तरह विकृत किया है, 'करप्ट' किया है । क्योंकि जब भी कोई कहता है ब्रह्मचर्य, तो हमें तत्काल ख्याल आता है सेक्स कण्ट्रोल, काम-वासना का नियन्त्रण । 'ब्रह्मचर्य' बहुत सूक्ष्म शब्द है और 'काम-वासना का नियन्त्रण' बहुत क्षुद्र और साधारण-सी बात है । ब्रह्मचर्य एक बड़ा सत्य है । ब्रह्म-चर्य शब्द का अर्थ होता है, ब्रह्म जैसी चर्या । ऐसे जीना, जैसे परमात्मा ही जी रहा हो । ब्रह्मचर्य बहुत विराट् शब्द है और काम-वासना का नियन्त्रण अति क्षुद्र और साधारण-सी बात है । लेकिन हमने इस विराट् शब्द को ऐसी बुरी तरह बिगाड़ा है कि पश्चिम में जब अंग्रेजी में अनुवाद करते हैं, तो कर देते हैं 'सेलिबेसी' । पर उसका अर्थ और है ।

अगर परमात्मा की कोई चर्या होगी, तो वैसी ही चर्या संन्यासी की चर्या है । असल में संन्यासी इस बोध से ही उठता है कि परमात्मा उठा मेरे भीतर, इस बोध से ही चलता है कि परमात्मा चला मेरे भीतर, इस बोध से ही बोलता है कि परमात्मा बोला मेरे भीतर, इस बोध से ही जीता है कि परमात्मा जीया मेरे भीतर। संन्यासी स्वयं को तो बिदा कर देता है और परमात्मा को प्रतिष्ठित कर देता है । उसका जो भी है, वह सब परमात्मा का है ।

इस तरह अपने भीतर परमात्मा को जिसने प्रतिष्ठित किया हो, जो परमात्मा का मन्दिर ही बन गया हो, उसके आचरण का नाम ब्रह्मचर्य है । निश्चित ही, उसमें काम-नियंत्रण तो आ ही जाता है । उसे उसकी चर्चा करने की भी जरूरत नहीं रह जाती । लेकिन ब्रह्मचर्य मात्र काम-नियंत्रण नहीं है, काम-नियंत्रण एक छोटा-सा अंग है, ब्रह्मचर्य बहुत बड़ी बात है ।

ऋषि कहता है, ब्रह्मचर्य सम्पदा है । जिसने यह अनुभव कर लिया कि मेरे भीतर परमात्मा है, उससे अब कुछ भी छीना नहीं जा सकता । एक ही है सत्य, जो हमसे छीना नहीं जा सकता, वह सत्य ऐसा होना चाहिए, जो हमारा स्वरूप भी हो । जिसे हमसे अलग करने का उपाय ही नहीं है, वह केवल परमात्मा है । बाकी सब हमसे अलग किया जा सकता है । मित्र हो, पत्नी हो, बेटा हो, सब हमसे जुदा किए जा सकते हैं । अपना शरीर भी अपने साथ नहीं होगा । अपना मन भी अपने साथ नहीं होगा । सिर्फ एक ही सत्य है, एक ही अस्तित्व है पर-मात्मा का, जो हमसे छीना नहीं जा सकता । जो हमारा होना ही है, 'द व्हेरी बीइंग,' उसे अलग करने का कोई मार्ग नहीं है । उसे ही ऋषि सम्पदा कहता है ।

'आचरण ब्रह्म-जैसा,' लेकिन आचरण तो बाहर होता है आचरण का अर्थ ही होता है, बाहर । चर्या का अर्थ ही होता है बाहर । चर्या का अर्थ ही होता है

दूसरों के सम्बन्ध में । अकेले कोई आचरण नहीं होता, आचरण का अर्थ है, 'इन रिलेशनशिप टु सम वन ।'

एक राजधानी में धर्मगुरुओं का एक बड़ा सम्मेलन था । एक यहूदी धर्मगुरु, ईसाई धर्मगुरु, एक हिन्दू धर्मगुरु और मुल्ला नसरुद्दीन एक होटल में ठहराए गए थे । लेकिन रात जुए में चारों पकड़े गए । अदालत में जब सुबह मौजूद किए गए, तब मजिस्ट्रेट भी थोड़ा संकोच से भर गया । कल सांझ ही इनके प्रवचन उसने सुने थे । वह बड़ा प्रभावित हुआ था । लेकिन पुलिस का आदमी ले आया था अदालत में, तो अब मुकदमा चलता ही । उसने सोचा, जल्दी निपटा देने जैसा है । यह आगे खींचने-जैसा नहीं है ।

उसने ईसाई पुरोहित से पूछा कि क्या आप जुआ खेल रहे थे ? ईसाई पुरोहित ने कहा, क्षमा करेंगे, 'इट डिपेन्ड्स ऑन हाउ यू डिफाइन ।' यह बहुत-सी बातों पर निर्भर करेगा कि आप जुए की व्याख्या क्या करते हैं । ऐसे तो पूरी जिन्दगी ही जुआ है । मजिस्ट्रेट जल्दी मुक्त करना चाहता था । उसने देखा, यह तो लम्बा थियोलॉजी का मामला हो जाएगा । उसने कहा, साफ-साफ कहिए, आप जुआ नहीं खेल रहे थे ? ईसाई पादरी कहा, पूरी जिन्दगी जहां जुआ है, वहां जुए से बचा कैसे जा सकता है जज ने कहा, मैं समझ गया, आप जुआ नहीं खेल रहे थे, आप बरी किए जाते हैं । ईसाई पादरी बाहर चला गया ।

यहूदी रबी से पूछा, आप जुआ खेल रहे थे ? आपके सामने टेबुल पर रुपए रखे थे और ताश पीटे जा रहे थे । यहूदी रबी ने कहा, क्षमा करें, अभिप्राय अपराध नहीं है । अभी जुआ शुरू नहीं हुआ था, अभी सिर्फ आशय था । हम शुरू करने को जरूर ही थे, लेकिन अभी शुरू नहीं हुआ था और जो शुरू नहीं हुआ है, अभी अदालत के कानून के बाहर है । जज ने कहा, माना, आप बरी किए जाते हैं, आप जुआ नहीं खेल रहे थे, सिर्फ अभिप्राय पर कोई कानून नहीं लग सकता । आप जायें ।

हिन्दू धर्मगुरू से पूछा, आप भी इसमें सम्मिलित थे ? हिन्दू धर्मगुरु ने कहा, यह जगत् माया है । जो दिखाई पड़ता है, वैसा है नहीं—'इट जस्ट एपियर्स ।' कैसा जुआ, कैसे पत्ते, कौन पकड़ा गया, किसने पकड़ा ? मजिस्ट्रेट ने कहा, मैं समझा । आप जाएं, जब जगत ही असत्य है, तब कैसा जुआ ? बिल्कुल ठीक कहते हैं ।

लेकिन मुल्ला बहुत मुसीबत में था, क्योंकि उसी के हाथ में पत्ते पीटते हुए पकड़े गए थे, और उसी के सामने पैसों का ढेर भी लगा था । मजिस्ट्रेट ने कहा कि इन तीनों को तो छोड़ देना आसान था नसरुद्दीन, तुम्हारे लिए क्या करें ? तुम क्या जुआ खेल रहे थे ? नसरुद्दीन ने पूछा, क्या मैं पूछ सकता हूं, विद हूम ? किसके साथ मैं जुआ खेल सकता था ? क्योंकि तीनों तो जा ही चुके थे, बरी हो चुके थे । नसरुद्दीन ने कहा, अकेले भी जुआ अगर खेला जा सकता है, तो जरूर खेल रहा था ।

हमारा सारा आचरण दूसरे के सम्बन्ध में है। अकेले के आचरण का कोई अर्थ नहीं है। सत्य बोलें तो किसी से, झूठ बोलें तो किसी से, चोरी करें तो किसी की, अचोर रहें तो किसी के सम्बन्ध में। हमारा सब आचरण दूसरे से सम्बन्धित है। इसलिए ऋषि ने कहा, पहले तो ब्रह्मचर्य सम्पदा है संन्यासी की। ब्रह्मचर्य दूसरे के साथ ऐसा सम्बन्धित होना, जैसे ईश्वर सम्बन्धित होता हो।

और दूसरी बात कही, भीतर शान्ति। आचरण तो बाहर है। भीतर, भीतर परम मौन है। सन्नाटा है, शांति है। वहां कोई तरंग भी न उठे, वहां कोई लहर न उठे, जीवन की जो ऊर्जा है, चेतना है, वह कंपित न हो। ऐसी निष्कंप मौन शांति, जहां हवा का एक झोंका भी नहीं, उसे आंतरिक सम्पदा कहा है।

आचरण ईश्वर-जैसा, अन्तस निर्वाण-जैसा है—शून्य, शांत, मौन। ऋषि कहता है, यही सम्पदा है, जो छीनी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त जो किसी और चीज को सम्पदा समझ कर बैठे हैं, वे अति दीन हैं, दरिद्र हैं। अपनी दरिद्रता को वे कितना ही छिपाने की कोशिश करें, वह जगह-जगह से प्रकट होती रहती है। धन उनके पास होता है, वे स्वयं धनी नहीं हो पाते, क्योंकि धन उनसे किसी भी क्षण छीना जा सकता है। और धन न भी छीना जाए, तो भी धन सिर्फ धनी होने होने का धोखा है। भीतर की दीनता तब तक नहीं मिटती, जब तक तनाव न मिट जाए। जब तक अशांति न मिट जाए, तब तक भीतर समृद्धि का जन्म नहीं होता। जब तक इतना भीतर सघन परमात्मा प्रकट न होने लगे कि चारों तरफ उसकी किरणें बिखरने लगें, तब तक व्यक्ति सम्राट् नहीं है। तब तक व्यक्ति हजार-हजार रूपों में गुलाम ही होता है। संन्यासी तो सम्राट् है।

स्वामी राम कहा करते थे कि एक गरीब फकीर ने घोषणा कर दी थी कि अब मैं मरने के करीब हूं। लोग बहुत-बहुत धन मेरे पास चढ़ाते चले गये हैं, वह इकट्ठा हो गया है। मैं उसे किसी गरीब को दे देना चाहता हूं। गांव भर के गरीब घोषणा सुनकर इकट्ठे हो गये। गरीबों की क्या कमी थी! जो गरीब नहीं थे, वे भी अपनी पगड़ी आदि घर रखकर हाजिर हो गए। फकीर तो चकित हुआ। उसमें कई लोग तो ऐसे थे, जो उसको दान चढ़ा गये थे। वे छिपे हुए भीड़ में खड़े थे। सबको अन्दाज था कि फकीर के पास बहुत पैसा होगा, जिन्दगी भर लोग चढ़ाते रहे हैं। था भी बहुत। एक बड़ी झोली में उसने सब भर रखा था। कई हीरे भी थे, मोती भी थे, सब थे। सोने के सिक्के भी थे, वह सब उसने झोली में भर रखा था। उसने लोगों को कहा कि भाग जाओ यहां से। मैंने सबसे ज्यादा गरीब आदमी को देने का तय किया है? एक भिखारी ने कहा कि मुझसे ज्यादा गरीब कौन होगा? मेरे पास कल के लिए भी खाना नहीं है। फकीर ने कहा, मुझे जांच करनी पड़ेगी। तब मैं तय करूंगा।

इसी बीच सम्राट् की सवारी निकली। हाथी पर सम्राट् जा रहा था।

फकीर ने चिल्ला कर रुक जाने को कहा। सम्राट् रुका और उसने वह थैली उन भिखारियों की भीड़ के सामने सम्राट् के हाथी पर फेंक दी। सम्राट् ने कहा, क्या मजाक कर रहे हैं? मैंने तो सुना है कि आपने सबसे ज्यादा गरीब को देने का तय किया था। फकीर ने कहा, तुमसे ज्यादा गरीब और कौन होगा? क्योंकि यहां जितने लोग खड़े हैं, इनकी आशायें और आकांक्षायें बहुत बड़ी नहीं हैं। तुम्हारे पास इतना बड़ा साम्राज्य है, लेकिन अभी भी तुम्हारी इच्छा का कोई अन्त नहीं है, वह और आगे दौड़ेगी। तुम बड़े से बड़े भिखारी हो, तुम्हारी इच्छा कभी पूरी न होगी। तुम्हारा भिक्षा-पात्र ऐसा है कि कभी भर न पाएगा। तुम्हीं सबसे बड़े गरीब हो। यह मैं तुम्हें दे देता हूं।

गरीब कौन है? जिसकी वासनायें दुष्पूर हैं। अमीर कौन है? जिसकी कोई वासना नहीं। गरीब कौन है? जिसकी मांग का कोई अन्त नहीं। अमीर कौन है? जो कहता है, अब मांगने को कुछ भी न बचा।

राम जब अमरीका गये, तो वे अपने को बादशाह कहते थे। एक लंगोटी थी पास में, लेकिन कहते थे अपने को बादशाह राम। उन्होंने एक किताब लिखी है, उसका नाम है बादशाह राम के छह हुक्मनामे। एक लंगोटी थी और पुस्तकें लिखी थीं; 'हुक्मनामे बादशाह राम के'। अमरीका का प्रेसिडेंट मिलने राम से आया। और तो उसे सब ठीक लगा, एक बात जरा उसे बेचैन करने लगी। उसने कहा, 'और सब तो ठीक है, मगर आप अपने को खुद अपने मुंह से बादशाह राम कहते है।' वे ऐसा कहते थे कि बादशाह राम कल वहां गए।

प्रेसिडेन्ट ने कहा कि जरा पूछना चाहता हूं कि बादशाहत कौन-सी है जिसकी आप बात कर रहे हैं। क्या है आपके पास, जिसके आप बादशाह हैं। राम ने कहा, जब तक कुछ भी मेरे पास था, तब तक मैं गुलाम था, क्योंकि जो भी मेरे पास था, वह मेरा मालिक हो गया था। अब मैं बिल्कुल बादशाह हूं, क्योंकि अब मेरी कोई गुलामी न बची। जब तक मेरे पास कुछ था, तब तक मेरी मांग कायम थी, अब मेरी कोई भी मांग नहीं है अब तुम हीरे-जवाहरातों के ढेर लगा दो, तो मैं उन पर ऐसे चल सकता हूं जैसे धूल पर चल रहा हूं। अब मुझे महलों में ठहरा दो, तो मैं ऐसे ठहर सकता हूं जैसे झोंपड़े में सो रहा हूं। अब तुम दुनिया का मुझे बादशाह भी बना दो, तो मुझे ऐसा न लगेगा कि 'समथिंग हैज बीन ऐडेड', कुछ जुड़ गया नया मुझसे, ऐसा नहीं लगेगा। स्वामी रामतीर्थ बादशाह थे ही। संन्यासी सदा ही सम्पदा उसे कहता रहा है, जो परिपूर्ण तृप्ति से, टोटल फुलफिल-मेंट से जन्मती है।

ऋषि कह रहा है, ब्रह्मचर्य आश्रम में, फिर वानप्रस्थ में अध्ययन से फलित सर्व ज्ञान ही संन्यास है। इस देश में हमने आदमी के जीवन को आश्रमों में विभक्त किया था। शायद मनुष्य जाति के इतिहास में हमारा प्रयोग अकेला और अनूठा

था जिसमें हमने आदमी की जिन्दगी को चार खण्डों में बांटा था और बड़ी वैज्ञानिक व्यवस्था से बांटा था। अगर सौ वर्ष हम आदमी की औसत उम्र मान लें, तो हमने चार टुकड़े कर दिए थे पच्चीस-पच्चीस वर्षों के। पच्चीस वर्ष के पहले टुकड़े को हम ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। इन पच्चीस वर्षों में व्यक्ति को अपनी समस्त शक्ति को जगा कर संग्रहीत करना ही लक्ष्य था। इसलिए कि जब वह गृहस्थ बनेगा, तो उसके पास इतनी ऊर्जा होनी चाहिए कि वह जीवन के समस्त भोगों को जान पाए।

ये भारत के मनीषी दुस्साहसी थे, भगोड़े नहीं थे। यह पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचर्य का समय इसलिए था, ताकि व्यक्ति इतनी शक्ति-सम्पन्नता से भोग के जीवन में जाए कि भोग को अंतिम किनारे तक छू सके—'टु द आप्टीमम', क्योंकि ऋषियों ने जाना था वह सत्य कि जिस बात को हम पूरा जान लें, उससे छुटकारा हो जाता है। अगर आप से भी छुटकारा चाहिए, तो आपको पूरा जान लेना जरूरी है। आधा जिसने जाना है, उसके मन में लगाव कायम ही रह जाता है कि पता नहीं, वह जो आधा शेष था, वहां न मालूम क्या होगा।

मुल्ला नसरूद्दीन मर रहा है। पुरोहित आ गए हैं उसे बिदा करने को। वे उससे कहते हैं, पश्चाताप करो। तुमने जो पाप किए हों, उनके लिए पश्चाताप करो। नसरूद्दीन आंख खोलता है और कहता है, पश्चाताप मैं कर रहा हूं, (देयर इज रिपेन्टेंस इन मी।) लेकिन थोड़ा-सा फर्क है मुझमें और आप में। मैं उन पापों का पश्चाताप कर रहा हूं, जो मैं नहीं कर पाया। मन में बड़ी पीड़ा रह गई कि शायद उनको भी कर लेता, तो पता नहीं क्या पा जाता। जो किए, उनसे तो कुछ नहीं मिला। लेकिन क्या यह जरूरी है कि जो नहीं किए, उन्हें करता तो उनसे भी न मिलता? जो किए उनसे नहीं मिला। लेकिन जो नहीं किए उनमें खजाने छिपे होंगे, यह कौन मुझे आज मरते क्षण में आश्वासन देगा। पश्चाताप कर रहा हूं।

नसरूद्दीन जब सौ वर्ष का हुआ था, तो उसकी सौवीं वर्षगांठ मनाई जा रही थी। गांव के पत्रकार उसके पास आए थे। उन्होंने नसरूद्दीन से कहा कि अगर तुम्हें दुबारा जिन्दगी मिले तो क्या वे ही भूलें फिर करोगे जो इस जिन्दगी में कीं। नसरूद्दीन ने कहा, वे तो करूंगा ही; जो नहीं कर पाया, वह भी करूंगा। एक बात में फर्क करूंगा कि इस बार मैंने जिन्दगी में भूलें बड़ी देर से शुरू कीं। अगली बार मैं जल्दी शुरू कर दूंगा।

पत्रकारों ने पूछा कि तुम्हारी इतनी लम्बी उम्र का राज क्या है?—तुम सौ वर्ष जिए! तो नसरूद्दीन ने कहा, मैंने शराब भी नहीं छुई, मैंने धुम्रपान भी नहीं किया, मैंने किसी लड़की का स्पर्श भी नहीं किया, जब तक दस वर्ष का नहीं हो गया। इसके सिवा और तो मुझे लम्बी उम्र का कोई रहस्य मालूम नहीं पड़ता। अगर दोबारा जिन्दगी मिले, तो जो भूलें मैंने देर से शुरू की हैं, उन्हें जरा मैं जल्दी

शुरू करूंगा!

आदमी पछताता है उन पापों के लिए, जो उसने नहीं किए। आप उन पापों की याद नहीं करते, जो आपने किए। उन पापों की यादें मन को घेरे रहती हैं, जो आपने नहीं किए।

भारतीय मनीषी बहुत समझदार थे, बुद्धिमान थे, प्रज्ञावान थे। वे कहते थे पच्चीस वर्ष ऊर्जा को इकट्ठा कर लो, समस्त शक्ति को जरा भी बहने मत दो, ताकि जब तुम कूदो जीवन के भोग के जगत् में, तो तुम्हारी शक्ति से भरी हुई ऊर्जा के तीर तुम्हें वासनाओं के आखिरी तल तक पहुंचा दें। तुम वह सब देख लो, जो संसार दिखा सकता है, ताकि संसार से पीठ मोड़ते वक्त मन में एक बार भी पीछे लौटकर देखने का भाव न आए। यह ब्रह्मचर्य का अर्थ था। उसका यह अर्थ नहीं था कि लोगों को साधु बनाना है, इसलिए ब्रह्मचर्य। लोगों को भोग की इतनी स्पष्ट प्रतीति हो जानी चाहिए कि भोग व्यर्थ हो जाए। तभी तो साधुता का जन्म होता है।

फिर ब्रह्मचर्य के पच्चीस वर्ष के बाद हम व्यक्ति को भेज देते थे गृहस्थ-आश्रम में। अजीब-सी बात थी कि पच्चीस साल तक उसे रखते थे दूर वासनाओं के जगत् से और पच्चीस साल के बाद बैण्ड-बाजे बजाकर उसे वासनाओं के जगत् में प्रवेश कराते थे। बड़े गुणी लोग थे, जिन्होंने यह सोचा। उन्होंने सोचा, शक्ति पहले तो संग्रहीत होनी चाहिए!

आज पश्चिम में या पूरब में भी कोई भी व्यक्ति काम-वासना से तृप्त नहीं है, यद्यपि आज के युग में जितनी काम-वासना को तृप्त करने के उपाय हैं और आज के युग में जितना काम-वासना को तृप्त करने का प्रचार है और आज के युग में काम-वासना को जितना प्रदर्शित किया जाता है, उतना दुनिया में कभी भी नहीं था। फिर भी कोई आदमी तृप्त नहीं मालूम होता। उसका कारण है कि शक्ति संग्रहीत हो इसके पहले ही विसर्जित होनी शुरू हो जाती है। इसके पहले कि फल पके, जड़ें रस को मिट्टी में खोना शुरू कर देती हैं। फल कभी पक नहीं पाता। जो फल कच्चा ही रह जाता है, वह कैसे त्याग कर दे वृक्ष का। कच्चे फल कहीं वृक्ष का त्याग करते हैं? पके फल गिरते हैं, चुपचाप गिर जाते हैं। वृक्ष को भी पता नहीं चलता कब गिरा। लेकिन फल को पकने के लिए ऊर्जा चाहिए। जीवन के अनुभव के पकने के लिए भी ऊर्जा चाहिए।

तो पच्चीस वर्ष तक तो हम समस्त रूपों में शक्ति को संग्रहीत और शक्ति का जन्माने और शक्ति को पैदा करने का उपाय करते थे। और एक-एक आदमी को हम एक रिजर्वायर (कुण्ड) बना देते थे जो ऊर्जा से आन्दोलित थे। वह शक्ति-सम्पन्न, शक्ति से भरा हुआ जगत् में आता था। ध्यान रहे, जितना शक्तिशाली पुरुष हो, उतनी जल्दी वह वासनाओं से मुक्त हो जाता है। जितना निर्बल पुरुष

हो, उतनी देर लग जाती है, क्योंकि निर्बल कभी भोग का अनुभव ही नहीं कर पाता, जिसका अनुभव नहीं, उसका छुटकारा कैसे होगा ? जिसे जाना नहीं कि व्यर्थ है, वह कैसे छोड़ा जा सकेगा ? व्यर्थता का ज्ञान तो पूरे जानने से ही उपलब्ध होता है । इसलिए दुनिया जब तक मनीषा के द्वारा विभाजित मनुष्य के खण्डों को पुनः स्वीकार नहीं कर लेगी, तब तक हम मनुष्य को वासनाओं से मुक्त करने में समर्थ न हो सकेंगे ।

ऋषि कहता है, पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य के आवास में जो जाना, गृहस्थ जीवन में जो अनुभव किया, पचास वर्ष की उम्र तक गृहस्थ रहेगा । पच्चीस वर्ष वह गृहस्थ जीवन का अनुभव करेगा । जब वह पचास वर्ष होने के करीब होगा, तब तक उसके बेटे आश्रम में लौटने के करीब हो जाएंगे । उसके बेटे पच्चीस वर्ष के करीब होने लगेंगे। भारत के ऋषि कहते थे कि जब बेटा घर में पत्नी के साथ आ जाए, तब भी पिता बच्चे पैदा करता जाए, इससे बेहूदी और कोई बात नहीं हो सकती । है भी बेहूदी बात । बेटा जब भोग में उतर जाए, तब भी बाप भोगना जारी रखे, यह असंगत है। जरा भी इसमें समझदारी नहीं दिखाई पड़ती। और फिर भी बाप चाहे कि बेटा आदर दे, तो मूढ़ता की हद हो गई । कोई वजह नहीं । लगता तो ऐसा है, बेटा आपके कन्धे में हाथ रखे और ट्विस्ट करे, क्योंकि दोनों की योग्यता बराबर है। बेटा भी वही कर रहा है । बाप भी वही कर रहा है । बेटा भी खड़ा है क्यू में सिनेमा घर के, बाप भी खड़े हैं क्यू में सिनेमा घर के । फिर आदर, फिर श्रद्धा, फिर सम्मान अगर खो जाए, तो कसूर किसका है ?

नहीं, नियम यह था कि बेटा जिस दिन विवाहित होकर घर आए उस दिन बाप वानप्रस्थ हो गया, उस दिन मां का वानप्रस्थ हो गया, उसी दिन हो गया । बात खत्म हो गई। जब बेटे भोगने के जगत् में आ गए, तब बाप को अब त्यागने के जगत् में जाना चाहिए । नहीं तो फासला क्या है, फर्क क्या है, भेद क्या है ?

पचास वर्ष में व्यक्ति वानप्रस्थ हो जाएगा । वानप्रस्थ का अर्थ है, जिसका मुंह वन की तरफ हो गया । अभी वन में गया नहीं है । अभी जंगल चला नहीं गया, क्योंकि जो बेटे अभी गुरुकुल से वापस आए हैं, बाप की कुछ जिम्मेवारी है कि उनको वह अपने जीवन के अनुभव दे दें । अभी अगर वह जंगल भाग जाए, तो बेटों और बाप के बीच, पीढ़ियों के बीच जो ज्ञान का संक्रमण होना चाहिए, ट्रांसमिशन होना चाहिए, वह नहीं हो पाएगा । अभी बेटे गुरुकुल से आए हैं, अभी वे ज्ञान की बातें लेकर आए हैं, शब्द सीख कर आए हैं, शास्त्र सीख कर आए हैं, शक्ति लेकर आए हैं, अभी चमत्कृत हैं जीवन से, अभी ऊर्जा से भरे हुए हैं, युवा अवस्था है । अभी पिता ने पच्चीस वर्षों के गृहस्थ जीवन में जो जाना है, वह सब उसे सिखा दे । पच्चीस वर्ष तक माता और पिता वानप्रस्थ होंगे, वन की तरफ जाते हुए । चेहरा उनका अब जंगल की तरफ है, पीठ घर की तरफ हो जाएगी ।

पच्चीस वर्ष रुकेंगे, ऐज ए ट्रस्टी, एक संरक्षक की तरह । ताकि जो उन्होंने जाना है, वह बेटे को सौंप दें ।

लेकिन जब वे पचहत्तर वर्ष के होंगे, तब तक तो बेटों के बेटे गुरुकुल से लौट रहे होंगे । तब उनके रुकने की कोई जरूरत नहीं रही, क्योंकि उनके बेटे ही अब अनुभवी पिता हो गए हैं, वे पचास साल के हो गए हैं । अब वे अपना ज्ञान और अनुभव अपने बेटों को दे सकेंगे। अब उनके संन्यास का क्षण आया, अब वे छोड़ दें और जंगल चले जाएं । और ऐसा एक बहुत अद्भुत सर्किल हमने निर्मित किया था ।

ये जो पचहत्तर वर्ष के वृद्ध जन जंगल चले जाएंगे, ये आने वाले बच्चों के लिए गुरु का काम करेंगे । यह एक सर्किल था हमारा । और ध्यान रहे कि हमने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि विद्यार्थी और गुरु के बीच इससे कम उम्र का फासला उचित है । पचास साल की उम्र का फासला जरूरी है, क्योंकि ऐसे वृद्ध की सब वासनाएं क्षीण हो गई होती हैं । केवल ऐसे वृद्ध ही जिनकी समस्त वासनाएं क्षीण हो गईं, जो अनुभव से वासनाओं के पार हो गए, हैं, अपने बच्चों को ब्रह्मचर्य में दीक्षित कर सकते हैं, नहीं तो नहीं । कैसे करेंगे ? अभी जब गुरु खुद गीता में काम-शास्त्र छिपा कर पढ़ता हो, फिर बच्चे भी पहचान जाते हैं । पहचानने में देर नहीं लगती । फिर यही गुरु उनसे ब्रह्मचर्य की बात करता है । बच्चे देख लेते हैं, सुन लेते हैं, लेकिन जान जाते हैं कि ये सब बातें करने की हैं । आज तो यूनिवर्सिटी में ऐसा ही होता है, अक्सर ऐसा होता है । वहां अक्सर ऐसा हो जाता है कि एक ही लड़की के लिए प्रोफेसर भी दीवाना है और लड़के भी दीवाने हैं । भारी प्रतिस्पर्धा हो जाती है । अब ब्रह्मचर्य की बात करने की भी जरूरत नहीं रह गई, शोभा भी नहीं देती । हमने माना था कि पचास साल का फासला विद्यार्थी और गुरु में होना चाहिए । इतना डिस्टेंस (फासला) कई अर्थों में जरूरी है ।

वार्धक्य का अपना सौन्दर्य है, अपनी गरिमा है । अगर कोई व्यक्ति सच में, ढंग से बूढ़ा हुआ, तो बूढ़ापे का जो सौन्दर्य है, वह किसी भी स्त्री में कभी नहीं होता । क्योंकि जवानी में तो एक उत्तेजना होती है, इसलिए सौन्दर्य में शान्ति नहीं होती, स्निग्धता नहीं होतीं, चांद-जैसा नहीं होता सौन्दर्य, जवानी में तो एक उतावलापन होता है, जल्दी होती है । जल्दी कुरूप होती है । जल्दी में कभी भी सौन्दर्य नहीं होता । सौन्दर्य तो बहुत धीरे से बहने वाली नदी की दशा है और जवानी इतनी ऊर्जा से भरी होती है कि उसे फेंकने के लिए पागल होती है, विक्षिप्त होती है ।

जवानी कभी भी स्वस्थ नहीं होती । हालांकि हम कहते हैं कि जवान बहुत स्वस्थ होते हैं ! शरीर से होते होंगे, लेकिन मन से जवानी बहुत अस्वस्थ अवस्था

है। इस अर्थ में बूढ़े ही स्वस्थ हो पाते हैं, लेकिन अगर कोई ठीक से वृद्ध हो तभी। ठीक से वृद्ध होने का मतलब यही है कि भीतर जवानी सरकती न रह जाए, और कोई अर्थ ही नहीं होता। नहीं तो शरीर बूढ़ा हो जाता है और मन जवान रह जाता है। तब बूढ़े से ज्यादा कुरूप इस जगत् में कोई घटना नहीं होती (द मोस्ट अग्लीएस्ट), जब शरीर बूढ़ा होता है और मन जवानी की तरह बेताब, पागल, रुग्ण और वासनाग्रस्त होता है।

यह बड़े मजे की बात है कि बच्चे अब भी सुन्दर होते हैं, जवान अब भी सुन्दर होते हैं, लेकिन बूढ़े अब सुन्दर होने बन्द हो गए। कभी मुश्किल से कोई वृद्ध व्यक्ति सुन्दर दिखाई पड़ता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, जब सचमुच कोई बूढ़ा जीवन के अनुभव से पक कर बार्धक्य के सौन्दर्य को उपलब्ध होता है तो उसके सिर पर आ गए सफेद बाल ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे गौरीशंकर पर जम गई शुभ्र बर्फ—शान्त शिखर को छूता हुआ, आसमान को छूता हुआ। जब बादल भी शर्म से झुक जाते हैं और नीचे पड़ जाते हैं, ऐसे बूढ़ों को हम कहते थे गुरु।

इतना फासला न हो तो गुरु और शिष्य के बीच जो श्रद्धा का जन्म होना चाहिए, वह नहीं हो सकता। और फिर ये जो कुछ जान चुके हैं, उसे देने में समर्थ हो सकते हैं। आज करीब-करीब, जिन्होंने कुछ भी नहीं जाना—शब्द जाने हैं, परीक्षापत्र जाने हैं, सर्टिफिकेट जाने हैं, जिनका अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं, वे उनको ज्ञान देते रहते हैं, जो करीब-करीब उनकी ही मनोदशा में है। कोई भेद नहीं। अगर विद्यार्थी थोड़ा होशियार हो, तो शिक्षक से ज्यादा आज जान सकता है। पहले यह असम्भव था। विद्यार्थी थोड़ा होशियार हो, तो शिक्षक से ज्यादा जान सकता है और अक्सर कुछ विद्यार्थी तो थोड़े होशियार होंगे ही और शिक्षक से थोड़ा ज्यादा ही जानकार होंगे।

शिक्षक के कार्य की तरफ जाने वाला जो वर्ग है, समाज का वह सबसे कम होशियार वर्ग होता है। उसके कारण हैं। शिक्षक का न वेतन ठीक है, न कोई सम्मान है। लोग पूछते हैं, अच्छा, मास्टर हो गए! यानी बेकार हो गए! आदमी डरता है बताने में कि वह मास्टर है। इससे अच्छा तो कांस्टेबल कहता, तो रीढ़ अकड़ जाती कि कांस्टेबल हैं। मास्टर हैं, तो वह ऐसा कहता है जैसे पिट गए, बेकार हो गए, जिन्दगी बेकार हो गई, मास्टरी में गंवा दी। जाता ही 'मीडीयॉकर' वर्ग है, मध्यबुद्धि वाला वर्ग ही जाता है। जरा-सा भी विद्यार्थी होशियार हो, तो शिक्षक पीछे पड़ जाता है। लेकिन भारत की दृष्टि यह थी कि शिक्षक को किसी भी स्थिति में विद्यार्थी के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब इतना लम्बा जीवन का अनुभव हो।

ऋषि कह रहा है कि जिन्होंने ब्रह्मचर्य जाना, गृहस्थ जाना, वानप्रस्थ जाना, इस जानने से ही वे जिस त्याग को उपलब्ध होते हैं, उसका नाम संन्यास है। इस

जानने से ही, 'दिस वेरी नोइंग लीड्स टु रिनंसिएशन', यह जानना ही संन्यास बन जाता है। जिसने जान लिया जीवन को इतने-इतने पहलुओं से, वह जीवन से चिपका नहीं रह जाता। वह जान लेता है कि असार को पकड़ कर रखने का क्या प्रयोजन है, तो असार छूट जाता है और अंत में समस्त शरीरों का नाश हो जाता है और ब्रह्मरूप अखण्डाकार में उनकी प्रतिष्ठा होती है।

मनुष्य के सात शरीर है। एक शरीर, जो हमें दिखाई पड़ता है, यह है। फिर इसके भीतर और, और, और सात शरीरों की परतें हैं। एक शरीर तो भौतिक है, जो हमें दिखाई पड़ता है। और सूक्ष्म शरीर हैं, जो हमें दिखाई नहीं पड़ते लेकिन जब कोई योग में प्रवेश करता है, तो वे दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं। एक-एक आदमी सात परतों (सेवन लेयर्स) से घिरा हुआ है। ये जो सात शरीर हैं हमारे, जब तक ये सातों के सातों न गिर जाएं, तब तक अखण्ड ब्रह्माकार स्थिति नहीं बनती। अगर एक शरीर भी बच जाए पीछे, तो वह यात्रा जारी रखता है। अगर सातों शरीर हों, तो जन्म होता है अलग ढंग से। अगर एक ही शरीर रह जाए, तो भी जन्म होता है अलग ढंग से। भौतिक शरीर निर्मित नहीं होता, लेकिन जन्म की यात्रा जारी रहती है।

जन्म तो उसी दिन मिटते हैं, जिस दिन हमारे भीतर कोई शरीर ही नहीं रहता। लेकिन कब यह घटना घटती है कि कोई शरीर न रह जाए? यह तभी घटती है, जब भीतर कोई वासना न रह जाए, क्योंकि वासना शरीर को संग्रहीत करती है, 'क्रिस्टलाइज' करती है, इकट्ठा करती है। हमारे भीतर वासनाओं के भी सात तल हैं, इसलिए हमारे भीतर सात शरीर हैं। जब कोई व्यक्ति सब जानकर जीवन का त्याग कर देता है, तब सातों शरीर भस्मीभूत हो जाते हैं। वैसे व्यक्ति की अखण्ड ब्रह्म के साथ सत्ता एक हो जाती है। फिर जन्म का कोई उपाय न रहा, क्योंकि जन्म लेता कहां? जाएगा कहां? आवागमन की कोई सुविधा न रही। फिर तो प्रतिष्ठा उसमें हो गई, जो सरल है, आकाश की भांति जो फैला है सब ओर। उसके साथ एक होना हो गया।

यही क्षण परम अनुभूति और परम आनन्द का क्षण है, जब हमें जन्मने की जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि फिर मरने का कोई कारण नहीं रह जाता। जब हमें शरीर ग्रहण नहीं करने पड़ते, तब हमें शरीरों से पैदा होने वाले कष्ट भी नहीं झेलने पड़ते और जब इन्द्रियां हमें नहीं मिलतीं, तब इन्द्रियों से जो भ्रांतियां पैदा होती हैं, वे भ्रांतियां भी नहीं पैदा होतीं। तब हम शुद्ध चैतन्य में, शुद्ध सत्य में, शुद्ध अस्तित्व के साथ एक हो जाते हैं। इस एकता का जो ज्ञान है, इस एकता का जो दिशा-निर्देश है, इस परम ऐक्य की जो इंगित व्यवस्था है, ऋषि कहता है, यही निर्वाण दर्शन है।

एक बहुत अद्भुत बात कही है अन्त में, इस सूत्र के, जिसका शिष्य या पुत्र के

अतिरिक्त अन्य किसी को उपदेश नहीं करना है। ऐसा यह रहस्य है। वह बहुत अजीब लगेगा। इतनी अद्भुत बातों के बाद, इतने परम ज्योतिर्मय की ओर इशारे करने के बाद एक बात ऋषि कहता है कि यह ज्ञान ऐसा है कि इसे अपने पुत्र या अपने शिष्य के अतिरिक्त और किसी से मत कहना। उपनिषद् का अर्थ होता है, 'द सीक्रेट डॉक्ट्रिन', उपनिषद् का अर्थ होता है गुह्य रहस्य। उपनिषद् शब्द का अर्थ होता है, जिसे गुरु के पास चरणों में बैठकर सुना।

रहस्य इतना गुह्य है कि ऐसे ही राह चलते नहीं कहा जाता। रहस्य इतना गुह्य है कि हर किसी से नहीं कहा जाता। बहुत 'इन्टिमेसी' चाहिए, बड़ा आन्तरिक सम्बन्ध चाहिए। रहस्य ऐसा गुह्य है कि जहां तर्क—वितर्क और विवाद चलता हो, वहां नहीं कहा जा सकता है। जहां प्रेम की अन्तर्धारा बहती है, वहीं कहा जा सकता है। जहां संवाद सम्भव हो, जहां कम्यूनिकेशन सम्भव हो, जहां हृदय-हृदय से बोल सके (हार्ट टु हार्ट), वहीं कहना। ऋषि ने यह सूचना दी है।

बेटे या शिष्य को भी कहने का कारण है। असल में बेटे से मतलब है, जो इतना अपना हो कि अपनी ही मांस-मज्जा मालूम पड़े। जरूरी नहीं है कि वह आपके शरीर से पैदा हुआ हो। यह जरूरी नहीं है। यह जरूरी है कि वह आपको ऐसा लगे कि अगर वह मर जाए, तो आपका कोई हिस्सा मर जाएगा, अगर वह खो जाए, तो आपका कोई अंग खो जाएगा, वह डूब जाए, तो आपके हृदय की धड़कनें कुछ नष्ट हो जाएंगी। आप फिर कभी उतने पूरे न होंगे, जितने उसके होने से थे। जिसके साथ ऐसी आत्मीयता मालूम हो, जो इतना आतमज मालूम पड़े, उससे कहना। क्योंकि यह रहस्य गुह्य है, या उससे कहना जो शिष्य हो।

शिष्य का अर्थ होता है, 'वन हू इज रेडी टु लर्न' जो सीखने को तैयार है। बहुत कम लोग दुनिया में सीखने को तैयार होते हैं, मुश्किल से। सिखाने की उत्सुकता बहुत आसान है, सीखने की तैयारी बहुत कठिन है। क्योंकि सीखने के लिए झुकना पड़ता है, इस शिष्य शब्द से मुझे ख्याल आया। हमारे मुल्क में पांच सौ वर्ष पहले नानक के शब्दों से एक धर्म का जन्म हुआ, जिसको हम कहते हैं सिख। लेकिन सिख केवल शिष्य का पंजाबी रूपान्तरण है। शिष्य का पंजाबी रूप है सिख—जो सीखने को तैयार है। इतना ही उसका मतलब है। सिख कोई पंथ नहीं, कोई मजहब नहीं; जो भी सीखने को तैयार है, वही सिख है।

ऋषि कहता है, यह जो सीखने की तैयारी अगर न हो, तो मत कहना। क्योंकि ये बातें ऐसी हैं कि सीखने को जो तैयार न हो, उससे कहो, तो उसके कानों में भी प्रवेश नहीं होगा और खतरा यह है कि वह इनके गलत अर्थ निकाल लेगा। यह रहस्य गुह्य है, यह सीक्रेट है। यह ऐसी बात नहीं है बोलचाल की कि कह दी। इसे सोच-समझ कर कहना।

निश्चित ही हम पूरी उपनिषद् देख गए हैं, सोच-समझकर कहने-जैसा है।

'स्वेच्छाचार संन्यास है,' यह जरा सोच समझकर उससे कहना, जो समझ सके, समझने की जिसकी तैयारी हो, नहीं तो वह ठीक से नहीं समझेगा। स्वेच्छाचार का मतलब समझगा कि लाइसेंस मिल गया। अब कुछ करो। अगर कोई कुछ कहे, तो कहना, संन्यासी हैं, क्या समझते हो ? स्वेच्छाचार करेंगे ही, संन्यासी जो हैं।

हम देख गए हैं, पूरी निर्वाण उपनिषद् ने जो बातें कही हैं, वे निश्चित ऐसी हैं कि ऋषि को यह व्यक्तव्य पीछे दे ही देना चाहिए कि उससे ही कहना, जो इतना निकट हो कि मिस-अण्डरस्टैंड न कर पाए, गलत न समझ पाए। उससे ही कहना, जो सीखने को इतना तैयार हो कि अपनी तरफ से कुछ जोड़े नहीं। जो कहा जाए, वही समझे। जो चरणों में बैठकर झुक सके, जो सिर्फ प्रश्न ही न कर रहा हो, जो केवल जवाब ही न चाहता हो, जो समाधान की तलाश में निकला हो, जो समाधि पाना चाहता हो, उससे कहना।

ऋषि कहता है, बस यह आखिरी बात कहने की है कि जब किसी से कहो, तो सच समझकर कहो। इतना ही मुझे कहना है। निर्वाण उपनिषद् समाप्त हो जाती है।

निर्वाण उपनिषद् तो समाप्त हो जाती है, लेकिन निर्वाण, निर्वाण उपनिषद् के समाप्त होने से नहीं मिल जाता। निर्वाण उपनिषद् जहां समाप्त होती है, वहीं से निर्वाण की यात्रा शुरू होती है। उपनिषद् समाप्त हो गई।

मैं इस आशा के साथ अपनी बात पूरी करता हूं कि आप निर्वाण की यात्रा पर चलेंगे, बहेंगे। और यह भरोसा रखकर मैंने ये बातें कही हैं कि आप सुनने को, समझने को तैयार होकर आए थे। अगर कोई शिष्य के भाव से न आया हो, तो उससे कारण मुझे ऋषि से क्षमा मांगनी पड़ेगी, क्योंकि फिर ऋषि के इशारे के विपरीत बात हो गई। किसी ने अगर मन में विवाद लेकर इन बातों को सुना और समझा हो, तो उससे मैं प्रार्थना करूंगा कि वह भूल जाए कि मैंने उससे कुछ भी कहा।

मैंने जैसा कहा है और जो कहा है, उसमें अगर रत्ती भर भी अपनी तरफ से जोड़ने का ख्याल आए, तो स्मरण रखना कि वह अन्याय होगा—मेरे साथ ही नहीं, जिसने निर्वाण उपनिषद् कही है, उस ऋषि के साथ भी।

यही मानकर मैं चला हूं कि जो यहां इकट्ठे हैं, वे आत्मीय हैं, ऐंड कम्युनिकेशन इज् पॉसिबल, और संवाद हो सकता है। इसलिए सिर्फ चर्चा नहीं रखी, साथ में आपके ध्यान के गहन प्रयोग रखे। क्योंकि मैं मानता हूं कि चर्चा में वे लोग भी उत्सुक हो जाते हैं, जो शब्दों को विलास समझते हैं। चर्चा में वे लोग भी उत्सुक हो जाते हैं, जो शब्दों को मनोरंजन समझते हैं, लेकिन ध्यान में वे लोग उत्सुक नहीं होते। दिन में तीन बार अथक् श्रम करना पड़े ध्यान के लिए, तो जो

चर्चा में उत्सुक थे, वे भाग गए होंगे। भाग जाएंगे, इसलिए ध्यान को अनिवार्य रूप से पीछे जोड़ कर रखा था। और मैं, आप जब मुझे सुनते हैं, आपकी फिक्र नहीं करता हूं; जब आप ध्यान करते हैं तब आपकी फिक्र करता हूं।

आपकी ध्यान करने की चेष्टा ने मुझे भरोसा दिलाया है कि जिनसे मैंने बात कही है, वे कहने योग्य थे।

निर्वाण उपनिषद् समाप्त !

निर्वाण की यात्रा प्रारंभ !!

ईशावास्योपनिषद्

साधना-शिविर, माउण्ट आबू, राजस्थान में भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिनांक ४ अप्रैल से १० अप्रैल १९७१ तक दिए गए १३ प्रवचन

प्रवचन-क्रम — पृष्ठ संख्या

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है ।
तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है ।
ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

प्रवचन : १६
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ४ अप्रैल, १९७१

वह पूर्ण है

ईशावास्योपनिषद् का यह महावाक्य कई अर्थों में अनूठा है । एक तो इस अर्थ में कि ईशावास्य उपनिषद् इस महावाक्य पर शुरू भी होता है और पूरा भी । जो भी कहा जाने वाला है, जो भी कहा जा सकता है, वह इस सूत्र में पूरा आ गया है । जो समझ सकते हैं उनके लिए ईशावास्य आगे बढ़ाने की कोई भी जरूरत नहीं है । जो नहीं समझ सकते हैं शेष पुस्तक उनके लिए ही कही गयी है । इसीलिए साधारणतः 'ओम् शान्तिः शान्ति शान्तिः' का पाठ, जो कि पुस्तक के अन्त में होता है, इस पहले वचन के ही अन्त में है । जो जानते हैं, उनके हिसाब से बात पूरी हो गयी । जो नहीं जानते हैं उनके लिए सिर्फ शुरू होती है ।

इसलिए भी यह महावाक्य बहुत अद्भुत है कि पूरब और पश्चिम के सोचने के ढंग का भेद इस महावाक्य से स्पष्ट होता है । दो तरह के तर्क, दो तरह की लॉजिक-सिस्टम्स विकसित हुई हैं दुनिया में —एक यूनान में, एक भारत में । यूनान में जो तर्क की पद्धति विकसित हुई उससे पश्चिम के सारे विज्ञान का जन्म हुआ और भारत में जो विचार की पद्धति विकसित हुई उससे धर्म का जन्म हुआ । दोनों में कुछ बुनियादी भेद हैं । और सबसे पहला भेद यह है कि पश्चिम में, यूनान ने जो तर्क की पद्धति विकसित की, उसकी समझ है कि निष्कर्ष, 'कनक्लूजन' हमेशा अन्त में मिलता है । साधारणतः ठीक मालूम होती है बात । हम खोजेंगे सत्य को, तो खोज पहले होगी, विधि पहले होगी, प्रक्रिया पहले होगी, निष्कर्ष तो अन्त में हाथ आयेगा । इसलिए यूनानी चिन्तन पहले सोचेगा, खोजेगा, अन्त में निष्कर्ष देगा । भारत ठीक उल्टा सोचता है । भारत कहता है, जिसे हम खोजने जा रहे हैं वह सदा से मौजूद है । बह हमारी खोज के बाद में प्रकट नहीं होता, हमारी खोज के पहले ही मौजूद है । जिस सत्य का उद्घाटन होगा वह सत्य, हम नहीं थे तब भी था । हमने जब नहीं खोजा था, तब भी था । हम जब नहीं जानते थे, तब भी उतना ही था, जितना कि जब हम जान लेंगे, तब होगा । खोज से सत्य सिर्फ हमारे अनुभव में प्रकट होता है । सत्य निर्मित नहीं होता । सत्य हमसे

पहले मौजूद है। इसलिए भारतीय तर्कणा पहले निष्कर्ष को बोल देती है फिर प्रक्रिया की बात करती है—पहले निष्कर्ष, फिर प्रक्रिया। यूनान में पहले प्रक्रिया, फिर खोज, फिर निष्कर्ष।

यहां एक बात और ख्याल में ले लेनी चाहिए। जो लोग सोच-विचार करके सत्य को पायेंगे उनके लिए यूनान की तर्क-पद्धति ठीक मालूम पड़ेगी। सोचना-विचारना ऐसे है जैसे एक छोटे से दिये को लेकर महा-अंधकार से घिरी हुई रात्रि में खोजने को निकले। रात है गहरी, अंधेरा है बहुत, दिए की रोशनी बहुत कम, दो-चार कदमों तक पड़ती है। कुछ दिखायी पड़ता है, बहुत-कुछ अनदिखा रह जाता है। जो दिखाई पड़ता है उसके बाबत जो भी निष्कर्ष लिये जाते हैं वह अस्थायी 'टेन्टेटिव' होंगे। थोड़ी देर बाद कुछ और भी दिखाई पड़ेगा, जिसके दिखाई पड़ने के बाद निष्कर्ष को बदलना जरूरी होगा। फिर थोड़ी देर बाद कुछ और दिखाई पड़ेगा, और निष्कर्ष को पुनः बदलना जरूरी होगा। इसलिए पश्चिम का विज्ञान, चूंकि यूनान के तर्क को मान कर चलता है, उसका कोई भी निष्कर्ष अन्तिम नहीं हो सकता। उसके सभी निष्कर्ष अस्थायी, कामचलाऊ, अभी जितना जानते हैं उस पर आधारित हैं। कल जो जाना जाएगा उससे बदलाहट हो जाएगी। इसलिए पश्चिम का कोई भी सत्य निरपेक्ष एब्सलूट नहीं है। पूर्ण नहीं है। सभी सत्य अपूर्ण हैं और यह बड़े मजे की बात है कि सत्य अपूर्ण हो नहीं सकता। जो भी अपूर्ण होगा वह असत्य ही होगा। और जिसे हमें कल बदलना पड़ेगा वह असल में आज भी सत्य नहीं है, सिर्फ मालूम पड़ता है। जिसे हमें कभी भी नहीं बदलना पड़ेगा वही सत्य हो सकता है। इसलिए पश्चिम में जिसे वे सत्य कहते हैं, वह केवल आज जितना हम जानते हैं उस जानने पर निर्भर असत्य है जो कि कल के जानने से रूपान्तरित होगा, परिवर्तित होगा।

भारत की पद्धति सत्य को दिया लेकर खोजने की नहीं है। भारत की पद्धति ऐसी है जैसे अंधेरी रात हो, गहन अंधकार हो और बिजली कौंध जाए। बिजली कौंधे और सभी कुछ एक साथ साइमलटेनिअसलि दिखाई पड़ जाए। थोड़ा पहले दिखाई पड़े, थोड़ा बाद में दिखाई पड़े, फिर थोड़ा बाद में दिखाई पड़े, ऐसा नहीं—एकदम से उद्घटित रिविलेशन हो जाए, सब एकदम से उघड़ जाए। सब रास्ते जो दूर क्षितिज तक फैले हुए हैं, सभी कुछ जो है, बिजली की कौंध में इकट्ठा दिखाई पड़ जाए। फिर उसमें बदलने का कोई उपाय न रह जाएगा, क्योंकि पूरा ही जान लिया गया। यूनान में—जिसे वे तर्क लॉजिक कहते हैं, वह विचार के द्वारा सत्य की खोज है। भारत में हम जिसे अनुभूति कहते हैं, प्रज्ञा इन्टयूशन कहते हैं वह बिजली की कौंध की तरह सारी चीजों को एक साथ प्रकट कर जाने वाली है। इसलिए सत्य पूरा का पूरा जैसा है वैसा ही प्रतिफलित होता है। फिर उसमें कुछ

परिवर्तन करने का उपाय नहीं रह जाता। इसलिए महावीर ने जो कहा है, उसमें बदलने की कोई जगह नहीं है। कृष्ण ने जो कहा है, उसमें बदलने की कोई जगह नहीं है। बुद्ध ने जो कहा है, उसमें बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कभी-कभी पश्चिम के लोग चिन्ता और विचार में पड़ जाते हैं कि महावीर को हुए पच्चीस सौ साल हुए, क्या उनकी बात अभी भी सही है? ठीक है उनका पूछना। क्योंकि पच्चीस सौ साल में अगर दिए से हम सत्य को खोजते हों तो पच्चीस हजार बार बदलाहट हो जानी चाहिए। रोज नए तथ्य आविष्कृत होंगे और पुराने तथ्य को हमें रूपांतरित करना पड़ेगा। लेकिन महावीर, कृष्ण या बुद्ध के सत्य रिव्हीलीशन्स हैं। दिया लेकर खोजे गये नहीं—निर्विचार की कौंध, निर्विचार की बिजली की चमक में देखे गये, जाने गये और उघाड़े गए सत्य हैं। जो सत्य महावीर ने जाना उसमें महावीर एक-एक कदम सत्य को नहीं जान रहे हैं, अन्यथा पूर्ण सत्य कभी भी नहीं जाना जा सकेगा। महावीर पूरे के पूरे सत्य को एक साथ जान रहे हैं।

इस महाकाव्य से मैं आपको यह कहना चाहता हूं कि इस छोटे-से दो वचनों के महावाक्य में पूरब की प्रज्ञा ने जो भी खोजा है वह सब का सब इकट्ठा मौजूद है। वह पूरा-का-पूरा मौजूद है। इसलिए भारत में हम कहते हैं निष्कर्ष पहले, प्रक्रिया बाद में। पहले घोषणा कर देते हैं सत्य क्या है, फिर वह सत्य कैसे जाना जा सकता है, वह सत्य कैसे जाना गया है, वह सत्य कैसे समझाया जा सकता है, उसके विवेचन में पड़ते हैं। यह घोषणा है। जो घोषणा से ही पुरी बात समझ लें, उनके लिए शेष किताब बेमानी है। पूरे उपनिषद् में अब और कोई नई बात नहीं कही जाएगी। लेकिन बहुत-बहुत मार्गों से इसी बात को पुनः पुनः कहा जाएगा। जिनके पास बिजली कौंधने का कोई उपाय नहीं है, जो जिद पकड़ कर बैठे हैं कि दिए से ही सत्य को खोजेंगे, शेष उपनिषद् उनके लिए है। अब दिए को पकड़ कर, बाद की पंक्तियों में एक-एक टुकड़े के सत्य की बात की जाएगी। लेकिन पूरी बात इसी सूत्र पर हो जाती है। इसलिए मैंने कहा कि यह सूत्र अनूठा है। सब इसमें पूरा कह दिया गया है। उसे हम समझ लें कि क्या कह दिया गया है।

कहा है कि पूर्ण से पूर्ण पैदा होता है, फिर भी पीछे सदा पूर्ण शेष रह जाता है। और अन्त में, पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण कुछ ज्यादा नहीं हो जाता। वह उतना ही होता है, जितना था। यह बहुत ही गणित-विरोधी एन्टी-मैथमेटिकल वक्तव्य है। पी० डी० ऑस्पैंस्की ने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, 'टर्शियम आर्गानम'। किताब के शुरू में उसने एक छोटा-सा वक्तव्य दिया है। पी० डी० ऑस्पैंस्की रूस का एक बहुत बड़ा गणितज्ञ था। बाद में, पश्चिम के एक बहुत अद्भुत फकीर गुरुजिएफ के साथ वह एक रहस्यवादी सन्त हो गया।

लेकिन उसकी समझ गणित की है—गहरे गणित की। उसने अपनी इस अद्भुत किताब के पहले ही जो वक्तव्य दिया है, उसमें कहा है कि दुनिया में केवल तीन अद्भुत किताबें हैं—एक किताब है, अरिस्टॉटल की, पश्चिम में जो तर्क-शास्त्र का पिता है, उसकी। उस किताब का नाम है, आर्गानम। आर्गानम का अर्थ होता है ज्ञान का सिद्धान्त। फिर ऑस्पैंस्की ने कहा है कि दूसरी महत्वपूर्ण किताब है रोजर बैकन की, उस किताब का नाम है नोवम आर्गानम—ज्ञान का नया सिद्धान्त। और तीसरी किताब वह कहता है मेरी है, खुद उसकी, उसका नाम है टर्शियम आर्गानम—ज्ञान का तीसरा सिद्धान्त। और इस वक्तव्य को देने के बाद उसने एक छोटी-सी पंक्ति लिखी है जो बहुत हैरानी की है। उसमें उसने लिखा है, बिफोर द फर्स्ट एक्जीस्टेड द थर्ड वाज। इसके पहले कि पहला सिद्धान्त दुनिया में आया, उसके पहले भी तीसरा था। पहली किताब लिखी है अरस्तू ने दो हजार साल पहले। दूसरी किताब लिखी है तीन सौ साल पहले बैकन ने। और तीसरी किताब अभी लिखी गई है कोई चालीस साल पहले। लेकिन ऑस्पैंस्की कहता है कि पहली किताब थी दुनिया में उसके पहले तीसरी किताब मौजूद थी। और तीसरी किताब उसने अभी चालीस साल पहले लिखी है! जब भी कोई उससे पूछता कि यह क्या पागलपन की बात है? तो ऑस्पैंस्की कहता कि यह जो मैंने लिखा है, यह मैंने नहीं लिखा, यह मौजूद था, मैंने सिर्फ उद्घाटित किया है।

न्यूटन नहीं था, तब भी जमीन में ग्रेविटेशन था। तब भी जमीन पत्थर को ऐसे ही खींचती थी जैसे न्यूटन के बाद खींचती है। न्यूटन ने ग्रेविटेशन के सिद्धान्त को रचा नहीं, उघाड़ा। जो ढंका था उसे खोला। जो अनजाना था उसे परिचित बनाया। लेकिन न्यूटन से पहले भी ग्रेविटेशन था, नहीं तो न्यूटन भी नहीं हो सकता था। ग्रेविटेशन के बिना तो न्यूटन भी नहीं हो सकता था। न्यूटन के बिना ग्रेविटेशन हो सकता है। जमीन की कशिश न्यूटन के बिना हो सकती है। लेकिन न्यूटन जमीन को कशिश के बिना नहीं हो सकता। न्यूटन के पहले भी जमीन की कशिश थी, लेकिन जमीन की कशिश का पता नहीं था। ऑस्पैंस्की कहता है, उसका तीसरा सिद्धान्त पहले सिद्धान्त के भी पहले मौजूद था। पता नहीं था, यह दूसरी बात है। और पता नहीं था, यह कहना भी शायद ठीक नहीं। क्योंकि ऑस्पैंस्की ने अपनी पूरी किताब में जो कहा है वह इस छोटे-से सूत्र में आ गया है। ऑस्पैंस्की की टर्शियम आर्गानम बड़ी कीमती किताब है। उसका दावा झूठा नहीं है, जब वह कहता है कि दुनिया में तीन महत्वपूर्ण किताबें हैं और तीसरी मेरी है। ऐसा किसी अहंकार के कारण वह नहीं कहता। यह तथ्य है। उसकी किताब इतनी ही कीमती है। अगर वह न कहता तो वह झूठी विनम्रता होती। वह सच कह रहा है। विनम्रता-पूर्वक कह रहा है। यही बात ठीक है। उसकी किताब इतनी ही महत्वपूर्ण है।

लेकिन उसने जो भी कहा है अपनी पूरी किताब में, वह उपनिषद् के इस छोटे-से सूत्र में मौजूद है।

उसने पूरी किताब में यह सिद्ध करने की कोशिश की कि दुनिया में दो तरह के गणित हैं—एक गणित है, जो कहता है, दो और दो चार होते हैं। साधारण गणित है। हम सब जानते हैं। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज के अंशों को जोड़ें तो वह उसके पूर्ण से ज्यादा कभी नहीं हो सकती। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज को तोड़ लें, और उसके टुकड़ों को जोड़ें तो टुकड़ों का जोड़ कभी भी पूरे से ज्यादा नहीं हो सकता है। बात सीधी है। अगर हम एक रुपये को तोड़ लें सौ नये पैसे में तो सौ नये पैसे का जोड़ रुपये से ज्यादा कभी नहीं हो सकता। या कि कभी हो सकता है? अंशों का जोड़ कभी भी पूर्ण से ज्यादा नहीं हो सकता, यह सीधा-सा गणित है। लेकिन ऑस्पैंस्की कहता है कि एक और गणित है, एक और ऊंचा गणित (हायर-मैथमेटिक्स) भी है और वही जीवन का गहरा गणित है। वहां दो और दो जरूरी नहीं है कि चार ही होते हों। कभी वहां दो और दो पांच भी हो जाते हैं। और कभी वहां दो और दो तीन भी रह जाते हैं। और वह कहता है कि कभी-कभी अंशों का जोड़ पूर्ण से ज्यादा भी हो जाता है। इसे थोड़ा समझना पड़ेगा। और इसे हम न समझ पायें तो ईशावास्य के पहले और अन्तिम सूत्र को भी नहीं समझ पायेंगे।

एक चित्रकार एक चित्र बनाता है। अगर हम हिसाब लगाने बैठें तो रंगों की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नहीं। केनवस की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नहीं। लेकिन कोई भी श्रेष्ठ कृति, कोई भी श्रेष्ठ चित्र रंग और केनवस का जोड़ नहीं है, जोड़ से कुछ ज्यादा है—समथिंग मोर। एक कवि एक गीत लिखता है। उसके गीत में जो भी शब्द होते हैं वह सभी शब्द सामान्य होते हैं। उन शब्दों को हम रोज बोलते हैं। शायद ही उस कविता में एकाध ऐसा शब्द मिले जो हम न बोलते हों। न भी बोलते हों तो परिचित तो होते हैं। फिर भी कोई कविता शब्दों का सिर्फ जोड़ नहीं है। शब्दों के जोड़ से कुछ ज्यादा है—समथिंग मोर। एक व्यक्ति सितार बजाता है। सितार को सुनकर हृदय पर जो परिणाम होते हैं वे केवल ध्वनि के आघात नहीं हैं। ध्वनि के आघात से कुछ ज्यादा हम तक पहुंच जाता है। इसे ऐसा समझें—एक व्यक्ति आंख बन्द करके आपके हाथ को प्रेम से छूता है, स्पर्श वही होता है। वही व्यक्ति क्रोध से भर कर आपके हाथ को छूता है, स्पर्श वही होता है। जहां तक स्पर्श के शारीरिक मूल्यांकन का सवाल है, दोनों स्पर्श में कोई बुनियादी फर्क नहीं होता। फिर भी जब कोई प्रेम से भर कर हृदय को छूता है तो उसी छूने में से कुछ निकलता है जो बहुत भिन्न है। और जब कोई क्रोध से छूता है तो कुछ निकलता है जो बिल्कुल और है। और कोई अगर बिल्कुल निष्पक्षता से, तटस्थता से छूता है तो कुछ भी नहीं

निकलता है। छूना एक-सा है, स्पर्श एक-सा है।

अगर हम भौतिक शास्त्री से पूछने जायेंगे तो वह कहेगा कि हाथ पर एक आदमी ने हाथ को छूआ तो कितना दबाव पड़ा, वह नापा जा सकता है। हाथ पर कितना विद्युत् का आघात पड़ा वह भी नापा जा सकता है। एक हाथ से दूसरे हाथ में कितनी ऊष्मा, कितनी गर्मी गयी, वह भी नापी जा सकती है। लेकिन वह ऊष्मा, वह हाथ का दबाव, किसी भी रास्ते से बता न सकेगा कि जिस आदमी ने छुआ उसने क्रोध से छुआ था कि प्रेम से छुआ था। फिर भी स्पर्श के भेद हम अनुभव करते हैं। निश्चित ही स्पर्श, केवल हाथ की गर्मी, हाथ का दबाव, विद्युत् के प्रभाव का जोड़ नहीं है, कुछ ज्यादा है। जीवन कुछ श्रेष्ठतर गणित पर निर्भर है। जिन चीजों को हमने जोड़ा था उनसे नयी चीज पैदा हो जाती है, उनसे श्रेष्ठतर का जन्म हो जाता है। उनसे महत्त्वपूर्ण पैदा हो जाता है। क्षुद्रतम से भी महत्त्वपूर्ण पैदा हो जाता है। जिन्दगी साधारण गणित नहीं है। बहुत श्रेष्ठतर, गहरा और सूक्ष्म गणित है। ऐसा गणित है जहां आंकड़े बेकार हो जाते हैं। जहां गणित के जोड़ और घटाने के नियम बेकार हो जाते हैं। और जिस आदमी को गणित के पार, जिन्दगी के रहस्य का पता नहीं है उस आदमी को जिन्दगी का कोई भी पता नहीं है।

इस महाकाव्य में बड़ी अजीब बातें कही गयी हैं हायर मैथमेटिक्स की। कहा है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। साधारण गणित के हिसाब से बिल्कुल गलत बात है। अगर हम किसी भी चीज में से कुछ निकाल लेंगे तो उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना था। कुछ कम हो जायेगा। हो ही जाना चाहिए अन्यथा हमारे निकाले हुए का क्या हुआ? अगर मैं एक तिजोरी में से दस रुपये निकाल लूं, उसमें अरबों रुपये भरे हों तो भी कम हो गये। दस पैसे भी निकाल लूं तो भी कम हो गये। उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना पहले था। कितनी ही बड़ी तिजोरी हो—कुबेर का खजाना हो कि सोलोमन का, अगर दस नये पैसे भी हमने उसमें से निकाले तो अब तिजोरी उतनी ही नहीं है जितनी पहले थी, कुछ कम हो गयी। और कितना ही बड़ा खजाना हो, अगर हम दस कौड़ी उसमें डाल दें तो अब उतना ही नहीं रही जितनी थी। कुछ जुड़ गया और ज्यादा हो गयी। लेकिन यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, थोड़ा नहीं—दस पैसे नहीं निकालते—पूरी तिजोरी ही बाहर निकाल लेते हैं, पूर्ण से पूर्ण ही बाहर निकाल लेते हैं। फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। लगता है किसी पागल ने कहा है जिसे गणित का कुछ भी पता नहीं। पहली कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है कि हम कुछ निकालेंगे तो पीछे कमी हो जायेगी। और थोड़ा निकालेंगे तो भी कमी हो जायेगी। अगर पूरा निकाल लेंगे तब तो पीछे कुछ भी नहीं बचना चाहिए। पर यह सूत्र कहता है कि कुछ नहीं, पूरा ही बच जाता है।

निश्चित ही, तिजोरी को ही जो समझते हैं वह इसे नहीं समझ पायेंगे। तब किसी और दिशा से समझना पड़ेगा।

जब आप किसी को प्रेम देते हैं तो आपके पास प्रेम कम होता है? आप पूरा ही प्रेम दे डालते हैं तब क्या आपके पास कुछ कमी हो जाती है? नहीं। आदमी के पास इस सूत्र को समझने के लिए जो निकटतम शब्द है वह प्रेम है। उससे ही हमें पकड़ना पड़ेगा। सच तो यह है कि प्रेम आप कितना ही दे डालें उतना ही बच रहता है, जितना था। उसमें कोई भी कमी नहीं आती। बल्कि कुछ तो कहते हैं कि वह और बढ़ जाता है। जितना आप देते हैं, उतना बढ़ जाता है। जितना आप बांटते हैं, उतना गहन होता चला जाता है। जितना लुटाते हैं, उतना ही पाते हैं कि और-और उपलब्ध होता चला जा रहा है। जो अपने सारे प्रेम को फेंक दे बाहर, वह अनन्त प्रेम का मालिक हो जाता है।

पूर्ण से पूर्ण निकल आए और पीछे पूर्ण ही शेष रह जाए तो इसका अर्थ हुआ कि यह गणित से नहीं समझा जा सकेगा, प्रेम से समझना पड़ेगा। इसलिए जो आइन्स्टीन से पास समझने जाएंगे, वह नहीं समझ पाएंगे। मीरा के पास समझने जाएं तो शायद समझ में आ जाए। चैतन्य के पास समझने जाएं तो शायद समझ में आ जाए। क्योंकि यह किसी और ही आयाम, किसी और ही डायमेंशन की बात है जहां देने से घटता नहीं। आपके पास सिवाए प्रेम के और कोई ऐसा अनुभव नहीं है जिससे समझने की पहली चोट हो सके। पता नहीं, प्रेम का अनुभव भी है या नहीं, क्योंकि सौ में से निन्यानबे को वह भी नहीं है। अगर आपको प्रेम दे देने से कुछ कमी मालूम पड़ती हो तो आप समझ लेना कि आपको प्रेम का कोई अनुभव नहीं है। अगर आप प्रेम किसी को देते हों और भीतर लगता हो कि कुछ खाली हुआ तो आप समझ लेना कि जो आपने दिया है वह कुछ और होगा, प्रेम नहीं हो सकता। वह फिर तिजोरी की ही दुनिया की कोई चीज होगी—तुलने वाली चीज। आंकड़ों में आंकी जा सके, तराजू में तौली जा सके, गजों से नापी जा सके, ऐसी कोई चीज होगी—मेजरेबल। ध्यान रहे, जो मेजरेबल है वह घट जाएगा। जो भी नापा जा सकता है उसमें से कुछ भी निकालिएगा तो घट जाएगा। जो इम्मेजरेबल है, जो नहीं नापा जा सकता, अमाप है, वही, केवल वही, कितना ही निकाल लीजिए तो पीछे उतना ही बचेगा जितना था। अगर आपको ऐसा कभी भी लगा हो कि आपके प्रेम के देने से प्रेम कम हो जाता है—और आप सबको लगा होगा, करीब-करीब सबको। इसीलिए तो हम प्रेम पर मालकियत करते हैं। अगर मुझे कोई प्रेम करता है तो मैं चाहता हूं कि वह किसी और को प्रेम न करे। क्योंकि बंट जाएगा। कम हो जाएगा—तो पजेशन। इसीलिए मैं चाहता हूं कि जो मुझे प्रेम करता है वह दूसरे की तरफ प्रेम की नजर से भी न देखे। उसकी प्रेम की नजर किसी को मेरे लिए जहर बन जाती है। क्योंकि मैं जानता हूं कि घटा जाता है।

कम हुआ जाता है। और अगर घट रहा हो, कम हो रहा हो तो समझना कि प्रेम का कोई पता ही नहीं है। अगर मुझे प्रेम का पता हो तो जिसे मैं प्रेम करता हूं उससे मैं चाहूंगा कि वह जाए और लुटाए सारी दुनिया को। क्योंकि जितना ही वह लुटाएगा उतना ही गहन उसको प्रकट होगा। जितना गहन उसे प्रकट होगा उतना ही वह मेरे प्रति भी प्रेम से गहन और भरपूर हो जाएगा।

लेकिन नहीं, हम हायर मैथमेटिक्स को नहीं जानते। हम एक लोअर मैथमेटिक्स में हैं। एक बहुत ही साधारण गणित की दुनिया में हम जीते हैं जहां देने से सब चीजें कम हो जाती हैं इसलिए डर स्वाभाविक है। पत्नी डरती है कि पति किसी को प्रेम न दे दे। पति डरता है कि पत्नी किसी को प्रेम न दे दे। किसी और की तो दूर है बात, घर में बच्चा भी पैदा होता है तो भी पत्नी और पति में कलह शुरू हो जाती है। बेटा भी प्रेम बांटता है तो मां का तो पति को अड़चन होती है। अगर बेटी बाप के प्रेम को बांटती है तो मां को तकलीफ होती है। क्योंकि जिस प्रेम को हम जानते हैं, वह प्रेम नहीं। उसकी तो कसौटी ही यही है कि जो बांटने से घटता है, उसे आप भूलकर भी प्रेम मत जानना। और कठिनाई यह है कि प्रेम के अलावा और कोई अनुभव नहीं है जो इम-मेजरेबल है। और तो सब मेजरेबल है—जो भी हमारे पास है सब नापा जा सकता है। हमारा क्रोध नापा जा सकता है, हमारी घृणा नापी जा सकती है, हमारा सब नापा जा सकता है। सिर्फ एक अनुभव है प्रेम का, जो कि अमाप है। वह भी हम सबके पास नहीं है। इसीलिए तो हम परमात्मा को समझने में बड़ी कठिनाई अनुभव करते हैं। जो आदमी प्रेम को समझ लेगा वह परमात्मा को समझने की फिक्र ही छोड़ देगा। क्योंकि जिसने समझा प्रेम को उसने समझा परमात्मा को। वे एक ही गणित के हिस्से हैं। वे एक ही डायमेंशन, एक ही आयाम की चीजें हैं।

जिसने पहचाना प्रेम को वह कहेगा परमात्मा न भी मिले तो चलेगा। प्रेम मिल गया, काफी है। बात हो गयी। परिचित हो गये हम उस श्रेष्ठतर जगत् से। जहां ऐसी चीजें होती हैं जो बांटने से घटती नहीं हैं। कितना ही दे डालो, उतनी ही शेष रह जाती हैं जितनी थीं। और ध्यान रहे, जिस दिन ऐसा अनुभव होता है कि मेरे पास ऐसा प्रेम है, जो मैं दे डालूं तो उतना ही बचता है जितना था, उसी दिन दूसरे से प्रेम की मांग क्षीण हो जाती है। क्योंकि कितना ही प्रेम मिल जाय मेरा बढ़ नहीं सकता। ध्यान रहे, जो चीज देने से घट नहीं सकती उस चीज को लेने से बढ़ाया नहीं जा सकता। यह एक ही साथ होगा। जब तक आप दूसरे से प्रेम मांगते हैं, समझना प्रेम का अनुभव नहीं हुआ—और हम सब मांगते है, बच्चे ही नहीं बूढ़े भी मांगते हैं। हम सब प्रेम मांगे चले जाते हैं। हमारी पूरी जिन्दगी प्रेम की भिक्षा है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं हमारी सारी तकलीफ एक है, हमारा सारा तनाव, हमारी सारी एंजाइटी, हमारी सारी चिन्ता एक है।

और वह चिन्ता यही है कि प्रेम कैसे मिले। और जब प्रेम नहीं मिलता तो हम फिर प्रेम के परिपूरक खोजते रहते हैं। लेकिन हम जिन्दगी भर प्रेम खोज रहे हैं। मांग रहे हैं। क्यों मांग रहे ? आशा से कि मिल जाएगा तो बढ़ जायगा। इसका मतलब यह हुआ कि हमें फिर प्रेम का कोई पता नहीं है। क्योंकि जो चीज मिलने से बढ़ जाय, वह प्रेम नहीं है। कितना ही प्रेम मिल जाय उसे दोहरी बातों का पता चल जाता है। एक, कितना ही मैं दूं घटेगा नहीं। और कितना ही मुझे मिले बढ़ेगा नहीं। पूरा सागर मेरे ऊपर टूट जाए प्रेम का तो भी रत्ती भर बढ़ती नहीं होगी। और पूरा सागर मैं लुटा दूं तो भी रत्ती भर कमी नहीं होगी।

पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। परमात्मा से यह पूरा संसार निकल आता है। छोटा नहीं—अनन्त, असीम, छोर नहीं, ओर नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं—इतना विराट् सब निकल आता है। फिर भी परमात्मा पूर्ण ही रह जाता है। और कल यह सब कुछ उस परम अस्तित्व में वापस गिर जायेगा, वापस लीन हो जायेगा तो भी वह पूर्ण ही होगा। न ही कोई घटती होगी, न ही कोई बढ़ती होगी। इसे एक दिशा से और समझने की कोशिश करें। सागर हमारे अनुभव में—दिखाई पड़ने वाले अनुभव में, इन्द्रियों के जगत् में घटता बढ़ता मालूम नहीं पड़ता—वैसे घटता-बढ़ता है। बहुत बड़ा है लेकिन अनन्त नहीं, विराट् है। नदियां गिरती रहती हैं सागर में, बाहर नहीं आतीं। आकाश से बादल पानी को भरते रहते हैं। उलीचते रहते हैं सागर को। कोई कमी नहीं आती, अभाव नहीं हो जाता। फिर भी घटता तो है ही, क्योंकि विराट् है—अनन्त नहीं है, असीम नहीं है। विराट् है सागर, इतनी नदियां गिरती हैं कोई इंच भर फर्क नहीं मालूम पड़ता। ब्रह्मपुत्र, गंगाएं, ह्वांगहो और अमेजन, कितना पानी डालती रहती हैं प्रतिपल। सागर वैसा का वैसा रहता है। हर रोज सूरज उलीचता रहता है किरणों से पानी को। आकाश में जितने बादल भर जाते हैं वह सब सागर से आते हैं। फिर भी सागर जैसा था वैसा रहता है। फिर भी मैं कहता हूं कि सागर का अनुभव सच में ही न घटने न बढ़ने का नहीं। वह घटता-बढ़ता रहता है। लेकिन इतना बड़ा है कि हमें पता नहीं चलता।

आकाश हमारे अनुभव में एक दूसरी स्थिति है। सब कुछ आकाश में है। आकाश का अर्थ है, जिसमें सब-कुछ है। अवकाश—स्पेस, जिसमें सारी चीजें हैं। ध्यान रहे, इसलिए आकाश किसी में नहीं हो सकता। और अगर हम सोचते हों कि आकाश को भी होने के लिए किसी में होना पड़े तो फिर हमें एक और महत् आकाश की कल्पना करनी पड़ेगी। और फिर हम मुश्किल में पड़ेंगे। फिर जिसको तार्किक कहते हैं—इनफिनिट रिग्रेस, फिर हम उस अन्तहीन नासमझी में पड़ जायेंगे। क्योंकि फिर वह जो महत् आकाश है वह किसमें होगा ? फिर इसका कोई अन्त नहीं होगा। फिर और महत् आकाश—फिर-फिर वही सवाल होगा।

नहीं, इसलिए आकाश में सब है और आकाश किसी में नहीं है। आकाश सबको घेरे हुए है और आकाश अनघिरा है। आकाश का अर्थ है, जिसमें सब है और जो किसी में नहीं है। इसलिए आकाश के भीतर सब-कुछ निर्मित होता रहता है, लेकिन आकाश उससे बड़ा नहीं हो जाता। और आकाश के भीतर सब कुछ विसर्जित होता रहता है, आकाश उससे छोटा नहीं हो जाता। आकाश जैसा है वैसा है—जस का तस—ऐज इट इज। आकाश अपनी सचनेस में, अपने तथाता में रहता है। आप मकान बना लेते हैं, आप महल खड़ा कर लेते हैं, आपका महल गिर जाएगा, कल खण्डहर हो जाएगा, मिट्टी होकर नीचे गिर जाएगा। आकाश चूमने वाले महल जमीन पर खो जायेंगे वापस, आकाश को पता भी नहीं चलेगा। आपने जब महल बनाया था तब आकाश छोटा नहीं हो गया था। आपका जब महल गिर जाएगा तब आकाश बड़ा नहीं हो जाएगा। आकाश में ही बनता है महल और आकाश में ही खो जाता है। आकाश में कोई अन्तर पैदा इससे नहीं होता है। शायद, आकाश और भी निकटतर—जिस बात को मैं आपको समझाना चाहता हूं, उसके और निकटतर है। फिर भी, आकाश कितना ही अछूता मालूम पड़ता हो, कितना ही अस्पर्शित मालूम पड़ता हो, हमारे निर्माण से, हमारे अनुभव में ऐसा आता है कि आकाश भी कम-ज्यादा होता होगा। क्योंकि जहां मैं बैठा हूं, अगर आप वहीं बैठना चाहें तो नहीं बैठ सकेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि आकाश को मैंने घेर लिया। अन्यथा आप भी मेरी जगह बैठ सकते हैं। एक जगह हम एक ही मकान बना सकते हैं, उस जगह दूसरा मकान न बना सकेंगे, उसी जगह तीसरा न बना सकेंगे। क्यों? क्योंकि जो एक मकान हमने बनाया उसने आकाश को घेर लिया। अगर आकाश को उसने घेर लिया तो आकाश किसी खास अर्थ में कम हो गया। इसीलिए तो मकान हमें ऊपर उठाने पड़ रहे हैं। मकान इसीलिए ऊपर उठाने पड़ रहे हैं कि जमीन की सतह पर जो आकाश है वह कम पड़ता जा रहा है। जमीन के दाम बढ़ते चले जाते हैं तो मकान ऊपर उठने शुरू हो जाते हैं। नीचे दाम बढ़ने लगते हैं, नीचे का आकाश मंहगा होने लगा, क्योंकि भरने लगा, ज्यादा भरने लगा। अब वहां जगह कम रह गयी तो मकान को ऊपर उठाना पड़ता है। जल्दी ही हम मकान को जमीन के नीचे भी ले जाना शुरू करेंगे। क्योंकि ऊपर उठने की भी सीमा है। ऊपर का आकाश भी भरा जाता है। आकाश भी भरता मालूम पड़ता है और जब भरता है तो उसका अर्थ है कि उतनी जगह कम हो गयी। उतना रिक्त स्थान कम हो गया। उतनी एम्पटी स्पेस कम हो गयी। जिस जमीन पर हम बैठे हैं, इस जगह पर अब दूसरी जमीन पैदा नहीं हो सकती। माना कि अनन्त आकाश चारों तरफ शून्य की तरह फैला हुआ है, कोई कमी नहीं है। लेकिन इतनी जगह पर तो रुकावट हो गयी। इतना आकाश तो कम हुआ, भर गया।

परमात्मा इतना भी नहीं भरता। सागर मैंने कहा कि बहुत छोटा है—परमात्मा के हिसाब से। हमारे हिसाब से बहुत बड़ा है। गंगाओं और ब्रह्मपुत्रों के हिसाब से बहुत बड़ा है। कोई अन्तर नहीं पड़ता उनके गिरने से। फिर भी अन्तर पड़ता है। नाप-तौल में नहीं आता, लेकिन अन्तर पड़ता है। आकाश और भी बड़ा है—हमारे सागरों और महासागरों से बहुत बड़ा है। फिर भी, आकाश भी भर जाता मालूम होता है। परमात्मा पर एक छलांग और लगानी पड़ेगी, वहां सारा तर्क तोड़ देना पड़ेगा। परमात्मा यानी अस्तित्व—जो है, सिर्फ है। इजनेस—होना जिसका गुण है। हम कुछ भी करें, उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इसे वैज्ञानिक किसी और ढंग से कहते हैं। वे कहते हैं हम किसी चीज को नष्ट नहीं कर सकते। इसका मतलब हुआ कि हम किसी चीज को 'है' पन के बाहर नहीं निकाल सकते। अगर हम एक कोयले के टुकड़े को मिटाना चाहें तो हम राख बना लेंगे। लेकिन राख रहेगी। हम उसे चाहे सागर में फेंक दें, वह पानी में घुल कर डूब जायेगी—दिखाई नहीं पड़ेगी, लेकिन रहेगी। हम उसके रूपों को मिटा सकते हैं, लेकिन उसकी इजनेस, उसके होने को नहीं मिटा सकते। उसका होना कायम रहेगा। हम कुछ भी करते चले जायें, उसके होने में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। होना बाकी रहेगा, हां, होने को हम शक्ल दे सकते हैं। हम हजार शक्लें दे सकते हैं। हम नये-नये रूप और आकार दे सकते हैं। हम आकार बदल सकते हैं, लेकिन जो है उसके भीतर, उसे हम नहीं बदल सकते। वह रहेगा। कल मिट्टी थी, आज राख है। कल लकड़ी थी, आज कोयला है। कल कोयला था, आज हीरा है। लेकिन है। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। 'है', कायम रहता है। परमात्मा का अर्थ है सारी चीजों के भीतर जो 'है'—पन 'इजनेस' है, जो अस्तित्व, एक्जिसटेंस है, होना है, वही। कितनी ही चीजें बनती चली जायें, उस होने में कुछ जुड़ता नहीं। और कितनी ही चीजें मिटती चली जायें, उस होने में कुछ कम होता नहीं। वह उतना का ही उतना—वही का वही—अलिप्त और असंग, और अस्पर्शित। पानी पर भी हम रेखा खींचते हैं तो कुछ बनता है, हालांकि मिट जाता है बनते ही। लेकिन परमात्मा पर इस सारे अस्तित्व से इतनी भी रेखा नहीं खिंचती। इतना भी नहीं बनता है।

इसलिए उपनिषद् का यह वचन कहता है कि पूर्ण से, उस पूर्ण से यह पूर्ण निकला। वह अज्ञात है, यह ज्ञात है। जो हमें दिखाई पड़ रहा है वह उससे निकला जो नहीं दिखाई पड़ रहा है। जिसे हम जानते हैं वह उससे निकला जिसे हम नहीं जानते हैं। जो अनुभव में आता है, वह उससे निकला जो हमारे अनुभव में नहीं आता है। इस बात को भी ठीक से ख्याल में ले लेना चाहिए। जो भी हमारे अनुभव में आता है वह सदा उससे निकलता है जो हमारे अनुभव में नहीं

आता। और जो हमें सदा दिखायी पड़ता है, वह उससे निकलता है जो अदृश्य है और जो हमें ज्ञात है, वह अज्ञात से निकलता है। और जो हमें परिचित है वह अपरिचित से आ रहा है। एक बीज हम बो दें और बीज से एक वृक्ष निकल आता है। अगर बीज को हम तोड़ें और जोड़ें और खण्ड-खण्ड कर डालें तो कहीं भी वृक्ष का कोई भी पता नहीं चलता है। कहीं कोई पता नहीं चलता। कहीं वे फूल नहीं मिलते जो कल निकल आयेंगे। कहीं वे पत्ते नहीं दिखाई पड़ते जो कल निकल आयेंगे। वे कहां से आते हैं ? वे अदृश्य से आते हैं। वे अदृश्य से निमित हो जाते हैं। प्रतिपल अदृश्य दृश्य में रूपान्तरित होता रहता है और दृश्य अदृश्य में खोता चला जाता है। प्रतिपल सीमाओं में असीम वापिस लौट आता है और प्रतिपल सीमाओं से असीम वापस लौट जाता है। ठीक ऐसे ही जैसे हमारी श्वास भीतर गयी और बाहर आयी। पूरा अस्तित्व ऐसे ही श्वास ले रहा है। इस अस्तित्व की श्वास को जो जानते हैं वह कहते हैं, सृष्टि और प्रलय। वह कहते हैं, अस्तित्व की एक श्वास जब भीतर आती है तो सृष्टि का निर्माण होता है—दि क्रिएशन। और जब अस्तित्व की श्वास बाहर आ जाती है तो प्रलय होती है—द इनहेलेशन। और अस्तित्व की एक श्वास हमारे लिए तो अनन्त, अस्तित्व है। उस बीच तो हम अनन्त जन्म लेते हैं—आते हैं और जाते हैं।

इस सूत्र में दोनों बातें कही हैं कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रहता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण, पूर्ण ही रहता है। वह पूर्ण अछूता, क्वांरा का क्वांरा ही रह जाता है। उसके क्वांरेपन में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता—उसकी वर्जिनिटी में कोई फर्क नहीं पड़ता। बड़ी मुश्किल बात है। मां से बेटा पैदा हो जाए और वह क्वांरी रह जाए ! सिर्फ जीसस की मां के बाबत ऐसी बात कही जाती है कि जीसस पैदा हुए और मरियम क्वांरी रह गयी। वह इसीलिए कही जाती है कि जीसस और मरियम को जिन्होंने जाना और पहचाना उन्होंने कहा, यह तो ठीक वैसा ही अस्तित्व का जन्म है जैसे कि पूर्ण से पूर्ण आता है। इसलिए ईसाई नहीं समझा पाते। ईसाई बड़ी मुश्किल में पड़ते हैं इस बात को पकड़ कर कि मरियम क्वांरी कैसे रह गयी ! उन्हें पता ही नहीं है उस गणित का जहां कि मां के बच्चा भी पैदा हो जाए और मां क्वांरी रह जाए। उस गणित का उन्हें कोई पता नहीं। हायर मैथेमेटिक्स का उन्हें कोई पता नहीं। बड़ी कठिनाई में है ईसाइयत, क्योंकि वे कहते हैं कि इसे कैसे समझायें ? यह हो नहीं सकता—इसलिए मिरेकिल है, चमत्कार है। यह हो तो नहीं सकता, लेकिन हुआ है, भगवान् ने कोई चमत्कार दिखाया है। लेकिन इस जगत् में भगवान् जो भी चमत्कार दिखाता है वह हर क्षण दिखा रहा है। इस जगत् में कोई चमत्कार नहीं होते और या फिर हर क्षण जो हो रहा है वह सब चमत्कार है—सब मिरेकल है। जब भी एक बीज से वृक्ष पदा होता है, तब चमत्कार होता

है। और जब भी एक मां से बेटा पैदा होता है तब चमत्कार होता है। नहीं, कठिनाई नहीं है, अगर कोई मां अपने को इस सूत्र में लीन कर ले कि पूर्ण से जब इतना बड़ा संसार निकल आता है और पीछे पूर्ण अछूता रह जाता है तो कौन-सी कठिनाई है ? अगर कोई इस सूत्र के साथ अपने को एक कर ले तो वह मां बन सकती है, बेटे को जन्म दे सकती है और क्वांरी बन सकती है।

इस सूत्र को ठीक से साधक समझ लें। और मैं तो आपको इसीलिए कह रहा हूं कि आप कुछ साधना करना चाहते हैं। साधक कहता ही नहीं क्योंकि कहने से क्या होगा। जानता है। जानता ही नहीं, क्योंकि अकेले जानने से क्या होगा ? जीता है। इसे देखें। मेरे समझाने से शायद उतनी आसानी से दिखायी न पड़े जितना प्रयोग करने से दिखायी पड़ जाएगा। कोई एक छोटा-सा काम करके देखें और पूरे वक्त जानते रहें कि हो रहा है, मैं नहीं कर रहा हूं। कोई भी काम करके देखें, खाना खाकर देखें। रास्ते पर चल कर देखें। किसी पर क्रोध करके देखें। और जानें कि हो रहा है। और पीछे खड़े देखते रहें कि हो रहा है। तब आपको इस सूत्र का राज मिल जाएगा। इसकी सीक्रेट-की, इसकी कुंजी आपके हाथ में आ जाएगी। तब आप पाएंगे कि बाहर कुछ हो रहा है और आप पीछे अछूते वही के वही हैं जो करने के पहले थे, और जो करने के बाद भी रह जाएंगे। तब बीच की घटना सपने की जैसी आएगी और खो जाएगी। संसार परमात्मा के लिए एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है। आपके लिए भी संसार एक स्वप्न हो जाए तो आप भी परमात्मा से भिन्न नहीं रह जाते। फिर दोहराता हूं—संसार परमात्मा के लिए एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है। और जब तक आपके लिए संसार एक स्वप्न से ज्यादा है तब तक आप परमात्मा से कम होंगे। जिस दिन आपको भी संसार एक स्वप्न जैसा हो जाएगा उस दिन आप परमात्मा हैं। उस दिन आप कह सकते हैं—अहम् ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूं।

यह बड़े मजे का सूत्र है। इस सूत्र में न मालूम कितनी बातें कही गयी हैं। इस सूत्र में यह कहा गया है कि वह पूर्ण आ जाता है निकल कर पूरा का पूरा। ध्यान रहे, पीछे पूरा रह जाता है, यह तो कहा ही है, साथ में यह भी कहा है कि वह पूरा का पूरा बाहर आ जाता है। इसका क्या मतलब हुआ ? इसका यह मतलब हुआ कि एक-एक व्यक्ति भी पूरा का पूरा परमात्मा है। एक-एक व्यक्ति भी—एक-एक अणु भी पूरा का पूरा परमात्मा है। ऐसा नहीं कि अणु आंशिक परमात्मा है—नहीं, पूरा का पूरा। थोड़ा कठिन है, क्योंकि हमारे गणित के लिए अपरिचित है। अगर यह समझ में आया कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है और पीछे पूर्ण रह जाता है तो मैं और एक बात कहता हूं कि पूर्ण से अनन्त पूर्ण निकल आते हैं तो भी पीछे पूर्ण रह जाता है। एक पूर्ण निकल कर अगर दूसरा पूर्ण न निकल सके तो उसका मतलब हुआ कि एक के निकलने के बाद पीछे कुछ कम हो गया है।

एक पूर्ण के बाद दूसरा पूर्ण निकले, तीसरा पूर्ण निकले और पूर्ण निकलते चले जाएं और पीछे सदा ही पूर्ण निकलने की उतनी ही क्षमता बनी रहे तभी पीछे पूर्ण शेष रहा। इसलिए ऐसा नहीं है कि आप परमात्मा के एक हिस्से हैं। जो ऐसा कहता है वह गलत कह रहा है। जो ऐसा कहता है कि आप एक अंश हैं परमात्मा के, वह गलत कहता है। वह फिर लोअर मैथमेटिक्स की बात करता है। वह उसी दुनिया की बात कर रहा है जहां दो और दो चार होते हैं। वह नापी-जोखी जाने वाली दुनिया की बात कर रहा है। मैं आपसे कहता हूं और उपनिषद् आपसे यह कहते हैं, और जिन्होंने भी कभी जाना है वह यही कहते हैं कि तुम पूरे के पूरे परमात्मा हो। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसी पूरा परमात्मा नहीं है। नहीं, इससे कोई अन्तर ही नहीं पड़ता है। एक वृक्ष पर गुलाब खिला है, पूरा खिल गया है। पड़ोस में एक दूसरी कली पूरी खिल गयी है। इस गुलाब के पूरे खिल जाने से बगल की कली के पूरे खिलने में कोई बाधा नहीं पड़ती। सहयोग भले मिलता हो, बाधा कोई नहीं पड़ती। हजार फूल खिल सकते हैं, पूरे के पूरे खिल सकते हैं। परमात्मा की पूर्णता अनन्त पूर्णता है। अनन्त पूर्णता का अर्थ है कि उसमें से अनन्त पूर्ण प्रकट हो सकते हैं। एक-एक व्यक्ति पूरा का पूरा परमात्मा है। एक-एक अणु पूरा का पूरा विराट् है। पूर्ण में और उसमें रत्ती मात्र का भी कोई फर्क नहीं है। अगर फर्क है तो फिर कभी पूरा न हो सकेगा। फिर पूरा करने का कोई उपाय नहीं। और अगर कभी पूरा हो जाता है तो वह अभी ही पूरा है, सिर्फ पता नहीं है। सिर्फ हमारे बोध की कमी है।

इस सूत्र को इन साधना के आने वाले दिनों में सदा स्मरण रखना। दोहराते रहना मन में कि पूर्ण से पूर्ण आ जाता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण, पूर्ण का पूर्ण ही होता है। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसे स्मरण रखना, इसे श्वास-श्वास में भीतर घूमने देना। रोज हम इसकी अलग-अलग व्याख्याएं, अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग मार्गों से करेंगे। आप इसका स्मरण रखना। यहां हम व्याख्या करेंगे, वहां आप स्मरण को गहरा करते चले जाना। ये दोनों चोटें भीतर इकट्ठी होती चली जाएंगी। और किसी क्षण—इन्हीं सात दिन में वह घटना घट सकती है कि किसी क्षण अचानक यह सूत्र आपके मुंह से निकले। और आपको लगे कि पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण पूर्ण में लीन हो जाता है फिर भी पूर्ण, पूर्ण का पूर्ण ही होता है। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वप्न की भांति सब हो जाता है, फिर भी कुछ होता नहीं। अभिनय की भांति सब घटित हो जाता है, फिर भी पीछे सब क्वांरा और अछूता रह जाता है। इसे स्मरण—जितना ज्यादा स्मरण रख सकें उतना उपयोगी होगा। चौबीस घण्टे इसकी स्मृति में जीने की कोशिश करें। उपनिषदों में जो है वह सिर्फ समझने से समझ में आने वाला नहीं है। उसे जीने से

ही समझ में आने वाला है। ये सूत्र, किन्हीं सिद्धान्तों की घोषणा नहीं करते, किन्हीं साधनाओं की घोषणा करते हैं। ये सूत्र, सिर्फ निष्पत्तियां नहीं हैं ज्ञान की, अनुभूतियां हैं। और इन्हें जब कोई अपने भीतर जिए, इन्हें अपने भीतर जन्म दे, इन्हें अपने भीतर—खून, हड्डी, मांस, मज्जा में प्रवेश करने दे, इन्हें श्वासों में समा जाने दे; इन्हें जागते, उठते, बैठते, सोते इनकी श्रुति, इसकी स्मृति में, इनकी गूंज में जिए, तब कहीं इनका राज, इनका रहस्य, इनका द्वार खुलना शुरू होगा।

यह सूत्रों में प्राथमिक वक्तव्य आपको दिया है। अद्भुत लोग रहे होंगे। पहले ही सूत्र पर खत्म कर दी है सारी बात। कहा है कि तीनों ताप की शान्ति हो जाए। इस सूत्र से त्रिताप की शान्ति का क्या सम्बन्ध हो सकता है? किन्हीं सिद्धान्तों से, किन्हीं के दुखों का कोई अन्त हुआ है? नहीं, लेकिन ऋषि कहता है ओम्—बात पूरी हो गयी। तुम्हारे सब दुख शान्त हो जाएं, तुम्हारी सब दुखों से मुक्ति हो जाए। क्या इस सूत्र को पढ़ने से यह हो सकता है? सच में जो पढ़ लेगा, हो सकता है। किताब से जो पढ़े तो कभी नहीं हो सकता। वह तो पढ़ लिया हमने। वह तो सुन लिया हमने। लेकिन जिन्होंने इतनी हिम्मत और साहस से कहा है कि बस—ओम्, हो गयी बात समाप्त, इतनी बात जिसने जान ली, उसके सब दुखों का अन्त हो जाता है। उसके शरीर के, उसके मन के, उसकी आत्मा के सब ताप नष्ट हो जाते हैं। वह समस्त सन्तापों के बाहर हो जाता है। इतने आश्वासन से, इतने भरोसे से जो आदमी कह रहा है तो मतलब कुछ है। मतलब है कि इसे जो जिएगा, इसे जो अपने भीतर जन्म देगा वह पाएगा कि सारे दुखों के बाहर हो गया। क्योंकि दुख—दुख एक ही बात का है, चाहे किसी तल पर हो, चाहे शरीर के तल पर, चाहे मन के तल पर और चाहे आत्मा के तल पर, दुख एक ही है—वह दुख अहंकार है। वह दुख यह है कि 'मैं' कर रहा हूं, यह मुझसे हो रहा है। यह मुझसे किया जा रहा है। यह गाली मुझे दी गयी, यह गाली मैंने दी है। बस वह सारी चीजें मेरे 'मैं' पर आकर इकट्ठी हो जाती हैं। लेकिन जब परमात्मा पर कोई अन्तर नहीं पड़ता है इतने विराट् से, तो इन सब छोटी-छोटी बातों से मुझ पर अन्तर क्यों पड़े। मैं भी अछूता रह जाऊं, मैं भी दूर खड़ा रह जाऊं। मैं कहूं कि गाली दी गयी, मुझे नहीं दी गयी है। मैंने जो किया वह किया गया है। मैंने नहीं किया है। अगर मैं मुझ पर आते कर्मों और मुझ पर जाते कर्मों के प्रति साक्षी रह जाऊं, कर्त्ता न रह जाऊं तो जल्दी ही अद्भुत रहस्य खुलने शुरू हो जाते हैं। इन सात दिन इस सूत्र में जीने की कोशिश करें। इसी सूत्र की अलग-अलग आयामों में, ईशावास्य उपनिषद् में हम व्याख्या करेंगे। यहां जो मैं व्याख्या करूं, अगर आप उसे जिएंगे भी, तो ही समझ में आएगी अन्यथा समझ में नहीं आएगी बात।

इस सूत्र के सम्बन्ध में इतना ही। ध्यान के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं आपको दे

दूं। क्योंकि कल सुबह से हम ध्यान में प्रवेश करेंगे। पहली बात ध्यान में रखें, जितनी तीव्र श्वास ले सकें दिन भर, चौबीस घण्टे लें। जब तक होश रहे, जितनी गहरी श्वास ले सकें उतनी गहरी श्वास लें। हाइपर आक्सीजनेशन—जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर जा सके उतना आपकी साधना के लिए ऊर्जा इनर्जी उपलब्ध होगी। आपके शरीर में बहुत-सी ऊर्जाएं छिपी पड़ी हैं। उन्हें जगाने की और ध्यान की दिशा में सक्रिय करने की, चैनेलाइज करने की जरूरत है।

तो पहला सूत्र आपको देता हूं उस शक्ति को जगाने का। जो निकटतम और सरलतम उपाय आदमी के पास उपलब्ध है, वह श्वास है। सुबह उठते ही जैसे ही होश आए बिस्तर पर, गहरी श्वास लेनी शुरू कर दें। रास्ते पर चलते हों तो गहरी श्वास लें, जितनी गहरी ले सकते हों। आहिस्ता लें, परेशान नहीं हो जाना है। गहरी लें, शान्ति से लें, आनन्द से लें, पर लेनी गहरी है। और पूरे वक्त ख्याल रखना है कि जितनी ज्यादा भीतर प्राणवायु जा सके—आपके खून में, आपकी श्वास में, आपके हृदय में जितनी प्राणवायु जा सके और जितनी कार्बन-डाइ-आक्साइड बाहर फेंकी जा सके, उतनी ही, जो ध्यान हम करने जा रहे हैं, उसमें सरलता हो जाएगी। जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर होती है, उतनी ही शारीरिक अशुद्धि कम हो जाती है। और बड़े मजे की बात है कि शारीरिक अशुद्धि का आधार अगर छूट जाए तो मन को अशुद्ध होने में कठिनाई पड़नी शुरू हो जाती है। जितनी ताजी हवा भीतर होगी, उतने आपके मन के दूषित विचार को पनपने की सम्भावना कम हो जाएगी। और जैसा मैंने कहा, यह पूर्णमिदं जैसे सूत्रों के भीतर खिलने की, इनके फूल बनने की सम्भावना ज्यादा हो जाएगी।

तो पहला सूत्र—हाइपर आक्सीजनेशन—प्राणवायु आधिक्य है। इस पर ख्याल रखें, सात दिन पूरे। इसमें दो-तीन बातें होंगी, उनसे घबरायें न। अगर गहरी श्वास लेंगे तो नींद कम हो जाएगी। उसकी जरा भी चिन्ता न करेंगे। नींद कम हो जाती है, जब भी नींद गहरी हो जाती है। तो जितनी गहरी श्वास लेंगे, श्वास की गहराई के साथ नींद की गहराई बढ़ेगी। इसलिए तो जो लोग मेहनत करते हैं वह रात गहरी नींद सोते हैं। जो मेहनत नहीं कर पाते वह रात गहरी नींद नहीं सो पाते। जितनी श्वास की गहराई होगी भीतर, उतनी नींद की गहराई बढ़ जाएगी। और गहराई अगर बढ़ेगी, तो विस्तार कम हो जाएगा। उसकी चिन्ता नहीं लेनी है। अगर आप सात घण्टे सोते हैं तो चार घण्टे में पूरी हो जाएगी, पांच घण्टे में पूरी हो जाएगी। उसकी कोई फिक्र नहीं रहे। लेकिन पांच घण्टे में आप आठ घण्टे की बजाय ज्यादा ताजे, ज्यादा आनन्दित और ज्यादा स्वस्थ सुबह उठेंगे। इसलिए जब सुबह नींद टूट जाए—और जल्दी नींद टूटने लगेगी। अगर आपने गहरी श्वास ली तो जल्दी नींद टूटने लगेगी। जब नींद टूट जाए, उठ आयें। सुबह के उस आनन्दपूर्ण क्षण को न खोयें। उसका ध्यान के लिए उपयोग

करें।

दूसरी बात, जितना कम भोजन ले सकें और जितना हल्का ले सकें उतना हितकर है। जितना अल्प ले सकें और जितना हल्का ले सकें। जो जितना कर सके, जिसको जितनी सुविधा हो वह उतना कम कर ले। जितना कम कर लेंगे, उतना ध्यान की गति तीव्र और सुगम हो जाएगी। क्यों? कुछ गहरे कारण हैं। हमारे शरीर की कुछ सुनिश्चित आदतें हैं। ध्यान हमारे शरीर की आदत नहीं है। ध्यान हमारे लिए नया काम है। शरीर के बंधे हुए एसोसिएशन हैं। शरीर की बंधी हुई आदतों को अगर कहीं से तोड़ दिया जाए तो शरीर और मन नयी आदत को पकड़ने में आसानी पाते हैं। कई दफे तो आप हैरान होंगे कि अगर आप चिन्तित होते हैं और सिर खुजलाने लगते हैं, तो अगर आपका हाथ नीचे बांध दिया जाए और आप सिर न खुजला पायें, तो आप चिन्तित न हो सकेंगे। आप कहेंगे कि सिर खुजलाने से चिन्ता का क्या सम्बन्ध है? शरीर की निश्चित आदत हो गयी है। वह पूरी की पूरी अपनी आदत को, अपनी व्यवस्था को पकड़ कर पूरा कर लेता है। शरीर की जो सबसे गहरी आदत है वह भोजन है—सबसे गहरी, क्योंकि उसके बिना तो जीवन नहीं हो सकता है। ध्यान रहे, सेक्स से भी ज्यादा गहरी। जीवन में जितनी भी गहरी आदतें हैं हमारे, उनमें सबसे ज्यादा गहरी आदत भोजन है। जन्म के पहले दिन से शुरू होती है और मरने के आखिरी दिन तक चलती है। जीवन का अस्तित्व उस पर खड़ा है, शरीर उस पर खड़ा है। इसलिए अगर आपको अपने मन और शरीर की आदतें बदलनी हैं तो उसकी गहरी आदत को एकदम शिथिल कर दें। उसके शिथिल होने से शरीर का जो कल तक का इन्तजाम था, वह सब अस्त-व्यस्त हो जाएगा। और उसकी अस्त-व्यस्त हालत में आप नयी दिशा में प्रवेश करने में आसानी पायेंगे अन्यथा आप आसानी नहीं पायेंगे। तो जितना बन सके—किसी को उपवास करना हो, उपवास कर सकता है। किसी को एक बार भोजन लेना हो, एक बार ले सकता है। सब आपकी मर्जी पर है, नियम बनाने की जरूरत नहीं है। अपनी मर्जी से चुपचाप जितना कम-से-कम हो सके—न्यूनतम, इसका ख्याल रखें।

तीसरी बात—एकाग्रता। चौबीस घण्टे आप गहरी श्वास लेंगे ही, साथ ही श्वास पर ध्यान भी रखें तो एकाग्रता सहज फलित हो जाएगी। रास्ते पर चल रहे हैं, श्वास ले रहे हैं, श्वास बाहर से भीतर गयी तो देखते रहें—वी अटेंटिव। देखते रहें कि श्वास भीतर गयी। फिर श्वास बाहर जा रही तो बाहर गयी। भीतर गयी, फिर बाहर गयी। ध्यान रखेंगे तो गहरी भी ले पायेंगे। नहीं तो जैसे ही भूलेंगे वैसे ही श्वास धीमी हो जाएगी। और गहरी लेते रहेंगे तो ध्यान भी रख पायेंगे, क्योंकि गहरी लेने के लिए ध्यान रखना ही पड़ेगा। तो ध्यान को श्वास के साथ जोड़ लें। कुछ काम करते वक्त अगर ऐसा लगे कि अभी ध्यान

श्वास पर नहीं रखा जा सकता है, तो जिन कामों को करते वक्त ऐसा लगे उन कामों पर एकाग्रता रखें। खाना खा रहे हैं तो पूरी एकाग्रता से खायें। एक-एक कौर पूरे ध्यानपूर्वक उठायें। स्नान कर रहे हैं तो पानी का एक-एक कतरा भी पूरे ध्यानपूर्वक ऊपर पड़े। रास्ते पर चल रहे हैं तो पैर एक-एक उठें तो ध्यानपूर्वक। इस तरह सात दिन आप चौबीस घण्टे ध्यान में लीन हो जाएं। यहां तो हम ध्यान करेंगे वह अलग, लेकिन मैं आपको बाकी समय पूरी पृष्ठभूमि आपकी बनाने के लिए कह रहा हूं। तो तीसरी बात, जो भी करें, बहुत ध्यानपूर्वक, बहुत एकाग्र चित्त से करें। और ज्यादातर तो श्वास पर ही एकाग्रता रखें, क्योंकि वह चौबीस घण्टे चलने वाली चीज है। न तो चौबीस घण्टे खाना खा सकते हैं, न स्नान कर सकते हैं, न चल सकते हैं। श्वास चौबीस घण्टे चलेगी। उस पर चौबीस घण्टे ध्यान रखा जा सकता है। उस पर ध्यान रखें। भूल जाएं कि दुनिया में कुछ और हो रहा है। बस एक ही काम हो रहा है कि श्वास भीतर आ रही है और श्वास बाहर जा रही है। बस, इस श्वास का बाहर और भीतर आना आपके लिए माला की गुरिया बन जाए, इस पर ही ध्यान को ले जाएं।

चौथा सूत्र—इन्द्रिय-उपवास (सेंस डिप्राइवेशन)। तीन बातें इसमें करनी हैं। एक तो जो लोग पूरे दिन मौन रख सकें वे पूरे दिन के लिए मौन हो जाएं। जिनको कठिनाई मालूम पड़े वह भी टेलीग्रैफिक हो जाएं। जो भी बोलें तो समझें कि एक-एक शब्द की कीमत चुकानी पड़ रही है। तो दिन में दस-बीस शब्द से ज्यादा नहीं। बहुत जरूरी मालूम पड़े, जान पर ही आ बने, तो ही बोलें। जो पूरा मौन रख सकें, उनके फायदे का तो कोई हिसाब नहीं। पूरा मौन रखें, कोई कठिनाई नहीं है। एक कागज-पेंसिल रख लें, जरूरत पड़े तो लिख कर बता दें—अगर कुछ जरूरत पड़े तो। पूरे मौन हो जाएं। मौन से आपकी सारी शक्ति भीतर इकट्ठी हो जाएगी, जिसे हमें ध्यान में आगे ले जाना है। आदमी की कोई आधे से ज्यादा शक्ति उसके शब्द ले जाते हैं। शब्द को तो बिल्कुल छोड़ें। तो ख्याल कर लें, जिसकी जितनी सामर्थ्य हो उतना मौन हो जाए। और इतना तो ध्यान रखें ही कि आपके द्वारा किसी का मौन न टूटे। आपका टूटे, आपकी किस्मत, आप जिम्मेवार—लेकिन आपके द्वारा किसी का न टूटे। अकारण बातें किसी से न पूछें। अकारण जिज्ञासाएं न करें, व्यर्थ के सवाल न उठायें। किसी को बात-चीत में डालने की आप कोशिश न करें। सहयोगी बनें दूसरे के मौन रहने में। कोई पूछे तो उसको भी मौन रहने का इशारा दे दें। उसे भी याद दिला दें कि मौन रहना है। बात-चीत छोड़ दें बिल्कुल सात दिन। फिर बाद में करिए, पीछे तो आपने की हैं बहुत। सात दिन बिल्कुल छोड़ दें, जिससे जितना बन सके। पूरा बन सके, बहुत ही हितकर होगा। फिर आपको कहने को नहीं बचेगा कि ध्यान नहीं होता है। मैं जो पांच बातें आपसे कहने जा रहा हूं वह आप पूरी कर लेते हैं तो आपको

कहने का कारण नहीं आएगा कि ध्यान नहीं होता है। और आए कारण, तो आप जानना कि आपके सिवाय और कोई जिम्मेवार नहीं है। फिर मुझे आकर आप मत कहना। मौन रखें पूरा। जिनसे न बन सके, कमजोर हों, संकल्पहीन हों, मन दुर्बल हो, बुद्धि कमजोर हो, वह थोड़ा-बहुत बोल कर चलायें। जिनमें थोड़ी भी बुद्धिमत्ता हो, संकल्प हो, शक्ति हो, थोड़ा भी अपने पर भरोसा हो वे बिल्कुल चुप हो जाएं।

इन्द्रिय-उपवास में पहला मौन। दूसरा, आपकी आंख के लिए विशेष पट्टियां बनायी हैं। वे पट्टियां आप ले लेंगे और कल सुबह से उनका प्रयोग शुरू करें। पूरी आंख को बांध देना है। आंख ही आपको बाहर ले जाने का द्वार है। जितनी ज्यादा देर बांध कर रख सकें उतना अच्छा है। जब भी खाली बैठे हों आंख पर पट्टी बंधी रहने दें। उससे दूसरे दिखायी भी नहीं पड़ेंगे। बात-चीत का भी मौका नहीं आएगा और आपको अन्धा मानकर दूसरे भी छोड़ देंगे कि जानें दें, व्यर्थ उनको परेशान न करें। अन्धे हो जाएं। मौन होना तो आपने सुना ही है न, मैं कहता हूं अंधे भी हो जाएं। मौन होना एक तरफ की मुक्ति है और अंधा होना—अंधा होना और भी गहरी। क्योंकि आंख ही हमें चौबीस घण्टे बाहर दौड़ा रही है। आंख के बन्द होते ही आप पायेंगे, बाहर जाने का उपाय न रहा। भीतर चेतना वर्तुलाकार घूमने लगेगी। तो आंख पर पट्टी बांध लें। चलते वक्त थोड़ा-सा ऊपर सरका लें। नीचे देखें, चार फीट आपको दिखायी पड़ता रहे रास्ता, उतना काफी है। उसे बांध के ही पूरा वक्त गुजार दें। जो रात को बांध के सो सकें, वे बांध के ही सोयें। जिनको अड़चन मालूम हो वे निकाल दें। बांध के सोयेंगे, नींद की गहराई में फर्क पड़ेगा। बाकी समय भी बांधे ही रखेंगे। सुबह यहां जब ध्यान होगा तब पट्टी बंधी रहेगी सुबह के ध्यान में।

दोपहर के मौन में पट्टी खुली रहेगी, लेकिन आप यहां तक पट्टी बांध कर ही आयेंगे। यहां आकर चुपचाप पट्टी खोलकर रख लेंगे। दोपहर के घण्टे भर के मौन में पट्टी खुली रहेगी। रात भी आप पट्टी बांध कर ही आयेंगे। फिर रात के ध्यान में यहां आकर पट्टी खोल लेंगे। सुबह जब मैं बोलूंगा तब आपकी पट्टी खुली रहेगी, दोपहर मौन में खुली रहेगी, रात के ध्यान में खुली रहेगी। इतना आपकी आंख के लिए मौका दूंगा। यह भी मौका इसलिए दूंगा कि ये भी आपको भीतर ले जाने में सहयोगी बन सके तभी आपकी आंख को बाहर देखने का मौका देना है, अन्यथा आपकी आंख बंधी रहेगी। और सात दिन में आप हैरान हो जायेंगे कि मन के कितने तनाव आंख के बन्द रहने से विदा हो जाते हैं, जिसकी आप अभी कल्पना नहीं कर सकते।

मन के अधिकतम तनाव आंख से प्रवेश करते हैं और आंख का तनाव ही मन के स्नायुओं के लिए सबसे बड़े तनाव का कारण है। अगर आंख शान्त और

शिथिल और रिलेक्स हो जाए तो मस्तिष्क के निन्यानबे प्रतिशत रोग बिदा हो जाते हैं। तो इसका पूरे ध्यानपूर्वक उपयोग करना है। और ऐसा नहीं कि उसमें बचाव करें, करेंगे तो मेरा कोई हर्जा नहीं है। बचाव से आपका हर्जा होगा। ध्यान यही रखना है कि अधिकतम आपको बिल्कुल अन्धा हो जाना है। आंख है ही नहीं, ऐसे सात दिन के लिए उसे छुट्टी दे देना है। सात दिन के बाद आप पाएंगे कि आंख ऐसी शीतल हो सकती है और आंख की शीतलता के पीछे इतने आनन्द के रस झरने बह सकते हैं, वह आपकी कल्पना में कभी भी नहीं था। लेकिन अगर आपने बीच-बीच में अपने साथ बेईमानी की तो मेरा जिम्मा नहीं है। वह आप पर निर्भर है। यहां कोई भी किसी दूसरे के लिए जिम्मेवार नहीं है। आप अपने को धोखा दे सकते हैं। चाहे तो अपने को धोखा देने से बच सकते हैं।

आंख की पट्टी के साथ ही आपको कान के लिए कपास मिलेगा। वह दोनों कानों में लगा लेना है। कान को भी छुट्टी दे देनी है। आंख, कान और मुंह तीनों को छुट्टी मिल जाए तो आपकी इंद्रियों का उपवास हो जाता है। उसी पट्टी के नीचे कान को भी बन्द करके ऊपर से बांध लेना। तो दूसरे आपके मौन में भी बाधा नहीं दे सकेंगे, देना भी चाहें तो भी नहीं दे सकेंगे। आप भी देना चाहें तो नहीं दे सकेंगे। क्योंकि दूसरे को अवसर देने का पाप भी नहीं लेना चाहिए। आपके कान खुलें तो किसी को बोलने का टेम्पटेशन हो सकता है। कान ही बन्द हैं, वह बोले भी तो भी नहीं सुन सकते, तो टेम्पटेशन नहीं होता। कान भी बन्द रखने हैं। सिर्फ सुबह यहां जब मैं बोलूंगा तब और रात को कान और आंख खुली रखनी है। रात के ध्यान में आपको आंख खुली रखनी है, कान बन्द रखने हैं।

पांचवीं बात—अन्तिम और सर्वाधिक जरूरी है। ध्यान रहे, परमात्मा के मन्दिर में केवल वे ही लोग प्रवेश करते हैं जो नाचते हुए प्रवेश करते हैं, जो हंसते हुए प्रवेश करते हैं, जो आनन्दित प्रवेश करते हैं। रोते हुए लोगों ने परमात्मा के द्वार पर कभी भी मार्ग नहीं पाया है। इसलिए उदासी सात दिन के लिए छोड़ दें। प्रसन्न रहें, हंसे, नाचे, आह्लादित रहें। चियरफुलनेस पूरे वक्त आपके साथ हो। उठते-बैठते आनन्दमग्न। एक धुन में मस्त, एक हर्षोन्माद में मस्त। चल रहे हैं तो ऐसे नहीं कि जैसे हर कोई चलता है। चल रहे हैं तो ऐसे जैसे कि फकीर को, साधक को चलना चाहिए नाचते हुए आनन्द में। दूसरे की फिक्र छोड़ दें यहां। यहां हम आए ही इसलिए हैं ताकि हम दूसरे की फिक्र छोड़ सकें। कोई आपको पागल समझेगा बस। तो आप पहले ही समझ लें कि इतना ही समझेगा, इससे ज्यादा कोई और हर्जा नहीं है। तो इस पूरे शिविर को एक आनन्दमग्न वातावरण दें—मौन, लेकिन आनन्द से उबलता हुआ। चुप—लेकिन आह्लाद से नाचता हुआ। शान्त—लेकिन भीतर ऊर्जा नृत्य करती हुई। आह्लाद से भरे हुए

नाचें, हंसें। यहां ध्यान में भी, सुबह का जो ध्यान है उसमें भी पूरे आनन्द से भरे हुए रहें। जब नाचने का मन आए ध्यान में तो नाचें, कूदें, हंसें। रोएं तो वह रोना भी आपके आनन्द से ही आए। आपके आंसू भी आपकी खुशी को ही बहाते हों। इसे ध्यान में रखें। दोपहर के मौन में भी आपको नाचने का मन है—नाचें। डोलने का मन है—डोलें। रात के ध्यान में भी नाचना चाहें नाचें। डोलना है, डोलें। हंसना है, हंसें। लेकिन आनन्द की थीरक सदा आपके साथ बनी रहे।

ये पांच बातें कल सुबह से शुरू कर देनी हैं। इसलिए आज रात ही आप आंख की पट्टी और कान के लिए सारा इन्तजाम कर लेंगे। कल सुबह सूरज उगने के साथ आप वह नहीं हैं जो आए थे। फिर आपसे वह अपेक्षा नहीं है। फिर आपसे अपेक्षा जो मैंने कही वह है। और अगर आप इतनी अपेक्षा पूरी करते हैं तो कोई कारण नहीं है—कोई कारण नहीं है कि यहां से जाते वक्त आप न कह सकें—ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः। आप यह कहते हुए, आपका हृदय यह कहता हुआ जाए फिर इसमें कुछ भी कठिनाई नहीं है। ●

हरिः ॐ
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीयाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।१।।

जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर; किसी के धन की इच्छा न कर ।।१।।

प्रवचन : १७
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, सुबह, दिनांक ५ अप्रैल, १९७१

वह परम भोग है

ईशावास्य-उपनिषद् की आधारभूत घोषणा है कि सब-कुछ परमात्मा का है। इसीलिए ईशावास्य नाम है—ईश्वर का है सब-कुछ। मन करता है मानने का कि हमारा है। पूरे जीवन इसी भ्रांति में हम जीते हैं। कुछ हमारा है—मालकियत, स्वामित्व,—मेरा है। ईश्वर का है सब-कुछ तो फिर मेरे 'मैं' को खड़े होने की कोई जगह नहीं रह जाती। ध्यान रहे, अहंकार भी निर्मित होने के लिए आधार चाहता है। 'मैं' को भी खड़ा होने के लिए मेरे का सहारा चाहिए। मेरे का सहारा न हो तो 'मैं' को निर्मित करना असम्भव है। साधारणतः देखने पर लगता है कि 'मैं' पहले है, मेरा बाद में है। असलियत उल्टी है। मेरा पहले निर्मित करना होता है, तब उसके बीच में 'मैं' का भवन निर्मित होता है। सोचें, आपके पास जो-जो भी ऐसा है, जिसे आप कहते हैं मेरा, वह छीन लिया जाए सब, तो आपके पास 'मैं' भी बच नहीं रहेगा। मेरे का जोड़ है 'मैं'। मेरा धन, मेरा मकान, मेरा धर्म, मेरा मन्दिर, मेरी मस्जिद, मेरा पद, मेरा नाम, मेरा कुल, मेरा वंश। इन सारे लाखों मेरे के बीच में 'मैं' निर्मित होता है। एक-एक मेरे को हम गिराते चले जाएं तो 'मैं' की भूमि छिनती चली जाती है। अगर एक भी मेरा न बचे तो 'मैं' के बचने की कोई जगह नहीं रह जाती। 'मैं' के लिए मेरे का नीड़ चाहिए, निवास चाहिए, घर चाहिए। 'मैं' के लिए मेरे के बुनियादी पत्थर चाहिए, अन्यथा 'मैं' का पूरा मकान गिर जाता है। ईशावास्य की पहली घोषणा उस पूरे मकान को गिरा देने वाली है। कहता है ऋषि—सब कुछ परमात्मा का है। मेरे का कोई उपाय नहीं। 'मैं' भी अपने को मेरा कह सकूं, इतना भी उपाय नहीं। कहता हूं अगर तो नाजायज है। अगर कहता ही चला जाता हूं तो विक्षिप्त हूं। मैं भी मेरा नहीं हूं। और तो सब ठीक ही है। इसे दो-तीन दिशाओं से समझने की कोशिश करनी जरूरी है।

पहला तो, आप जन्मते हैं, मैं जन्मता हूं, लेकिन मुझसे कोई पूछता नहीं। मेरी इच्छा कभी जानी नहीं जाती कि मैं जन्मना चाहता हूं ! जन्म मेरी इच्छा, मेरी

स्वीकृति पर निर्भर नहीं है। मैं जब भी अपने को पाता हूं जन्मा हुआ पाता हूं। जन्मने के पहले मेरा कोई होना नहीं है। इसे ऐसा सोचें, आप एक मकान बनाते हैं। मकान से पूछते नहीं कि तू बनना भी चाहता है कि नहीं बनना चाहता है। मकान की कोई मर्जी नहीं। आप बनाते हैं, मकान बन जाता है। कभी आपने सोचा कि आपसे भी तो आपकी मर्जी कभी नहीं पूछी गई। ईश्वर जन्माता है, आप जन्म जाते हैं। ईश्वर बनाता है, आप बन जाते हैं। मकान को भी होश आ जाए तो वह कहे, 'मैं'। मकान को भी होश आ जाए तो वह बनाने वाले को मालिक नहीं मानेगा। मकान भी कहेगा कि बनाने वाला मेरा नौकर है, मुझे बनाया है इसने। मेरा साधन है, मेरी सेवा की है, मैं बनना चाहता था इसने मुझे बनाया है। लेकिन मकान को होश नहीं है। आदमी को होश है। और कौन जाने, मकान को भी होश है, हो भी सकता है। होश के भी हजार तल हैं।

आदमी को होश का एक ढंग है, एक तरह की कांशेसनेस है। जरूरी नहीं है वैसी ही कांशेसनेस सबकी हो। मकान की और तरह की हो सकती है। पत्थर की और तरह की हो सकती है। पौधे की और तरह की हो सकती है। वे भी, हो सकता है अपने-अपने 'मैं' में जीते हों। और माली जब पौधे में पानी डालता हो तो पौधा यह न सोचता हो कि माली मुझे जन्मा रहा है, पौधा यही सोचता हो कि मैं माली की सेवा लेने का अनुग्रह कर रहा हूं। कृपा है मेरी कि सेवा ले लेता हूं! यद्यपि पौधे से कोई कभी पूछने नहीं गया कि तुझे जन्मना भी है। जो जन्म हमारी इच्छा के बिना है। उसे मेरा कहना एकदम ना-समझी है। जिस जन्म के पहले मुझसे पूछा ही नहीं जाता कभी, उसे मेरे कहने का क्या अर्थ है? न ही मौत आएगी तो पूछकर आएगी। न ही मौत पूछेगी कि क्या इरादे हैं? चलते हैं, नहीं चलते हैं? नहीं, वह तो बस आएगी और बस आ जाएगी। ऐसे ही अनजाने जैसे जन्म आता है। ऐसे ही बिना पूछे, द्वार पर दस्तक दिए बिना। बिना किसी पूर्व सूचना के, बिना आगाह किए, बस चुपचाप खड़ी हो जाएगी। और कोई विकल्प नहीं छोड़ेगी—कोई आल्टरनेटिव नहीं, कोई चुनाव नहीं, कोई च्वायस नहीं। यह भी नहीं कि क्षण भर रुक जाना चाहूं तो रुक सकूं। तो जिस मौत में मेरी इतनी भी मर्जी नहीं है उसे मेरी मौत कहना बिल्कुल पागलपन है। जिस जन्म में मेरी मर्जी नहीं है वह जन्म मेरा नहीं है। जिस मौत में मेरी मर्जी नहीं है, वह मौत मेरी नहीं है। तो उन दोनों के बीच में जो जीवन है, वह मेरा कैसे हो सकता है? उन दोनों के बीच में जिस जीवन को हम भरते हैं, जब उसके दोनों छोर मेरे नहीं हैं, दोनों बुनियादी छोर मेरे नहीं हैं, दोनों अनिवार्य छोर मेरे नहीं हैं, जिनके बिना मैं हो भी नहीं सकता, तो बीच का जो फैलाव है वह भी धोखा डिसेप्शन है, वह भी मेरा कैसे हो सकता है? लेकिन उसे हम भरते हैं, और मौत और जन्म को बिल्कुल भूल जाते हैं। अगर हम मनसविद् से पूछें तो वह कहेगा, हम जानकर भूल

जाते हैं। क्योंकि बड़े दुखद स्मरण हैं ये। मेरा जन्म भी मेरा नहीं है तो कितना दीन हो जाता हूं। मेरी मृत्यु भी मेरी नहीं है तो छिन गया सब, कुछ बचा नहीं, मेरे हाथ रिक्त और खाली हो गए। राख बची। और इन दोनों के बीच में जिस जीवन के लम्बे सेतु को मैं निर्मित करूंगा—जैसे एक नदी पर हम पुल बनाते हैं, न यह किनारा हमारा है, न वह किनारा हमारा है। न इस किनारे पर रखे हुए सेतु की बुनियाद हमारी है। न उस तरफ की बुनियाद हमारी। सोचें जरा तो बीच की नदी पर जो फैला हुआ पुल है, वह भी हमारा कैसे हो सकता है? आधार जिसके हमारे नहीं हैं वह हमारा नहीं हो सकता है। इसलिए हम जानकर भुला देते हैं।

आदमी बहुत-सी बातें जानकर भुलाए हुए है। कुछ बातों को वह स्मरण ही नहीं करता। क्योंकि वह स्मरण उसके अहंकार की सारी की सारी अकड़ खींच लेगा, बाहर कर देगा। फिर क्या है हमारा? छोड़ें जन्म और मृत्यु को। जीवन में ऐसा भ्रम होता है कि बहुत कुछ हमारा है। लेकिन जितना ही खोजने जाते हैं, पाया जाता है कि नहीं वह भी हमारा नहीं है। आप कहते हैं किसी से मेरा प्रेम हो गया। बिना यह सोचे हुए कि प्रेम आपका निर्णय है? नहीं, लेकिन प्रेमी कहते हैं, हमें पता ही नहीं चला कब हो गया! हमने किया नहीं। तो जो हो गया वह हमारा कैसे हो सकता है? नहीं होता तो नहीं होता। हो गया तो हो गया। बड़े परवश हैं, बड़ी नियति है। सब जैसे कहीं बंधा है। लेकिन बन्धन कुछ ऐसा है कि जैसे हमें एक जानवर को एक रस्सी में बांध दें, एक खूंटी में बांध दें और जानवर रस्सी की खूंटी में चारों तरफ घुमता रहे। घूमने से भ्रम पैदा होगा कि मैं स्वतन्त्र हूं, क्योंकि घूमता हूं। और वह रस्सी को भुला देगा, क्योंकि रस्सी दुखद है। वह जो खूंटी से बंधी हुई रस्सी है वह बड़ी दुखद है, वह परतन्त्रता की खबर लाती है। सच तो यह है कि वह स्वयं के न होने की खबर लाती है। परतन्त्र होने योग्य भी हम नहीं हैं, स्वतन्त्र होने की तो बात दूर है। परतन्त्र होने के लिए भी तो हमें होना चाहिए, वह भी हम नहीं हैं। वह जो खूंटी बंधी है, चारों तरफ घूम लेता है जानवर, कभी बायें चला जाता है, कभी दायें चला जाता है तो सोचता है स्वतन्त्र हूं। और जब स्वतन्त्र हूं तो 'मैं' हूं। फिर धीरे-धीरे अपने को समझा लेता होगा कि खूंटी से बंधा हूं, यह भी मेरी मर्जी है। जब चाहूं तब तोड़ दूं। राजी हो गया हूं, यह भी मेरे हित के लिए है।

जीवन में हम बहुत-सा भ्रम पैदा करते हैं। कहते हैं क्रोध, कहते हैं प्रेम, कहते हैं घृणा, मित्रता, शत्रुता—लेकिन कुछ भी तो हमारा निर्णय नहीं है। कभी आपने ऐसा क्रोध किया है जो आपने किया हो? कभी नहीं किया। जब क्रोध होता है तब आप होते ही नहीं। कभी आपने प्रेम किया है, जो आपने किया हो? अगर आप प्रेम कर सकते तब तो किसी को भी कर सकते, लेकिन किसी को कर पाते हैं

और किसी को नहीं कर पाते। और किसी को कर पाते हैं, नहीं चाहते, तो भी करते हैं। और किसी को नहीं कर पाते हैं तो चाहें तो भी नहीं कर पाते। जिन्दगी की सारी भावनाएं किसी अज्ञात छोर से आती हैं—जहां से जन्म आता है वहीं से। आप नाहक ही बीच में मालिक बन जाते हैं। और आपने क्या किया है? क्या है जो आपका किया हुआ है? भूख लगती है, नींद आती है, सुबह नींद टूट जाती है, सांझ फिर आंखें बन्द होने लगती हैं। बचपन आता है फिर कब चला जाता है, फिर कैसे चला जाता है? न पूछता, न विचार-विमर्श लेता न हम कहें तो क्षण भर ठहरता। फिर जवानी चली आती है, फिर जवानी बिदा हो जाती है। फिर बुढ़ापा आ जाता है। आप कहां हैं? नहीं, लेकिन आप कहे चले जाते हैं कि मैं जवान हूं, मैं बूढ़ा हूं। जैसे कि जवानी कुछ आप पर निर्भर हो। फिर जवानी के अपने फूल हैं। बुढ़ापे के अपने फूल हैं जो खिलते हैं। वैसे ही खिलते हैं जैसे वृक्षों पर फूल खिलते हैं। गुलाब का पौधा नहीं कह सकता कि मैं गुलाब के फूल खिलाता हूं। क्योंकि यह तभी कह सकता था जब चमेली के खिला सकता होता। लेकिन चमेली के तो खिला नहीं पाता। कुछ यश मत ले लेना इस सबसे। बचपन में सरलता होती है तो होती है। और जवानी में अगर काम और वासना पकड़ लेती है तो वैसी ही पकड़ लेती है जैसे बचपन में निर्दोषता पकड़ लेती है। न उसके आप मालिक होते हैं, न जवानी की कामवासना के आप मालिक होते हैं। और अगर बुढ़ापे में मन ब्रह्मचर्य की तरफ झुकने लगता है तो कुछ अपना गौरव मत समझना। वैसे ही, ठीक वैसे ही, जैसे जवानी में काम पकड़ लेता है, बुढ़ापे में काम से विरक्ति पकड़ लेती है। और जिसको नहीं पकड़ती है उसका भी कुछ वश नहीं है। और जिसको पकड़ लेती है वह भी नाहक का गौरव न ले।

'मैं' को खड़े होने की जगह नहीं है अगर जीवन को एक-एक कण-कण सोचेंगे तो। पाएंगे, 'मैं' को खड़े होने की कोई जगह नहीं है। लेकिन भ्रम पैदा हम क्यों कर लेते हैं? कैसे यह भ्रम, इलूजन पैदा होता है। यह प्रवंचना डिसेप्शन आती कहां से है? यह आती इसलिए है कि हमें पूरे वक्त ऐसा लगता है कि विकल्प, आल्टरनेटिव हैं, जैसे आपने मुझे गाली दी तो मेरे सामने दो विकल्प हैं कि चाहूं तो मैं गाली का जवाब दूं और चाहूं तो न दूं—ऐसा मुझे लगता है, हैं नहीं। ऐसा मुझे लगता है कि चाहूं तो जवाब दूं और चाहूं तो जवाब न दूं! लेकिन क्या सच में ही विकल्प होते हैं? क्या जो आदमी गाली के उत्तर में गाली देता है वह चाहता तो न देता? आप कहेंगे कि चाहता तो नहीं दे सकता था। लेकिन थोड़ा और गहरे जाना पड़ेगा। वह चाह भी आप में होती है कि आप ले आते हैं? गाली देने की चाह, या न देने की चाह, वह भी क्या आपके वश में है? नहीं, जो बहुत गहरे खोजते हैं वे कहते हैं कि वहीं तो हमें पता चलता है कि चीजें हमारे वश के बाहर हो जाती हैं। एक आदमी को ख्याल आता है कि गाली दूं, गाली देता है। एक

आदमी को ख्याल आता है, नहीं दूं, तो नहीं देता है। लेकिन यह ख्याल कि दूं या नहीं दूं यह ख्याल कहां से आता है? यह ख्याल आपका है? यह वहीं से आता है, जहां से जन्म है। यह वहीं से आता है जहां से प्रेम है। यह वहीं से आता है जहां से प्राण हैं। यह वहीं खो जाता है जहां मौत। यह वहीं लीन हो जाता है जहां जाती हुई श्वास। लेकिन धोखा देने की सुविधा हो जाती है कि मेरे हाथ में है। चाहता तो गाली न देता। लेकिन किसने कहा था कि आप दें? नहीं, आप कहेंगे, बुद्ध हैं, महावीर हैं, वह गाली नहीं देते। क्या आप समझते हैं वे चाहें तो गाली दे सकते हैं? नहीं, जैसे आप गाली देने में बंधा हुआ अनुभव करते हैं उससे कम बंधा हुआ बुद्ध और महावीर अनुभव नहीं करते हैं न गाली देने में। चाहें तो भी दे नहीं सकते। नहीं, वह चाह ही पैदा नहीं होती।

एक झेन फकीर के पास सुबह-सुबह एक आदमी आया और कहने लगा कि आप इतने शांत क्यों हैं? और मैं इतना अशांत क्यों हूं? उस फकीर ने कहा, बस मैं शान्त हूं और तुम अशान्त हो, बात खत्म हो गयी। अब इसमें कुछ और आगे कहने को नहीं है। उस आदमी ने कहा; नहीं, लेकिन आप शान्त कैसे हुए? उस फकीर ने पूछा—मैं तुमसे पूछना चाहूंगा कि तुम अशान्त कैसे होते हो। वह आदमी कहने लगा—अशान्ति आ जाती है। उस फकीर ने कहा—बस ऐसा ही हुआ है। शान्ति आ गयी और मेरा कोई गौरव नहीं है। जब तक अशांति आती थी, आती थी। मैं कुछ भी कर न सका और जब शान्ति आ गयी तो अब मैं अगर अशांति लाना चाहूं तो उतना ही बंध गया हूं, अब भी कुछ नहीं कर पाता हूं।

उस आदमी ने कहा—नहीं, लेकिन मुझे भी रास्ता बतायें शान्त होने का? तो उस फकीर ने कहा—मैं तो एक ही रास्ता जानता हूं कि तुम यह भ्रम छोड़ दो कि तुम कुछ कर सकते हो। अशांत हो तो अशान्त हो जाओ। जानो कि अशांत हूं, मेरे हाथ में नहीं। और तब तुम पाओगे कि पीछे से शान्ति आने लगी। वह भी तुम्हारे हाथ में नहीं है। शान्त होने की कृपा करके कोशिश मत करो। जो लोग भी शांत होने की कोशिश करते हैं वे और अशान्त हो जाते हैं। अशान्त तो होते ही हैं, अब वह शान्त होने की कोशिश और नयी अशान्ति को जन्म दे जाती है।

पर उस आदमी ने कहा कि नहीं मुझे बात कुछ जमती नहीं, मुझे तो शान्त होना है। उस फकीर ने कहा—तुम अशान्त रहोगे। क्योंकि तुम्हें कुछ होना है। तुम छोड़ नहीं सकते परमात्मा पर। जबकि सब उस पर है। तुम्हारे हाथ में कुछ है नहीं। जिस दिन से हम राजी हो गये जो था उसी के लिए, उसी दिन से हम शान्त हुए। अब तक हम कुछ होना चाहते थे तब तक हम कुछ हो न सके।

पर नहीं वह आदमी नहीं माना। उसने कहा कि तुम्हारी शान्ति से ईर्ष्या पैदा होती है। और हम ऐसे मान कर चले न जायेंगे। तब उस फकीर ने कहा—रुको और जब कोई न रहे यहां, तब पूछ लेना। फिर दिन में कई मौके आये—कोई न था। उस आदमी ने कहा कि अब कुछ बता दें, अब कोई भी नहीं है। तो उस फकीर ने ओठ पर उंगली रखी और कहा कि चुप। वह आदमी बड़ा परेशान हुआ। उसने कहा कि जब लोग आ जाते हैं और मैं पूछता हूं तो आप कहते हैं जब कोई न रहे तब पूछना। और जब कोई नहीं रहता और मैं पूछता हूं तो आप कहते हैं—चुप ! यह हल कैसे होगा ?

सांझ हो गयी, सूरज ढल गया, सब लोग चले गये। झोंपड़ा खाली हो गया। उसने कहा कि अब तो बतायें ! तो फकीर ने कहा—बाहर आ। बाहर गये, पूर्णिमा का चांद निकला था। फकीर ने कहा, देखता है यह पौधे ?

सामने ही छोटे-छोटे पौधे लगे थे।

उसने कहा—देखता हूं।

फकीर ने कहा—देखता है, वह दूर खड़े वृक्ष आकाश को छूते।

उसने कहा—देखता हूं।

तब उस फकीर ने कहा—वह बड़े हैं और यह छोटे हैं। और झगड़ा कुछ भी नहीं। इनमें मैंने कभी विवाद नहीं सुना। इस छोटे पौधे ने कभी बड़े पौधे से नहीं पूछा कि तू बड़ा क्यों है ? छोटा अपने छोटे होने में शान्त है। बड़े ने कभी छोटे से नहीं पूछा कि तू छोटा क्यों है ? बड़े की अपनी मुसीबतें हैं। जब तूफान आते हैं तब पता चलता है। छोटे की अपनी तकलीफ है। पर छोटा छोटे होने को राजी है। बड़ा बड़ा होने को राजी है। और उन दोनों के बीच मैंने कभी संवाद नहीं सुना। सदा ही मैंने दोनों को शान्त पाया है। तू भी कृपा कर और मुझे छोड़। मैं जैसा हूं वैसा हूं। तू जैसा है वैसा है।

पर वह आदमी कैसे माने। हम भी कैसे मानें। मन करता है कुछ होने को। क्यों करता है ? हमने मान रखा है कि हम कुछ कर सकते हैं इसलिए। नहीं, ईशावास्य कहता है, नहीं कर सकते। कर्त्ता नहीं बन सकते। भाग्य की जो अद्‌भुत कल्पना है उसके पीछे यही रहस्य था। नियति, डेस्टनि की जो अद्‌भुत धारणा है, उसके पीछे यही राज है। नियति और भाग्य का यह मतलब नहीं है कि आप कुछ न करें। बैठ जायें। क्योंकि भाग्य तो कहता है, बैठ भी नहीं सकते तुम। वह बिठाये तो बैठ सकते हैं। भाग्य तो कहता है कुछ न करें यह भी तुम नहीं कर सकते। वह न कराये तो नहीं करना आ जायेगा। ध्यान रखें, भाग्यवादी जो लोग दिखायी पड़ते हैं उनमें एक भी भाग्यवादी नहीं हैं। वह कहते हैं, सब भाग्य कर रहा है, हम क्या करें। तो हम कुछ नहीं करते। 'हम कुछ भी नहीं करते,' इतना भी ख्याल शेष रह गया तो करने का मात्र शेष है। पूर्ण नियति

की धारणा यह है कि हम हैं ही नहीं। करने का उपाय नहीं। वही है—परमात्मा ही।

और जब हम कर न सकते हों, कर्ता न हो सकते हों, तो फिर ममत्व, मेरा क्या होगा ? किसे हम कहें मेरा है ? बेटे को कहें, मेरा है ? लगता है क्योंकि मैंने जन्म दिया ऐसा मालूम पड़ता है। ऐसा भ्रम होता है। हालांकि किसी ने कभी किसी बेटे को जन्म नहीं दिया। बेटे जन्मते हैं। आपसे रास्ता खोज लेते हैं। काम-वासना को आप जन्म नहीं देते। आपसे रास्ता बना लेती है। एक स्त्री को आप प्रेम करने लगते हैं। वह प्रेम आपसे नहीं आता, वह प्रेम आपसे रास्ता बना लेता है। वह दोनों की वासना, दोनों का प्रेम और दोनों के शरीर मिलने को आतुर हो जाते हैं। वह आतुरता आपकी नहीं है। वह आतुरता आपके रोयें-रोयें में छिपी है। यह दबी है कण-कण में, वह धक्के देती है। फिर एक बच्चे का जन्म हो जाता है। कोई मां बन जाती है, कोई बाप बन जाता है। लगता है जैसे हमने जन्म दिया। नियति हंसती है। नियति बिल्कुल हंसती है। आपसे जन्म लिया गया है, आपने दिया नहीं—यू हेव वीन जस्ट ए पैसेज। मां एक यात्रा पथ है जिससे नियति ने जन्म लिया। आपने कुछ किया नहीं। एक मकान आप बना लेते हैं तो कहते हैं मेरा है।

लेकिन देखते हैं—चिड़ियां भी घोंसला बना लेती हैं।

इस जगत् में छोटा-से-छोटा प्राणी भी रहने को जगह बनाता है। और ऐसी चिड़ियां भी हैं जो कभी किसी से सीखती नहीं। कुछ ऐसी चिड़ियां हैं, जिनको जन्म देने के बाद, जिनके अण्डा देने के बाद मां उड़ जाती है। अण्डा जब फूटता है तो चिड़िया सीधी बाहर निकल आती है। उसे मां की शिक्षा नहीं मिल पाती, पिता का संरक्षण नहीं मिल पाता। किसी स्कूल में उसको भर्ती नहीं किया जाता। बड़े आश्चर्य की बात है वह चिड़िया फिर वैसा ही घोंसला बनाती है जैसा उसकी मां ने बनाया था, और उसकी मां की मां ने बनाया था। और वह घोंसला साधारण नहीं होता—बहुत बड़े तकनीक का, बड़ा आर्चिटेक्चर का होता है। इतना कि आदमी को भी बनाना पड़े तो सीखना पड़े, फिर भी पूरी कुशलता से बना ले तो कठिन है। यह घोंसला कैसे बन जाता है ? वैज्ञानिक कहते हैं—बिल्ट इन प्रोग्राम। वह कहते हैं चिड़िया के भीतर उसके रोयें-रोयें में बिल्ट-इन प्रोग्राम है। उसके जन्म के साथ ही उसकी हड्डी-मांस-मज्जा में उस घोंसला बनाने की पूरी की पूरी नियमावली छिपी है। वह बनायेगी ही वह वैसे ही घास-पत्ते खोज लायेगी जो उसकी मां ने खोजे थे। किसी ने सिखाया नहीं है, मां उसे मिली नहीं है। किसी स्कूल में उसे भर्ती नहीं किया गया। वह वही पत्ते चुन लायेगी, वही घास के तिनके उठा लायेगी—फिर वही ढांचा फिर वही घोंसला बन जायगा। आदमी भी बनाता है। सभी बनाते हैं। मेरा कहने का कोई कारण नहीं—कोई

भी कारण नहीं।

किस चीज में हम कहें मेरा है ? धन में ? सारे प्राणी संग्रह करते हैं। अनेक-अनेक रूपों में करते हैं और ऐसा नहीं कि आदमी उनमें सर्वाधिक कुशल है। ऐसा भी है कि आदमी से भी ज्यादा कुशल संग्रह करने वाले प्राणी हैं। साइबेरिया में सफेद भालू होता है। छह महीने बर्फ पड़ती है। उस छह महीने में आदमी का बचना मुश्किल है। लेकिन भालू बच जाता है। उसके संग्रह करने का ढंग बहुत अद्भुत है। उसका परिग्रह करने का ढंग बहुत कुशल है। वह चीजें इकट्ठी नहीं करता, छह महीने के लिए चर्बी इकट्ठी कर लेता है। शरीर के भीतर चर्बी बढ़ाये चला जाता है। चर्बी इतनी इकट्ठी कर लेता है कि छह महीने जब बर्फ पड़ती है और बर्फ में दबके नीचे दब जाता है तो अपनी ही चर्बी खाता रहता है छह महीने तक बर्फ में दबा हुआ। आपकी तिजोरी इतने भीतर नहीं है। चोर उठा ले जा सकते हैं। और तिजोरी बहुत-सी चीजों पर निर्भर है तभी काम कर पायेगी। धन पास में हो और बाजार खो जाये तो काम नहीं कर पायेगी। वह सफेद भालू ज्यादा कुशल है। वह सीधा भोजन ही इकट्ठा करता रहता है। और चूंकि बर्फ में इतना दब जायेगा कि चबाने, श्वास लेने, मांस-मज्जा बनाने की सुविधा नहीं रह जायेगी, इसलिए तैयार भोजन चर्बी की तरह इकट्ठा करता है उसको चुपचाप पचा लेगा।

सारा जगत् संग्रह करता है। तो संग्रह करने में कुछ यह मत सोच लेना कि हम ही करते हैं। कोई मां अगर अपने बेटे को दूध पिलाती है तो किसी बहुत गौरव से न भर जाए। दूध भर आता है, बेटे के आने के साथ ही शरीर दूध बनाना शुरू कर देता है। बेटा दूध पीने से इन्कार कर दे तब मां को तकलीफ हो। तब उसे पता चले कि बच्चा दूध पी लेता है, बड़ी कृपा है। न पिये तो बेचैनी पैदा हो जाएगी। मां ने कभी जान कर दूध नहीं बनाया। जैसे बच्चा अनजाना पैदा होता है वैसा ही बच्चे के साथ दूध पैदा हो जाता है। बच्चा बड़ा हुआ कि दूध खोना शुरू हो जाता है। जैसे ही बच्चे की दूध की जरूरत पूरी हो गयी, दूध विदा हो जाता है। यह सब निसर्गगत है। संग्रह की वृत्ति निसर्गगत है। इसलिए ईशावास्य का यह सूत्र कहता है—सब परमात्मा का है। निसर्ग का कहें, नियति का कहें, प्रकृति का कहें, लेकिन ईशावास्य उसे कहता है, सब परमात्मा का है। क्योंकि निसर्ग, नियति और प्रकृति ये सब यान्त्रिक मेकेनिकल शब्द हैं। और यह इतना विराट्, इतना रहस्यपूर्ण, यान्त्रिक नहीं हो सकता—जीवन्त है, चेतन है इसलिए।

विज्ञान भी यही कहता है कि सब प्रकृति कर रही है। जब हम कहते हैं विज्ञान की भाषा में कि सब प्रकृति कर रही है तो हम दीन तो हो ही जाते हैं, हीन तो हो ही जाते हैं, यन्त्रवत् भी हो जाते हैं। लेकिन जब ईशावास्य कहता है सब

परमात्मा कर रहा है तो एक तरफ हमारा अहंकार छिन जाता है, दूसरी तरफ हम परमात्मा हो जाते हैं। वही महत्वपूर्ण है। वही समझ लेने जैसा है। इसलिए विज्ञान जितना विकसित होता जाता है, विज्ञान का भी जोर यही है कि आदमी यह भ्रम छोड़ दे कि 'मैं' कर रहा हूं—सब हो रहा है। लेकिन उसका जोर इस बात पर है कि सब मेकेनिकली हो रहा है, सब यन्त्रवत् हो रहा है। मशीन की तरह सब होता है। सारा जगत् यन्त्रवत् चल रहा है। अगर सब यन्त्रवत् हो रहा है तो आदमी दीन हो जाता है। उसका अहंकार तो खण्डित हो जाता है, लेकिन किसी दूसरे मार्ग से उसकी गरिमा वापस नहीं लौटती। उसका गौरव, जो अहंकार से मिलता था, बड़ा क्षुद्र था। छोटे-से मिट्टी के तेल के जलते हुए दिए की तरह था। वह तो बुझ जाता है—गहन अन्धकार छा जाता है, लेकिन सूरज कहीं से वापस नहीं लौटता। इसलिए विज्ञान के बजाय ईशावास्य की घोषणा ज्यादा कीमती है। इधर आपकी टिमटिमाती छोटी-सी ज्योति को बुझाता है ईशावास्य कि बुझो तुम, तुम नहीं हो। तुम नाहक परेशान हो। दूसरी तरफ महा-सूर्य को जन्म दे जाता है। एक तरफ कहता है, तुम नहीं हो और दूसरी तरफ से तत्काल तुम्हें परमात्मा की स्थिति में स्थापित कर जाता है। एक तरफ से तुम्हें छीन लेता है, मिटा देता है और दूसरी तरफ से तुम्हें पूर्ण दे जाता है। इसलिए अहंकार के मिट्टी के दिए और मिट्टी के तेल में जलती हुई धुंधियारी ज्योति को तो बुझा देता है—उसमें धुआं भी था, बास भी थी, लेकिन सूरज के आलोक को दे जाता है। मिटाता है 'मैं' को, लेकिन 'परम मैं' को प्रतिष्ठा दे जाता है।

धर्म और विज्ञान के मूल आयाम में यही भेद है। विज्ञान भी उन्हीं बातों को कह रहा है जिन्हें धर्म कहता है। लेकिन उसका जोर यन्त्र पर है। धर्म भी वही कह रहा है, लेकिन उसका जोर चेतना पर है, प्रज्ञा पर है, जीवन्त पर है और वह जोर कीमती है। अगर पश्चिम का विज्ञान सफल हो गया तो अन्ततः आदमी मशीन हो जायेगा। अगर पूरब का धर्म जीत गया तो अन्ततः मनुष्य परमात्मा हो जाएगा। दोनों ही अहंकार छीन लेते हैं, लेकिन एक से अहंकार छिनता है तो आदमी नीचे गिरता है। आज से डेढ़ सौ, दो सौ वर्ष पहले जब विज्ञान ने पहली बार यह बात करनी शुरू की कि आदमी परवश है। जब डार्विन ने कहा कि तुम यह भूल जाओ कि तुम्हें परमात्मा ने निर्मित किया है—तुम पशुओं से आए हो। तब आदमी का पहला अहंकार टूटा। बड़े जोर से टूटा। सोचता था ईश्वर-पुत्र हैं, पता चला नहीं। पिता ईश्वर नहीं मालूम पड़ता। वानर जाति का कोई चिम्पांजी, कोई बन्दर पिता मालूम पड़ता है। निश्चित ही धक्के की बात थी। कहां परमात्मा था सिंहासन पर, जिसके हम बेटे, थे, और कहां बन्दर के बेटे होना पड़ा। बहुत दुखद था। बहुत पीड़ादायी था। तो पहले विज्ञान ने कहा कि आदमी, आदमी है, यह भूले—जाने कि एक प्रकार का पशु है। सारी

अहंकार की व्यवस्था टूट गयी। लेकिन यात्रा जब भी किसी तरफ शुरू हो जाए तो जल्दी रुकती नहीं। अन्त तक पहुंचती है। जानवर पर रुकना मुश्किल था। पहले विज्ञान ने कहा कि आदमी एक तरह का पशु है। फिर विज्ञान ने पशुओं की खोजबीन की और पाया कि पशु एक तरह का यन्त्र है।

आप देखते हैं कछुआ सरक रहा है। आप देखते हैं धूप घनी हो गयी तो कछुआ छाया में चला गया। आप कहेंगे कि कछुआ सोच कर गया। विज्ञान कहता है नहीं। विज्ञान ने यन्त्र के कछुए बना लिए। उनको छोड़ दें। जब तक धूप कम तेज रहती तब तक वह धूप में रहे आते हैं। जैसे ही धूप घनी हुई कि वे सरके। झाड़ी में चले गये। यन्त्र है, क्या हो गया उसको? विज्ञान कहता है, थर्मोस्टेट इतने से ज्यादा गर्मी जैसे ही भीतर पहुंची कि बस छाया की तरफ सरकना शुरू हो जाता है। इसमें कुछ चेतना नहीं है। आप देखते हैं एक पतिंगा उड़ता है, दिये की ज्योति की तरफ। कवि कहते हैं कि दीवाना है। ज्योति का प्रेमी है। इसलिए जान गंवा देता है। वैज्ञानिक कहते हैं दीवाना वगैरह कुछ भी नहीं है। मेकेनिकल है। जैसे ही उस पतिंगे को ज्योति दिखाई पड़ती है, उसका पंख ज्योति की तरफ झुकना शुरू हो जाता है। उन्होंने यान्त्रिक पतिंगे बना लिए। उनको छोड़ दें, अंधेरे में घूमते रहेंगे, फिर दिया जलायें, फौरन दिए की तरफ चले जायेंगे।

पीछे विज्ञान ने सिद्ध किया कि जानवर यन्त्र है। अन्तिम नतीजा बड़ा अजीब हुआ। आदमी था जानवर, फिर जानवर हुआ यन्त्र। अन्ततः निष्कर्ष निकला कि आदमी यन्त्र है। स्वभावतः, इसमें सच्चाई है। इसमें थोड़ी सच्चाई है। अहंकार तोड़ते हैं, यह तो ठीक है, लेकिन अहंकार तोड़ कर आदमी नीचे गिरता है, यन्त्रवत् हो जाता है। परिणाम खतरनाक होंगे। परिणाम खतरनाक हुए हैं। स्टालिन और हिटलर इसीलिए करोड़ों लोगों की हत्या कर सके। क्योंकि अगर आदमी यन्त्र है तो हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। देखें, मजे की बात। कृष्ण भी गीता में कह सके कि आदमी की आत्मा अमर है, वह मरती नहीं, इसलिए हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। और स्टैलिन भी कह सकता है कि आदमी यन्त्र है, आत्मा है ही नहीं, हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन कृष्ण जब कहते हैं कि आत्मा अमर है अर्जुन, तू कितना ही मार, मरती नहीं। तब नतीजा तो वही दिखायी पड़ता है कि अर्जुन भी मारने को उत्सुक हो जाता है। लेकिन परिणाम बड़े भिन्न हैं। आत्मा की अमरता की घोषणा से मृत्यु बेमानी हो जाती है। यहां स्टालिन भी राजी हो जाता है मारने की लाखों, करोड़ों लोगों को। लेकिन इसलिए कि आत्मा तो है ही नहीं, मारने में हर्ज क्या है? एक मशीन को मारने में कोई भी तो हर्ज नहीं है। अगर आप एक मशीन को डण्डा मार दें, तो अहिंसक भी आपसे नहीं कह सकेगा कि हिंसा की। एक मशीन को तोड़ दें, तो टुकड़े कर दें तो

अदालत में मुकदमा तो नहीं चलाया जा सकता। ऊपर से परिणाम एक से मालूम पड़ते हैं। नहीं, लेकिन एक से नहीं, क्योंकि परिणाम की आभा बहुत भिन्न है। अर्थ बहुत भिन्न हैं। सारी बात ही बदल जाती है। विज्ञान भी कहता है कि प्रकृति कर रही है सब, मनुष्य नहीं। धर्म भी कहता है, लेकिन धर्म कहता है कि परमात्मा कर रहा है, मनुष्य नहीं। विज्ञान अहंकार को तोड़ कर मनुष्य को नीचे गिरा देता है। धर्म अहंकार को तोड़कर मनुष्य को ऊपर की यात्रा पर भेज देता है।

ईशावास्य का यह सूत्र कहता है—न मानना किसी चीज को अपना तो 'मैं' मिट जाएगा। मानना परमात्मा की। किसी के धन की वांछा न करना। क्यों? यह भी बहुत मजे की बात है। जब मेरा कुछ भी नहीं है, तो तेरा भी कुछ नहीं हो सकता। ध्यान रखें, इस सूत्र के बड़े गलत अर्थ किये गये हैं। 'किसी के धन की वांछा मत करना' इसके इतने गलत अर्थ किये गये हैं कि कभी-कभी हैरानी होती है। अधिकतर व्याख्याकारों ने इसका अर्थ किया है कि दूसरे के धन की वांछा पाप है, दूसरे के धन की चाह मत करना। लेकिन पागल मालूम पड़ते हैं। क्योंकि पहले सूत्र कहता है कि धन किसी का है ही नहीं। परमात्मा का है। तो जब पहले ही सूत्र कहता है कि धन मेरा नहीं तो तेरा कैसे हो सकता है? नहीं-नहीं, दूसरे के धन की वांछा इसलिए मत करना, कि जो धन मेरा नहीं है वह तेरा भी नहीं है। वांछा का उपाय तभी है जब वह तेरा हो—मेरा हो सके। नहीं तो वांछा का उपाय नहीं। लेकिन नीति-शास्त्रियों ने इसका जो उपयोग किया है वह यह किया है कि दूसरे के धन को सोचना भी पाप है! लेकिन जब मेरा ही धन नहीं है तो दूसरे का कैसे हो सकता है? इस सूत्र का अर्थ नीतिवादी नहीं निकाल पाएगा। यह सूत्र गहन है, गम्भीर है। नीतिवादी तो इसी फिक्र में होता है कि किसी के धन की चोरी मत कर लेना। किसी के धन को अपना मत मान लेना। लेकिन किसी का है, इस बात पर उल्टा जोर है। और ध्यान रहे, जो आदमी कहता है कि वह चीज आपकी है, वह आदमी मेरी है चीजें, इस भावना से कभी मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये दोनों संयुक्त भावनाएं हैं। जब तक मकान मेरा है तभी तक मकान तेरा है। जिस दिन मेरा नहीं रहा मकान उस दिन आपका कैसे रह जाएगा? दूसरे के धन की वांछा मत करना, इसका यह अर्थ नहीं है कि धन दूसरे का है और उसकी वांछा करना पाप है। इसका यह अर्थ है कि धन किसी का भी नहीं है, इसलिए वांछा पाप है। धन किसी का भी नहीं है, परमात्मा का है। उसे मेरा भी मत जानना और तेरा भी मत जानना। उसे मेरा जानकर मालिक भी मत बन जाना और दूसरे की मालकियत समझ कर उसे छीनने की कोशिश में भी मत पड़ जाना। न हम उसे छीन पायेंगे, न हम उसे बचा पायेंगे। वह परमात्मा का है, जिससे छीनने का कोई उपाय नहीं है, जिससे बचाने का कोई

उपाय नहीं है।

कैसा मजा है। एक जमीन के टुकड़े पर मैं तख्ती लगा देता हूं कि मेरी है। मैं नहीं था तब भी जमीन का टुकड़ा था। जमीन का टुकड़ा बहुत हंसता होगा। क्योंकि मुझसे पहले भी बहुत लोग तख्ती लगा चुके उस टुकड़े पर कि 'मेरी है'। और जमीन के टुकड़े ने उन सबको दफना दिया। उसी टुकड़े में दफना दिया जहां आप बैठे हैं। एक-एक आदमी जहां बैठा है वहां कम-से-कम दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी है। जमीन पर एक इंच जगह नहीं है जहां दस आदमियों की कब्र न बन चुकी हो। क्योंकि इतने आदमी हो चुके हैं कि एक-एक इंच जमीन पर दस-दस आदमी मर चुके हैं। उस जमीन को पूरी तरह पता है कि और भी दावेदार तख्ती लगा कर जा चुके हैं। मगर नहीं, आदमी है कि फिर तख्ती लगाएगा। और यह भी नहीं देखता कि पुरानी तख्ती पर ही रंग-रोगन करके अपना नाम लिख रहा है। वह यह भी नहीं देखता कि कल किसी को फिर पेंट करने की तकलीफ उठानी पड़ जायेगी। यह नाहक मेहनत हो रही है। जमीन हंसती होगी।

नहीं, दूसरे के धन की वांछा मत करना, क्योंकि धन किसी का भी नहीं है। ध्यान रहे मेरा जोर बहुत अलग है। मैं यह नहीं कहता हूं कि दूसरे के धन को अपना बना लेना पाप है। दूसरे के धन को दूसरे का या अपना मानना पाप है। किसी का भी मानना पाप है। परमात्मा के अतिरिक्त मालकियत किसी की भी है तो पाप है। अगर इसे समझेंगे तो ईशावास्य का जो गहरा आयाम है, वह ख्याल आएगा; नहीं तो इतना ही मतलब इन सूत्रों से निकल आता है कि हरेक अपनी-अपनी सम्पत्ति पर कब्जा रखे और दूसरे से सुरक्षा के लिए शिक्षा देता रहे चारों तरफ कि दूसरे के धन की वांछा मत करना। इसलिए अगर मार्क्स जैसे लोगों को यह लगा कि सब धर्मों ने धनपतियों को सुरक्षा दी है तो गलत नहीं लगा। क्योंकि ऐसे सूत्रों की जो व्याख्याएं की गयी हैं, वे व्याख्याएं गलत हैं। इससे ऐसा लगता है कि जो जिसका है वह उसका है, तुम छीनने की कोशिश मत करना। इसका मतलब साफ हुआ कि यह पुलिस को ही सहारा देने वाला है। व्यवस्था को, स्थिति-स्थापकता को, मालकियत को सहारा देने वाला सूत्र है। लेकिन यह सूत्र ऐसा है नहीं। क्योंकि यह सूत्र पहले ही घोषणा कर देता है, ईशावास्य की, सब-कुछ परमात्मा का होने की। परमात्मा ही मालिक है। न मैं मालिक हूं, न तू मालिक है, मालकियत भ्रम है। मालिक तो सिर्फ वही है जिसने कभी आकर घोषणा नहीं की कि मैं मालिक हूं। क्योंकि वह घोषणा किसके सामने करे? वह किसको कहे कि जमीन मेरी है? कहने के लिए कम-से-कम दूसरे की जरूरत पड़ती है। जब आप तख्ती लगाते हैं जमीन पर कि मेरी है तब ध्यान रखें, किसी के लिए लगाते हैं—कोई पढ़े, कोई जाने कि मेरी है। जंगल में नहीं लगाते हैं।

अगर बिल्कुल अकेले रह जाएं जमीन पर तो मैं नहीं मानता हूं कि ऐसे पागल आप होंगे कि तख्तियां लगाते फिरें कि 'मेरी है'। अगर आप अकेले जमीन पर बचें तो जमीन आपकी है। कहने का भी उपाय नहीं।

परमात्मा घोषणा नहीं करता, लेकिन वही मालिक है। ध्यान रहे, ईशावास्य के इस वचन का यह भी अर्थ है कि जो भी घोषणाएं करते हैं वह मालिक नहीं हो सकते। मालिक को घोषणा करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। मालिक अघोषित मालिक है। घोषणा सिर्फ नौकर करते हैं। जितने जोर से कोई घोषणा करता है समझना कि उतना ही शक है। कोई जोर से कहे कि नहीं मेरी है, तब आप पक्का समझ लेना कि इसकी नहीं हो सकती। घोषणा क्यों इतने जोर से की जा रही है? घोषणा हम सदा ही, जो नहीं है हमारा, उसे सिद्ध करने के लिए करते हैं। परमात्मा घोषणा नहीं करता। किसके लिए घोषणा करें? क्यों घोषणा करें? व्यर्थ होगी घोषणा। घोषणा बताएगी कि नहीं है उसकी। नहीं उसका ही है सब जिसने कभी नहीं कहा। जिन-जिनने कहा है उन-उन का बिल्कुल नहीं है। दूसरे के धन की वांछा मत करना, क्योंकि धन किसी का भी नहीं, परमात्मा का है। न अपना मानना उसे, न दूसरे का मानना उसे। उसे जानना प्रभु का। दूसरे भी उतने ही प्रभु के हैं जितने हम प्रभु के हैं। इसलिए छीन-झपट बेकार है। इसलिए छीन-झपट बेमानी है, अर्थहीन है, असंगत है। उसमें कोई युक्ति नहीं। व्यर्थ ही हम मेहनत कर रहे हैं। ऐसा श्रम उठा रहे हैं जो पानी में खींची गयी लकीरों जैसा खो जाएगा।

और भी एक बात—तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। कहा कि जो छोड़ते हैं वे ही भोग पाते हैं। लेकिन नहीं, ऐसा हमारा जानना नहीं है। हम तो जानते हैं कि जो पकड़ते हैं वे ही भोग पाते हैं। यह ऋषि उल्टी बात कहता है। कहता है जो छोड़ते हैं—तेन त्यक्तेन, वे ही भोग पाते हैं। बड़ी उल्टी बात है। जो छोड़ देते हैं वे ही भोग पाते हैं। जो नहीं मालिक बनते वे ही मालिक बन जाते हैं। जिनकी कोई पकड़ नहीं, उनके हाथ में सब आ जाता है। कुछ-कुछ ऐसा है जैसे कोई हवा को मुट्ठी में पकड़े। हवा को मुट्ठी में पकड़िए तब ख्याल आएगा—तेन त्वक्तेन भुंजीथाः। पकड़िए मुट्ठी में जोर से बांधिए मुट्ठी को—और हवा बाहर निकली। बांधते चले जाइए, आखिर में मुट्ठी ही रह जाएगी हवा उसमें नहीं बचेगी। खोल दें मुट्ठी को, बांधें। और हवा बड़ी प्रगाढ़ होकर होती है। खुली मुट्ठी में हवा होती है, बन्द मुट्ठी में हवा खो जाती है। जिसने जितने जोर से बांधा उतनी ही खाली हो जाती है। जिसने पूरी खोल दी, कभी खाली नहीं होती, सदा भरी होती है। और प्रतिपल ताजी हवाएं—प्रतिपल ताजी हवाएं भरती चली जाती हैं। कभी देखा, खुली मुट्ठी कभी खाली नहीं होती। बंधी मुट्ठी सदा खाली ही होती है। कुछ थोड़ा-बहुत बच भी जाए तो ठंडा और बासी और पुराना और

जरा-जीर्ण हो जाता है, सड़ जाता है। वे ही भोग पाते हैं जो त्याग पाते हैं।

इस जगत् में, इस जीवन में छोड़ने के लिए जो जितना राजी है उतना ही उसे मिलता है। पैरोडाक्सिकल है। लेकिन जीवन के सभी नियम पैरोडाक्सिकल हैं। जीवन के सभी नियम बड़े विरोधाभासी हैं। विरोधी नहीं—विरोधाभासी हैं। दिखायी पड़ते हैं कि विपरीत हैं। यहां जिस आदमी ने चाहा कि सम्मान मिले उसे अपमान सुनिश्चित है। जिस आदमी ने चाहा कि मैं धनी हो जाऊं, जितना धन मिलता जाता है वह आदमी भीतर उतना ही निर्धन होता चला जाता है। जिस आदमी ने सोचा कि मैं कभी न मरूं, वह चौबीस घण्टे मौत में घिरा रहता है। मौत का भय पकड़े रहता है। जिस आदमी ने कहा कि हम अभी मरने को राजी हैं उसके दरवाजे पर मौत कभी नहीं आती। जो मरने को राजी हुआ, उसे अमृत का पता चल जाता है। और जो मौत से भयभीत हुआ, वह चौबीस घण्टे मरता है। वह मरता ही है, जीने का उसे पता ही नहीं चलता। जिसने भी कहा कि मैं मालिक बनूंगा, वह गुलाम बन जाता है। और जिसने कहा कि हम गुलाम होने को भी राजी हैं, उसकी मालकियत का कोई हिसाब नहीं। मगर ये उल्टी बातें हैं। और इसलिए बड़ी कठिन हो जाती हैं। और इनके अर्थ जब हम निकालते हैं तो हम आमतौर से जो अर्थ निकाल लेते हैं वह इस विरोधाभास से बचने के लिए ही निकालते हैं—इसलिए वे गलत होते हैं। इसका भी वैसा ही अर्थ लोगों ने निकाला है। लोगों ने निकाला—तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, तो निकाला कि दान करो तो स्वर्ग में मिलेगा। गंगा के तट पर एक पैसा दो तो एक करोड़ मोक्ष में मिलने वाला है!

असल में महावाक्यों की जितनी दुर्दशा होती है जगत् में, उतनी और किसी चीज की नहीं होती। और ऋषियों के साथ जितना अन्याय होता है, उतना किसी और के साथ नहीं होता। क्योंकि उन्हें समझना कठिन हो जाता है। हम उनसे जो अर्थ निकालते हैं वे अर्थ हमारे होते हैं। हमने सोचा कि बात बिल्कुल ठीक है। कुछ दान करोगे तो परलोक में पाओगे। लेकिन पाने के लिए दान करोगे तो ध्यान रखना, सूत्र कहता है कि जो छोड़ता है उसे मिलता है, जो मिलने के लिए छोड़ता है उसको मिलता है, ऐसा नहीं कहता है। जो मिलने के लिए ही छोड़ता है वह तो छोड़ता ही नहीं। वह तो सिर्फ मिलने का इन्तजार करता है। जो आदमी कहता है कि मैं दान कर रहा हूं यहां, ताकि मुझे स्वर्ग में मिल जाए, वह छोड़ ही नहीं रहा। वह सिर्फ मुट्ठी आगे तक कस रहा है। अगर ठीक से समझें तो वह इस लोक में ही कस नहीं रहा है मुट्ठी, परलोक में भी मुट्ठी कस रहा है। वह कह रहा है यहां तो ठीक—वहां भी! वहां भी चाहिए। और अगर वहां कोई मिलने का पक्का भरोसा है तो हम यहां कुछ इनवेस्टमेंट कर सकते हैं। कुछ लगा सकते हैं—पूंजी—अगर परलोक में कुछ मिलने का पक्का हो।

नहीं, वह समझा ही नहीं। यह सूत्र यह नहीं कहता। यह सूत्र तो यह कहता है कि जो छोड़ता है उसे मिलता है। यह नहीं कहता कि तुम इसलिए छोड़ना ताकि तुम्हें मिले। क्योंकि मिलने की जिसकी दृष्टि है वह तो छोड़ ही नहीं सकता। वह तो सिर्फ इनवेस्ट करता है, वह छोड़ता कभी नहीं। वह तो सिर्फ पूंजी नियोजित करता है ताकि और मिल जाए। एक आदमी एक लाख रुपया कारखाने में लगाता है तो दान कर रहा है? नहीं। वह डेढ़ लाख मिल सकेगा इसलिए लगा रहा है। फिर वह डेढ़ लाख भी लगा देता है। दान कर रहा है? वह तीन लाख मिले इसलिए लगा रहा है। वह लगाए चला जाता है, वह लगाए चला जाता है, इसलिए कि मुट्ठी को और कसना है। और पकड़ लेना है। जो आदमी भी दान करता है पाने के लिए, उसने दान के राज को नहीं समझा। दान का ख्याल ही उसको पता नहीं चला कि क्या है। यह सूत्र कहता है, इतना ही कहता है, सीधी-सीधी बात, कि जो छोड़ता है वह भोगता है। यह, यह नहीं कहता कि तुम्हें भोगना हो तो तुम छोड़ना। यह यह कहता है कि अगर तुम छोड़ सके तो तुम भोग सकोगे। लेकिन तुम भोगने का ख्याल अगर रखो तो तुम छोड़ ही नहीं सकोगे!

अद्भुत है सूत्र। पहले कहा, सब परमात्मा का है। उसमें ही छोड़ना आ गया। जिसने जाना सब परमात्मा का है उसे फिर पकड़ने को क्या रहा? पकड़ने को कुछ भी न बचा। सब छूट गया। और जिसने जाना कि सब परमात्मा का है और जिसका सब छूट गया और जिसका 'मैं' गिर गया वह परमात्मा हो गया। और जो परमात्मा हो गया वह भोगने लगा। वह रसलीन होने लगा, वह आनन्द में डूबने लगा। उसको पल-पल रस का बोध होने लगा। उसके प्राण का रोयां-रोयां नाचने लगा। जो परमात्मा हो गया उसको भोगने को क्या बचा? सब भोगने लगा वह। आकाश उसका भोग्य हो गया। फूल खिले तो उसने भोगे। सूरज निकला तो उसने भोगा। रात तारे आए तो उसने भोगे। कोई मुस्कुराया तो उसने भोगा। सब तरफ उसके लिए भोग फैल गया। कुछ नहीं है उसका अब। लेकिन चारों तरफ भोग का विस्तार है। वह चारों तरफ से रस को पीने लगा।

धर्म भोग है। और जब मैं ऐसा कहता हूं कि धर्म भोग है तो अनेकों को बड़ी घबराहट होती है। क्योंकि उनको ख्याल है कि धर्म त्याग है। ध्यान रहे, जिसने सोचा कि धर्म त्याग है वह उसी गलती में पड़ेगा—इनवेस्टमेंट की। त्याग जीवन का तथ्य है। इस जीवन में पकड़ना नासमझी है। पकड़ रहा है वह गलती कर रहा है—सिर्फ गलती कर रहा है। जो उसे मिल सकता था उसे वह खो रहा है। पकड़ कर खो रहा है। जो उसका ही था, उसने घोषणा करके कि मेरा है, छोड़ दिया। लेकिन जिसने जाना कि सब परमात्मा का है, सब छूट गया। फिर त्याग करन को नहीं बचता कुछ। ध्यान रखना, त्याग करने को भी उसी के लिए बचता

है जो कहता है, मेरा है। एक आदमी कहता है कि मैं यह त्याग कर रहा हूं तो उसका मतलब हुआ कि वह मानता था कि मेरा है। सच में जो कहता है, मैं त्याग कर रहा हूं उससे त्याग नहीं हो सकता है। क्योंकि उसे मेरे का ख्याल है। त्याग तो उसी से हो सकता है जो कहता है, मेरा कुछ है नहीं, मैं त्याग भी क्या करूं। त्याग करने के लिए पहले मेरा होना चाहिए। अगर मैं कह दूं कि यह मैंने आपको दिया—कह दूं कि यह आकाश मैंने आपको दिया, तो आप हंसेंगे। आप कहेंगे, कम-से-कम पहले यह पक्का तो हो जाए कि आकाश आपका है कि आप दिए ही दे रहे हैं! मैंने कह दिया मंगल ग्रह आपको दान कर दिया। पहले मेरा होना तो चाहिए।

त्याग का भ्रम उसी को होता है जिसे ममत्व का ख्याल है। नहीं, त्याग छोड़ने से नहीं होता। त्याग इस सत्य के अनुभव से होता है कि सब परमात्मा का है। त्याग हो गया। अब करना नहीं पड़ेगा। घटित हो गया। त्याग इस तथ्य की प्रतीति है कि सब परमात्मा का है, अब त्याग को कुछ बचा नहीं। अब आप ही नहीं बचे जो त्याग करें। अब कोई दावा नहीं बचा जिसका त्याग किया जा सके। और जो ऐसे त्याग की स्थिति में आ जाता है, सारा भोग उसका है। जीवन के सब रस, जीवन का सब सौंदर्य, जीवन का सब आनन्द, जीवन का सब अमृत उसका है। इसलिए यह सूत्र कहता है—तेन त्यक्तेन भुंजीथा:—जिसने छोड़ा उसने पाया। जिसने खोल दी मुट्ठी, भर गयी। जो बन गया झील की तरह, वह भर गया। जो हो गया खाली, वह अनन्त सम्पदा का मालिक है।

यह एक सूत्र आज सुबह के लिए। फिर शेष बात रात करेंगे।

अब सुबह के ध्यान के सम्बन्ध में दो-तीन बात समझ लें। फिर हम ध्यान में उतरेंगे। पहली बात जो मैंने समझाया वह सब ध्यान है। मुट्ठी खोलनी है और हवा से भर जायेंगे। जानना है कि सब परमात्मा का है और नृत्य भीतर जाग जायेगा। चालीस मिनट का ध्यान होगा। आंख और कान तो हमें बन्द कर लेने हैं पूरी तरह। जरा भी रोशनी न रह जाए।

पहले दस मिनट गहरी श्वास लेनी है। पूरी शक्ति लगा कर। ताकि सारी शक्ति कुण्डलिनी की भीतर जग जाए। शक्ति-जागरण से शरीर नाचने-डोलने लगे, कूदने लगे तो कूदने देना है, नाचने देना है, डोलने देना है। चिन्ता नहीं करनी है। दूसरे दस मिनट में शरीर को बिल्कुल छोड़ देना है आनन्द-मग्न भाव से। कूदेगा, नाचेगा, हंसेगा, चिल्लायेगा, गायेगा, जो भी करना चाहे करने देना है और उसे पूरी शक्ति से सहयोग करना है। तीसरे दस मिनट में शरीर के साथ सहयोग जारी रखना है और साथ ही पूछना है—'मैं कौन हूं?' यह भी बड़े आनन्द से मन्त्र की तरह पूछना है—मैं कौन हूं, यह भी पूछते चले जाना है। चौथे दस मिनट में कोई खड़ा रहेगा, कोई गिर जाएगा, कोई लेट जाएगा—जिसे जैसा लगे।

फिर दस मिनट मौन प्रतीक्षा करनी है कि परमात्मा हममें उतरे। हमने मुट्ठी खुली छोड़ दी, अब वह उसमें उतर सकता है। उसकी प्रतीक्षा करनी है।

सबसे पहले जैसे ही हम प्रयोग शुरू करेंगे, संकल्प कर लेना है। हाथ जोड़ कर परमात्मा के सामने संकल्प कर लेना है। हाथ जोड़ लें, आंख बन्द कर लें। परमात्मा को साक्षी रख कर हृदय में तीन बार संकल्प कर लें—मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हू कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे कर्म का लेप न हो ॥२॥

प्रवचन : १८
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ५ अप्रैल, १९७१

वह निमित्त है

संसार में कोई ऐसा दूसरा मार्ग नहीं है जिससे चल कर कर्म का लेप न हो। जिस मार्ग की ईशावास्य ने चर्चा की है वह मार्ग है—सब प्रभु को अर्पित करके जीना। सब उसके ही चरणों में छोड़ देना। सब उसको ही समर्पित कर देना। स्वयं के कर्त्ता का प्रभुत्व-भाव छोड़कर कर्मों से जो गुजरने को राजी है, उसे इस संसार में कर्म का कोई लेप नहीं होता है। एक ही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इस सम्बन्ध में दो-तीन बातें समझ लेनी उपयोगी हैं।

एक तो संसार में जीना और कर्म से लिप्त न होना बड़ी ही कीमिया, बड़ी ही कीमत, बड़ी बुद्धिमता (विजडम) की बात है। करीब-करीब ऐसे ही, जैसे कोई काजल की कोठरी से निकले और उसे काजल न लगे। फिर घड़ी-दो घड़ी की बात नहीं है। अगर एक जीवन को भी पूरा लूं तो कम से कम-से-कम सौ वर्ष और अगर अनेक जीवन को स्मरण करें तो अनेक सौ वर्ष, लाखों वर्ष की यात्रा है। एक ही जीवन की बात कही है इस सूत्र में कि जहां कम-से-कम सौ वर्ष जीवन है, सौ वर्ष काजल की कोठरी से कोई गुजरे निरन्तर—जागे, सोए, उठे, बैठे और काजल से अछूता रह जाए, बड़ी ही बुद्धिमत्ता की, बड़े योग की बात है। अन्यथा यही आसान और सहज है कि काजल पकड़ ले। इतना ही नहीं कि काजल छू जाए, बल्कि व्यक्ति काजल ही हो जाए यही साधारणतः सम्भव है। छूना तो स्वाभाविक मालूम होता है, लेकिन सौ वर्ष काजल के साथ रहना पड़े तो कठिन लगती है यह बात कि व्यक्ति ही काजल न हो जाए, काला न हो जाए। जो भी हमें करना पड़े उससे हम अछूते गुजर कैसे पायेंगे। करते हैं तभी हम उससे जुड़ जाते हैं। क्रोध करते हैं तो क्रोध से जुड़ जाते हैं। प्रेम करते हैं तो प्रेम से जुड़ जाते हैं। लड़ते हैं तो लड़ने से जुड़ जाते हैं। भागते हैं तो भागने से जुड़ जाते हैं। भोग करते हैं तो भोग भी पकड़ लेता है। और मजा तो ऐसा है जकड़न का कि त्याग करते हैं तो त्याग भी पकड़ लेता है। उससे भी काजल ही हाथ में आता है। भोग की तो अकड़ होती ही है कि मेरे पास इतना धन है, त्याग की भी अकड़

होती है कि मैंने इतना धन त्यागा ! वह अकड़ काजल बन जाती है, वह अकड़ अहंकार है। आदमी एक जीवन के सौ वर्ष कैसे भी गुजारे, कुछ तो करेगा। और जो भी करेगा, वही उसके काले होने का रास्ता बन जाएगा।

ईशावास्य का सूत्र कहता है, लेकिन एक मार्ग है जिस मार्ग से सौ वर्ष उस काली कोठरी से गुजर कर भी व्यक्ति अपनी शुद्धता को लेश मात्र भी नहीं खोता और व्यक्ति को कर्मों का कोई लेप नहीं होता है। असम्भव लगती है बात। लेकिन जिस सूत्र की ईशावास्य बात कर रहा है, अगर हम ठीक से समझ लें तो असम्भव नहीं रह जाएगी। सूत्र यह कह रहा है कि व्यक्ति कुछ भी करे काजल लग ही जाएगा—कर्त्ता हुआ कि काला हुआ। तो एक ही रास्ता रह जाता है कि व्यक्ति कर्त्ता ही न रह जाए। कर्म से तो बचा नहीं जा सकता। जिऐंगे तो कर्म तो होगा ही। इसलिए अगर कोई कहता है कि कर्म को छोड़ दें तो फिर कोई लेप नहीं होगा, तो गलत कहता है, क्योंकि जिऐंगे तो कर्म तो होगा ही। श्वास भी लेनी है तो कर्म हो जाएगा। दुकान जो करता है वही कर्म करता है ऐसा नहीं, जो भिक्षा मांगता है वह भी कर्म करता है। और जो घर बसाता है वह ही कर्म करता है ऐसा नहीं है, जो घर छोड़कर वन में चला जाता है वह भी कर्म करता है। उनके कर्म भिन्न हो सकते हैं, लेकिन एक कर्म है और दूसरा अकर्म है ऐसा नहीं, दोनों ही कर्म हैं। यहां तक कि जीना ही जहां कर्म है, छोड़ना भी जहां कर्म बन जाएगा, वहां कर्म को छोड़कर अगर कोई सोचता हो कि हम काले काजल से बच जाऐंगे तो व्यर्थ सोचता है। उस सोचने से कभी भी कोई घटना घटने वाली नहीं है। कर्मों को छोड़कर कोई भाग सकता है, लेकिन तब पलायन ही उसका कर्म बन जाता है। भागना ही उसका कर्म बन जाता है। वह भी पकड़ लेता है। एक ही रास्ता दिखायी पड़ता है, वह यह कि कर्म से तो छूटने का उपाय नहीं है, लेकिन कर्त्ता से छूटा जा सकता है। लेकिन अगर कर्म जारी रहेगा तो कोई कर्त्ता से छूटेगा कैसे ? जब मैं कर्म करूंगा, तब कर्त्ता तो हो ही जाऊंगा न ? लेकिन ईशावास्य कहता है, कर्म करते हुए भी कर्त्ता से छूट सकते हो। साधारणत: हमें दिखायी पड़ता है कि कर्म से छूट जाएं तो शायद कर्ता से छूट जाएं। न करूंगा कर्म, न बनूंगा कर्त्ता। लेकिन ईशावास्य कहता है, यह सम्भव नहीं है। सम्भव इससे उल्टी बात है। और वह है कि कर्म तो तुम करते रहो और कर्त्ता से छूट जाओ। यह कैसे होगा ? ऐसे कर्म से हम थोड़ा-बहुत परिचित हैं। जब भी हम अभिनय करते हैं तब हमें ख्याल में आती है बात कि कर्म हो सकता है और कर्त्ता नहीं हो। राम की सीता खो जाए तो राम रोते हैं, वन में। वृक्षों को पकड़-पकड़ कर चिल्लाते हैं, पूछते हैं सीता कहां है। और रामलीला के मंच पर भी किसी राम की सीता खो जाती है। वह भी रोता है। वह भी वृक्षों से पूछता है सीता कहां है ? और शायद राम से कहीं ज्यादा ही जोर से चिल्ला कर पूछता है। शायद राम से ज्यादा

कुशलता से पूछता है। क्योंकि राम को तो रिहर्सल का कोई मौका मिला नहीं। पात्र ने तो काफी अभ्यास किया है। कर्म तो करता है वही जो राम ने किया—रोता है, पूछता है सीता कहां है ? लेकिन पीछे कर्त्ता नहीं होता, अभिनेता होता है।

ध्यान रहे, कर्म दो तरह से हो सकता है—कर्त्ता होते हुए भी हो सकता है, अभिनेता होते हुए भी हो सकता है। कर्त्ता की जगह अभिनेता आ जाए तो कर्म तो बाहर जारी रहेगा, लेकिन भीतर समस्त रूपान्तरण हो जाता है। अभिनय बांधता नहीं है। अभिनय बाहर ही बाहर रह जाता है, भीतर उसका प्रवेश नहीं होता। अभिनय गहरे में नहीं उतरता, सतह पर घूमता है और बिदा हो जाता है। कितना ही रोता हो अभिनेता राम, और कितना ही आंसू टपकाता हो, उसके आंसू प्राणों से नहीं आते। अक्सर तो उसे आंखों में अंजन लगाना पड़ता है कि आंसू आ जाएं। अंजन न भी लगाए, अभ्यास से भी ले आता है तो भी आंसू सतह से आते हैं, गहराई से नहीं आते। चिल्लाता है। आवाज आती है, पर कण्ठ से ही आती है हृदय से नहीं आती। भीतर सब अछूता रह जाता है। भीतर कुछ भी छूता नहीं। भीतर सब अस्पर्शित रह जाता है। निकलता है काजल की कोठरी से, लेकिन भीतर कर्त्ता नहीं है, अभिनेता है। ध्यान रहे, कर्त्ता पकड़ता है काजल को, कर्म नहीं। अगर कर्म ही पकड़ता है काजल को तब तो ईशावास्य जो कहता है वह नहीं हो सकता। गीता जो कहती है वह नहीं हो सकता। फिर तो कर्म करते हुए कर्म से कोई छुटकारा नहीं है। और जीते जी कर्म से कोई छूटता नहीं। फिर तो मरने पर ही कर्म से छुटकारा हो सकता है। फिर तो जीवित रहते मुक्ति नहीं मालूम होती। लेकिन जो जीते जी मुक्त नहीं हो सका वह मर कर कैसे मुक्त हो सकेगा ? जो जीते जी मुक्त नहीं हो सका, वह मर कर तो हो ही नहीं सकता है।

कर्म अगर पकड़ता हो उसे जो काजल है जीवन का, अगर कर्म पर लेप चढ़ जाता हो उसका, तब तो असम्भव है छुटकारा। लेकिन जो गहरे खोजते हैं वह कहते हैं, कर्म को नहीं कर्त्ता को पकड़ता है। जब भी कोई कहता है, 'मैं कर्त्ता हूं', बस तभी। जब कर्म और 'मैं' का जोड़ होता है तभी। जब 'मैं' और कर्म का तादात्म्य, आइडेन्टिटी होता है, तभी। जब 'मैं' कर्म के साथ अपने को एक कर लेता हूं और कहता हूं, मैं करता हूं, बस तभी-तभी वह काजल पकड़ लेता है। और तभी जीवन अंधेरे से और कालिमा से भर जाता है। अगर भीतर कोई कहने वाला न हो कि मैं कर्त्ता हूं और भीतर अगर कोई जानने वाला हो कि अभिनय हो रहा है कि मंच पर नाटक के पात्र इकट्ठे हुए हैं—होगी बड़ी मंच, पूरी पृथ्वी मंच हो सकती है, मंच के बड़ी होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। और पर्दा एक ही बार उठता होगा जन्म के वक्त और मृत्यु के वक्त गिरता होगा। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि एकांकी लम्बा है, कि एक ही बार पर्दा उठता-गिरता है।

इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, अगर भीतर अभिनय का ख्याल है, ऐक्टिंग का ख्याल है—ऐक्टर का नहीं। भीतर करने वाले का ख्याल नहीं है अभिनय का ख्याल है, तो सारा जगत् एक लीला, एक नाटक, एक मंच, और जीवन एक कथा, एक कहानी हो गया। फिर हम पात्र हैं और पात्रों को कुछ भी नहीं छूता है।

ईशावास्य के इस सूत्र में कहा है, एक ही मार्ग है कि मनुष्य जीते जी कर्म से गुजरते हुए भी कर्म में लिप्त न हो। वह मार्ग है, जीवन को एक अभिनय में रूपान्तरित कर लेना। लेकिन हम बहुत अद्भुत लोग हैं। हम अभिनय को तो जीवन में रूपान्तरित कर लेते हैं, लेकिन जीवन को अभिनय में रूपान्तरित नहीं कर पाते। अभिनय को जरूर हम बहुत बार जीवन बना लेते हैं। बहुत बार तो हमारा जीवन, हमारे सीखे हुए अभिनय का बहुत मजबूती से हमारे ऊपर लग जाना होता है। अगर हम मनसविद् से पूछें तो मनसविद् कहते हैं कि व्यक्ति का, जो भी हमें आचरण दिखायी पड़ता है वह सब सिखाया हुआ आचरण है। सब कल्टीवेटेड, कण्डीशनिंग है। जिसे हम मनुष्य का स्वभाव कहते हैं, कहते हैं, इस आदमी का यह स्वभाव है। मनसविद् कहता है, आदमी का कोई भी स्वभाव नहीं। अगर आदमी का कोई भी स्वभाव है तो वह अन्तहीन तरलता है। मनुष्य ऐसा है, जैसे हम पानी को एक गिलास में भर दें तो वह गिलास जैसा हो जाए। और एक लोटे में भर दें तो वह लोटे जैसा हो जाए। और एक गागर में डाल दें तो वह गागर जैसा हो जाए। और जैसा हो बर्तन का आकार, वैसा ही पानी आकार ले ले। पानी का कौन-सा स्वाभाविक आकार है? पानी का कोई स्वाभाविक आकार नहीं है। पानी का स्वभाव अनन्त आकार लेने की क्षमता है। इसलिए जो भी रूप होगा पानी तत्काल वही आकार ले लेगा। पानी जिद्दी नहीं है। पानी हठी नहीं है। वह यह नहीं कहता है कि मैं इसी आकार में रहूंगा। वह कहता है, कोई भी आकार हो, हम राजी हैं।

मनुष्य का भी कोई स्वभाव नहीं है। जिसे भी हम स्वभाव कहते हैं वह सिखायी गयी व्यवस्था है। सीखे हुए वर्तुल में, संस्कार के ढांचे में किया गया आचरण है। इसलिए एक व्यक्ति मांसाहारी के घर में पैदा होता है तो मांसाहार करने लगता है। स्वभाव नहीं है। उसे ही हम शाकाहारी के घर में पालें, वह शाकाहार करने लगेगा। तब मांस देखकर उसे उल्टी हो जाएगी, वमन हो जाएगा, घबराहट हो जाएगी। नहीं, ऐसा मत सोच लेना कि शाकाहारी के घर में जो बड़ा हुआ है वह बड़ा गुणी है। और मांसाहारी के घर में बड़ा हुआ तो बड़ा दुर्गुणी है। नहीं, बड़े होने के भेद हैं। बर्तन का आकार है वह पकड़ लिया गया है। बचपन से हम हर एक व्यक्ति को कुछ सिखा रहे हैं। वह सिखावन अगर ठीक से समझें तो जीवन में जो अभिनय उसे करना है, उसकी तैयारी है। जिन्हें हम शिक्षालय कहते हैं, वह हमारे रिहर्सल के स्थान हैं। जहां हम जीवन के अभिनय

की तैयारी करते हैं, उसके प्रशिक्षण के स्थल हैं वे। परिवार, समाज, स्कूल, विश्वविद्यालय—वहां हम तैयार करते हैं एक व्यक्ति को एक खास ढंग से ऐक्ट करने के लिए। एक व्यक्ति को हम हिन्दू की तरह तैयार करते हैं। एक व्यक्ति को हम अमरीकन की तरह तैयार करते हैं। एक व्यक्ति को हम ईसाई की तरह तैयार करते हैं। एक को हम चीनी की तरह तैयार करते हैं। और फिर वह तैयार हो जाते हैं, और कल, कल जब ढांचे उनके मजबूत हो जाते हैं तो ऐसा लगता है कि यह उनका स्वभाव है। नहीं, यह सब सिखाए गए अभिनय हैं। जो इतने मजबूती से पकड़ लिए गए कि उनको करते वक्त व्यक्ति को ख्याल ही नहीं आता कि मैं अभिनय कर रहा हूं।

कभी आपको ख्याल आया कि आप कौन हैं? हिन्दू, जैन, मुसलमान, ईसाई ये आपको सिखाए गए अभिनय हैं। जो आपको न सिखाए गए होते तो आपने कभी न सीखे होते। लेकिन जब आप कहते हैं, हिन्दू हूं, तब आप कर्त्ता बन जाते हैं। तब तलवारें चल सकती हैं। तब जान ली और दी जा सकती है। और अगर कोई कह दे, हिन्दू नहीं हैं आप, तो उपद्रव हो सकता है। मनसविद् कहते थे कि वह जो आदत है वह दूसरा स्वभाव है, हैबिट इज दि सैकेण्ड नेचर ऐसा पुराने मनसविद् कहते थे। नये मनसविद् कहते हैं, स्वभाव जो है वह पहली आदत है नेचर इज दि फर्स्ट हैबिट। सुना है हमने निरन्तर कि आदत जो है वह दूसरा स्वभाव है, लेकिन जितनी ज्यादा खोज होती है आदमी के स्वभाव की उतना ही पता चलता है कि जिसे हम स्वभाव कहते हैं वह पहली आदत है—बहुत गहरे में बैठ गयी। फिर इतनी मजबूत हो गयी कि व्यक्ति भूल गया कि मैं अभिनय कर रहा हूं। अगर आपको याद रहे कि आप अभिनय कर रहे हैं तो छुरेबाजी नहीं होगी। आप कहेंगे क्या पागलपन है। मैं हिन्दू होने का खेल खेल रहा हूं, आप मुसलमान होने का खेल खेल रहे हैं, इसमें झगड़ा कहां है। नहीं, झगड़ा वहां आ जाता है जहां यह खेल नहीं है—ये गम्भीर बातें हैं, यह मामला खेल का नहीं है। एकबर्न ने एक किताब लिखी है—खेल जो लोग खेलते हैं, गेम्स दैट पीपुल प्ले। उसमें फुटबाल और हाकी और ताश और कैरम और शतरंज ही नहीं गिनाये, उसमें उसने हिन्दू, मुसलमान, ईसाई भी गिनाये हैं। यह भी खेल है जो लोग खेलते हैं—हालांकि महंगे पड़ जाते हैं। कभी-कभी शतरंज में भी तलवार चल जाती है तो अगर हिन्दू-मुस्लिम में चल जाती है तो कोई बहुत हैरानी की बात नहीं है। गम्भीरता से पकड़ लिए, अभिनय लगते हैं कि जीवन हो गए। और जो-जो सिखा दिया जाता है वह पकड़ लिया जाता है। सारी दुनिया में स्त्रियों को सिखा दिया गया कि वे पुरुष से हीन हैं, पकड़ लिया। सीख गयीं। हालांकि ऐसे समाज भी हैं मातृ-सत्ता वाले जहां सिखाया गया है कि पुरुष स्त्रियों से हीन हैं। वहां वैसी बात लोग सीख गए। ऐसे कबीले भी हैं जहां स्त्री श्रेष्ठ है और पुरुष हीन हैं। और बड़े मजे की

बात तो यह है कि जिन कबीलों में यह सिखाया गया कि स्त्री श्रेष्ठ है और पुरुष हीन हो गया और स्त्री श्रेष्ठ हो गयी है। और जहां सिखाया गया स्त्री हीन है वहां स्त्री हीन हो गयी और पुरुष श्रेष्ठ हो गया।

पानी की तरह हम बर्तनों में ढाल देते हैं आदमी को। फिर अभिनय इतनी मजबूती से पकड़ लेते हैं अहंकार को कि वह यह नहीं कहता कि मैं अभिनय कर रहा हूं, वह यह कहता है यह 'मैं हूं'। यह हिन्दू होना मेरा खेल नहीं है,—यह मैं हूं। और जिस क्षण आपने कहा कि 'मैं हूं' उस क्षण आपके ऊपर कालिख लगनी शुरू हो गयी। और आप पर ही लगे तो कम है। जिस आदमी पर कालिख लगनी शुरू होती है वह दूसरों पर भी कालिख फेंकना शुरू कर देता है। कालिख ही होती है हाथ में, वही हम लेन-देन करते हैं। खुद भी काले होते हैं और दूसरों को भी काले कर देते हैं। फिर सारी जिन्दगी कालिमा से भर जाती है। हम अभिनय को भी कर्त्ता की तरह करने की तैयारी करते हैं। दो छोटे बच्चे एक गुड्डा और गुड्डी का विवाह करवाते हैं तो हम कहते हैं खेल खेल रहे हैं। लेकिन कभी ख्याल किया है कि स्त्री-पुरुष का विवाह भी थोड़े बड़े पैमाने पर गुड्डा और गुड्डियों के विवाह से ज्यादा नहीं है। सब रीति-रस्म वही हैं। सब हिसाब वही है, सब व्यवस्था, ढोल-बाजे वही हैं। सब ढोंग, सब इन्तजाम वही है। फर्क सिर्फ इतना है कि उसे छोटे उम्र के बच्चे खेलते हैं और इसे बड़े उम्र के बच्चे खेलते हैं। छोटे उम्र के बच्चे जल्दी भूल जाते हैं। सांझ को भूल जाते हैं कि सुबह शादी की थी। ये बड़े उम्र के बच्चे अदालतों तक में लड़ते हैं, भूलते नहीं। मजबूती से पकड़ लेते हैं।

लेकिन कोई मानने को राजी न होगा कि विवाह एक खेल है। कठिनाई मालूम पड़ेगी। क्योंकि विवाह अगर एक खेल हो जाए तो उसके आस-पास बना परिवार भी एक खेल हो जाएगा और उस परिवार के आस-पास बना हुआ समाज भी खेल हो जाएगा। और समाज के आस-पास फैला हुआ सारे मनुष्य का जगत् एक खेल हो जाएगा। इसलिए एक-एक कदम हमको मजबूत रखना पड़ता है कि नहीं, विवाह खेल नहीं है, गम्भीर बात है, जीवन-मरण की समस्या है। परिवार खेल नहीं है, समाज खेल नहीं है। फिर एक-एक कदम चीजें मजबूत पत्थर की तरह होती चली जाती हैं। फिर सब सख्त हो जाता है। और जो आदमी उसको खेल की तरह लेगा हम उसकी जान ले लेंगे। क्योंकि वह हमारी सारी गम्भीर व्यवस्था को तोड़ रहा है। वह हमारे खेल के नियमों को नहीं मान रहा है। हम उससे बदला लेंगे। जिन्दगी हमारी पूरी की पूरी एक लम्बा अभिनय है। लेकिन अभिनय को हमने ऐसा ढाल लिया है कि हम कहते हैं हमारा कर्तव्य है।

ईशावास्य उल्टी बात कहता है। वह कहता है, अभिनय को तो अभिनय जानो ही, ऐसी कोई भी घटना नहीं है जगत् में जिसके लिए तुम कर्त्ता बनने के पागलपन

में पड़ो। पागल हो तुम जो कर्त्ता बनो। कर्त्ता तो तुम परमात्मा को ही बनने दो। उस पर ही छोड़ दो—जो सदा है, तुम नहीं थे तब भी था, तुम नहीं होओगे तब भी होगा। उस पर ही छोड़ दो सब। करना उस पर ही छोड़ दो। तुम करने के बोझ को मत लो। वह बोझ बहुत ज्यादा पड़ जाएगा, तुमसे ज्यादा पड़ जाएगा। तुम्हारी सामर्थ्य से ज्यादा है वह पत्थर, बड़ा है वह बोझ। उसके नीचे दबोगे और मर जाओगे। उससे उभर न पाओगे। लेकिन हमारे अहंकार को कठिनाई होती है। हमारे अहंकार को रस आता है इसमें, जितना बड़ा पत्थर हमारी छाती पर हो उतना रस आता है। जितना बड़ा पत्थर कोई आदमी छाती पर उठा ले उतनी अकड़ आती है। लगता है कि मैं इतना बड़ा पत्थर उठा रहा हूं। तुम तो कुछ भी नहीं उठा रहे हो। मैं बहुत बड़ा पत्थर उठा रहा हूं। राष्ट्रपति हैं, प्रधानमन्त्री हैं, ये बड़े पत्थरों का मजा लेते लोग हैं हजार गाली खाते हैं, हजार मुसीबत में पड़ते हैं—बड़ा पत्थर उठाने के लिए! कि बड़ा पत्थर छाती पर हो! वह इतना बताता हो कि तुम्हारी छाती पर बहुत छोटा पत्थर है—कि तुम ग्राम-पंचायत के प्रमुख हो बस न? कहां हम राष्ट्रपति, कहां तुम ग्राम-पंचायत के प्रमुख! वह ग्राम-पंचायत का पागलपन जो हो रहा है वह जरा छोटी मंच है। और राष्ट्रपति की जरा बड़ी मंच है, दि सेम प्ले आन ए लार्जर स्केल। वह ग्राम-पंचायत का जो सरपंच है वह भी पीड़ित है कि कब पहुंच जाए, कि वह भी कोई बड़ा पत्थर उठा ले। इस सारी जिन्दगी में जितना बड़ा पत्थर छाती पर है आदमी के, हम उतना बड़ा आदमी कहते हैं उसे।

सच्चाई उल्टी है। जो जानते हैं वे कहते हैं जिसकी छाती पर पत्थर ही नहीं है वह आदमी फूल की तरह हल्का है—जिसके ऊपर कोई बोझ नहीं। लेकिन ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है। छोटे में छोटा बोझ तो हर आदमी रखे ही रहता है। नहीं होता ग्राम-पंचायत का सरपंच तो अपने घर का प्रमुख तो होगा ही! और ऐसा भी नहीं है कि घर में बाप ही प्रमुख होता है। जरा बाप बाहर चला जाए तो छोटा बच्चा अपने से छोटे बच्चों का प्रमुख हो जाता है। डॉमिनेट करने लगता है फौरन। आपके सामने लड़ रहा होगा आपका बच्चा छोटे भाई से। आप हट जाएं, आप अचानक पाएंगे कि वह डॉमिनेट करने लगा। वह वही रोल अदा करने लगा जो आप कर रहे थे। पैमाना छोटा होगा, हैसियत कम होगी लेकिन खेल वही होगा। आप दो सौ और चार सौ के बीच में खेल खेलते हैं, वह दो और चार के बीच में खेलेगा। अनुपात का कोई फर्क नहीं है, आंकड़ों का फर्क है। छोटे बच्चे छोटा खेल खेलेंगे, बड़े बच्चे बड़ा खेल खेलेंगे। बूढ़े और बड़ा खेल खेलते चले जाएंगे। आदमी को बड़ी कठिनाई होती है अगर वह यह न बता पाए कि मेरी छाती पर कोई पत्थर है। तो यह भी मजे की बात है कि जितना बड़ा पत्थर होता है वह अक्सर उससे ज्यादा बड़ा बताता है।

मैं जिस विश्वविद्यालय में था, एक महिला मेरे साथ प्रोफेसर थीं। उनकी बीमारियां सुन-सुन कर मैं बहुत हैरान हो गया। इतनी बीमारियां भी किसी को हो सकती हैं ! जब भी वह मिलती, कुछ बड़ी बीमारी—छोटी बीमारी उन्हें होती नहीं। फिर उनके पति को पूछा कि इतनी बीमारियां ! ऐसे तो पत्नी ही काफी होती है, ऊपर से इतनी बीमारियां, आप कैसे चला लेते हैं ? उन्होंने कहा, आप बातों में मत पड़ना। उसे छोटी बीमारी होती ही नहीं। सर्दी-जुकाम भी हो तो क्षय रोग से, टी० बी० से कम की वह बात नहीं करती। मैं हैरान हुआ कि बीमारी को बड़ा करके बताने में क्या राज होगा ?

है राज। बड़ी बीमारी है तो बड़ा पत्थर छाती पर है। छोटी बीमारी है तो दो कौड़ी के आदमी हैं आप। बीमारी भी है तो भी छोटी है, कोई हैसियत की बीमारी न हुई। इसीलिए बड़ी बीमारियों को राजरोग कहते हैं। क्षयरोग था तो राजरोग था। छोटे गरीबों को नहीं होता था, सिर्फ शहंशाहों को होता था।

मैं अभी पढ़ रहा था कि एक महिला ने एक डाक्टर के पास जाकर कहा कि मेरा अपेंडिक्स निकाल डालिए। तो उसने कहा, तुम्हारे अपेंडिक्स में कोई तकलीफ भी होनी चाहिए ? उसने कहा हो या न हो। मैं जिस क्लब की मेम्बर हूं वहां सब स्त्रियों का—किसी का अपेंडिक्स निकाला गया है किसी का कुछ निकाला गया है, मेरा कुछ नहीं निकला है। मुझे कोई बात करने को नहीं मिलता।

आदमी की छाती पर पत्थर चाहिए इसलिए फूल जैसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो कह सके मेरे ऊपर कोई बोझ नहीं है। ऐसा वही कह सकेगा जिसने सारा बोझ परमात्मा को दे दिया है। और मजे की बात यह है कि सारा बोझ परमात्मा पर है ही। आप व्यर्थ ही बीच के मध्यस्थ बन जाते हैं। हमारी हालत उस आदमी जैसी है जो ट्रेन में बैठ गया था। अपना बिस्तर सिर पर रखे हुए था। पास-पड़ोस के लोगों में बहुत कहा नीचे रख दो, क्यों कष्ट उठाते हो। उसने कहा टिकट लेकिन मैंने सिर्फ अपने ही लिए हैं। भला आदमी था, सज्जन था। उसने कहा, टिकट सिर्फ मैंने अपने लिए हैं। बोझ की टिकट ली नहीं। इस पेटी को, इस बिस्तर को मैं नीचे कैसे ट्रेन पर रख दूं। यह तो सरकार के साथ धोखा होगा। इसलिए इसको मैं सिर पर रखे हुआ हूं। अब उस भोले आदमी को पता नहीं कि वह अपने सिर पर भी रखे रहे तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, ट्रेन को तो बोझ ढोना ही पड़ता है। बोझ तो परमात्मा ही ढोता है। सारा करतब तो परमात्मा ही करता है। लेकिन हम परमात्मा की ट्रेन पर सवार अपना-अपना बिस्तर, अपने-अपने सिर पर रखे हुए बड़े सुख लेते हैं रास्ते में। ओर जिनके ऊपर छोटे वजन हैं उनको कहते है तुम्हारी जिन्दगी बेकार गयी। कुछ बोझ तो बड़ा कर लेते। मरते वक्त इतना बोझ तो होता कि लोग कहते कि कुछ छोड़ गया। इसीलिए जब कोई मर जाता है तो जो नहीं भी छोड़ गया उसकी भी हम चर्चा करते हैं। जो बोझ उस पर नहीं

था उसकी भी चर्चा करते हैं।

मैंने सुना है कि एक आदमी मर गया। और जब गांव की पादरी उसकी कब्र के पास खड़े होकर उसके ताबूत को कब्र में उतारने लगा तो बातें करने लगा बड़ी—उसके गुणों की, उसके कामों की, उसने जो किया, उसकी सेवाओं की। उसकी पत्नी थोड़ी चिन्तित हुई। उसने अपने बेटे से कहा कि जरा झुक के देख, ताबूत में तेरे पिता का ही चेहरा है न ? क्योंकि ये काम कभी हमने सुने नहीं कि उन्होंने किए हों ! रात जाकर उसने पादरी से पूछा, आप यह क्या बातें कह रहे थे ? जहां तक मैं जानती हूं, मेरे पति ने इस तरह के कोई काम नहीं किए। पादरी ने कहा, भले ही न किए हों। लेकिन जो आदमी मर गया उसका अगर कुछ काम न बताया जा सके तो लोग क्या कहेंगे।

वॉल्तेयर का एक मित्र था, वह मरा। मित्र ऐसा था कि जिन्दगी भर वॉल्तेयर को गाली देता रहा। हर तरफ से वॉल्तेयर की आलोचना करता रहा। वॉल्तेयर की हर चीज की खिलाफत करता रहा। आदमी अच्छा भी नहीं था। मरा तो कुछ लोग वॉल्तेयर के पास आए और कहा कि कुछ भी हो, आखिर तुम्हारा मित्र था। माना कि तुम्हें बहुत गालियां दीं, तुम्हें बहुत भला-बुरा कहा, जिन्दगी भर तुम्हारी जड़ें काटीं, लेकिन फिर भी अब मर गया है, तुम दो शब्द उसकी प्रशंसा में लिख दो। तो वॉल्तेयर ने लिखा कि ही वाज ए गुड मैन, ऐण्ड दि ग्रेट वन—प्रोवाइडेड, ही इज रिअलि डेड—बड़ा आदमी था, बड़े काम किए, लेकिन अगर पक्का हो कि मर गया है तो हम यह कह सकते हैं।

जिन्दा है तो हम नहीं कह सकते। मरे हुए आदमी की हमें प्रशंसा करनी पड़ती है। जो पत्थर उसने नहीं भी उठाए वह भी उससे उठवाने पड़ते हैं। ऐसा भी क्या आदमी जिसके बाबत कहने को कुछ भी न हो पीछे। ईशावास्य लेकिन उसी आदमी की बात कर रहा है। वह कह रहा है जिसने सारा कर्तृत्व परमात्मा पर छोड़ दिया। जो कहता है, मैं हूं ही नहीं, तू ही है। कर्त्ता है तो तू। मैं ज्यादा-से-ज्यादा तेरे खेल का एक मोहरा हूं। तू जहां चल दे चाल। तू जो बना दे, तू जो करवा दे। तू हरा दे तो हार जाऊं, तू जिता दे तो जीत जाऊं। न जीत मेरी, न हार मेरी। हार भी तेरी, जीत भी तेरी। ऐसा जिसका पूरा समर्पण है, जो कहता है सब परमात्मा का है—मैं भी उसी का, सब कृत्य उसका। वह भी जिएगा, श्वास लेगा, चलेगा, उठेगा, बैठेगा, काम भी करेगा, खाना भी खायेगा और रात सोएगा भी। यह सब होगा, लेकिन भीतर कर्त्ता नहीं होगा। और यह एक ही मार्ग है। और मैं भी कहता हूं कि ईशावास्य का ऋषि ठीक कहता है। यह एक ही मार्ग है। आज तक पृथ्वी पर जो लोग भी सच में ही पूरी तरह इस जीवन से अलिप्त गुजर गए हैं—अछूते, ताजे के ताजे, जैसे के तैसे—आए थे वैसे ही सरल—वे वे ही लोग थे जिन्होंने किसी तरह के अहंकार को बीच की यात्रा में अर्जित

नहीं किया। जो बिना अहंकार के जिए। अहंकार अर्थात्—कर्त्ता का भाव। निरहंकार अर्थात्—समर्पण का भाव—उस प्रभु के चरणों में सब दे देने की भावना।

असुर्या नाम ते लोका: अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यामिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं वे मरने के अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं ॥३॥

उपनिषद् मनुष्यों के दो विभाजन करते हैं। एक तो वे लोग जो आत्मा का हनन करने वाले हैं। अपनी ही आत्मा के हन्ता हैं, सूसाइडल हैं और एक वे लोग जो अपनी ही आत्मा के विज्ञाता हैं, जानने वाले हैं। आत्मज्ञानी और आत्महन्ता। ध्यान रहे, आत्महन्ता शब्द का हम प्रयोग करते हैं। लेकिन ठीक अर्थों में उपनिषद् ने प्रयोग किया है हम ठीक अर्थों में प्रयोग नहीं करते। अगर कोई आदमी अपने शरीर को मार डाले तो हम कहते हैं आत्महत्या की है उसने। ठीक नहीं है यह बात क्योंकि शरीर को मार डालना आत्मा को मार डालना नहीं है। शरीर की हत्या आत्महत्या नहीं है। स्वयं की ही है, फिर भी स्वयं की नहीं। वस्त्र के आवरण की ही बदलाहट है। शरीर-घात है आत्महत्या नहीं। उपनिषद् तो उसे आत्महन्ता कहता है जो अज्ञान से आच्छादित अपने को बिना जाने ही जी लेता है। वह आदमी अपनी आत्मा की हत्या कर रहा है। अपने को बिना जाने जीना आत्महत्या है। और हम सब अपने को बिना जाने जीते हैं। हम जीते हैं जरूर लेकिन यह बिल्कुल पता नहीं होता कि हम कौन हैं, कहां से हैं, क्यों हैं, किसलिए हैं? किस ओर से हैं, कहां जाते हैं, क्या प्रयोजन है? क्या अर्थ है इस होने का? नहीं, हमें कुछ भी पता नहीं। हमें अपना कोई भी पता नहीं।

हमें और बहुत-सी बातें शायद पता है। एक बात तो सुनिश्चित पता नहीं है, हमें अपना कोई पता नहीं। हमें उपनिषद् कहेगा—आत्महन्ता लोग हैं, असुर हैं। हम अपने को जब तक जानते नहीं तब तक हम जाने-अनजाने अपने को ही काटते हैं। अज्ञान दूसरे को तो बाद में पीड़ा देता है, पहले तो अपने को ही पीड़ा देता है। ध्यान रहे, अज्ञानी दूसरे पर हमला तो बाद में करता है, पहले तो अपने पर ही हमला करता है। असल में दूसरे पर हमला करना सम्भव भी नहीं है, जब क हमने अपने पर हमला न कर लिया हो। और दूसरों को दुख देना असम्भव

है, जब तक हमने अपने को दुख न दे लिया हो। और जिसने अपने पैरों में कांटे न बो दिये हों वह दूसरे के मार्गों पर कांटे बोने कभी नहीं जाता। और जिसमें अपने लिए आंसुओं की व्यवस्था न की हो वह कभी दूसरों के दुखों का इन्तजाम नहीं करता है। असल में सबसे पहले हम अपने लिए पीड़ा बोते हैं और जब पीड़ा घनीभूत होकर हम पर प्रकट होने लगती है तब हम उसे बांटना शुरू करते हैं। सिर्फ दुखी लोग ही दूसरों को दुख देते हैं। ठीक भी है, जो हमारे पास होता है वही हम दे सकते हैं। लेकिन वह नम्बर दो की घटना है। नम्बर एक की घटना तो अपने को ही पीड़ा देना है।

क्या हम सारे लोग अपने को पीड़ा नहीं देते?

देते हैं। चाहे हम कोशिश करते हों आनन्द देने की लेकिन सफल हो पाते हैं सिर्फ पीड़ा देने में। नरक का रास्ता बहुत शुभकामनाओं से भरा है और अपने ही नरक का रास्ता अपने ही लिए की गयी शुभकामनाओं के प्रयासों से निर्मित हो जाता है। असली सवाल यह नहीं है कि मेरी आकांक्षा क्या है। अपने को हम सभी आनन्द देना चाहते हैं लेकिन स्वयं को जाने बिना अपने को कोई आनन्द दे नहीं सकता। क्योंकि जिसे यही पता नहीं कि मैं कौन हूं उसे यह कैसे पता होगा कि मेरा आनन्द क्या है। मेरा आनन्द क्या हो सकता है यह तो मुझे तभी पता हो जब मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप, मेरी निजता मुझे पता हो जाए। जब तक मेरी गहरी जड़ों का मुझे कोई पता न हो जाय कि वे क्या हैं, तब तक मैं कैसे तय करूं कि कौन-से फूलों के लिए मैं हूं, जो मुझमें लगेंगे। मेरा बीज जब तक पूरा निर्णीत मेरे लिए न हो जाए कि क्या है, तब तक मैं किन फूलों की आकांक्षा करूं? मैं कौन-सा फूल बनाना चाहूं? अगर मुझे मेरे बीज का ही पता न हो तो मैं जो भी बनना चाहूंगा उससे दुख आयेगा। क्योंकि वह मैं बन नहीं पाऊंगा। और नहीं बन पाऊंगा तो पीड़ा पाऊंगा, संतापग्रस्त हो जाऊंगा। चिन्ता से मरूंगा, तनाव से मरूंगा। सारी जिन्दगी एक दौड़ हो जायेगी, पहुंचना कहीं नहीं होगा। यात्रा तो बहुत होगी, मंजिल कहीं नहीं होगी। क्योंकि मंजिल मेरे स्वभाव में छिपी है, मेरी निजता में छिपी है।

पहले मुझे पता हो जाना चाहिए, मैं कौन हूं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो मैं हूं उसके लिए मैं कोई खोज ही नहीं कर रहा। और जो मैं नहीं हूं उसके लिए खोज कर रहा हूं। वह नहीं मिलेगा तो दुख पाऊंगा। मिल जाएगा तो भी मैं दुख पाऊंगा ये और भी मजे की बात है। इस जिन्दगी में वे लोग तो दुखी होते ही हैं जो असफल हो जाते हैं लेकिन उन लोगों के दुख का भी कोई अन्त नहीं है जो सफल हो जाते हैं। माना असफल आदमी दुखी हो जाए, समझ में आता है, लेकिन सफल आदमी भी दुख को ही उपलब्ध होता है। पूछें सफल लोगों से। तब तो जिन्दगी बड़ी विडम्बना मालूम पड़ती है। यहां असफल तो दुखी होते ही

हैं। उनका दुखी हो जाना तर्कयुक्त मालूम होता है। न्याय संगत दिखाई पड़ता है। लेकिन जो सफल होते हैं वे भी दुखी होते हैं। तब तो यह जगत् बहुत ही पागलपन मालूम होता है। अगर यहां सफल को भी दुखी हो जाना है और असफल को भी दुखी हो जाना है तो फिर तो सुख का कोई उपाय नहीं। पूछें सफल लोगों से, और सफल लोगों से ही पहले पूछ लें क्योंकि असफल लोगों के दुखी हो जाने में कोई विशेषता नहीं है। पूछें सफल लोगों से—पूछें सिकन्दर से, स्टालिन से। पूछें अरबपतियों से—कार्नेगी से या फोर्ड से। पूछें उन लोगों से जिनने जो चाहा था उन्होंने पा लिया। फिर पूछें कि सुख मिला? तो बड़ी हैरानी की बात मालूम पड़ती है। वह कहते हैं सफल तो हो गये, लेकिन सफल हुए सिर्फ दुख पाने में।

असफल जो होते हैं वह भी कहते हैं असफल हुए सुख पाने में। दुख हाथ आया। सफल जो होते हैं वे कहते हैं सफल हुए दुख पाने में। दुख ही हाथ आया। जो दौड़ कर मंजिल पर पहुंचते हैं वे भी दुख में पहुंच जाते हैं, जो कहीं नहीं पहुंचते भटकते हैं अरण्य में, वे भी दुख में भटकते हैं। तो फिर मंजिल में और मार्ग में फर्क क्या है? फिर भटकाव में और पहुंचने में अन्तर क्या है? कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। नहीं मालूम पड़ेगा। क्योंकि जिसने नहीं जाना कि मैं कौन हूं उसकी सफलता भी दुख लायेगी। वह जिस दिन सफल हो जायगा उस दिन पायेगा कि जो मकान उसने बनाया वह खुद के रहने के योग्य ही नहीं है। वह उसके स्वभाव के अनुकूल नहीं है। मकान तो बन गया, धन तो इकट्ठा हो गया, यश-कीर्ति तो अर्जित हो गयी लेकिन प्राणों का कोई हिस्सा उससे भरता नहीं, पूरा नहीं होता। यह तो पहले जान लेना था कि मेरी प्यास क्या है, अभीप्सा क्या है। मैं चाहता क्या हूं? कितनी चाहें हैं हमारी, बिना इस बात को जाने कि सच में मेरी चाह क्या है।

फ्रायड ने मरने के कुछ दिन पहले अपने एक मित्र को एक पत्र में लिखा है कि इतनी जिन्दगी भर लाखों लोगों के दुख को सुनने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि आदमी सदा ही दुखी रहेगा। क्योंकि आदमी को यही पता नहीं कि क्या चाहता है। फ्रायड जैसा आदमी जब कहता है तो सोचने जैसी बात है कि लाखों दुखी लोगों की पीड़ाओं, चिन्ताओं, मानसिक क्लेशों के अध्ययन के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि किसी आदमी को यही पता नहीं है कि वह चाहता क्या है। वह पता होगा भी नहीं। क्योंकि आदमी को पहले यही पता नहीं है कि वह कौन है। मैं कपड़े बनवाने निकल जाऊं, मेरे शरीर का मुझे पता नहीं, मेरे शरीर के नाप का मुझे कोई पता नहीं, मेरे शरीर की जरूरत का मुझे कोई पता नहीं। मुझे मेरा कोई पता नहीं, और कपड़े बनवाने निकल जाता हूं। एक दिन कपड़े बन जाते हैं और मैं पाता हूं कि वह मुझ पर नहीं आते। वह अनफिट हैं—कहीं

कुछ ताल-मेल टूटा हुआ मालूम पड़ता है। कपड़े बनवाने जरूर निकल जाइये लेकिन पहले तो उसकी जांच-परख कर लें कि वह कौन है जिसके लिए कपड़े हैं। जिसके लिए मकान है, जिसके लिए सुख खोजना है। और बड़े मजे की बात है कि जो व्यक्ति इसको जान लेता है कि 'मैं कौन' हूं, उसके सारे जीवन की यात्रा और सारे जीवन की व्यवस्था रूपान्तरित हो जाती है। हम जिन चीजों को खोजने जाते हैं उनको वह खोजने जाता ही नहीं। हम जिन चीजों को पाने के लिए श्रम करते हैं उनको पाने के लिए बिना श्रम के अगर कोई हंसी के मूल्य पर भी देने को राजी हो तो हंसने को भी वह राजी नहीं होगा। अगर कोई मुफ्त में भी देने को राजी हो तो वह उस रास्ते से हट जाएगा कि कहीं कोई मेरे ऊपर डाल ही न दे।

वह कुछ और ही खोजने निकल जाता है। वह कुछ और ही पाने निकल जाता है। और बड़े मजे की बात है कि स्वयं को जानने वाले लोग कभी असफल नहीं होते। आज तक नहीं हुए। और स्वयं को न जानने वाले लोग कितने ही सफल हो जायें, फिर भी असफल ही होते हैं। स्वयं को जानने वाला सफल हो ही जाता है। क्योंकि स्वयं को जानते ही वह उस रहस्य और राज और उस द्वार को खोल लेता है जहां आनन्द है। वह स्वयं में ही कहीं छिपा है। इसलिए उपनिषद् कहते हैं, दो तरह के लोग हैं—आत्मज्ञानी, वे जो स्वयं को जान लेते हैं और आत्मज्ञानी, वे जो स्वयं को नहीं जानते और नहीं जानने में ही गहरे चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ किये चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ पाये चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ निर्माण किये जाते हैं। नहीं जानने में ही उनकी दौड़ और तेज होती चली जाती है। अक्सर तो जिन्दगी में ऐसा ही लगता है कि जो मुझ पाना था वह मुझे नहीं मिल रहा, क्योंकि मैं उतनी तेजी से नहीं दौड़ रहा हूं। और थोड़ा तेजी से दौड़ूं तो मिल जायगा—और थोड़ा तेजी से दौड़ूं तो मिल जायगा। शायद दांव पूरा नहीं लगाया इसलिए नहीं मिल रहा है। दांव पूरा लगा दूं तो मिल जाएगा। कभी यह सोचते नहीं कि जो हम खोजने निकले हैं उसका कोई अन्तरसंगीत, इनर हार्मोनी हमारी निजता से है। अगर मिल जाए तो भी बेकार है। न मिले तब तो बेकार है ही। और जो समय जाएगा मिलने और न मिलने में वह व्यर्थ गया। उतनी मैंने हत्या की अपनी। हम आत्म-हन्ता हुए। हम असुर हुए। असुर का अर्थ है अंधकार में जीने वाले। असुर का अर्थ है जहां सूर्य का कोई प्रकाश नहीं पहुंचता ऐसे लोक में जीने वाले। जहां रोशनी नहीं है—अन्धकार-जीवी। अन्धकार में ही टटोलते और सरकते, अंधेरे के कीड़े-मकोड़ों की तरह। और जिन्होंने स्वयं को नहीं जाना वह अन्धकार में होंगे ही। क्योंकि स्वयं को जानना ही सूर्य बन जाना है। ऐसे व्यक्ति की यात्रा फिर प्रकाश लोकों की यात्रा है। और एक वे हैं जिनके भीतर का दीया बिल्कुल बन्द

और बुझा हुआ है, अन्धेरे में डूबा हुआ है। और जो दौड़ते रहते हैं, टटोलते रहते हैं, भागते रहते हैं, अन्धे अन्धे का पीछा करते रहते हैं, अन्धे अन्धों का नेतृत्व करते रहते हैं। जो थोड़े वाचाल अन्धे होते हैं वह कम बोलने वाले अन्धों को पीछे कर लेते हैं। दौड़ जारी रहती है। जो जरा हिम्मतवर अन्धे होते हैं वह गैर हिम्मतवर अन्धों को पीछे इकट्ठा कर लेते हैं।

खलील जिब्रान ने लिखा है कि एक आदमी गांव-गांव घूमकर कहता था कि मेरे पीछे आ जाओ मैं तुम्हें ईश्वर से मिला दूंगा। कभी कोई पीछे उसके गया नहीं इसलिए कभी कोई उपद्रव हुआ नहीं। गांव के लोगों ने कहा कि अभी हम बहुत दूसरे कामों में उलझे हुए हैं तुम फिर आना। जरा अभी तो फसल खड़ी है, कट जाए, फिर तुम आना। फिर वह आया तो उन्होंने कहा कि इस बार तो फसल ठीक हो नहीं सकी—तंगी है, तकलीफ है, अगले वर्ष आना। वह गांव-गांव घूमता रहा। उसको जल्दी भी न थी कि कोई उसके पीछे चले। लेकिन एक गांव में एक पागल मिल गया। जब उसने कहा कि मेरे पीछे आओ जिसको ईश्वर के पास जाना हो तो उसने अपनी कुदाली फेंक दी, और कहा मैं आया। वह बहुत घबड़ाया। फिर उसने सोचा कि साल-दो साल में भाग जाएगा, आखिर कितना पीछा करेगा। लेकिन वह आदमी पीछे ही पड़ गया। वर्ष बीता। वह आदमी पीछे ही रहा। उसने कहा कि बोलो—कहां ले चलते हो वहीं चलूंगा। दो वर्ष बीते और वह नेता घबराने लगा, वह गुरु घबराने लगा और वह उससे बचने लगा। लेकिन वह उसके सदा पीछे ही खड़ा रहा कि बोलो तुम जहां कहोगे वहीं चलेंगे। तुम जो कहोगे वही करेंगे। छह साल बीत गये। उसकी गर्दन पकड़ ली अब उसके शिष्य ने। उसने कहा, अब बहुत देर होती जा रही है, तुम बोलो कहां चलना है—मिलवाओ ईश्वर से! गुरु ने कहा तुम माफ करो। तुम्हारे सत्संग में मेरा रास्ता तक खो गया। तू जिस दिन से पीछे लगा है हम खुद ही रास्ता भटक गए। पहले रास्ता बिल्कुल साफ था। सब चीजें दिखाई पड़ती थीं। मंजिल पास थी, ईश्वर सामने था। तेरा साथ क्या किया कि मुझे तक डुबा दिया। तो तू अपना रास्ता पकड़, मेरा पीछा छोड़।

उस आदमी ने कहा, अब दोबारा हमारे गांव से मत गुजरना! उसने कहा, बाबा, हम माफी मांगते हैं। तेरे गांव से नहीं गुजरेंगे। लेकिन और गांव में तो हम जा सकते हैं। और फिर सब गांव में तेरे जैसे लोग कहां हैं? वे सुन लेते हैं, हम अपने पार हो जाते हैं।

आदमी खुद तो अन्धेरे में जीता ही है। लेकिन खुद अंधेरे में जी रहा है, इस बात को भुलाने के लिए अक्सर दूसरों से प्रकाश की बात करने लगता है। इससे थोड़ा सावधान होने की जरूरत है। आपको जिसका पता ही नहीं होता वह बात भी आप दूसरों को बताने लगते हैं। तब आप कितनी हानि पहुंचाते हैं

इसका हिसाब लगाना मुश्किल है। लेकिन एक आदमी ऐसा खोजना मुश्किल है जो इतना नियम मानता हो, इतना संयम और मर्यादा रखता हो कि जो जानता है वही बतायेगा। जो नहीं जानता है वह नहीं बताएगा। नहीं, मौका मिल जाए तो लोभ भारी है दूसरे को बताने का। भारी, बहुत भारी—कोई मिल भर जाए जो जरा दिखा कि कमजोर है, उसकी गर्दन दबायी जा सकती है, तो फिर आप दबा लेंगे। फिर उसको बता देंगे कि यह रहा रास्ता पहुंच जाओ सीधे। चले जाओ। रास्ता बताने का मजा है, उसमें भ्रम पैदा होता है कि अपने को रास्ता पता है। और बताते-बताते आदमी धीरे-धीरे भूल ही जाता है कि हमें खुद भी पता नहीं है। बहुत कम लोग हैं जिन्हें पता है। लेकिन बहुत लोग हैं जो बता रहे हैं। और इस दुनिया में जो नहीं जानते और बता रहे हैं वे अगर चुप हो जाएं, तो बड़ा शुभ फलित हो। लेकिन बहुत कठिन है उनका चुप होना। उनको चुप करना कठिन है। उनको चुप करें तो वह और जोर से चिल्लाने लगेंगे। क्योंकि जोर से बताने में ही वह अपने को धोखा दे पाते हैं। अपने ही कान में पड़ती अपनी ही आवाज भरोसा दिला देती है कि ठीक है, मुझे मालूम है।

उपनिषद् कहते हैं, दो तरह के लोग हैं। आप ठीक से सोच लेना, दो में किस तरह के हैं? आप किस कोटि में हैं? ईमानदारी से निर्णय अपने बाबत लेना जरूरी है तो ही अगला कदम ईमानदारी का उठ सकता है।

आत्महन्ता हैं कि आत्मज्ञानी हैं?

आत्मज्ञानी हैं तब तो कोई सवाल ही नहीं, बात ही समाप्त हो गयी। तब तो कोई यात्रा ही नहीं है। आत्महन्ता हैं तो यात्रा है। बात शुरू भी नहीं हुई, समाप्त होना तो दूर है। लेकिन अपने-आपको आत्मज्ञानी मान लेना सरल है। उपनिषद् पढ़े हैं सभी ने, गीता पढ़ी है, बाइबिल पढ़ी है, कुरान, महावीर, बुद्ध के वचन सभी को याद हैं। यह इतना महंगा पड़ गया है जिसका कोई हिसाब नहीं। सब कण्ठस्थ हो गए हैं, सबको सब मालूम है। किसी को कुछ भी मालूम नहीं है। और सबको सब मालूम होने का भ्रम है। सब कण्ठस्थ है। मुझे लोग पत्र लिखकर भेज देते हैं कि आपने यह बात कही, यह ठीक नहीं मालूम पड़ती क्योंकि फलानी किताब में ऐसा लिखा हुआ है। अगर तुम्हें पता ही है कि ठीक क्या है तो मेरी बात सुनने की कोई जरूरत ही न रही। और अगर पता नहीं है कि ठीक क्या है, तो फलानी किताब में लिखा है ठीक है यह कैसे तय कर लिया। यह सिर्फ सोच-विचार से तय नहीं होगा। कुछ करना पड़ेगा।

कल मैं यहां से गुजरा। एक मित्र ने कार पर आकर कहा कि यही तो योगसार में भी कहा है न, जो मैं कह रहा हूं। अब योगसार पढ़े बैठे हैं! जो मैं कह रहा हूं उसे करने की फिक्र करो। क्योंकि जो योगसार में कहा है उसे किया होता तो मेरे पास आने की जरूरत ही न होती। तो योगसार पर आपकी बड़ी कृपा है,

कुछ किया नहीं। मुझ पर भी वही कृपा मत करो ! और अब मुझसे पूछते हो कि यही योगसार में कहा है कि नहीं कहा है ? इससे क्या फर्क पड़ेगा ! योगसार आपने पढ़ लिए और मेरी बात सुन ली तो करिएगा कब ? वह जो मित्र पूछते थे कोई बच्चे नहीं थे। बच्चे ऐसी नासमझी की बातें नहीं पूछते। वे वृद्ध थे। अगर नासमझी की गहरी बातें पता लगानी हों तो बूढ़ों के पास जाना, क्योंकि नासमझी भी परिपक्व हो गयी होती है। अनुभवी अज्ञान होता है, एक्सपीरियेन्सड इग्नोरेन्स मजबूत, भारी। सब शास्त्र देख लिए। सब जो-जो कहा गया है, जान लिया। आत्मज्ञानी बन गए। बन गए तो हर्जा नहीं। बहुत अच्छा है, शुभ है। हम सब प्रसन्न होंगे—कोई बने। लेकिन फिर मेरे पास आने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन आए हैं तो मैं जानता हूं योगसार बेकार गया। आए हैं तो मैं जानता हूं, जो भी अब तक पढ़ा है बेकार गया। और जब इतने को बेकार कर दिया है तो बहुत सम्भावना तो यह है कि मुझे भी बेकार करके रहेंगे। उसी चेष्टा में लगे हैं। मैं कह दूं कि योगसार में कहा है तो ठीक है, मालूम ही है—बात खत्म हो गयी। अगर मैं कहूं कि नहीं कहा है योगसार में तो विवाद करने के लिए सुविधा मिल जाएगी। विवाद जिन्दगी भर किया जा सकता है। मैं किसी विवाद में उत्सुक नहीं, किसी वाद में उत्सुक नहीं। एक बात छोटी-सी में उत्सुक हूं कि आप निर्णायक रूप से तय कर पाएं—आत्महन्ता हैं कि आत्मज्ञानी हैं ? आत्मज्ञानी हैं तो आप बाहर हिसाब के हो गए। आपसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। बात खत्म हो गयी। आत्महन्ता हैं तो कुछ किया जा सकता है। वह क्या किया जा सकता है वहीं आपसे कह रहा हूं। और ध्यान रखें, मैं कह रहा हूं इसलिए वह सही नहीं हो जाएगा। मेरे कहने से कोई चीज सही नहीं हो जाती। जब तक कि आप उसे करके न जान लें तब तक किसी तरह सही न हो जाएगी। उसे करके जानें।

धर्म प्रयोग है, विचार नहीं। धर्म प्रक्रिया है, चिन्तन नहीं। धर्म विज्ञान है, दर्शन नहीं। निश्चित ही प्रयोगशाला कोई भारी प्रयोगशाला नहीं है कि जहां हम जाएं, और सामान जुटा कर प्रयोग करने लगें। आप ही प्रयोगशाला बनेंगे। आपके भीतर ही सारा का सारा प्रयोग फलित होने वाला है। आज के लिए इतनी बात—फिर कल हम और सूत्रों पर बात करेंगे। अब प्रयोग की बात आपसे थोड़ी-सी कर दूं, फिर हम प्रयोग में लगेंगे।

मैं तो मानकर चलता हूं कि आप आत्महन्ता हैं। इससे बुरा लग सकता है। लगे तो ही अच्छा। थोड़ी चोट लगे तो भी अच्छा। कई बार तो ऐसे आदमी इतने मर गए होते हैं कि चोट भी नहीं लगती। उनको आत्महन्ता कहो, वह कहेंगे ठीक कह रहे हैं। ठीक कह रहे हैं, स्वीकार्य है—स्वीकार कर लेंगे। अभी तक अपने को बिना जाने जी रहे हैं, यह आपसे मैं कहता हूं। चाहता हूं कि आप खुद अपने भीतर जाएं और अपने से कह पाएं कि मैं अपने को बिना जाने जी रहा हूं।

क्योंकि स्वयं को जानने की पीड़ा इतनी घनी है कि वही आपको प्रयोग में ले जाएगी, अन्यथा नहीं जा सकते।

और ध्यान रखें कि प्रयोग कुछ ऐसा है कि आप करेंगे तो ही जानेंगे। पड़ोसी करेगा तो आप नहीं जान लेंगे। आज दोपहर के मौन में मैंने देखा कि कोई दस-पांच पक्के नासमझ देख रहे थे कि दूसरे क्या कर रहे हैं। क्या देखेंगे ! दौड़ रहा है एक आदमी, नाच रहा है एक आदमी, चिल्ला रहा है एक आदमी, आप क्या देख रहे हैं ? सोच रहे होंगे कि यह पागल है ! मैं आपसे कहता हूं फिर से सोचना—पागल आप हैं। वह तो कुछ कर रहा है। आप पागल को देखने आए हैं ? आप किसलिए आ गए हैं ? कोई नाचेगा उसको देखने ? बेकार मेहनत की। इतनी लम्बी यात्रा बेकार गयी। पागल ही देखने थे तो फिर आपके गांव में ही मिल जाते। उसके लिए इतनी दूर इस पहाड़ पर चढ़कर आने की कोई भी जरूरत न थी।

दूसरे के भीतर क्या हो रहा है आप कभी नहीं जान पाएंगे। अगर वह हंस रहा है तो आपको हंसी की आवाज सुनायी पड़ेगी लेकिन उसके भीतर कौन-सा झरना बह रहा है यह आपको कभी पता नहीं चलेगा। अगर वह रो रहा है तो उसके आंसू आपको दिखायी पड़ेंगे लेकिन उसके भीतर कौन-सी चीज ऐसी बाढ़ में आ गयी कि आंसुओं से बह रही है उसका आपको कभी पता नहीं चलेगा। अगर वह नाच रहा है तो ठीक है, नाच रहा है। देख लेंगे कि हाथ-पैर उठा रहा है, कूद रहा है। लेकिन उसके भीतर कौन-सी ध्वनि बजने लगी, उसके भीतर कौन-से तार झनझना उठे, वह आपको कभी पता नहीं चलेगा। कितना ही उसकी छाती पर कान लगा लें तो भी उसकी अन्तरवीणा का कोई स्वर आपको सुनायी पड़ने वाला नहीं है।

इसलिए दूसरे को बिल्कुल भूल जाना है, दूसरे का स्मरण ही छोड़ देना है। तो कल के मौन के लिए आपसे कह दूं कि मौन में भी आप आंख पर पट्टी ही बांधें, वही उचित है। मौन में भी कोई बिना पट्टी के न बैठे, पट्टी ही बांध के बैठे। कान में भी रूई डाल लें। देखने की फिक्र छोड़ दें, सुनने की फिक्र छोड़ दें। देखने सुनने से कुछ भी मिलने वाला नहीं है।

रात का जो प्रयोग है, यह खुली आंख का प्रयोग है और जिन्होंने आज दिन ज्यादा-से-ज्यादा आंख बन्द रखी होगी, वे उस प्रयोग में गहरा-से-गहरा जा सकेंगे। इसलिए जिन्होंने नहीं रखी हो, कल वह ख्याल रख कर ज्यादा-से-ज्यादा आंख को बन्द रखें। यह रात का प्रयोग खुली आंख का है। ध्यान रहे, आंख के खुले होने पर पूरे समय आंख की ऊर्जा बाहर जाती है। इस प्रयोग को अगर पूरी शक्ति से करना है तो ज्यादा-से-ज्यादा आंख दिन में बन्द रहेगी तो ऊर्जा इकट्ठी होगी। और आंख रात के इस प्रयोग में उसका उपयोग कर पाएगी; अन्यथा नहीं उपयोग

कर पाएगी। तो आप कल पूरा ख्याल रखें। अधिकतम आंख को बन्द रखें, कान को बन्द रखें, मौन रहें। सुबह तो आंख बन्द करके ही प्रयोग होगा, दोपहर के मौन में भी आंख पर पट्टी रहेगी। रात चालीस मिनट पूरी आंख खुली रखनी है।

चालीस मिनट अभी हम यहां बैठेंगे तो आप सिर्फ मुझे देखते रहेंगे चालीस मिनट। आंख की पलक भी नहीं झपानी है। चालीस मिनट आंख के द्वार को बिल्कुल खुला रखना है। थोड़ी ही देर में बहुत से अनुभव आने शुरू हो जाएंगे। और जिन्होंने आज दिन में प्रयोग किया है—और बहुत से मित्रों ने बहुत ही ठीक से प्रयोग किया है—उनके लिए परिणाम भारी होंगे। जिनको ऐसा ख्याल हो कि उनके लिए खड़े होकर आसानी होगी, क्योंकि उछलेंगे, कूदेंगे, नाचेंगे तो वह बाहर की परिधि पर चारों तरफ खड़े हो जाएंगे। इस कोने पर मेरे चारों तरफ बीच में बैठे हुए लोग रह जाएंगे। फिर खड़े हुए लोग चारों तरफ हो जाएंगे। जिनको भी जरा भी ख्याल हो कि उनको आसानी खड़े होकर पड़ेगी, वह हट जाएं। फिर बीच में न उठें। फिर बीच में आप नहीं उठ सकेंगे। चुपचाप—बात कोई नहीं करेगा। चालीस मिनट मुझे आपको देखना है। मैं चुप यहां बैठा रहूंगा। फिर जो भी आपको हो, होने देना है। गहरी श्वास का मन हो, गहरी श्वास लें। नाचने का मन हो नाचें, लेकिन ध्यान मेरी तरफ हो, आंख मुझ पर टिकी रहे। चिल्लाने का मन हो, चिल्लाएं, नाचें, रोयें, हंसें, जो भी करना हो, करें। लेकिन आंख मेरी तरफ रहे।

दो और सूचनाएं आपको दे दूं। जब मुझे लगेगा कि आप ठीक स्थिति में आ गए तो मैं अपने दोनों हाथ ऊपर की तरफ उठाऊंगा। उस वक्त आपको पूरी शक्ति लगा देनी है। वह मेरा इशारा है कि आपके भीतर की कुण्डलिनी उठ रही है, आप पूरी शक्ति लगा दें। और जब मुझे ऐसा लगेगा कि आप इतनी शक्ति से भर गए कि आपके ऊपर परमात्मा की शक्ति उतर सकती है तो ऊपर से हाथ नीचे की तरफ लाऊंगा। तब आप पूरी, जितनी आपके पास शक्ति होगी, पूरी लगा देंगे। और तब बहुत परिणाम होंगे।

●

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इसे इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ है। वह स्थिर होते हुए भी अन्य सभी गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है। उसके रहते हुए ही वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप कर्मों का विभाग करता है ।।४।।

प्रवचन : १९
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, सुबह, दिनांक ६ अप्रैल, १९७१

वह अतिक्रमण है

आत्मतत्त्व स्थिर होते हुए भी गतिमान से भी ज्यादा गतिमान है। आत्मतत्त्व इन्द्रियों और मन की दौड़ के परे है, क्योंकि इन्द्रियां और मन दोनों के पूर्व है, दोनों के पहले है, दोनों के पार है। इस सूत्र को साधक के लिए समझना बहुत जरूरी है और उपयोगी है। पहली बात तो कि आत्मतत्त्व से हम अपरिचित हैं, उसका हमें कोई पता नहीं, वह हम हैं और फिर भी हमें उसकी कोई पहचान नहीं है। वह हमारी चेतना की अन्तिम गहराई (अल्टीमेट डेथ) है, आखिरी गहराई है, जहां से हमारा होना जन्मता है और विकसित होता है। अगर हम एक वृक्ष की तरह सोचें तो वृक्ष में पत्ते भी हैं, ऊपर आकाश में फैले हुए। पत्तों के पीछे छिपी हुई शाखाएं भी हैं, शाखाओं के पीछे वृक्ष की पीड भी है। और उन सबके नीचे वृक्ष की, अंधेरे में पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई जड़ें भी हैं। कोई वृक्ष अगर अपने को पत्ता ही मान ले, और ऐसा मानने में मुझे बहुत कठिनाई नहीं है, क्योंकि जड़ें प्रकट नहीं हैं, दूर अन्दर गर्भ में छिपी हैं। तो हो सकता है, वृक्ष समझ ले, मैं पत्तों का समूह हूं। और भूल जाए यह कि जड़ें भी हैं। उसके भूलने में अन्तर नहीं पड़ता। जड़ें फिर भी अंधेरे में काम करती रहेंगी। पत्ते क्षणभर भी जी न सकेंगे जड़ों के बिना। और यह मजे की बात है कि पत्ते तो जड़ों के बिना नहीं हो सकते, लेकिन जड़ें पत्तों के बिना हो सकती हैं। अगर हम पूरे वृक्ष को भी काट डालें तो भी जड़ें सक्रिय रहेंगी और नए वृक्ष को अंकुरित कर जाएंगी। लेकिन हम पूरी जड़ों को काट डालें तो पत्ते सिर्फ कुम्हलाएंगे, सूखेंगे और मरेंगे। नए पत्तों को जन्म न दे पाएंगे। वह जो अंधेरे में गहरे में छिपी हुई जड़ें हैं, वही प्राण हैं।

अगर मनुष्य को भी हम एक वृक्ष मान लें तो जिन्हें हम विचार कहते हैं, वे हमारे पत्तों से ज्यादा नहीं हैं। और विचारों के जोड़ को ही हम अपने को समझ लेते हैं कि यह 'मैं हूं', पत्तों के जोड़ को ! जड़ तो गहरे में आत्मतत्त्व है। लेकिन जैसे जमीन के गहरे में और अंधेरे में वृक्ष की जड़ें छिपी हैं, वैसे ही हमारे आत्मतत्त्व

की जड़ें परमात्मा में, गहरे में, बहुत गहरे में छिपी हैं। वहां से ही हम रस पाते हैं। वहां से ही जीवन मिलता है। वहां से ही प्राण की धाराएं बहती हैं और हमारे पत्तों तक आती हैं। हमारे पत्ते न हो सकेंगे, अगर वे जड़ें न हों। तो जिस दिन वे जड़ें अपने को सिकोड़ लेती हैं परमात्मा में, उसी दिन हमारे पत्ते कुम्हला जाते हैं, शाखाएं सूख जाती हैं—कहते हैं आदमी मर गया। जब तक वे जड़ें रस को पिए चली जाती हैं तब तक वह आत्मतत्त्व फैलाए चला जाता है, तब तक लगता है हम जीवित हैं। हमारे विचार हमारे पत्तों की भांति नहीं हैं, हमारी वासनाएं हमारी शाखाओं की भांति हैं। और इन पत्तों और शाखाओं के जोड़ से ही हमारा अहंकार निर्मित होता है। यह बहुत गौण हिस्सा है हमारे अस्तित्व का। हमारे अस्तित्व का मूल हिस्सा तो नीचे छिपा है। उसको ही उपनिषद् आत्मतत्त्व कहता है। वह जिसके बिना हम न हो सकेंगे, यद्यपि जिसे हम भूल सकते हैं। वह, जिसके बिना हमारा कुछ भी न हो सकेगा लेकिन फिर भी वह इतने भूगर्भ में है, अस्तित्व की इतनी गहराई में है कि हम उसे विस्मरण कर सकते हैं। आत्मतत्त्व विस्मरण कर दिया जाता है।

और मजे की बात है, जो बहुत गहरा नहीं है, जिसके बिना भी हम हो सकते हैं, वह ऊपर होता है—बहुत ऊपर। वह दिखायी पड़ता है। वह पकड़ में आता है। हम अपने को जब पकड़ने जाते हैं तो अपने विचारों के जोड़ को ही समझ लेते हैं कि यह मैं हूं। मन को ही समझ लेते हैं कि मैं हूं। मनस्तत्त्व हमारे पत्तों का जोड़ है। आत्मतत्त्व हमारी जड़ों का। और ध्यान रहे, जो जड़ों तक नहीं पहुंचेगा वह उस भूमि को कभी पहचान ही नहीं पाएगा, जिससे जड़ें रस पाती हैं। जड़ है आत्मतत्त्व। जड़ तक जो पहुंचेगा वह पाएगा, बहुत शीघ्र पाएगा कि जड़ भी रस पाती है पृथ्वी से। और भी एक बड़ी अन्तरधारा है जीवन की। आत्मतत्त्व को जो पहचानेगा वह परमात्म-तत्त्व को भी पहचान लेगा। लेकिन हम तो जीते हैं पत्तों में और इन पत्तों के जोड़ को ही समझ लेते हैं कि यह मैं हूं। इसलिए एक जरा-सा पत्ता कुम्हला जाता है, गिरता है तो हम सोचते हैं, मरे, गए, नष्ट हुए। सब पत्ते कुम्हला जाते हैं तो सोचते हैं जीवन गया। जीवन का हमें पता नहीं है। जीवन का बहुत ऊपरी आवरण, बहुत ऊपरी आच्छादन जो है उसे ही हम अपने को मानकर जीते हैं। उपनिषद् कहता है, इस आवरण में, इस आच्छादन में जीने वाला ही आत्महन्ता है। इस आवरण के नीचे, गहरे में वहां तक जाने वाला, जहां जड़ें मिल जाएं, जहां से अस्तित्व अपने मूल उद्गम को पा ले, गंगोत्री मिल जाए जहां प्राणों की, उसे जान लेने वाला ही आत्मज्ञानी है। उसे जान लेने वाला ही प्रकाश को उपलब्ध होता है। जीवन को उपलब्ध होता है।

इस आत्मतत्त्व के लिए तीन बातें कही हैं—एक तो यह कहा है कि यह आत्मतत्त्व सदा स्थिर है। और इस स्थिर आत्मतत्त्व के चारों ओर बड़े परिवर्तन का

जाल चलता है। यह भी बड़े रहस्य की बात है। जहां-जहां परिवर्तन होता है वहां-वहां केन्द्र में स्थिरता अनिवार्य है। जैसे गाड़ी का एक चाक चलता है तो कील ठहरी है। अगर कील भी चल जाए तो चाक का चलना मुश्किल है। कील ठहरी है, इसलिए चाक चल पाता है। चाक के चलने का राज ठहरी हुई कील में होता है। अगर कील भी चली तो चाक नहीं चलेगा। फिर तो गाड़ी गिरेगी और नष्ट होगी। चाक चलेगा उतनी ही व्यवस्था से जितनी व्यवस्था से कील स्थिर रहेगी। चाक सैकड़ों मीलों की यात्रा कर लेता है और कील कितनी यात्रा करती है? कील अपनी जगह खड़ी रहती है। बड़े मजे की बात तो यह है कि खड़ी हुई कील की जरूरत पड़ती है चलने वाले चाक को। तो वह जो परिवर्तन का चक्र है, वह चलता ही है उस पर, जो अपरिवर्तित है। तो पहली बात यह कि हमारे जीवन में सब परिवर्तन है। और जहां तक परिवर्तन है वहां तक जानना कि पत्ते हैं। आएंगे अभी इस बसन्त में और झड़ेंगे कल पतझड़ में। क्षण भर को भी कुछ ठहरा नहीं होगा। लेकिन गहरे में, भीतर गहरे में कहीं कोई तत्त्व है, जो फैला हुआ है और सारे परिवर्तन को सम्हाले हुए है।

कभी ग्रीष्म के बवण्डर देखे हैं चलते हुए हवा के? गोल बवण्डर धूल के बादल को आकाश की तरफ उठाए लिए चला जाता है। जब बवण्डर जा चुका हो, तब कभी उस बवण्डर के नीचे छूट गए जो चरण-चिह्न हैं जमीन की धूल पर, उन्हें जाकर देखना तो बड़ी हैरानी होगी। बवण्डर घूमता है कितनी तेजी से। कभी-कभी तो बवण्डर लोगों को उड़ाकर उठा ले जाता है। लेकिन बवण्डर के निशान अगर देखेंगे तो बहुत चकित होंगे, बीच बवण्डर के गाड़ी की चाक की तरह एक कील का स्थान भी होता है, जो बिल्कुल अछूता रह जाता है। इतने जोर से बवण्डर घूमता है, लेकिन बीच में एक जगह रहती है, जो खाली और शून्य रह जाती है। हवा की कील बन जाती है वहां। उसी ठहरी हुई कील पर पूरा बवण्डर घूमता है। असल में कोई भी चीज घूम नहीं सकती है, अगर बीच में कोई चीज ठहरी हुई न हो। जीवन बड़े जोर से घूमता है। विचार बड़े जोर से घूमते हैं। वासनाएं बड़े जोर से घूमती हैं। वृत्तियां बड़े जोर से घूमती हैं। जीवन एक चक्र है तेजी से घूमता हुआ। उपनिषद् कहते हैं, उसके बीच में एक स्थिर तत्त्व है। उसे खोजना पड़ेगा। उसके बिना सहारे के यह इतना बवण्डर चल नहीं सकता। यह बवण्डर जीवन के उस थिर तत्त्व पर चलता है। वह थिर तत्त्व आत्मतत्त्व है। वह सदा थिर है, ठहरा ही हुआ है। वह कहीं भी कभी गया नहीं है। वह कभी बदला नहीं है। जब तक उस अपरिवर्तित और न बदलने वाले का स्मरण न आ जाए, पहचान न आ जाए, तब तक जानना कि जीवन को हमने नहीं जाना। अभी हम बाहर की परिधि पर परिवर्तन को ही जानते हैं, अभी आत्मतत्त्व से हमारी पहचान नहीं हुई। अभी हम चाक के आरा से ही परिचित रहे हैं, अभी मूल को नहीं देखा,

जिस पर सब ठहरा हुआ है।

ठहरे हुए का क्या अर्थ है ? जो भी अर्थ हम समझेंगे, उसमें गलती होने की पूरी सम्भावना है। और इसलिए जिन लोगों ने भी उपनिषद् की व्याख्याएं की हैं, उनमें अधिक लोगों ने भूल की है। ठहरे हुए का मतलब (स्टैग्नेंट) नहीं है, ठहरे हुए का मतलब ऐसा नहीं है जैसा कि एक तालाब है, चलता नहीं, रुका हुआ। आत्मतत्व ठहरा हुआ है इसका ऐसा अर्थ नहीं है। आत्मतत्व ठहरा हुआ है, आत्मतत्व थिर है, इसका अर्थ है कि आत्मतत्व इतना पूर्ण है कि परिवर्तन का उपाय नहीं है। आत्मतत्व इतना परिपूर्ण है, इतना परम, इतना निरपेक्ष। जो भी है, इतना पूरा है कि उसमें और कुछ उपाय नहीं है होने का। परिवर्तन वहां होता है, जहां अपूर्णता होती है। बदलाहट वहीं होती है, जहां कुछ और होने की गुंजाइश है। जहां कुछ और होने की सुविधा है, अवकाश है। बच्चा जवान हो जाता है, जवान बूढ़ा हो जाता है। कुछ जगह बची है, बदलती चली जाती है। पत्ते आते हैं, फूल आते हैं। गिरते हैं, नए पत्ते आते हैं। आत्मतत्व थिर है, इसका अर्थ है आत्मतत्व पूर्ण है। पूर्ण को बदलेंगे कैसे ? पूर्ण बदलेगा किसमें ? जगह भी नहीं है बदलने को आगे। आगे बदलने को उपाय भी नहीं है। आत्मतत्व थिर है, इसका अर्थ है, आत्मतत्व पूरा खिला हुआ है। अब और खिलने को आगे जगह नहीं है। ध्यान रहे, आत्मतत्व ठहरे हुए तालाब की तरह नहीं, पूरे खिले हुए कमल की तरह है। इतना खिल गया है कि अब कलियों को खिलने के लिए और कोई उपाय नहीं है। तो यहां थिरता से अर्थ है पूर्णता, (परफेक्शन)। इतना पूर्ण है, इतना पूर्णतर है, इतना पूर्णतम है कि उसके आगे अब पंखुड़ियां और खिलना भी चाहें तो कहां खिलें। यहां थिरता का अर्थ है कि पूरी-की-पूरी सम्भावना (पोटेन्शियलिटी) वास्तविकता (एक्चुअलिटी) बन गयी है। जो भी छिपा था बीज में वह पूरा-का-पूरा प्रगट है, अप्रगट कुछ बचा नहीं। इसलिए यहां ठहराव का अर्थ अगति नहीं है, यहां ठहराव का अर्थ पूर्णता है। लेकिन हम जब सोचते हैं, ठहरा हुआ है तो हमारे मन में ख्याल ऐसा आता है जैसे कोई आदमी चलता न हो, खड़ा हुआ हो। यहां मृत ठहराव नहीं है। यहां जीवन ही पूर्णता है। तो खिले हुए फूल का स्मरण करना ठहरे हुए तालाब का नहीं, तब ख्याल में बात आ सकेगी।

दूसरी बात ईशावास्य का यह सूत्र कहता है—इन्द्रियां इसे पा न सकेंगी, क्योंकि वह इन्द्रियों के पहले है। स्वभावतः मैं आंख से आपको देख सकता हूं, मेरी आंख से आपको देख सकता हूं—आप मेरी आंख के आगे हैं। लेकिन मैं मेरी आंख से आपको नहीं देख सकता, क्योंकि मैं आंख के पीछे हूं। आपको देख लेता हूं, क्योंकि आप मेरी आंख के आगे हैं। अपने को नहीं देख पाता अपनी ही आंख से, क्योंकि मैं आंख के पीछे हूं। अगर मेरी आंख चली जाए, मैं अन्धा हो जाऊं तो

फिर मैं आपको बिल्कुल न देख पाऊंगा, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मैं अपने को नहीं देख पाऊंगा। अगर आंख से मैं अन्धा हो जाऊं तो उन्हीं चीजों को नहीं देख पाऊंगा, जिनको आंख से देखता था। लेकिन अपने को कभी आंख से देखा ही नहीं था। इसलिए अन्धा होकर भी मैं अपने को देखता ही रहूंगा। इसमें दो बातें ख्याल में लेने की हैं।

इन्द्रियां उन चीजों को देखने का, जानने का माध्यम बनती हैं जो इन्द्रियों के सामने हैं। इन्द्रियां उन चीजों को देखने का माध्यम नहीं बनतीं, जो इन्द्रियों के पीछे हैं। पीछे के भी दोहरे अर्थ हैं। पीछे का अर्थ सिर्फ पीछे नहीं, पूर्व भी है। एक बच्चे का गर्भ निर्मित होता है तो जीवन पहले आ जाता है, फिर इन्द्रियां आती हैं। ठीक भी है। क्योंकि अगर जीवन पहले न आ गया हो तो इन्द्रियों का निर्माण कौन करेगा ? जीवन तो पहले आ जाता है। आत्मा तो पहले प्रवेश कर जाती है गर्भ के अन्दर। पूरी आत्मा प्रवेश कर जाती है, फिर एक-एक इन्द्रियां विकसित होनी शुरू होती हैं। फिर शरीर निर्मित होना शुरू होता है। मां के पेट में सात महीने में इन्द्रियां धीरे-धीरे खिलती हैं। नौ महीने में इन्द्रियां अपना पूरा रूप ले लेती हैं। लेकिन कुछ चीजें तब भी पूरी नहीं होतीं। जैसे सेक्स इन्द्रिय तो पूरी नहीं होती। उसको तो पूरा होने में मां के पेट से निकलने के बाद भी १४ वर्ष लग जाते हैं। मस्तिष्क के बहुत से हिस्से हैं, जो धीरे-धीरे विकसित होते हैं, पूरे जीवन विकसित होते रहते हैं। मरता हुआ आदमी भी बहुत कुछ अभी विकसित कर रहा होता है। लेकिन जीवन आ गया होता है पहले। इन्द्रियां आती हैं पीछे, उपकरण आते हैं बाद में। मालिक आ जाता है पहले, नौकर बुलाए जाते हैं बाद में। स्वभावतः नौकरों को बुलाएगा कौन ? इकट्ठा कौन करेगा ? तो वह मालिक नौकरों को तो जान सकता है, लेकिन वे नौकर लौट कर उस मालिक को नहीं जान सकते हैं। वह आत्मा इन इन्द्रियों को तो जान सकती है लेकिन इन्द्रियां लौट कर उस आत्मा को नहीं जान सकती हैं, क्योंकि उसका होना इन्द्रियों के पहले है और इतने गहरे में है, जहां इन्द्रियों की कोई पहुंच नहीं है। इन्द्रियां ऊपर हैं। वे भी जीवन का आवरण हैं। इसलिए इन्द्रियों से आत्मा को कोई जान नहीं सकता, चाहे कितनी ही तीव्र हो उसकी दौड़। मन भी इन्द्रिय है। मन कितना तेजी से दौड़ता है। इसलिए एक विरोधाभास इस वक्तव्य में है और वह यह है कि इतना तेज दौड़ने वाला मन भी उस आत्मा को नहीं पाता, जो कि ठहरी ही हुई है। इतना तेज दौड़ने वाला मन भी उसे नहीं उपलब्ध कर पाता, जो कि चलती ही नहीं। इतना तेजी से चलने वाला मन उसे चूक जाता है। बड़ी अजीब दौड़ है। प्रतियोगिता बहुत हैरानी की है। आत्मा, जो कि ठहरी हुई है, स्थिर है, इस मन को उसे पा लेना चाहिए ! लेकिन अक्सर ऐसा ही होता है जीवन में। ठहरी हुई चीजों को

ठहर कर ही पाया जा सकता है, दौड़ कर नहीं पाया जा सकता। आप रास्ते से चलते हैं। किनारे पर फूल खिले हुए हैं, वह ठहरे हुए हैं। आप जितने धीमे चलते हैं, उतना ही ज्यादा उनको देख पाते हैं। खड़े हो जाते हैं तो पूरा देख पाते हैं। और जब कार से आप ६० मील की गति से उनके पास से निकलते हैं तो कुछ भी पकड़ में नहीं आता और हवाई जहाज से निकल जाते हैं तब तो पता ही नहीं चलता है। और कल और बड़े तीव्र गति के साधन हो जाएंगे तो फूल था भी, इसका भी पता नहीं चलेगा। दस हजार मील प्रति घण्टे की रफ्तार से चलने वाला यान रास्ते के किनारे खड़े हुए फूल को चूक जाएगा। गति के कारण ही उसको चूक जाएंगे, जो कि खड़ा हुआ था।

मन बड़ी तेजी से दौड़ता है। अभी हमारे पास कोई यान नहीं है जो उतनी तेजी से दौड़ता हो। और भगवान् न करे कि किसी दिन ऐसा यान हो जाए, कि हमारे मन से भी तेजी से दौड़े तो मन हमारा पीछे रह जाएगा, हम आगे निकल जाएंगे। बहुत दिक्कत होगी। बहुत कठिनाई हो जाएगी। आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगा। नहीं, ऐसा कभी होगा भी नहीं कि कोई यान हमारे मन से तेजी से दौड़ सके। यान चांद पर पहुंचेगा तब तक मन मंगल की यात्रा कर रहा होगा। यान जब मंगल पर पहुंचेगा, मन तब तक और दूसरे सौर जगतों में प्रवेश कर जाएगा। मन सदा आगे दौड़ता रहता है सब यानों के। कितनी ही तेज उनकी गति क्यों न हो। इतना तेजी से दौड़ने वाला मन उस ठहरी हुई आत्मा को नहीं पा सकेगा। उपनिषद् कहते हैं तो ठीक कहते हैं। क्योंकि जो बिल्कुल ही ठहरा हुआ है उसे दौड़ कर नहीं पाया जा सकता, उसे तो ठहर कर ही पाना पड़ेगा। अगर मन बिल्कुल ठहर जाए तो ही उसको जान सकेगा, जो ठहरा हुआ है। यह भी जान लें आप कि जब मन बिल्कुल ठहर जाता है तो होता ही नहीं। मन जब तक दौड़ता है तभी तक होता है। सच तो यह है कि दौड़ का नाम ही मन है। मन दौड़ता है, यह भाषा की गलती है। जब हम कहते हैं कि मन दौड़ता है तब भाषा की गलती हो रही है। यह गलती वैसे ही हो रही है जैसे हम कहते हैं कि बिजली चमकती है। असल में जो चमकती है, उसका नाम बिजली है। बिजली चमकती है तब दो बातें कहने की कोई जरूरत नहीं है। आपने कभी 'न चमकने वाली' बिजली देखी है? तो फिर बेकार है यह कहना। असल में जो चमकता है उसका नाम ही बिजली है। मगर भाषा में दिक्कत होती है। भाषा में हम बिजली को अलग कर लेते हैं और चमकने को अलग कर लेते हैं। फिर हम कहते हैं, देखो, बिजली चमक रही है। जब कि चमकना और बिजली एक ही चीज के दो नाम हैं।

ठीक वैसे ही भूल होती है। हम कहते हैं, मन दौड़ता है। असल में, जो दौड़ता है, उसका नाम मन है। दौड़ का नाम मन है। तब ठहरे हुए मन का कोई अर्थ

नहीं होता। जैसे कि न चमकने वाली बिजली का कोई मतलब नहीं होता। कोई कहे कि बिजली इस समय नहीं चमक रही है तो आप कहेंगे, है ही नहीं। क्योंकि बिजली नहीं चमक रही है, इसका कोई अर्थ नहीं होता। चमकती है तभी होती है। मन अगर ठहर जाए, तो नहीं हो जाता है। ठहरा हुआ मन अ-मन नो-माइंड हो जाता है। कबीर ने जिसे अ-मनी अवस्था कहा है। वह ठहर जाता है तो फिर नहीं रह जाता। मन तभी तक है, जब तक दौड़ता है। इसलिए आप मन को कभी भी ठहरा न पाएंगे। ठहर जाएंगे तो पाएंगे मन नहीं है। मन कभी आत्मा को न जान सकेगा। क्योंकि दौड़ से कभी आत्मा जानी न जा सकेगी, और मन दौड़ का ही दूसरा नाम है। इसलिए जिस दिन मन नहीं होता है उस दिन आत्मा जानी जाती है। मन से हम सारे जगत् को जान लेते हैं। सिर्फ एक आत्मतत्त्व अनजाना रह जाता है। मन जब नहीं होगा तब हम आत्मतत्त्व को जान लेते हैं।

मन की दौड़ की अपनी तकनीक है, अपनी पूरी टेक्नालॉजी है। अकारण चूंकि नहीं दौड़ा जा सकता, इसलिए मन कारण निर्मित करता है। उन कारणों का नाम वासनाएं डिजायर्स हैं। मन कहता है, वह चीज पानी है, इसलिए दौड़ेंगे। अगर आगे भविष्य में कुछ पाने को ही न हो, कोई मंजिल न हो तो दौड़ेंगे कैसे? इसलिए रोज भविष्य में मन मंजिल तय करता है कि वह रही मंजिल। वहां तक पहुंचना है। तब दौड़ शुरू हो जाती है। इसलिए जिस मंजिल पर मन पहुंच जाता है, वह बेकार हो जाती है। क्योंकि वह तो सिर्फ बहाना था दौड़ का। जिस मंजिल को मन पा लेता है, वह मंजिल बेकार हो जाती है, क्योंकि वह तो सिर्फ बहाना था। तब दूसरा बहाना निर्मित करता है कि ठीक है यह तो पा लिया। अब इसमें कुछ सार नहीं। अब रही वह मंजिल—आगे, और आगे।

इसलिए मन सदा भविष्य में होता है, वह कभी वर्तमान में नहीं हो सकता। जिसे दौड़ना है उसे भविष्य में ही जीना होगा। वह सदा आगे ही होगा। वह वहां नहीं होगा, जहां आप हैं। अगर वहीं होगा तो दौड़ बन्द हो जाएगी। और आत्मा वहां है जहां आप हैं। और मन वहां है जहां आप कभी नहीं होते—सदा आगे। और मन जहां पहुंच जाता है, वहीं कह देता है, बेकार है। आगे चलो। तो मन मील के उस पत्थर की तरह है जिस पर तीर हमेशा आगे बताता रहता है। लेकिन मील के पत्थर पर तो कहीं-कहीं शून्य का पत्थर भी आ जाता है। शून्य के पत्थर पर तीर नहीं होता। कल मैं गुजर रहा था तो एक पत्थर मुझे आगे मिला, शून्य का पत्थर। वहां कोई तीर नहीं—न इस तरफ, न उस तरफ। क्योंकि शून्य का मतलब ही होता है मंजिल, उसके आर-पार कुछ नहीं होता। कहीं जाने को नहीं। जहां आप जाना चाहते थे वहां आ गए। लेकिन मन हमेशा आगे तीर बताता रहता है। मन की यात्रा में कभी वह पत्थर नहीं आता है जिस पर शून्य बना हो।

और अगर किसी दिन वह पत्थर आ जाए तो उस जगह का नाम ध्यान है। जहां शून्य बना हो, कोई तीर न हो। और अगर कभी वैसा पत्थर आ जाए मन की यात्रा में तो वहीं आत्मा की अनुभूति है। वह शून्य की जगह जहां है, वहीं आत्मा है। इसलिए जिन्होंने जाना है उन्होंने कहा है कि मन से तो न जान सकोगे, लेकिन शून्य से जान सकते हो। ध्यान रहे, जब भी इस तरह के जानने वाले लोग शून्य कहते हैं तो उसका मतलब होता है अ-मन, नो-माइंड।

मैंने कहा कि मन बहाने निर्मित करता है—कुछ पाना है। और मन की जो आखिरी तरकीब है, जब संसार की सब चीजें चुक जाती हैं और मन ऊबने लगता है तो कहता है, धन भी पाया बहुत, फिर कुछ मिला नहीं। मकान बनाए बहुत, कुछ मिला नहीं। शरीर खरीदे बहुत, लेकिन कुछ मिला नहीं। तब वह परलोक, स्वर्ग, मोक्ष, परमात्मा, इनके तीर बनाना शुरू कर देता है। तब भी वह थकता नहीं, तब भी वह तीर बनाए चला जाता है। तब भी वह यह नहीं कहता कि अब शून्य बना लो, और मत बनाओ तीर। नहीं, वह कहता है अब इनको पा लो। धन को पाया, कुछ हुआ नहीं, छोड़ो अब धर्म को पा लो। लेकिन पाएंगे जरूर! कुछ पाते जरूर रहेंगे! वासना बीकमिंग जारी रहेगी। कुछ पाने की यात्रा जारी रहे तो मन फिर जारी रहेगा। ध्यान रहे, धार्मिक आदमी वह नहीं है जो परमात्मा को पाना चाहता है। क्योंकि जब तक कोई कुछ भी पाना चाहता है तब तक मन जारी रहेगा। धार्मिक आदमी वह है, जिसने इस सत्य को पहचान लिया है कि पाने की दौड़ ही मन है, इसलिए अब हम नहीं पाते। अब हम न पाने में खड़े हो जाते हैं। अब परमात्मा भी हमसे कहे कि दो कदम चल कर आ जाओ, मैं यहां हूं, तब भी हम नहीं जाते। अब हम शून्य के पत्थर पर खड़े हो गए। अब हमारी कोई यात्रा नहीं। और बड़े मजे की बात है कि जो खड़ा हो जाता है उसको परमात्मा मिल जाता है। क्योंकि वह खड़ा हुआ है। जो परमात्मा को पाने के लिए भी दौड़ता है उसको परमात्मा कभी नहीं मिलता। क्योंकि दौड़ मन की है और मन से कोई आत्मतत्त्व उपलब्ध नहीं होने वाला है।

मन की सांसारिक दौड़ से जब तुम ऊब जाओगे, फिर तुम नए बहाने बना लोगे—आत्मा, परमात्मा, मोक्ष। बुद्ध तो इतना दूर तक जाते हैं, वह कहते हैं कोई आत्मा भी नहीं है। नहीं तो तुम आत्मा को ही पाने में लग जाओगे। मन इतना कुशल है कि वह कहेगा, चलो कुछ नहीं तो आत्मा तो है, तो आत्मा को ही पा लें। लेकिन पाएं जरूर, दौड़ें जरूर। नहीं दौड़ें घर की तरफ तो मन्दिर की तरफ दौड़ें। लेकिन दौड़ें जरूर। नहीं पदार्थ की तरफ, तो प्रभु की तरफ, लेकिन दौड़ें जरूर।

लेकिन पहुंचते वे हैं जो खड़े हो जाते हैं। इस सूत्र में यही कहा है। इन्द्रियों

के पीछे है वह, मन के पार है वह। इन्द्रियों और मन से उसे नहीं पा सकेंगे। तो क्या करेंगे? अगर इन्द्रियों के पार है तो इंद्रियों का भरोसा छोड़ दें उसे पाने में। अगर मन के पार है तो मन की दौड़ के आधार तोड़ दें उसे पाने के। मन की दौड़ के आधार तोड़ दें, इन्द्रियों का भरोसा छोड़ दें। वही मैं आपसे कह रहा हूं। अगर आपसे कहता हूं कि आंख बन्द कर लें तो असल में एक भरोसा तोड़ने को कह रहा हूं। कह रहा हूं आंख से बहुत देखा, वह दिखायी नहीं पड़ा। जन्म-जन्म देखा, वह दिखायी नहीं पड़ा। अब आंख बन्द करके देखें। कानों से बहुत सुनना चाहा उसकी आवाज, वह सुनायी न पड़ी। बहुत सुनना चाहा उसका संगीत, नहीं कान पकड़ पाया। अब कान बन्द कर लें। सोचा-विचारा बहुत, उसका कोई सूत्र हाथ न लगा। बहुत मन को थका डाला, बहुत चिन्ता की, बहुत विचारणा की, बहुत दर्शन, बहुत धर्म, बहुत शास्त्र खोजे। बहुत शब्द, बहुत सिद्धान्त निर्मित किए। नहीं मिली उसकी कोई खोज-खबर। अब छोड़ दें सब। अब सोचना छोड़ दें। अब जरा अनसोचे, नो-थिंकिंग में चले जाएं। वहां शायद वह मिल जाए। शायद कहता हूं आपके लिए। लेकिन वह मिल ही जाता है वहां। लेकिन आपके लिए शायद कहता हूं। क्योंकि जब तक नहीं मिला है तब तक भरोसा करना पक्का कि मिल ही जाएगा, खतरनाक है। कई बार ऐसे भरोसे रुकावट का कारण बन जाते हैं। वह कहते हैं बस, ठीक है—मिल ही जाएगा, मिल ही जाता है। ऐसे, सिद्धान्त ही सिद्धि मालूम होने लगते हैं। इसलिए कहता हूं शायद। प्रयोग कर सकें इसलिए मैं कहता हूं—परहेप्स।

मिल तो जाता ही है, लेकिन इन्द्रियों को, इन्द्रियों के सहारे को छोड़ देना पड़ता है। मन को, मन की दौड़ को, गति को छोड़ देना पड़ता है। ऐसा है आत्म-तत्त्व, जो सदा उपलब्ध है हमारे पास, लेकिन जिसे हम बड़ी व्यवस्था से चूकते चले जाते हैं। जिसे हमने कभी नहीं खोया, सिर्फ विस्मरण करते हैं। लेकिन उसके विस्मरण में ही सारा जीवन बेकार हो जाता है और उसके विस्मरण में सारा जीवन नरक हो जाता है। और उसके विस्मरण में जीवन में सिवाय कांटों के कोई फूल नहीं खिलता। और उसके विस्मरण में जीवन एक रेगिस्तान हो जाता है—जहां कोई सरिता नहीं, कोई रस की धारा नहीं। सब सूख जाता है। हमारा जीवन है रेगिस्तान की तरह। कितना ही खोजते हैं, रेत ही हाथ आती है, कहीं कोई जलस्रोत नहीं दिखायी पड़ते। कितना ही चलते हैं, कहीं कोई छाया नहीं मिलती, कहीं कोई विश्राम दिखायी नहीं पड़ता। कहीं कोई विराम नहीं मालूम पड़ता। जानें कि उस आत्मतत्त्व की छाया को पाए बिना कोई विश्राम नहीं है। और उस आत्मतत्त्व को पाए बिना जीवन में कोई मरुद्यान ओयसिस नहीं। और उस आत्मतत्त्व को पाए बिना कभी कोई रस की धारा नहीं बही। वही है सब।

लेकिन पत्तों में जो अटक गए, वे जड़ों तक नहीं पहुंच पाते। माना कि पत्ते जड़ों से ही आते हैं, फिर भी पत्तों में जो अटक गए वे जड़ों तक नहीं पहुंच पाते। पत्तों को छोड़ दें। नीचे गहरे उतरें—भीतर जाएं, पार, भावातीत, इंद्रियातीत, विचारातीत। पीछे और पीछे सरकते जाएं। उस जगह पहुंच जाना है जहां शून्य का पत्थर आ जाता है। वह सबके भीतर है। उस शून्य को हम सब लेकर घूम रहे हैं। नहीं तो घूम न पाते। जैसा मैंने कहा, अगर वह शून्य भीतर न हो, वह थिर, पूर्ण, भीतर न हो तो यह सारी परिवर्तन की धारा, यह इतना बड़ा चक्र-जाल चल नहीं सकता। यह जो आप अन्धड़ की तरह, आंधी की तरह दौड़ रहे हैं। यह जो आप बवण्डर की तरह घूम रहे हैं, वह सब उस शून्य के ऊपर है।

आखिरी बात इस सम्बन्ध में और कह दूं कि शून्य और पूर्ण एक ही बात के कहने के दो ढंग हैं। उपनिषद् पूर्ण की भाषा पसन्द करते हैं। उपनिषद् जब पैदा हुए, जब ये उपनिषद् के सूत्र कहे गए, तब आदमी पूर्ण की ही भाषा समझने में समर्थ था। पूर्ण की भाषा का अर्थ है विधायक भाषा। शून्य की भाषा का अर्थ है, निषेधात्मक भाषा। पूर्ण की भाषा समझने के लिए बच्चों जैसा हृदय चाहिए, पूर्ण की भाषा बूढ़े नहीं समझ पाते। और आदमी रोज बचपन के बाहर होता चला गया है। जिस दिन इस सूत्र का जन्म हुआ होगा उस आदमी बच्चों की तरह पूर्ण की भाषा समझते थे। कभी आपने बच्चों को अध्ययन किया हो, छोटे बच्चों को, तो आपको ख्याल होगा। एक बच्चा रास्ते में चलते बड़ी जिज्ञासाएं उठाता है, सभी बच्चे उठाते हैं। बड़े कठिन सवाल उठाते हैं। लेकिन आप सरल-सा जवाब दे देते हैं और वे प्रसन्न होकर शान्त हो जाते हैं। सवाल बड़े कठिन उठाते हैं जिनके जवाब बूढ़ों के पास भी नहीं हैं। छोटा-सा बच्चा पूछता है, नया बच्चा घर में आ गया है, वह पूछता है, कहां से आ गया है? कठिन है सवाल। अभी बूढ़ों के पास भी ठीक-ठीक जवाब नहीं है। जो जानते हैं, जन्मशास्त्री जो हैं, उनके पास भी ठीक-ठीक जवाब नहीं है। वह कहते हैं, अभी हम टटोलते हैं। कहां से आता है, अभी ठीक पक्का पता नहीं है। जहां तक हम पहुंचे हैं वहां तक हम कहते हैं, लेकिन वहां से भी पार से आता है जीवन, अभी कुछ पक्का नहीं है। तो जो जिन्दगी लगाए हैं इसी खोज में कि बच्चा कहां से आता है उनको भी पता नहीं है। जो बच्चे पैदा करते हैं उनको तो बिलकुल ही पता नहीं है, क्योंकि पैदा करने के लिए पता होने की कोई भी जरूरत नहीं। लेकिन एक भ्रम पदा हो जाता है कि बाप,—जो सात बच्चों का बाप है, उसको तो मालूम होना ही चाहिए कि बच्चा कहां से आता है। उस भ्रम में वह भी जीता है। तो जवाब तो वह देगा। लेकिन कभी छोटे बच्चे की वृत्ति को देखें। वह इतना कठिन सवाल पूछता है कि बच्चे कहां से आते हैं? इसका अभी विज्ञान के पास भी उत्तर नहीं है। और मेरे

देखे कभी भी नहीं हो सकेगा। लेकिन आप कह देते हैं, कौवा देखा है? वह ले आता है। ले आता होगा। बच्चा खेलने जा चुका। बात खत्म हो गयी। भरोसा कर लिया उसने।

यह अभी विधायक मन है। अभी अस्वीकार की बात नहीं उठती। अभी संदेह नहीं जागता। अभी वह यह नहीं कहता है कि कौवा कैसे ला सकता है! कहां से लाएगा? अभी वह यह नहीं पूछता। कल पूछेगा। एक वक्त आएगा तब यह कौवे वाला उत्तर काम नहीं करेगा। तब वह सवाल उठाने शुरू करेगा। समझें, तब निषेधात्मक मन पैदा हुआ।

एक युग था कि सारी दुनिया, सारी पृथ्वी, सारी मनुष्य-जाति बच्चों की तरह थी—इनोसेंट, सरल, जो बात कही जाती थी वह मान लेते थे। इसलिए जितने पुराने ग्रन्थ में जाएंगे। उतनी ही हैरानी होगी। हैरानी यह होगी कि न कोई तर्क है, न कोई युक्ति है, सीधा वक्तव्य है! ऋषि के पास कोई जाता है, वह पूछता है मन अशान्त है, मैं क्या करूं? ऋषि कहता है तू राम का नाम ले। वह कहता है, ठीक है और चला जाता है। वह यह भी नहीं पूछता कि राम के नाम से क्या होगा। कुछ नहीं पूछता। ध्यान रहे, राम के नाम से तो कुछ नहीं होता लेकिन उसके इस चित्त की अवस्था में अगर उस ऋषि ने कहा होता कि तू पत्थर-पत्थर कह, तो उससे भी हो जाता। पत्थर से नहीं हो जाता, न राम से हो जाता है। यह चित्त की जो पॉजिटिव स्थिति है, यह जो स्वीकार का सरल भाव है, यह जो इन्कार रखता ही नहीं है, यह जो सन्देह जन्माता ही नहीं, इससे हो जाता है। इसलिए वह कहते थे तू जा, राम का नाम लेना, सब ठीक हो जाएगा। वह घर जाकर राम का नाम ले लेता है और सब ठीक हो जाता है। ध्यान रखना, लेकिन मैं आपसे कह रहा हूं कि राम के नाम से नहीं हो जाता है। वह हो जाता है उस चित्त की विधायक मनोदशा से। इस ऋषि ने कह दिया होता कि यह ताबीज ले जा। पानी उठाकर दे दिया होता और कह दिया होता कि जा उसे पी लना। वह पी जाता और उससे भी हो जाता। किसी भी चीज से हो जाता, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। सवाल पीछे विधायक मनोदशा का है, वह है, तो हो जाएगा।

लेकिन अब नहीं रही विधायक मनोदशा। महावीर और बुद्ध के समय आते-आते विधायक दशा समाप्त हो गयी थी। इसलिए महावीर और बुद्ध दोनों के लिए निषेध की भाषा का उपयोग करना पड़ा। महावीर ने थोड़े-से निषेध का उपयोग किया और कहा कि कोई परमात्मा नहीं है। इसलिए नहीं कि परमात्मा नहीं रहा। इसलिए कि अब वह आदमी नहीं था कि जिससे कह दो, परमात्मा है, और वह नाचने लगे आनन्द से। जो यह पूछे कि कहां है? जिससे कह दो कि परमात्मा है और जो नाचने लगे उसकी धुन में—कहे कि है तो फिर हो जाएगा,

फिर खुल जाएगा दरवाजा। और स्मरण रखें, इतने सरल मन के लिए कोई दरवाजा नहीं रुक सकता खुलने से। लेकिन अब वह आदमी नहीं था महावीर के सामने जिससे कहो कि परमात्मा है और वह नाचने लगे। किसी से कहा, परमात्मा है तो वह दस सवाल लेकर आने लगा था। तो महावीर ने कहा, परमात्मा नहीं है। असल में परमात्मा तो उत्तर है। उस पर ही सवाल उठाने लगे कोई, तो बेकार हो गया। अगर उससे ही सवाल उठने लगें तो उसका कोई मतलब न रहा। वह तो उत्तर था पुराने ऋषि का। महावीर के वक्त लोग पूछने लगे, कैसा ईश्वर? कहां है, कितने उसके सिर हैं, कितने उसके हाथ हैं? कैसे पैदा हुआ, कहां से आया, कहां मिलेगा? तो महावीर ने कहा, वह है ही नहीं। वह उत्तर बेकार हो गया था। जिस उत्तर से प्रश्न उठने लगे वह उत्तर बेकार है। उत्तर का तो मतलब है, जिसमें प्रश्न समाधित हो जाएं। जिस पर आकर प्रश्न गिर जाएं।

परमात्मा परम उत्तर था। लेकिन महावीर को छोड़ देना पड़ा। बुद्ध को एक कदम और आगे बढ़ना पड़ा। महावीर ने आत्मा से काम चला लिया। लेकिन कितनी तीव्रता से अन्तर हुआ था। महावीर और बुद्ध की उम्र में ज्यादा फर्क नहीं था, केवल तीस साल का फर्क था। लेकिन बुद्ध को कहना पड़ा, आत्मा ही नहीं है। महावीर ने कहा, कोई परमात्मा नहीं है, आत्मा है। बुद्ध को कहना पड़ा, आत्मा भी नहीं है। क्योंकि बुद्ध के वक्त लोग पूछने लगे, आत्मा यानी क्या? कोई भी उत्तर नहीं था। बुद्ध ने कहा, शून्य है। ध्यान रहे, शून्य के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। क्योंकि शून्य का मतलब ही है, जो नहीं है। उसके बाबत प्रश्न क्या उठाएगा। शून्य के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। अगर उठाते हैं आप प्रश्न तो आप समझे नहीं। शून्य का मतलब ही है, जो नहीं है। अब आप और क्या सवाल उठा रहे हैं? हम खुद ही कह रहे हैं कि नहीं है। बुद्ध ने कहा— शून्य। तुम शून्य में ही लीन हो जाओ। भाषा बदल गयी। लेकिन मैं आपसे कहता हूं कि शून्य और पूर्ण एक ही चीज है। पूर्ण विधायक चित्त का उत्तर है, शून्य निषेध चित्त का उत्तर है।

और यह भी बड़े मजे की बात है कि इस हमारे जगत् में शून्य के अतिरिक्त और हमें किसी पूर्ण का अनुभव नहीं। इसलिए शून्य का प्रतीक हमने बनाया है, सर्किल, वर्तुल। वह मनुष्य के द्वारा खींची गयी पूर्णतम आकृति है। वर्तुल जो है, सर्किल जो है, वह मनुष्य के द्वारा खींची गयी पूर्णतम आकृति है। और कोई आकृति पूर्ण नहीं है। और यह भी मजे की बात है कि शून्य की आकृति सबसे पहले भारत में खींची गयी। गणित के कारण नहीं, वेदान्त के कारण। ९ तक की संख्या भारत में निर्मित हुई। लेकिन यह बड़े मजे की बात है कि एक, दो, तीन या नौ सभी अपूर्ण हैं। उनमें कुछ जोड़ा जा सकता है। एक में और एक जोड़ा जा सकता

है। जिसमें कुछ जोड़ा जा सकता है, वह पूर्ण नहीं है। क्योंकि जोड़ने से वह ज्यादा हो जाता है। उनमें से कुछ घटाया जा सकता है। क्योंकि जिसमें से कुछ घटाया जा सकता है और पीछे घट जाता है वह पूर्ण नहीं है। शून्य में न आप कुछ जोड़ सकते हैं, न कुछ घटा सकते हैं। वह पूर्ण है। शून्य में से आप कुछ घटा नहीं सकते। किसे घटाइयेगा, वहां कुछ है ही नहीं जिनमें से आप घटा दें। शून्य में आप कुछ जोड़ नहीं सकते। कैसे जोड़ियेगा?

शून्य पूर्ण की प्रतिकृति है। वह ज्यामिति में पूर्ण का प्रतिरूप है। यह जो शून्य पूर्ण का प्रतिरूप है इसे हम अपने भीतर ले चलते हैं। अगर आपको पूर्ण से समझ में आता हो, तो ठीक है। अगर पूर्ण से समझ में न आता हो तो शून्य से समझ लें। अन्तिम परिणाम में कोई अन्तर न पड़ेगा। आपकी मनोदशा के लिए दो यात्राएं हो जाती हैं। अगर आपको लगता है कि शून्य से नहीं समझ में आएगा, अगर आपकी चित्त-दशा विधायक है, तो नाचें, गायें, आनन्द में मग्न हो जाएं। अगर आपको लगता है कि मेरी विधायक दशा नहीं है चित्त की, सवाल उठते हैं, तो शान्त हों, शून्य हों, शून्य में खो जायें। अगर आपको लगता है निषध का मन है, निगेट का मन है, तो शून्य में खो जाएं। अन्तिम फल फिर एक ही हो जायेंगे। शून्य से भी नृत्य आ जाएगा। लेकिन वह शून्य होने से आएगा। नृत्य से भी शून्य आ जाएगा, लेकिन वह नृत्य से आएगा।

पूर्ण की जिसकी भाव दशा है वह नाचेगा पहले, गाएगा पहले, कीर्तन करेगा, फिर शून्य हो जाएगा। नाचते-नाचते उसकी नृत्य की ध्वनि के बीच में जब नृत्य तीव्र होगा, गतिमान् होगा, नृत्य ही बचेगा। और जब नृत्य एक बवण्डर बन जाएगा, तभी उसे भीतर के शून्य का अनुभव होने लगेगा। पीछे कोई खड़ा हुआ मालूम होने लगेगा। शरीर नाचता रहेगा, भीतर शून्य आत्मा खड़ी हो जाएगी। कील दिखायी पड़ने लगेगी घूमते हुए चक्र के साथ। और ध्यान रहे, चाक अगर खड़ा हो तो कील को पहचानना मुश्किल पड़ेगा। क्योंकि दोनों ही खड़े होंगे। चाक अगर खड़ा हो तो कौन कील है, कौन चाक है पहचानना मुश्किल हो जाएगा। चाक चल पड़े तो कील को पहचानना आसान पड़ जाएगा, क्योंकि वह नहीं चलेगी और चाक चलेगा। पूर्ण के भाव में आनन्दमग्न होकर कोई चैतन्य, कोई मीरा नाचती है। नाचते-नाचते चाक पूरा घूमने लगता है और भीतर की कील अलग खड़ी मालूम पड़ने लगती है।

शून्य से शुरू करें तो फिर भीतर शून्य होता चला जाता है। जब भीतर सब शून्य हो जाता है तो बाहर का चाक दिखायी पड़ने लगता है जो चल रहा है— विचार चल रहे हैं, संसार चल रहा है।

कील से भी यात्रा शुरू हो सकती है, चाक से भी। दो ही यात्रा के छोर हैं।

इस आत्मतत्त्व को या तो पूर्ण होकर जाना जा सकता है या शून्य होकर। लेकिन न तो इन्द्रियां पूर्ण तक ले जा सकती हैं, न शून्य तक। न मन पूर्ण तक ले जा सकता है, न मन शून्य तक ले जा सकता है।

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह आत्मतत्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सब के अन्तर्गत है और वही इस सब के बाहर भी है ॥५॥

नहीं चलता वह आत्मतत्व, फिर भी वही चलता है। निकट है वह आत्म-तत्व—निकट से भी निकटतम, फिर भी दूर है। भीतर है वह आत्मतत्व, अन्तरात्मा है वह। फिर भी वही बाहर दिखती है। यह सूत्र मनुष्य के इतिहास में, जो भी महावचन कहे गए हैं, उनमें से एक है। बहुत सरल है और बहुत गहन भी। जीवन के जितने भी सरल सत्य हैं उनसे ज्यादा कोई गहन सत्य नहीं होते। और जो बहुत साफ-साफ मालूम पड़ता है, वही रहस्य है और उस रहस्य को प्रकट करने के लिए सदा ही पैराडाक्सिकल, विरोधाभासी शब्दों का उपयोग करना पड़ता है। अब अगर कोई तर्कशास्त्री इसको पढ़े तो कहेगा कि एकदम गलत है।

आर्थर कोएसलर ने, जो पश्चिम के आज के एक बड़े विचारक है, उन्होंने पूरब की इस तरह की दृष्टियों की बड़ी मखौल उड़ायी है, बड़ी मजाक उड़ायी है। कहा हैं कि एब्सर्ड हैं। इससे ज्यादा और अर्थहीन वक्तव्य क्या होगा कि वह आत्म-तत्व पास से भी पास और दूर से भी दूर है! दिमाग ठीक है आपका? क्योंकि जो पास है वह पास ही हो सकता है, दूर कैसे होगा? वह आत्मतत्व ठहरा हुआ है और चलता हुआ भी है! क्या बातें कर रहे हैं आप—अर्थहीन, इनमें कुछ भी तो अर्थ नहीं है। वही भीतर और वही बाहर भी फैला हुआ है तो बाहर और भीतर में फिर फर्क क्या रहा? अगर वह भीतर है तो बाहर कैसे हो सकेगा? और अगर बाहर है तो भीतर कैसे हो सकेगा? दूर है तो कृपा करके कहिये कि दूर है, पास मत कहिये। और अगर पास कहते हैं तो कृपा करके दूर कहना छोड़ दीजिए। कोएसलर यही कहेगा। और आपका मन भी राजी होगा कोएसलर से, अगर ईमानदार है तो बराबर राजी होगा। कोएसलर ईमानदार आदमियों में से एक है और मैं मानता हूं कि ईमानदार होना बेहतर है, उससे रास्ते खुल सकते हैं।

कोएसलर कहता है कि मेरे लिए इस तरह के वक्तव्य इललॉजिकल, पागलखानों में निकले हुए वक्तव्य हैं। कोई पागल इस तरह की बात कहे तो माफ किया जा सकता है। लेकिन कोएसलर को पता नहीं है कि इधर दस वर्षों में विज्ञान भी इसी हालत में पहुंच गया है। और इसी तरह के वक्तव्य देने लगा है। आइन्स्टीन भी इस तरह के वक्तव्य देता है। छोड़ें, ऋषि पागल हो सकते हैं। ऋषियों का दावा भी नहीं है कि वह पागल नहीं है। क्योंकि इस जगत् में, पागल नहीं हैं ऐसे दावे सिवाय पागलों के और कोई नहीं करता है। ऋषि इतने बुद्धिमान हैं कि पागल होने के लिए भी राजी हो सकते हैं। जो परम बुद्धि को उपलब्ध होते हैं वे परम अज्ञानी होने के लिए तैयारी दिखा पाते हैं।

कल मैं किसी से कह रहा था कि टु क्लेम विसडम इज द ओनली स्टुपिडिटी—बुद्धिमत्ता का दावा करना एकमात्र मूढ़ता है। मूढ़ों के अतिरिक्त बुद्धिमान होने का दावा किसी ने किया नहीं। बुद्धिमान तो, जितने बुद्धिमान हुए हैं उन्होंने कहा, हम महामूढ़ हैं। हमें कुछ भी पता नहीं। इतना ही पता है कि कुछ भी पता नहीं है। जितना जाना उतना ही पता चला कि अज्ञानी गहन हैं। जितना जाना, उतना ही जानने के सब द्वार गिर गए। लेकिन आइन्स्टीन को तो कोएसलर भी नहीं कह सकता कि पागल है। लेकिन अभी पिछले दस वर्षों में कठिनाई आ गयी। जैसी कठिनाई उपनिषद् को आ गयी थी। जब भी कोई विचार, कोई खोज परम रहस्य को छुएगी, तभी यह उपद्रव आ जाएगा। जब उपनिषद् का ऋषि इस परम रहस्य पर पहुंच गया, आखिरी आत्मतत्व पर, तब उसको पैरोडाक्सिकल लेंग्वेज, विरोधी भाषा का उपयोग करना पड़ा। एक ही साथ कहा कि दूर है और पास भी। और बड़ी जल्दी से कहा कि कहीं ऐसा न हो कि आप समझ जायें कि दूर है। कहा कि पास है और तत्काल शीघ्रता से कहा कि दूर भी, कहीं ऐसा न हो कि आप समझ जाएं कि पास है। जो कहा उसको दूसरे वक्तव्य में फौरन् खण्डित किया। अभी विज्ञान भी परम तत्व के बहुत निकट घूमने लगा है।

इलेक्ट्रॉन का आविष्कार हुआ तो वैज्ञानिक कठिनाई में पड़ गए। कोई शब्द न मिला जिससे उसे कहें। आदमी के पास सब शब्द हैं, पर इलेक्ट्रॉन को क्या कहें? एक बड़ी कठिनाई खड़ी हो गयी कि उसको कण कहें कि तरंग? कण और तरंग निश्चित ही अलग-अलग और विपरीत चीजें हैं। कण तरंग नहीं हो सकता है। कण का मतलब ही हुआ कि जो ठहरा हुआ है। तरंग का मतलब है, जो गतिमान है। तरंग अगर ठहर जाए तो तरंग नहीं है। तरंग का मतलब ही है जो तैर रही है। बही जा रही है, हुई जा रही है, बनी जा रही है, मिटी जा रही है—एक प्रोसिस। तरंग है एक प्रोसिस, एक प्रक्रिया। और कण? कण है एक स्थिति। प्रोसेस नहीं, स्टेटस। दो वैज्ञानिक उसका अध्ययन कर रहे हैं। एक

वैज्ञानिक कहता है कि मुझे तरंग मालूम पड़ती है, एक वैज्ञानिक कहता है मुझे कण मालूम होता है। एक ही साथ। और एक वैज्ञानिक कहता है, क्षणभर को कण मालूम होता है, क्षणभर को तरंग मालूम होता है। दोनों हैं और एक साथ हैं। तो बहुत कठिनाई हुई। ऐसा कोई शब्द दुनिया की किसी भाषा में न था कि जिसका अर्थ एक ही साथ कण भी हो और तरंग भी। तो एक नया शब्द 'क्वांटा' उनको खोजना पड़ा। क्वांटा का मतलब होता है बोथ, दोनों, तरंग भी, कण भी।

पागल हैं—कोएसलर को कहना चाहिए, यह सब आइन्स्टीन और प्लांक, ये सब पागल हैं। आइन्स्टीन से किसी ने पूछा कि आप क्या कह रहे हैं, यह कैसे हो सकता है कि कण और तरंग दोनों हों? आइन्स्टीन ने कहा, हो सकता है कि नहीं हो सकता है, यह निर्णय मैं कैसे करूं, लेकिन ऐसा है। हो सकता है कि नहीं हो सकता है, यह मैं कौन हूं कहने वाला? इतना ही मैं खबर देता हूं कि ऐसा है। उस पूछने वाले आदमी ने कहा कि यह तो हमारे सारे तर्क के नियमों को तोड़ देता है। यह तो अरस्तू का जो सारा तर्क है, वह सब खण्डित होता है। तो आइन्स्टीन ने कहा, मैं क्या करूं? अगर तथ्य के सामने तर्क टूटता हो तो तर्क को ही टूटना पड़ेगा। तथ्य टूटने को राजी नहीं है। आप अपने तर्क को बदलें। तथ्य तो यही है। अरस्तू गलत हो। इलेक्ट्रॉन अरस्तू को सही करने के लिए कण होने को राजी नहीं हैं। अरस्तू को सही करने के लिए इलेक्ट्रॉन सिर्फ तरंग होने को राजी नहीं हैं, वह दोनों है। अरस्तू की उसे कोई फिक्र ही नहीं। अरस्तू का तर्क कहता है कि विपरीत चीजें एक साथ नहीं हो सकती हैं। ठीक कहता है। एक आदमी जिन्दा और मरा हुआ एक साथ कैसे होगा? लेकिन जो गहरे रहस्य को जानते हैं, वे कहते हैं, जिन्दगी और मौत एक ही आदमी के दो पैर हैं, बायें और दायें। आप जब जिन्दा हैं तब मर भी रहे हैं। नहीं तो एक दिन मर नहीं पायेंगे। जिस दिन आप जन्मे उसी दिन से मर रहे हैं। इधर जिन्दगी चल रही है, उधर मौत भी चल रही है। सत्तर साल में मुकाम आता है। यह बड़े मजे की बात है, मरा हुआ आदमी मर सकता है? जिन्दा आदमी चाहिए मरने के लिए। यानी मरने के लिए जिन्दा होना बिल्कुल जरूरी है, अनिवार्य है। यह शर्त ढीली नहीं की जा सकती। कोई अगर जिन्दा नहीं हो तो नहीं मर सकता।

अब यह बड़ी उल्टी बात हो गयी कि मरने के लिए जिन्दा होना अनिवार्य शर्त है। तो फिर इसका मतलब हुआ कि जिन्दा होने के लिए मर ा अनिवार्य शर्त है। जो आदमी इसी वक्त मर नहीं रहा है, वह जिन्दा भी नहीं है। मौत और जिन्दगी एक ही प्रक्रिया के नाम हैं। एक साथ हम मर भी रहे हैं और हो भी रहे हैं। हम मिट भी रहे हैं और बन भी रहे हैं। अरस्तू कहता है, अंधेरा अंधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। अंधेरा और प्रकाश कभी एक नहीं हो सकते। साधारणत: ठीक दिखाई

पड़ता है। लेकिन कोई अंधेरा ऐसा नहीं है, और कोई प्रकाश ऐसा नहीं है, जहां अंधेरा नहीं है। और विज्ञान तो कहता है अंधेरा कम प्रकाश का ही नाम है। और प्रकाश कम अंधेरे का नाम है। डिग्री का अन्तर है। जैसे कि गर्मी और सर्दी दो चीजें नहीं हैं। कभी ऐसा करें तो यह उपनिषद् का सूत्र बड़ी अच्छी तरह समझ में आ जायगा। एक हाथ को आंच में थोड़ा गरम कर लें और एक हाथ पर बर्फ रखकर उसे थोड़ा ठण्डा कर लें। और फिर दोनों हाथों को एक बाल्टी में, जिसमें पानी भरा हो, डाल दें। और फिर पूछें कि पानी ठण्डा है या गरम? एक हाथ खबर देगा कि ठण्डा है और एक हाथ खबर देगा कि गरम है। तब आपको कहना पड़ेगा कि ठण्डा है, और कहीं भूल न हो जाए, इसलिए फौरन कहना पड़ेगा, गरम भी है। विपरीत वक्तव्य देने पड़ेंगे। एब्सर्ड हो जायेंगे कोएसलर के हिसाब से। लेकिन पानी ठण्डा और गरम नहीं होता। आपके हाथ और पानी के बीच जो सम्बन्ध निर्मित होता है उससे डिग्री का पता चलता है।

उपनिषद् कहता है, आत्मा निकट भी है और दूर भी। निकट तो इसलिए कहता है कि पत्ते कितने ही दूर हों, जड़ के सदा निकट हैं। जड़ से जुड़े हैं, नहीं तो हो नहीं सकते। रस तो जड़ से ही आता है। अगर हम ठीक से समझें तो पत्ता जड़ का ही फैला हुआ है। एक्सटेंशन—जड़ ही फैलकर पत्ता बन गयी। कहीं भी तो बीच में डिसकन्टीन्यूटी, व्यवधान नहीं पड़ा। कहीं तो ऐसी जगह नहीं है, जहां आप कह दें, जड़ खत्म हुई और पत्ता शुरू हुआ। सब जुड़ा है। उस कोने पर पत्ता है, इस कोने पर जड़ है। आपके पैर की उंगली और आपके सिर के बाल कहीं भी तो टूटे हुए नहीं हैं। जुड़े हैं, एक हैं। एक ही चीज के दो छोर हैं। तो जड़ निकटतम है पत्ते से, क्योंकि उसी से तो सारा जीवन मिलता है, सारा रस मिलता है, दूर हो कैसे सकते हैं? फिर भी दूर हैं। बहुत दूर हैं। और पत्ते को अगर जड़ को जानना हो तो बड़ी लम्बी यात्रा करनी पड़ेगी। दूर क्यों है! दूर इसलिए कि पत्ते को पता ही नहीं चलता कि जड़ हैं भी। सूरज भी पत्ते को पास मालूम पड़ता होगा। हालांकि बहुत दूर है सूरज, दस करोड़ मील दूर का फासला है। लेकिन पत्ते को सूरज भी पास मालूम पड़ता होगा। सुबह सूरज निकलता है। तो पत्ता नाच उठता है। सूरज का रोज पता चलता है। लेकिन जड़ का कभी पता नहीं चलता, जो नीचे छिपी है, उसका ही हिस्सा है। इन अर्थों में सूरज पास है बहुत, जड़ बहुत दूर है।

आत्मतत्त्व पास है बहुत, क्योंकि उसके बिना हम हो नहीं सकते। और दूर भी है बहुत, क्योंकि कितने जन्मों से हम उसे खोज रहे हैं, उसका हमें कोई पता नहीं मिलता। कहते हैं, बिल्कुल नहीं चलता, फिर भी सारा चलना उस पर ही खड़ा है। कील चलती नहीं, चाक चलता है। फिर भी यात्रा तो कील की भी हो जाती

है उतनी ही। निकल पड़े आप गाड़ी पर बैठकर यात्रा करने के लिए। कील बिल्कुल नहीं चलेगी, इंच भर नहीं चलेगी, चलेगा चाक। लेकिन जब दस मील बाद आप ठहरेंगे तो कील की भी यात्रा तो दस मील हो चुकी और चली इंच भर भी नहीं। कोएसलर कहेगा, पागलपन है! पर हुआ यही है। अब तथ्य को क्या करें? अरस्तू गलत हो तो हो, तथ्य गलत नहीं होते। कील बिल्कुल नहीं चली और फिर भी दस मील की यात्रा हो गयी। क्षणभर भी नहीं चली, हिली भी नहीं और कितने जन्मों की यात्रा है, कितने पड़ाव और कितनी मंजिलें, कितने दूर निकल आये! इसलिए उपनिषद् का ऋषि कहता है, नहीं चलती, फिर भी बहुत चलती है।

कहता है, भीतर है और फिर भी बाहर है। असल में बाहर और भीतर काम-चलाऊ फासले हैं। श्वास भीतर जाती है तब आप कहते हैं भीतर जा रही है। आप कह भी नहीं पाते और वह बाहर चली जाती है। कभी आपने ख्याल किया? कहते हैं, श्वास भीतर जा रही है—भीतर है। कह भी नहीं पाते; कह भी नहीं पाये, इतना भी समय व्ययीत नहीं हुआ कि बाहर जा चुकी। और जब तक कहते हैं कि बाहर है तब तक पाते हैं कि वह भीतर प्रवेश करती चली जा रही है। बाहर और भीतर में फासला क्या है? दिशा का, और कोई फासला नहीं है। रुख, और कोई फासला नहीं है। घर से बाहर आपके जो आकाश है और घर के भीतर जो आकाश है उसमें रत्तीभर का फासला है? कोई फासला नहीं है। दीवार आपने उठा ली और घेर लिया आकाश का एक टुकड़ा। वह बाहर का ही है। वह वही आकाश है, जो बाहर है। लेकिन फिर भी फासला है। जब धूप तेज हो जाती है तब पता चलता है कि बाहर का आकाश और है, भीतर का आकाश और है। भीतर विश्राम मिल जाता है, बाहर बड़ी पीड़ा हो जाती है। बाहर और भीतर का आकाश एक भी है और अलग भी है। जब रात उसके नीचे सोते हैं तो ज्यादा निश्चित होते हैं और बाहर होते हैं तो बड़े चिन्तित हो जाते हैं। इसलिए उप-निषद् कहते हैं वही भीतर है, वही बाहर है। फिर भी जानना है तो भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। जानने के बाद यह कहा जा सकता है कि वही बाहर है। जानने के पहले यह नहीं कहा जा सकता है कि वही बाहर है। क्योंकि जिन्हें भीतर का ही पता नहीं उन्हें बाहर का कोई पता नहीं होगा। जिन्होंने अपने घर के ही छोटे से आकाश को नहीं जाना, वे इस बाहर के विराट् आकाश को कैसे जान पायेंगे? इस छोटे-से सूत्र से पहले परिचित हो लें, फिर उस बाहर के विराट् से भी परिचय हो जायगा। जिन्हें जानने निकलना है उन्हें भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। और जो जानने की अन्तिम मंजिल पर पहुंच जाते हैं वह बाहर पूरा करते हैं। प्राथमिक कदम भीतर उठता है, अन्तिम कदम तो परम रूप से बाहर चला जाता है। आत्मा से यात्रा शुरू होती है, परमात्मा पर पूर्ण होती है।

यह बहुत एब्सर्ड, बिल्कुल तर्कहीन, असंगत दीखने वाला वक्तव्य, बहुत गहन, बहुत सत्य, बहुत तथ्यपूर्ण है। लेकिन तर्क पर ही जो रुक जाते हैं, वे तथ्य तक नहीं पहुंच पाते। तथ्य पर तो केवल वे ही पहुंच पाते हैं जो तर्क भी छोड़ने का साहस रखते हैं। क्योंकि तथ्य आपके तर्कों को नहीं मानता। सब तर्क मनुष्य-निर्मित हैं। तथ्यों को कोई फिक्र नहीं है उनकी। आपका तर्क कुछ भी कहे, तथ्य जिये चले जायेंगे अपने ढंग से। तथ्य अपने ढंग से काम करते चले जाते हैं। उन्हें आपके तर्कों की कोई फिक्र नहीं है। इसलिए जब भी तथ्य और तर्क की टक्कर होती है तो तर्क को टूटना पड़ता है। इसलिए पूरब के मनीषी जब तथ्य पर पहुंचे जीवन के तो उन्होंने तर्क की बात छोड़ दी उन्होंने। कहा, तर्क से कुछ होगा नहीं। इसलिए जो तर्क में बहुत निष्णात हो जाते हैं उनका सत्य से परिचय जरा कठिन होने लगता है, मुश्किल होने लगता है। वह अपने तर्क को ही लिए बैठे रहते हैं। वह यही कहे चले जाते हैं कि पानी एक ही साथ ठण्डा और गरम कैसे हो सकता है? लेकिन है। सर्दी और गर्मी एक कैसे हो सकती है? कहां सर्दी और कहां गर्मी! पर वे एक ही हैं। वह कहे चले जाते हैं, जन्म और मृत्यु एक कैसे हो सकते हैं—लेकिन हैं। सत्य के खोजी को तर्क के छोड़ने का साहस करना पड़ता है, जो कि बड़े-से-बड़ा साहस है।

यह सूत्र तर्कातीत है, बियोण्ड लॉजिक है और इसलिए परम है। इसलिए मैंने कहा कि मनुष्य जाति के इतिहास में जो परम वचन बोले गये हैं—महावाक्य, उनमें से एक है। अब हम उस तर्कातीत परम तथ्य में प्रवेश करें। इसलिए सोचें न कि नाचने से क्या होगा! चिल्लाने से क्या होगा! रोने से क्या होगा! हंसने से क्या होगा! सोचें नहीं। छोड़ें तर्क और कूद पड़ें।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६।।

जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह इसके कारण ही किसी से घृणा नहीं करता ।।६।।

प्रवचन : २०
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ६ अप्रल, १९७१

वह समत्व है

मनुष्य की गहरी-से-गहरी उलझनों में घृणा आधारभूत है। कहें कि घृणा का जहर ही मनुष्य की समस्त विषाक्त अभिव्यक्तियों में प्रकट होता है। घृणा का अर्थ है दूसरे के विनाश की आतुरता। प्रेम का अर्थ है—दूसरे के जीवन की आकांक्षा। घृणा का अर्थ है, दूसरे की मृत्यु की आकांक्षा। प्रेम का अर्थ है जरूरत पड़े तो दूसरे के लिए स्वयं को समाप्त कर देने की तैयारी। घृणा का अर्थ है, जरूरत न भी पड़े तो भी स्वयं के लिए दूसरे को समाप्त कर देने की तैयारी और हम सब जैसे जीते हैं उसमें प्रेम का कोई स्वर नहीं होता, घृणा का ही विस्तार होता है। वस्तुत: तो जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी हमारी घृणा का ही एक रूप होता है। हम प्रेम में भी दूसरे को साधना बना लेते हैं। और जब भी कोई दूसरे को साधन बनाता है तभी घृणा शुरू हो जाती है। हम प्रेम में भी अपने लिए जीते हैं। और अगर दूसरे के लिए कुछ करते हुए मालूम भी पड़ते हैं तो सिर्फ इसलिए कि उससे हमें कुछ मिलने को है। दूसरे के लिए हम कुछ करते हैं तभी, जब उससे कुछ मिलने की आशा—फल की आकांक्षा होती है। अन्यथा हम नहीं करते। इसीलिए हमारा प्रेम किसी भी क्षण घृणा बन सकता है। बन जाता है। घड़ीभर पहले जिसे हमने प्रेम किया था, घड़ीभर बाद वही प्रेम घृणा बन सकता है। जरा-सी हमारी आकांक्षा में बाधा पड़ी कि प्रेम घृणा में रूपान्तरित हुआ है। और जो प्रेम घृणा में बदल सकता है, जानना कि वह घृणा का ही छिपा हुआ रूप है। भीतर घृणा ही है, ऊपर आवरण है प्रेम का।

ईशावास्य बहुत बहुमूल्य सूत्र की बात कर रहा है। और तभी प्रेम सम्भव है, अन्यथा प्रेम सम्भव नहीं है। तभी प्रेम का फूल खिल सकता है। इस सूत्र के अतिरिक्त प्रेम के फूल की कोई सम्भावना नहीं है। वह सूत्र यह है कि जब कोई व्यक्ति समस्त भूतों में स्वयं को देखने लगता है और स्वयं में समस्त भूतों को देखने लगता है तभी घृणा का अन्त होता है। ध्यान रहे, ईशावास्य वह नहीं कहता

कि तभी प्रेम का जन्म होता है। कहता है, तभी घृणा का अन्त होता है। ऐसा कहने का बहुत सुविचारित कारण है। यह बहुत मजे की बात है कि प्रेम के जन्म में सिवाय घृणा की मौजूदगी के और कोई बाधा नहीं है। घृणा न हो तो प्रेम खिलता है—अपने-आप—स्पोंटेनियस—सहज। उसे खिलाने के लिए फिर और कुछ करना नहीं पड़ता। ठीक ऐसे ही जैसे किसी झरने के ऊपर एक पत्थर रखा हो और हम पत्थर को हटा लें और झरना फूट पड़े। ऐसे ही घृणा का पत्थर हमारे ऊपर है। घृणा के पत्थर के कारण न तो समस्त भूत हमारे लिए दर्पण बन पाते हैं कि हम अपने चेहरे को उनमें देखें। और न ही हम दर्पण बन पाते हैं कि समस्त भूतों का चेहरा हममें प्रतिफलित हो जाए। ये दोनों घटनाएं एक साथ घटती हैं। जो व्यक्ति समस्त भूतों में, समस्त प्राणियों में, समस्त अस्तित्व में अपने को देख लेगा वह प्राणी अनिवार्यतः सबको अपने में ही देख पाएगा। जिसके लिए जगत् दर्पण बन जाएगा वह स्वयं भी जगत् के लिए दर्पण बन जाता है। यह घटना एक ही साथ घटती है। एक ही घटना के दो पहलू हैं वे। और उपनिषद् कहता है कि ऐसा होते हुए घृणा गिर जाती है।

फिर क्या पैदा होता है? अब प्रेम पैदा होता है, ऐसा उपनिषद् ने नहीं कहा है। क्योंकि प्रेम शाश्वत् है, वह हमारा स्वभाव है। वह न तो पैदा होता है, न मरता है। जैसे, वर्षा के दिन हैं और आकाश में बादल घिर गए हैं। सूरज ढंक गया। तो क्या हम यह कहेंगे कि जब बादल हट जाएंगे तो सूरज पैदा होगा? नहीं तब हम इतना ही कहेंगे कि बादल हट जाएंगे तो सूरज, जो सदा था, प्रकट होगा। बादल जब आ गए हैं तब भी सूरज नष्ट नहीं हो गया है, सिर्फ दब गया, आच्छादित हो गया। दिखाई नहीं पड़ता, छिप गया, आड़ में हो गया। बादल हट जाएंगे, सूरज प्रकट हो जाएगा। बादलों का जन्म होता है और बादलों की मृत्यु होती है—सूरज सदा है। उसका न कोई जन्म होता है, न मृत्यु होती है। प्रेम जीवन का स्वभाव है, इसलिए प्रेम का कोई जन्म नहीं है, कोई मृत्यु नहीं है। घृणा के बादल जन्मते हैं और मरते हैं। जन्म जाते हैं तो प्रेम आच्छादित हो जाता है। विसर्जित हो जाते हैं, मर जाते हैं तो प्रेम प्रकट हो जाता है। लेकिन प्रेम शाश्वत् है। इसलिए प्रेम के जन्मने की बात उपनिषद् नहीं कर रहा है। उपनिषद् कह रहा है, बस, घृणा मर जाती है, घृणा गिर जाती है।

पर कैसे? सूत्र जो सरल दिखायी पड़ता है, इतना सरल नहीं है। बहुत बार जो चीजें बहुत कठिन दिखायी पड़ती हैं, वे कठिन नहीं होती हैं। बहुत बार, जो चीजें बहुत सरल दिखायी पड़ती हैं, सरल नहीं होती हैं। अधिकांशतः तो सरल के भीतर बहुत गहराई होती है और बहुत जटिलता होती है। लगता है, यह सूत्र सीधा-सा है। दो पंक्तियों में पूरा हो गया है कि जिसे समस्त भूतों में स्वयं का

दर्शन हो जाए, या समस्त भूतों का दर्शन स्वयं में होने लगे, उसकी घृणा नष्ट हो जाती है। लेकिन सबको दर्पण बना लेना या सबके लिए स्वयं दर्पण बन जाना, सबसे बड़ी कीमिया और कला है। उससे बड़ा कोई आर्ट नहीं।

सुनी है मैंने एक छोटी-सी कहानी—वह मैं आपसे कहूं। सुना है मैंने कि एक ईरानी बादशाह के दरबार में एक चीनी चित्रकार ने निवेदन किया कि मैं चीन से आया हूं। बहुत बड़ी कला का धनी हूं। चित्र बना सकता हूं ऐसे, जैसे कि आपने कभी न देखे हों। सम्राट् ने कहा, जरूर बनाओ। लेकिन हमारे दरबार में चित्रकारों की कमी नहीं है और बहुत अनूठे चित्र मैंने देखे हैं। तो उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मैं प्रतियोगिता के लिए भी तैयार हूं। जो श्रेष्ठतम कलाकार था सम्राट् के दरबार का, वह प्रतियोगिता के लिए चुना गया। और सम्राट् ने कहा कि पूरी शक्ति लगानी है, यह साम्राज्य की प्रतिष्ठा का सवाल है। एक परदेशी तुम्हें हरा न जाए। छह महीने का उन्हें समय मिला था। ईरानी चित्रकार बड़ी मेहनत में लग गया। दस-बीस सहयोगियों को लेकर उसने एक भवन की पूरी दीवार को चित्रों से भर डाला। उसकी मेहनत की खबर दूर-दूर तक पहुंच गई। लोग दूर-दूर से उसकी मेहनत को देखने आने लगे। लेकिन उससे भी ज्यादा चमत्कार की बात तो यह थी कि उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मुझे किसी उपकरण की जरूरत नहीं। और न रंगों की कोई जरूरत है। सिर्फ मेरा इतना ही आग्रह है कि जब तक चित्र पूरा न बन जाए तब तक मेरी दीवार के सामने से पर्दा न उठाया जाए। वह रोज अपने पर्दे के पीछे चला जाता। सांझ को थका-मांदा लौटता, माथे पर पसीने की बूंदें होतीं। लेकिन बड़ी कठिनाई और बड़ी हैरानी और बड़ी अचंभे की बात यह थी कि न तो तूलिका ले जाता, न रंग ले जाता पर्दे के पीछे। उसके हाथों में रंग के कोई निशान न होते। उसके कपड़ों पर रंग के कोई दाग न होते। उसके हाथ में कोई तूलिका न होती। सम्राट् को शक होने लगा कि वह पागल तो नहीं है! क्योंकि प्रतियोगिता होगी कैसे? लेकिन छः महीने प्रतीक्षा करनी जरूरी थी। शर्त पूरी करनी जरूरी थी। छः महीने बड़ी मुश्किल से कटे। दूर-दूर तक ईरानी चित्रकार के चित्रों की खबर पहुंची। साथ में यह खबर भी पहुंची कि एक पागल प्रतियोगी भी है, जो बिना किसी रंग के प्रतियोगिता कर रहा है। छः महीने लोगों ने ऐसी आतुरता से प्रतीक्षा की कि जिसका कोई हिसाब नहीं।

छः महीने बाद पर्दा उठने को था। सम्राट् गया। ईरानी चित्रकार के चित्र देखकर वह दंग हो गया। बहुत चित्र उसने जीवन में देखे थे। लेकिन नहीं—ऐसा श्रम शायद ही कभी किया गया हो। फिर उसने चीनी चित्रकार से कहा। चीनी चित्रकार ने अपनी दीवार के सामने का पर्दा हटा दिया। सम्राट् तो बहुत हैरान

हो गया। ठीक वही चित्र ! जो ईरानी चित्रकार ने बनाया था वही चित्र चीनी चित्रकार ने भी बनाया था। पर एक और खूबी थी कि वह चित्र दीवार के ऊपर नहीं, दीवार के भीतर बीस फीट अन्दर दिखाई पड़ता था। सम्राट् ने पूछा; तुमने यह किया क्या ! क्या जादू है ?

उसने कहा, मैंने कुछ किया नहीं। मैं सिर्फ दर्पण बनाने में कुशल हूं। तो मैंने दीवार को दर्पण बनाया। छह महीने दीवार घिस-घिस कर मैंने दर्पण बनाया। और जो चित्र आप देख रहे हैं दीवार में वह तो ईरानी चित्रकार का ही है सामने की दीवार पर। मैंने सिर्फ दीवार दर्पण बनाई।

जीत गया वह प्रतियोगिता। क्योंकि दर्पण में झलक कर वही ईरानी चित्र इतना गहरा हो उठा, जैसे वह खुद स्वयं में नहीं था। क्योंकि ईरानी चित्र तो दीवार के ऊपर था। दर्पण में जाकर वह भीतर गहरे हो गया। डेप्थ—थ्री डायमेंशनल हो गया। ईरानी चित्र तो टू डायमेंशन में था—दो आयाम में था। उसमें गहराई न थी। चीनी चित्रकार का चित्र तीन डायमेंशन में हो गया, उसमें गहराई भी थी। सम्राट् ने कहा—तुमने पहले क्यों नहीं कहा कि तुम सिर्फ दर्पण बनाना जानते हो। उस चीनी चित्रकार ने कहा—मैं कोई चित्रकार नहीं हूं, फकीर हूं। सम्राट् ने कहा, और मजे की बात है। पहले तुमने यह न बताया कि तुम दर्पण बनाते हो, अब तुम बताते हो कि तुम फकीर हो। फकीर को दर्पण बनाने से क्या प्रयोजन ? उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मैंने अपने को दर्पण बना कर जो चित्र देखा जगत् का, तब से मैं दर्पण ही बनाता हूं। जैसे इस दीवार को घिस-घिस कर मैंने दर्पण कर लिया है ऐसे ही मैंने अपने को भी घिस-घिस कर दर्पण कर लिया। और मैंने इस जगत् की जो सुन्दर प्रतिमा देखी है, वैसी बाहर कहीं भी नहीं है। जिस दिन मैं दर्पण बन गया उस दिन मैंने सारे जगत् को अपने में समाया हुआ देखा और जाना। सब भूत मेरे भीतर समा गए।

जिस दिन हमारा हृदय दर्पण की तरह बनता है उस दिन हम प्रभु को देख पाते हैं। समग्रीभूत अपने ही भीतर। और जिस दिन हम यह देख पाते हैं, उस दिन सारा जगत् भी दर्पण बन जाता है। फिर हम अपने को भी प्रतिपल सब जगह देख पाते हैं। लेकिन जगत् को दर्पण नहीं बनाया जा सकता। बनाया तो जा सकता है दर्पण स्वयं को ही। इसलिए यात्री—साधना का यात्री अपने को ही दर्पण बनाने से शुरू करता है। अपने को दर्पण बनाने की कीमिया और कला—तीन बातें समझ लेनी चाहिए—एक, शायद दर्पण बनाना कहना ठीक नहीं है, दर्पण हम हैं, बस धूल से दबे हुए हैं। सब धूल झाड़नी-पोंछनी और साफ कर देनी है। दर्पण पर धूल जम जाए तो धूल से भरा दर्पण दर्पण नहीं रह जाता। फिर वह किसी चीज को प्रतिफलित नहीं करता। उसका प्रतिफलन मर जाता है। धूल

से दब जाता है। हम भी धूल से दबे हुए दर्पण हैं। धूल भी हमारी अर्जित की हुई है। राह चलते, जैसे धूल इकट्ठी हो जाए दर्पण पर, ऐसे ही जीवन चलते, राह चलते जीवन की, अनन्त-अनन्त जीवन में यात्रा करते, न मालूम कितने-कितने मार्गों पर, न मालूम कितने कर्मों और कर्त्ताओं के होने की वासना में, न मालूम कितनी धूल हम इकट्ठी कर लेते हैं। कर्म की धूल है, कर्त्ता की धूल है, अहंता की धूल है। विचारों की, वासनाओं की, वृत्तियों की धूल है। एक बड़ी गहरी धूल की पर्त हमारे ऊपर है। उसे हटा देने की बात है। वह हट जाए तो हम दर्पण हैं। और जो स्वयं दर्पण है उसके लिए सब दर्पण जैसा हो जाता है। क्यों ? क्योंकि एक और गहरा सूत्र ख्याल में ले लेना चाहिए कि जो हम हैं, वही हमें चारों तरफ दिखाई पड़ता है। हम वही देखते हैं, जो हैं, उससे अन्यथा कभी भी नहीं देखते। जो हमें बाहर दिखाई पड़ता है वह हमारा ही प्रक्षेपण प्रोजेक्शन है। वह हम ही है। वह हमारी ही शक्ल है। इसलिए अगर बाहर बुरा दिखाई पड़ता है तो जानना कि कहीं भीतर बुरे का बीज है। बाहर अगर कुरूपता दिखायी पड़ती है तो जानना कोई अग्लीनेस, कोई कुरूपता भीतर जड़ जमा कर बैठी है। बाहर अगर बेईमानी दिखाई पड़ती है तो जानना कि बेईमानी कहीं भीतर है। प्रोजेक्टर भीतर है, बाहर तो पर्दा है मात्र। उस पर हम प्रोजेक्ट करते चले जाते हैं। जो हमारे भीतर है उसे हम पर्दे पर फैलाए चले जाते हैं। अगर बाहर परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता तो उसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि भीतर हमारे परमात्मा जैसा हमें कुछ भी अनुभव नहीं होता। जिसे भीतर परमात्मा अनुभव होता है, उसी क्षण उसे सब चीजों में परमात्मा अनुभव होने लगता है। फिर कोई उपाय नहीं है। फिर उसे पत्थर में भी परमात्मा है। अभी तो हमें परमात्मा में भी पत्थर ही दिखाई पड़ता है। मेटीरियलिस्ट जिसे हम कहते हैं, पदार्थवादी जिसे कहते हैं, उसका कोई और मतलब नहीं है मेरे लिए—जिसके भीतर हृदय में पत्थर है वह मेटीरियलिस्ट है। जिसका भीतर हृदय पत्थर जैसा है उसे सारे जगत् में पदार्थ दिखाई पड़ता है। जिसको अध्यात्मवादी हम कहें, मेरे लिए वह वही आदमी है जिसके भीतर हृदय पत्थर जैसा नहीं है। वह हृदय जैसा ही है—धड़कता हुआ, जीवन्त, प्राणवान्। वैज्ञानिक कहेगा, हमारे भीतर जो हृदय धड़क रहा है, वहां हृदय जैसा कुछ भी नहीं है। फेफड़ा है—फुफ्फुस। वह सिस्टम से ज्यादा कुछ भी नहीं है। जिस हृदय की हम बात करते हैं, वैज्ञानिक कहेगा, हम बहुत काट-पीट कर देखते हैं, लेकिन वहां हम सिर्फ एक पाते हैं सिस्टम, जो वायु के दबाव को डाल कर खून को शरीर में चलाती है। इससे ज्यादा वहां कुछ भी नहीं है। अगर यह सच है तो फिर बाहर के जगत् में कभी भी जीवन और चेतना का कोई अनुभव नहीं हो सकेगा। अगर भीतर से खून के दबाव को डालने वाला हृदय एक यन्त्र है

तो बाहर भी एक यान्त्रिक विस्तार होगा—बस। जगत् एक यान्त्रिकता होगी। पदार्थ होगा। पत्थर ही रह जाएंगे बाहर।

नहीं, लेकिन भीतर जाने के और भी उपाय हैं। वैज्ञानिक का उपाय अकेला उपाय होता तो बड़ी मुश्किल हो जाती। फिर वैज्ञानिक जीत गया होता। वह जीत नहीं सकता। उसकी हार सुनिश्चित है। देर-अबेर हो सकती है। क्योंकि भीतर जाने के और उपाय भी हैं। जैसे कि कोई वीणा को बजाए, लेकिन वीणा को जानने का एक और उपाय भी है कि वीणा को तोड़-फोड़ कर कोई भीतर देखे। सब तार उखाड़ दे, वीणा को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दे और फिर भीतर झांके और कहे कि संगीत बिल्कुल नहीं है! कौन कहता है कि संगीत है! यह वीणा सामने रखी है—खण्ड-खण्ड, विश्लिष्ट। कहीं उसमें कोई संगीत नहीं है। अगर यह एक ही रास्ता होता वीणा को जानने का तो संगीतज्ञ हार चुका था। लेकिन वीणा को जानने का एक और भी रास्ता है। निश्चित ही वह कठिन है। क्योंकि वीणा को तोड़ना बहुत आसान है, वीणा को बजाना बहुत कठिन है। और बजाकर ही वीणा के हृदय में जो छिपा है, वह जाना जाता है। निश्चित ही वह इतना सूक्ष्म है कि पकड़ में नहीं आता। और कान अगर बहरे हो तो फिर बिल्कुल भी पकड़ में नहीं आता। और हृदय की समझ अगर न हो, सिर्फ बुद्धि ही की समझ हो तो फिर सुनाई भी पड़ जाए तो भी समझ में नहीं आता। जो सोचते हों कि संगीत उन्हें समझ में आ जाता है, जो सुन लेते हैं, तो वे गलती में हैं। सुनने से सिर्फ ध्वनियां भर समझ में आती हैं—आवाज, शोरगुल। संगीत सुनने से कुछ ज्यादा है। उस सुनने में कुछ और भी जोड़ना पड़ता है। हृदय भी डालना पड़ता है, तब ध्वनियां संगीत बनती हैं। नहीं तो सिर्फ शोरगुल रह जाता है। आवाजें रह जाती हैं।

हृदय को भी जानने का अगर एक ही रास्ता होता—काट-पीट कर, जैसा सर्जन जानता है, अपनी ऑपरेशन थियेटर की टेबल पर—अगर वही एक रास्ता होता तब तो ठीक था, लेकिन और भी एक रास्ता है। धार्मिक भी जानता है, संत भी जानता है। उसने हृदय को बजा कर जाना है, तोड़ कर नहीं। उसने हृदय में संगीत को पैदा करके जाना है। तो वह कहता है—भीतर तुम किस फुपफुस, किस फेफड़े की बात कर रहे हो! तुम वैसे ही नासमझ और पागल हो जैसे कि कोई बिजली के बल्ब को तोड़ ले, कांच के टुकड़ों को घर ले जाए और कहे कि यह रोशनी है। माना कि रोशनी इससे प्रकट होती थी, लेकिन कांच के टुकड़े, जो घर ले गए हैं आप बीनकर, वह रोशनी नहीं हैं, न थे। और यह भी सच है कि उन कांच के टुकड़ों को तोड़ देने पर रोशनी विलीन हो गई है। इसलिए तर्क ठीक मालूम पड़ता है कि जब तोड़ दिया हमने बल्ब तो रोशनी खत्म हो गई, तो

निश्चित ही बल्ब ही रोशनी था। नहीं तो तोड़ने से रोशनी को खत्म नहीं होना था। जो टुकड़े हम घर ले आए हैं यही रोशनी है कुल जमा। सच है यह भी कि बल्ब टूट जाए तो रोशनी विलीन हो जाती है। मिटती नहीं, सिर्फ विलीन हो जाती है, अप्रकट हो जाती है। प्रकट होने का माध्यम टूट जाता है। अगर फेफड़े को हम तोड़ डालें तो हृदय के प्रकट होने का माध्यम टूट जाता है। बल्ब टूट जाता है। फिर हृदय नहीं मिलता, जैसे कि बल्ब तोड़कर फिर रोशनी नहीं मिलती। हृदय पीछे जाता है। फेफड़ा सिर्फ हृदय को प्रकट करता है। लेकिन हममें से बहुत कम लोग हैं, जिन्होंने हृदय को जाना है। फेफड़े को ही हम जानते हैं जहां हवा चलती है। वायु का एक स्पंदन होता है, प्राण संचालित होते हैं। उस यान्त्रिक व्यवस्था को ही हमने जाना है इसीलिए बाहर भी यन्त्र का ही विस्तार मालूम होता है।

भीतर जिस दिन हम जानेंगे चैतन्य को, उस दिन बाहर भी चैतन्य का विस्तार हो जाता है। भीतर हम बनेंगे दर्पण तो बाहर भी सारा जगत् दर्पण है। पत्थर के पास खड़ें होंगे तो भी स्वयं को पत्थर में देख पाएंगे। तब पत्थर को भी इस कठोरता से न देखेंगे जैसे अभी आदमी को देखते हैं। तब पत्थर पर भी हाथ ऐसे रखेंगे जैसे किसी ने अपने प्रेमी को छुआ हो। क्योंकि तब पत्थर पत्थर नहीं है, परमात्मा ही है। तब जमीन पर पैर भी ऐसे रखेंगे—संभल के, विवेक से, होशपूर्वक। वहां भी जीवन छिपा है। वहां भी जीवन का विस्तार है। वहां भी जीवन स्पंदित है। वहां भी कोई नाच रहा है। अलग-अलग आयामों में, अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग दिशाओं में जीवन का नृत्य है। हम अकेले ही जीवन के मालिक नहीं हैं। हम नहीं होंगे तो भी जीवन होगा। अनन्त हैं उसके रूप। हम भी एक रूप हैं—अनन्त में एक। एक छोटी-सी हमारी भी दिशा है। लेकिन हमें अपने भीतर के ही जीवन की दिशा का कोई परिचय नहीं है।

दर्पण कैसे बनें? दर्पण बनने के लिए ऊपर जमी धूल को हटाना पड़ेगा, फेंकना पड़ेगा। न केवल हटाना पड़े, बल्कि नया संग्रह भी रोकना पड़े। इधर धूल पोंछते चले जाएं और धूल इकट्ठा करने की जो व्यवस्था है, वह जारी रहे तो भी दर्पण नहीं बनेगा। दोहरे काम करने पड़ेंगे। पुरानी धूल को, अर्जित धूल को हटा देना पड़ेगा और नयी धूल को अर्जित करना बन्द कर देना पड़ेगा। पुरानी धूल अर्जित हुई है स्मृतियों में, और नयी धूल अर्जित होती है वासना में। पुरानी धूल टिकती है स्मृति में और नयी धूल आती है वासना में। दोहरे काम करने पड़ेंगे। स्मृति से मुक्त होना पड़ेगा। वासना से भी मुक्त होना पड़ेगा। वासना को कहना पड़ेगा, नहीं पाना है कुछ आगे। कोई आगे की यात्रा नहीं है। और स्मृति से कहना पड़ेगा, पीछे जो हुआ था, वह स्वप्न था, अब व्यर्थ इस बोझ को न ढोओ। लेकिन

हम सब ढोते हैं स्मृति के बोझ को। हम कुछ भूलते ही नहीं, सब संभाल कर चलते हैं। सब पकड़ कर रखते हैं। कचरे को इकट्ठा करते हैं और लगाकर रखते हैं छाती के साथ। जन्मों-जन्मों का कचरा इकट्ठा है। स्मृति को बिदा करना पड़ेगा। कहना पड़ेगा; वह जो बीत गया, बीत गया, अब मैं वह नहीं हूं। बीते कल से अपने को तोड़ लेना पड़ेगा। अतीत से छूट जाना होगा, और भविष्य से भी। बस—यही दो और चित्त दर्पण हो जाएगा। मैं जिसको संन्यास कहता हूं, ऐसे ही व्यक्ति को संन्यासी कहता हूं, जो कहता है कि अतीत से मैं अपने को तोड़ता हूं। अब मैं वही नहीं रहूंगा जो मैं कल तक था। वह आइडिन्टिटी समाप्त करता हूं। इसलिए नाम परिवर्तन करते हैं। नाम परिवर्तन सांकेतिक है, सूचक है इस बात का कि वह जो पुराना नाम था, वह जो पुराना 'मैं' था, अब नहीं रहूंगा। अब उससे छुटकारा करता हूं। अब वह स्मृतियां, वह सारा जाल अतीत का उस पुराने नाम के साथ दफना देता हूं। अब मैं नया आदमी होता हूं। मैं अ-ब-स से यात्रा शुरू करता हूं। नया होता हूं आज से और अब आज से कभी भी पुराना नहीं होऊंगा इस बात का संकल्प संन्यास है।

ध्यान रहे, कल से छूटा जा सकता है लेकिन कल अगर फिर पुरानी आदत जारी रखी तो कल फिर पुराने पड़ जाएंगे। नाम कितनी देर नया रहेगा, क्षण भर भी तो नया नहीं रहेगा। पुराने से टूट कर अगर मैंने पुरानी आदत जारी रखी तो मैं नए नाम के आस-पास फिर स्मृतियां इकट्ठी कर लूंगा। कल फिर वही बोझ खड़ा हो जाएगा, दर्पण फिर दब जाएगा। इसलिए संन्यास दोहरा संकल्प है। अतीत से छुटकारा, कि अब मैं वह नहीं हूं जो कल था। तोड़ता हूं उस सातत्य को। जानता हूं, अब मैं नया आदमी हूं। न अब वह मेरा नाम है, न अब वे मेरे पिता हैं, न अब वह मेरा वंश है। नहीं, अब वह अतीत मेरा कुछ भी नहीं। मैं आज से फिर से शुरू होता हूं—रीबार्न।

मेकोडेनियस नाम का एक युवक गया जीसस के पास। और उसने कहा कि मैं क्या करूं कि तुम जिस आनन्द की बात करते हो वह मुझे भी मिल जाए। तो जीसस ने कहा—'यू विल हैव टु बी बार्न अगेन—तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा। मेकोडेनियस ने कहा, यह कैसे हो सकता है? यह आप कैसी बात करते हैं? हो कैसे सकता है? जन्म तो मैं ले चुका। अब जवान भी हो चुका, अब फिर से जन्म कैसे ले सकता हूं? जीसस ने कहा कि तुम समझे नहीं। वह जन्म तुमने कभी लिया ही नहीं था। मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा। तुम्हें नया आदमी होना पड़ेगा। तुम्हें अपने पुराने, वह जो सम्बन्धों का स्मृति-जाल है, उससे छुटकारा पाना पड़ेगा।

इस मुल्क में, हम अपने मुल्क में, उस आदमी को द्विज, ट्वाइस बार्न कहते थे।

द्विज का मतलब यह नहीं था कि जनेऊ डाल दिया तो वह द्विज हो गया। द्विज का अर्थ है दुबारा जन्मा—ट्वाइस बार्न—जिसका दूसरा जन्म हुआ। संन्यास के पहले कोई भी द्विज नहीं हो सकता। जनेऊ डालने से कोई द्विज नहीं हो सकता। ब्राह्मण होने से कोई द्विज नहीं हो सकता। द्विज का मतलब है, जिसने दूसरा जन्म लिया। एक जन्म तो वह है, जो मां-बाप दे देते हैं और एक जन्म वह है, जो स्वयं के संकल्प से होता है। यह दोहरी प्रक्रिया है। अतीत से तोड़ता हूं अपने को और उस पुरानी व्यवस्था को भी तोड़ता हूं, जिससे मैं रोज-रोज पुराना पड़ जाता था। अब मैं रोज-रोज नया ही रहूंगा। अब मेरे दर्पण पर कोई धूल नहीं जमेगी। अब यह नाम ताजा और ताजा ही रहेगा। अब इसके साथ मैं कोई स्मृति न जोड़ूंगा। अब मैं कभी नहीं कहूंगा कि मैंने यह किया और मैंने यह नहीं किया। अब मैं कभी न कहूंगा कि मैं कर्त्ता हुआ। अब मैं कभी न कहूंगा कि मकान मेरा है, कि धन मेरा है, कि सम्पत्ति मेरी है। ध्यान रहे, संन्यासी का यह अर्थ नहीं है कि मकान छोड़कर चला जाए और आश्रम को कहने लगे कि मेरा है। संन्यासी का मतलब है कि वह मेरा कहना बन्द कर दे। वह कहां रहता है, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। वह दुकान में बैठा रहे, बस मेरी दुकान न रह जाए। फिर बात पूरी हो गयी। लेकिन दुकान छोड़ने की आदत है हमें, छोड़ सकते हैं। फिर जाकर आश्रम में वही पुरानी आदत काम करती है, कहती है मेरा आश्रम। उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। नाम बदलना बेकार हो गया। वैसा ही बेकार हो गया जैसा कि अक्सर हम देखते हैं। हाथी स्नान कर लेता है और स्नान करके बाहर निकल कर धूल फेंक लेता है ऊपर। इससे कोई प्रयोजन हल नहीं होता। व्यर्थ श्रम हो जाता है।

उपनिषद् का सूत्र कह रहा है कि दर्पण बन जाओ। सम्यक् चित्त दर्पण है। जिसने कहा कि न कोई मेरा अतीत है अब, न मेरा कोई भविष्य है। अभी और यहां—हियर ऐण्ड नाऊ—बस, इसी क्षण में मैं हूं। यह क्षण ही मेरा होना है। और जिसने ऐसा जाना वह तत्काल दर्पण बन जाता है। और जब सब भूतों की प्रतिकृति अपने दर्पण में बनने लगती है तो फिर कैसी घृणा? और जब स्वयं की प्रतिकृति सब भूतों में बनने लगती है तो फिर कैसी घृणा? घृणा खो जाती है। घृणा का धुआं विलीन हो जाता है। धुएं के बादल बिदा हो जाते हैं। और तब जो प्रकट होता है सूर्य, वह प्रेम है। ध्यान रहे, घृणा के रहते हम जिस प्रेम को करते हैं, करते चले जाते हैं, वह घृणा का ही रूप होता है। घृणा के मूल रूप के बिदा हो जाने पर, आधारभूत बिदा हो जाने पर जिसका जन्म होता है, वही प्रेम है। सिर्फ संन्यासी ही प्रेम कर सकता है। सिर्फ आत्मा से ही प्रेम की धारा बहती है। शरीर से तो घृणा ही बहेगी। मन से तो घृणा ही बहेगी। मेरे-तेरे के भाव से

तो घृणा ही बहेगी। साधक के लिए दर्पण की यह कला ठीक से ख्याल में ले लेनी चाहिए। और जितनी शीघ्रता से हो सके उतनी शीघ्रता से वर्तमान के क्षण को ही अस्तित्व बना लेना चाहिए। अतीत से छुटकारा, भविष्य से भी छुटकारा। स्मृति से मुक्ति, वासना से भी मुक्ति। फिर पिछली धूल भी चली जाएगी और आगे धूल आने का उपाय भी नहीं रह जाएगा।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गए उस समय एकत्व देखने वाले को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ॥७॥

जाना जिसने स्वयं को सर्व भूतों में। या जाना जिसने स्वयं में सर्व भूतों को, उस विद्वान् पुरुष को, उस ज्ञानी व्यक्ति को कैसा शोक? कैसा मोह? तीन-चार बातें इस सूत्र में समझ लेनी चाहिए। एक तो, उपनिषद् किसे विद्वान् कहते हैं? विद्वान् उसी मूल शब्द से निर्मित होता है जिससे वेद। वेद का अर्थ होता है—जानना। विद्वान् का अर्थ है जो जानता है। क्या जानता है? कोई गणित जानता है, कोई केमिस्ट्री जानता है, कोई फिजिक्स जानता है। हजार जानने की चीजें हैं। हजार बातें लोग जानते हैं। कोई धर्मशास्त्र भी जानता है। कोई, सन्तों ने जो-जो रहस्य की बातें कही हैं, वह उनसे परिचित है। लेकिन उपनिषद् उसे विद्वान् नहीं कहते। बहुत अद्भुत और मजे की बात है। उपनिषद् सूचनाओं के संग्रह को जानना नहीं कहते। उपनिषद् तो सिर्फ एक ही तत्व को जानने वाले को विद्वान् कहते हैं, जो स्वयं को जानता है। क्योंकि जो स्वयं को जान लेता है वह सर्व को जान लेता है।

स्वयं को जानता है तो दर्पण बन जाता है। दर्पण बनता है तो सबकी प्रतिच्छवि बनने लगती है। लेकिन सर्व को जान लेता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसने स्वयं को जान लिया, वह बड़ा गणितज्ञ हो जाएगा स्वयं को जानने से। कि स्वयं को जानने से वह बहुत बड़ा रसायनविद् हो जाएगा। कि स्वयं को जान लेने से वह कोई बहुत बड़ा वैज्ञानिक हो जाएगा नहीं, यह अर्थ नहीं है। स्वयं को जान लेने से वह सर्व को जान लेता है, इसका अर्थ यही है सिर्फ कि जैसे ही वह स्वयं को जानता है, सबके भीतर जो छिपा है, गहनतम, गूढ़तम, पवित्रतम,—दी आकल्ट,

वह जो सबके भीतर छिपा है रहस्य, उसे जान लेता है। वह उस सूत्र को जान लेता है जिसका सब खेल है। उस नियति को जान लेता है जिसका सब फैलाव है। उस नियन्ता को जान लेता है जो सबके भीतर है। सब गुड्डे और गुड्डियों के पीछे, जिसके हाथ में सबके धागे हैं उसे जान लेता है।

वह कोई विशेषज्ञ नहीं होता, कोई एक्सपर्ट नहीं होता। उसका कोई स्पेसलाइजेशन नहीं है। वह बिल्कुल ही विशेषज्ञ नहीं है। अगर कोई एक चीज आप उससे पूछने जाएं तो वह बिल्कुल नहीं जानता। वह तो, समस्त के भीतर जो सारभूत है, उसे जान लेता है—दी एसेंशियल। वह पत्ते-पत्ते को नहीं जानता, वह तो जड़ को पकड़ लेता है। वह तो, जो गहरा प्राण है, महाप्राण है, उसे जान लेता है। और उसे जानते ही वह समस्त शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। वह लक्षण है—वह विद्वान् का लक्षण है। विद्वान् का लक्षण बड़ा अजीब है। वह यह नहीं है कि आप उससे सवाल पूछें तो वह जवाब दे सके। वह यह नहीं है कि कोई समस्या खड़ी हो जाए तो वह उसका समाधान कर सके। वह यह है कि वह शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। कोई कितना ही बड़ा गणितज्ञ हो जाए, शोक और मोह से मुक्त नहीं हो पाता। और कोई कितना ही मनसविद् हो जाए—फ्रायड जैसे मनसविद् पृथ्वी पर कम ही हुए हैं—इतना मन के सम्बन्ध में जानकर भी फ्रायड का मन ठीक वैसा ही है, जैसा किसी साधारण जन का। उसमें कोई फर्क नहीं है, उसमें रत्ती भर की कोई क्रान्ति नहीं है। वह उसी तरह चिन्ता से चिन्तातुर होता है। उसी तरह भय से भयभीत होता है। उसी तरह क्रोध से जलता है। उसी तरह से ईर्ष्या से भरता है। उसी तरह मोह, उसी तरह शोक। और मजा यह है कि भय के सम्बन्ध में वह बहुत जानता है। ईर्ष्या के सम्बन्ध में बहुत जानता है, जितना शायद मनुष्य-जाति में किसी दूसरे आदमी ने नहीं जाना। वह काम-वासना के सम्बन्ध में बहुत जानता है। लेकिन बूढ़े होकर भी कामवासना वैसे ही मन को आन्दोलित कर जाती है, जैसे किसी और को।

उपनिषद् इसको विद्वान् नहीं कहते। वह तो इसको विद्या भी नहीं कहेंगे। वह तो कहेंगे, यह सूचनाओं का संग्रह है। विशेषज्ञ है यह आदमी—जो-जो भय के सम्बन्ध में जाना गया है, यह जानता है। ही नोज अबाउट द फियर—नॉट दी फियर इट-सेल्फ। भय के सम्बन्ध में जो-जो कहा गया है वह जानता है—भय को नहीं जानता। भय को जान लेता तो भय से मुक्त हो जाता। एक धर्मशास्त्री धर्म के सम्बन्ध में सब जानता है। धर्म को नहीं। क्या कहते हैं वेद, क्या कहते हैं उपनिषद्, क्या कहती है गीता, क्या कहती है कुरान, बाइबिल—सब जानता है। जो कहा गया है, वह जानता है। लेकिन जिसके लिए कहा गया है, जिस भांति कहा गया है, जो जान कर कहा गया है, वह नहीं जानता।

फर्क ऐसा ही है जैसे कोई आदमी तैरने के सम्बन्ध में जानता है और तैरना नहीं जानता। तैरने के सम्बन्ध में जानने में कोई कठिनाई नहीं है। तैरने पर किताब पढ़ी जा सकती है। तैरने के सम्बन्ध में जितने शास्त्र हैं, सब कण्ठस्थ किए जा सकते हैं। एक आदमी तैरने के सम्बन्ध में बड़ा विशेषज्ञ हो सकता है। और कोई तैरने के सम्बन्ध में कैसा ही सवाल ले जाए, उत्तर दे सकता है। लेकिन फिर भी भूलकर उसे नदी में धक्का मत दे देना। क्योंकि तैरना जानना बिलकुल दूसरी बात है। और जरूरी नहीं है कि जो तैरना जानता है वह तैरने के सम्बन्ध में सब जानता हो। हो सकता है, वह सिर्फ तैरना ही जानता हो। लेकिन जब जिन्दगी मुसीबत में पड़ी हो और नाव डूब रही हो तो तैरने के सम्बन्ध में जानने वाले का सारा ज्ञान जरा भी काम नहीं आएगा। उस वक्त तो वह अज्ञानी तैर कर निकल जाएगा जो तैरने के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, लेकिन तैरना जानता है। इसलिए उपनिषद् का ऋषि बहुत ठीक सूत्र लक्षण के गिना देता है। वह कहता है विद्वान् जन, जो सर्वभूतों में स्वयं को और स्वयं में सर्वभूतों को जान लेते, वे शोक और मोह इन दो से मुक्त हो जाते हैं।

इन दो की क्यों एक साथ गिनाने की बात आ गयी। वे एक ही हैं, एक ही मनोदशा के अनिवार्य अंग हैं, इसलिए। उन दो में से एक कभी नहीं होता, एक अकेला कभी नहीं होता। इसलिए इसे ठीक से समझ लें। जिस चित्त में मोह है, उसी चित्त में शोक हो सकता है। जिस में मोह नहीं है, उसमें शोक नहीं हो सकता। असल में शोक होता ही है मोहभंग से। और तो कोई शोक का कारण नहीं। किसी से मुझे मोह है, वह मर गया। तो मैं शोकग्रस्त हुआ। शोक पीछे की छाया है। वह मोह की छाया है। अगर मुझे किसी से मोह नहीं है तो शोक असम्भव है। चाहूं तो भी नहीं कर सकता। एक मकान है जिससे मुझे मोह है। उसमें आग लग गयी तो फिर मुझे शोक होगा। जहां मोह असफल होगा, जहां मोह व्यवधान पाएगा, जहां मोह को अड़चन होगी, जहां मोह टूटेगा, जहां मोह टकराएगा, वहीं शोक खड़ा हो जाएगा। और ध्यान रहे, जब भी शोक खड़ा होगा तब उससे बचने को आपको नए मोह निर्मित करने पड़ेंगे। जब भी शोक खड़ा होगा उससे बचने के लिए, उससे बाहर निकलने के लिए आपको नए मोह निर्मित करने होंगे। अगर मैं किसी को प्रेम करता हूं, वह मर गया, तो मैं तब तक उसे न भूल पाऊंगा जब तक कोई पूरक प्रेम करने वाला न खोज लूं। जब तक मैं उसकी जगह किसी और प्रेम करने वाले को को न बिठा लूं और अपने सारे मोह को उससे हटा कर नए व्यक्ति पर न लगा दूं, तब तक कठिन होगा भूलना। इसलिए मोह खण्डित होता है तो शोक पैदा होता है और उस शोक से पलायन करने के लिए फिर नया मोह पैदा करना पड़ता है। फिर एक दुष्टचक्र चलता है।

हर मोह शोक लाता है। हर शोक को फिर नए मोह में दबाना पड़ता है। बीमारी आती है, दवा देनी पड़ती है, फिर दवा नयी बीमारियां पैदा करती है। फिर दवा देनी पड़ती है, फिर दवा नयी बीमारियां पैदा करती हैं। और एक चक्र चलता चला जाता है। उन दोनों को साथ गिनना बहुत सुविचारित है। इसलिए कहा कि शोक और मोह दोनों से, जो जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। क्योंकि तब जो समस्त भूतों को अपने में देख लेता है और अपने को समस्त भूतों में देख लेता है—फिर कौन मेरा और कौन तेरा? फिर मोह कैसे निर्मित हो? मोह तभी निर्मित होता है, जब मैं किसी के साथ अपने को बांधता हूं और कहता हूं, यह मेरा, और शेष मेरे नहीं। जब मैं कहता हूं, यह मकान मेरा है, बाकी मकान मेरे नहीं हैं।

अभी एक महिला—मैं आ रहा था, उसी दिन मुझसे मिलने आयी और कहा कि आपकी बड़ी कृपा कि मेरे लड़के की दुकान बच गयी। ठीक बगल तक, करीब तक आग आ गयी थी। आग लगी दूसरे के मकान में। पर मेरे लड़के की दुकान बच गयी। मिठाई लायी थी मुझे भेंट करने को। बड़ी प्रसन्न थी कि उसके लड़के की दुकान बच गयी।

नहीं, जरा भी शोक नहीं पकड़ा है इस बात का कि जो मकान जल गए हैं, उनके भी हैं। कोई शोक न पकड़ा क्योंकि उसे कोई मोह न था। खुशी हुई, क्योंकि जिस मकान से मोह था, वह बच गया है। मोह सदा एक्सक्लूसिव है, वह किसी के साथ होता है और शेष को बाहर छोड़ देता है। वह कहता है, यह रही मेरी पत्नी, यह रहे मेरे पति, यह रहा मेरा बेटा, यह मेरा मकान, यह मेरी दुकान, यह मैं, बाकी मैं नहीं हूं। तो बाकी का कुछ भी हो जाए, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। बस, इतना बच जाए। फिर इस मोह के भी विस्तार में निश्चित ही मात्रा कम होती चली जाती है। सबसे ज्यादा मोह हमें स्वयं से होता है, क्योंकि उससे ज्यादा मेरा कुछ भी नहीं मालूम पड़ता। इसलिए अगर ऐसी स्थिति आ जाए कि नाव डूब रही हो, पत्नी और पति दोनों हों और सवाल उठे कि एक ही बच सकता है तो दोनों बचना चाहेंगे। मकान में आग लग गयी है तो आदमी भाग कर पहले बाहर निकल जाएगा। फिर सोचेगा कि अपने वाले और भी आ सके या नहीं। लेकिन आग लगी हो तब पहले स्वयं बाहर आ जाएगा। तो मोह जो है, सर्वाधिक 'मैं' के निकट केन्द्रित होगा। सबसे ज्यादा 'मैं' के पास घना होगा। फिर जैसे-जैसे मेरे का फैलाव बढ़ेगा, वैसे-वैसे कम होता चला जाएगा। फिर परिवार पर कम होगा—गांव पर और कम हो जाएगा। फिर देश पर और कम हो जाएगा। फिर मनुष्यता पर और कम हो जाएगा। और अगर और भी किन्हीं ग्रहों पर लोग होंगे तो उनके लिए कुछ मालूम नहीं पड़ता। वैज्ञानिक कहते हैं, कोई पचास हजार ग्रहों

पर जीवन है। उनके लिए कुछ मालूम नहीं पड़ता है। मनुष्यता के लिए भी बहुत ज्यादा नहीं मालूम पड़ता। पाकिस्तान में सात लाख लोग मर गए तो कुछ लगता नहीं, लेकिन अपने गांव में सात ही मर जाते तो ज्यादा मालूम पड़ते सात लाख से। और अपने घर में एक भी मर जाता तो सात लाख से ज्यादा मालूम पड़ता। और अपनी एक उंगली भी टूट जाती तो सात लाख से ज्यादा मालूम पड़ती—कन्सन्ट्रेटेड। जैसे-जैसे 'मैं' के पास आएंगे, मोह घना होता चला जाएगा। जैसे-जैसे मेरे से दूर जाएंगे, छाया विरल होती चली जाएगी।

मोह 'मैं' की छाया है। जहां-जहां मैं देखता हूं, मैं हूं, वहां-वहां मोह पकड़ जाता है। लेकिन मैंने कहा, मोह एक्सक्लूसिव होता है। वह किसी को छोड़ता है, वर्जित करता है, तभी निर्मित होता है। इसलिए ऋषि कहता है कि जिसने समस्त भूतों को अपने में देखा, —नॉन-एक्सक्लूसिव हो गया, अब सभी मेरे हैं—सभी —आल इनक्लूसिव। तो फिर मोह निर्मित नहीं हो सकता। क्योंकि अब कोई मतलब ही न रहा। सभी मेरे हैं तो अब किसी को भी मेरे कहने का कोई प्रयोजन नहीं। मेरे कहने का प्रयोजन तभी तक था जब तक तेरा भी था। कोई था, जो मेरा नहीं था। तब मैं सीमा बनाता था, रेखा खींचता था कि ये रहे मेरे। एक दीवार बना लेता था, एक सीमान्त था मेरा। उसके पार वह दुनिया शुरू होती थी जो मरे, समाप्त हो, दुख में पड़े तो मुझे कुछ मतलब नहीं। इधर मेरी दुनिया थी, जो दुखी न हो, पीड़ित न हो। उसके दुख से मेरा दुख है।

उपनिषद् कहते हैं, न केवल समस्त प्राणियों में, समस्त जीवन में, बल्कि समस्त भूतों में, वह सब, जो है—रेत का टुकड़ा है, कण, वह भी भूत है, जो भी है उस सबमें अपने को जो देख लेता है, फिर उसका मोह गिर जाता है। फिर मोह नहीं बचता। मोह खड़ा हो सकता था सीमा बना कर। अब कोई सीमा न रही। असीम मोह नहीं होता। ध्यान रखें, असीम मोह असम्भव है। मोह सदा सीमा बना कर जीता है। और जितनी बड़ी सीमा बनाता है, उतना ही विरल हो जाता है। जितनी छोटी सीमा बनाता है, उतना घना होता है। लेकिन अगर असीम हो तो विलीन हो जाता है। और जहां मोह विलीन हो गया, वहां शोक कैसे पैदा होगा? वह मोह के बिना पैदा नहीं होता। मोह नहीं तो शोक भी नहीं। तो विद्वान् उसे कहते हैं उपनिषद्, जो शोक और मोह के बाहर चला गया। और चला कैसे गया—समस्त भूतों में स्वयं को देखकर। भूत एक्जिसटेंस तो चारों तरफ मौजूद हैं। चारों तरफ अस्तित्व फैला हुआ है। लेकिन हमें दिखायी नहीं पड़ता कि मैं ही हूं वहां भी।

रवीन्द्रनाथ के जीवन की एक घटना है। रवीन्द्रनाथ ने लिखी गीतांजलि तो प्रभु के गीत गाए। नोबुल प्राइज भी मिली और सारी दुनिया में चर्चा हो गयी;

लेकिन रवीन्द्रनाथ के घर के पास-पड़ोस में एक बूढ़ा रहता था। वह रवीन्द्रनाथ को बहुत सताने लगा। वह, जहां भी रवीन्द्रनाथ से मिल जाता, तो उनको जोर से पकड़ कर कहता कि सच-सच बताओ, ईश्वर को जाना है?

वह आदमी हठी मालूम पड़ता और ईमानदार आदमी थे रवीन्द्रनाथ, तो झूठ बोल भी नहीं सकते थे। वह ऐसे जोर से आंख में आंख गड़ा कर पूछता था, कि उनके हाथ-पैर कांप जाते। कहां नोबुल प्राइज विनर—जहां भी गए, वहां सम्मान मिला, जहां भी गए, वहां लोगों ने कहा; उपनिषद् के ऋषियों ने जैसा कहा है वैसा ही महर्षि है यह। और पड़ोस का एक बूढ़ा दिक्कत देने लगा! और एक आज नहीं, सुबह-सांझ नहीं, कब तक उससे बच कर निकलोगे। पड़ोस में ही वह बैठा रहे अपनी कुर्सी डाल कर दरवाजे पर। बूढ़ा आदमी—उसको कोई काम भी नहीं। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि मेरा घर से निकलना मुश्किल कर दिया। मैं देख लूं कि वह बूढ़ा बैठा तो नहीं है, क्योंकि मैं वहां से निकला कि उसने पूछा, सुनना, ईश्वर को जाना है? तो मेरे प्राण कंप जाएं, क्योंकि ईश्वर का मुझे कुछ पता नहीं। और वह खिलखिला कर हंसे। उसकी खिलखिलाहट मेरी नींद को खराब कर देती। और उसकी हंसी मेरा पीछा करने लगी। हंटिंग पैदा हो गयी। और मुझे डर लगने लगा, भय लगने लगा उससे। मैंने सोचा, यह गीतांजलि लिख कर और एक मुसीबत कर ली।

बूढ़ा कुछ जानता रहा होगा, नहीं तो इतनी हंटिंग पैदा नहीं कर सकता था। उसकी आंखों में कुछ बात रही होगी। रवीन्द्रनाथ आंख उठा कर कह न सके उसके सामने कि गीतांजलि का एक पद दोहरा देते। पूरी गीतांजलि तो ईश्वर का ही गीत है, कि एक गीत दोहरा देते। नहीं दोहरा सके। वर्ष बीते और बूढ़ा पीछा करता ही रहा। रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि जिस दिन उस बूढ़े को मैं कह पाया, उस दिन मेरे मन से एक बड़ा बोझ हट गया।

वर्षा के दिन थे। नयी-नयी वर्षा आयी। आषाढ़ का महीना और पहले मेघ बरसे। डबरे, तालाब, पोखरों पर नया पानी भर गया है। सड़के के किनारे जगह-जगह गड्ढे भर गए हैं। मेढक बोलने लगे हैं। रवीन्द्रनाथ सुबह ही उठे हैं, मेढक की पुकार, वर्षा की आवाज, मिट्टी की गंध, प्राण उनके खिंचे बाहर को। देखा कि वह बूढ़ा तो नहीं। अभी वह शायद उठा नहीं होगा। दरवाजे पर नहीं था। वह भागे वहां से। चैतन्य समुद्र की तरफ सूरज निकला। समुद्र के तट पर खड़े थे, सूरज निकला। समुद्र में सूरज की छाया बनी—प्रतिबिम्ब बना। सूरज समुद्र में झलकने लगा। दर्शन किया सूरज का, दर्शन किया प्रतिबिम्ब का। लौटने लगे घर को। एक-एक पोखरे में सूरज झलकता था। एक-एक छोटे-से डबरे में, सड़क के किनारे गंदा पानी भरा था, वहां भी सूरज झलकता था। सब तरफ सूरज झल-

कता था। गन्दे डबरे में भी, सागर में भी, स्वच्छ पोखरे में भी, सब तरफ सूरज झलकता था। कोई धुन, कोई स्वर भीतर छिड़ गया। नाचते हुए लौटे। नाच रहे थे इस बात से कि प्रतिबिम्ब गंदा नहीं होता। नाच रहे थे इस बात से कि सूरज का प्रतिबिम्ब स्वच्छतम पानी में भी पड़ा है तो भी उतना ही ताजा और स्वच्छ है, और गन्दे-से-गन्दे पानी में बना है तो भी उतना ही ताजा और स्वच्छ है। प्रतिबिम्ब—प्रतिबिम्ब तो गंदा नहीं हो सकता। रिफ्लेक्शन तो कैसे गंदा होगा। गंदा पानी ही हो सकता है। पर जो सूरज की छाया उसमें बन रही है, जो सूरज उसमें झांक रहा है वह तो गंदा नहीं है। वह तो बिल्कुल ताजा, वह तो बिल्कुल स्वच्छ है। उसे तो कोई पानी गंदा नहीं कर सकता। इस अनुभव को—यह एक बड़ा क्रान्तिकारी अनुभव है—इसका मतलब यह हुआ कि बुरे-से-बुरे आदमी के भीतर भी जो परमात्मा है वह तो गंदा नहीं हो सकता। पापी-से-पापी के भीतर जो प्रतिबिम्ब है प्रभु का वह तो उतना ही शुद्ध है, जितना पुण्यात्मा के भीतर है। इसलिए नाचते लौट रहे थे। एक द्वार खुल गया था। वह बूढ़ा बैठा था अपने दरवाजे पर। पहली दफा उस बूढ़े को देख कर डर नहीं लगा। और पहली दफा उस बूढ़े ने कहा, अच्छा! तो मालूम होता है तुमने जाना। और वह बूढ़ा आया और रवीन्द्रनाथ को गले लगा लिया और कहा कि आज, आज तेरी मस्ती कहती है कि तूने जाना। मैं तो अब तुझे पुरस्कार दे सकता हूं।

तीन दिन फिर रवीन्द्रनाथ की जिन्दगी बड़ी पागल की जिन्दगी थी। घर के लोग डर गए। पर सिर्फ एक बूढ़ा बार-बार घर के लोगों से आकर कहने लगा, प्रसन्न होओ, आनन्दित होओ। पास-पड़ोस में खबर करने लगा कि उसने जान लिया। लेकिन घर के लोग डर गए, क्योंकि रवीन्द्रनाथ एक अजीब काम करने लगे। खम्भा मिले, तो खम्भे से गले लगें। रास्ते से गाय निकल रही है, तो गाय से गले मिलें। दरख्त खड़ा है, तो दरख्त से आलिंगन कर रहे हैं। घर के लोग समझे कि पागल हो गए। पर वह बूढ़ा कहने लगा कि घबराओ मत। यह पागल अब तक था, अब यह ठीक हुआ। अब इसको सर्वभूतों में वही दिखायी पड़ने लगा, जिसके दिखायी पड़े बिना यह सब जो गा रहा था, वह सब बेकार था, तुकबन्दी थी। अब इसके जीवन में संगीत का जन्म हुआ।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि बहुत धीरे—धीरे-धीरे मैं अपने को संयमी बना पाया। अपने को रोक पाया। नहीं तो कुछ भी मिले, लगे कि गले मिलो। प्रभु द्वार पर आ गया। तब तक मैं खोजता था कि प्रभु, तेरा द्वार कहां है? और अब जहां मैंने देखा, वहीं उसका द्वार पाया। अब तक मैं खोजता था कि तू छिपा कहां है और अब मेरी मुश्किल हो गयी, क्योंकि वही वही था, और कुछ भी न था।

सर्वभूतों में दिखायी पड़ जाए जिसे स्वयं का होना या स्वयं में सर्वभूतों का

होना, वही विद्वान् है और ऐसा विद्वान् मोह और शोक के ऊपर उठ जाता है। ध्यान रहे, उसके जीवन में न सुख है, न दुख, उसके जीवन में है आनन्द। उसके जीवन में न मोह है, न शोक, उसके जीवन में है नृत्य। उसके जीवन में सिर्फ शुद्ध जीवन का नृत्य है। सिर्फ जीवन ही कीर्तन कर रहा है उसके जीवन में। सिर्फ जीवन का ही संगीत है। और सब, वह सब जो पीड़ा लाए, वह सब जो बांधे, वह सब जो बन्धन बनाए, वह सब जो आज सुख देता मालूम पड़े और कल दुख का निमन्त्रण बन जाए—वह सब उसके जीवन में नहीं है। वह दर्पण की भांति ही हो जाता है।

दर्पण के सामने आप खड़े होते हैं तो दिखायी पड़ते हैं कि दर्पण में हैं। हट जाते हैं तब दर्पण तत्काल आपको छोड़ देता है। पकड़ता नहीं। इधर आप गए, उधर दर्पण खाली हुआ। जब थे, तब दिखायी पड़ते थे। जब हट गए तो दर्पण खाली हो गया। दर्पण ने कोई मोह नहीं किया। इसलिए जब आप हटते हैं तो दर्पण आपके दुख में चूर-चूर नहीं हो जाता। हृदय उसका टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता। वह यह नहीं कहता कि अब तुम्हारे बिना मैं कैसे जीऊंगा। थे तो बड़ सुन्दर थे। थे तो बड़े अच्छे थे। थे तो बड़ी कृपा थी, बड़ा अनुग्रह था। चले गए तो कृपा में कोई अन्तर नहीं। दर्पण खाली भी उतना ही आनन्दित है जितना भर कर था। ऐसा विद्वान् जीता है जगत् में दर्पण की भांति। जो भी आता है सामने, प्रसन्न है। फूल आयें तो आनन्दित है। तो उनका प्रतिबिम्ब बन जाता है, तो उनमें परमात्मा को देख लेता है। कांटे आयें तो आनन्दित है। उनका प्रतिबिम्ब बन जाता है, तो उनमें परमात्मा को देख लेता है। नहीं कोई आया, सब खाली हो गया तो खालीपन भी परमात्मा है। 'द वेरी एम्पटीनेस—वह खालीपन भी परमात्मा है। फिर वह उस खालीपन में भी नाच रहा है; उस खालीपन में भी प्रफुल्लित है।

आज इतना ही। अब हम दर्पण बनने की कोशिश में लगें।

स पर्यग।च्छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषि परिभू: स्वयम्भू
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: ।।८।।

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, और स्वयंभू है । उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है ।।८।।

प्रवचन : २१
साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, सुबह, दिनांक ७ अप्रैल १९७१

वह स्वयंभू है

उस आत्मतत्व के लिए, उस आत्मतत्व के स्वभाव के लिए कुछ सूचनाएं इस सूत्र में हैं। सबसे पहली—वह आत्मतत्व स्वयंभू है । इस जगत् में अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी स्वयंभू नहीं है । स्वयंभू का अर्थ है सेल्फ ओरिजीनेटिड । स्वयंभू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा पैदा नहीं किया गया । स्वयंभू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा सृजा नहीं गया । जो स्वयं ही हुआ है । जिसका होना स्वयं से ही निकला है । जिसका अस्तित्व किसी और के हाथ में नहीं । जिसका अस्तित्व स्वयं में ही निर्भर है । आत्मतत्व स्वयंभू है, यह पहली बात ख्याल में ले लेनी चाहिए । हम जिन चीजों को देखते हैं वे निर्मित हो सकती हैं । जो-जो निर्मित हो सकता है, जो भी बनाया जा सकता है, वह आत्मतत्व नहीं होगा । एक मकान हम बनाते हैं । मकान स्वयंभू नहीं है—निर्मित है । एक यन्त्र हम बनाते हैं, स्वयंभू नहीं है, निर्मित है—हमने बनाया है । उस तत्व को खोजें, जो हमने नहीं बनाया है, जो किसी ने भी नहीं बनाया है । जो अनबना है—अन-क्रियेटेड है । उस तत्व का नाम ही आत्मतत्व है । यदि हम जगत् के अस्तित्व में खोजते हुए वहां तक पहुंच जाएं, उस आधार को पकड़ लें, जिसे किसी ने भी नहीं बनाया, जो है सदा से, अनबना, स्वयं ही, तो हम परमात्मा को पा लेंगे । और अगर हम अपने भीतर प्रवेश करें और खोजते चले जाएं और वहां पहुंच जाएं, जो अनबना है, स्वयं है, तो हम आत्मा को पा लेंगे ।

आत्मा और परमात्मा दो बातें नहीं हैं । एक ही वस्तु को दो दिशाओं से दिए गए नाम हैं । अगर आपने स्वयं में खोजा तो उस अनिर्मित, असृष्ट, स्वयंभूतत्व का नाम आत्मा है । और अगर आपने पर में खोजा और पाया, तो उस तत्व का नाम परमात्म तत्व है । आत्मा परमात्मा ही है—भीतर की तरफ से पकड़ी गयी । परमात्मा आत्मा ही है—बाहर की तरफ से खोजी गयी ।

स्वयं में यदि हम प्रवेश करें तो यह शरीर सृष्ट है । यह आपके मां और पिता के सहयोग के बिना निर्मित नहीं होता । या कल टेस्टट्यूब में भी निर्मित हो सके

तो भी सृष्ट ही होगा। इसलिए पश्चिम के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री आज नहीं कल अपने दावे को पूरा कर लेंगे। वह शरीर को निर्मित कर लेंगे। शरीर को निर्मित करने से उन्हें लगता है कि शायद वह आत्मवादियों को आखिरी पराजय दे देंगे। वे भूल में हैं, क्योंकि आत्मवादी ने कभी आग्रह किया नहीं कि यह शरीर आत्मा है। आत्मवादी कहता है, जो असृष्ट है, वही आत्मा है। शरीर का सृजन करके वह इतना ही सिद्ध करेंगे कि शरीर आत्मा नहीं है। शरीर किसी दिन निर्मित हो जाएगा। मैं इसमें कहीं कोई कारण नहीं देखता हूं कि निर्मित क्यों नहीं हो जाएगा। बहुत से आत्मवादी डरे हुए हैं कि जिस दिन टेस्टट्यूब में, लेबोरेटरी में, प्रयोगशाला में शरीर निर्मित हो जाएगा उस दिन आत्मा का क्या होगा? जिस दिन हम बच्चे को बिना मां-बाप की सहायता के केमिकल, रासायनिक व्यवस्था से निर्मित कर लेंगे और वह ठीक मनुष्य जैसा खड़ा हो जाएगा, फिर उस दिन तो आत्मा नहीं है, यह सिद्ध हो गया। लेकिन उन आत्मवादियों को भी पता नहीं है कि आत्मवाद ने कभी शरीर को आत्मा कहा ही नहीं। किसी दिन वैज्ञानिक अगर यह कर सके तो उससे सिर्फ उपनिषद् का यह सूत्र ही सिद्ध होगा कि देखो, यह शरीर भी आत्मा नहीं है। इतना ही सिद्ध होगा, और कुछ भी सिद्ध नहीं होगा। अभी भी हम जानते हैं कि शरीर आत्मा नहीं है। अभी प्राकृतिक व्यवस्था से वह निर्मित होता है। कल कृत्रिम और वैज्ञानिक व्यवस्था से निर्मित हो सकेगा। आज भी जब मां और पिता के रासायनिक तत्व मिलकर उस सेल का निर्माण करते हैं जो शरीर का पहला घटक है तो आत्मा उसमें प्रवेश करती है। कल अगर विज्ञान की प्रयोगशाला में वह घटक, वह सेल निर्मित हो गया, वह जैनेटिक सिचुएशन, वह स्थिति पैदा हो गयी, जो मां-बाप के द्वारा पैदा होती रही है अभी तक, तो वहां भी आत्मा प्रवेश कर जाएगी। लेकिन वह कोष्ठ, रासायनिक कोष्ठ, जो शरीर का पहला घटक है, वह आत्मा नहीं है। वह निर्मित है, स्वयंभू नहीं है। किसी के द्वारा बना है। किसी के ऊपर उसका होना निर्भर है इसलिए उसे आत्मतत्व कहने को आत्मज्ञानी तैयार नहीं होंगे। वह आत्मतत्व नहीं है और पीछे चलना पड़ेगा, और गहरे उतरना पड़ेगा।

तो मैं तो खुश होता हूं कि विज्ञान जितने जल्दी शरीर को निर्मित कर ले उतना अच्छा है। क्योंकि तब हमें जो शरीर के साथ तादात्म्य है उसे तोड़ने में सहायता मिलेगी। तब हम ठीक जान पाएंगे कि शरीर एक यन्त्र है और शरीर को स्वयं मानना नासमझी है। अभी भी नासमझी है, लेकिन अभी हमें पता नहीं चलता है कि शरीर यन्त्र है। अभी भी यन्त्र है। यह प्रकृति से उत्पन्न है। फिर हम प्रकृति के राज को समझकर स्वयं निर्माण कर लेंगे। तब शरीर से तादात्म्य तोड़ने में सहयोग मिलेगा। स्वयं के भीतर प्रवेश करके उस जगह तक पहुंचना है, जिसे निर्मित न किया जा सके। और जहां तक निर्मित किया जा सके, वहां

तक जानना कि आत्मतत्व नहीं है। इसलिए विज्ञान जितने गहरे तक निर्माण कर ले, उतना धर्म के पक्ष में है। क्योंकि उतने दूर तक तय हो जाएगा कि आत्मतत्व नहीं है, आत्मतत्व और आगे है। आत्मतत्व सदा ही जहां तक निर्माण होगा उसके पार, उसके अतीत है। तो विज्ञान की बड़ी कृपा है कि वह निर्माण करता चला जाए। जहां तक निर्माण हो जाएगा वहां तक सीमा निर्धारित हो जाएगी कि अब यहां तक तो आत्मतत्व नहीं है। क्योंकि आत्मतत्व हम कहते हैं स्वयंभू को, जो अनिर्मित है। जो निर्मित नहीं हो सकता। स्वयंभू का अर्थ है, मूल में जो है। निश्चित ही इस अस्तित्व के होने के लिए कहीं कोई आधारभूत, अल्टीमेट, आत्यंतिक तत्व चाहिए, जो अनिर्मित हो। अगर हर चीज को निर्मित होने की जरूरत पड़े तो निर्माण असम्भव हो जाएगा। कहें कि जगत् को बनाने के लिए परमात्मा की जरूरत है। फिर कहें कि परमात्मा को बनाने के लिए किसी और परमात्मा की जरूरत है। फिर इस जरूरत का कोई अन्त नहीं होगा। कहीं वह जगह न आए, जहां हम कह सकें कि बस ठीक है, यहां वह जगह आ गयी, जिसके निर्माण की किसी को जरूरत नहीं है।

इसे ऐसा समझें तो और भी अच्छा और वैज्ञानिक होगा। आत्मतत्व स्वयंभू है, ऐसा न कहकर ज्यादा वैज्ञानिक होगा कहना कि हम कहें, जो स्वयंभू है वह आत्मतत्व है। ऐसा न कहकर कि परमात्मा को किसी ने नहीं बनाया, यह कहना ज्यादा वैज्ञानिक होगा कि जिसे किसी ने नहीं बनाया है, जो अनबना है, हम उसे ही परमात्मा कहते हैं। विज्ञान को भी अनुभव होता है। जगह-जगह सीमा आ जाती हैं और लगता है कि इसके पार जो है, वह निर्माण के बाहर है। जैसे अभी, विज्ञान निरन्तर सोचता था, खोजता था तत्वों (इलिमेन्ट्स) को, तो पुराने वैज्ञानिक कहते थे, पांच तत्व हैं। पुराने धार्मिक नहीं, क्योंकि धार्मिक को तत्वों से प्रयोजन ही नहीं है। धार्मिक को तो सिर्फ एक से ही प्रयोजन है, स्वयंभू तत्व से। पुराने तथ्य, पुराने ढंग का चार या पांच हजार साल का पुराना जो वैज्ञानिक चिन्तन था, वह कहता था, पंचतत्व से निर्मित है सब। गलती यह हो गयी कि उन दिनों में कोई विज्ञान की किताबें अलग नहीं होती थीं धर्म की किताबों में ही सब कुछ लिखा जाता था। धर्म की किताबें उस समय के ज्ञान का समुच्चय हैं इसलिए यह बात भी कि पंचतत्वों से सब निर्मित है, धर्म की किताबों में उपलब्ध है। लेकिन यह बात वैज्ञानिक है, यह बात धार्मिक नहीं है। धर्म को तो एक ही तत्व की खोज है—स्वयंभू तत्व की। फिर विज्ञान खोज करता चला गया। उसने पाया कि पांच तत्वों का सिद्धान्त गलत है। जब विज्ञान ने यह पाया कि पंचतत्व का सिद्धान्त गलत है तो नासमझ धार्मिक बड़े परेशान हुए। उन्होंने समझा कि सब गड़बड़ हो गई। क्योंकि हम तो मानते थे, पंचतत्व है। विज्ञान धीरे-धीरे नए तत्व खोजता चला गया और एक सौ आठ तक संख्या पहुंच गई। लेकिन मैं कहता

हूं कि विज्ञान की नयी खोज सिर्फ पुराने विज्ञान को गलत करती है। विज्ञान की कोई खोज धर्म को गलत नहीं कर सकती। उसका कारण है कि दोनों के आयाम अलग हैं। कोई कितनी ही अच्छी कविता निर्मित कर ले, किसी गणित के सिद्धान्त को गलत नहीं कर सकता। कविता और गणित की कोई संगति नहीं है। कोई कितना ही गणित का गहरा सिद्धान्त खोज ले, उससे कोई कविता गलत नहीं होने वाली है। क्योंकि काव्य का आयाम अलग है, वे कहीं कटते नहीं। वे कहीं एक-दूसरे को आर-पार नहीं करते। वे छूते भी नहीं। यह सब आयाम रेल की पटरियों की तरह दौड़ते हैं—समानान्तर। कहीं अगर मिलते हुए मालूम पड़ते हैं तो वह आपकी भ्रान्ति है। जब आप वहां जाएंगे तो पाएंगे वह कहीं नहीं मिलते, वह समानान्तर दौड़ते ही चले जाते हैं। रेल की पटरियों की तरह मिलने का भ्रम हो सकता है।

विज्ञान जब भी किसी चीज को गलत करता है तो वह पुराने विज्ञान को गलत करता है। अगर विज्ञान ने कहा कि जमीन चपटी नहीं है, जमीन गोल है तो ईसाइयत बहुत घबरा गई। क्योंकि बाइबिल में लिखा है कि जमीन चपटी है। लेकिन बाइबिल में जो लिखा है कि जमीन चपटी है, वह बाइबिल के जमाने के वैज्ञानिकों की घोषणा है। यह कोई धार्मिक घोषणा नहीं है। इसलिए अगर विज्ञान ने खोज कर ली कि जमीन गोल है तो ठीक है, पुरानी बात गलत हो गई। लेकिन इससे पुराना विज्ञान ही गलत हुआ। विज्ञान कभी भी धर्म को गलत नहीं कर सकता और न धर्म कभी विज्ञान को गलत कर सकता है। उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कोई लेन-देन नहीं है। उनके बीच कोई कम्युनिकेशन भी नहीं है, वह आयाम ही भिन्न हैं। वे दिशाएं बिल्कुल अलग हैं।

पांच तत्वों की खोज एक सौ आठ तत्वों तक चली गई और विज्ञान ने पाया कि पुराने पांच तत्व गलत थे। गलत ही थे। असल में जिनको पहले तत्व कहा था, वह तत्व नहीं थे, यौगिक थे। कम्पाउण्ड्स थे, एलीमेंट्स नहीं थे। जैसे मिट्टी, अब मिट्टी में हजार तत्व हैं। कोई मिट्टी में एक तत्व नहीं है। जैसे पानी तो पानी में, अब विज्ञान कहता है, दो तत्व हैं, हाइड्रोजन और आक्सीजन एक तत्व नहीं है पानी। पानी दो तत्वों का जोड़ है। जोड़ को विज्ञान तत्व नहीं कहता, संयोग कहता है। तो पानी तो कोई तत्व नहीं रहा। आक्सीजन और हाइड्रोजन तत्व हो गए। इस तरह एक सौ आठ तत्व विज्ञान ने खोज लिए। लेकिन फिर विज्ञान को भी धीरे-धीरे, जैसे-जैसे गहरी खोज हुई, एक बात ख्याल में आने लगी कि इन सब तत्वों के, एक सौ आठ तत्वों के घटक समान हैं। हाइड्रोजन हो कि आक्सीजन हो, उन दोनों का निर्माण विद्युत-कणों से ही होता है। तो, फिर तो इसका मतलब हुआ कि हाइड्रोजन और आक्सीजन भी तत्व नहीं रह गए। तत्व तो विद्युत् हो गई, इलेक्ट्रिसिटी हो गई। विद्युत् के ही कुछ कणों का जोड़ हाइड्रोजन बनता है और कुछ कणों का जोड़ आक्सीजन बनता है। और ये एक सौ

आठ तत्व विद्युत् के ही कणों के जोड़ हैं। अगर तीन कण होते हैं तो एक तत्व बन जाता है। दो कण होते हैं तो दूसरा तत्व बन जाता है। चार होते हैं तो एक तत्व बन जाता है। लेकिन वह तीन हों कि चार हों कि दो हों, वह हैं सब बिजली के कण। तो फिर विज्ञान को एक नयी अनुभूति हुई और वह यह हुई कि तत्व तो सिर्फ विद्युत् है एक। बाकी ये एक सौ आठ तत्व भी गहरे में कम्पाउण्डस हैं। ये भी जोड़ हैं। ये भी तत्व नहीं हैं। ये भी मूल नहीं हैं।

आज जो विज्ञान की स्थिति है उसमें वह यह मानने को तैयार हो गया है कि विद्युत् अनिर्मित है—स्वयंभू है। और विद्युत् एकमात्र तत्व है, जिसका सारा फैलाव है। विद्युत्, चूंकि कम्पाउण्ड नहीं है, मिलाकर नहीं बनी है दो तत्वों से, इसलिए अनिर्मित है। तत्व कहता विज्ञान उसे है, जो स्वयंभू है। तो अब विज्ञान कहता है कि विद्युत् स्वयंभू तत्व है। वह बनाया नहीं जा सकता। क्योंकि, जो चीज जोड़कर बन सकती है, वह बनाई जा सकती है। दो चीजों को आप जोड़ देंगे, तीसरी चीज बन जाएगी। तीन चीजों को जोड़ देंगे, चौथी चीज बन जाएगी। लेकिन मूल तत्व, जो ओरिजीनल एलीमेंन्ट है, जो बिना जोड़ का है, उसको आप कैसे बनाएंगे ? उसको बना भी नहीं सकते, मिटा भी नहीं सकते। अगर हमें पानी को मिटाना हो तो मिटा सकते हैं। हाइड्रोजन और आक्सीजन को अलग कर देंगे, पानी मिट जाएगा, क्योंकि वह जोड़ है। अगर हमें हाइड्रोजन को मिटाना है तो हम उसे भी मिटा देंगे। अगर हमने उसके विद्युत् के कणों को अलग कर दिया—जिसको हम एटॉमिक इनर्जी कहते हैं, वह सिर्फ विद्युत् के कणों को अलग करना है। तो हाइड्रोजन मिट जाएगा। हाइड्रोजन नहीं बचेगा। सिर्फ विद्युत् ऊर्जा रह जाएगी। सिर्फ शक्ति रह जाएगी। लेकिन उस शक्ति को हम नहीं मिटा सकते, क्योंकि उसमें दो का जोड़ नहीं है, जिसको हम अलग कर सकें। हम सिर्फ इतना ही कर सकते हैं, या तो चीजों को जोड़ सकते हैं या तोड़ सकते हैं। सृजन नहीं कर सकते। तत्व वह है, जो असृजित है, तो इसको हम सृजन नहीं कह सकते।

विज्ञान अभी कहता है कि इलेक्ट्रिसिटी, विद्युत् ऊर्जा स्वयंभू तत्व है। लेकिन धर्म कहता है, आत्मतत्व स्वयंभू है। कोई हैरानी न होगी कि आज नहीं कल विज्ञान की और खोज विद्युत् को भी तोड़ ले। और हम पाएं कि विद्युत् भी स्वयंभू नहीं है। क्योंकि पहले हम पाते थे कि पानी तत्व है, फिर हमने तोड़ा तो पाया कि हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्व है, पानी तत्व नहीं है। फिर हाइड्रोजन को भी तोड़ लिया तो पाया कि हाइड्रोजन भी तत्व नहीं है, विद्युत् तत्व है। अब या तो आत्मतत्व और विद्युत् एक ही चीज सिद्ध हों, और या फिर विद्युत् भी टूट जाए, और हमें पता चले कि वह भी तत्व नहीं है। जहां तक मेरी समझ है, विद्युत् भी टूट सकेगी। और जिस दिन विद्युत् टूटेगी उस दिन हम पाएंगे कि चेतना—कांसेसनेस बचती है विद्युत् के टूटते ही।

अब यह बहुत मजे की बात है कि पत्थर को कोई भी नहीं कह पाएगा कि इनर्जी है, शक्ति है। पत्थर पदार्थ है। पुराना भेद हमारा है मैटर और इनर्जी का, पदार्थ और शक्ति का। पदार्थ—पत्थर है पदार्थ। लेकिन जब पत्थर को तोड़ा गया, और इनालिसिस, और विश्लेषण, और जब अन्तिम जाकर अणु का विस्फोट हुआ तो पदार्थ खो गया—बची ऊर्जा। और विज्ञान को एक पुराना, जो निरन्तर का द्वैत था, वह समाप्त कर देना पड़ा। मैटर और इनर्जी का जो पुराना द्वैत था कि एक है पदार्थ और एक है शक्ति, वह समाप्त कर देना पड़ा। पदार्थ के टूटने पर पता चला कि पदार्थ नहीं है, सिर्फ शक्ति ही है। मैटर इज इनर्जी। कहना पड़ा कि पदार्थ ही ऊर्जा है। अब पदार्थ जैसी कोई चीज नहीं है। आज विज्ञान की जो नवीनतम शोध है उसमें पदार्थ जैसी कोई भी चीज नहीं है। पदार्थवादी को बहुत सचेत हो जाना चाहिए। अब पदार्थ जैसी कोई चीज ही नहीं, सिर्फ ऊर्जा है।

जब तक पदार्थ के नीचे हम नहीं उतरे थे तब तक दो चीजें थी। पदार्थ था और ऊर्जा थी। निश्चित ही, एक पत्थर को उठाएं हाथ में और फिर बिजली के तार को छुएं तो फर्क पता चलेगा। पत्थर को हाथ में उठाएं और बिजली के तार को छुएं तो पत्थर पदार्थ मालूम होता है और बिजली के तार से जो बहती है वह ऊर्जा है। दोनों में बड़ा भेद है। लेकिन अब विज्ञान कहता है कि पत्थर को भी तोड़ दें हम तो आखिर में, वही ऊर्जा मिल जाती है, जो बिजली के तार से बहती है। उसी को तोड़कर तो हिरोशिमा में हमने एक लाख आदमी मारे। वह बिजली का धक्का है। पदार्थ के विखण्डन से—एक छोटे-से अणु के विस्फोट से इतनी ऊर्जा पैदा हुई कि हिरोशिमा में एक लाख और नागासाकी में एक लाख बीस हजार आदमी मरे। बड़ी-से-बड़ी बिजली को भी छूकर इतने आदमी नहीं मर सकते। एक छोटे-से कण से इतनी बिजली पैदा हुई। लेकिन वह कण खो गया बिजली होकर। तो अब विज्ञान कहता है कि हमारा पुराना जो द्वैत था—पदार्थ और ऊर्जा का—वह नष्ट हो गया। अब तो ऊर्जा है लेकिन मैं आपसे कहता हूं कि एक और अभी भेद रह गया है, ऊर्जा और चेतना का। इनर्जी और कांसेसनेस का। बिजली को हम छूते हैं तो पता लगता है, शक्ति है। लेकिन जब एक आदमी से हम बात करते हैं तो सिर्फ इतना ही नहीं लगता कि यह शक्ति है—चेतना भी मालूम पड़ती है। बिजली दौड़ रही है, यह टेपरिकार्डर बोलेगा। लेकिन टेप-रिकार्डर वही बोलेगा जो मैं बोल रहा हूं। तो जब टेपरिकार्डर बोलेगा तो सिर्फ ऊर्जा है। लेकिन जब मैं बोलता हूं तो सिर्फ ऊर्जा नहीं है, चेतना भी है। इसलिए टेपरिकार्डर अदल-बदल नहीं कर सकेगा। जो मैंने बोला है, वही बोलेगा। और मैं चाहूं भी तो कल यह नहीं बोल सकूंगा जो आज बोल रहा हूं। क्योंकि मैं कोई यन्त्र नहीं हूं। मुझे खुद भी पता नहीं है कि इस वचन के बाद कौन-सा वचन

निकलेगा। जब आप सुनेंगे तभी मैं भी सुनूंगा।

चेतना और ऊर्जा का फासला अभी कायम है। कहना चाहिए, पुराना जो था जगत् वह द्वैत नहीं था, त्रैत था—पदार्थ, ऊर्जा, चेतना—मैटर, इनर्जी, कांसेसनेस। वह त्रैत था। उसमें से एक तो गिर गया। पदार्थ गिर गया। अब द्वैत रह गया—ऊर्जा और चेतना। पदार्थ को गहरे में खोजने से पदार्थ नष्ट हो गया और हमने पाया कि ऊर्जा है। और मैं आपसे कहता हूं कि ऊर्जा को गहरे में खोजने से ऊर्जा भी गिर जायेगी और हम पायेंगे कि चेतना है। उस चेतना का नाम आत्म-तत्त्व है। जहां सब गिर जाएगा, न पदार्थ होगा, न ऊर्जा होगी, सिर्फ चेतना होगी। इसलिए हमने उस परम तत्त्व को सच्चिदानन्द कहा है। तीन शब्दों का उपयोग किया है उस आत्मतत्त्व के लिए। सत्—सत् का अर्थ होता है एक्जिस्टेंस, जो है। और जो कभी नहीं होता, जो सदा है। सत् का अर्थ है, जो सदा है। जो कभी भी ऐसी स्थिति में नहीं होता कि आप कह सकें कि नहीं है। है ही। सब कुछ बदलता चला जाए, वह है ही। चित् का अर्थ होता है चैतन्य—कांसेसनेस। वह अकेला है ही ऐसा नहीं, उसे पता भी है कि मैं हूं। एक चीज हो सकती है, एक पत्थर पड़ा है, वह भी है। वह सिर्फ अस्तित्व है। लेकिन उस पत्थर को यह भी पता है कि मैं हूं, तब वह चित् भी है। तब वह कांसेसनेस भी है। और तीसरा शब्द हम कहते हैं, आनन्द। इतना ही नहीं कि वह आत्मतत्त्व है, इतना ही नहीं कि वह चैतन्य है, इतना ही नहीं कि वह है और उसे पता है कि मैं हूं। इतना भी कि जैसे ही उसे पता चलता है कि हूं, मैं हूं, उसे यह भी पता चलता है कि मैं आनन्द हूं।

इस आत्मतत्व को स्वयंभू कहा है इस सूत्र में। उसे किसी ने बनाया नहीं है। उसे कोई मिटा नहीं सकेगा इसलिए। ध्यान रहे स्वयंभू है, इसीलिए अमृत है। जो चीज बनेगी, वह मिटेगी। जो चीज निर्मित होगी, वह नष्ट होगी। कोई निर्माण शाश्वत् नहीं हो सकता। कोई निर्माण नित्य नहीं हो सकता।

सब निर्मितियां समय में बनती हैं और समय में मिट जाती हैं। असल में जिस चीज का भी जन्म होगा, वह मरेगी। कितना ही मजबूत बनायें, थोड़ी देर लगेगी मिटने में, लेकिन मिटेगी। महल चाहे कागज के पत्तों के बनाये जायें—गिर जाते हैं। और चाहे सख्त पत्थर के बनाए जायें—गिर जाते हैं और चाहे फौलाद के बनाए जायें तो गिर जाते हैं। हां, देर लगती है। समय लगता है। ताश के पत्तों के घर को हवा का एक झोंका गिरा देता है। पत्थर की दीवारों के महलों को हवा के लाखों झोंके गिरा पाते हैं, लेकिन गिरा देते हैं। मात्रा का फर्क पड़ता है। ताश के पत्तों के घर में और पत्थर के घर में जो फर्क है, वह मात्रा का फर्क है कि कितने हवा के झोंके गिरा पायेंगे। बुनियादी अन्तर नहीं है। क्योंकि ताश का घर भी बनाया गया है इसलिए गिरेगा और महल भी बनाए गए हैं इसलिए

गिरेंगे। जहां एक छोर पर निर्माण होगा वहां दूसरे छोर पर विध्वंस होगा। स्वयंभू है, इसलिए आतमतत्व अमृत है। क्योंकि एक छोर पर कभी बना नहीं इसलिए दूसरे छोर पर कभी मिटेगा नहीं। तो स्वयंभू में एक बात तो है कि अनिर्मित है और दूसरी बात है कि अमृत है, नष्ट नहीं हो सकता। यह भी आपसे कह दूं कि इससे विज्ञान भी राजी होता है कि जो तत्व दो से मिलकर बना है, वह मिटेगा। जो तत्व एक से बना है, वह नहीं मिट सकता। उसके मिटने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि उसके बनने का कोई उपाय नहीं है। बनाना हो तो चीजें मिलानी पड़ती हैं। मिटाना हो तो अलग कर देनी पड़ती हैं। बनाना जोड़ना है, मिटाना बिखराना है। लेकिन जो तत्व इकहरा है, जिसमें कोई दूसरा तत्व नहीं है, उसको मिटाया नहीं जा सकता है। उसको मिटायेंगे कैसे ? उसे तोड़ा नहीं जा सकता। वह दो होता तो टूट जाता। वह एक ही है। वह सदा रहेगा। जो तत्व स्वयंभू होगा वह अमृत होगा और उसी को उपनिषद् आत्मतत्व कहते हैं। फिर कुछ और बातें भी गिनायी हैं जो इसके बाद अनिवार्य हैं।

कहा है कि वह स्वयंभू आत्मतत्व सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ का क्या अर्थ होगा ? सर्वज्ञ के दो अर्थ हो सकते हैं, और आमतौर से जो गलत अर्थ है दो में, वही प्रचलित है। अक्सर ऐसा होता है कि जो चीज प्रचलित होती है, अक्सर गलत होती है। ज्ञान इतना गूढ़ है कि बहुत प्रचलित नहीं होता। अज्ञान सबकी समझ में आ जाता है। सहज प्रचलित हो जाता है। सर्वज्ञ का एक अर्थ तो होता है, आल नोइंग—सब कुछ जानता है। यही अर्थ प्रचलित है। इसलिए ऐसे उदाहरण के लिए जैनों ने महावीर को सर्वज्ञ कहा है। कहा था इसलिए कि जब आत्मतत्व जान लिया गया तो आदमी सर्वज्ञ हो गया। क्योंकि आत्मतत्व का लक्षण है सर्वज्ञ होना—सब जान लिया। महावीर ने खुद कहा है, जिसने एक को जाना उसने सब जान लिया। तो ठीक है, महावीर ने सब जान लिया। तो फिर पीछे अनुयायी जो है, वह सोचता है कि महावीर को यह भी पता होगा कि साइकिल का पंक्चर कैसे जोड़ा जाता है। लेकिन महावीर को साइकिल का भी कोई पता नहीं। तो फिर महावीर को पता होना चाहिए कि हवाई जहाज कैसे बनाया जाता है। सर्वज्ञ का अगर यह अर्थ लिया तो बड़ी भ्रान्ति होगी और इससे बड़ी तकलीफ होगी। महावीर को जिस दिन इस तरह सर्वज्ञ माना जैनों ने, उसी दिन तकलीफ में पड़ गए। फिर उनकी इस बात की बुद्ध ने बहुत मजाक उड़ायी। बुद्ध ने बहुत जगह बहुत मजाक उड़ायी है। असल में वह महावीर की सर्वज्ञता के अनुयायियों की मजाक है। क्योंकि अनुयायियों ने जो दावा करना शुरू किया वह यह है कि महावीर सब जानते हैं। तो बुद्ध ने बहुत जगह मजाक में कहा है कि मैंने सुना है कि किसी के सम्बन्ध में कुछ लोग दावा करते हैं कि वह सर्वज्ञ है। लेकिन उन्हें मैंने ऐसे घर के सामने भीख मांगते देखा है कि जिस घर में कोई था ही नहीं। पीछे पता चला कि घर खाली

है। उन्हें मैंने सुबह के धुंधले अंधेरे में चलते हुए देखा है और सुना है कि कुत्ते की पूंछ पर पैर पड़ गया तब उन्हें पता चला कि कुत्ता रास्ते में सोया था। यह बुद्ध ने मजाक उड़ायी है—सर्वज्ञता के उस अर्थ की। सर्वज्ञता का वह अर्थ नहीं है। बुद्ध ने कहा है, जिन्हें लोग सर्वज्ञ कहते हैं उनके सम्बन्ध में मैंने सुना है कि वह भी गांव के बाहर आकर लोगों से पूछते हैं कि यह रास्ता कहां जाता है। तो ठीक है, महावीर को भी पूछना पड़ता है कि रास्ता कहां जाता है। लेकिन यह मजाक महावीर की नहीं है। महावीर का ऐसा कोई दावा नहीं है। दावेदार अनुयायी हैं। वे कहते हैं कि उनके महावीर सब जानते हैं। कौन-सा रास्ता कहां जाता है, यह भी जानते हैं।

नहीं, सर्वज्ञ का दूसरा ही अर्थ है। बहुत निगेटिव। यह बहुत पॉजीटिव अर्थ गलत है। यह बहुत विधायक कि सब जानते हैं। नहीं, सर्वज्ञ का निषेधात्मक अर्थ है कि जानने को कुछ शेष नहीं रहा। ऐसा कुछ नहीं बचा जो जानने योग्य है। रास्ता कहां जाता है, यह भी कोई जानने योग्य बात है। घर में कोई है या नहीं, यह भी कोई जानने योग्य बात है, न जाना तो हर्ज क्या है ? रास्ते पर कुत्ता सोया है या नहीं सोया है, यह भी कोई जानने योग्य बात है ? न जाना तो हर्ज क्या है ?

सर्वज्ञ का, मेरी दृष्टि में, जो अर्थ है वह यह कि ऐसा कुछ भी नहीं बचता आत्मतत्व में, जो जानने योग्य है और न जान लिया गया हो। जो भी जानने योग्य है वह जान लिया गया—आल दैट इज वर्थ नोइंग। काम चलाऊ जगत् में बहुत-सी बातें मालूम पड़ती हैं कि जानने योग्य हैं, लेकिन उन्हें जानने से क्या फर्क पड़ता है। सर्वज्ञ का मेरे लिए जो अर्थ है वह है—ऐसा कुछ भी नहीं बचा जो जानने योग्य है। ऐसा कुछ भी नहीं बचा, जिसके कारण जीवन के आनन्द में रत्ती-भर भी फर्क पड़ता हो। ऐसा कुछ भी जानने को नहीं बचा जिससे सच्चिदानन्द होने में कोई भी भेद पड़ता है। रास्ता यह बायें जाता है तो पहुंचता होगा कहीं। रास्ता दायें जाता है तो पहुंचता होगा कहीं, लेकिन इससे सच्चिदानन्द स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता है। और महावीर भटक भी जाएं और गलत गांव पहुंच जाएं तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि ठीक मंजिल पर पहुंचा हुआ आदमी कहीं भी भटके, क्या फर्क पड़ता है ! और हम जो कि ठीक मंजिल पर नहीं पहुंचे, बिल्कुल ठीक-ठीक गांव भी पहुंच जाएं तो क्या होने को है ? और हमें सब रास्ते बिल्कुल ठीक पता हैं, हम बिल्कुल भौगोलिक नक्शा हैं तो भी क्या फर्क पड़ता है ?

सर्वज्ञ के गलत अर्थ के कारण महावीर को बहुत मखौल व्यर्थ झेलनी पड़ी उनके पीछे चलने वाले लोगों की वजह से। क्योंकि उन्होंने जो दावे किए, वह बेमानी थे। इसलिए अब बड़ी तकलीफ है उन दावेदारों को। अभी जैसे कि पहली दफा अन्तरिक्ष यात्री चांद पर उतरे तो जैन साधुओं को बड़ा कष्ट हुआ। कष्ट हुआ—क्योंकि वह कहते हैं कि उनके शास्त्र में लिखा है कि चांद कैसा है। लेकिन चांद

वैसा नहीं पाया गया। और शास्त्र को उन्होंने कहा, जो सर्वज्ञ थे तो उनकी बात गलत हो नहीं सकती ! तो जैन साधुओं ने यहां तक कहा कि यह लोग भ्रान्ति में हैं कि चांद पर उतर गए हैं। ये चांद पर नहीं उतरे, बल्कि चांद के इस तरफ देवताओं के जो वाहन ठहरे रहते हैं, बैलगाड़ियां, रथ, ये उन पर उतर गए हैं। और वहीं से लौट आए, ये चांद पर नहीं उतरे हैं। एक जैन मुनि ने तो पैसा इकट्ठा करना शुरू कर दिया और नासमझ मिल गए जिन्होंने लाखों रुपया भी दिया, यह सिद्ध करने के लिए कि वह सिद्ध करेंगे प्रयोगशाला में कि ये किसी देवता के वाहन पर उतर कर लौट आए वापस, चांद तक नहीं पहुंचे। चांद पर पहुंचेंगे तो चांद वैसा ही होगा जैसा हमारे शास्त्र में लिखा है। क्योंकि वह शास्त्र सर्वज्ञ का कहा हुआ है। अगर ऐसा दावा किया तो वह शास्त्र दो कौड़ी का हो जाएगा हमारी नासमझी की वजह से।

अगर तुम्हारे शास्त्र में कहीं भी कहा हुआ है कि चांद कैसा है और गलत होता है तो वह शास्त्र का वक्तव्य उस जमाने के वैज्ञानिक का वक्तव्य है, आत्मज्ञानी का नहीं। और आत्मज्ञानी को क्या मतलब है कि वह वक्तव्य दे कि चांद पर किस तरह के पत्थर हैं और किस तरह के नहीं हैं। और अगर देता भी हो ऐसा वक्तव्य तो वह आत्मज्ञानी की हैसियत से दिया गया नहीं है। पर इससे बड़ी मुश्किल होती है। अब आइन्स्टीन जैसा विचारक है, गणितज्ञ है। पर गणितज्ञ होने पर ही पूरी समाप्त थोड़ी है, उसकी जिन्दगी में और भी बहुत-कुछ है। जब वह ताश खेलता है तब गणितज्ञ नहीं है। और जब किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है तब गणित का क्या लेना-देना है। तब अगर वह स्त्री से कह दे कि तुझसे सुन्दर कोई भी नहीं तो यह कोई मैथमेटिकल स्टेटमेन्ट नहीं है, कि इसको कल कोई दावा करे कि आइन्स्टीन ने कहा, कि इतना बड़ा गणितज्ञ, उसने सारी दुनिया की स्त्रियों के सौन्दर्य को नाप-जोख के कहा होगा कि यह स्त्री सबसे ज्यादा सुन्दर है। नहीं, यह तो कोई भी कहता रहा है। हर स्त्री को यह कहने वाले मिल जाते हैं। इसके लिए किसी के गणितज्ञ होने की जरूरत नहीं है। यह गणितज्ञ की हैसियत से नहीं कहा गया है। यह हैसियत एक प्रेमी की है।

तो सर्वज्ञ का अर्थ है कि अब ऐसा कुछ भी नहीं बचा है जिसे जानने से उसके आनन्द में कोई बढ़ती होगी। उसका आनन्द पूरा है। ऐसा कोई भी अज्ञान नहीं बचा है जो उसके आनन्द में बाधा डालता हो। उसका सब अज्ञान नष्ट हो गया। उसका क्रोध, उसका मोह, उसका लोभ नष्ट हो गया। वह परम आनन्दित है। सर्वज्ञ का अर्थ है परम आनन्द में प्रतिष्ठित। ऐसे ज्ञान को जान लिया जिसने, वह आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है और दुख की सम्भावना बिदा हो जाती है।

तो आत्मतत्व सर्वज्ञ है, इस अर्थ में—त्रिकालज्ञ के अर्थ में नहीं कि तीनों काल का उसे पता है। कि कल क्या होगा और परसों क्या होगा। कि एलेक्शन में कौन

जीतेगा और कौन नहीं जीतेगा। ऐसा उसे कुछ भी पता नहीं है। ऐसा पता करने का कोई कारण भी नहीं है, कोई जरूरत भी नहीं है। यह सारा समय के भीतर होने वाला खेल उसके लिए पानी पर खींची गई रेखाओं जैसा हो गया है। वह इसका कोई हिसाब नहीं रखता है। यह उसके लिए स्वप्नवत् हो गया है कि कौन जीतता है और कौन हारता है। यह बच्चों की दुनिया की बात हो गई, वह प्रौढ़ हो गया। उसे इस सबसे कोई लेना-देना नहीं है। उस तत्व को जान कर सर्वज्ञता आ जाती है। अर्थात् अज्ञान गिर जाता है। अर्थात् लोभ, मोह, क्रोध जो अज्ञान से पैदा होते हैं, वे गिर जाते हैं। अर्थात्, आनन्द—जो ज्ञान से जन्मता है, वह उपलब्ध हो जाता है। वह दीया जल जाता है, जो ज्ञान का है और जिसकी रोशनी में परम आनन्द की प्रतिष्ठा है। शाश्वत्, नित्य आनन्द की प्रतिष्ठा है।

ऐसा जो आत्मतत्व है उसका तीसरा लक्षण कहा है, शुद्ध—सदा शुद्ध, सदा पवित्र, सदा निर्दोष। जब हम अशुद्ध हुए मालूम पड़ते हैं तब भी वह अशुद्ध नहीं हुआ। हमारी सारी अशुद्धि हमारी भ्रान्ति है। जैसा कल मैं रात कह रहा था कि सूर्य का प्रतिबिम्ब गन्दे डबरे में भी उतना ही शुद्ध है, ऐसा ही वह आत्मतत्व रावण के भीतर भी उतना ही शुद्ध है जितना राम के भीतर। जरा भी फर्क नहीं है उसकी शुद्धि में। असल में शुद्ध होना उसका कोई सांयोगिक लक्षण नहीं है। वह उसका स्वभावगत लक्षण है। इसलिए सांयोगिक लक्षण और स्वभावगत लक्षण के भेद को समझ लें तो यह बात ख्याल में आ जाएगी।

दो तरह के लक्षण होते हैं। एक है एक्सीडेंटल, सांयोगिक। दूसरा है स्वभावगत। सांयोगिक लक्षण वह है, जो फॉरेन है, विजातीय है। जो आपसे जुड़ता है, आपके भीतर से नहीं आता। जैसे एक आदमी बेईमान है। बेईमानी एक्सीडेंटल है, सांयोगिक है। स्वरूपगत नहीं है। सीखी गई है, अर्जित है। इसीलिए तो कोई आदमी चौबीस घण्टे बेईमान नहीं रह सकता। बेईमान-से-बेईमान भी चौबीस घण्टे बेईमान नहीं रह सकता। क्योंकि जो भी अर्जित है वह बोझ रूप है, उसे उतार कर रखना पड़ता है, विश्राम करना पड़ता है। वह स्वभाव नहीं है। इसलिए बेईमान-से-बेईमान आदमी किन्हीं के साथ ईमानदार होता है। और कई बार तो ऐसा होता है कि बेईमान आदमी आपस में जितने ईमानदार होते हैं, उतने ईमानदार आदमी भी आपस में ईमानदार नहीं होते। उसका कारण है कि जिसको हम ईमानदारी कहते हैं, वह भी अर्जित है। उससे भी छुटकारा लेना पड़ता है। जो भी चीज अर्जित है, एक्सीडेंटल है उसके साथ आप सदा नहीं हो सकते। आपको बीच-बीच में छुट्टी लेनी पड़ेगी। आपको थोड़ी छुट्टी लेनी पड़ेगी नहीं तो बोझ हो जाएगा, तनाव बढ़ जाएगा। इसलिए गम्भीर आदमी को मनोरंजन करना पड़ता है। नहीं तो गम्भीरता बोझ हो जाती है। महावीर को या बुद्ध को मनोरंजन की कोई जरूरत नहीं होती। क्योंकि कोई गम्भीरता का बोझ ही नहीं है। यह

आप ध्यान में ले लें। हम आमतौर पर समझते हैं, वह इतने गम्भीर हैं, इसलिए सिनेमा गृह में नहीं बैंठते, नाटक देखने नहीं जाते। नहीं, अगर इतने गम्भीर हैं तो उनको नाटक देखने जाना ही पड़ेगा। नहीं, वह गम्भीर हैं ही नहीं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि वह गैरगम्भीर हैं। गम्भीरता और गैरगम्भीरता बेईमानी हैं। वह तो वही हैं, जो निजता है, जो स्वभाव है। वह कुछ अर्जित नहीं करते ऊपर से, इसलिए किसी चीज से छुट्टी नहीं लेनी पड़ती। अगर किसी आदमी ने सन्तत्व को भी आदत बना ली तो उसको हॉली-डे पर जाना पड़ेगा। उसको दो-चार दिन के लिए, महीने-पन्द्रह दिन में सन्तत्व से छुट्टी लेनी पड़ेगी। और जब तक घण्टे-दो घण्टे वह गैर सन्त की दुनिया में प्रवेश न कर जाए तब तक वापिस फिर सन्त होना नहीं हो पाएगा। मुश्किल पड़ जाएगी।

एक्सीडेंटल क्वालिटी, सांयोगिक गुण वे हैं, जो हम सीखते हैं, अर्जित करते हैं। बाहर से जो हम पर आते हैं। भीतर से नहीं आते। सब कुछ हमारा सीखा हुआ है। जैसे समझें भाषा—भाषा सांयोगिक है, सीखी हुई है। कोई हिन्दी सीख सकता है, कोई मराठी, कोई अंग्रेजी, कोई जर्मन। हजार भाषाएं हैं। और हजार और हो सकती हैं, कोई अड़चन नहीं है। एक-एक आदमी एक-एक भाषा बोल सकता है। कोई अड़चन नहीं है। जितनी भाषाएं हम बना सकते हैं, सब सांयोगिक हैं। लेकिन मौन? मौन सांयोगिक नहीं है। इसलिए दो आदमी बोलते हों तो बोलने में भेद हो सकता है, लेकिन दो आदमी पूरी तरह मौन हो जाएं तो उनमें कोई भेद नहीं हो सकता है। भाषा में विवाद हो सकता है, मौन में कोई विवाद नहीं हो सकता। और जब दो आदमी बिल्कुल मौन होते हैं तो उनकी भीतरी क्वालिटी में कोई फर्क नहीं रह जाता। दो साइलेंस में क्या फर्क होगा? दो मौन में क्या भेद होगा? लेकिन मौन अगर ऊपर से थोपा हुआ हो तो भेद होगा, क्योंकि भीतर भाषा चलती रहेगी। सिर्फ चुप हैं दो आदमी तो भेद होगा। मैं चुप बैठा हूं, आप मेरे बगल में चुप बैठे हैं। मैं अपना सोचता रहूंगा, आप अपना सोचते रहेंगे। सोचना जारी रहेगा। ओंठ बन्द रहेंगे। ओंठ तो लगेंगे, बिल्कुल एक-से हैं, लेकिन भीतर सब भेद चलता रहेगा। हम भीतर हजारों मील के फासले पर होंगे। पता नहीं आप कहां होंगे, और मैं कहां। लेकिन अगर सच में मौन आ गया—ऊपर से अर्जित नहीं, भीतर से खिला हुआ। ऊपर से थोपा गया नहीं, भीतर से आविर्भूत। हम बिल्कुल ही चुप हो गए। भीतर भी शब्द खो गए, भाषा खो गई, तो मुझमें और आपमें कौन-सा भेद होगा? कौन-सा फासला होगा? हम एक ही जगह हो जाएंगे। हम एक जैसे हो जाएंगे। हमारी दो ज्योतियां धीरे-धीरे मौन होते-होते एक ज्योति बन जाएगी। दो भी नहीं रह जाएंगी। क्योंकि दो का फासला करने वाली बीच की कोई बाउण्ड्री, लाइन नहीं बची। भेद से बनती है सीमा, अभेद में गिर जाती है। तो मौन तो—चिर मौन, अन्तर मौन,

स्वभाव है। भाषा सांयोगिक है। जो-जो सांयोगिक है वह सदा रहने वाला नहीं है। इसलिए मजे की बात है, आप चौबीस घण्टे क्रोध नहीं कर सकते, लेकिन चौबीस घण्टे क्षमा में हो सकते हैं। सोचें इसे, चौबीस घण्टे क्रोध में नहीं हो सकते। क्रोध में चढ़ेंगे—उतरेंगे। चौबीस घण्टे क्रोध में नहीं हो सकते। लेकिन क्षमा में चौबीस घण्टे होने में कोई बाधा नहीं है। चौबीस घण्टे हो सकते हैं। घृणा में अगर जीना हो तो चौबीस घण्टे नहीं जी सकते, नर्क हो जाएगा खुद के लिए। लेकिन अगर प्रेम में जीना हो तो चौबीस घण्टे जी सकते हैं। लेकिन जिसे अभी हम प्रेम कहते हैं उसमें तो नहीं जी सकते। क्योंकि वह कोई प्रेम नहीं है, वह भी पीरियाडिकल है, वह भी सावधिक है। चौबीस घण्टे में दस-पांच मिनट प्रेम पूर्ण हो सकते हैं, बाकी नहीं हो सकते। और अगर कोई ज्यादा आग्रह करे कि और प्रेमपूर्ण हों तो दस-पांच मिनट भी होना मुश्किल हो जाए। क्यों? क्योंकि जो स्वभाव है उसी में हम सदा हो सकते हैं। जो भी विभाव है और बाहर से लिया गया है उसमें हम सदा नहीं हो सकते। उसे उतारना ही पड़ेगा। उस बोझ से हटना ही पड़ेगा।

आत्मा शुद्ध है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कभी अशुद्ध हो जाती है और फिर हमें शुद्ध करनी पड़ती है। अगर आत्मा अशुद्ध हो सके तो फिर हम शुद्ध न कर पाएंगे। फिर कौन शुद्ध करेगा? हम ही अशुद्ध हो गए। शुद्ध करने वाला भी नहीं बचेगा। कौन करेगा शुद्ध? जो शुद्ध कर सकता था, वह खुद ही अशुद्ध हो गया है। अब तो वह अशुद्ध आत्मा जो भी करेगी वह सभी अशुद्ध होगा। नहीं, आत्मा अशुद्ध हो जाती है और हमें शुद्ध करनी पड़ती है, ऐसा नहीं। आत्मा शुद्ध है ही। सिर्फ हम अशुद्ध गुणों को अपने चारों तरफ इकट्ठा कर लेते हैं, जैसे कि एक दीए के चारों तरफ हम काला पर्दा लटका दें। दीया इससे अंधेरा नहीं हो जाता। दीया अब भी अपनी रोशनी में ही जलता है। लेकिन चारों तरफ का काला पर्दा रोशनी को बाहर फैलने से रोक देता है। और अगर दीया हमारे जैसा पागल हो और धीरे-धीरे भूल जाए कि मैं दीया हूं और समझने लगे कि मैं काला पर्दा हूं तो जो कठिनाई पैदा हो जाएगी वही कठिनाई हमारे साथ है। हमारा स्वयं के निज स्वभाव से तो सम्बन्ध टूट जाता है और शरीर और मन और विचार और वृत्ति और वासना का जो हमारे चारों तरफ जाल है उससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। हम कहने लगते हैं, यह हूं मैं। वह, जो भीतर है, वह किसी चीज के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है और कहने लगता है, यह हूं मैं। और इतना शुद्ध है वह भीतर का तत्व, इतना निर्मल है कि किसी भी चीज की जब छाया उसमें बनती है तो पूरी बन जाती है। और उस छाया को हम पकड़ लेते हैं। कहने लगते हैं, यह हूं मैं। शुद्धि के कारण ही यह दुर्घटना भी घटती है। अगर दर्पण होश में आ जाए और आप दर्पण के सामने खड़े हों और दर्पण अपने

भीतर झांक कर देखे और पाए कि आपकी तस्वीर बनी और आपको सामने खड़ा देखे, और दर्पण कहे कि यह हूं मैं, वही भूल हो जाती है।

शुद्ध है आत्मा। उसकी शुद्धि के कारण इतनी निर्मल झील की तरह है कि जो भी उसके पास आता है। वह उसमें दर्पण की तरह झलकता है। जो भी। शरीर पास आता है तो दर्पण की तरह झलकता है और आत्मा कहती है, मैं हूं शरीर। और कितना शरीर बदलता जाता है, फिर भी आपको ख्याल नहीं आता कि कितने शरीरों से आप अपना तादात्म्य कर लेते हैं। अगर मां के पेट में जो पहला अणु बनता है, वह निकाल कर आपके सामने रख दिया जाए और कहा जाए कि ये थे आप एक दिन। तो आप बिल्कुल इन्कार करेंगे कि ये और मैं! कभी नहीं! अगर आपके बचपन से लेकर बुढ़ापे तक के रोज दस-पांच चित्र लिए जाएं तो एक लम्बी सीरीज, शृंखला चित्रों की हो जाएगी। हर चित्र से आपने एक दिन कहा है कि यह हूं मैं। कहां बचपन का चित्र और कहां बुढ़ापे का चित्र! कहां जन्म लेता हुआ बच्चा और कहां कब्र में उतरता ताबूत! इन सबसे आप एक रहे हैं। जो-जो दर्पण में आपके झलका है, आपने कहा है, यह हूं मैं। दिस इज मी—यही हूं मैं। कल फिर दर्पण पर दूसरी झलक आयी और आपने कहा, यही हूं। कभी अपने बचपन के चित्र को उठा कर और फिर अपनी जवानी के चित्र को उठा कर देखें, कोई भी ताल-मेल है उनमें? कोई भी सम्बन्ध है? यह आप हैं? नहीं, एक दिन दावा किया था यह, फिर स्मृति में दावा बैठ गया, अभी भी है कि एक दिन मैं यह था। रोज शरीर बदलता है। वैज्ञानिक कहते हैं सात वर्षों में शरीर का कण-कण बदल जाता है, एक कण भी नहीं बचता पुराना। लेकिन आइडिण्टिटी जारी रहती है। तादात्म्य जारी रहता है। हड्डी बदल जाती है, मांस बदल जाता है, खून बदल जाता है, सब सेल्स बदल जाते हैं, सब बदल जाता है सात साल में। सत्तर साल एक आदमी जीता है तो दस बार टोटल शरीर बदल चुका होता है। शरीर प्रतिपल बदल रहा है। लेकिन एक शुद्ध दर्पण है भीतर। जो भी झलक बनती है, जो भी तस्वीर बनती है, वह कह देती है, यह हूं मैं।

यही तादात्म्य टूट जाए, यह नासमझी टूट जाए, यह हम कहना छोड़ दें कि यह हूं मैं, और कहने लगें, इस सबको जानने वाला हूं मैं, इस सबका साक्षी हूं मैं, विटनेस हूं मैं। मैंने बचपन को भी जाना था, वह मैं नहीं था। मैंने जवानी भी जानी, वह भी मैं नहीं था। मैं बुढ़ापा भी जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूं। मैंने जन्म भी जाना, वह भी मैं नहीं हूं। मृत्यु भी मैं जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूं। मैं तो वह हूं, जिसने यह सब कुछ जाना। एक लम्बी सीरीज है। यह फिल्मों का लम्बा काफिला, यह सब जाना जिसने—वह हूं मैं। जानने वाला हूं मैं, जो जाना जाता है वह नहीं हूं। जो प्रतिफलित होता है, प्रतिबिम्बित होता है वह नहीं हूं मैं। जिसमें प्रतिबिम्बित होता है वह हूं मैं। तब आत्मा परम शुद्ध है। तब वह निर्मल दर्पण

है, तब वह बिल्कुल निर्दोष झील है। जहां कोई लहर अशुद्धि की कभी नहीं उठी।

जब उपनिषद् कहते हैं कि शुद्ध बुद्ध है वह, शुद्ध है पूरा। लेशमात्र भी कोई अशुद्धि कभी आत्मा में प्रवेश नहीं की है। तो इस तादात्म्य को तोड़ कर वे कहते हैं, हम भी उतने ही शुद्ध हैं। कोई कभी अशुद्ध हुआ नहीं, हो नहीं सकता है, उपाय नहीं है। लेकिन तादात्म्य अशुद्ध कर जाता है। तादात्म्य पापी बना देता है, पुण्यात्मा बना देता है। ध्यान रहे, पुण्यात्मा भी शुद्ध नहीं है। क्योंकि पुण्य से तादात्म्य है उसका। कोई कहता है कि लोहे की जंजीर हूं मैं और कोई कहता है, सोने की जंजीर हूं मैं। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है? बाजार में कीमत अलग होगी सोने और लोहे की, लेकिन तादात्म्य जारी है। कोई कहता है, पापी हूं मैं, कोई कहता है, पुण्यात्मा हूं मैं। जब तक हम कहते हैं, 'यह हूं मैं', तब तक हम अशुद्ध अपने को नाहक किए चले जाते हैं। होते नहीं और फिर भी किए चले जाते हैं। जिस दिन हम कह देते हैं, यह भी नहीं हूं मैं, वह भी नहीं हूं—नेति-नेति जिस दिन हम कह देते हैं—नाट दिस, नाट दैट। मैं तो वह हूं, जिनमें सब प्रतिबिम्बित होता है। मैं तो वह दर्पण हूं, जिसमें सब छायाएं बनती हैं और खो जाती हैं। मैं हूं शून्य, जिसमें सब झलकता है और बिदा हो जाता है। न मालूम कितने जन्म झलके। न मालूम कितने शरीर झलके। न मालूम कितने रूप, न मालूम कितनी आकृतियां। न मालूम कितने अर्जित गुण, न मालूम कितनी योग्यताएं। कितने पद, कितनी उपाधियां।

अनन्त-अनन्त यात्रा है, लेकिन झील एक है। और झील सदा निर्मल है। झील के किनारे पर से यात्री गुजरते जाते हैं, झील में नए-नए प्रतिबिम्ब बनते जाते हैं और झील सोचती चली जाती है, यह हूं मैं, यह हूं मैं। कभी राह से गुजरता है कोई चोर और झील कहती है, चोर हूं मैं। और कभी राह से गुजरता है कोई साधु और झील कहती है, साधु हूं मैं। और कभी राह से गुजरता है कोई पुण्यात्मा और झील कहती है, पुण्यात्मा हूं मैं। और कभी गुजरता है कोई पापी और झील कहती है पापी हूं मैं। और झील कहे चली जाती है और राह के किनारे से काफिले गुजरते चले जाते हैं प्रतिबिम्बों के। और इतनी तेजी से गुजरते हैं वह कि एक प्रतिबिम्ब मिट नहीं पाता है कि दूसरा बन जाता है। बीच में क्षण नहीं मिलता कि हम देख लें उस झील को, जिसमें कोई प्रतिबिम्ब नहीं है।

ध्यान की प्रक्रिया उस बीच के गैप को देने की है—एक अन्तराल, एक इन्टरवल देने की है। जब कोई प्रतिबिम्ब नहीं बनता और बीच में हम झांक कर देख लेते हैं कि मैं तो झील हूं, काफिला नहीं हूं—वह जो गुजरता है किनारे से, वह नहीं हूं। वह जो चित्र मुझ पर बनते हैं, वह मैं नहीं हूं। मैं तो वह हूं, जिस पर सब बनता है और जो फिर भी अन-बना है। मैं अन-बना छूट जाता हूं—अनिर्मित, असृष्ट। ये तीन बातें ख्याल में ले लें। बाकी और जो बातें ईशावास्य ने गिनायी

हैं, वह इनके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही रत हैं वे मानों उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥९॥

बहुत गहन और बहुत गहरे तल से कही गयी है बात। बड़े साहस की उद्घोषणा है। ऋषि ही कह सकते हैं। कहा है कि जो अविद्या के मार्ग पर चलते हैं वे तो अन्धकार में भटकते ही हैं, जो विद्या के मार्ग पर चलते हैं वे महा अन्धकार में भटक जाते हैं। मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे साहस की उद्घोषणा दूसरी खोजनी मुश्किल है। दूसरा समानान्तर सूत्र पूरे मनुष्य-जाति के इतिहास में खोजना मुश्किल है इतने साहस का, जिसमें कहा है, अज्ञानी तो भटकता ही है अन्धकार में, ज्ञानी महा अन्धकार में भटक जाते हैं। जिसने कहा है उसने बड़े गहरे जान कर कहा है। अज्ञानी भटकते हैं, यह हमारी समझ में आ जाता है, इसमें कोई अड़चन नहीं है। बात सीधी और साफ है निश्चित ही अज्ञानी भटकते हैं। लेकिन ऋषि कहता है, अन्धकार में—गहन अन्धकार में नहीं, महा अन्धकार में नहीं। अज्ञानी केवल अन्धकार में ही भटकते हैं। फिर ज्ञानी महा अन्धकार में क्यों भटक जाते हैं? और अगर अज्ञानी अन्धकार में भटकते हैं और ज्ञानी महा अन्धकार में भटक जाते हैं तो फिर भटकने से छूटने का उपाय कहां बचा? अज्ञानी सिर्फ अन्धकार में भटकता है, बहुत गहन में नहीं। क्योंकि अज्ञान कितना ही भटकाता है, ज्यादा नहीं भटका सकता है। ज्यादा भटकाने वाला तत्व अज्ञान नहीं, अहंकार है। अज्ञान में भूलें हो सकती हैं, लेकिन अज्ञान सदा भूलों को सुधारने को तत्पर होता है। इसलिए बहुत नहीं भटकाता। अज्ञान भूलें करने को सदा ही तैयार है, लेकिन सुधारने को भी सदा तैयार है। अज्ञान की अपनी विनम्रता है। ध्यान रखें, अज्ञान की अपनी ह्युमलिटी है। इसलिए बच्चे जल्दी सीख पाते हैं, बूढ़े जल्दी नहीं सीख पाते। क्योंकि बच्चे अज्ञानी हैं, जो सुधरने को तत्पर है। भूल बतायी कि वे सुधार लेंगे। लेकिन बूढ़ों को अगर भूल बतायी तो वे नाराज हो जाते हैं, सुधारेंगे नहीं। पहले तो सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि यह भूल ही नहीं है। बच्चे को भूल बतायी तो वह राजी हो जाएगा कि भूल है। वह सुधार लेगा। इसलिए बच्चे इतने जल्दी सीख पाते हैं। बच्चे दिनों में जो

सीख लेते हैं बूढ़े वर्षों में नहीं सीख पाते। सीखने की क्षमता उनकी क्षीण हो जाती है। क्या बात है? बूढ़े के सीखने की क्षमता तो बढ़नी चाहिए। नहीं, लेकिन बूढ़ा ज्ञान के भ्रम को उपलब्ध हो जाता है। बच्चा सिर्फ अन्धकार में है, बूढ़ा एक और गहन अन्धकार में गिरता है। उसको भ्रम पैदा होता है कि मैं कुछ जानता हूं। बच्चा जानता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूं इसलिए वह सीखने को तैयार है। जो भी आप बताएं, वह राजी है। तो बच्चे अन्धकार में ही भटक सकते हैं। बूढ़े महा अन्धकार में भटक जाते हैं।

अज्ञानी विनम्र है और अज्ञान का बोध आ जाए तो महा विनम्र हो जाता है। अज्ञान का स्मरण आ जाए, याद आ जाए कि मैं अज्ञानी हूं, नहीं जानता हूं, तो अहंकार के खड़े होने के लिए जगह नहीं रह जाती। अहंकार कहां निर्माण करे अपने भवन को, उसे कोई स्थान नहीं मिलता। यह भी मजे की बात है कि अज्ञान अगर बोधपूर्ण हो जाए कि मैं अज्ञानी हूं तो भटकाव टूटने लगता है, बन्द होने लगता है, भूल-चूक बन्द होने लगती है। राह पर आने लगता है आदमी। और ज्ञानी अगर ख्याल से भर जाए कि मैं ज्ञानी हूं तो महा अन्धकार में उतरना शुरू हो जाता है। अज्ञानी को ख्याल आ जाए कि मैं अज्ञानी हूं तो प्रकाश की तरफ यात्रा शुरू हो जाती है। और ज्ञानी को ख्याल आ जाए कि मैं ज्ञानी हूं तो महा अन्धकार की तरफ कदम उठने शुरू हो जाते हैं। क्योंकि अज्ञान की स्मृति विनम्रता में ले जाती है और ज्ञान का दम्भ, ज्ञान का दावा अहंकार में ले जाता है। असली भटकाव अहंकार है। अज्ञान गहन अन्धकार नहीं है। वह संध्या की भांति है। सूरज नहीं है, ज्ञान का प्रकाश अभी नहीं है। लेकिन अभी अहंकार की अन्धेरी रात भी नहीं है। संध्या की तरह है। अज्ञान द्वार पर खड़ा है, जहां से प्रकाश में भी जाया जा सकता है। लेकिन ज्ञानी को जैसे-जैसे दम्भ मजबूत होता है और ख्याल आता है कि 'मैं जानता हूं', 'मैं जानता हूं', 'मैं जानता हूं'—जितना ही यह मजबूत होता चला जाता है उतनी अन्धेरी रात शुरू होने लगती है, संध्या खो जाती है। अब वह गहरी रात में उतर रहा है। और जितना मजबूत होता चला जायगा दम्भ, उतनी रात अमावस की होती चली जाएगी।

अहंकार महा अन्धकार में ले जाता है, इसलिए बहुत मजे की घटना इस जगत् में घटती है कि ज्ञानी अपने को कहने लगते हैं कि हम अज्ञानी हैं, नहीं जानते। और अज्ञानी दावे करते चले जाते हैं कि हम जानते हैं। फिर उपाय क्या है? फिर मार्ग क्या है? अज्ञान भी भटका देता है, ज्ञान भी भटका देता है।

फिर हम जाएं कहां? हम करें क्या? कहां से है मार्ग?

दो बातें ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं। एक तो सदा अपने अज्ञान के स्मरण को बढ़ाते चले जाएं। अज्ञान का स्मरण अज्ञान की हत्या है। टु बीकम अवेयर ऑफ वन्स इगनोरेंस—बस अज्ञान कटने लगा। यह बोध कि मैं अज्ञानी हूं ऐसा ही है,

जैसे किसी ने दीया जला दिया हो और कमरे के भीतर अंधेरे को खोजने चला गया हो। और कहा कि मैं दीया जलाकर देखूं कि अंधेरा कहां है। दीया जला और अंधेरे को खोजने निकल पड़ा। अंधेरा फिर कहीं नहीं मिलेगा। बोध घना हुआ भीतर कि मैं जानूं कि कहां-कहां अज्ञान है और अज्ञान जहां-जहां है, वहां जाऊं और जानूं कि यहां-यहां अज्ञान है। जहां-जहां गए बोध के दीये को लेकर, वहां-वहां अज्ञान नहीं है। तो पहली बात कि अज्ञान की स्मृति—रिमेंबरेंस—स्मरण कि मैं अज्ञानी हूं। अगर कभी भी ज्ञान के जगत में प्रवेश करना हो तो अज्ञान के प्रति होश से भर जाना। और दिन-रात खोज में लगे रहना कि कहां-कहां मेरा अज्ञान है। और जहां अज्ञान दिखायी पड़े वहां तत्काल स्वीकार करना, क्षणभर की देर मत करना। और जो दर्शा दे कि यह अज्ञान है उसके चरणों पर सिर रख देना, वह गुरु हो गया। और अपने अज्ञान को सिद्ध करने की कोशिश मत करना कि नहीं है, क्योंकि मन कोशिश करेगा। अहंकार कहेगा कि मानो मत। मैं और अज्ञानी! कभी नहीं! इसलिए हम सब अपने अज्ञान की जिद किए चले जाते हैं। हम सब कहे चले जाते हैं कि यही ठीक है।

जिन्हें कुछ भी पता नहीं है वे ठीक के बड़े दावे करते हैं। जिन्हें राह के किनारे पड़े पत्थर का भी कोई पता नहीं, वे भी परमात्मा के सम्बन्ध में दावे किए चले जाते हैं कि मेरा ही परमात्मा ठीक है। जिन्हें कुछ भी पता नहीं उनके दावों का कोई अन्त नहीं है। अज्ञान बड़ा दावेदार है। वह दावे करता है। दावे से बचना। और अगर दावा ही करना हो तो सिर्फ अज्ञानी होने का करना। कहना कि नहीं जानता हूं। और जितना अवसर मिले, जितनी सुविधाएं मिलें, जितनी स्थितियां मिलें, जहां आपका अज्ञान प्रकट होता हो, वहां जरूर रुक जाना और जान लेना कि अज्ञानी हूं। जो आपके अज्ञान की तरफ इशारा करे, उसे गुरु बना लेना। लेकिन हम गुरु उसे बनाते हैं, जो हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। जिसके पास जाकर हम थोड़ी ज्ञान की बातें सीख कर और दम्भ से भर कर लौट आएं और कहें कि अब हम भी जानते हैं। जो हमारे ज्ञान के दम्भ को घना करे, उसे हम गुरु कहते हैं। और गुरु असल में वह है, जिसके पास जाकर हमें पता लगे कि हमसे अज्ञानी और कोई भी नहीं है। जो हमारे ज्ञान को छीन ले, जो हमारे ज्ञान के दावों को तहस-नहस कर दे, जो हमारे अहंकार के भवन को भूमिसात् कर दे, जो हमें गिरा दे जमीन पर और कह दे कि कुछ भी तो नहीं हो, कहीं भी तो नहीं हो। कुछ भी तो नहीं जाना है। वही है गुरु—जिससे ज्ञान मिलता है वह नहीं—जिससे हमें अज्ञान का स्मरण मिलता है। और ध्यान रहे, अज्ञान का स्मरण ज्ञान में ले जाता है। और ज्ञान का संग्रह महा अन्धकार में ले जाता है। तो पहली बात,—अज्ञान के प्रति जागना, होश से भरना, अज्ञान को पहचानना, खोजना। अपने को जानना कि महा अज्ञानी हूं।

दूसरी बात, जहां-जहां ख्याल आए कि मैं जानता हूं, वहां एक बार रीकंसीडर करना, पुनर्विचार करना। जहां-जहां ख्याल आए कि मैं जानता हूं, फिर से सोचना—सच में जानता हूं? और एक ही बार सोचना काफी हो जाएगा। ईमानदार होना और एक बार फिर से सोच लेना कहने के पहले कि मैं जानता हूं? अज्ञान के प्रति भी होश से भरना और ज्ञान के प्रति भी सचेत रहना कि सच में मैं जानता हूं? वस्तुतः मुझे पता है? और जब इसकी जांच करने बैठेंगे तो पता चलेगा; शब्दों का पता है, सिद्धान्तों का पता है, शास्त्रों का पता है, सत्य का कोई भी पता नहीं जिनके मन में भरे हैं शास्त्र, भरे हैं शब्द, बोझ लिए हैं जो शब्दों का, दावे हैं जिनके, वे ज्ञानी ही ऋषि के लिए इस सूत्र में मजाक का कारण बने हैं। कहा है, वे महा अन्धकार में भटक जायेंगे।

सुना है मैंने, एक ईसाई पादरी एक सांझ अपने चर्च में बोलता है रविवार को। ज्ञानी है, लेकिन उस दिन ऐसा हो गया कि चश्मा लाना भूल गया। आधा ज्ञान मुश्किल में पड़ गया। क्योंकि सब लिख कर लाया था। चश्मे के बिना आधा ज्ञान मुश्किल में पड़ गया। पर अब बताना भी कठिन था कि चश्मा घर भूल आया हूं। लोग मौजूद थे, सुनने को तैयार थे। तो उसने सोचा कि बिना इसके आज काम चला लूं। कागज में से कुछ देख-देख कर बोलना शुरू किया। भूलें होनी निश्चित थीं। क्योंकि जो भी कहा जा रहा था वह स्मृति से कहा जा रहा था। और आज स्मृति का बड़ा सहारा घर छूट गया था। ज्ञान से तो कुछ कहा नहीं जा रहा था नहीं तो बिना आंखों के भी कहा जा सकता है, चश्मे की तो जरूरत ही क्या है। जान कर तो कुछ कहा नहीं जा रहा था—स्मरण, स्मृति, मेमोरी से कुछ कहा जा रहा था। सहारा छूट गया था। बीच में बोल रहा था जीसस के चमत्कारों के सम्बन्ध में तो गलती हो गयी। कहा कि जीसस जंगल में थे अपने शिष्यों के साथ। तो जीसस के चमत्कारों में एक चमत्कार है कि चौबीस हजार शिष्य साथ थे और केवल छः रोटियां थीं। तो जीसस ने सबको खिला दिया खाना, फिर भी रोटियां बच गयीं। चौबीस हजार शिष्य थे, लेकिन भूल हो गयी और उसने कहा, छः शिष्य थे और चौबीस हजार रोटियां थीं और जीसस ने सब को खाना खिला दिया और देखो चमत्कार कि रोटियां फिर भी बच गयीं।

अधिक लोग तो सोये थे, जैसा कि मन्दिर और मस्जिद और चर्च में होता है। तो उन्होंने कुछ ख्याल न दिया। कुछ जो जाग रहे थे उन्होंने सुना। लेकिन मन्दिर में और मस्जिद में जाने वाले लोग बुद्धि तो घर रख जाते हैं। सुना जरूर, लेकिन समझे नहीं। सिर्फ एक आदमी थोड़ा बेचैन हुआ कि मामला क्या है? यह कैसा चमत्कार है! छः आदमी, चौबीस हजार रोटियां! उसने खड़े होकर कहा, महाशय, यह भी कोई चमत्कार हुआ? यह तो कोई भी कर सकता है। पादरी गुस्से से भर गया। उसे पता भी नहीं था कि भूल हो गयी है। वह समझ रहा

था कि उसने यही कहा है कि छः रोटियां थीं और चौबीस हजार शिष्य थे। पादरी को तो जैसे आग ही लग गयी। उसने कहा, कोई भी कर सकता है? तुम जीसस का अपमान कर रहे हो! उस आदमी ने कहा, महाशय, कोई भी क्या, मैं खुद ही कर सकता हूं।

पादरी को कुछ समझ में न आया। बाद में उसने लोगों से पूछा। किसी ने कहा, आपसे भूल हो गयी। आप उल्टा बोल गए। चौबीस हजार रोटियां बोल दी आपने, छः शिष्य बोल दिए, तो ठीक ही है, यह तो कोई भी कर सकता है। इसमें कोई चमत्कार ही न था।

पादरी ने सोचा, यह तो बहुत दुःखद हो गया। ज्ञानी को भारी धक्का पहुंचा। उसने सोचा, अगली बार उस आदमी को ठीक रास्ते पर लगाना जरूरी है। वह दूसरी बार पूरी तैयारी करके आया। फिर उसने चर्चा के दौरान चमत्कार की बातें निकालीं। और कहा कि जीसस गए जंगल में। चौबीस हजार शिष्य थे, ठीक से सुन लेना, और छः रोटियां थीं और जीसस ने लोगों को खाना खिला दिया। सबके पेट भर गए, फिर भी रोटियां बच गयीं।

फिर उसने उस आदमी की तरफ देखा, जिसने पिछली बार उसे दिक्कत में डाल दिया था। और कहा, क्यों भाई, अब भी कर सकते हो चमत्कार? उस आदमी ने खड़े होकर कहा, हां, अब भी कर सकता हूं। अब तो वह पादरी बहुत घबरा गया। उसने कहा, अब तुम कैसे कर सकते हो? उस आदमी ने कहा कि पिछली दफे की जो रोटियां बची हैं उनके द्वारा!

शब्दों का जाल, कण्ठस्थ शब्द और शास्त्र मखौल ही हैं, मजाक ही हैं। कुछ अर्थ नहीं हैं बहुत। और दूसरे को ठीक करने की कोशिश बड़ी अज्ञानपूर्ण है। और अपनी भूल कभी स्वीकार न करने की कोशिश बड़ी अहंकारपूर्ण है। वह गरीब पादरी इतना भी न कह सका कि मुझसे भूल हो गयी। छोटी-सी बात थी, उसी दिन कह देता कि क्षमा करें। लेकिन अहंकार भूल मानने को कभी राजी नहीं। दूसरे से भूल मनवाने को राजी है। तो दूसरी बात स्मरण रखना कि जहां भी ख्याल लगे कि मैं जानता हूं वहीं थोड़ा, फिर से एक बार सोचना। फिर से एक बार पूछना, सच, मैं जानता हूं, कि शब्द, शास्त्र, सिद्धान्त, स्मृति मात्र है? ध्यान है कुछ, जाना है मैंने कुछ? जिया है मैंने कुछ? कहीं मेरे प्राण ने अनुभव किए हैं कुछ? नाचा हूं मैं उस परमात्मा के अनुभव में? उसकी धड़कनें मैंने अपनी धड़कनों के निकट अनुभव की हैं? या कि सिर्फ रात दीये जलाये और शास्त्रों के शब्द कण्ठस्थ किए हैं? शास्त्र जिनको कण्ठस्थ हो जाते हैं, उनकी बुद्धि से किरोसिन की बास आने लगती है। मिट्टी का तेल—काफी धुंआ इकट्ठा हो जाता है। पण्डितों से ज्यादा अज्ञानी खोजना बहुत मुश्किल है।

इसलिए यह सूत्र कहता है—अज्ञानी तो भटकते ही हैं, पण्डित जन महा अन्ध-

कार में भटक जाते हैं। पण्डित बनने से तो अज्ञानी बन जाना अच्छा है। उससे रास्ता है, द्वार है। महा अन्धकार में मत जाना, अन्धकार में ही रहना बेहतर है। उससे प्रकाश में आने में सुविधा पड़ेगी। महा अन्धकार से बड़ी यात्रा करनी पड़ेगी।

आज के लिए इतना। अब हम ध्यान में लगें। अन्धकार से प्रकाश की तरफ दो-चार कदम उठायें।

●

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्या से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या से और ही फल बतलाया है । ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१०॥

प्रवचन : २२
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ७ अप्रैल, १६७१

वह अव्याख्य है

उपनिषद् अविद्या का अर्थ मात्र अज्ञान नहीं करते हैं । और विद्या का अर्थ मात्र ज्ञान नहीं करते हैं । अविद्या से उपनिषद् का अभिप्रेत भौतिक ज्ञान है । अविद्या से अर्थ है वैसी विद्या, जिससे स्वयं नहीं जाना जाता, लेकिन और सब जान लिया जाता है । अविद्या, पदार्थ विद्या का नाम है । साधारणतः भाषा कोश में खोजने जाएंगे तो अविद्या का अर्थ होगा अज्ञान । लेकिन उपनिषद् अविद्या का अर्थ करते हैं ऐसा ज्ञान, जो ज्ञान जैसा प्रतीत होता है, फिर भी स्वयं व्यक्ति अज्ञानी रह जाता है । ऐसा ज्ञान, जिससे हम और सब जान लेते हैं, लेकिन स्वयं से अपरिचित रह जाते हैं । धोखा देता है जो ज्ञान का, ऐसी विद्या को उपनिषद् अविद्या कहते हैं । अगर ठीक से अनुवाद करें तो अविद्या का अर्थ होगा साइंस । बहुत अजीब लगेगी यह बात । अविद्या का अर्थ होगा पदार्थज्ञान, परज्ञान । और विद्या का अर्थ होता है आत्मज्ञान । विद्या से सिर्फ अभिप्रेत नहीं है । विद्या से ट्रांसफर्मेशन, रूपान्तरण अभिप्रेत है । जो ज्ञान स्वयं को बिना बदले ही छोड़ जाए, उसे उपनिषद् ज्ञान नहीं कहेंगे, उसे विद्या नहीं कहेंगे । मैंने कुछ जाना और जानकर भी मैं वैसा ही रह गया, जैसा न जानने पर था तो ऐसे जानने को उपनिषद् विद्या न कहेंगे । विद्या कहेंगे तभी, जब जानते ही मैं रूपान्तरित हो जाऊं । मैंने जाना कि मैं बदला । मैंने जाना कि मैं दूसरा हुआ । जान कर मैं वही न रह जाऊं, जो मैं न जान कर था । अगर मैं वही रह गया तो वह अविद्या है । अगर मैं रूपान्तरित हो गया तो वह विद्या है । ऐसा ज्ञान जो सिर्फ एडीशन नहीं है, जो आपमें कुछ जानकारी नहीं जोड़ जाता वरन् ट्रांसफर्मेशन है, रूपान्तरण है, आपको बदल जाता है, आपको और ही कर जाता है । आपको जो नया जन्म दे जाता है, उसे उपनिषद् विद्या कहते हैं ।

सुकरात ने ठीक इसी अर्थों में, उपनिषद् के अर्थों में, एक छोटा-सा सूत्र कहा है । कहा है, नालेज इज वर्टू । ज्ञान ही सद्गुण है । यूनान में सैकड़ों वर्ष तक इस पर विवाद चला । क्योंकि साधारणतः हम सोचते हैं, अकेले ज्ञान से सद्गुण का क्या

सम्बन्ध है ? एक आदमी जान लेता है, क्रोध बुरा है। फिर भी क्रोध तो नहीं जाता। एक आदमी जान लेता है, चोरी बुरी है। फिर भी चोरी तो बन्द नहीं होती। एक आदमी जान लेता है, लोभ बुरा है। फिर भी लोभ तो जारी रहता है। लेकिन सुकरात कहता है कि जिसने जान लिया है कि लोभ बुरा है, उसका लोभ चला ही जाएगा।

जिसने जाना कि लोभ बुरा है और लोभ न गया तो अविद्या है। तो जानने का धोखा है। फाल्स नालेज है। भ्रम पैदा हुआ है। ज्ञान की कसौटी यही है कि वह आचरण बन जाए तत्क्षण, बनाना भी न पड़े। अगर कोई सोचता हो कि पहले हम जानेंगे और फिर आचरण में ढालेंगे तो फिर वह विद्या नहीं है, अविद्या है। जानते ही—जैसे कि आपके सामने रखी है कोई चीज और आपको पता चला कि जहर है। आपने जाना कि जहर है, कि जो हाथ उठता था प्याली को लिए होठों की तरफ, वह तत्काल रुक जाएगा। जाना कि जहर है और हाथ से प्याली छूटी। जानना ही आचरण बन गया तो विद्या है। और अगर जानने के बाद चेष्टा करनी पड़े, कोशिश करनी पड़े, एफर्ट करना पड़े और आचरण को बदलना पड़े तो फिर आचरण थोपा हुआ है। जबर्दस्ती लादा गया है। ज्ञान से निर्मित नहीं है। आरोपित है। और ऐसा ज्ञान जिसको आचरण बनाने के लिए आरोपित करना पड़े, जो अपने-आप आचरण न बने, उसे उपनिषद् अविद्या कहते हैं। उपनिषद् उसे विद्या कहते हैं, जिसे जाना नहीं कि जीवन बदला—इधर जला दिया, उधर अन्धेरा खो गया। अगर ऐसा हम कोई दीया बना सकें कि दीया तो जल जाए और अन्धेरा न खोए ! अगर हम ऐसा कोई दीया बना सकें कि दीया जल जाए और अन्धेरा न खोए और फिर दीया जला के हमको अन्धेरे को मिटाने की भी अलग से चेष्टा करनी पड़े, तो वह अविद्या का प्रतीक होगा। दीया जला और अन्धेरा नहीं रह जाता है। दीये का जलना अन्धेरे का मिट जाना बन जाता है। तो ऐसा दीया, ऐसी विद्या उपनिषद् के अभिप्रेत हैं। इसमें दो बातें और ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं।

ऐसा क्यों होता है कि हम जान लेते हैं, लेकिन रूपान्तरण नहीं होता। न मालूम कितने लोग मुझे आकर कहते हैं कि हमें पता है कि क्रोध बुरा है, जहर है, जलाता है, आग है, नर्क है। फिर भी क्रोध छूटता तो नहीं, जानते तो हम हैं। तो उनसे मैं कहता हूं कि तुम सोचते हो कि जानते हैं, यहीं तुम्हारी भूल हो रही है। तुम सोचते हो, जानते तो हम हैं, अब हम क्या करें जिससे कि क्रोध बन्द हो जाए। यहीं तुम्हारी भूल हो रही है। तुम जानते नहीं हो। तुम्हें पता नहीं है कि सच में ही क्रोध नर्क है। क्या यह सम्भव है कि किसी को पता हो कि क्रोध नर्क है और वह क्रोध के बाहर छलांग न लगा जाए ?

बुद्ध ने एक जगह कहा है कि एक व्यक्ति को मैंने समझाया। एक दुख था

उसका जीवन, पीड़ा से भरा था। चारों ओर सिवाए चिन्ताओं के उसके जीवन में कुछ भी न था। मैंने उससे कहा, तू इन सारी चिन्ताओं को छोड़ कर बाहर आ जा। मैं तुझे मार्ग बता देता हूं। उस आदमी ने कहा, मार्ग आप अभी बता दें, फिर बाद में मैं कोशिश करूंगा बाहर आने की—आहिस्ता, क्रमशः। तो बुद्ध ने कहा, तू उस आदमी जैसा है, जिसके घर में आग लगी हो। हम उससे कहें कि तेरे घर में आग लगी है और वह कहे कि आपने बताया तो बड़ी कृपा है। अब मैं क्रमशः, आहिस्ता, धीरे-धीरे बाहर निकलने की कोशिश करूंगा। बुद्ध ने कहा, अच्छा होता, वह आदमी कह देता कि तुम झूठ कहते हो, मुझे कोई आग दिखाई नहीं पड़ती। लेकिन वह यह नहीं कहता। वह यह कहता है कि माना, तुम ठीक कहते हो, आग लगी है, लेकिन मैं धीरे-धीरे निकलूंगा। आग अगर सच में ही दिखाई पड़ जाए तो कोई धीरे-धीरे निकलता है ? छलांग लगाकर बाहर हो जाता है। बताने वाला भले पीछे रह जाए। जिसे पता चले कि आग लगी है, वह तो पहले बाहर हो जाएगा। धन्यवाद भी बाहर ही देगा घर के। तो बुद्ध ने कहा कि तुम कहते हो, माना कि आग लगी है, लेकिन तुम्हें आग दिखाई नहीं पड़ती है। तुम व्यर्थ ही हां भर रहे हो। तुम खोजने का कष्ट भी उठाना नहीं चाहते। तुम मेरी बात को कसौटी पर कसने की चेष्टा भी नहीं करना चाहते। तुमने आंख खोल कर भी नहीं देखा चारों तरफ कि आग लगी है। तुम मान लिए और इसलिए तुम्हारे मन में अब यह सवाल उठता है कि आग तो लगी है, अब मैं धीरे-धीरे निकलूंगा। मुझे कोई विधि, कोई मैथड बता दें कि मैं कैसे बाहर हो जाऊं।

जब मुझसे कोई कहता है कि मैं जानता हूं कि क्रोध बुरा है और फिर भी क्रोध से छुटकारा नहीं होता तो उससे मैं कहता हूं कि अच्छा हो कि तुम जानो कि तुम नहीं जानते हो कि क्रोध बुरा है। जानते तो तुम यही हो कि क्रोध अच्छा है। हम अच्छे को ही किए चले जाते हैं। लोगों से हमने सुन लिया है कि क्रोध बुरा है। सुने हुए को ज्ञान मान लिया है, वह अविद्या है। वह विद्या नहीं है।

फिर विद्या कैसी होगी ?

जानना पड़ेगा स्वयं ही कि क्रोध बुरा है। क्रोध से गुजरना पड़ेगा। क्रोध की आग में तपना पड़ेगा, क्रोध की पीड़ा और कष्ट झेलना पड़ेगा। क्रोध की अग्नि में जब सब अंग जलेंगे और प्राण उत्तप्त होंगे और जीवन धुआं-धुआं हो जाएगा, तब किसी से पूछने नहीं जाना पड़ेगा कि क्रोध बुरा है। तब किसी से समझने नहीं जाना पड़ेगा कि क्रोध बुरा है। और तब क्रोध से बाहर कैसे हो जाएं इसकी कोई विधि, कोई उपाय, कोई साधना नहीं खोजनी पड़ेगी। यह जानना ही कि क्रोध आग है, क्रोध से छुटकारा बन जाता है। ऐसे ज्ञान का नाम विद्या है।

उस ज्ञान को उपनिषद् विद्या कहते हैं, जो अपने में ही मुक्ति है। जो ज्ञान स्वयं में मुक्ति नहीं है, वह विद्या नहीं है। हम सबके पास बहुत विद्या है। हम

सभी कुछ न कुछ जानते हैं। कहना चाहिए, बहुत कुछ जानते हैं। उपनिषद् से पूछें तो हमारा जानना क्या है। हमारे जानने को उपनिषद् अविद्या कहेगा। हमारे जानने को विद्या नहीं कहेगा। क्योंकि हमारा जानना हमें छूता ही नहीं है। हमें बदलता ही नहीं है। हमें स्पर्श ही नहीं करता। हम वही के वही रह जाते हैं, जानना बढ़ता चला जाता है। जानना एक संग्रह की भांति है, हम उससे दूर ही रह जाते हैं। जानने की तिजोरी में संग्रह बढ़ता चला जाता है और हम वही के वही रह जाते हैं। तिजोरी बड़ी होती चली जाती है, संग्रह बड़ा होता चला जाता है। एकूमेलेशन है वह, जिसे हम अभी ज्ञान कह रहे हैं। इसे ज्ञान जिसने समझा, वह बुरी तरह भटक जाएगा। इसे अविद्या समझना। विद्या तो सिर्फ उसे ही समझना जो आप में जुड़ती न हो, आपको बदलती हो। जो आपके साथ संग्रहीत न होती हो, आपको रूपान्तरित कर जाती हो। विद्या तो वही है, जिसे याद न रखना पड़े, जो आपका जीवन बन जाती हो। विद्या तो वही है जो स्मृति न बने, जो आपका प्राण बन जाए। ऐसा नहीं कि आप स्मृति से समझें कि क्रोध बुरा है। ऐसा कि आपका आचरण कहे कि क्रोध बुरा है। ऐसा नहीं, कि आप घर की दीवारों पर लिख दें कि लोभ पाप है, वरना आपकी आंख कहें, आपके हाथ कहें, आपका चेहरा कहे कि लोभ पाप है। आपका समग्र व्यक्तित्व कहे कि लोभ पाप है, तब विद्या है।

उपनिषद् ने विद्या को बड़ा आदर दिया है। उस शब्द को बड़ी कीमत दी है। वह जीवन को बदलने की कीमिया है। हम जिसे विद्या समझते हैं वह केवल आजीविका चलाने की व्यवस्था है। एक आदमी डाक्टर है, एक आदमी इंजीनियर है, एक आदनी दुकानदार है। उन सबके पास विद्याएं हैं, लेकिन उनसे जीवन नहीं बदलता है, सिर्फ जीवन चलता है। उनसे जीवन नया नहीं होता, सिर्फ सुरक्षित होता है। उनसे जीवन में कोई नए फूल नहीं खिलते, सिर्फ जीवन की जड़ें नहीं सूख पातीं। उनसे जीवन में कोई आनन्द नहीं आता, लेकिन दुख के लिए सुरक्षा, आयोजन, व्यवस्था निर्मित हो जाती है। हम जिसे विद्या कहते हैं वह सिर्फ आजीविका को कुशलता से चलाए रखने की सुविधा है। उपनिषद् उसे अविद्या कहते हैं। विद्या कहते हैं उसे, जिससे जीवन चलता नहीं, बदलता है। जिससे जीवन आगे की तरफ खिंचता नहीं, ऊपर की तरफ उठता है। ध्यान रहे, अविद्या हॉरिजेंटल है—क्षितिज की रेखा में चलती है। विद्या वर्टिकल है,—आकाश की तरफ उठती है। बैलगाड़ी की तरह है अविद्या, जमीन पर चलती है। हवाई जहाज की तरह टेकऑफ नहीं है उसमें। जमीन को छोड़कर वह ऊपर नहीं उठ जाती। जमीन पर ही चलती चली जाती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यात्रा पूरी हो जाती है, लेकिन तल नहीं बदलता, तल वही होता है। जहां हम जन्मते हैं, जिस तल पर, उसी तल पर हम मरते हैं। अक्सर झूला ही कब्र होता है। कोई बहुत फर्क नहीं

होता है, तल वही होता है, वहीं के वहीं होते हैं। हॉरिजेंटल, क्षितिज की रेखा में चलते हुए सभी अपनी-अपनी कब्र खोज लेते हैं। क्योंकि झूलों से बहुत दूर नहीं होती वह। और दूर हो तो भी तल भेद नहीं होता। तल वही होता है, स्तर वही होता है।

विद्या है वर्टिकल—आकाश की तरफ उठती, ऊर्ध्वगामी। ऊपर की तरफ जाती हुई। तल बदलता है। आप वही नहीं रहते। जाना कि आप दूसरे हुए। बुद्ध या महावीर या कृष्ण हमारे पास खड़े होते हैं, लेकिन हमारे पास होते नहीं। हमारे बिल्कुल पड़ोस में खड़े होते हैं, हमारे शरीर से शरीर लगा कर। फिर भी हमारे पास होते नहीं हैं। वे किन्हीं और ही शिखरों पर होते हैं। शरीर ही हमारे पास मालूम होता है। उनका अस्तित्व हमारे पास नहीं होता। विद्या से गुजरे हैं वे। वे ज्ञानी हैं।

उपनिषद् का यह सूत्र कहता है, अविद्या के अपने गुण हैं, विद्या के अपने गुण हैं। अविद्या के अपने गुण हैं, अविद्या का अपना उपयोग है, युटिलिटी है। उपनिषद् ये नहीं कहते कि अविद्या को नष्ट कर दो। उपनिषद् कहते यह हैं कि अविद्या को विद्या मत मानना—बस, इतना ही। ऐसा नहीं कि आकाश की तरफ बढ़ते चले जाओ और जमीन पर जियो ही मत। सच तो यह है कि जिन्हें आकाश में ऊपर उठना है उन्हें भी अपने पैर जमीन पर टिकाए रखने पड़ते हैं।

नीत्से ने कहीं कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश छूना हो उसकी जड़ों को पाताल छूना पड़ता है। जितना ऊंचा जाता है वृक्ष उतना ही नीचे भी जाता है। जो वृक्ष आकाश के तारों को छूने की चेष्टा करता है, अभीप्सा करता है, उसकी जड़ों को नीचे, और नीचे उतरते जाना है। जितनी गहरी हों जड़ें, उतना ही ऊपर उठ पाता है। अविद्या के विरोध में नहीं हैं उपनिषद्। यह भी बड़ी भ्रान्ति हुई। इसे आपसे कहना चाहूंगा। क्योंकि इस भ्रान्ति के कारण पूरब ने इतना दुख सहा, इतनी पीड़ा उठायी, जिसका कोई हिसाब नहीं। उपनिषद् को ठीक समझा नहीं जा सकता। हम यह भूल करते हैं कि अविद्या को विद्या मान लेते हैं। उपनिषद् इसके विरोध में हैं। वह कहते हैं, अविद्या विद्या नहीं है यह डिसटिंक्शन, यह भेद-रेखा ठीक से समझ लेना है। तो हम दूसरी भूल करते हैं। असल में हम भूल करने की जिद में हैं। या तो हम वह भूल करेंगे या हम विपरीत भूल करेंगे। या तो हम भूल करते हैं कि अविद्या को विद्या मान लेते हैं। अभी हमारे जितने विद्यालय हैं उन सबको अविद्यालय कहा जाना चाहिए उपनिषद् के हिसाब से। क्योंकि वहां विद्या का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। हमारे जो विद्यापीठ हैं वह अविद्यापीठ हैं। और हमारे जो विद्यापीठों के कुलपति हैं, वे अविद्याओं के कुलपति हैं। वहां से सिर्फ अविद्या फैलती है, लेकिन उपनिषद् अविद्या के विरोध में नहीं हैं। उपनिषद् कहते हैं, उसे विद्या मत समझ लेना, इस भूल में मत पड़

जाना। भेद को साफ समझ लेना। वह अविद्या है और अविद्या का अपना गुण है, अपनी युटिलिटी है। ऐसा नहीं है कि डाक्टर की जरूरत नहीं है। ऐसा नहीं है इंजीनियर बेमानी है। ऐसा भी नहीं है कि दुकानदार न हो तो अच्छा है। नहीं, दुकानदार भी जरूरी है, डाक्टर भी, इंजीनियर भी, सड़क साफ़ करने वाला भी, मकान बनाने वाला राजगीर भी, सब जरूरी हैं। सबकी उपयोगिता है। लेकिन उस आजीविका की विद्या को अगर किसी ने जीवन की कला समझ लिया तो भूल हो गयी। तो फिर वह सिर्फ रोजी-रोटी कमाएगा और मर जाएगा।

जीसस का वचन है, यू कैनाट लिव बाई ब्रेड अलोन—सिर्फ रोटी से नहीं जी सकोगे तुम। यद्यपि इसका यह मतलब नहीं है कि रोटी के बिना जी सकोगे तुम। अकेली रोटी से नहीं जी सकोगे तुम। अकेली रोटी भी कोई जीवन होती है? जीवन की जरूरत है रोटी, जीवन नहीं है। रोटी के बिना जीवन नहीं विकसित हो सकेगा, नहीं खड़ा रह सकेगा, लेकिन फिर भी रोटी जीवन नहीं है। नीव में हम पत्थर भरते हैं मकान के। नीव में भरे हुए पत्थर के बिना मकान खड़ा नहीं होगा। लेकिन ध्यान रखना, नीव में भरे हुए पत्थर मकान नहीं हैं। और अगर सिर्फ नीव भर कर आप बैठ गए तो आप इस भ्रान्ति में मत रहना कि मकान बन गया। इसका यह मतलब भी नहीं है कि नीव नहीं भरी तो मकान बन जाएगा। नीव तो भरनी ही पड़ेगी। वह नेसेसरी ईविल है। वह जरूरी बुराई है, जो करनी पड़ेगी। उपनिषद् कहते हैं कि अविद्या का अपना गुण है। वह गुण हैं आजीविका। वह गुण हैं, जीवन का वह जो बाह्य रूप है, जो शरीरगत जीवन है, उसको चलाए रखने की व्यवस्था। पर उसे ही सब कुछ मत समझ लेना। वह जरूरी है, लेकिन काफी नहीं है। इट इज नेसेसरी, बट नाट इनफ—आवश्यक तो है, पर्याप्त नहीं। उतने से सब नहीं हो जाएगा।

पूरब के मुल्कों ने, विशेषकर भारत ने दूसरी भूल की। कहा कि जब उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं कि अविद्या है यह, तो छोड़ो अविद्या। हम विद्या ही पकड़ें। इसलिए पूरब में विज्ञान विकसित न हो पाया। जिसे हमने मान लिया अविद्या है उसे छोड़ दिया। इसलिए पूरब दीन और दरिद्र और गुलाम हो गया। अविद्या को या तो हम इतना पकड़ने को राजी थे कि आत्महीन हो जाते या हम अविद्या को इतना छोड़ने को उत्सुक हो गए कि शरीर से, बाह्य जीवन से दीन-हीन हो गए। उपनिषद् कहते हैं, दोनों की उपादेयता है। दोनों अलग आयाम में अलग डायमेन्शन में जरूरी हैं। अविद्या की अपनी जगह है। अविद्या छोड़ देने की नहीं है, बस अविद्या को सब कुछ नहीं मान लेना है। विद्या का अपना गुण है। और इस सूत्र में एक बात और ऋषि ने कही है कि ऐसा हमने उनसे सुना, जो जानते हैं। इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

कहते हैं, ऐसा हमने उनसे सुना, जो जानते हैं। क्या उपनिषद् का यह ऋषि, जिसने यह वचन कहा, स्वयं नहीं जानता? क्या इसने सुना है जो, वही कह रहा है? इसे स्वयं पता नहीं है? सुनी हुई बात कही जा रही है? नहीं! इस बात को भी थोड़ा ठीक से समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इससे बड़ी भ्रान्ति हुई है। पुराने दिनों में, जब ये उपनिषद् के वचन रचे गए तब—तब अभिव्यक्ति का जो रूप था वह समझ लेना चाहिए। कोई भी व्यक्ति कभी ऐसा नहीं कहता था कि मैं जानता हूं। कारण थे उसके। कारण यह नहीं था कि वह नहीं जानता था। कारण यह था कि जानने के बाद 'मैं' नहीं बचता है। इसलिए अगर यह उपनिषद् का ऋषि कहे कि ऐसा मैं जान कर कह रहा हूं तो उस जमाने के लोग हंसे होते और कहते कि तब तुम मत कहो, क्योंकि अभी तुम जान नहीं सके हो, क्योंकि अभी 'मैं' मौजूद है। तो उपनिषद् का वह ऋषि जानता है भलीभांति, पर वह कहता है, ऐसा हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। और मजा यह है, जिनसे उसने सुना है, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है कि हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। और जिनके सम्बन्ध में वह कह रहे हैं, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है कि हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। इसके पीछे राज है। इसके पीछे व्यक्तिगत दावा नहीं है। इसके पीछे कोई इगोइस्टिक क्लेम नहीं है। इसके पीछे ऐसा नहीं है कि मैं जानता हूं। क्योंकि जानने वाले का 'मैं' कहां बचता है। इसलिए कहते हैं, जो जानते हैं। और, और मजे की बात आपसे कहना चाहूंगा कि 'जो जानते हैं, उनसे हमने सुना है' इसमें वह व्यक्ति स्वयं भी सम्मिलित है जो जानते हैं, यह थोड़ा कठिन पड़ेगा समझना।

जैसा मैंने सुबह आपसे कहा कि मैं आपसे कुछ कह रहा हूं तो जैसा आप सुन रहे हैं, वैसा मैं भी सुन रहा हूं। जो बोलने वाला सुनने वाला भी नहीं है, उस बोलने वाले को कुछ भी पता नहीं। सत्य रेडीमेड नहीं होते। पूर्वनिर्मित नहीं होते। आविर्भूत होते हैं। सहज जात होते हैं, स्पोंटेनियस होते हैं। ऐसे ही निकलते हैं, जैसे वृक्षों से फूल निकलते हैं और सुगन्ध निकलती है। अगर मैं कुछ आपसे कह रहा हूं तो दो तरह से कहा जा सकता है। एक तो यह कि मैंने उसे पहले तय किया, तैयार किया, फिर आपसे कहूं तो वह बासा हो गया। तब वह ताजा नहीं रहा। तब वह जीवन्त भी नहीं रहा। तब वह मुर्दा हो गया। तब वह मरा हुआ हो गया। लेकिन जो आ रहा है, वह आपसे कहता हूं तो जिस भांति आप उसे सुन रहे हैं पहली बार, उसी तरह मैं भी सुन रहा हूं। तो मैं भी एक श्रोता हूं। आप ही श्रोता हैं, ऐसा नहीं, मैं भी फिर श्रोता हूं। तो उपनिषद् का ऋषि कहता है, जो जानते हैं, उनसे हमने सुना है। इसमें जिन्होंने जाना है, उनसे तो सुना ही है, अगर खुद भी जाना है तो खुद भी सुना है। उसके लिए भी ऋषि अपने को श्रोता ही कह रहा है, सुनने वाला ही कह रहा है।

और भी एक कारण है। जब भी कोई व्यक्ति परम सत्य को उपलब्ध होता है

तो परम सत्य ऐसा मालूम नहीं पड़ता कि मैंने बना लिया है । परम सत्य ऐसा मालूम पड़ता है कि मुझ पर उतरा है । अवतरित हुआ है । परम सत्य ऐसा मालूम नहीं पड़ता कि मेरा क्रिएशन है, मेरा निर्माण है । बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे समक्ष एक रिविलेशन है, एक उद्घाटन है, एक इलहाम है । अगर कोई मौहम्मद से पूछे कि कुरान तुमने लिखी है ? तो मौहम्मद कहेंगे कि क्षमा करना, ऐसे पाप की बात मुझसे मत कहना । मैंने कुरान सुनी है । मैंने कुरान देखी है । मैंने कुरान लिपिबद्ध की है सुन कर । मैंने नहीं लिखी है । इसलिए मौहम्मद पैगम्बर हैं । पैगम्बर का अर्थ है मैसेंजर—वन हू हैज डिलीवर द मैसेज । जिसने सिर्फ खबर पहुंचा दी, उसे खबर दी गयी थी । सत्य उसके सामने प्रगट हुआ था, उसने आकर आपको कह दिया कि सत्य ऐसा है । यह सत्य उसका निर्मित नहीं है । इसलिए हमने ऋषियों को द्रष्टा कहा । स्रष्टा नहीं कहा, द्रष्टा कहा । क्रिएटर नहीं, सीअर । नहीं कहा कि उन्होंने सत्य का सृजन किया, कहा कि उन्होंने सत्य को देखा । इसलिए हमने, जो उन्होंने देखा उसको दर्शन कहा । चाहे दर्शन हम कहें, चाहे श्रवण हम कहें, यह ऋषि असल में कह यह रहा है कि सत्य हमसे मुक्त और पृथक् है । हम उसे बनाते नहीं । हम उसे निर्माण नहीं करते । हम केवल सुनते हैं, जानते हैं, देखते हैं । हम साक्षीभर हैं । साक्षी कहें, द्रष्टा कहें, श्रोता कहें —पैसेविटी का ध्यान रखें ।

ऋषि कह रहा है कि हम पैसिव हैं, ऐक्टिव नहीं । एक तो आप जब कुछ निर्मित करते हैं तो आप एक्टिव होते हैं, सक्रिय होते हैं । जब आप कुछ ग्रहण करते हैं—एक चित्रकार एक फल बना रहा है, तब वह एक्टिव एजेंट है । तब वह सक्रिय काम कर रहा है । पर एक चित्रकार एक गुलाब के फूल के पास खड़े होकर उसका दर्शन कर रहा है, तब वह पैसिव एजेंट है । तब वह कुछ कर नहीं रहा है, सिर्फ ग्राहक है, रिसेप्टिव है । सिर्फ अपने दरवाजे खुले छोड़ दिए हैं उसने । खिड़कियां, द्वार मन के खुले छोड़ दिए । फूल को कहा, आ जा ! निमन्त्रण दे दिया । हृदय पर लटका दिया—'स्वागत है' और चुप खड़ा हो गया । तब वह रिसेप्टिव है । तब फूल भीतर जाएगा, और हृदय पर उसकी पंखुड़ियां स्पर्श करेंगी । प्राणों में उसकी सुगन्ध गूंजेगी । जो ग्राहक की भांति फूल को अपने भीतर ले गया है, उसके प्राण के कोने-कोने तक फूल खिल जाएगा । लेकिन यहां वह जो ग्राहक है, वह पैसिव है । वह सिर्फ ग्रहण करता है ।

उपनिषद् का यह ऋषि कहता है, ऐसा सुना हूं मैं । इसमें वह खबर दे रहा है कि सत्य केवल उन्हें ही उपलब्ध होता है, जो पैसिव हैं । पैसिविटी इज द डोर—ग्रहणशीलता है द्वार । जैसे कि सूरज निकलता है दरवाजे के बाहर । हम सूरज को भीतर ला नहीं सकते । द्वार खोलकर बैठ सकते हैं—और द्वार खुला है तो सूरज भीतर आ जाएगा । उसकी किरणें धीरे-धीरे नाचते-नाचते घर के भीतर कोने-कोने

तक पहुंचने लगेंगी । तब हम यह नहीं कह सकते कि हम सूरज को घर के भीतर ले आए । ले आना जरा ज्यादा कहना होगा । हम इतना ही कह सकते हैं कि हमने सूरज को आने में बाधा न दी । हमने द्वार बन्द न रखा । हम द्वार खुला करके बैठे । जरूरी न था कि हमारा द्वार खुला होता तो सूरज आता ही । हालांकि यह जरूरी है कि हमारा द्वार बन्द होता तो कभी न आता । जरूरी नहीं है कि द्वार खुला हो तो सूरज आए ही । द्वार खुला हो और सूरज न आए तो हम कुछ कर न सकेंगे । लेकिन द्वार न खुला हो तो फिर सूरज नहीं आ सकता । मेरा मतलब समझ रहे हैं न आप ? द्वार खुला हो तो सूरज का आना जरूरी नहीं है । आए उसकी मर्जी, न आए उसकी मर्जी । लेकिन द्वार बन्द हो तो सूरज का न आना सुनिश्चित है । अब उसकी मर्जी भी हो आने की तो भी नहीं आ सकता । इसका मतलब यह है कि हम अगर चाहें तो सत्य के प्रति अंधे हो सकते हैं । फिर सत्य कुछ भी न कर सकेगा । चाहें तो सत्य के प्रति आंख वाले हो सकते हैं । लेकिन तब सत्य को हम निर्मित नहीं करते हैं, सिर्फ उसका दर्शन होता है ।

जीवन में जो भी मूल्यवान् है, जो भी सुन्दर है, जो भी श्रेष्ठ है, जो भी सत्य है, जो भी शिव है, वह सभी ग्राहक मन को उपलब्ध होते हैं । द्वार देने वाला मन उन्हें पाता है । इसलिए ऋषि नहीं कहते ऐसा कि हमने, मैंने—नहीं वे कहते हैं, जिन्होंने जाना, उनसे हमने सुना है । जहां ज्ञान है, वहां से हमने सुना है । जहां ज्ञान है वहां से हमने पाया है । इसमें 'मैं' को पूरी तरह पोंछ डालने की आकांक्षा है । इसीलिए तो किसी उपनिषद् पर कोई हस्ताक्षर नहीं है । नहीं जानते, कौन बोल रहा है, कौन कह रहा है, किसका वचन है । कोई हस्ताक्षर नहीं है । कुछ पता नहीं है कि कौन आदमी है, जिसने यह कहा । इतने महासत्य बिना हस्ताक्षर के कोई कह गया । असल में महासत्य बिना हस्ताक्षर के ही कहे जा सकते हैं । क्योंकि महासत्य के जन्म के पहले ही वह मिट जाता है—हस्ताक्षर करने वाला ।

यह ऋषियों का अपने को बिल्कुल हटा देना बीच से ! कुछ पता नहीं चलता कि कौन इन वचनों को कहा है । यह भी पक्का नहीं है कि ये वचन एक हो आदमी के हों । इसमें एक वचन एक का हो सकता है, दूसरा दूसरे का, तीसरा तीसरे का हो सकता है । लेकिन फिर भी एक मजा है । विभिन्न लोगों के वचन हैं, फिर भी इनमें एक संगति है, एक हार्मोनी है, एक संगीत है । ये कितने ही रहे होंगे लोग, एक-एक वचन को अलग-अलग लोगों ने कहा होगा, लेकिन फिर भी भीतर कहीं गहरे में बिल्कुल एक जैसे हो गए होंगे ।

कभी जाएं किसी जैन मन्दिर में तो वहां चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं । एक मूर्ति में और दूसरी मूर्ति में कोई भी भेद नहीं है । नीचे थोड़ा-सा चिन्ह होता है, जिसमें फर्क है । वह हमने अपने हिसाब के लिए निशान लगा रखे हैं, नहीं तो पहचानना मुश्किल होगा, कौन महावीर हैं, कौन पार्श्वनाथ हैं, कौन नेमिनाथ हैं ।

हमने अपनी पहचान के लिए नीचे निशान लगा रखे हैं । नीचे के निशान पोंछ दें, फिर मूर्तियां बिल्कुल एक जैसी हो जायेंगी । चेहरे भी बिल्कुल एक जैसे । यह बात ऐतिहासिक तो नहीं हो सकती । महावीर का चेहरा पार्श्वनाथ से एक जैसा नहीं हो सकता । और फिर चौबीस तीर्थंकर बिल्कुल एक ही शक्ल-सूरत के हो गए हों, यह जरा मुश्किल मालूम पड़ता है । दो आदमी नहीं होते एक शक्ल-सूरत के तो चौबीस आदमी एक ही शक्ल-सूरत के खोज लेना मिरेकल है ! पर क्या जिन्होंने बनायी थीं मूर्तियां, उनको इतनी समझ न आयी होगी कि किसी दिन कोई हंसेगा और कहेगा कि ऐतिहासिक नहीं है । नहीं, उनको पूरी समझ थी । लेकिन उन्होंने किन्हीं और भीतरी चेहरों की मूर्तियां बनायी हैं बाहर के चेहरों को छोड़ कर । भीतर एक सिमिलेरिटी है । महावीर के ऊपर के चेहरे में तो निश्चित ही फर्क रहा होगा पार्श्वनाथ से—लम्बाई, नाक-नक्श, आंख, चेहरा सब अलग रहा होगा । लेकिन फिर भी एक जगह आती है जिन्दगी में जहां 'मैं' खो जाता है । फिर वहां भीतर कोई फासला नहीं रह जाता, फिर एक फेसलेसनेस—चेहरे से छुटकारा हो जाता है । फिर ऊपर के चेहरे बेमानी हैं । इसलिए हमने ऊपर की मूर्तियां नहीं बनायी हैं । वह मूर्तियां भीतर की सिमिलेरिटी—वह भीतर की जो समता है, वह भीतर का जो एक जैसापन है, उसको प्रकट करती हैं । इस-लिए एक जैसी हैं ।

ये उपनिषद् के वचन अलग-अलग लोगों के हैं और कुछ आश्चर्य न होगा, यह भी हो सकता है कि दो कड़ी का जो पद है उसमें एक कड़ी एक की और दूसरी दूसरे की हो । ऐसा हुआ है । अंग्रेजी का महाकवि कूलड्रिज मरा तो उसके घर में कोई चालीस हजार कविताएं अधूरी मिलीं । मरने के पहले उसके मित्रों ने बहुत बार कूलड्रिज को कहा कि इतनी अद्भुत कविताएं अधूरी क्यों छोड़ रखी हैं । यह तुम पूरी कर लो । तुमसे बड़ा महाकवि दुनिया में नहीं होगा । चालीस हजार कविताएं अधूरी ! इनको तुम पूरा कर लो । किसी में तीन पंक्तियां हैं, चौथी नहीं है । किसी में सात पंक्तियां हैं, आठवीं नहीं है । किसी में ग्यारह पंक्तियां हैं, बारहवीं नहीं है । एक पंक्ति के पीछे अटकी है । तुम पूरा क्यों नहीं कर देते ? कूलड्रिज ने कहा कि ग्यारह ही आयी हैं, बारहवीं की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं, दस वर्ष हो गए । अभी बारहवीं पंक्ति आयी नहीं, तो मैं कैसे जोड़ूं । कभी किसी को आ जाएगी तो जोड़ देगा । आती नहीं । मैं चाहूं तो बना सकता हूं, लेकिन फिर वह झूठी होगी । वह लकड़ी की टांग हो जाएगी । असली आदमी में लकड़ी की टांग होगी । ये ग्यारह पंक्तियां तो जिन्दा हैं, ये उतरी हैं । ये मैंने बनायी नहीं । किसी रिसेप्टिव मूवमेंट में, किसी ग्राहक क्षण में मुझ पर आ गयीं । मैंने उनको लिख दिया । बारहवीं अभी तक नहीं आयी । अब मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं । अगर इस जिन्दगी में आ गयी तो जोड़ दूंगा, अन्यथा इनको छोड़ जाऊंगा । कभी किसी और की जिन्दगी

में आ सकती है । हो सकता है, कोई और किसी दिन द्वार बन जाए बारहवीं पंक्ति के लिए तो वह जोड़ देगा ।

जरूरी नहीं है कि इसमें दो पंक्तियां एक ही व्यक्ति की हों । यह उन व्यक्तियों की पंक्तियां हैं, जिन्होंने अपनी तरफ से कुछ नहीं लिखा । जो उन पर उतर आया, उसे कह दिया ।

इसलिए निश्चित रूप से यह कहना ऋषि का कि सुना हमने, जो जानते हैं वह ऐसा कहते हैं, सम्पूर्ण रूप से निरहंकार मनोदशा की स्वीकृति है, सूचना है, खबर है । मैं नहीं हूं, सिर्फ एक द्वार है—इसकी घोषणा है ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

जो विद्या और अविद्या—इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥११॥

दोनों को जानता है जो, अविद्या को भी और विद्या को भी, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत को जान लेता है । बड़ी अनूठी कड़ी है । कहा मैंने कि उपनिषद् अविद्या के विरोधी नहीं हैं । विद्या के पक्षपाती हैं, अविद्या के विरोधी जरा भी नहीं । कहा है, अविद्या को जानता है जो, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर लेता है । अविद्या की सारी लड़ाई मृत्यु से है । एक डाक्टर लड़ रहा है मृत्यु से, एक इंजीनियर लड़ रहा है मृत्यु से । हमारी सारी साइंस लड़ रही है मृत्यु से । हमारा सारा व्यवसाय जीवन का लड़ रहा है मृत्यु से—बीमारी से, असुरक्षा से, खतरे से । जीवन मिट न जाए, उसके बचाने में लगी है सारी अविद्या । सारी विद्या का संघर्ष मृत्यु से है । तो जो अविद्या को जानता है वह मृत्यु को पार कर लेता है । वह जी लेता है, ठीक है । तो अविद्या से मृत्यु को पार कर लें । लेकिन अविद्या से अमृत न मिलेगा । सिर्फ मृत्यु पार होती रहेगी । अविद्या से सिर्फ हम जी लेंगे । लेकिन जीवन का सार नहीं मिलेगा, मात्र जी लेंगे । कहना चाहिए—वेजीटेशन । गुजर जाएंगे जिन्दगी के रास्ते से । भोजन मिल जाएगा, मकान मिल जाएगा, औषधि मिल जाएगी सब मिल जाएगा । जिन्दगी ठीक से गुजर जाएगी, सुविधा से गुजर जाएगी लेकिन अमृत न मिलेगा । अगर किसी दिन अविद्या मृत्यु को बिल्कुल रोक दे तो भी अमृत नहीं मिलेगा ।

अभी विज्ञान इस चेष्टा में संलग्न है । असल में विज्ञान का सारा संघर्ष ही

मृत्यु से बचाव के लिए है। इसलिए विज्ञान सदा ही उत्सुक है कि किस भांति मृत्यु को टाला जाए। अन्तहीन टाला जा सके। और किसी दिन ऐसी स्थिति आ जाएगी कि हम मृत्यु को चाहें तो सदा के लिए टाल सकें। अगर पिछले तीन हजार साल के अविद्या के, विज्ञान के विकास को हम समझें तो सारा संघर्ष मृत्यु से है। और विज्ञान उसमें बहुत दूर तक सफल भी हुआ है। आज से हजार साल पहले दस बच्चे पैदा होते थे तो नौ मर जाते थे। आज जिन मुल्कों में विज्ञान प्रभावी हो गया है वहां दस बच्चे पैदा होते हैं तो एक मरता है, नौ बचते हैं। दस हजार साल पुरानी हड्डियां जो मिली हैं तो एक भी हड्डी ऐसी नहीं मिली है, जिसकी उम्र पच्चीस साल से ज्यादा रही हो। यानी जिसकी वह हड्डी है, वह आदमी पच्चीस साल से ज्यादा उम्र का नहीं था। दस हजार साल पुरानी एक भी हड्डी ऐसी नहीं मिली पूरी पृथ्वी पर कि जिसकी वह हड्डी है वह पच्चीस साल से ज्यादा जिया हो। और आज सोवियत रूस में एक हजार आदमियों से ऊपर लोग डेढ़ सौ वर्ष के ऊपर हैं। सौ वर्ष सामान्य बात हुई चली जाती है। इसलिए आपको कभी-कभी हैरानी होती है कि अखबार में खबर आ जाती है कि रूस में किसी नब्बे वर्ष के बूढ़े ने विवाह किया। हमें बड़ा ऐसा लगता है कि बूढ़ा बड़ा नासमझ है। लेकिन आपको पता होना चाहिए कि बूढ़ा अभी बूढ़ा नहीं है, और कोई बात नहीं है। नब्बे वर्ष का बूढ़ा जब शादी करता है तो आप अपने बूढ़े से हिसाब मत लगाना आपका बूढ़ा तो बीस साल पहले मर चुका होगा। वह नब्बे साल का बूढ़ा उस कौम में है, जहां डेढ़ सौ वर्ष तक उम्र खींची जा सकी है। तो जब डेढ़ सौ वर्ष तक उम्र खिच जाए तो आप जवानी का वक्त कब तक रखिएगा? कम-से-कम सौ साल तो मानिएगा?

जहां-जहां विज्ञान सफल हुआ है वहां मौत को धक्के दिए गए हैं। और अभी सफलता और बढ़ती चली जाती है। अब इसमें कुछ बहुत असम्भावना नहीं दिखती कि हम आदमी के शरीर को, बहुत शीघ्र इस सदी के पूरे होते-होते इस स्थिति में आ जाएंगे कि अगर जिलाए रखना चाहें तो कोई कारण नहीं होगा कि हम न जिला सकें। अन्तहीन भी जिलाया जा सकता है। इसलिए भी पश्चिम, विशेषकर अमरीका के कुछ विचारकों में एक बात चलनी शुरू हुई है, विचार तीव्र हुआ है, और वह यह कि इसके पहले कि वैज्ञानिक सफल हो जाएं आदमी की उम्र को लम्बा करने में, हमें प्रत्येक आदमी को मरने का जन्मसिद्ध अधिकार है, यह कान्स्टीट्यूशन में जोड़ लेना चाहिए। नहीं तो बहुत मुश्किल होगी। क्योंकि अगर कोई सरकार किसी आदमी को न मरने देना चाहे तो उस आदमी का कोई हक नहीं होगा। अभी तक हमने दुनिया में कानून बनाए थे कि किसी आदमी को मारने का हक नहीं है। लेकिन अभी सारी दुनिया में, विशेषकर उन मुल्कों में, जहां विज्ञान सफल हो रहा है जीवन को लम्बा करने में—जैसा कि स्विट्जरलैण्ड में या

स्वीडेन में या नार्वे में—जहां उम्र बहुत ऊपर चली गयी तो वहां अथनासिया के लिए आन्दोलन चलता है। वहां के विचारशील लोग जोर से एक आन्दोलन चला रहे हैं कि जो आदमी मरना चाहता है उसे कोई डाक्टर बचाने के लिए हकदार नहीं है। और अगर कोई डाक्टर बचाता है तो वह उस व्यक्ति के मौलिक सिद्धान्त पर, जीवन के अधिकार पर हमला करता है। यह खतरनाक है। अब एक आदमी डेढ़ सौ साल का आदमी शायद ही और जीना चाहे। अगर बिल्कुल ही बुद्धिहीन हो तो बात अलग है। नहीं तो डेढ़ सौ साल का आदमी अब चाहेगा कि विश्राम करे, बिदा हो जाए। लेकिन डाक्टर उसको चाहें तो अस्पतालों में उसे लटकाए रख सकते हैं। उसे जिन्दा रख सकते हैं। क्योंकि डाक्टरों को भी अभी हक नहीं है किसी को मरने में सहायता देने का। तो वे तो पूरी कोशिश करेंगे बचाने की, तुम मर जाओ बात अलग है। इसलिए आन्दोलन चलता है कि हम आदमी को मरने का हक दे दें कि कोई आदमी अगर तय कर ले कि मुझे मरना है तो उसे कोई रोक नहीं सकेगा।

यह बात बहुत जल्दी अर्थपूर्ण हो जाएगी। क्योंकि आदमी के शरीर में अब तक ऐसी कोई बात नहीं पायी जा सकी है, जिसके कारण मृत्यु अनिवार्य हो। अगर मृत्यु घटित होती है तो उसका कुल कारण इतना है कि आदमी के शरीर के हिस्से अभी तक रिप्लेसेबिल नहीं हो सके हैं। हम उसके कुछ हिस्सों को अभी बदल नहीं पाते हैं इसलिए तकलीफ है। जैसे-जैसे हम उसके शरीर के हिस्सों को बदलने में समर्थ होते चले जाएंगे, वैसे-वैसे आदमी का मरना अनिवार्यता नहीं रह जाएगी, स्वेच्छा का कृत्य हो जाएगा। ध्यान रखिए, बहुत शीघ्र दुनिया में कोई आदमी सिवाय दुर्घटना के अतिरिक्त अपने-आप नहीं मरेगा। तो दुनिया में मृत्यु कम और आत्मघात—वह आत्मघात ही होगा जब आदमी डाक्टर को कहेगा, मुझे मार डालो—आत्मघात सामान्य प्रक्रिया मृत्यु की हो जाएगी।

उपनिषद् बहुत प्राचीन समय में यह कहते हैं कि अविद्या से मृत्यु के पार जाया जा सकता है। मृत्यु को जीता जा सकता है अविद्या से। अभी जो पश्चिम का चिकित्सा-शास्त्र कह रहा है, वह उपनिषद् घोषणा करते हैं। वह कहते हैं कि अविद्या से मृत्यु को जीता भी जा सकता है। इतने दूर हटायी जा सकती है मौत, क्योंकि मौत हमारे भीतर जो तत्व है उसकी तो कोई होती नहीं। मौत होती है हमारे शरीर की। फिर हमारे भीतर के तत्व को नया शरीर ग्रहण करना पड़ता है। अगर हम पुराने शरीर को ही काम योग्य बनाए रख सकें तो नए शरीर को ग्रहण करने की कोई जरूरत नहीं है। और नया शरीर ग्रहण करना बहुत गैर-आर्थिक है। क्योंकि एक बूढ़ा आदमी मरता है। आप सोचें कि प्रकृति को इकनॉमी नहीं आती। असल में प्रकति को कोई अर्थशास्त्र का अनुभव नहीं है। बच्चों को पैदा करती है, बूढ़ों को मार देती है। बूढ़े हमारे सब सीखे-सिखाए, सारी मेहनत किए

हुए और बच्चे पैदा कर देती है बिल्कुल बिना सीखे हुए, बिल्कुल बेकार। जिनके साथ हमने सत्तर साल मेहनत की, जिनमें किसी तरह थोड़ी-बहुत बुद्धि की मात्रा आयी, उनको समाप्त कर देती है और फिर निर्बुद्धियों को पैदा कर देती है। उनको फिर हम बड़ा करें। बहुत नॉन-इकनॉमिकल है ! इकनॉमिकल तो यही होगा कि सत्तर साल का आदमी मरने न दिया जाए, क्योंकि सत्तर साल का अनुभव खोता है, इस तरह। और सत्तर साल का आदमी मरेगा, फिर नया जन्म लेगा—फिर बीस साल, पच्चीस साल शिक्षा में व्यतीत होंगे, तब कहीं वह फिर उस स्थिति में आ पाएगा मुश्किल से, जिस स्थिति में मरा था। यह व्यर्थ है। तो विज्ञान, अविद्या, इस दिशा में संलग्न रही है। और वह इस चेष्टा में है कि हम यह जो अपव्यय होता है व्यर्थ उसे रोकें।

अगर हम आइन्स्टीन को बचा सकें तो बड़ा अपव्यय बचेगा। और आइन्स्टीन अगर तीन सौ साल जिन्दा रह सके तो दुनिया के ज्ञान में जो वृद्धि होगी वह आइन्स्टीन तीन दफे जन्म ले तो नहीं होगी। क्योंकि यह तीन सौ साल की कन्टीन्युअस प्रौढ़ता होगी। और बार-बार इसमें बीच में डिस्कन्टीन्यूटी नहीं होगी। पच्चीस, तीस-तीस साल का गैप बीच में आकर नष्ट नहीं करेगा। तो अगर आइन्स्टीन को हम तीन सौ साल जिन्दा रख लें तो आइन्स्टीन ज्ञान में इतनी वृद्धि कर जाएगा, जिसका कि कोई हिसाब नहीं है। और ज्ञान का कोई अन्त नहीं है। मनुष्य का एक छोटा-सा मस्तिष्क—इस छोटे-से मस्तिष्क में कोई पचास करोड़ सेल हैं और एक-एक सेल की इतने ज्ञान को संरक्षित करने की क्षमता है कि वैज्ञानिक कहते हैं, अभी पृथ्वी पर जितने पुस्तकालय हैं वे सब एक व्यक्ति के मस्तिष्क में समाए जा सकते हैं। पचास करोड़ कोष्ठ इतनी बड़ी शक्ति है कि सारी पृथ्वी पर जितना ज्ञान है अभी, एक व्यक्ति उसका मालिक हो सकता है। यह दूसरी बात है कि हमारे पास अभी इतना ज्ञान उस व्यक्ति के भीतर डालने की व्यवस्था नहीं है। हमारे डालने की व्यवस्था बहुत आदम है। एक बच्चे को सिखाते हैं, बीस साल लग जाते हैं, तब कहीं कुछ सीख पाता है। कुछ हल नहीं होता। बीस साल शिक्षा देने के बाद इतना ही हो पाता है कि हम कह सकते हैं कि यह आदमी अशिक्षित नहीं है। बस, इतना ही हो पाता है। कुछ खास नहीं हो पाता। सत्तर साल की शिक्षा दें तो भी कुछ बहुत विशेष नहीं होने वाला है। ज्ञान इतना है और उसे ज्ञान को व्यक्ति के मस्तिष्क में डालने की सुविधा और व्यवस्था अभी इतनी नहीं है। इसलिए बड़ी नयी व्यवस्थाएं खोजी जा रही हैं कि कि शिक्षण के नए प्रयोग खोज लिए जाएं।

रूस में स्लीप टीचिंग पर भारी काम चलता है कि बच्चे को दिन में पढ़ाना और रातभर वह बेकार सोया रहता है तो रात के बारह घण्टे खराब चले जाते हैं। तो रात टेप लगा कर उसके कान में, रातभर वह सोया रहे और टेप रातभर

उसको शिक्षा भी देता रहे। नींद को भी शिक्षा के माध्यम बनाने के बड़े उपाय चल रहे हैं और दूर तक सफलता मिली है। और बहुत जल्दी जो शिक्षा अभी हम पन्द्रह वर्ष में दे पाते हैं वह हम सात वर्ष में दे पाएंगे। क्योंकि रात का भी उपयोग कर लेंगे। और भी सुविधा की बात है कि शिक्षक जब जागते में बच्चे को शिक्षा देता है तो बच्चे और शिक्षक के अहंकार में संघर्ष खड़ा हो जाता है, जिसकी वजह से बहुत बाधा पड़ती है। नींद में कोई संघर्ष खड़ा नहीं होता, शिक्षा सीधी आत्मसात् हो जाती है। शिक्षक होता ही नहीं। विद्यार्थी भी नहीं होता है। विद्यार्थी सोया होता है, शिक्षक मौजूद नहीं होता। सिर्फ टेप-रिकार्ड होता है। वह धीरे-धीरे रातभर में बच्चे में शिक्षा डाल देगा। बच्चा उसको सीधा स्वीकार कर लेता है।

अविद्या के द्वारा मृत्यु को जीता जा सकता है, उपनिषद् की यह घोषणा समस्त विज्ञानपीठों के ऊपर लिख दी जानी चाहिए। उपनिषद् का ऋषि ऐसा कहता है, क्योंकि मृत्यु सिर्फ शारीरिक दुर्घटना है। शरीर को अगर हम थोड़ी व्यवस्था दे सकें तो मृत्यु लम्बाई जा सकती है, दूर तक ढकेली जा सकती है। कोई अड़चन नहीं है। अभी अमरीका में एक आदमी मरा है पन्द्रह वर्ष पहले। अभी तक कोई आदमी मर जाए तो उसे वापस पुनरुज्जीवित करने के विज्ञान के पास उपाय नहीं है। लेकिन वैज्ञानिकों का ख्याल है कि १६८० के पूरे होते-होते हमारे पास उपाय होंगे कि कोई व्यक्ति मर जाए तो हम उसे पुनरुज्जीवित कर लें। तो वह आदमी दस करोड़ डालर की वसीयत करके गया है कि मेरी लाश को कम-से-कम १६८० तक पूरी तरह सुरक्षित रखा जाए, ताकि १६८० में पुनरुज्जीवित मैं हो सकूं। तो रोज कोई एक लाख रुपया खर्च उसकी लाश को बिल्कुल वैसा ही सुरक्षित रखने में किया जा रहा है कि उसमें रत्तीभर फर्क न पड़े। कोशिश है कि जैसा वह मरने के क्षण में था वैसा ही १६८० तक उसकी लाश को ले जाया जा सके—ठीक वैसा ही। ताकि १६८० में जब कि इसका विज्ञान हमारे हाथ में आ जाए, हम उसके शरीर को वापस पुनरुज्जीवन दे दें।

इससे अध्यात्मवादी बहुत घबराते हैं। वह कहते हैं, अगर ऐसा हो गया तो फिर आत्मा का क्या हुआ ? लेकिन यह आदमी एक ही शर्त पर जिन्दा हो सकेगा। विज्ञान शरीर को ठीक हालत में ले आएगा, इतना जरूरी है हिस्सा, लेकिन पर्याप्त नहीं। अगर उसकी आत्मा भटकती हो अभी तक और नए शरीर को ग्रहण न किया हो तो प्रवेश कर जाएगी। और मुझे लगता है, इस आदमी की भटकेगी। इतनी बड़ी वसीयत करके गया है। दस करोड़ डालर का मामला है, कोई छोटा मामला नहीं है। आदमी भटकेगा। वह अभी दस साल और प्रतीक्षा करेगा। और अगर शरीर उसका पुनरुज्जीवित हो सकता है तो वह वापस पुनर्प्रवेश कर जाएगा। ऐसे ही जैसे मकान गिर जाए, फिर बन जाए, हम घर में वापस आ

जाते हैं।

अविद्या से मृत्यु को जीता जा सकता है लेकिन अमृत को नहीं पाया जा सकता। यह दूसरा सूत्र और भी जरूरी है। मृत्यु को भी जीत ले किसी दिन विज्ञान और हम आदमी को इस हालत में कर दें कि वह करीब-करीब इम्मार्टल हो जाए, न मरे, तो भी क्या हुआ? तो भी अमृत का कोई अनुभव नहीं हुआ। तो भी हमने उसे नहीं जाना, जो अमृत है। तब भी हम उसी को जान रहे हैं, जो सत्तर साल जीता था, अब सात सौ साल जीता है। या तब सत्तर साल जीता था, अब सात हजार साल जीता है। लेकिन जो जीने के भी पहले था, जन्म के भी पहले था और जो मरने के बाद भी बच जाता है, उसका हमें कोई अनुभव नहीं है। अमृत को जानना हो तो विद्या से ही जाना जा सकता है।

उपनिषद् अविद्या को बड़ी कीमत देते हैं। मृत्यु से संघर्ष में वही उपाय है। लेकिन अमृत की उपलब्धि में वह उपाय नहीं है। मृत्यु से संघर्ष एक निगेटिव—एक नकारात्मक प्रक्रिया है। अमृत की उपलब्धि एक विधायक, एक पोजेटिव अचीवमेंट है। अमृत की उपलब्धि उसे जानने की चेष्टा है, जो जन्म से पहले भी था और जब मैं मर जाऊंगा तो भी रहेगा। जो अभी भी है, कल भी था, परसों भी था, और कल भी होगा। जब यह देह नहीं थी तब भी था और जब यह देह नहीं रहेगी तब भी होगा। उसे जानना अमृत की उपलब्धि है। और इस शरीर को खींचे चले जाना मृत्यु से संघर्ष है। इस शरीर को लम्बाए चले जाना, जन्म और मृत्यु की सीमा को बड़ा किए चले जाना मृत्यु से संघर्ष है। और जन्म और मृत्यु के जो पार है उसकी अनुभूति में उतर जाना अमृत की उपलब्धि है। अमृत की उपलब्धि उपनिषद् कहते हैं विद्या से होगी। तो इस विद्या के दो-चार सूत्र भी समझ लेने चाहिए। इस अमृत की उपलब्धि की विद्या का सूत्र क्या होगा?

पहली बात, जो व्यक्ति भी सोचता है कि मैं शरीर हूं, वह कभी अमृत की दिशा में गति नहीं कर पाएगा। इसलिए विद्या का पहला सूत्र है शरीर से तादात्म्य छिन्न-भिन्न कर लेना। जानते रहना निरन्तर, स्मरण करना निरन्तर, बार-बार होश रखना, पुनः-पुनः ख्याल में लाना,—मैं शरीर नहीं हूं। यह जितना गहरा बैठ जाए कि मैं शरीर नहीं हूं, उतना ही अमृत की दिशा में गति हो पाएगी। और जितना यह गहरा बैठ जाए कि मैं शरीर हूं, उतनी ही अविद्या, उतनी ही मृत्यु से संघर्ष की यात्रा चलेगी। और जैसा जीवन है, उसमें मैं शरीर हूं, यह चौबीस घण्टे स्मरण आता है। पैर में जरा चोट लगी तो स्मरण आता है कि मैं शरीर हूं। पेट में जरा भूख लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। सिर में जरा दर्द हुआ, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। बुखार आ गया, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। बुढ़ापा उतरने लगा, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। जवानी उठने लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। जीवन में सब तरफ से इशारा मिलता है कि मैं शरीर हूं।

इसका तो कोई इशारा नहीं मिलता, कहीं से कि मैं शरीर नहीं हूं। और मजा यह है कि वही सत्य है, जिसका कोई इशारा नहीं मिलता और वही असत्य है, जिसके लिए रोज इशारे मिलते हैं। लेकिन इशारे मिलते हैं इसलिए कि हमारे इशारे समझने में, इशारों को डी-कोड करने में बड़ी बुनियादी भूल हो रही है। कुछ कहा जाता है, कुछ हम समझते हैं। बड़ी मिसअण्डरस्टेंडिंग है। पूरी जिन्दगी एक बड़ी मिसअण्डरस्टेंडिंग है। इशारे कुछ और कहते हैं, हम कुछ और समझते हैं। कहा कुछ और जाता है, हम अर्थ कुछ और निकालते हैं। पेट में लगती है भूख तब मैं कहता हूं, मुझे भूख लगी है। गलत है। हमें जो सूचना मिली उसका गलत अर्थ लिया। सूचना केवल इतनी थी कि मुझे पता चल रहा है कि पेट में भूख लगी है। लेकिन हम कहते हैं, मुझे भूख लगी है। हम कैसे इस नतीजे पर पहुंचते हैं, आज तक कोई नहीं बता पाया। यह बीच का हिस्सा कैसे गिर जाता है कि मुझे पता चलता है कि पेट में भूख लगी है। मुझे भूख कभी नहीं लगती। लेकिन मैं कहता हूं मुझे भूख लगी है। सिर में दर्द होता है, तब मुझे पता चलता है—पता चलता है मुझे कि सिर में दर्द हो रहा है। मुझे भूख कभी नहीं लगती। लेकिन मैं कहता हूं मुझे भूख लगी है। सिर में दर्द होता है, तब मुझे पता चलता है—पता चलता है मुझे कि सिर में दर्द हो रहा है। लेकिन मैं कहता हूं, मेरे सिर में दर्द होता है। ऐसा भी मैं बाहर कहता हूं कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है, भीतर तो मैं ऐसा कहता हूं, मुझमें दर्द हो रहा है। शरीर की सूचनाओं में भूल नहीं है। शरीर की सूचनाओं को जब हम डी-कोड करते हैं। जब उसकी सूचनाओं को हम समझने की चेष्टा में व्याख्या करते हैं, तब भूल हो जाती है। व्याख्या में भूल है।

स्वामी राम निरन्तर ठीक-ठीक बोलते थे। तो लोग उन्हें पागल समझने लगे। पागलों की दुनिया है। इसमें कोई ठीक-ठीक आदमी हो तो पागल समझ लिया जाए, अड़चन नहीं है। राम कभी नहीं कहते थे कि मुझे भूख लगी है। कभी वह कहते कि सुनो भाई, इधर भूख लगी है। थोड़ी-सी हैरानी हो जाती थी, दिमाग खराब है क्या! आपका दिमाग तो ठीक है? लेकिन वह ठीक कह रहे हैं बेचारे, तो दिमाग ठीक है, यह सवाल उठता है। कभी आकर घर कहते कि आज बड़ा मजा आया। रास्ते से गुजरते थे तो कुछ लोग राम को गाली देने लगे। राम को—यह नहीं कहते कि मुझको। यह नहीं कि मैं निकलता था, मुझे लोग गाली देने लगे। कहते कि कुछ लोग मिल गए, बड़ा मजा आया, राम को गाली देने लगे। हम भी सुनते थे। हमने कहा, देखो राम! मिला मजा!

पहली बार जब स्वामी राम अमरीका गए और जब ऐसा बोलने लगे थर्ड पर्सन में तो बड़ी कठिनाई हुई। यहां तो उनके मित्र उनको जानते थे कि ठीक है, इनका दिमाग थोड़ा···! लेकिन वहां बड़ी मुश्किल हुई, लोग उनको समझ ही न पाए कि वह क्या कह रहे हैं।

लेकिन वही ठीक कहते हैं। वह बिल्कुल ही ठीक कहते हैं। पेट को ही भूख लगती है, आपको कभी भूख नहीं लगी। आज तक नहीं लगी। लग नहीं सकती। क्योंकि आत्मतत्व में भूख का कोई उपाय नहीं। आत्मतत्व के पास भूख का कोई यन्त्र नहीं है। आत्मतत्व के पास भूख की कोई सुविधा नहीं है। आत्मतत्व में न कुछ कम होता है, न ज्यादा होता है। आत्मतत्व के लिए कोई कमी नहीं होती जिसको पूरा करने के लिए भूख लगे। शरीर में रोज कमी होती है। क्योंकि शरीर रोज मरता है। असल में मरने की वजह से भूख लगती है। अब आपको यह बहुत हैरानी लगेगी कि कुछ आपके भीतर रोज मर जाता है, इसलिए जितना हिस्सा मर जाता है उसको रिप्लेस करना पड़ता है भोजन से। और कुछ नहीं मामला। आपके भीतर कुछ हिस्सा मर जाता है। उस मरे हुए हिस्से को आपको वापस जीवित हिस्से से पूरा करना पड़ता है, तब आप जिन्दा रह पाते हैं। इसी-लिए तो एक दिन उपवास कर लें तो एक पौण्ड वजन कम हो जाता है। क्या हुआ? वह एक पौण्ड हिस्सा आपका मर गया है। उसको आपने रिप्लेस नहीं किया। उसको फिर से स्थापित करना पड़ेगा। इसलिए वैज्ञानिक कहते हैं, एक आदमी नब्बे दिन तक भूखा रह सकता है। इससे ज्यादा मुश्किल पड़ जाएगा। क्योंकि नब्बे दिन तक उसके भीतर अर्जित, इकट्ठी चर्बी होती है, जितने से वह अपना काम चला सकता है। मरता जाएगा और पूरा करता रहेगा भीतर। कम-जोर होता जाएगा, वजन कम होता जाएगा, जीर्ण-क्षीण होता चला जाएगा, लेकिन जिन्दा रह लेगा। भोजन से हम अपने मरे हुए तत्व की कमी पूरी कर देते हैं। जो कमी हो गई है उसको पूरा कर देते हैं।

लेकिन आत्मा तो मरती नहीं, उसका कोई तत्व कम नहीं होता, इसलिए आत्मा को भूख का कोई कारण नहीं। एक और मजे की बात है। आत्मा को भूख नहीं लगती, शरीर को भूख पता नहीं चलती। शरीर को भूख लगती है, आत्मा को भूख पता चलती है।

यह करीब-करीब मामला वैसा ही है जैसा एक बार आपको पता ही होगा, एक जंगल में आग लग गयी थी। और एक अन्धे और लंगड़े को जंगल के बाहर निकलना पड़ा था। अन्धा देख नहीं पाता था। आग थी भयंकर। चल तो सकता था, पैर मजबूत थे, लेकिन चलना खतरनाक था। जहां खड़ा था, कम-से-कम वहां अभी आग नहीं थी। अन्धा आदमी भागे, बचने का उपाय करे, और जल जाए! पास में लंगड़ा भी था, वह चल नहीं सकता था। बेशक उसको दिखायी पड़ता था कि आग आ रही है। वह अन्धे और लंगड़े समझदार रहे होंगे, जैसा कि सामान्य रूप से अन्धे और लंगड़े रहते नहीं। समझदार इतने होते नहीं। आंख वाले नहीं होते तो अन्धे कैसे होंगे। पैर वाले नहीं होते तो लंगड़े कैसे होंगे। लेकिन उन दोनों ने एक समझौता कर लिया। लंगड़े ने कहा कि, अगर बचना है हमें तो एक

ही रास्ता है कि मैं तुम्हारे कन्धों पर आ जाऊं। तुम्हारे पैरों का उपयोग करें और मेरी आंखों का। मैं देखूंगा, तुम चलोगे तो हम बच सकते हैं। बच गए वे। आग के बाहर निकल आए।

जीवन की जो यात्रा है वह आत्मा और शरीर के बीच एक गहरा समझौता है। वह अन्धे-लंगड़े की यात्रा है। आत्मा को अनुभव होता है, घटना कोई नहीं घटती। शरीर में घटनाएं घटती हैं, अनुभव कोई नहीं होता। अनुभव सब आत्मा को होते हैं, घटनाएं सब शरीर में घटती हैं। इसीलिए तो उपद्रव हो जाता है। उस दिन भी उपद्रव शायद हुआ होगा। कहानी में ईशप ने लिखा नहीं है। जिसने यह कहानी लिखी है अन्धे-लंगड़े की उसने लिखा नहीं है, लेकिन हुआ जरूर होगा। जब अन्धा तेजी से दौड़ा होगा और लंगड़े ने तेजी से देखा होगा—दोनों को तेजी की जरूरत थी। आग थी भयंकर। तो यह पूरी सम्भावना है कि अन्धे को ऐसा लगा हो कि मैं देख रहा हूं और लंगड़े को ऐसा लगा हो कि मैं भाग रहा हूं।

बस, वैसा ही हमारे भीतर घट जाता है।

इसको तोड़ना पड़ेगा। इसको अलग-अलग करना पड़ेगा। यह उलझे तार हैं। शरीर में सब घटनाएं घटती हैं, आत्मा सब अनुभव करती है। इन दोनों को अलग-अलग कर लें तो विद्या का सूत्र पकड़ में आने लगेगा। अमृत की यात्रा शुरू हो जाएगी।

बस, आज के लिए इतना ही—फिर कल सुबह।

अब अमृत की यात्रा पर निकल जाएं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ।।१२।।

जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं वे मानो उनसे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।।१२।।

प्रवचन : २३
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, सुबह, दिनांक ८ अप्रैल, १९७१

वह चैतन्य है

अस्तित्व का प्रगट रूप है प्रकृति—जो दिखायी पड़ता है आंखों से, हाथों से स्पर्श में आता है, इन्द्रियां जिसे पहचान पाती हैं, इन्द्रियों को जिसकी प्रतिभिज्ञा होती है। कहें कि जो दृश्यमान परमात्मा है वह प्रकृति है। लेकिन यह तो उनका अनुभव है, जिन्होंने परमात्मा को जाना। वह कहेंगे कि परमात्मा की देह प्रकृति है। लेकिन हम तो केवल देह को ही जानते हैं। वह परमात्मा की है देह, ऐसा हमारा जानना नहीं है। वह जो अप्रगट चैतन्य है उसकी ही आकृति है प्रकृति, उसका ही प्रगट रूप है—ऐसा तो वह जानते हैं, जो उस अप्रगट को भी जानते हैं। हमारा जानना तो इतना ही है कि जो यह प्रगट है, यही सब कुछ है।

उपनिषद् कहते हैं कि जो इस प्रगट प्रकृति की ही उपासना में रत हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। हम सभी रत हैं। उपासना में वे ही लोग रत नहीं हैं, जो मन्दिरों में प्रार्थना और पूजा कर रहे हैं। उपासना में वे लोग भी रत हैं, जो इन्द्रियों के मन्दिर में पूजा और प्रार्थना कर रहे हैं। उपासना शब्द का अर्थ होता है—पास बैठना। उप आसन—निकट बैठना। जब आप स्वाद में रस लेते हैं तब आप स्वाद की इन्द्रिय के पास बैठ गए। तब आप उससे अभिभूत हैं। तब स्वाद की उपासना चल रही है। जब आप काम-वासना में रस लेते हैं तब आप काम-इन्द्रिय के निकट बैठ गए हैं। काम-इन्द्रिय की उपासना चल रही है। वे जो स्वयं को नास्तिक कहते हैं वे भी उपासना में रत हैं। ईश्वर की उपासना में नहीं, प्रकृति की उपासना में रत हैं। उपासना से तो बचना कठिन है, किसी न किसी के पास तो बैठ ही जाना होगा। अगर परमात्मा के पास न बैठेंगे तो प्रकृति के पास बैठ जाएंगे। अगर आत्मा के पास न बैठेंगे तो शरीर के पास बैठ जाएंगे। अगर अलौकिक के पास बैठेंगे तो लौकिक के पास बैठ जाएंगे। पास तो बैठ ही जाएंगे। सिर्फ एक सम्भावना को छोड़ कर हर हालत में उपासना जारी रहेगी—सिर्फ एक सम्भावना को छोड़ कर। उसकी मैं पीछे बात करूंगा।

उपनिषद् का यह सूत्र कहता है कि जो प्रकृति की उपासना में रत हैं वे अन्धकार

में प्रवेश करते हैं। अन्धकार में इसलिए प्रवेश करते हैं कि प्रकृति की उपासना से प्रकाश का कोई भी सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। असल में प्रकृति की उपासना का मूलभूत आधार, एक ही है, और वह है अंधेरा। किसी भी वासना को पूरा करना हो तो चित्त जितने अंधेरे से भरा हो उतनी आसानी पड़ेगी। अगर चित्त में प्रकाश हो तो तो उपासना को पूरा करना मुश्किल हो जाएगा। चित्त जितना मूर्च्छा में हो वासना की दौड़ उतनी ही सुगम हो जाएगी। चित्त जितना सोया हो, जितनी तन्द्रा में हो उतनी आसान हो जाएगी उपासना। समस्त इन्द्रियों के रस किसी गहन मूर्च्छा में लिए जाते हैं। जागेंगे तो इन्द्रियों के पार जाने लगेंगे। सोएंगे तो तो इन्द्रियों के पास आने लगेंगे। जितनी होगी निद्रा, उतनी होगी निकटकता। इसलिए प्रकृति के उपासक को मूर्च्छित होना ही होगा। इन्द्रियों के उपासक को किसी न किसी तरह की बेहोशी खोजनी ही पड़ेगी। इसलिए अगर इन्द्रियों के उपासक धीरे-धीरे मूर्च्छा के अनेक-अनेक उपायों को खोज लेते हैं, इन्टाक्सिकेंट्स को खोज लेते हैं, शराब को खोज लेते हैं तो आश्चर्य नहीं। असल में इन्द्रियों का भक्त बहुत दिन तक शराब से दूर नहीं रह सकता। इसलिए जहां जितने इन्द्रियों के उपासक बढ़ेंगे वहां उतनी ही शराब और बेहोशी के नए-नए उपाय बढ़ते चले जाएंगे। इन्द्रियों की साधना के लिए, उपासना के लिए चित्त जितना अजागरूक हो, जितना विवेकशून्य हो, उतना अच्छा है।

क्रोध करना हो, कि लोभ करना हो, कि काम से भरना हो तो चित्त का मूर्च्छित होना जरूरी है, बेहोश होना जरूरी है। इस बेहोशी की स्थिति में ही हम प्रकृति की उपासना कर पाते हैं। तो उपनिषद् का यह सूत्र अर्थपूर्ण है। कहता है कि अन्धकार में प्रवेश कर जाते हैं वे लोग जो प्रगट, दिखायी पड़ रहा है, प्रत्यक्ष है जो, उसकी उपासना में रत हो जाते हैं। प्रकृति की उपासना में जो रत हैं वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं। लेकिन और भी एक बात कही है—और महा अन्धकार में प्रवेश करते हैं वे, जो कर्म प्रकृति की उपासना में रत है। एक तो इन्द्रियों की सहज उपासना है, जो पशु भी करते हैं। एक पशु है, वह भी इन्द्रियों की उपासना में रहता है। लेकिन कोई पशु कर्म प्रकृति की उपासना में रत नहीं रहता। अब इसे थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। यह आदमी की विशेष दिशा है—कर्म प्रकृति की उपासना।

एक आदमी पद के लिए दौड़ रहा है। किसी भी पद पर होने से किसी विशेष इन्द्रिय के तृप्त होने की सीधी कोई सम्भावना नहीं है। परोक्ष सम्भावना है कि किसी पद पर होने से वह किन्हीं इन्द्रियों को परोक्ष रूप से तृप्त करने के लिए ज्यादा सुविधा पा जाए। लेकिन प्रत्यक्ष, सीधी कोई सम्भावना नहीं है। पद पर होने से इन्द्रियों का कोई सीधा लेना-देना नहीं है। पद की दौड़ का जो रस है वह इन्द्रियों को नहीं, अहंकार को मिलता है—'मैं कुछ हूं'। मैं कुछ हूं, तो 'जो कुछ

भी नहीं है' उनसे ज्यादा इन्द्रियों को तृप्त कर लेने में उसे सुविधा मिल जाएगी। लेकिन 'मैं कुछ हूं', इसका अपना ही रस है। तो कर्म की उपासना में जो रस हम लेते हैं वह अहंकार की तृप्ति का रस है। उपनिषद् कहते हैं कि ऐसा आदमी महा अन्धकार में चला जाता है। पशुओं से भी गहन अन्धकार में चला जाता है। क्योंकि पशु जो रस ले रहे हैं वह प्राकृतिक ही है। एक आदमी खाने में रस ले रहा है। एक अर्थ में पाशविक है। एक अर्थ में पशुओं जैसा है। लेकिन एक आदमी राजनीति में रस ले रहा है और पदों पर खड़ा होता चला जा रहा है, यह पशु से भी गया-बीता है। यह स्वाभाविक भी नहीं है। यह जो ले रहा है रस, यह पर्व्हर्टेड है, यह नेचुरल भी नहीं है। किसी पद पर होने में जो रस है वह किसी इन्द्रिय को, प्राकृतिक इन्द्रिय को तृप्ति नहीं देता है। एक बहुत अप्राकृतिक ग्रोथ है। भीतर अहंकार की गांठ बढ़ती है तो उसको रस देता है कि दूसरा कुछ भी नहीं है और 'मैं कुछ हूं'। डॉमिनेशन का रस है—दूसरे के ऊपर मालकियत करने का रस है। दूसरे को मुट्ठी में दबा लेने का रस है। दूसरे की गर्दन को कस लेने का रस है।

तो कर्म प्रकृति की उपासना का अर्थ है, अहंकार को तृप्त करने की दिशाएं—चाहे यश, चाहे पद, चाहे धन। माना कि धन हो पास तो आदमी अपनी इन्द्रियों की वासनाओं को तृप्त करने में ज्यादा सहूलियत पाता है। धन पास न हो तो, मुसीबत होती है। लेकिन कुछ लोग धन की धन के लिए उपासना करते हैं। इसलिए नहीं कि धन पास में होगा तो वे एक सुन्दर स्त्री खरीद सकेंगे। इसलिए भी नहीं कि धन पास में होगा तो वे अच्छा भोजन खरीद सकेंगे। मात्र इसीलिए कि धन पास में होगा तो वे कुछ हो जाएंगे—सम बडी। कुछ खरीदने का सवाल नहीं है बड़ा। और अक्सर ऐसा होता है कि धन इकट्ठा करते-करते इन्द्रियों तक को भोगने की क्षमता खो जाती है। फिर तो धन की ही गिनती है कि आंकड़े कितने हैं—बैंक बैलेंस! बस, उसका ही रस रह जाता है। वैसा आदमी बड़े कर्म में रत होता है सुबह से सांझ। न रात सोता है, न दिन ठीक से जागता है। दौड़ता रहता है, धन इकट्ठा करता चला जाता है, ढेर लगाता रहता है। एक आदमी यश इकट्ठा करता चला जाता है। एक आदमी ज्ञान इकट्ठा करता चला जाता है। जहां से भी, 'मैं कुछ हूं' इस रस को पोषण मिलता है वहीं से हमारे कर्मों का विराट् जाल शुरू होता है।

ध्यान रखें, पशुओं के जगत् में इतना उपद्रव नहीं है, जितना मनुष्य के जगत् में है। यद्यपि सब पशु प्रकृति के उपासक हैं—पक्के उपासक हैं, वे कोई और दूसरी उपासना नहीं करते। भोजन चाहिए, सुरक्षा चाहिए, काम-तृप्ति चाहिए, निद्रा चाहिए, यात्रा पूरी हो जाती है। एक पशु इससे ज्यादा नहीं मांगता। एक अर्थ में पशु की मांग बड़ी सीमित है। एक अर्थ में पशु बड़ा संयमी है। उसकी मांग बहुत ज्यादा नहीं है। बहुत थोड़ी-सी मांग है। अल्प मांग है। उसकी इन्द्रियां जो

मांगती हैं वह पूरा हो जाए, फिर उसे कोई फिक्र नहीं है। वह राष्ट्रपति होने को उत्सुक नहीं होता। उसे भोजन मिला तो वह विश्राम में चला जाता है। काम-वासना की भी पशुओं की मांग बड़ी संयमित है। मनुष्य को छोड़ कर, पशुओं के पूरे विराट जगत् में काम-वासना सावधिक है—पीरिआडिकल है। एक समय होता है, जब पशु काम की मांग करता है। वैसे वर्षभर शेष समय के लिए वह काम के बाहर होता है, तब वह काम की मांग नहीं करता। सिर्फ मनुष्य अकेला पशु है पृथ्वी पर, जिसकी काम वासना सतत्, चौबीस घण्टे, तीन सौ पैंसठ दिन है। कोई सुनिश्चित अवधि नहीं है जब वह कामातुर होता हो। वह पूरे समय कामातुर होता है। कामातुरता उसके पूरे जीवन पर फैल जाती है। कोई पशु इतना कामातुर नहीं है। पशु को भोजन मिल गया तो बात समाप्त हो गयी। कल के लिए, परसों के लिए, वर्ष के लिए, दो वर्ष के लिए भोजन को इकट्ठा करने की भी बहुत आकांक्षा पशु में नहीं है। अगर पशु दूर से दूर की भी फिक्र करता है तो वह शायद एकाध वर्षा की—कोई पशु। लेकिन आदमी अकेला पशु है, जो पूरे जीवन के संग्रह के लिए ही कोशिश नहीं करता, जीवन के बाद, मृत्यु के बाद भी अगर कोई अस्तित्व है तो उसके लिए भी संग्रह करता है।

इजिप्त की ममीज की कब्रों में, आदमी मर जाए तो सारा साज-सामान उसके साथ रख देते थे। जितना बड़ा आदमी हो उतना सामान रखना पड़ता था। सम्राट् डरता था तो उसकी सारी पत्नियों को जिन्दा उसके साथ दफना देते थे, क्योंकि उसको उस पार जरूरत पड़ सकती है। सारा धन, भोजन, बड़ा इन्तजाम है। यह जो पिरामिड खड़े हैं यह मुर्दा लोगों के लिए किए गए इन्तजाम हैं। जीवित स्त्रियों को पति के साथ दफना दिया जाएगा, क्योंकि मरने के बाद वे काम आ सकती हैं। मरने के बाद की तो कोई पशु फिक्र नहीं करता। मरने तक की भी फिक्र नहीं करता। समय की उसकी आकांक्षा भी बड़ी सीमित है। अनेक-अनेक रूपों में आदमी परलोक का भी इन्तजाम करता है। मन्दिर बना देता है, दान दे देता है, इस आशा में कि परलोक में मजा लेगा। परलोक में दिखा देगा कि मैंने इतना दान किया था। उसका उत्तर, उसका प्रत्युत्तर मुझे मिल जाए।

इन्द्रियों की उपासना इतनी जटिल नहीं है। और इसलिए जितना पुराना समाज है—आदिवासी हैं, प्रीमेटिवज हैं, बहुत जाल नहीं है उसके जीवन में, इसलिए बहुत तनाव नहीं है। क्योंकि बहुत अर्थों में पशुओं के जैसी ही, वहां सिर्फ इन्द्रियों की उपासना है। यहां कर्म प्रकृति की उपासना नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता है वैसे-वैसे इन्द्रियों के ऊपर अहंकार की भी प्रतिष्ठा होनी शुरू हो जाती है। और अगर कोई आदमी अपने अहंकार के लिए अपनी इन्द्रियों की बलि भी दे देता है तो हम उसका बड़ा सम्मान करते हैं। अगर एक आदमी पद की दौड़ में भोजन की फिक्र छोड़ देता है, पत्नी की फिक्र छोड़ देता है, बच्चों की फिक्र छोड़

देता है, तो हम कहते हैं, महात्यागी है। पद की दौड़ में, प्रतिष्ठा की दौड़ में, हम कहते हैं—देखो ! न भोजन की फिक्र है, न वस्त्रों की चिन्ता है, न घर-द्वार की चिन्ता है। लेकिन ख्याल करें पीछे कि वह अपनी पशु प्रकृति को अहंकार के लिए समर्पित कर रहा है।

उपनिषद् ऐसे ही व्यक्ति को कहते हैं कि महा अन्धकार में चला जाता है। उससे तो बेहतर वही है, जो सिर्फ इन्द्रियों की उपासना में रत है। उसका जाल उतना गहन नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों की मांग बहुत ज्यादा नहीं है। अहंकार की मांग अनन्त है। इन्द्रियों के साथ बड़ी खूबी है कि सभी इन्द्रियों की मांग अल्प, अत्यल्प और सीमित है। पुनरुक्त होती है, लेकिन असीम नहीं है। इस फर्क को समझ लें। इन्द्रियों की मांग पुनरुक्त होती है, रिपीट होती है, लेकिन असीम नहीं है। आज आपको भूख लगी है, खाना दे दिया, भूख चली गयी। कल फिर लगेगी भूख। रिपीट होगी, पुनरुक्त होगी। लेकिन किसी की भी भूख असीम नहीं है। ऐसा नहीं है कि आप खाते ही चले जाएं और भूख न मिटे। काम वासना आज पकड़ेगी फिर चौबीस घण्टे बाद लौट आयेगी। लेकिन आज जब कामवासना तृप्त हो जायेगी तो आप अचानक पाएंगे कि काम के बिल्कुल बाहर हो गए हैं। कामवासना भी असीम नहीं है। पुनरुक्त होती है जरूर, लेकिन सीमित है। लेकिन अहंकार असीम है। पुनरुक्त होने की जरूरत ही नहीं पड़ती उसे—चलता ही चला जाता है। कितना ही भरो, वह नहीं भरता। अहंकार दुष्पूर है। उसको भरा नहीं जा सकता। एक पद, और वह दूसरे पद की मांग तत्काल शुरू कर देता है। मिला भी नहीं पहला पद कि वह दूसरे की तैयारी शुरू कर देता है। एक आदमी को कहो कि मिनिस्टर बनायें, तो उसी रात वह चीफ मिनिस्टर का सपना देखने लगता है—उसी रात। क्योंकि ठीक है, जो हो गया हो गया। अब आगे की यात्रा अहंकार तत्काल शुरू कर देता है। अहंकार पुनरुक्त नहीं होता, ध्यान रखना। वासनाएं पुनरुक्त होती हैं। और पुनरुक्त इसीलिए होती हैं कि हरेक वासना की सीमित मांग है, वह पूरी हो जाती है तो वह शान्त हो जाती है। फिर जब जागती है दोबारा तो फिर मांग करती है। इसलिए पशु चिन्तित नहीं हैं बहुत। इसलिए पशु पागल नहीं होते—न्युरोटिक नहीं होते। पशु आत्महत्या नहीं करते। पशुओं को मानसिक चिकित्सा की और साइकोएनेलिसिस की कोई जरूरत नहीं पड़ती। पशुओं के लिए किसी फ्रायड का, किसी जुंग का, किसी एडलर का कोई प्रयोजन नहीं है, कोई अर्थ नहीं है।

अगर पशु को गौर से देखें तो पशु बहुत शान्त है। बहुत भयंकर पशु भी बहुत शान्त है। अगर शेर को अपने भोजन के बाद देखा हो तो बिल्कुल शान्त पायेंगे। जरा भी अशान्ति नहीं होगी। एकदम हिंसक, लेकिन हिंसा उसकी उसी समय तक, जब तक उसे भोजन नहीं मिला। भोजन मिला कि वह बिल्कुल अहिंसक हो

जाता है--एकदम गांधीवादी हो जाता है ! फिर भोजन उसके पास में भी पड़ा रहे तो भी देखता नहीं । अक्सर सिंह जब भोजन करने के बाद विश्राम करता है, तब छोटे-मोटे जानवर जो हैं उसके भोजन बन सकते हैं, क्योंकि उसके बचे हुए भोजन को वे उसके पास ही बैठकर करते हैं । लेकिन तब वह उत्सुक ही नहीं होता उन्हें मारने में । कल जब भूख वापस लौटेगी तब वह फिर उत्सुक हो जायगा हिंसा के लिए लेकिन तब तक बात समाप्त हो गयी । लेकिन आदमी के अहंकार की भूख समाप्त ही नहीं होती । जितना भरो उतना बढ़ती है ।

फर्क समझ लेना आप इन्द्रिय और अहंकार का । इन्द्रिय को भरो, भर जाती है । फिर खाली होगी, फिर रिक्त होगी, फिर भरनी पड़ेगी । लेकिन अहंकार भरता ही नहीं । भरते चले जाओ, जितना भरो उतना ही बढ़ता है । जैसे आग में घी डाला हो बुझाने के लिए, ऐसे ही अहंकार में पड़ी हुई सारी पूर्तियां घी बन जाती हैं । और भभकता है और बड़ा होता है । जितना आपने बड़ा किया वह उससे और बड़े होने की मांग करता है । जो भी आप अहंकार को देते हैं वह केवल उसको और बढ़ने की ही सुविधा बनता है । इसलिए अहंकार जिस क्षण से मनुष्य को पकड़ता है, उसी क्षण से पशुओं से भी ज्यादा अशान्ति, तनाव, चिन्ता, बेचैनी आदमी को पकड़नी शुरू हो जाती है ।

आज पश्चिम में वापस इन्द्रियों पर लौट जाने का विराट् आन्दोलन है । जिनको आप हिप्पी कहते हैं, या बीटनिक कहते हैं, या प्रव्होस कहते हैं, आज पश्चिम में वे युवक और युवतियां बड़ा आन्दोलन चला रहे हैं । वह आन्दोलन है वापस इन्द्रियों पर लौट जाने का । वह कहते हैं, तुम्हारी यह शिक्षा, तुम्हारी यह डिग्रियां, तुम्हारे ये पद, तुम्हारा यह धन, तुम्हारी ये कारें, तुम्हारे ये महल कुछ भी हमें नहीं चाहिए । हमें खाना मिल जाए, हमें प्रेम मिल जाए, हमें सेक्स मिल जाए, पर्याप्त है । हमें तुम्हारा ये सब नहीं चाहिए । और मैं मानता हूं कि यह बड़ी भारी घटना है । ऐसा अभी मनुष्य-जाति के इतिहास में कभी नहीं हुआ कि इतने व्यापक पैमाने पर लोगों ने कहा हो कि हम कर्म प्रकृति को छोड़कर सिर्फ इन्द्रियजन्य, वह जो प्रगट प्रकृति है इन्द्रियों की, वासनाओं की, उसके लिए राजी हैं । पर्याप्त है, उससे हमें ज्यादा नहीं चाहिए । यह इस बात की खबर है कि कर्म और अहंकार का जाल इतना भयंकर हो गया है कि आदमी पशु होने को राजी है, लेकिन अब अहंकार से छूटना चाहता है । यद्यपि पशु होने से आदमी अहंकार से छूट नहीं सकेगा । अहंकार से तो आदमी सिर्फ परमात्मा होकर ही छूटता है । इन्द्रियों में गिरकर थोड़ी राहत मिलेगी, लेकिन कल फिर कर्म का जाल शुरू हो जायगा । क्योंकि आज से दो हजार साल पहले भी इन्द्रियों के साथ ही आदमी जी रहा था, लेकिन उसमें से अहंकार निकल आया । आज हम फिर वापस रिग्रेस कर जाएं, कल फिर अहंकार निकल आएगा । कोई उपाय नहीं है

पीछे लौटने का । आदमी को आगे ही जाना होगा । इस सूत्र में उपनिषद् ने कहा है कि प्रकृति की उपासना में रत तो अन्धकार में भटकते हैं । अहंकार की उपासना में रत महा अन्धकार में भटक जाते हैं ।

फिर कौन अन्धकार के पार होता है ? कौन ?

दो ही तरह की उपासनाएं दिखाई पड़ती हैं । या तो इन्द्रियों के उपासक हैं, या तो अहंकार के उपासक हैं । और अक्सर अहंकार के उपासक इन्द्रियों की उपासना के विरोध में ही होते हैं । एक आदमी त्याग किये चला जा रहा है । अगर हम त्यागी की मनोदशा को चीर-फाड़ कर देख सकें, उसका ऑपरेशन कर सकें, तो आप हैरान होंगे कि त्यागी का रहस्य और राज अहंकार की तृप्ति है । उसने तीस दिन का उपवास कर लिया है, गांव में बैण्ड बाजे बज रहे हैं, स्वागत हो रहा है । तीस दिन का उपवास उसने झेल लिया है । हम कहेंगे कि महात्याग किया है, तीस दिन भूखा रहना साधारण बात तो नहीं ! बिल्कुल साधारण बात नहीं है । लेकिन बिल्कुल साधारण है, अगर अहंकार को तृप्ति मिलती हो । तीस दिन क्या आदमी तीस साल भूखा रह जाए, अगर अहंकार को तृप्ति मिलती हो। अहंकार किसी भी इन्द्रिय का त्याग करवाने को सदा तैयार है । और इस राज को हम बहुत पहले समझ गये, इसलिए जिससे भी त्याग करवाना हो उसके अहंकार की तृप्ति करना हम शुरू करते हैं । मनुष्य-जाति इस राज को समझ गयी है । इसलिए आप त्यागी का सम्मान करते हैं । सम्मान के बिना कोई त्याग करने को राजी नहीं होगा। यद्यपि त्यागी वही है, जो सम्मान के बिना त्याग कर सकता हो । आप अपने सम्मान को खींच लें त्यागियों से । सौ में से निन्यानबे त्यागी कल आपको कहीं नहीं मिलेंगे, खो जायेंगे । सम्मान को खींच कर आप देखें, तो आपको पता चलेगा ।

हमें ख्याल में नहीं है कि गांव में एक आदमी अगर एक ही बार भोजन करता है, तो लोग उसके पैर छू लेते हैं । तो आपने उसके अहंकार को इतना भोजन दे दिया, जो काफी है । अब शरीर को काटेगा वह आदमी और अहंकार को भरता चला जाएगा । इसलिए अहंकार की इस पूजा के लिए कुछ भी करवाया जा सकता है और करीब-करीब सब कुछ करवा लिया गया है । पूरे मनुष्य-जाति के इतिहास में हजार-हजार रूपों में, आदमी से कुछ भी करवाया जाता रहा है ।

योरोप में खुद को कोड़ा मारने वाले साधुओं का बड़ा व्यापक आन्दोलन था, मध्य युग में । जो साधु जितने कोड़े अपने को मारे, उतना सम्मान मिलता था । क्योंकि वह शरीर पर उतनी तितिक्षा कर रहा है । तो बड़े अद्भुत साधु पैदा हुए मध्य युग में । जिनका कुल गुण इतना था कि वह सुबह से उठकर अपने मांस को कोड़ों से चीर-फाड़ डालते, लहू-लुहान कर लेते । और गांवों में प्रसिद्धि होती कि फलां आदमी पचास कोड़े मारता है, फलां आदमी सौ कोड़े मारता है ! बस, इतना

ही गुण था, और कोई गुण न था। लेकिन इसके लिए बड़ा आदर मिलता था। तो कोड़े मारने में लोग निष्णात हो गये। आपको हैरानी लगेगी कि यह क्या पागलपन है ! जिस आदमी में और कुछ नहीं था, जो सिर्फ कोड़े मार सकता था, उसको आदर देने का क्या कारण था ? लेकिन आप जरा अपने साधुओं को सोचें तो पता चलेगा कि उनमें क्या गुण है ? किसी साधु में यही गुण है कि वह पैदल चलता है। किसी साधु में यही गुण है कि वह एक बार भोजन करता है। किसी साधु में यही गुण है कि वह स्त्री को नहीं छूता। किसी साधु में यही गुण है कि वह नंगा रहता है। यह गुण हैं ! इसमें कुछ भी तो नहीं है। सार क्या है ? कितने ही चलो पैदल ! सारे जानवर पैदल चलते हैं। नहीं, लेकिन सार एक है कि वह जो पैदल नहीं चल पाते, पैदल चलने में कठिनाई अनुभव करते हैं, जो स्वाभाविक है, वह इनको आदर देते हैं। कार में चलने वाला पैदल चलने वाले के पैर छूता है। पैदल चलने वाले ने कार को दो कौड़ी का कर दिया। तुम्हारा कार का अहंकार मिट्टी में मिला दिया। चलते होओगे कार में, लेकिन पैर तो छूने पड़ते हैं उसके, जो पैदल चलता है !

पैदल चलने वाला शायद कार अर्जित न कर पाता। वह जरा कठिन मामला था। लेकिन पैदल तो चल सकता है। आपके अहंकार को तोड़ने के दो उपाय थे। या तो आपसे बड़ी कार ले आता वह, जो कि जरा कठिन है। और या फिर पैदल चल जाता, जो कि बिल्कुल सरल है। वह पैदल चलकर आपके अहंकार को मिट्टी में मिला देगा। उसने अकड़ कायम कर ली है। लेकिन गुण क्या है, गुणवत्ता क्या है ? कौन-सी क्वालीटेटिव, कौन-सी गुणात्मक क्रान्ति हो गयी उस आदमी में, जो पैदल चल रहा है ? लेकिन नहीं, हम उसको सम्मान देंगे। सम्मान हम इसलिए देंगे कि जो हम नहीं कर पा रहे हैं, जो हमें लगता है कि तकलीफदेह है, वह कर रहा है। तो हमें लगता है, बड़ा त्याग कर रहा है। और उस आदमी को सम्मान मिलता है, तो सम्मान के लिए कोई आदमी सारी पृथ्वी का चक्कर लगा आता है। पैदल क्या, जमीन पर घसिटते हुए लगा सकते हैं। जमीन पर घसिटते हुए भी लोग लगाते हैं। काशी तक की यात्रा कर लेते हैं, जमीन पर घसीटते हुए। और उनके पीछे सौ-दो सौ आदमी चलने लगते हैं, क्योंकि वह जमीन पर घसिटकर काफी विख्यात हो जाते हैं। और भी कोई गुण हैं इसके अलावा, इसके पूछने की कोई जरूरत ही नहीं। त्यागी अक्सर इन्द्रियों के खिलाफ अहंकार की पूर्ति करते चले जाते हैं। मैं तो उसे त्यागी कहता हूं, जो इन्द्रियों से तो मुक्त होता है और अहंकार को तृप्त नहीं करता। तभी त्याग है, अन्यथा कोई अर्थ नहीं। जो इन दोनों से मुक्त होता है, उसकी ही उपनिषद् चर्चा कर रहे हैं। जो न तो प्रकृति की उपासना में रत है और न अहंकार की उपासना में रत है। जो इन दोनों ही उपासनाओं में रत नहीं है, उसकी ही बात उपनिषद् कर

रहे हैं।

ध्यान रखना, इन्द्रियों की उपासना बहुत प्रगट उपासना है। और अहंकार की उपासना बहुत सूक्ष्म। इसलिए अहंकार की उपासना को पहचानना अक्सर कठिन होता है। प्रकृति की उपासना तो प्रगट दिखाई पड़ती है। एक आदमी भोजन में ज्यादा रस लेता है, तो प्रगट दिखाई देता है। एक आदमी सुन्दर कपड़े पहनता है, तो प्रगट दिखाई पड़ता है। लेकिन जो आदमी सुन्दर कपड़े पहनकर गांव में निकलता है, उसकी आकांक्षा क्या होगी ? यही आकांक्षा होती है न कि लोग देखें। यही आकांक्षा होती है न कि लोग जानें, लोग मानें कि वह कुछ है। आखिर लाख या दो लाख रुपए का मिनी कोट पहन कर कोई स्त्री निकलती है तो किसलिए ? कोई कोट जैसा उपयोग तो उसका होता नहीं। कोट में कोई दो लाख का लेना-देना नहीं है। दो-चार सौ रुपए का कोट काफी कोट है। लेकिन दो लाख रुपए के कोट का क्या अर्थ होता होगा ? निश्चित ही कोट से कोई प्रयोजन नहीं, दूसरी स्त्रियों की आंखों में जो जलन जाग जाती होगी, उसका रस है। दूसरी स्त्रियों की दीनता प्रगट हो जाती होगी उस कोट के सामने, उसमें रस है। लेकिन यह भी दिखाई पड़ता है, इसमें बहुत अड़चन नहीं है। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है कि एक आदमी दो लाख रुपए का कोट पहने तो हम समझ जाते हैं कि क्या मामला है। लेकिन एक आदमी नग्न खड़ा हो जाए बाजार में ? कहीं उसका भी रस तो यही नहीं है कि लोग देखें कि वह कुछ है ! तो फिर मिनी कोट में और दिगम्बरत्व में कोई फर्क न रहा। या इतना ही फर्क रहा कि मिनी कोट खरीदना हो तो लम्बे उपद्रव में पड़ना पड़ेगा, दो लाख कमाने पड़ेंगे। और नग्न खड़ा होना हो, तो मिनी कोट का मजा भी मिल जाता है और अभ्यास है सरल। इन्द्रियों की उपासना बहुत साफ है, इसलिए दिखाई पड़ती है। अहंकार की उपासना सूक्ष्म और सूक्ष्म और सूक्ष्म होती चली जाती है।

लेकिन, ध्यान अपने पर रखना, दूसरे की फिक्र मत करना आप कि दूसरा क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है। दूसरा नग्न खड़ा है, तो वह किसलिए खड़ा है, आप नहीं जान सकेंगे। बात इतनी सूक्ष्म है कि वह खुद भी जान ले तो पर्याप्त है। आप नहीं जान सकेंगे। हो सकता है, उसकी नग्नता सिर्फ निर्दोषता हो, इनोसेंस हो। एक महावीर नग्न खड़े होते हैं, तो निश्चित ही नग्नता का उपयोग महावीर मिनी कोट की तरह नहीं कर सकते, क्योंकि कोट उनके पास बहुत हैं। महावीर के पास बहुत कीमती कोट हैं। समबडी होने के लिए तो उनके पास रस बहुत था। तो महावीर जैसा आदमी जब नग्न खड़ा हो जाता है, तो किसी अहंकार की उपासना में जा रहा होगा, इसकी सम्भावना न के बराबर है। बिल्कुल न के बराबर है। लेकिन वह भी हम बाहर से नहीं जान सकते, वह महावीर पर ही छोड़ देना चाहिए कि वह भीतर से जाने। आपके पड़ोस में कोई खड़ा है नग्न, आप नहीं जान सकते,

वह क्यों खड़ा है। यह उस पर ही छोड़ दें कि वह जाने। यह उसे ही पहचानने दें। बहुत सूक्ष्म और भीतरी है बात। इन्द्रियों की तृप्ति करनी हो तो हमें बाहर जाना पड़ता है। अहंकार की तृप्ति करनी हो, तो बाहर जाने की भी जरूरत नहीं है। वह भीतर भी पूरा हो सकता है।

मैंने सुना है, एक संन्यासी एक जंगल में अकेला रहता है, दूर। उसने कोई शिष्य नहीं बनाए। फिर कोई यात्री साधु वहां से निकलता है और उससे कहता है कि आप बड़े विनम्र हैं। आपने एक भी शिष्य नहीं बनाया! इतने बड़े ज्ञानी हैं, फिर भी आप किसी के गुरु नहीं बने! मैं अभी एक दूसरे संन्यासी के पास से आ रहा हूं। उनके हजारों शिष्य हैं।

वह साधु मुस्कुराता है। मुस्कुराता है और कहता है, उनकी मुझसे तुम क्या तुलना कर रहे हो? मेरी उनसे तुम क्या तुलना कर रहे हो! मैं ठहरा नितान्त एकान्तजीवी। मैं किसी तरह का मोह नहीं बनाता। मैंने एक शिष्य का भी मोह नहीं बनाया। मैं किसी तरह का अहंकार निर्मित नहीं करता। मैं गुरु होने का भी अहंकार निमित नहीं करता हूं। मैं बिल्कुल निरहंकारी हूं।

उस आदमी ने कहा, आप ही जैसा एक निरहंकारी साधु मैंने और भी देखा है।

उस साधु का तो चेहरा बदल गया, मुस्कुराहट खो गई। प्रतियोगी सामने खड़ा हो गया तो अहंकार पीड़ा पाने लगा। पहले वह प्रसन्न हो रहा था, क्योंकि वह जिस साधु की बात कर रहा था, उसमें उसके अहंकार को चोट नहीं लगती थी, उल्टे भरता था अहंकार। लेकिन 'ऐसा ही एक साधु मैंने और देखा', इससे बड़ी पीड़ा होती है। मेरे ही जैसा कोई और भी है, इससे चित्त को बड़ा दुख होता है। वह नितान्त एकान्तजीवी व्यक्ति भी उस निर्जन एकान्त में अपने अहंकार को ही भर रहा था। इससे ही भर रहा था कि मैं अकेला रहता हूं। इससे ही भर रहा था कि मैंने शिष्य नहीं बनाए। कोई इससे भर सकता है कि मैंने शिष्य बनाए, कोई इससे भर सकता है कि मैंने शिष्य नहीं बनाए। कोई कह सकता है कि मुझसे बड़ा कोई भी नहीं और कोई कह सकता है कि मैं तो दीन-हीन हूं, आपके पैर की धूल हूं, लेकिन मुझसे बड़ी धूल कोई भी नहीं है। मुझसे आगे की धूलि की बात मत करना, मैं आखिरी हूं। तब कोई फर्क नहीं पड़ता है। तब कोई भी फर्क नहीं पड़ता है। पर इसे पहचानने को स्वयं के भीतर ही जाना पड़ेगा।

ऋषि कहता है, दोनों उपासनाओं से जो मुक्त हो जाता है, वह प्रकाश में प्रवेश करता है। इन्द्रियों की उपासना से भी, अहंकार की उपासना से भी। प्रगट प्रकृति की उपासना से और सूक्ष्म अस्मिता की उपासना से। पर उपनिषद् एक बात बड़ी गहरी कहते हैं कि पहली उपासना इतने गहरे अन्धकार में नहीं ले जाती, क्योंकि इन्द्रियां अन्ततः आपको दी गई हैं। प्रकृति हैं, आपने उन्हें निर्माण नहीं किया।

अहंकार आपका निर्मित है। अहंकार अर्जन है। इन्द्रियां तो मिली हैं। आप पैदा हुए तो साथ लेकर आए। स्वाद से आप भला किसी दिन मुक्त हो जाएं, भूख से आप किसी दिन मुक्त नहीं हो सकेंगे। भूख तो मरते दम तक साथ रहेगी। भूख जरूरत है। इन्द्रियां तो आप लेकर आए और इन्द्रियों से कितने ही मुक्त हो जाएं, फिर भी इन्द्रियों की जरूरत से मुक्त नहीं होंगे। इन्द्रियों की वासना से मुक्त हो सकते हैं, लेकिन इन्द्रियों से मुक्त नहीं हो सकते। इन्द्रियों की विक्षिप्तता से मुक्त हो सकते हैं, लेकिन इन्द्रियों की आवश्यकता से मुक्त नहीं हो सकते। महावीर भी नहीं हो सकते, बुद्ध भी नहीं हो सकते, कोई भी नहीं हो सकता। वह तो जीवन का अनिवार्य अंग है कि भोजन आपको चाहिए ही। हां, इतना हो सकता है, और वही इन्द्रियों की उपासना से जो मुक्त होता है, उसको हो जाता है। इतना ही कि वह पागल नहीं रह जाता। इतना हो जाता है कि वह इन्द्रियों की वासना को फैलाता नहीं है। वर्धन नहीं करता। न्यूनतम—जो आवश्यक है, वहां ठहर जाता है। दो रोटी से काम चल जाता है उसके शरीर का तो दो रोटी पर रुक जाता है। पचास रोटी की उसकी मांग नहीं होती। एक कपड़े से तन ढंक जाता है, तो एक कपड़े से तन ढंक लेता है। लेकिन कपड़ों के ढेर लगाने की उसकी आकांक्षा नहीं होती। एक झोंपड़े के नीचे उसको छाया मिल जाती है, तो ठीक है। बहुत बड़े महल की वह मांग नहीं करता।

यह प्रत्येक को स्वयं ही निर्णय करना पड़ता है कि कितनी उसकी आवश्यकता है, क्योंकि हमारी आवश्यकताएं भी भिन्न हैं। किसी की दो रोटी की आवश्यकता न्यूनतम हो सकती है और किसी की पांच रोटी की आवश्यकता न्यूनतम हो सकती है। किसी के लिए पांच रोटी न्यूनतम आवश्यकता है और किसी दूसरे के लिए पांच रोटी बहुत बड़ा विलास हो सकती है। इसलिए इसे कोई कभी दूसरे के अनुकरण से तय न करे। अपने ही भीतर खोजें और खोज का एक सरल मापदण्ड है कि इन्द्रिय की न्यूनतम आवश्यकता कभी भी चिन्ता से नहीं भरती। इन्द्रिय जैसे ही न्यूनतम आवश्यकता के, अनिवार्य के बाहर जाती है और गैर अनिवार्य की मांग करती है, तभी चिन्ता शुरू होती है। तो चिन्ता को मापदण्ड समझ लेना। जैसे ही आपको चिन्ता होनी शुरू हो, तो आप समझना कि आप कुछ ज्यादा की मांग कर रहे हैं, जो गैरजरूरी है। क्योंकि गैरजरूरी से ही चिन्ता पैदा होती है। जरूरी से चिन्ता पैदा होती ही नहीं। वह जो गैरजरूरी है, जिसके बिना भी चल सकता था, लेकिन आप चलाने को राजी नहीं हैं, उसी से चिन्ता पैदा होती है। तो अगर चित्त में चिन्ता आती हो, तो समझ लेना कि इन्द्रियों की जरूरत से ज्यादा में आप पड़े हैं। चिन्ता सूचक है। जैसे कि भूख लगी है और आपने भोजन लिया। तो कब आपको पता चलेगा कि भोजन जरूरत से ज्यादा हो रहा है। जैसे ही पेट पर बोझ पड़ना शुरू हो जाए, जैसे ही पेट पर भार पड़ना शुरू हो जाए, जैसे ही पेट

के भरने से तृप्ति तो न मिले, पीड़ा शुरू हो जाए तो आप समझ लेना कि जरूरत से ज्यादा है। पेट चिन्तित हो गया।

यह मैंने उदाहरण के लिए कहा। ऐसे ही हर इन्द्रिय चिन्तित हो जाती है, अगर आपने जरूरत से ज्यादा भोजन किया तो। जितनी उसकी जरूरत थी, वहां तक वह स्वस्थ होती है, शान्त होती है, तृप्त होती है। जैसे ही जरूरत से ज्यादा बोझ पड़ा, अस्वस्थ होती है, बीमार होती है, रुग्ण होती है, परेशान होती है। भूख का मिटना तो बड़ा तृप्तिदायी है। लेकिन भूख से ज्यादा का बोझ बहुत ही रुग्ण-दायी है, बहुत रोगकारक है। बहुत सोच-समझ कर एक आदमी लुईकोने ने एक छोटा-सा वक्तव्य दिया है। कहा है कि जो भोजन हम करते हैं, उसमें से आधे से हमारा पेट भरता है और आधे से डाक्टर का। क्योंकि आधा हमारे लिए जरूरी है और आधा बीमारी के लिए। भूख से इतने लोग नहीं मरते पृथ्वी पर, जितने ज्यादा खाने से मरते हैं। और भूख में एक तेजस्विता है। लेकिन ज्यादा खाने में एक तमस है, एक अन्धेरा उतर जाता है।

प्रत्येक को अपना ही निर्णय करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक की जरूरतें और इन्द्रियों की मांगें और व्यवस्थाएं भिन्न हैं। पर जैसे ही चिन्ता पैदा होती है, जैसे ही रोग पैदा होता है, इन्द्रियां बहुत शीघ्र सूचना देती हैं। इन्द्रियां बहुत संवेदन-शील हैं, शीघ्र सूचना देती हैं कि जरूरत से ज्यादा हो गया। यह जरूरी नहीं है। यह जो किया जा रहा है, गैरजरूरी है। तो गैरजरूरी को हटा दें। इन्द्रियां तो रहेंगी अन्त तक, क्योंकि जीवन इन्द्रियों के पहियों पर ही चल रहा है। लेकिन अहंकार अनिवार्य नहीं है। अहंकार हमारा अर्जन है। वह हमने निर्मित किया है। और हम जीते-जी बिल्कुल निरहंकार में प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए अहंकार महा अन्धकार में ले जाता है, क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा निर्मित है। वह बिल्कुल ही गैरजरूरी है। इन्द्रियों में कुछ जरूरी है, कुछ गैरजरूरी, हम जोड़ते हैं। जो हम जोड़ते हैं, वही उपद्रव है। अहंकार पूरा-का-पूरा गैरजरूरी है। वह पूरा-का-पूरा हम ही निर्मित करते हैं। इसलिए वह महा अन्धकार में ले जाता है। इन्द्रियां अन्धकार में ले जाती हैं, गैरजरूरी के जोर से। अहंकार महा अन्धकार में ले जाता है, क्योंकि पूरा ही गैरजरूरी है। जीते-जी बिल्कुल बिना अहंकार में जिया जा सकता है। सच तो यह है कि जो जितने बिना अहंकार के जीता है, उतना ही गहन जीता है। और जो जितने अहंकार से जीता है, उतना ही क्षुद्र और सतह पर जीता है। क्योंकि अहंकार गहरे जाने ही नहीं देता। अहंकार सरफेस पर, सतह पर अटकाए रखता है। क्यों? इसे भी थोड़ा ख्याल में ले लेना चाहिए।

असल में अहंकार का मजा तो दूसरे की आंख में है। आपको अगर जंगल में अकेला छोड़ दें तो अहंकार का कोई मजा नहीं रह जाता। फिर हीरे का हार पहनने का कोई अर्थ नहीं होगा। और पहनेंगे तो जानवर हंसेंगे। हीरे का होगा,

तो भी सिर्फ गले पर भार मालूम पड़ेगा। तबीयत होगी कि उतार कर रख दूं बोझ। जंगल में अहंकार को क्या करिएगा? नहीं, अहंकार का सारा रस ही दूसरे की आंख में जो प्रतिबिम्ब बनता है, उसमें है। निश्चित ही दूसरे की आंख में जो प्रतिबिम्ब बनते हैं, वह सतह पर होंगे। हमारे बाहर चारों तरफ होंगे। घर के बाहर जैसे फेंसिंग लगाते हैं हम, बस अहंकार फेंसिंग की तरह है। चाहे कितनी ही रंगीन हो, कितनी ही खूबसूरत हो, लेकिन है, दूसरे की आंख से निर्मित। अहंकार बिना दूसरे के निर्मित नहीं होता है, इसलिए पर-निर्भर है। इसलिए दूसरे से सदा भयभीत रहना पड़ता है, क्योंकि दूसरे के हाथ में है उसकी तृप्ति, वह कभी भी खींच ले सकता है हाथ। आज सुबह नमस्कार की थी और कल न करें तो गिर गयी दीवार अहंकार की, ईंट खिसक गयी। चित्त बेचैन हो जाएगा कि अब क्या करना। गांव के लोग तय कर लें कि इस आदमी को भूल जाओ। निकले तो सोचो मत कि निकल रहा है। कोई ख्याल ही मत करो कि है। तो उसकी तो मौत हो जाएगी, मर गया जैसे। दूसरे की आंख में रस है, अहंकार का और दूसरे की आंख बाहर है। उसमें जो रस ले रहा है, वह भीतर गहरे नहीं जी सकता। वह गहरे जी नहीं सकता। वह सिर्फ आवरण और वस्त्रों में जिएगा। गहरे जीवन में तो वही उतर सकता है, जो आत्मा में उतरे। और आत्मा में वही उतरता है जो अहंकार को भूले। दूसरे की आंख को भूले, अपनी आंख के भीतर चले। अपने को देखे। दूसरा अपने को कैसा देखते हैं, इसकी फिक्र छोड़ दे। दूसरों की ओपीनियन का ख्याल छोड़ दे कि दूसरे क्या कहते हैं। इसका ही ख्याल रखे कि मैं क्या हूं। यह सवाल बिलकुल बेकार है कि दूसरे क्या कहते हैं। दूसरों से लेना-देना क्या है? दूसरों की गवाही काम नहीं पड़ेगी। जीवन में कोई दूसरों की गवाही का उपयोग नहीं है।

सुना है मैंने, एक यहूदी फकीर हुआ। मर रहा था। आखिरी क्षण था। पुरो-हित गांव का आया था अन्तिम बिदाई का मन्त्र पढ़ने। तो उसने यहूदी फकीर से कहा कि स्मरण करो मूसा का! परमात्मा के निकट जाने के करीब हो। उस मरते फकीर ने आंखें खोलीं और उसने कहा, मूसा का नाम मत लो। क्योंकि जब मैं परमात्मा के सामने होऊंगा—उस फकीर का नाम था मौनीज—तो उसने कहा, जब मैं ईश्वर के सामने होऊंगा तो वह मुझसे यह नहीं पूछेगा कि तू मूसा क्यों नहीं हुआ। वह मुझसे पूछेगा कि मौनीज क्यों नहीं हुआ? मुझसे मूसा का तो पूछगा नहीं। पूछेगा कि जो होने को मैंने तुझे भेजा था, वह तू हुआ कि नहीं? तू जो पोटिशियल बीज लेकर गया था वह फूल बना कि नहीं? अभी मूसा का नाम मत लो। अभी तो मेरा सवाल है।

उस पुरोहित ने झुककर उससे कहा कि मरते वक्त अपनी प्रतिष्ठा पर पानी मत फेरो, क्योंकि चारों तरफ लोग खड़े हैं, वह सुन लेंगे कि मूसा के लिए तुमने ऐसा

वचन कहा। मूसा तो यहूदियों के लिए भगवान् है। उस फकीर ने फिर से आंख खोली और उसने कहा कि जीवनभर उस पागलपन में पड़ा रहा, अब मरते वक्त तो मुझे मुक्त होने दो। उस प्रतिष्ठा को छोड़ता हूं अब। मरते वक्त तो मुझे प्रतिष्ठा से मुक्त हो जाने दो। अब इनकी फिक्र छोड़ो, ये चारों तरफ जो मेरे खड़े हैं। क्षणभर में मैं इनसे छूट जाऊंगा। ये मेरे गवाह नहीं होने वाले हैं। ईश्वर इनसे नहीं पूछेगा कि मेरे सम्बन्ध में क्या कहते हो। ईश्वर तो मुझे देखेगा कि मैं क्या हूं। मुझे मेरी फिक्र करने दो।

असल में अहंकार सदा, दूसरे मेरे सम्बन्ध में क्या कहते हैं, इनका लेखा-जोखा है। और आत्मा सदा इस बात की प्रतीति है कि मैं क्या हूं? दूसरे क्या कहते हैं इससे कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। दूसरे गलत भी कह सकते हैं। दूसरे सही भी कह सकते हैं। क्या कहते हैं यह वे जाने।

इन्द्रियों की उपासना को छोड़ने का अर्थ है, इन्द्रियां जरूरत पर ठहर जाएं। और अहंकार की उपासना को छोड़ने का अर्थ है, अहंकार शून्य पर आ जाए। ये दो सम्भावनाएं पूरी हो जाएं तो व्यक्ति इन्द्रियों के पास भी नहीं बैठता, अहंकार के पास भी नहीं बैठता। वह आत्मा के पास बैठ जाता है। तब एक नयी उपासना शुरू होती है—प्रभु के निकट होने की। और प्रभु के निकट होना कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रभु के निकट होने का अर्थ प्रभु से एक हो जाना ही होता है। उसके बाद हम दूसरे नहीं बच सकते। जब तक हम ये दो उपासनाओं में रत हैं तब तक हम दूर रह सकते हैं। उसके पास होने के लिए, उससे एक होने के लिए अलग से फिर कुछ भी नहीं करना होता। बस, ये दो उपासनाएं छोड़ते ही आप परमात्मा से एक हो जाते हैं। यह ऐसे ही है, जैसे कोई आदमी छत पर से छलांग लगाए और छलांग लगाने के पहले पूछे कि मैं छलांग तो लगा रहा हूं, लेकिन छलांग लगाने के बाद जमीन तक पहुंचने के लिए मैं क्या करूं? तो हम उससे कहेंगे कि तुम छलांग लगाओ, बाकी काम जमीन कर लेगी। तुम्हें कुछ और करना नहीं होगा। तुम छत से एक कदम भर उठा लो बाहर। फिर बाकी तुम्हें कुछ न करना पड़ेगा। बाकी जमीन कर लेगी। इन्द्रियां और अहंकार की उपासना की छत से कोई छलांग-भर लगा जाए, फिर बाकी काम परमात्मा कर लेता है। फिर ऐसा नहीं कि हम उसके पास पहुंचते हैं, हम उसमें ही पहुंच जाते हैं। उसका ग्रेविटेशन, उसकी कशिश भारी है।

हमने इस देश में जिस व्यक्ति को पूर्ण अवतार कहा है—कृष्ण को, उसके नाम का मतलब ग्रेविटेशन होता है। कृष्ण का मतलब है जो खींच लेता है, आकृष्ट कर लेता है, आकर्षित कर लेता है। जिसमें कर्षण है, कशिश है, ग्रेविटेशन है, जो खींच लेता है। बड़ी ताकत है पृथ्वी के खींचने की। लेकिन आप रोक सकते हैं अपने को, न जाएं पृथ्वी तक। एक छोटा-सा तिनका भी रोक सकता है अपने को पृथ्वी

की इतनी बड़ी ताकत के खिलाफ। कहीं भी क्लिंगिंग अगर है, कहीं भी अगर कोई चीज आपने पकड़ रखी है तो यह पृथ्वी की कशिश भी खींच न सकेगी आपको। अनक्लिंगिंग—आपने सब कुछ छोड़ दिया, आपके हाथ खाली हो गए, कुछ भी नहीं पकड़ा तो पृथ्वी फौरन खींच लेगी। कितने ही दूर हों, खींच लिए जायेंगे। और कितने ही पास हों, अगर कुछ भी पकड़ रखा है तो नहीं खींचे जा सकेंगे। परमात्मा खींच लेता है उसे, जो इन दो से मुक्त हो जाता है। इधर इन्द्रियों से, उधर अहंकार से। प्रकाश में इसका प्रवेश हो जाता है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

कार्यब्रह्म (सम्भूति) की उपासना से और ही फल बतलाया गया है; तथा अव्यक्त ब्रह्म (असम्भूति) की उपासना से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमानों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी ॥१३॥

उपनिषद् ब्रह्म के दो रूपों की बात करते हैं। रूप ही दो हैं, तत्त्व तो एक है। यह और भी ठीक होगा कहना कि जानने वाले दो तरह के हैं, तत्त्व तो एक है। एक तो ब्रह्म का अव्यक्त, प्रारम्भरूप है। और एक ब्रह्म का कार्यरूप, प्रगट, और व्यक्तरूप है। बीज कारण है, वृक्ष है कार्य। बीज में छिपा है सब, वृक्ष में सब प्रगट हो गया है। तो एक तो बीज ब्रह्म है, जो हमें कहीं भी दिखायी नहीं पड़ता। जो दिखायी पड़ता है वृक्ष ब्रह्म है, बीज ब्रह्म नहीं। जो व्यक्त है, जो प्रगट हो गया है वह हमें दिखायी पड़ता है। जो अप्रगट है वह हमें दिखायी नहीं पड़ता है। इस अप्रगट ब्रह्म की उपासना हो सकती है। और इस प्रगट ब्रह्म की भी बहुत रूपों में पूजा और प्रार्थना हो सकती है। दोनों के ही अलग-अलग परिणाम हैं।

उपनिषद् जब कहे गये, तब देवताओं की भारी उपासना थी। देवता शब्द को ठीक से समझ लेना चाहिए। देवता ब्रह्म के कार्यरूप की शुद्धतम अभिव्यक्ति है—शुद्धतम। ऐसे तो पत्थर भी उसी की अभिव्यक्ति है, लेकिन देवता हम उसे कहते हैं—प्रगट होते हुए भी जिसमें अप्रगट झलकता हो। जिन्हें हम अवतार कहें, तीर्थंकर कहें, ईश्वर-पुत्र कहें। जीसस हों, मुहम्मद हों, महावीर हों, कृष्ण हों, राम हों। ये व्यक्ति जैसे देहलीज पर खड़े हैं, बीच के द्वार पर। प्रगट हैं, दरवाजे के बाहर से हमें दिखायी पड़ते हैं। सामने का चेहरा उनका साफ है। ठीक हमारे जैसा है। फिर भी ठीक हमारे जैसा नहीं है। कुछ अप्रगट की झांई, कुछ उस बीज

ब्रह्म की झलक भी उनमें दिखायी पड़ती है। उनके सारे प्रगट व्यवहार में से कहीं अप्रगट भी झलक जाता है और ध्वनि दे जाता है। ऐसी समस्त चेतनाएं दिव्य हैं। दिव्य का अर्थ हुआ—प्रगट हैं और अप्रगट की भी झलक देती हैं।

उपनिषद् कहते हैं, इनकी पूजा और प्रार्थना और इनकी अर्चना का भी फल है। क्योंकि एक कदम प्रगट से अतीत भी उनमें कुछ है। जो उन्हें बहुत गौर से देखेगा उसके लिए प्रगट रूप मिट जाएगा और अप्रगट रूप रह जाएगा। इसलिए एक अड़चन पैदा हुई। राम अगर खड़े हैं तो राम के भक्त को राम आदमी नहीं दिखायी पड़ते। राम का भक्त अप्रगट के साथ इतना तादात्म्य बांध लेता है कि प्रगट खो जाता है। राम की रूपरेखा खो जाती है। ब्रह्म ही रह जाता है। इसलिए राम का भक्त जब राम-राम कह रहा है तो दशरथ के बेटे राम से उसका कुछ लेना-देना नहीं है। जब वह राम कह रहा है तो उसका दशरथ के बेटे से कोई प्रयोजन ही नहीं है, कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वह तो बीज ब्रह्म की ही बात कर रहा है। लेकिन जो राम का भक्त नहीं हैं उसको राम में वह हिस्सा दिखायी नहीं पड़ता है, जो अप्रगट है। वह बीज ब्रह्म दिखायी नहीं पड़ता। वह जो प्रगट है, शरीर जिसने लिया है, वही दिखायी पड़ता है। दशरथ का बेटा दिखायी पड़ता है। सीता का पति दिखायी पड़ता है। रावण का दुश्मन दिखायी पड़ता है। किसी का मित्र, किसी का शत्रु—लेकिन जो भी दिखायी पड़ता है वह प्रगट ही दिखायी पड़ता है। और इसलिए जब राम का भक्त राम की बात कर रहा है और राम का जो भक्त नहीं है वह राम की बात कर रहा है तो वह दो व्यक्तियों की बात कर रहे हैं। उनमें कहीं ताल-मेल नहीं हो पाता। उनका कहीं कोई संवाद नहीं हो सकता। वह समझ के ही बाहर हैं एक-दूसरे के। क्योंकि वे जो बातें कर रहे हैं, वे अलग-अलग हिस्सों की बातें कर रहे हैं।

उपनिषद् का यह सूत्र कहता है कि ब्रह्म का वह जो प्रगट रूप है, कार्यरूप है, लेकिन जहां उसके कारण रूप की भी कहीं झलक मिलती है, उसकी उपासना, उसके निकट होने के भी अपने परिणाम हैं, अपने फल हैं। वे फल सुखद होंगे। कहना चाहिए वे फल स्वर्ग जैसे होंगे। वे बड़े शान्तिदायी होंगे। वे बड़े प्रीतिकर होंगे। लेकिन मुक्तिदायी नहीं होंगे। इसलिए हमने तीन शब्दों का प्रयोग किया है। एक शब्द है नर्क, एक शब्द है स्वर्ग और एक और शब्द है मोक्ष। देवताओं की, दिव्य चेतनाओं की निकटता से ज्यादा-से-ज्यादा स्वर्ग तक पहुंच जा सकता है। स्वर्ग की मनोदशा तक, सुख तक—मुक्ति तक नहीं, आनन्द तक नहीं।

क्या फर्क है ?

सुख कितना ही गहरा हो, खो जाएगा। सुख कितना ही लम्बा हो, अन्त आ जाएगा। स्वर्ग होगा, लेकिन समाप्त हो जाएगा। इसे ठीक से समझ लें—मोक्ष शुरू होता है, अन्त नहीं। स्वर्ग शुरू होता है, अन्त होता है। नर्क शुरू नहीं होता, सिर्फ अन्त होता है। इसे फिर दोहरा दूं तो ख्याल में आ जाए। नर्क की कोई बिगनिंग नहीं है, नर्क का कोई प्रारम्भ नहीं है। नर्क है प्रारम्भ-रहित। दुख है प्रारम्भ-रहित। सुख है नहीं, प्रारम्भ हो सकता है। नर्क का कोई प्रारम्भ नहीं है, अन्त हो सकता है। स्वर्ग का प्रारम्भ है और अन्त भी। शुरू भी होगा, अन्त भी हो जाएगा। मोक्ष का केवल प्रारम्भ है, अन्त नहीं। शुरू होगा, फिर अन्त नहीं होगा।

कार्यरूप ब्रह्म है, प्रगट रूप ब्रह्म है, अभिव्यक्त ब्रह्म है। जहां-जहां उसमें दिव्यता झलकी है, वहां-वहां उसकी पूजा और प्रार्थना से ज्यादा-से-ज्यादा स्वर्ग तक पहुंचा जा सकता है। सुख तक पहुंचा जा सकता है। इसलिए सुख के कामी देवताओं की पूजा में रत होते हैं। मुक्ति के कामी देवताओं की पूजा में रत नहीं होते। मुक्ति के कामी देवताओं से पीठ फेर लेते हैं। मुक्ति के कामी सुख की मांग नहीं करते। क्योंकि सुख कभी भी मुक्ति नहीं बन सकता। बन्धन ही रहेगा, सुखद होगा, पर बन्धन ही रहेगा। जो मुक्ति के कामी हैं, वे चाहते हैं कि सर्व अर्थों में परम स्वतन्त्रता उपलब्ध हो जाए। परम आनन्द मिले, जिसका फिर कोई अन्त न हो। अमृत मिले, जिसकी फिर कोई सीमा न हो। जहां से फिर कोई लौटना न हो—प्वाइंट ऑफ नो रिटर्न। जिसके आगे फिर कोई खोज न हो। जिसके आगे कोई यात्रा न बचे, ऐसी जिनकी अभीप्सा है, उन्हें तो बीज ब्रह्म की ही खोज करनी पड़ेगी। उन्हें व्यक्त ब्रह्म की नहीं, उन्हें अव्यक्त ब्रह्म की खोज करनी पड़ेगी। अव्यक्त ब्रह्म की साधना से ही वे मुक्त हो, परम मोक्ष को उपलब्ध हो पाते हैं। दोनों के ही अलग-अलग परिणाम हैं और उपनिषद् की एक बड़ी खूबी है कि उपनिषद् को इन्कार किसी बात से नहीं है। दोनों के परिणाम स्पष्ट कर दिए हैं। इन्कार किसी से नहीं है कि कोई देवताओं की पूजा न करे, बस, इतना ही कि किसी देवता की पूजा करनी हो, वह करे, लेकिन जानता हुआ करे कि सुख से आगे की यह यात्रा नहीं है।

और पीछे सूत्र में कहा है, ऐसा हमने उनसे सुना है, जिन्होंने जाना है। इसमें एक बात ख्याल में ले लेनी चाहिए। जानने को सदा अनन्त है। और मैं कितना ही जान लूं—कितना ही, फिर भी वह पूरा नहीं है। ऐसा समझें कि सागर है और मैं एक किनारे से उतर जाता हूं सागर में। उतर गया पूरा, डूब गया पूरा, फिर भी पूरे सागर को तो मैंने नहीं जाना। सागर ने भला मुझे पूरा जान लिया हो, मैंने पूरे सागर को नहीं जाना। और भी किनारे हैं अनन्त और अनन्त हैं, यात्री। और अनन्त तीर्थों से उतरेंगे अनन्त लोग। वे भी जानेंगे। तो मेरा जानना और उनका जानना जितने बड़े व्यापक पैमाने पर सामूहिक हो जाए, जितना इकट्ठा हो जाए, उतना ही शुभ है। इसलिए उपनिषद् के ऋषि निरन्तर ही जो उन्होंने जाना है, उसे पुल्ड अप कर देंगे। उसे जो अनन्त जाना गया है सदा, उसके

साथ इकट्ठा कर देंगे। वह कहेंगे ऐसा हमने सुना उनसे जो जानते हैं। अपना जो अल्प है, छोटा-सा, उसकी तो बात ही क्या करनी है। जो जाना गया है, वह अनन्त-अनन्त लोगों ने अनन्त-अनन्त जाना है। अपना भी छोटा-सा जानना है, उसे भी उसी में डाल दिया है। उसकी अलग से क्या बात करनी। उसकी बात करते ही वे लजाते हैं। उसकी बात ही नहीं उठाते। ऐसे ही कह देते हैं, जैसे खुद जाना ही न हो। इसी भाव से कह देते हैं कि सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है।

अनन्त-अनन्त लोग, अनन्त-अनन्त चेतनाएं जानी हैं, परमात्मा की और निश्चित ही अलग-अलग तीर्थों से। तीर्थ का अर्थ होता है घाट। इसलिए जैन उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर का मतलब होता है, घाट बनाने वाला। जो एक घाट बनाता है। और वहां से नावें छोड़ देता है। पर अनन्त हैं तीर्थ, क्योंकि यह सागर अनन्त है। अनन्त तीर्थंकर हैं, क्योंकि यह सागर अनन्त है। सबका हमें पता भी नहीं है। अगर हम पीछे लौटते भी हैं, तो वेद के पहले के ऋषियों का हमें कोई भी पता नहीं है। उल्लेख सिर्फ वेद के ऋषियों के बाद का है। ऐसा नहीं है कि वेद के ऋषियों के पहले जाना नहीं गया हो। क्योंकि वेद के ऋषि तो स्वयं बार-बार कहते हैं कि हमने सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है। उपनिषद् हमारे पास पुरानी-से-पुरानी सम्पदा है, जानने वालों की। लेकिन उपनिषद् कहते हैं, हमने सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है। असल में वह इस बात की खबर देते हैं कि सत्य सदा से, अनादि से जाना जाता रहा है। इतने लोगों ने जाना है, इतना ज्यादा जाना है, इतने रूपों में जाना है कि मैं अपने छोटे से रूप की क्या बात करूं। पुल्ड अप कर देता हूं, उसी में जोड़ देता हूं। कह देता हूं कि वही जो जानने वालों ने कहा है, मैं कह रहा हू।

इसमें एक बात और ध्यान रख लेनी जरूरी है कि पुराने सारे जानने वालों को मौलिकता का आग्रह नहीं था। ओरीजनल होने का कोई आग्रह नहीं था। कोई भी यह नहीं कहता कि मैं जो कह रहा हूं, वह मौलिक सत्य है। कि वह मैं ही कह रहा हूं, पहली दफा, और किसी ने नहीं कहा। आज के युग में बड़ा फर्क पड़ा है। आज प्रत्येक यह दावा करना चाहता है कि वह जो कह रहा है, वही कह रहा है, किसी ने नहीं कहा—मौलिक है, ओरीजनल है। क्या बात है? क्या यह बात है कि पुराने लोग मौलिक नहीं थे? आज के लोग मौलिक हैं? नहीं, मामला बिल्कुल उल्टा है। पुराने लोग अपनी मौलिकता के प्रति इतने असंदिग्ध थे, इतने आश्वस्त थे कि उसकी घोषणा की कोई जरूरत न रही। नये आदमी अपनी मौलिकता के प्रति इतने संदिग्ध हैं, इतने अनाश्वस्त हैं कि उसकी बिना घोषणा किए नहीं रह सकते। नये आदमी को सदा डर है कि कोई यह न कह दे कि इसे तो पहले भी लोग जान चुके हैं। तुम क्या कुछ नया जान रहे हो! पर यह डर इस बात का सूचक है कि मौलिक का पता नहीं। असल में मौलिक का मतलब नया

नहीं होता—मौलिक का मतलब होता है, मूल से। ओरीजनल का मतलब माडर्न नहीं होता। ओरीजनल का मतलब होता है, फॉम द ओरीजन। मूल को जिसने जाना, वही मौलिक है। और मूल को बहुत लोग जान चुके। इसलिए मौलिक का अर्थ नया नहीं होता। मौलिक का अर्थ होता है, जड़ को जिसने जाना, मूल को जिसने जाना। लेकिन आज नये का बड़ा आग्रह है, चारों तरफ। कि जो मैं कह रहा हूं, वह नया है। क्योंकि डर इस बात का है कि अगर और सबने भी जाना है, तो फिर मेरी विशेषता न रही। लेकिन मजे की बात यह है कि विशेषता इस जगत् में एक ही है—सिर्फ एक। मुझे याद आता है, एक फकीर, जेकब बोहमेन का एक छोटा-सा भजन—टु बी मोस्ट ऑर्डीनरी इज द ओनली एक्स्ट्रा-ऑर्डीनरीनेस। कहा है, बिल्कुल साधारण होने से बड़ी और कोई असाधारणता नहीं है।

बड़े असाधारण लोग हैं वे, जो कहते हैं, यह नहीं कहते हैं कि मैं जानता हूं, कहते हैं कि जिन्होंने जाना, उनसे हमने सुना। ये बड़े असाधारण लोग हैं। क्योंकि इतने साधारण होने को राजी हैं। असल में जिसे थोड़ा-सा भी ख्याल है कि मैं असाधारण हूं, वह साधारण आदमी है। सभी साधारण आदमियों को यह ख्याल है। साधारण-से-साधारण आदमी को यह ख्याल है कि मैं असाधारण हूं। सभी को यह ख्याल है। यह बहुत कॉमन, बहुत साधारण धारणा है। तो फिर असाधारण किसको हम कहें? उसी को कहेंगे, जिसे पता ही नहीं कि मैं असाधारण हूं। जो इतना साधारण है, वही असाधारण है।

असाधारण है ऋषि का यह वक्तव्य। जिन्होंने इतना जाना और इतना गहरा जाना, उस तरह के लोग ऐसा कहें कि हमने सुना है। निश्चित ही शून्य की भांति रहे होंगे। कोई दावा नहीं—न सत्य का, न पथ का। इतने जो गैरदावेदार हैं, उनकी बात में वजन है। इसलिए बार-बार ऐसा भी दोहराते चले जायेंगे, बार-बार इसे जोड़ते चले जायेंगे हर सूत्र में कि सुना है उनसे, जो जानते हैं। यह अपने को पोंछ डालने की, मिटा डालने की, अपने को अनुपस्थित कर देने की, स्वयं के बिल्कुल न हो जाने की यह जो मनोदशा है, यह गहरे-से-गहरे जीवन के मूल स्रोतों से सम्बन्धित है—मनातीत, भावातीत, ट्रान्सिडेंटल।

आज के लिए इतना। सांझ फिर हम बात करेंगे। अभी तो चलें मूल की तरफ। चलें भावातीत की तरफ।

दो-तीन बातें आपको ध्यान के सम्बन्ध में कह दूं, जो मेरे ख्याल में आयी हुई हैं। नब्बे प्रतिशत मित्र इतना अच्छा कर रहे हैं कि मैं बहुत प्रसन्न हूं। लेकिन दस प्रतिशत के प्रति दया आती है। आप दयनीय न रहें, दस प्रतिशत में न रहें। सस्ते में कीमती चीजों को मत खोयें।

दोपहर के ध्यान के लिए एक बात और। कुछ लोग आंख पर बिना पट्टियां

बांधे बैठ जाते हैं। उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। एक भी व्यक्ति आंख पर बिना पट्टी बांधे न बैठे। दूसरी बात, जब दोपहर के ध्यान में हों, तब अपनी ही चिन्ता में लगें, दूसरे की फिक्र न लें। जो लोग कुछ नहीं कर रहे हैं, उन्हें दूसरों की फिक्र शुरू हो जाएगी। क्योंकि वे खाली बैठे हैं, वे बेकार हैं। बेकार न बैठें। आनन्दित हों, नाचें, प्रसन्न हों। कल मैं बहुत प्रसन्न हुआ। कल बहुत हल्कापन था, जैसे बच्चों जैसे हो गए। एक वृद्धजन भी बच्चों जैसी आवाज लगाते हैं। बहुत भला है, बहुत इनोसेंट था। कह रहे थे—मां, मां, मां—छोटा बच्चा जैसा हल्का हो जाए। प्रसन्नता थी, चियरफुलनेस थी। वह बढ़ती जानी चाहिए। जैसे-जैसे ध्यान गहरा होगा, वह बढ़ेगी। बूढ़ा आदमी बच्चा हो जाए तो ध्यान को उपलब्ध हो गया। तो दोपहर के ध्यान के लिए यह। सुबह के ध्यान के लिए बिल्कुल प्रसन्न हूं। बिल्कुल ठीक चल रहा है।

रात के ध्यान के लिए एक बात कह दूं आपको। कल दो-तीन मित्र जो व्यवस्था के लिए थे, वे काफी थे। बाकी जो व्यवस्था करने ऊपर चढ़ गए थे, उन्होंने बहुत अव्यवस्था पैदा कर दी। और अपनी तरफ से सेल्फ अपाइंटमेण्ट कोई न करे। आप यहां ध्यान करने आए हैं, व्यवस्था करने नहीं। असल में जो बेकार बैठे रहते हैं, उनको मौका मिल गया। उन्होंने सोचा, चलो व्यवस्था कर लें। नहीं, मंच पर कोई इस तरह नहीं चढ़ सकेगा। जो दो-तीन मित्र व्यवस्था कर रहे हैं, वह कर रहे हैं। बाकी आपको नहीं करनी है। कल पीछे वाले मंच के लोगों के लिए मेरे मन में बड़ी पीड़ा रही। वे ध्यान ठीक से नहीं कर पाए। उनको लोगों ने बाधा दी। कोई मेरे ऊपर गिर भी जाए तो क्या फर्क पड़ता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। और जो ध्यान कर रहे हैं, वह बेहोश नहीं हैं, वह खुद होश में हैं। वे कोई गिर जाने वाले नहीं हैं। कोई मेरे ऊपर हमला कर देगा, इसका ख्याल मत करिए। वह खुद होश में हैं। उनका मुझसे प्रेम उतना ही है, जितना व्यवस्थापकों का है। इसलिए उसकी कोई चिन्ता मत करिए। उनको बहुत रोका, उनको मैं दिखायी भी नहीं पड़ा। जब मैं दिखायी नहीं पड़ा तो उपद्रव हो गया। क्योंकि वह तो ध्यान ही पूरा मेरे दिखायी पड़ने का है। तो आज रात के लिए मेरा ख्याल है कि नीचे हाल में सारे खड़े हुए साधक रहेंगे। बैठने वाले लोग पीछे बैठ जायेंगे। इसकी व्यवस्था नहीं करनी पड़ेगी।

कल एक और गलती हुई कि कल बाहर के लोग फिर रात प्रवेश कर गए। उससे बड़ी बाधा पड़ती है। उससे पूरी की पूरी जो ट्यूनिंग पैदा हो सकती है वह नहीं पैदा हो पाती। एक गलत आदमी भी अगर हाल के भीतर है तो वह अलग तरह की तरंगें पैदा करता है। इसलिए एक भी गलत आदमी को प्रवेश नहीं देना है। और कैंप में ऐसे जो लोग हैं, जिन्हें सिर्फ सुनना है और ध्यान नहीं करना है, वे सुनने के बाद फौरन् रात हाल के बाहर हो जाएं। उनकी बड़ी कृपा

होगी। वे नुकसान न पहुंचायें। एक आदमी नहीं चाहिए हमें भीतर, जो दर्शक की तरह हो। उससे भारी बाधा पड़ती है, वह गैप बन जाता है। जब इतनी चेतनाएं इतने भाव से भरती हैं तो सारा वायुमण्डल तरंगित हो जाता है। उसमें अगर एक आदमी बीच में ऐसा खड़ा है, जो तरंगित नहीं है तो वह क्रम-भंग डिसकन्टीन्यूटी पैदा कर देता है। वह इतना हिस्सा तोड़ देता है। उतने हिस्से में आध्यात्मिक ऊर्जा की वर्षा नहीं हो पा रही है। और उसकी वजह से जो तरंगें आर-पार कर दूसरों तक पहुंचती हैं वह भी नहीं पहुंच पातीं। इसलिए रात के ध्यान में मैं अभी प्रसन्न नहीं हूं।

रात का ध्यान सर्वाधिक कीमती है। और यह दो ध्यान उसकी तैयारी के लिए हैं। इन दो ध्यान में आप तैयार हो जाएं और रात को विस्फोट हो सके, तो उस विस्फोट में बाधा पड़ रही है। अभी तक वह हो नहीं पाया। परसों यहां लोग आ गए, उसकी वजह से ठीक नहीं हो पाया। फिर उसके पहले थोड़ा ठीक हुआ। कल हाल में बहुत परिणाम हो सकते थे, लेकिन कुछ लोग ऊपर चढ़ गए और व्यवस्था करने लगे। आप व्यवस्था के लिए नहीं आए हैं। और मेरी फिक्र छोड़ें, अपनी फिक्र करें। मेरा शरीर, एक आदमी को भी ध्यान हो जाए और उसमें छूट जाए तो समझता हूं कि पर्याप्त है।

●

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

जो असम्भूति और कार्य-ब्रह्म—इन दोनों को साथ-साथ जानता है; वह कार्य-ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके असम्भूति के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

प्रवचन : २४
साधना शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ८ अप्रैल, १९७१

वह ब्रह्म है

एक वर्तुल खींचें हम, एक सर्किल बनाएं, तो बिना केन्द्र के नहीं बना सकेंगे। केन्द्र के चारों ओर परिधि को खींचेंगे। केन्द्र से परिधि जितनी दूर होती जाएगी उतनी बड़ी होती चली जाएगी। अगर परिधि पर हम दो बिन्दुओं को लें तो उनमें फासला होगा। अगर दोनों बिन्दुओं से दो रेखाएं खींचें, जो केन्द्र को जोड़ती हों तो जैसे-जैसे केन्द्र की तरफ बढ़ेंगे, वैसे-वैसे फासला कम होता जाएगा। ठीक केन्द्र पर आकर फासला समाप्त हो जाएगा। परिधि पर कितना ही फासला रहा हो दो बिन्दुओं के बीच में, खींची गयी रेखाएं वहां से केन्द्र की ओर हमेशा निकट आती चली जाएंगी। और केन्द्र पर आकर बिल्कुल ही दूरी समाप्त हो जाएगी। वे केन्द्र पर एक हो जाएंगी। अगर परिधि की ओर उन रेखाओं को और आगे बढ़ाते चले जाएं तो जितनी बड़ी परिधि होती चली जाएगी उतना ही दोनों रेखाओं के बीच का फासला बड़ा होता चला जाएगा। ज्यामिति के इस उदाहरण से दो-तीन बातें इस सूत्र को समझाने के लिए आपसे कहना चाहता हूं।

पहली बात तो यह कि जिसे असम्भूति ब्रह्म कहा है वह केन्द्र ब्रह्म है। जहां से सारे जीवन का विस्तार निकलता है। जहां से जीवन की परिधि फैलती चली जाती है—फैलती चली जाती है। अभी विगत कुछ वर्षों की गहन खोज ने विज्ञान को एक नयी धारणा दी है—एक्सपेंडिग युनिवर्स की, फैलते हुए विश्व की। सदा से ऐसा समझा जाता था कि विश्व जैसा है, वैसा है। नया विज्ञान कहता है—विश्व उतना ही नहीं है जितना है, रोज फैल रहा है, जैसे कि कोई गुब्बारे में हवा भरता चला जाए। गुब्बारे में कोई हवा भरता चला जाए और गुब्बारा बड़ा होता चला जाए। ऐसा यह जो विस्तार है जगत् का, यह उतना ही नहीं है जितना कल था। चौबीस घण्टे में यह करोड़ों-अरबों मील बड़ा हो गया है। यह सतत् फैल रहा है। ये जो तारे रात हमें दिखायी पड़ते हैं, ये एक-दूसरे से प्रतिपल दूर जा रहे हैं। यह बड़े मजे की बात है कि एक्सपेंडिग युनिवर्स, फैलते हुए विश्व का यह अर्थ भी हुआ कि एक क्षण ऐसा भी रहा होगा, जब यह विश्व इतना सिकुड़ा रहा

होगा कि शून्य केन्द्र पर रहा होगा। पीछे लौटें। समय में जितने पीछे लौटेंगे, विश्व छोटा होता जाएगा, सिकुड़ता जाएगा। एक क्षण ऐसा जरूर रहा होगा, जब यह सारा विश्व बिन्दु पर सिकुड़ा रहा होगा। फिर फैलता चला गया और आज भी फैल रहा है। परिधि बड़ी होती चली जाती है रोज। वैज्ञानिक कहते हैं, हम कुछ कह नहीं सकते कि यह कब तक बड़ी हो सकती है। यह अन्तहीन विस्तार है। यह बड़ी होती ही चली जाएगी।

एक दूसरी बात भी ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि विज्ञान ने तो यह शब्द अभी उपयोग करना शुरू किया है—एक्सपेंडिंग युनिवर्स, लेकिन उपनिषद् जिसे ब्रह्म कहते हैं उसका मतलब ही होता है—दी एक्सपेंडिंग। ब्रह्म शब्द का ही मतलब वह होता है। ब्रह्म का मतलब परमात्मा नहीं होता। ब्रह्म का अर्थ होता है फैलता हुआ। ब्रह्म का अर्थ होता है जो फैलता ही चला जाता है। ब्रह्म और विस्तार एक ही मूल धातु से निर्मित होते हैं। एक ही शब्द के रूप हैं। ब्रह्म का मतलब है, जो सदा विस्तीर्ण होता चला जाता है। विस्तीर्ण है ऐसा नहीं, स्थिति में विस्तीर्ण है ऐसा नहीं—प्रक्रिया में जो विस्तीर्ण है। जो होता ही चला जाता है—कांस्टेंटली एक्सपेंडिंग। ब्रह्म का मतलब होता है निरन्तर विस्तीर्ण होता हुआ जो है।

अब ब्रह्म के दो रूप हुए, वैज्ञानिक अर्थों में भी—एक तो ब्रह्म का वह रूप हुआ, जिसको असम्भूति कहता है उपनिषद् का ऋषि। असम्भूति ब्रह्म का अर्थ है शून्य ब्रह्म। जब वह नहीं फैलना शुरू हुआ था उस क्षण की हम कल्पना करें, या उस समय की, जब फैलाव का बिल्कुल प्राथमिक क्षण था। जब बीज टूटा नहीं था। बीज के टूटने के बाद तो अंकुर फैलता ही चला जाएगा—वृक्ष होगा। जरा छोटे-से बीज से इतना बड़ा वृक्ष होगा कि हजारों बैलगाड़ियां उसके नीचे विश्राम कर सकेंगी। और फिर उस वृक्ष में अनन्त बीज लगेंगे। और अनन्त बीज में से एक-एक बीज फिर इतना ही बड़ा हो जाएगा। और फिर एक-एक वृक्ष में अनन्त बीज लग जाएंगे। और अनन्त बीजों में से एक-एक बीज में से फिर इतना ही वृक्ष और फिर इतने ही अनन्त बीज···! एक छोटा-सा बीज फैल कर अनन्त बीज होता चला जा रहा है। असम्भूत ब्रह्म का अर्थ है बीजरूप ब्रह्म—बिन्दुरूप ब्रह्म। कल्पना ही कर सकते हैं हम, क्योंकि बिन्दु की कल्पना ही होती है। अगर युक्लिड से पूछेंगे, जो कि सबसे बड़ा जानकार है तो वह कहेगा, बिन्दु हम उसे कहते हैं जिसमें न कोई चौड़ाई है, न कोई लम्बाई। ऐसा बिन्दु आपने देखा नहीं होगा। डेफिनेशन यही है, परिभाषा यही है बिन्दु की, जिसमें लम्बाई और चौड़ाई न हो। क्योंकि अगर लम्बाई और चौड़ाई है तो वह बिन्दु न रहा। वह तो दूसरी आकृति हो गयी। फैलाव शुरू हो गया। जिसमें लम्बाई और चौड़ाई आ गयी उसमें फैलाव आ गया। बिन्दु तो वह है जो अभी फैला नहीं, फैलने को है। इसलिए युक्लिड

कहता है कि बिन्दु की सिर्फ व्याख्या हो सकती है, बिन्दु को खींचा नहीं जा सकता। छोटे-से-छोटे बिन्दु को भी जब आप पेंसिल की नोक से कागज पर रखते हैं तो उसमें लम्बाई-चौड़ाई आ गयी। बिना लम्बाई-चौड़ाई के कागज पर बिन्दु बनेगा नहीं। तो जो बिन्दु दिखायी पड़ता है वह तो विस्तार हो गया। जो बिन्दु दिखायी नहीं पड़ता, सिर्फ परिभाषा में है, वही बिन्दु है। युक्लिड जिसे बिन्दु कहता है वही असम्भूत है—जिसमें अभी होना शुरू नहीं हुआ। जिसमें अभी भूत प्रकट नहीं हुआ—असम्भूत। अभी अस्तित्व आया नहीं, पोटेंशियल है, अभी छिपा है। अभी प्रकट हुआ नहीं, होने को है। यह व्याख्या का बिन्दु है असम्भूत—यह ब्रह्म की एक स्थिति हुई। लेकिन इसे हम नहीं जानते। हम तो सम्भूत ब्रह्म को जानते हैं, जो हो गया। हम तो वृक्षरूप ब्रह्म को जानते हैं, जो हो गया। जो हो ही नहीं गया, जो होता ही चला जा रहा है। फैलता ही चला जा रहा है।

हमारा विश्व रोज बड़ा हो रहा है—प्रतिपल। रोज कहना जरा ज्यादा है, क्योंकि रोज तो बहुत बड़ा हो जाएगा। प्रतिपल बड़ा हो रहा है। प्रकाश-किरणों की जो गति है उसी गति से तारे केन्द्र से दूर हट रहे हैं। प्रकाश-किरणों की गति है प्रति सेकेंड एक लाख छियासी हजार मील। प्रति सेकेंड—तो एक मिनट में साठ गुना। एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड—साठ सेकेंड में, एक मिनट में, एक लाख छियासी हजार मील में साठ का गुणा कर लें। फिर एक घण्टे में उसमें भी साठ का गुणा कर दें। फिर चौबीस घण्टे में उसमें चौबीस का गुणा कर दें। इतनी गति से परिधि केन्द्र से दूर जा रही है। अनन्त काल से इस तरह दूर जा रही है। वैज्ञानिक भी तय नहीं कर पाते कि समय के उस क्षण को हम कैसे तय करें, जब यह शुरू हुई होगी यात्रा। जब पहला कदम उठाया होगा बीज ने वृक्ष होने का। और हम यह भी नहीं कह सकते कि क्या होगी अन्तिम यात्रा।

विज्ञान बड़ी कठिनाई में पड़ गया है। क्योंकि एक्सपेंडिंग युनिवर्स कन्सीवेबल नहीं है कि कहां जाकर रुकेगा और क्यों रुकेगा। रुकने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि रुकने के लिए जरूरत है कि कोई और चीज बाधा बन जाए। एक पत्थर को मैं फेंकता हूं हाथ से। अगर इस पत्थर को कोई बाधा न मिले तो यह कहीं भी नहीं रुकेगा। बाधा मिल जाती है। एक वृक्ष से टकरा जाता है। वृक्ष से न टकराए तो जमीन की कशिश उसे खींच रही है पूरे वक्त। जैसे ही मेरे हाथ की दी गयी ताकत कम पड़ेगी और जमीन की ताकत ज्यादा होगी, वह नीचे गिर जाएगा। लेकिन अगर जमीन में कोई कशिश न हो, रास्ते में कोई व्यवधान न आए और मैं एक पत्थर फेंक दूं, एक छोटा-सा बच्चा भी एक पत्थर फेंक दे, तो वह कहीं भी नहीं रुकेगा। क्योंकि रुकने का कोई कारण नहीं है।

यह जो हमारा विश्व फैलता चला जा रहा है, यह तो सम्भूत ब्रह्म है, यह कहां

रुकेगा ? रुकने के लिए कोई बाधा आनी चाहिए। लेकिन बाधा आएगी कहां से, क्योंकि सभी कुछ तो इसके भीतर है, इसके बाहर कुछ भी नहीं है। 'जो है' सब इसी सम्भूत ब्रह्म का हिस्सा है। इसलिए बाधा तो कहीं आएगी नहीं, यह रुकेगा कहां ? यह रुकेगा कैसे ? क्या यह बढ़ता ही चला जाएगा ? इसलिए आइन्स्टीन और प्लांक, जो इस एक्सपेंडिंग विश्व के ऊपर काफी काम किए, बड़ी उलझन में पड़ गए। उनको आखिर इसको रहस्य की तरह छोड़ देना पड़ा। रुकने का कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता, और न रुके यह इनकन्सीवेबुल मालूम पड़ता है। अगर यह इसी तरह फैलता चला गया तो एक दिन तारे इतने दूर हो जाएंगे कि एक तारे से दूसरा तारा दिखायी नहीं पड़ेगा।

उपनिषद् लेकिन कुछ और ही ढंग से सोचते हैं और उस ढंग को समझ लेना चाहिए। एक दिन, आज नहीं कल, वैज्ञानिक को भी उस ढंग से सोचना शुरू करना पड़ेगा। लेकिन अब तक पश्चिम के विज्ञान को वह धारणा नहीं है। न होने का कारण है। न होने का कारण है कि पश्चिम को पूरा विज्ञान ग्रीक फिलॉसफी से, यूनानी दर्शन से विकसित हुआ है। वह यूनानी दर्शन की जो मूल मान्यताएं हैं उन पर खड़ा है। यूनानी दर्शन की एक मूल मान्यता यह है कि समय जो है, वह सीधी रेखा में गति करता है। इससे पश्चिम का विज्ञान बड़ी मुश्किल में पड़ा है। भारतीय दर्शन की धारणा बड़ी भिन्न है। भारतीय दर्शन की धारणा है कि सभी गति वर्तुलाकार है, सर्कुलर है। कोई गति सीधी रेखा में नहीं होती। इसको ऐसे समझें। बच्चा पैदा हुआ, फिर बड़ा हुआ, फिर बूढ़ा हुआ। यूनानी चिन्तक से अगर हम पूछें तो वह कहेगा कि बच्चे और बूढ़े के बीच में सीधी रेखा खींची जा सकती है। भारतीय दार्शनिक कहेगा नहीं। बच्चे और बूढ़े के बीच एक वर्तुल बनाया जा सकता है। क्योंकि बूढ़ा वहीं पहुंच जाता है मरते वक्त, जहां से बच्चे ने शुरू किया था। एक सर्किल है। इसलिए बूढ़े अगर बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं, तो बहुत हैरानी की बात नहीं है। सीधी रेखा नहीं है। बचपन और बुढ़ापे के बीच वर्तुल है, एक गोल घेरा है। जवानी वर्तुल का बीच का हिस्सा है, उठाव है। फिर जवानी के बाद वापस लौटनी शुरू हो गयी यात्रा। ऐसा समझें, जैसे कि ऋतुएं घूमती हैं। भारतीय धारणा समय की, ऋतुओं के घूमने जैसी है—मण्डलाकार। ग्रीष्म आता है, वर्षा आती है, सर्दी आती है, फिर ग्रीष्म, फिर वर्षा, फिर सर्दी, एक वर्तुल है। सुबह होती है, सांझ होती है। फिर सुबह आती है, फिर सांझ होती है। एक वर्तुल है।

पूर्वी मनीषी की धारणा ऐसी है कि समस्त गतियां वर्तुलाकार हैं। पृथ्वी भी गोल घूमती हैं, ऋतुएं भी गोल घूमती हैं, सूर्य भी गोल घूमता है, चांद-तारे भी गोल घूमते हैं। गति मात्र वर्तुल है। कोई गति सीधी नहीं है। जीवन भी गोल घूमता है। यह जो एक्सपेंडिंग युनिवर्स है, वैसे ही है, जैसे बच्चा जवान हो रहा

हो। लेकिन अगर बच्चा जवान ही होता जाए तो बड़ी मुश्किल पड़ेगी। कहां होगा रुकाव ? लेकिन नहीं, अभी बच्चा जवान हो रहा है, थोड़ी ही देर में वर्तुल डूबना शुरू हो जाएगा और जवान बूढ़ा होने लगेगा। अगर जन्म फैलता ही चला जाए और मृत्यु के बिन्दु पर वापस लौट न आये तो कहां रुकेगा ? इसलिए भारत का जो चिन्तन है, वह कहता है कि यह जो फैलता हुआ ब्रह्म है, यह फैल कर बच्चा होगा, जवान होगा, बूढ़ा होगा, वापस असम्भूत ब्रह्म में गिर जाएगा। वापस शून्य हो जाएगा। जहां से आया है, वहीं वापस लौट जाएगा। बड़ा लम्बा वर्तुल होगा इसका। हमारे जीवन का वर्तुल सत्तर साल का है। लेकिन छोटे वर्तुल के जीवन भी हैं। एक पतिंगा सुबह पैदा होता है, सांझ वर्तुल पूरा हो जाता है। इससे भी छोटे वर्तुल हैं। क्षण भर जीने वाले प्राणी भी हैं। क्षण के शुरू में पैदा होते हैं, क्षण के बाद में डूब जाते हैं। लेकिन आप यह मत सोचना कि जो क्षण भर जीता है, वह सत्तर साल वाले से कुछ कम जीता है। आप यह मत सोचना, क्योंकि क्षण भर में ही सत्तर साल में जो वर्तुल आप पूरा करते हैं, वह पूरा हो जाता है। बचपन आता है, जवानी आती है, प्रेम होता है, बच्चे पैदा होते हैं, बुढ़ापा आ जाता है। मौत हो जाती है। क्षण भर के वर्तुल में भी इन्टेंशयली सत्तर साल पूरे हो जाते हैं।

फिर सत्तर साल कोई बड़ा वर्तुल नहीं है। पृथ्वी हमारी, वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई चार अरब वर्ष पहले पैदा हुई। हमारे पास कोई पता लगाने का उपाय नहीं है कि पृथ्वी अब किस अवस्था में होगी। लेकिन कई हिसाब से लगता है कि बूढ़ी होती है। भोजन कम पड़ता जाता है, आदमी ज्यादा होते चले जाते हैं। मौत निकट मालूम होती है, सब चीजें चुकती जाती हैं। कोयला चुकता जाता है, पेट्रोल चुकता जाता है, भोजन चुकता जाता है। जमीन के सब रासायनिक द्रव्य चुकते जाते हैं। जमीन बूढ़ी होती है। जल्दी ही मरेगी। जल्दी का मतलब ! हमारे हिसाब से नहीं, क्योंकि जिसको चार अरब वर्ष लगे हों बूढ़ा होने में, उसको मरने में भी अरब वर्ष लग जायें, आश्चर्य नहीं। लेकिन हमें जमीन का कुछ पता नहीं चलता। आपके शरीर में, एक-एक शरीर में अन्दाजन सात करोड़ जीवाणु हैं। उन जीवाणुओं को आपका कोई पता नहीं कि आप भी हैं। आपके शरीर में सात करोड़ का जीव जीवन है। लेकिन उनका आपको कोई पता नहीं कि वे भी हैं। वे पैदा होंगे, जवान होंगे, बूढ़े होंगे, बच्चे छोड़ जायेंगे, मर जायेंगे, उनकी कब्र बन जायेगी। आपके भीतर ही और आपको उनका कोई पता नहीं चलेगा। और उनको तो आपका बिल्कुल ही पता नहीं चलेगा। सत्तर साल आप जियेंगे, इस बीच आपके भीतर करोड़ों जीवन पैदा होंगे और बिदा हो जायेंगे। ठीक ऐसे ही पृथ्वी को हमारा कोई पता नहीं है और हमें पृथ्वी के जीवन का कोई पता नहीं है। अरबों वर्ष का उसका जीवन वर्तुल है। पृथ्वी

का चार-पांच अरब वर्ष का जीवन वर्तुल है। पूरे ब्रह्म का, ब्रह्माण्ड का, सम्भूत ब्रह्म का, कितने वर्षों का है, कहना कठिन है। लेकिन एक बात तय है कि इस जगत् में नियम का कोई भी उल्लंघन नहीं है। देर-अबेर नियम पूरा होता है। इसलिए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं इस सूत्र में कि दो हिस्से कर लें ब्रह्म के—सम्भूत, जो है और असम्भूत, जिससे यह हुआ है और जिसमें पुनः लीन हो जाएगा। बिन्दु ब्रह्म और विस्तीर्ण ब्रह्म। विस्तीर्ण ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मृत्यु को पार करता है। बिन्दु ब्रह्म को जो जान लेता है वह अमृत को उपलब्ध होता है। लेकिन विस्तीर्ण ब्रह्म जो है, वह मृत्यु का घेरा है। उसमें मृत्यु घटेगी ही। वर्तुल को पूरा होना पड़ेगा। जन्म हुआ है, मृत्यु होगी। तो फिर क्यों ऋषि कहता है कि ऐसा व्यक्ति मृत्यु को जीत लेता है?

मृत्यु को जीतने का क्या अर्थ है? क्या ऋषि मरते नहीं? सब ऋषि मर जाते हैं। सब ज्ञानी मर जाते हैं। निश्चित ही मृत्यु को जीतने का अर्थ न मरना नहीं है। जिस ऋषि ने यह गाया है कि सम्भूत ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मृत्यु को जीत लेता है, वह भी अब नहीं है, मर चुका है। तो या तो उसने बिना जाने कह दिया और गलत कह दिया। और अगर ठीक कहा, तो मरना नहीं था उसे। नहीं, लेकिन मृत्यु को जीत लेने का अर्थ और है। मृत्यु को जीतने का अर्थ है कि जो व्यक्ति यह जान लेता है, गहरे में अनुभव कर लेता है कि जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी ही है, अनिवार्य है। जो यह जान लेता है कि जन्म शुरुआत है वर्तुल की, मृत्यु अन्त है। जो इस बात को इतनी प्रगाढ़ता से जान लेता है कि मृत्यु अनिवार्यता है, नियति है, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। अनिवार्य से क्या भय? जिससे निवारण नहीं हो सकता है, उसका भय कैसा? जो होगा ही, जो होना ही है, उसकी चिन्ता भी क्या? चिन्ता तो उसकी होती है, जिसमें परिवर्तन हो सके। चिन्ता सिर्फ उसी की होती है, जिसमें परिवर्तन हो सके। इसलिए मजे की बात है कि पश्चिम में जितनी मृत्यु की चिन्ता है, उतनी पूरब में कभी नहीं थी। जब कि पश्चिम को ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीतने के उपाय उसके पास हैं और पूरब को कभी नहीं लगा कि ऐसे जीतने के कोई उपाय हैं। इसके कारण हैं। अगर ऐसा लगे कि मृत्यु को बदला जा सकता है, तो चिन्ता पैदा होगी। जो भी चीज बदली जा सकती है, उससे चिन्ता आयेगी। जो नहीं बदली जा सकती, उसमें चिन्ता का कोई उपाय नहीं। चिन्ता करियेगा क्या? चिन्ता किसलिए? अगर मृत्यु सुनिश्चित है, अगर जन्म के साथ ही तय हो गयी, तो चिन्ता की कोई बात न रही।

युद्ध के मैदान पर सिपाही जाते हैं, तो जब तक युद्ध के मैदान पर नहीं पहुंचते, तब तक भयभीत और पीड़ित और चिन्तित होते हैं। जैसे ही युद्ध के मैदान पर पहुंचते हैं, दिन-दो दिन के भीतर सब चिन्ता मिट जाती है। कायर-से-कायर

सैनिक भी युद्ध के मैदान में पहुंच कर बहादुर हो जाता है। क्या कारण होगा? मनोवैज्ञानिक बहुत चिन्तन करते रहे कि बात क्या है? यह आदमी इतना भयभीत था कि रात इसे नींद नहीं आती थी, डर था कि इसको कल युद्ध के मैदान पर जाना है। पागल हुआ जाता था, कंपता था। युद्ध के मैदान पर आकर लगता था कि भाग खड़ा होगा। यही आदमी युद्ध के मैदान पर आकर मजे से सोता है रात को, बात क्या होगी? जब तक आया नहीं था युद्ध के मैदान पर, तब तक ऐसा लगता था कि बचाव हो सकता है। कोई रास्ता निकल सकता है। परिवर्तन हो सकता है। कोई और भेजा जा सकता है, मैं रोका जा सकता हूं। लेकिन जब युद्ध के मैदान पर आ ही गया और बम गिरने लगे सिर के ऊपर, तो बात समाप्त हो गयी। अब कोई उपाय न रहा। जब उपाय न रहा, तो चिन्ता न रही। जब परिवर्तन की सम्भावना न रही, तो परिवर्तन की आकांक्षा न रही। परिवर्तन की आकांक्षा चिन्ता पैदा कर जाती है।

जब ऋषि कहता है कि सम्भूत ब्रह्म को जान कर ज्ञानी मृत्यु को जीत लेता है, तो उसका मतलब यह है कि फिर मृत्यु उसे भयभीत नहीं करती। मृत्यु बिल्कुल उसके बगल में भी आकर खड़ी हो जाए तो भयभीत नहीं करती।

पाणिनि के सम्बन्ध में एक छोटी-सी मीठी कथा है। पाणिनि उन ऋषियों में से एक है, जिसने इस सूत्र को पूरा किया। अपने विद्यार्थियों को बिठा कर पाणिनि व्याकरण पढ़ा रहा है। जंगल है, एक सिंह दहाड़ता हुआ आ जाता है। पाणिनि कहता है, सुनो सिंह की दहाड़ और इस दहाड़ का क्या व्याकरण-रूप होगा, वह समझो। सिंह दहाड़ रहा है बगल में खड़े होकर, किसी को भी खा जाए! बच्चे कांप रहे हैं। और पाणिनि सिंह की दहाड़ की क्या व्याकरण-व्यवस्था होगी, वह समझा रहा है। कहते हैं, पाणिनि के ऊपर सिंह ने हमला कर दिया, तब भी वह व्याकरण समझा रहा है। पाणिनि को सिंह खा गया, तब भी वह—सिंह मनुष्य को खाता है, तो इसका भाषागत रूप क्या है? इसकी व्याकरण क्या है, वह समझा रहा है।

पाणिनि भी भाग कर बचाव तो कर ही सकता था—ऐसा हमें लगता है। कुछ उपाय किया जा सकता था, लेकिन पाणिनि जैसे लोगों की समझ यह है कि आज मरे कि कल, मरना जब सुनिश्चित है, तो आज और कल से क्या फर्क पड़ता है। समय के व्यवधान से कोई फर्क पड़ता है? जब मृत्यु होनी ही है, तो आज होगी कि कल होगी, कि परसों होगी, उसकी स्वीकृति है। इस स्वीकृति में विजय है। यह स्वीकार कि हम जन्म के साथ मृत्यु को स्वीकार कर लिए हैं। फैलाव के साथ ही सिकुड़ने को स्वीकार कर लिए हैं। फैले हैं, उसी दिन जाना कि सिकुड़ जाएंगे। जन्मे हैं, उसी दिन जाना कि बिदा हो जाएंगे। प्रगट हुए हैं, उसी दिन जाना कि अप्रगट हो जाएंगे। वर्तुल पूरा होकर रहेगा। ऐसी स्वीकृति मृत्यु से

मुक्ति है। फिर मरना कैसा ? मरने वाला तो पार हो गया। उसे तो कोई जन्म का मोह न रहा और मृत्यु का कोई भय न रहा। वह तो पार हो गया। ध्यान रहे, हमारे जीवन में मृत्यु और जन्म दो छोर हैं। जीवन के बाहर हैं। जन्म हमारा जीवन के बाहर है, क्योंकि जन्म के पहले हम नहीं थे। मृत्यु हमारे जीवन के बाहर है, क्योंकि मृत्यु के बाद हम नहीं होंगे। वह बाउण्ड्री लाइन है, सीमान्त है। लेकिन जो जानता है, उसके लिए यह सीमान्त नहीं है, उसके लिए तो मृत्यु और जन्म जीवन के बीच में घटी दो घटनाएं हैं। क्योंकि वह कहता है कि जन्म किसका ? मैं पहले था, तभी तो मैं जन्म सका, नहीं तो मैं जन्मता कैसे ? मैं अप्रगट था, तभी तो मैं प्रगट हो सका, अन्यथा मैं प्रगट कैसे होता ? बीज में अगर वृक्ष नहीं छिपा था, तो कोई उपाय नहीं था कि वह पैदा हो जाए। और मैं मर सकूंगा तभी, जब मैं रहूंगा, नहीं तो मृत्यु किसकी होगी ? जन्म के पहले मैं था तो जन्म हो सका। मृत्यु के बाद भी मैं रहूंगा, तो ही मृत्यु हो सकती है, नहीं तो मृत्यु होगी किसकी ? जो जानता है, उसके लिए मृत्यु अन्त नहीं है। जीवन के बीच घटी एक घटना है। जन्म भी जीवन के बीच घटी एक घटना है, प्रारम्भ नहीं है। इस वर्तुल के बाहर जो जीवन है, वह असम्भूत है। वह अप्रगट है—अनभिव्यक्त है, अनएक्स-प्रेस्ड है। वह असम्भूत जीवन सम्भूत बनता है जन्म से, फिर असम्भूत बन जाता है मृत्यु से। जो जान लेता है सम्भूत जगत् की इस व्यवस्था को—ध्यान रहे, इस व्यवस्था को जान लेता है, वह फिर व्यवस्था से पीड़ित नहीं होता।

एक मकान के भीतर आप हैं। आप जानते हैं कि यह दीवार है, और यह दरवाजा है। तो फिर आप दीवार से सिर नहीं टकराते। फिर आप दीवार से निकलने की कोशिश नहीं करते। निकलना होता है दरवाजे से निकल जाते हैं। लेकिन फिर इसके लिए बैठकर रोते नहीं कि दीवार दरवाजा क्यों नहीं है। लेकिन जिसे दरवाजे का पता नहीं है, वह बेचारा दीवार से सिर टकराएगा और बहुत बार चिल्लाएगा कि दीवार दरवाजा क्यों नहीं है ! दरवाजे का पता हो तो दीवार दीवार है, दरवाजा दरवाजा है। दीवार से निकलने की आप कोशिश नहीं करते, दरवाजे से निकल जाते हैं। व्यवस्था को पूरा जो जान लेता है, वह व्यवस्था से मुक्त हो जाता है। जो व्यवस्था को अधूरा जानता है, वह संघर्ष में पड़ा रहता है। जानते हैं कि जन्म है, तो मृत्यु है। यह जानना इतना साफ है और इतना चरम है, इतना अल्टीमेट है कि इसमें फर्क का कोई उपाय नहीं। इसी का नाम नियति है—सम्भूत की नियति, सम्भूत का भाग्य।

लेकिन भाग्य से हमने बड़े गलत अर्थ लिए हैं। असल में हम गलत आदमी हैं, इसलिए सब चीजों के गलत अर्थ लेते हैं। अर्थ सही और गलत हो जाते हैं, गलत और सही आदमियों के साथ। भाग्य का अर्थ अगर निराशा बन जाए, तो आप समझे नहीं। हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाए आदमी, भाग्य को मानकर, तो आप

समझे नहीं। भाग्य का अर्थ परम आशावान् है। बड़ी मुश्किल मालूम पड़ेगी बात। भाग्य का मतलब ही यह है कि अब दुख का कोई कारण ही न रहा। अब तो निराशा की कोई जगह ही न रही। मृत्यु है, और है। इसमें दुख कहां है ! इसमें पीड़ा कहां है ! दुख और पीड़ा वहीं थे, जब स्वीकार न था।

बुद्ध कहते हैं कि जो बना है, वह बिखरेगा। जो मिला है, वह छूटेगा। मिलन के क्षण में जानना कि बिदा मौजूद हो गयी है। सुन कर हम उदास हो जायेंगे। प्रेमी से मिले, उसी क्षण ख्याल आ गया कि यह तो बिदा का क्षण उपस्थित हो गया। अब थोड़ी देर में बिदा होगी। हमारा मिलन भी नष्ट हो जाएगा। मिलन में जो थोड़ी-बहुत सुख की भ्रान्ति पैदा होती है, वह भी गयी। क्योंकि बिदा दिखायी पड़ने लगी। जन्म हुआ, बण्ड बाजे बजे, उसी वक्त किसी ने कहा, मौत निश्चित हो गयी। मरेगा यह बच्चा। हम कहेंगे, ऐसे अपशकुन की बातें मत बोलो। इससे मन बड़ा उदास होता है। इससे चित्त को बड़ा धक्का लगता है। लेकिन बुद्ध जब कहते हैं, 'मिलन में बिदा उपस्थित हो गयी' तो वे मिलन के सुख को नहीं काट रहे हैं, केवल बिदा के दुख को काट रहे हैं। इसमें फर्क समझ लेना। नासमझ मिलन के सुख को काट डालेगा, समझदार बिदा के दुख को काट डालेगा। क्योंकि जब मिलन में ही बिदा उपस्थित है, तो बिदा का दुख कैसा ? वह तो मिलन चाहा था, उसी दिन बिदा भी चाह ली थी। जब जन्म में ही मौत उपस्थित है, तो मृत्यु का दुख कैसा ? वह तो जिस दिन जन्म चाहा था, उसी दिन मौत भी मिल गयी थी। लेकिन नासमझ जन्म के सुख को काट देगा। समझदार मृत्यु के दुख को काट देगा।

सम्भूत ब्रह्म को, विस्तीर्ण ब्रह्म को, प्रगट ब्रह्म को जानकर व्यक्ति मृत्यु के पार हो जाता है। मृत्यु के, दुख के, पीड़ा के, सन्ताप के, सबके पार हो जाता है। ध्यान रहे, दुख, पीड़ा, सन्ताप और चिन्ता सब मृत्यु की छायाएं हैं—शैडोज ऑफ डेथ। जो व्यक्ति मृत्यु से मुक्त हो गया, उसके लिए न कोई दुख है, न कोई चिन्ता है, न कोई पीड़ा है। कभी आपने ठीक से ख्याल नहीं किया होगा कि जब भी आप चिन्तित होते हैं, तो किसी न किसी कोने में मौत खड़ी होती है। उसी वजह से चिन्तित होते हैं। एक आदमी के घर में आग लग जाए, तो वह चिन्तित होता है। एक आदमी का दिवाला निकल गया, वह चिन्तित है। क्यों ? क्योंकि दिवाला निकलने से जीवन अब कष्ट में पड़ेगा और मौत आसान हो जाएगी। मकान जल जाने से अब जीवन असुरक्षित हो जाएगा। और मौत सुगमता पाएगी। अन्धेरे में अकेला खड़ा आदमी चिन्तित होता है, क्योंकि कुछ दिखायी नहीं पड़ता और मौत अगर आ जाए, तो अभी दिखायी भी नहीं पड़ेगी। जहां-जहां आप चिन्तित होते हों, फौरन पहचानना आस-पास कहीं मौत को खड़ा हुआ पायेंगे। मौत की छाया है चिन्ता। जहां-जहां दुख और पीड़ा मन को पकड़ते हों, वहां समझ लेना कि कहीं

सम्भूत ब्रह्म के सम्बन्ध में नासमझी हो रही है। अनिवार्य को आप निवार्य मान रहे हैं। बस, वहीं से दुख शुरू हो रहा है। जो होना ही है, उसके बाबत भी आप आशा किए जा रहे हैं कि शायद न हो। वहीं से चिन्ता शुरू होती है। वहीं सन्ताप और एंग्विस पैदा होता है। नहीं, जो होना ही है, वही हो रहा है, वही होता है, अन्यथा का कोई उपाय नहीं है—इस स्वीकृति के साथ, इस तथाता के साथ, सम्भूत ब्रह्म की इस व्यवस्था की स्वीकृति के साथ भीतर सब शान्त हो जाता है। अशान्ति का उपाय नहीं रह जाता।

इसलिए कहा है ऋषि ने, सम्भूत ब्रह्म को जान कर मृत्यु से मुक्ति हो जाती है। लेकिन यह आधी बात है, यह आधा सूत्र है। अभी एक और जानने को छूट गया है, जो और गहन है। हम तो इसको ही नहीं जान पाते, इसी से उलझ कर परेशान हो जाते हैं। अज्ञान में नाहक दीवारों से सिर फोड़ते रहते हैं। जहां दरवाजा नहीं है, वहां नाहक टकराते रहते हैं। ताश के घर बनाते रहते हैं, पानी पर रेखाएं खींचते रहते हैं और उनके मिटने को देख कर रोते रहते हैं। जिस दिन पानी पर रेखा खींचे, उसी दिन जान लेना, उसी क्षण जान लेना कि पानी पर खींची गयी रेखा खींचते ही मिटना शुरू हो जाती है। इधर आपने खींची नहीं, उधर वह मिटने लगी। पानी पर रेखा खींचियेगा और स्थायी करने की कोशिश करिएगा, तो इसमें कसूर पानी का है कि रेखा का कि आपका ? इसमें दोष किस-को दीजिए, पानी को, रेखा को ! जो आदमी पानी को दोष देगा, रेखा को दोष देगा, वह दुखी होगा। जो समझेगा अपनी नासमझी, हंसेगा। जान लेगा कि पानी पर खींची गयी रेखा मिटती है। मिटनी ही चाहिए। खिंच जाए तो ही झंझट है। लेकिन इस सम्भूत ब्रह्म को ही हम नहीं समझ पाते, असम्भूत को तो कैसे समझ पायेंगे। प्रगट जो है बिल्कुल, सामने जो खड़ा है—मौत से ज्यादा प्रगट कोई चीज है ? धोखा दिए जाते हैं अपने को, डिसेप्शन दिए जाते हैं। कोई दूसरा मरता है, तो कहते हैं, बेचारा मर गया। ख्याल ही नहीं आता कि अपने मरने की खबर आयी है।

एक पंक्ति मुझे याद आती है, एक आंग्ल कवि की। कोई मर जाता है गांव में तो चर्च की घण्टी बजती है। उस पंक्ति में कहा है—किसी को भेजो मत पूछने कि घण्टी किसके लिए बजती है। तुम्हारे लिए ही बजती है। बिना पूछे ही जानो कि तुम्हारे लिए ही बजती है।

मौत जैसा प्रगट तत्त्व भी ऐसा हम छिपा कर चलते हैं कि अगर कोई मंगल ग्रह का यात्री हमारे बीच उतरे और दो-चार दिन हमारे घर में रहे तो दो चीजों का उसको पता नहीं चलेगा। दो चीजों का और दोनों जुड़ी हैं। ख्याल में ले लें। उसे पता नहीं चलेगा कि यहां मौत होती है। उसे पता नहीं चलेगा कि यहां सेक्स होता है। दो चीजों का उसको पता ही नहीं चलेगा। सेक्स को भी हम

छिपाये हैं। मौत को भी हम छिपाये हैं। ध्यान रखें, सेक्स जन्म का सूत्र है। वह सम्भूत ब्रह्म का पहला चरण है। और मौत आखिरी सूत्र है, वह आखिरी चरण है। मृत्यु के भय की वजह से ही सेक्स का दमन शुरू हुआ। वह पहला सूत्र है। अगर मौत को दबाना हो, तो जन्म की प्रक्रिया को भी भुला देना होगा। क्योंकि जन्म के साथ मौत जुड़ी हुई है। इसलिए जन्म हम अन्धेरे में छिपा देते हैं। जन्म की प्रक्रिया को पर्दों में डाल देते हैं। और मौत को हम गांव के बाहर निकाल देते हैं। कब्रिस्तान बना देते हैं दूर—जो मौत से बहुत ज्यादा भयभीत है, उसकी वजह से। कब्र पर फूल बो देते हैं कि कोई निकले भी कब्र के पास से भूल-चूक से तो फूल दिखायी पड़ें, कब्र दिखायी न पड़े। लाश को ले जाते हैं, तो फूलों में ढांक लेते हैं। वह मरा हुआ दिखायी न पड़े, खिला हुआ दिखायी पड़े। कितने ही फूलों में ढांको, लेकिन जो मर गया, वह मर गया। और कितनी ही खूबसूरत कब्रें, बनाओ और कब्रों पर कितने ही मजबूत पत्थर लगाओ और उन पर नाम लिखो। जब कब्र के भीतर जो पड़ा है आज वह न बच सका, तो पत्थरों पर लिखे हुए नाम कितनी देर बचेंगे ? और कब्रों को कितना ही गांव के बाहर सरकाओ मौत गांव में ही घटती रहेगी, कब्रिस्तान में नहीं घटेगी।

इधर हम सेक्स को दबाते हैं, छिपाते हैं, क्योंकि वह जन्म है। उसको भी दबाने और छिपाने के पीछे अचेतन कारण हैं। कारण यही है कि वह पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़ कर रखा तो मौत भी उघड़ जायेगी। वह भी बच नहीं सकती ज्यादा दिन। इसलिए बड़े मजे की बात है कि जिन समाजों में सेक्स सप्रेशन समाप्त हुआ है—जहां-जहां समाज ने सेक्स को मुक्त कर दिया, प्रगट कर दिया, वहां-वहां मौत की चिन्ता बढ़ गयी है। जिन समाजों ने सेक्स को बिल्कुल ही दबा दिया, भुला दिया, जैसे है ही नहीं, वहां मौत को भी दबा दिया है।

मैंने सुना है, एक यहूदी बच्चा एक दिन अपने घर लौटा। स्कूल में समझ कर आया है कि बच्चों का जन्म कैसे होता है। नये ज्ञान से बहुत आह्लादित है। किसी को बताने को उत्सुक है। घर आकर उसने अपनी मां को पूछा कि मेरा जन्म कैसे हुआ ? उसकी मां ने कहा, परमात्मा ने तुझे भेजा। मेरे पिताजी का जन्म कैसे हुआ ? उनको भी परमात्मा ने भेजा। उनके पिताजी का जन्म कैसे हुआ ? मां थोड़ी हैरान हुई, लेकिन उसने कहा, उनको भी परमात्मा ने भेजा। वह पूछता ही चला गया, और उनके पिता ? सात पीढ़ियां आ गयीं। आखिर मां ने कहा, उत्तर एक ही है। तो उस लड़के ने कहा कि इसका क्या मतलब है ? क्या सात पीढ़ियों से सेक्स हमारे घर में है ही नहीं ! क्योंकि मैं तो स्कूल में पढ़कर आ रहा हूं कि बच्चे ऐसे पैदा होते हैं।

नहीं, बहुत अचेतन भय है सेक्स को दबाने का। वह जन्म का पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़ा और प्रगट किया, तो मौत भी उघड़ जायेगी। जब तक बच्चों

को पता नहीं है कि कैसे पैदा होता है आदमी, तब तक वह यही पूछते चले जाते हैं। लेकिन जिस दिन पता चल जायगा, कैसे पैदा होता है, वह पूछेंगे—मरता कैसे है ? इसलिए पैदा होने वाले सूत्र को ही छिपाये चले जाओ, उसी के आस-पास घूमते रहेंगे वे, और पूछते रहेंगे और कभी मौका नहीं आयगा कि पूछें, मरता कैसे है ? अभी यही पता नहीं चला कि पैदा कैसे होता है, तो मरने का सवाल ही नहीं उठता। ध्यान रहे, पैदा होने का सूत्र साफ हो तो दूसरा सवाल मौत के सिवाय कुछ और नहीं हो सकता। इसलिए दबा दिया काम को। छिपा दिया सेक्स को। उधर कब्र को बाहर सरका दिया गांव के—मृत्यु को भुला दिया। और उन दोनों के बीच हम जीते हैं, अन्धेरे में। निश्चित ही बहुत भयभीत जीते हैं। न जन्म का पता, न मौत का पता, भय होगा ही। सम्भूत ब्रह्म जो इतना प्रगट है, इतना साफ है, उसको भी हम झुठलाते हैं। तो असम्भूत ब्रह्म, जो अप्रगट है, छिपा है, अनभिव्यक्त है, उसका तो कहना ही क्या। वहां तक तो हम पहुंचेंगे कैसे ?

जन्म और मृत्यु को ठीक से जान लें। एक ही चीज के दो छोर हैं वे। एक ही वर्तुल का प्रारम्भ है जन्म, उसी वर्तुल का अन्त है मृत्यु। मृत्यु उसी जगह पहुंच कर होती है, जहां से जन्म होता है। मृत्यु की घटना और जन्म की घटना एक ही घटना है। क्या होता है जन्म में ? शरीर निर्मित होता है। पुरुष और स्त्री के अणुओं से एक नयी कम्पोजिट बॉडी निर्मित होती है। आधे-आधे तत्त्व दोनों के पास हैं। इसीलिए स्त्री-पुरुष का इतना तीव्र आकर्षण है। आधे-आधे हैं, इसलिए इतना आकर्षण है। वह आधे तत्त्व खिंचते हैं पूरे वक्त। पूरा होना चाहते हैं। इसलिए इतनी कशिश है। इतना आकर्षण है। इसलिए सब विधि-विधान, सब नियम, सब सिद्धान्त, सब शिक्षाओं को छोड़ कर बच्चे पैदा होते चले जाते हैं। सब ब्रह्मचर्य की शिक्षाएं देने वाले लोग आते हैं और चले जाते हैं, कोई परिणाम दिखायी नहीं पड़ता। आकर्षण इतना गहरा है कि सब शिक्षाएं ऊपर ही रह जाती हैं। वह आकर्षण एक ही चीज के आधे-आधे तत्त्वों का है। जैसे हमने एक चीज को दो टुकड़ों में तोड़ दिया हो और वह वापस मिलना चाहती हो। मिलते ही नया शरीर निर्मित हो जाता है। आधे अणु स्त्री देती है, आधे अणु पुरुष देता है। जन्म का मतलब है, पुरुष और स्त्री के आधे-आधे अणुओं से मिलकर शरीर का निर्माण। जैसे ही यह शरीर निर्मित होता है, एक आत्मा उसमें प्रवेश कर जाती है। जिस आत्मा की आकांक्षाएं उस शरीर से पूरी होती हैं, वह आत्मा प्रवेश कर जाती है। यह प्रवेश वैसा ही सहज, स्वचालित है, जैसे कि पानी गिरता है और गड्ढे में प्रवेश कर जाता है। उतना ही नियमित है। अपने अनुकूल गर्भ में आत्मा प्रवेश कर जाती है।

मृत्यु में क्या होता है ? वह जो आधे-आधे तत्त्व मिले थे, वापस बिखरने लगते हैं और टूटने लगते हैं। कुछ और नहीं होता। जिन आधे-आधे अणुओं से मिल कर

शरीर कम्पोजिट हुआ था, वे वापस टूटने लगते हैं और बिखरने लगते हैं। भीतर से जोड़ शिथिल होने लगता है। बुढ़ापे का अर्थ है, जोड़ शिथिल हो जाना।

भीतर की जो कम्पोजिट बॉडी थी, वह डिकम्पोज होने लगी। जो जुड़ा था, वह फिर बिखरने लगा। उसके बिखरने का सूत्र जन्म के दिन ही तय हो गया था। ज्योतिषी के ढंग से नहीं, वैज्ञानिक के ढंग से तय हो गया था। असल में जब भी दो स्त्री और पुरुष के अणु मिलते हैं, उनके मिलते समय ही सब तय हो जाता है। अभी हमारा ज्ञान कम है विज्ञान का, लेकिन बढ़ता जा रहा है। आज नहीं कल, बच्चे के जन्म के साथ हम कह सकेंगे कि इसकी बिल्ट इन प्रोसेस कितने दिन चल सकती है। यह सत्तर साल चल सकता है कि अस्सी साल चल सकता है कि सौ साल चल सकता है। ठीक वैसे ही, जैसे हम एक घड़ी को गारण्टी देते हैं कि दस साल चल सकती है। क्योंकि इसके कल-पुर्जों की परख कहती है कि दस साल तक के संघर्ष को झेल लेगी—हवा के, ताप के, गति के। फिर दस साल के संघर्ष को झेल कर बिखर जाएगी। जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उसी दिन दोनों के अणु मिलकर यह तय कर देते हैं कि यह कितने दिन तक हवा, पानी, गर्मी, वर्षा, धूप, दुख, पीड़ा, संघर्ष, मिलन, विरह, मित्रता, शत्रुता, आशा, निराशा, रात, दिन, इन सबको कितने दिन झेल सकेगा ? और झेलते-झेलते कब ढीला पड़ने लगेगा जोड़। और कब वह दिन आ जाएगा, जब ये मिले हुए अणु बिखर कर अलग हो जायेंगे। उनके अलग होते ही आत्मा को वह शरीर छोड़ देना पड़ेगा। मृत्यु और यौन, सेक्स और डेथ एक ही चीज के दो छोर हैं। यौन जिसे मिलाता है, मृत्यु उसे बिखरा देती है। यौन जिसे संयुक्त करता है, मृत्यु उसे वियुक्त कर देती है। यौन अगर सिंथेटिक है, तो मृत्यु एनालिटिक है। यौन संश्लिष्ट करता है, मृत्यु विश्लिष्ट कर देती है। घटना एक ही है। घटना में कोई फर्क नहीं है।

इस सम्भूत ब्रह्म को जो ठीक से जान ले, वह इसकी स्वीकृति को उपलब्ध होता है। और स्वीकृति विजय है। जिस चीज को आपने स्वीकार कर लिया, तो उसके आप मालिक हो गए। अगर आपने गुलामी को भी स्वीकार कर लिया, तो आप मालिक हो गए, गुलाम न रहे। अगर मेरे हाथ में आप जंजीरें डाल दें और मैं राजी से डलवा लूं। और आप मुझे जाकर कारागृह में बन्द कर दें और मैं नाचता हुआ बन्द हो जाऊं। और क्षणभर को भी मेरे मन में यह कभी ख्याल न उठे कि बाहर भी हो सकता था, बस जानूं कि जो हो सकता था, वही हुआ है। तो आप मुझे गुलाम बनाने में समर्थ नहीं हुए। आप हार गए। मालिक हूं मैं अब भी। उल्टे आप मेरे गुलाम हो जायेंगे। क्योंकि ताला-चाबी भी रखनी पड़ेगी, दरवाजे पर पहरा भी देना पड़ेगा ! और मैं अगर स्वीकार कर सकता हूं ताला-चाबी को, सामने खड़े पहरेदार को कि ठीक है, नियति है तो मैं अपना गीत गा

सकता हूं भीतर। और आप बन्दूक लिए हुए गम्भीर बने रह सकते हैं। गुलामी भी अगर पूर्ण स्वीकृत हो जाए तो मालकियत है और मालकियत भी अगर पूरी स्वीकृत न हो तो गुलामी है। पूर्ण स्वीकृति मुक्ति है। किसी भी तथ्य की पूर्ण स्वीकृति मुक्ति है। सम्भूत ब्रह्म को जान कर व्यक्ति पूर्ण स्वीकार को उपलब्ध होता है और इस तरह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

दूसरी बात भी ख्याल में ले लें। हालांकि ख्याल के लायक नहीं है दूसरी बात। ख्याल में लेने से आएगी भी नहीं। पहली बात की ख्याल में आ जाए तो पर्याप्त है। असम्भूत ब्रह्म को जानने की बात तो और गहन अनुभव की है। असम्भूत ब्रह्म को जानने के लिए या तो जन्म के पहले जाना पड़े या मृत्यु के बाद जाना पड़े। उसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। इसलिए जैन फकीर जापान में जब कोई साधक उनके पास जाता है, तो उससे कहते हैं कि तू जा और ध्यान कर और पता लगा कि जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था? जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था, इस पर ध्यान कर—व्हाट इज युअर ओरिजनल फेस! ओरिजनल यह नहीं है, जो अभी है। वह नहीं जो कल था, वह नहीं जो परसों था। ओरिजनल—जो जन्म के पहले था, जो तेरा असली चेहरा है, वह बता। यह चेहरा, जो अभी है, यह तो तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह आंख का रंग तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह नाक-नक्श तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह चमड़ी का रंग तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। अगर नीग्रो मां-बाप होते, तो यह काला हो जाता। अगर अंग्रेज मां-बाप होते, तो यह भूरा हो जाता। यह पिगमेण्ट, जो शरीर के रंग का है, यह तो तेरे मां-बाप से मिला है। यह तेरा रंग नहीं है। अपना रंग क्या है तेरा, उसका पता लगा! अपने चेहरे की फिक्र कर, यह तो मां-बाप का दिया हुआ चेहरा है। दिए हुए चेहरे छीन लिए जाएंगे। यह मुखौटा से ज्यादा नहीं है। लेकिन सत्तर साल चलता है, इसलिए हम सोचते हैं, चेहरा है! एक आदमी के चेहरे पर अगर फिकस्ड मुखौटा लगा दिया जाए और नट, कील इस तरह कस दिए जाएं कि इस जिन्दगी में न छूट सकें, तो थोड़े दिन में वह उसे अपना चेहरा समझने लगेगा। क्योंकि जब भी आईने के सामने जाएगा; वही दिखाई पड़ेगा।

एक आदमी ने अमरीका में एक बहुत अनूठा प्रयोग किया है अभी। उस अमरीकन युवक लेखक ने सोचा कि मैं वैज्ञानिक प्रक्रिया से नीग्रो हो जाऊं। वैज्ञानिक प्रक्रिया से चमड़ी को काला करवा लूं। और फिर अमरीका में जी कर देखूं कि नीग्रो पर क्या गुजरती है। नीग्रो पर जो गुजरती होगी, वह सफेद चमड़ी के आदमी को कभी ठीक पता नहीं चल सकता। बिना नीग्रो हुए पता चल भी कैसे सकता है। ऐसे जो भी पता चलेगा वह सफेद चमड़ी वाले का अनुभव होगा, नीग्रो का नहीं। तो बड़ा हिम्मत का प्रयोग था। पहले तो वैज्ञानिकों ने इन्कार किया। क्यों-

कि खतरनाक भी था। पर वह आदमी मानने को राजी नहीं था और धीरे-धीरे तीन वैज्ञानिकों को उसने राजी कर लिया। छः महीने की लम्बी प्रक्रिया—इंजेक्शन्स और शरीर में नए पिगमेंट्स डाल कर उसकी चमड़ी नीग्रो की हो गयी। उसकी चमड़ी काली हो गई। बाल घुंघराले कृत्रिम रूप से तैयार कर दिए गए। उस आदमी ने लिखा है अपने संस्मरण में कि पहली बार वैज्ञानिकों ने कहा कि प्रक्रिया पूरी हो गई, अब तुम अपने प्रयोग पर निकल सकते हो। तो मैं बाथरूम में गया कि अपना चेहरा तो देखूं। लेकिन मेरी हिम्मत बिजली का बटन दबाने की न हुई। पता नहीं क्या दिखाई पड़े! बड़े डरते हुए बिजली का बटन दबाया। सोचा था पहले कि रंग ही बदल जाएगा, मैं तो मैं ही रहूंगा। लेकिन जब आइने में देखा तो रंग ही नहीं बदला था, मैं भी बदल गया था। समझ में ही नहीं पड़ा कि यह क्या हो गया, यह कौन आदमी खड़ा है! सब कुछ और था। सोचा था कि इस भांति नीग्रो होकर छः महीने नीग्रो के बीच रहकर जान लूंगा कि नीग्रो कैसा अनुभव करते हैं। हालांकि मैं तो नीग्रो नहीं हूं, तो नीग्रो नहीं रहूंगा। लेकिन संस्मरण में लिखा है कि चार-छः दिन नीग्रो के बीच रहकर मैं यह भूलने लगा कि मैं अमरीकन हूं। मैं गोरा हूं, यह मैं भूलने ही लगा। रोज सुबह-सांझ आइने में अपनी वही तस्वीर दिखाई पड़ने लगी। फोटो निकलवा कर देखे। नीग्रो ऐसे व्यवहार करने लगे, जैसे मैं नीग्रो हूं। रास्ते पर जो सदा नमस्कार करते थे सफेद चमड़ी के लोग, वे ऐसे निकल जाने लगे, जैसे कोई पास से निकला ही न हो। एक दिन सुबह जाकर द्वार पर खड़ा हुआ अपनी पत्नी के। पत्नी ने देखा और नहीं देखा। नीग्रो को कोई देखता है? नौकर आकर द्वार पर खड़ा हो जाए, भंगी खड़ा हो जाए, तो आप देखते हैं? कौन देखता है? दिखाई पड़ जाता है, देखता कोई नहीं है। जिस गोरे जूते बनाने वाले और जूते पर पालिश करवाने वाले से वह सदा जूते पर पालिश करवाता था, जब जाकर उसकी टिकटी पर उसने अपना जूता रखा तो उस आदमी ने ऊपर देखा और कहा कि होश है? पैर नीचे हटाओ!

लिखा है उसने कि तब मुझे ऐसा नहीं लगा कि मैं तो असल में सफेद चमड़ी का आदमी हूं, तो मैं हंसूं। यह तो नीग्रो के साथ व्यवहार हो रहा है। नहीं, तब मुझे लगा, मेरे साथ व्यवहार हो रहा है। और मुझे वही पीड़ा हुई। छः महीने की निरन्तर प्रक्रिया के बाद पिगमेंट्स खराब हो गया और चमड़ी वापस सफेद होनी शुरू हो गई। छः महीने की प्रक्रिया के बाद उसने लिखा है कि अब जब मैं याद करता हूं वे छः महीने तो मुझे ऐसा नहीं लगता कि वह मैंने जिए। लगता है, कोई एक स्वप्न देखा। वह अलग ही आदमी था, मैं अलग ही आदमी हूं। क्योंकि चेहरों से ही तो हमारे जोड़ होते हैं।

वह चेहरा उसका नहीं था, छः महीने के लिए मिला था। यह चेहरा भी आपका नहीं है। लेकिन मजा यह है कि वह सोचता है कि वह छः महीने के लिए जो चेहरा था वह उसका नहीं था, उसके पहले जो चेहरा था उसका था और उसके बाद जो चेहरा है वह उसका है। वह भी उसका नहीं है। वह छः महीने के लिए वैज्ञानिक से मिला था चेहरा। यह सत्तर साल के लिए मां-बाप से मिला है चेहरा। यह भी अपना नहीं है। यह खुद का चेहरा नहीं है। खुद का चेहरा तो जन्म के पहले मिल सकता है या मौत के बाद मिल सकता है। जन्म के पहले लौटना बहुत मुश्किल है। असम्भूत ब्रह्म को जन्म के पहले जानना बहुत मुश्किल है। पहले तो मैंने कहा, असम्भूत ब्रह्म को सम्भूत ब्रह्म के मुकाबले जानना बहुत मुश्किल है। अब मैं आपसे कहता हूं, दो उपाय हैं—या तो जन्म के पहले रिग्रेस कर जाएं। ध्यान में इतने पीछे चले जायें उतर कर कि जन्म के पहले चले जायें तो असम्भूत ब्रह्म को जान लेंगे। दूसरा उपाय यह है कि ध्यान में इतने आगे बढ़ जाये कि मर जाएं और मौत के आगे निकल जाएं। तो असम्भूत ब्रह्म का अनुभव हो जायेगा। इन दोनों में मरने का प्रयोग आसान है। क्योंकि वह भविष्य है। पीछे लौटना बहुत कठिन है, आगे ही जाना आसान है। आगे ही छलांग ली जा सकती है। पीछे लौटना बड़ा मुश्किल है। बचपन के वस्त्र पहनने बहुत मुश्किल हैं। गर्भ में वापस लौटना अति कठिन है, क्योंकि बहुत संकरा होता जाता है मार्ग। लेकिन ढीले वस्त्र—मौत के ढीले वस्त्र पहनने बहुत आसान है। मार्ग विस्तीर्ण होता चला जाता है। ध्यान रहे, जन्म का द्वार बहुत छोटा है, मृत्यु का द्वार बहुत बड़ा है। मृत्यु के पार जाना आसान है। जन्म के पार जाना भी सम्भव है। उसकी भी प्रक्रियाएं हैं, उसके भी मार्ग हैं, लेकिन अति कठिन हैं। मैं जिस ध्यान की बात कर रहा हूं, वह मृत्यु का प्रयोग है। वह मृत्यु में छलांग है। अपने हाथ से मरकर देखना है। अपने से ही मरे जैसे हो जाना है। अगर घटना घट जाए और जानते हुए आप मृत्यु में उतर जायें और ऐसे हो जाएं, जैसे 'नहीं हैं' तो असम्भूत ब्रह्म का चेहरा दिखायी पड़ेगा। उसका चेहरा दिखायी पड़ेगा, जो जन्म के पहले है और मृत्यु के बाद है।

प्रक्रिया भले दो हो जायें, लेकिन बिन्दु वह एक ही है। आप चाहे पीछे लौट कर उस बिन्दु को देखें, चाहे आगे जाकर उस बिन्दु को देखें। लेकिन सरल है आगे जाना। इसलिए मेरा आग्रह मृत्यु पर है। मैं नहीं कहता कि आप लौट कर देखें जन्म के पहले कि क्या चेहरा था। मैं कहता हूं, जरा आगे बढ़ कर झांक के देखें कि मृत्यु के बाद क्या चेहरा होगा। ऐसी स्वेच्छा से स्वीकृत मृत्यु ध्यान बन जाती है। और अगर कोई व्यक्ति इस मृत्यु को सिर्फ थोड़े ही क्षणों में न जीना चाहे, बल्कि पूरे जीवन में जीना चाहे तो संन्यास बन जाती है। संन्यास का अर्थ

है, जीते-जी इस तरह से जीना, जैसे मर गए।

एक जेन फकीर हुआ है—बोकोजू। संन्यास लिया उसने। गांव से गुजरता था, किसी आदमी ने गालियां दीं। उसने खड़े होकर सुनीं। पास की दुकान के मालिक ने उससे कहा, क्या खड़े होकर सुन रहे हो! वह गालियां दे रहा है। बोकोजू ने कहा, लेकिन मैं मरा हुआ आदमी हूं। अब मैं जवाब कैसे दूं। उस आदमी ने कहा, मरे हुए आदमी? पूरी तरह जीते हुए दिखायी पड़ रहे हो! तो बोकोजू ने कहा, जब मर ही जाऊंगा, फिर मरने में मेरा क्या गुण होगा। जीते-जी मर रहा हूं। इसमें कुछ मेरा गुण है। जब मर ही जाऊंगा, तब तो मरूंगा ही। तब तो सभी मरते हैं। मैं जीते-जी मर गया हूं।

जन्म हो गया अनजाने में। अब कोई उपाय नहीं है उसमें जाने का। लेकिन मृत्यु अभी आगे है, उसमें से जान कर गुजरना है। जन्म के वक्त चूक गया एक मौका, जब कि उसे जाना जा सकता था, जो जन्म के पहले था। लेकिन वह तो चूक गया। एक अवसर और है—वह है मृत्यु। लेकिन ध्यान रहे, अगर मृत्यु अचानक आयी, जैसा कि जन्म आया था, तो उसको भी चूक जाएंगे जानने से। लेकिन अगर आपने तैयारी करके मृत्यु को दरवाजा दिया, आप तैयार रहे, मरते गए, मरते गए, तो उसे जान लेंगे। संन्यास का मतलब यही है—मरना अपनी तरफ से, स्वेच्छा से—वालंटरी डेथ। मरते जाना, ऐसे होते जाना जैसे मर ही गए। जब कोई गाली दे, तो जानना कि मरे हुए हैं। जब आप मर जायेंगे और आपकी कब्र पर खड़े होकर कोई गाली देगा, तब आप क्या करेंगे? वही करना शुरू कर दें। आपकी खोपड़ी कहीं पड़ी होगी और कोई लात मारेगा, तो जो उस वक्त करेंगे, वही अभी भी करना। संन्यास का अर्थ यही है। ऐसा हम असम्भूत ब्रह्म में उतर जायेंगे अन्यथा मौत का अवसर भी चूक जाएगा। और ऐसा नहीं कि इसी दफे, कई दफे चूक चुका है। जन्म का भी कई बार चूका है। इस बार तो चूका ही है, इसके पहले भी जन्म का अनेक बार चूका है और मृत्यु का अनेक बार चूका है। बहुत बार जन्म ले चुके, बहुत बार मर चुके—आदतन, एडेक्टेड हैं। एक ढंग हो गया है हमारा, पर यह ढंग आगे भी चलाना है, नहीं चलाना है, यह निर्णय लेना चाहिए। अभी एक अवसर आगे आ रहा है मौत का। उस अवसर के लिए तैयारी करते जाना चाहिए, तो असम्भूत में प्रवेश हो जाएगा। और जो असम्भूत में प्रवेश करता है, ऋषि कहता है, वह अमृत को जान लेता है। जो सम्भूत को जान लेता है, वह मृत्यु को जीत लेता है। जो असम्भूत में प्रवेश करता है, वह अमृत को जान लेता है। ध्यान रहे, मृत्यु में प्रवेश करके ही अमृत जाना जाता है। क्योंकि जब हम मृत्यु में पूरी तरह प्रवेश कर जाते हैं, सब भांति मर जाते हैं और फिर भी पाते हैं कि नहीं मरे तो अमृत की उपलब्धि हो गयी। जब कोई गाली देता है

और आप मुर्दे की भांति होते हैं और फिर भी जानते हैं कि 'हूं', और गाली का उत्तर नहीं आता। और जब कोई आपका हाथ काट दे, गर्दन काट दे, और गर्दन कटती हो, तब भी आप जानते हैं कि गर्दन कट रही है, फिर भी 'हूं', तो अमृत का द्वार खुल गया। मृत्यु से जो बचेगा, वह अमृत से वंचित रह जाएगा। मृत्यु में जो उतरेगा, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

असम्भूत ब्रह्म को जान कर अमृत की उपलब्धि है, क्योंकि असम्भूत अमृत है। है। वह जन्म के पहले और मृत्यु के बाद है, इसलिए अमृत है। वह कभी जन्मता नहीं है, इसलिए उसके मरने का कोई उपाय नहीं। हम भी वही हैं। शरीर ही जन्मता है, वही कम्पोजिट होता है, मां-बाप से वही मिलता है। हम बहुत पहले से आते हैं। जब शरीर नहीं था, तब भी हम थे। शरीर में प्रवेश करते ही शरीर से तादात्म्य बन जाता है। फिर शरीर मरता है, तो लगता है, मैं मर रहा हूं। और जब अचानक मौत आएगी—और मौत अचानक ही आती है। मौत आपको खबर देकर नहीं आती है। खबर देकर आए तो आप बहुत मुसीबत में पड़ जाएं, इसलिए बड़ी करुणापूर्ण व्यवस्था है कि बिना खबर दिए आती है। सोचें, चौबीस घण्टे पहले आपको मौत बता जाए कि आती हूं, चौबीस घण्टे बाद तो मौत में तो जो होगा सो होगा, इस चौबीस घण्टे में जो होगा उसका हिसाब लगाना बहुत मुश्किल है। लेकिन मौत की करुणा महंगी पड़ती है। खबर देकर आ जाए तो पीड़ा तो होगी, लेकिन शायद मौत से जानते हुए गुजरना हो जाए। अगर चौबीस घण्टे पहले मौत खबर दे दे कि आती हैं, तो तकलीफ तो भारी होगी। करुणा है उसकी कि नहीं खबर देती आपको। लेकिन अगर खबर दे दे तो पीड़ा तो भारी होगी और चौबीस घण्टे में न मालूम कितने नर्क से गुजरना हो जाएगा। एक-एक पल बीतना मुश्किल हो जाएगा। बिना धड़कते हुए हृदय के जीना पड़ेगा चौबीस घण्टे। नाड़ी खो जाएगी, बुद्धि खो जाएगी—ऐसे-वैसे भी बहुत ज्यादा है नहीं। लेकिन शायद, शायद कहता हूं, जानते हुए गुजरना हो जाए। क्योंकि बहुत सम्भावना यह है कि पता चल जाए तो आप चौबीस घण्टे पहले बेहोश हो जाएंगे। होश में नहीं रहेंगे। चौबीस घण्टे बेहोशी में, कोमा में पड़े रहेंगे, और मरेंगे। शायद इसीलिए कोई सार्थकता नहीं है कि मृत्यु की खबर पहले मिल भी जाए तो कुछ फायदा हो सके।

संन्यास अपने ही हाथ से मृत्यु की खबर को अपने को दे देना है। कह देना है कि बस, जो चर्च में घण्टी बज रही है, मेरे लिए ही बज रही है। वह जो रास्ते पर लाश गुजर रही है, वह मेरी गुजर रही है। वह जो मरघट में आदमी जल रहा है, वह मैं जल रहा हूं। इसीलिए तो संन्यासी का सिर घुटा देते हैं, जैसा मुर्दे का घुटा देते हैं। पहले तो संन्यास की जो प्रक्रिया और दीक्षा थी, उसमें आदमी

का सिर घुटा कर, घर के लोग वैसे ही रो-धो लेते थे, जैसे मरता है आदमी तब रो-धो लेते हैं। हालांकि अभी भी थोड़ा रोना-धोना घर के लोग करेंगे, वह आपके मरने की वजह से कि यह आददो अब मरेगा। निर्णय कर रहा है मरने का। उनको रो-धो लेने देना, क्योंकि मरते वक्त तो आप कोई बचाव न कर सकेंगे उनके रोने-धोने का। हालांकि अभी का रोना-धोना दिन-दो दिन में चला जाएगा, क्योंकि वह जानेंगे कि भला यह आदमी मरने का निर्णय लिया, लेकिन जिन्दा है। दो दिन में निपट जाएंगे, पार हो जाएंगे। और अच्छा है, अपने जानते ही, अपने सामने ही अपनी मृत्यु की पीड़ा से भी उनको गुजार दें। क्योंकि कल जब मैं मरूंगा और वे मृत्यु की पीड़ा से गुजरेंगे, तब मैं कुछ सहानुभूति प्रकट करने को, सान्त्वना देने को भी नहीं रहूंगा।

दीक्षा देते थे संन्यासी को तो चिता पर चढ़ाते थे। बहुत सरल दिन थे वे। बहुत भोले लोग थे। चिता पर चढ़ा देते थे, नीचे आग लगा देते थे। और गुरु चिल्लाता था कि तुम मर गए—स्मरण करो कि तुम मर गए। फिर जलती हुई चिता से उस आदमी को उठा कर उसे नया नाम दे देते थे, वह पुराना आदमी गया, पुराना नाम भी गया। पर वह बहुत सरल दिन थे। इस छोटी-सी प्रक्रिया से, इस छोटे-से यन्त्र से, चिता पर चढ़ाने से आदमी मान लेता था कि मर गया, दूसरा आदमी हो गया। आज इतनी सरलता नहीं है। आज यदि चिता पर आपको चढ़ा दें, तो आप उतर आएंगे, जो चढ़े थे। आपका सिर भी घुटा दें तो आप फोटो उतार कर अलबम में लगा देंगे, जहां बिना सिर घुटी लगी है। कण्टीन्यूटी जारी रहेगी। आदमी ज्यादा चालाक हुआ है। इसलिए संन्यास कठिन हुआ है। लेकिन संन्यास के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है असम्भूत ब्रह्म को जानने का। सम्भूत ब्रह्म तो संसारी भी जान सकता है, लेकिन असम्भूत ब्रह्म सिर्फ संन्यासी ही जान सकता है।

आज के लिए इतना ही। रात हम बात करेंगे।

अब हम चलें असम्भूत की यात्रा पर—मरें!

●

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढंका हुआ है । हे पूषन् ! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे ॥१५॥

प्रवचन : २५
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, सुबह, दिनांक ६ अप्रैल, १९७१

वह ज्योतिर्मय है

सहज ही ख्याल में न आ सके, सहज ही समझ में न आ सके, ऐसा यह सूत्र कई अर्थों में बहुत असाधारण अभिप्राय को लिए हुए है । पहली तो बात यह कि साधारणतः सोचते हैं हम, मानते हैं ऐसा कि सत्य अगर ढंका होगा तो अन्धकार से ढंका होगा । लेकिन यह सूत्र कहता है कि ज्योति से ढंका है सत्य । हे प्रभु, तू उस प्रकाश के पर्दे को अलग कर ।

यह बहुत ही गहरी जिसने खोज की हो सत्य के आयाम में, उसकी प्रतीति है । जिन्होंने केवल सोचा होगा, वह सदा कहेंगे, अन्धकार में ढंका है सत्य । लेकिन जिन्होंने जाना है, वह कहेंगे, प्रकाश में ढंका है सत्य । और अगर अन्धकार मालूम होता है, तो वह प्रकाश के आधिक्य के कारण । प्रकाश के आधिक्य में आंखें अन्धी हो जाती हैं । प्रकाश बहुत हो तो अन्धकार जैसा हो जाता है । आंखों की कमजोरी के कारण । सूरज को देखें । आंख खोलें सूरज की तरफ । थोड़ी देर में अन्धकार हो जाएगा । इतना ज्यादा है प्रकाश कि आंखें झेल नहीं पातीं । अन्धकार हो जाता है । तो जिन्होंने दूर-दूर से जाना है, सोचा है, वह कहेंगे, अन्धकार में छिपा है सत्य । प्रभु का मन्दिर अन्धकार में छिपा है । लेकिन जिन्होंने जाना है, वह कहेंगे कि प्रकाश में छिपा है । हे प्रभु, तू प्रकाश के इस पर्दे को अलग कर दे ।

प्रकाश के आधिक्य के कारण ही अन्धकार का भ्रम पैदा होता है । आंखें हमारी कमजोर हैं इसलिए । पात्रता हमारी कम है, इसलिए । जैसे-जैसे सत्य की तरफ यात्रा होती है, वैसे-वैसे प्रकाश बढ़ता है । जो लोग भी ध्यान में थोड़ी-सी गति कर रहे हैं, वह जानते हैं कि जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता है, प्रकाश बढ़ता चला जाता है । आज इटालियन साधिका वीतसन्देह ने मुझे आकर कहा कि इतना प्रकाश हो गया है भीतर कि ऐसा लग रहा है, जैसे भीतर से किरणें आ रही हैं और पूरा शरीर जल रहा है । जैसे भीतर कोई सूरज बैठा है । बाहर से नहीं आ रही है गर्मी, भीतर से आ रही है । और प्रकाश इतना ज्यादा है कि रात सोना

मुश्किल हो गया है । आंख झपती है, तो प्रकाश ही प्रकाश है । जैसे ही कोई ध्यान में गहरा उतरेगा, प्रकाश घना और गहरा होने लगेगा, तीव्र और प्रखर होने लगेगा । और एक ऐसी घड़ी आती है कि जब प्रकाश का आधिक्य इतना हो जाता है कि करीब-करीब गहन अन्धकार मालूम होने लगता है । ईसाई फकीरों ने उस क्षण को— सिर्फ ईसाई फकीरों ने ही, उस क्षण को ठीक नाम दिया है । उसे उन्होंने कहा है—डार्क नाइट आफ द सोल—आत्मा की अन्धकारपूर्ण रात्रि । लेकिन अन्धकारपूर्ण-रात्रि है वह प्रकाश के आधिक्य के कारण । जब इतना प्रकाश हो जाता है कि भीतर लगता है, अंधेरा हो गया है प्रकाश के, ज्यादा होने के कारण । उस क्षण में की गयी प्रार्थना है यह कि हे प्रभु, इस प्रकाश के पर्दे को हटा ले । ताकि मैं इसके पीछे छिपे सत्य के मुख को देख सकूं । और उचित है यह कि सत्य के मुख के आस-पास इतना प्रकाश आधिक्य हो कि आंखें अन्धी और अन्धेरी हो जाएं । उचित यही है, सम्यक् भी यही है कि प्रकाश के वर्तुल के भीतर ही सत्य छिपा हो । अन्धकार अगर मालूम पड़ता है, तो वह हमारी भ्रान्ति है। सत्य के आस-पास कैसे अन्धकार हो सकता है ! और अगर सत्य के आस-पास भी अन्धकार हो सकता है, तो फिर इस जगत् में प्रकाश कहां हो सकेगा ? सत्य के आस-पास अन्धकार टिकेगा कैसे ? सत्य के निकट अन्धकार के टिकने की कोई सम्भावना, कोई उपाय नहीं । सत्य है जहां वहां तो प्रकाश ही होगा । बस, हमें अन्धकार जैसा मालूम हो सकता है ।

सूफी फकीरों से अगर पूछें तो वे कहते हैं कि जब उतरते हैं उस जगह तो एक सूरज नहीं, हजार सूरज भी कहना काफी नहीं है । अनन्त सूर्य एक साथ जलने लगें भीतर, इतना आधिक्य हो जाता है । स्वभावत: अन्धकार छा ही जाएगा। सत्य छिपा है प्रकाश में । और स्मरण रखें, अन्धकार में आंख खोलनी आसान है, प्रकाश के आधिक्य में आंख का खोलना बहुत कठिन है । अमावस की रात में आंख खोलने में कौन-सी बाधा है ? लेकिन सूर्य सामने पड़ जाए तो आंख खोलने में बड़ी कठिनाई है । जो सत्य के निकट जायेंगे उनका अन्तिम संघर्ष प्रकाश से होगा, अन्धकार से नहीं । प्रकाश की इतनी बाढ़ आ जाती है कि आंख खोलनी मुश्किल हो जाती है । उस पीड़ा के क्षण में यह सूत्र कहा गया है । उस पीड़ा के क्षण में यह प्रार्थना है कि हे प्रभु, हटा ले इस प्रकाश को, ताकि मैं तेरे सत्य मुख को देख सकूं । स्वाभाविक लगता है कि कोई कहे, अन्धकार से ले चल हमें दूर, अन्धकार से बाहर ले चल । लेकिन प्रकाश को हटा ले ! और दूसरी बात है कि प्रकाश के लिए जो शब्द प्रयोग किया है—स्वर्ण जैसा है, बहुत प्रीतिकर भी है । वह प्रकाश ऐसा भी नहीं है कि हटाने का मन होता हो । वही कठिनाई है । इतना प्रीतिकर है कि यह भी मन नहीं होता कि प्रकाश हट जाए । लेकिन जब तक यह

प्रकाश न हटे तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता । इसलिए दूसरी बात भी प्रीतिकर है कि यह भी मन नहीं होता कि प्रकाश हट जाए । लेकिन जब तक यह प्रकाश न हटे तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए दूसरी बात भी समझ लें।

अशुभ को छोड़ना बहुत आसान है, जब शुभ को छोड़ने की घड़ी आती है तब असली कठिन घड़ी आती है । लोहे की जंजीरों को छोड़ने में कौन सी अड़चन है ? लेकिन जब स्वर्ण की जंजीरें छोड़नी पड़ती हैं तब कठिनाई होती है । क्योंकि स्वर्ण की जंजीरों को जंजीरें मानना ही मुश्किल होता है । वे आभूषण मालूम होती हैं । असाधुता को छोड़ना बहुत आसान है, लेकिन अन्तिम घड़ी में जब साधुता भी बन्धन हो जाती है और उसे भी छोड़ देना पड़ता है तब असली कठिनाई आती है । उस आखिरी घड़ी में शुभ भी छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उतनी पकड़ भी परतन्त्रता है । और सत्य के समक्ष उतनी परतन्त्रता भी बाधा है । वहां चाहिए परम स्वातन्त्र्य । इसलिए यह भी मजे की बात है कि ऋषि अंधेरे से खुद लड़ लिया है, लेकिन प्रकाश के लिए कहता है परमात्मा से कि तू दूर कर दे । अंधेरे से खुद लड़ लेंगे, अड़चन नहीं है बहुत । लेकिन जब प्रकाश से लड़ने की घड़ी आएगी तब बहुत अड़चन मालूम होती है—प्रकाश से और लड़ना ! और प्रकाश को अलग करने की बात ही पीड़ा देती है । प्रकाश इतना सुखद है, इतना स्वर्गीय है, इतना शान्तिदायी है, इतना उत्फुल्ल करता है, इतना प्राणों को भर जाता है अमृत से कि उसे हटाने की बात ही पीड़ा देती है। इसलिए ऋषि कहता है, हे प्रभु, तू हटा ले । यह मैं हटा पाऊं—इसकी सामर्थ्य नहीं मालूम पड़ती । मेरा तो मन करेगा इसी में डूब जाऊं । ध्यान रहे, प्रकाश का जब ध्यान में गहरा अनुभव हो तो प्रकाश से भी बचना पड़ेगा । उससे भी आगे है यात्रा । उसके भी पार जाना है । उसके भी ऊपर उठना है । अंधेरे के ऊपर तो उठना ही है, प्रकाश से भी ऊपर उठना है । जब अंधकार और प्रकाश दोनों के ऊपर चेतना चली जाती है तभी द्वैत के ऊपर अद्वैत का प्रारम्भ होता है । तभी उस एक का दर्शन होता है जो न प्रकाश है और न अन्धकार है । जो न रात है, न दिन है । न जीवन है, न मृत्यु । जो सदा है और सब द्वैत के पार है । उस अद्वैत की प्रतिष्ठा के पहले अन्तिम संघर्ष प्रकाश के साथ होगा । ऐसा भी समझ लें कि दुख को छोड़ना सदा आसान है, दुख से हम लड़ते हैं, लेकिन अगर सुख आ जाए, तो सुख से लड़ना बहुत मुश्किल है । करीब-करीब असम्भव मालूम पड़ता है । सुख से कैसे लड़ पाएंगे ? लेकिन अगर सुख ने भी पकड़ लिया तो भी मोक्ष सम्भव नहीं है । सुबह मैंने कहा, सुख स्वर्ग ही बनाएगा, वह भी नए बन्धन निर्माण कर जाएगा—सुखद, प्रीतिकर, बड़े मनोरम, मन को भाये ऐसे, लेकिन फिर भी उसमें मुक्ति नहीं है। इस प्रकाश के पर्दे को हटा लेने के लिए, इस ज्योति से ढंके हुए उसके मुख को

दर्शन करने की जो आकांक्षा ऋषि ने की है, वह मनुष्य के मन की आखिरी दीनता की खबर है।

मनुष्य का मन प्रकाश से नहीं मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का मन सुख से से नहीं मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का मन स्वर्ग से नहीं मुक्त होना चाहता है। लेकिन उससे भी मुक्त तो होना ही है। इसलिए द्वार पर खड़ा है ऋषि। एक तरफ उसकी मनुष्यता है, जो कहती है, प्रकाश आह्लादकारी है, नाचो, एक हो जाओ उससे, डूब जाओ उसमें और लीन हो जाओ। लेकिन एक ओर उसके भीतर वह सत्य की जो अभीप्सा है वह कहती है, इसके भी पार, इसके भी पार। ऐसी कठिनाई के क्षण में, ऐसे चुनाव के क्षण में, ऐसे डिसीसिव मूवमेंट में कहा गया सूत्र है कि हे प्रभु, हटा ले अपने इस ज्योति के पर्दे को! इस सुख, इस स्वर्गीय रूप को हटा ले, ताकि मैं उसे देख लूं, जो निपट नग्न सत्य है, जो तू है!

दुख में जो जीते हैं उन्हें पता ही नहीं कि सुख का भी अपना दुख है। शत्रुओं में जो जीते हैं उन्हें पता ही नहीं कि मित्रों की भी अपनी शत्रुता है। नर्क में जो जीते हैं उन्हें पता ही नहीं कि स्वर्ग की भी अपनी पीड़ा है। अंधकार में जो जीते हैं उन्हें अनुमान ही कैसे हो कि एक दिन प्रकाश भी कारागृह बन जाता है। जहां तक द्वैत है वहां तक अमुक्ति है। जहां तक द्वैत है वहां तक बन्धन है। पर क्या बचेगा जब प्रकाश भी हट जाएगा, अन्धकार भी हट जाएगा तो सत्य का मुख होगा कैसा? बचेगा क्या? अभी तो अधिकतम जो हम सोच सकते हैं, विचारणा जहां तक जाती है, जहां तक विचार के पंख उड़ान ले सकते हैं, जहां तक मन की सीमा है, वहां तक अधिकतम जो हम सोच सकते हैं वह यह कि सत्य का चेहरा अगर होगा तो प्रकाश जैसा होगा, आलोक जैसा होगा। क्यों ऐसा लगता है? एक-दो बात ख्याल में ले लें। हमने अभी तक प्रकाश देखा नहीं है। आप कहेंगे, प्रकाश देखा नहीं है! प्रकाश ही तो देख रहे हैं। सुबह सूरज निकलता है और हम प्रकाश देखते हैं। रात चांद आता है और चांदनी छा जाती है और हम प्रकाश देखते हैं। नहीं, फिर भी मैं आपसे कहता हूं, प्रकाश अभी आपने देखा नहीं है। आपने केवल प्रकाशित चीजें देखी हैं। जब सूरज निकलता है तब आप प्रकाश नहीं देखते हैं। सिर्फ प्रकाशित चीजें देखते हैं—पहाड़, नदी, झरने, वृक्ष, लोग। अभी यहां बिजली के बल्ब जल रहे हैं। आप कहेंगे हम प्रकाश देखते हैं। लेकिन नहीं, आप प्रकाश नहीं देखते। बिजली का बल्ब दिखायी पड़ता है प्रकाशित। लोग जो प्रकाशित हैं, वह दिखायी पड़ते हैं। आब्जेक्ट्स दिखायी पड़ते हैं, प्रकाश नहीं।

प्रकाश का अनुभव बाहर के जगत् में होता ही नहीं। बाहर के जगत् में केवल प्रकाशित चीजें दिखायी पड़ती हैं और जब प्रकाशित चीजें नहीं दिखायी पड़ती है

तो हम कहते हैं, अन्धकार है। इस कमरे में कब अन्धकार हो जाता है? जब इस कमरे में कोई चीज दिखायी नहीं पड़ती है तो हम कहते हैं अन्धकार है। और जब चीजें दिखायी पड़ती हैं तो हम कहते है प्रकाश है। प्रकाशित चीजों को देखा है हमने। सीधे प्रकाश को नहीं देखा है। अगर कोई भी चीज इस कमरे में न हो तो आपको प्रकाश दिखायी नहीं पड़ेगा। चीज से टकराता है प्रकाश, चीज का आकार दिखायी पड़ता है तो आपको लगता है प्रकाश है। चीज अगर बिल्कुल स्पष्ट दिखायी पड़ती है तो आप कहते हैं, ज्यादा प्रकाश है। अस्पष्ट दिखायी पड़ती है तो कहते हैं, कम प्रकाश है। नहीं दिखायी पड़ती है तो कहते हैं, अन्धकार है। बिल्कुल अन्दाज नहीं आता तो कहते हैं, महा अन्धकार है। लेकिन न तो आपने प्रकाश देखा है, न आपने अन्धकार देखा है। अनुमान है हमारा कि जब चीजें दिखाई पड़ रही हैं तो प्रकाश होगा। असल में प्रकाश इतनी सूक्ष्म ऊर्जा है कि बाहर उसके दर्शन नहीं हो सकते। प्रकाश के दर्शन तो भीतर ही होते हैं, क्योंकि भीतर कोई चीज नहीं होती, जिसको प्रकाशित किया जा सके। भीतर कोई आब्जेक्ट्स नहीं हैं जो प्रकाशित हो जाएं और उनको आप देख लें। भीतर जब प्रकाश का अनुभव होता है तो शुद्ध प्रकाश का, सीधे प्रकाश का, इमीजिएट, बिना किसी चीज के माध्यम के ही अनुभव होता है। बाहर हम दो बातें देखते हैं—प्रकाशित चीजें देखते हैं और प्रकाश का स्रोत देखते हैं। बीच में जो प्रकाश है वह हम कभी नहीं देखते। सूरज दिखायी पड़ता है, यह बिजली का बल्ब दिखायी पड़ता है। इधर नीचे चमकती हुई चीजें प्रकाशित दिखायी पड़ती हैं। लेकिन दोनों के बीच में जो प्रकाश है वह दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन भीतर जब प्रकाश दिखायी पड़ता है तो न तो वहां चीजें होती हैं और न वहां कोई सोर्स होता है—दी सोर्सलेस लाइट, स्रोतहीन प्रकाश। वहां कोई सूरज नहीं होता जिसमें से प्रकाश आ रहा है। वहां कोई दिया नहीं जलता जिसमें से प्रकाश आ रहा है। वहां सिर्फ प्रकाश होता है—सोर्सलेस, उद्गमरहित। उस वस्तुशून्य जगत् में प्रकाश जब पहली दफा दिखायी पड़ता है तब कबीर, मुहम्मद, और सूफी फकीर या बाउल फकीर या जैन फकीर नाचने लगते हैं और कहते हैं; तुम जिसे प्रकाश कहते हो, वह अन्धेरा है।

अरविन्द ने लिखा है कि जब तक भीतर नहीं देखा था तब तक जिसे बाहर प्रकाश समझा था, भीतर देखने के बाद पता चला, वह अन्धकार है। जब तक भीतर नहीं देखा था तब बाहर जिसे जीवन समझा था, जब भीतर देखा तो पता चला वह मृत्यु है। भीतर जब प्रकाश—उद्गमरहित, वस्तुशून्य, निराकार, अन्तस् आकाश में प्रगट होता है तो उसकी आभा को झेलना बड़ा कठिन है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मन होता है कि आ गयी मंजिल—पहुंच गए। साधक के लिए इन्द्रियां

बड़ी भारी बाधाएं नहीं हैं। उनसे पार हो जाता है। विचार बड़ी बाधाएं नहीं हैं, उनसे पार हो जाता है। लेकिन जब भीतर प्रीतिकर अनुभव के फूल खिलने शुरू होते हैं और जब भीतर सिद्धि के आनन्द प्रकट होने शुरू होते हैं तब पैर उठते ही नहीं। छोड़ने का मन नहीं होता। पार जाने की हिम्मत, पार जाने का साहस नहीं होता। लगता है, आ गई मंजिल। उस क्षण में ऋषि ने कहा है, हे प्रभु ! हटा ले इस प्रकाश को भी। मैं तो वही जानना चाहता हूं जो प्रकाश से भी पार है। अन्धकार के पार मैं आ गया, प्रकाश के पार तू मुझे ले चल। ध्यान रहे, अन्धकार के पार तक जाने में संकल्प काम कर देता है, लेकिन प्रकाश के पार जाने में समर्पण ही काम करता है। अन्धकार के पार जाने में संघर्ष काम कर देता है। हम भी जूझ सकते हैं। आदमी भी काफी सबल है अन्धकार से लड़ने में। लेकिन जब प्रकाश से लड़ने की बात उठती है तो आदमी एकदम निर्बल है। नहीं है, ना के बराबर है। वहां कोई संकल्प काम नहीं करता, सिवाय समर्पण के।

यह सूत्र समर्पण का है। हार गया ऋषि। यहां तक तो आ गया है, जहां कि परम प्रकाश प्रकट होता है। यहां तक उसने प्रार्थना नहीं की। यहां तक उसने प्रभु से नहीं कहा कि तू ऐसा कर दे। यहां तक वह अपने भरोसे चला आया। यहां तक आदमी आ सकता है। संकल्प से जो चलते हैं वह इससे आगे कभी न जा सकेंगे। समर्पण की जिनकी तैयारी है, सरेन्डर की जिनकी तैयारी है—टोटल सरेन्डर की, वे ही इसके आगे जा सकेंगे। इसे इस तरह से कहें तो शायद जल्दी समझ में आ जाए। प्रकाश के परम अनुभव तक ध्यान ले जाता है, लेकिन प्रकाश के पार प्रार्थना ले जाती है। उसके बाद ध्यान काम नहीं कर पाता। इसलिए जिन्होंने ध्यान नहीं किया और प्रार्थना कर रहे हैं, वह नासमझ हैं। वहां प्रार्थना की कोई भी जरूरत नहीं है। और जिन्होंने ध्यान कर लिया और ऐसा सोचा कि अब प्रार्थना की क्या जरूरत है, वे भी नासमझ हैं। क्योंकि ध्यान प्रकाश तक ले जाएगा, द्वार पर खड़ा कर देगा, लेकिन अन्त में तो प्रार्थना की पुकार ही सहारा बनेगी। अन्ततः तो कहना ही पड़ेगा कि तेरे हाथ में हूं, तू ले चल। यहां तक मैं आ गया। इसके आगे तू ले चल। और ध्यान रखें, जो ध्यान की सीमा तक चला आता है उसने पात्रता अर्जित कर ली। उसने पात्रता अर्जित कर ली कि अब अगर वह कह भी दे कि मैं नहीं जा सकता तो ईश्वर उसे ले जाए। वह इस योग्य हुआ जहां से प्रभु की अनुकम्पा शुरू हो। वह आ गया उस जगह तक जहां तक आदमी आ सकता था। इससे ज्यादा परमात्मा भी आदमी से अपेक्षा नहीं कर सकता है। आखिरी घड़ी आ गई, आदमी की क्षमता का छोर आ गया। अब अगर परमात्मा भी इससे ज्यादा आदमी से मांग करे तो ज्यादती है। इससे ज्यादा का कोई सवाल भी नहीं है। प्रार्थना, और बस प्रार्थना—कि तेरे हाथों में छोड़ते हैं, तू हटा ले

इस पर्दे को।

प्रार्थना ध्यान का अन्तिम समापन है। समर्पण संकल्प की अन्तिम निष्पत्ति है। जहां तक कर सकें, स्वयं करना है। लेकिन जिस घड़ी ऐसा लगे कि अब न हो सकेगा, उस क्षण प्रार्थना को स्मरण कर लेना। उस क्षण प्रभु को पुकार लेना। उस क्षण कहना कि मैं जहां तक आ सकता था अपने कमजोर कदमों से, आ गया हूं। अब बस, अब मेरे वश के बाहर है, अब तू संभाल।

इसीलिए ऋषि ने इस प्रार्थना को दोहराया है उस घड़ी में कि हे प्रभु, प्रकाश को तू हटा ले, अपने सत्य मुख को उघाड़ दे। कैसा होगा सत्य ? जब प्रकाश भी हट जाएगा तो सत्य कैसा होगा ? इसे थोड़ा-सा ख्याल में ले लेना जरूरी है। कठिन है बहुत, गहन है बहुत, लेकिन फिर भी थोड़ा-सा ख्याल में ले लेना जरूरी है, वह कभी काम पड़ सकता है।

कहा मैंने कि बाहर प्रकाशित वस्तुएं हैं और प्रकाश का उद्गम स्रोत है। प्रकाश का कोई अनुभव नहीं होता बाहर। भीतर—भीतर प्रकाश का अनुभव होता है, न उद्गम स्रोत रह जाता है, न वस्तुएं रह जाती हैं। फिर अन्ततः प्रकाश भी खो जाता है। हमारे मन में ख्याल आएगा कि जब प्रकाश खो जाएगा तो अन्धेरा हो जाएगा। हमारा अनुभव यही है। हम कहेंगे कि ऋषि भी कैसी नासमझी की प्रार्थना कर रहा है। अगर प्रकाश का पर्दा हट गया तो फिर अन्धेरा हो जाएगा, फिर प्रभु के चेहरे को वह देखेगा कैसे ? स्मरण रखें, अन्धकार के तो पार आ गई है बात। अब प्रकाश से हटने से अन्धकार नहीं होगा। अन्धकार तो छूट चुका बहुत पीछे। प्रकाश का पर्दा आ गया है। अब प्रकाश भी हट जाएगा तो फिर बचेगा क्या ? संध्या को जब सूरज डूब जाता है और अभी रात नहीं आई होती। जब प्रकाश का स्रोत खो जाता है और अन्धेरे का अवतरण नहीं हुआ होता—वह जो बीच का पल है संध्या का वह वैसा ही पल है। इसीलिए प्रार्थना और संध्या का जोड़ बन गया। इसलिए धीरे-धीरे प्रार्थना को लोग संध्या कहने लगे कि संध्या कर रहे हैं। और लोगों ने समझा संध्या कर लेनी है जब सूरज डूबता है। तब संध्या हो जाती है या जब सूरज नहीं उगा होता है तब संध्या होती है। संध्या की घड़ियां हो गयीं। मिड प्वाइंट, दिन जा चुका, रात अभी नहीं आई। या रात जा चुकी, दिन आने को है। वह जो बीच की छोटी-सी घड़ी है, गैप है, उसको हम संध्या कहते हैं। उसको हमने पूजा और प्रार्थना का क्षण बना लिया। लेकिन असली बात दूसरी है। यह संध्या तो प्रतीक है। असली बात यह है कि जब अन्धकार भी खो चुका होता है और जब प्रकाश भी खो चुका होता है तब संध्या का क्षण आता है अन्तर का। तब वहां संध्या आती है। अन्धेरा भी नहीं होता, प्रकाश भी नहीं होता,—होता है आलोक। भाषा-कोश में जाएंगे तो आलोक का अर्थ प्रकाश

ही लिखा हुआ पाएंगे। वह गलत है। आलोक का अर्थ होता है, न प्रकाश, न अन्धकार, ऐसा क्षण। भोर में अभी सूरज नहीं निकला, रात जा चुकी है। भोर के क्षण में वह आलोक का क्षण है।

यह सब उदाहरण के लिए कह रहा हूं, ताकि आपके ख्याल में आ जाए। क्योंकि भीतर की उस घटना के लिए और कोई ख्याल दिलाने का उपाय नहीं है। जहां न अन्धकार है, जहां न प्रकाश है, वहां आलोक रह जाता है। और जैसा मैंने कहा, बाहर से भीतर जाते वक्त वस्तुएं खो जाती हैं, प्रकाश का उद्‌गम खो जाता है, प्रकाश रह जाता है। वैसे ही जब प्रकाश और अन्धकार दोनों खो जाते हैं और सिर्फ आलोक रह जाता है तो जानने वाला और जानी जाने वाली चीज दोनों खो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य दोनों खो जाते हैं। फिर ऐसा नहीं होता है कि ऋषि खड़ा है और सत्य को देख रहा है। नहीं, फिर ऋषि ही सत्य हो जाता है। फिर सत्य ही ऋषि हो जाता है। फिर कोई जानने वाला और जानी गयी चीज, कोई ज्ञाता और कोई ज्ञेय, कोई नोअर और कोई नोन, ऐसे दो नहीं रह जाते, वह दोनों खो जाते हैं। आलोक में अन्धकार और प्रकाश भी खो जाते हैं और जानने वाला और जानी गई चीज भी खो जाती हैं। तब अनुभोक्ता भी नहीं रह जाता और अनुभव भी नहीं रह जाता—मात्र अनुभूति रह जाती है। एक्सपीरिएंसिंग, एक्सपीरिएंस नहीं, अनुभव नहीं। क्योंकि अनुभव जहां होता है वहां अनुभोक्ता, अनुभव करने वाला भी मौजूद होता है। और जिस चीज की अनुभूति होती है वह भी मौजूद होता है। नहीं, न तो अनुभव करने वाला रह जाता है, न अनुभव जिसका हो रहा है, वह रह जाता है। अनुभूति ही रह जाती है। एक्सपीरिएंसिंग ही रह जाती है। ऋषि भी खो जाता है, परमात्मा भी खो जाता है। भेद गिर जाते हैं। प्रेमी खो जाता है, प्रेम-पात्र खो जाता है। भक्त खो जाता है, भगवान् खो जाता हैं। यह परम मुक्ति का क्षण है। यहां ऐसा नहीं है कि हम कुछ जान लेते हैं, बल्कि ऐसा है कि हम पाते हैं, हम नहीं हैं। और हम यह भी पाते हैं कि कुछ जानने को भी नहीं है। ज्ञान ही रह जाता है। इसलिए महावीर ने जिस शब्द का प्रयोग किया है वह बहुत अद्‌भुत है। महावीर ने कहा है, केवल-ज्ञान, ओनली नोइंग—द नोअर इज नाट, द नोन इज नाट, बट ओनली नोइंग। ज्ञाता भी खो गया, ज्ञेय भी खो गया, सिर्फ बचा ज्ञान। दोनों छोर गए। जैसे सूरज खो गया मूल स्रोत, वस्तुएं खो गयीं जिन पर प्रकाश पड़ता था। ऐसे ही जानने वाला खो गया मूल स्रोत। जो जाना जाता है ज्ञेय, वह खो गया, वस्तु खो गई, केवल जानना बचता है। केवल ज्ञान बचता है। मात्र जानना बचता है।

इस जानने की दिशा में मैंने कहा—पहला कदम संकल्प का है, दूसरा कदम समर्पण का है। पहला कदम ध्यान का है, दूसरा कदम प्रार्थना का है। और दोनों

कदम जो उठा लेता है उसे फिर जानने को, पाने को, अनुभव करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रुपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे सूर्य! हे प्रजापति—नन्दन! तू अपनी किरणों को हटा ले। तेरा जो अतिशय कल्याणतम रूप है उसे मैं देखता हूं यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह मैं हूं ॥१६॥

एक सूर्य है जिससे हम परिचित हैं। लेकिन जिसे हम सूर्य कहते हैं वैसे अनन्त सूर्य हैं। रात आकाश जब तारों से भर जाता है तो शायद ही हमें ख्याल आता हो कि जिन्हें हम तारे कहते हैं वे सभी सूर्य हैं। बहुत दूर हैं, इसलिए छोटे दिखायी पड़ते हैं। हमारा सूर्य कोई बहुत बड़ा नहीं है। हमारा सूर्य सूर्यों के अनन्त विस्तार में बहुत ही मध्यमवर्गीय है। उससे बहुत बड़े सूर्य ब्रह्माण्ड में हैं। वैज्ञानिक अब तक जितनी गणना कर पाते हैं उससे अन्दाज लगता है कि कोई चार करोड़ सूर्य हैं।

सन्तों की अनुभूति तो अनन्त सूर्यों की है। लेकिन इस सूत्र में जिस सूर्य की बात कही गयी है, वह उस परम सूर्य की बात है, जिससे इन सब सूर्यों को भी प्रकाश मिलता है। वह उस परम सूर्य की बात है, जो कि प्रकाश का आदि-उद्‌गम है। जहां से कि समस्त किरणों का जाल फैलता है। जहां से कि समस्त जीवन आविर्भूत होता है। यह ख्याल में ले लें कि सूर्य की किरणों से जीवन बहुत अनिवार्य रूप से बंधा है। अभी तो वैज्ञानिक बहुत चिन्तित होते हैं, क्योंकि डर लगता है कि तीन-चार हजार वर्ष में हमारा सूर्य ठण्डा हो जाएगा। उसने काफी विकीरण कर दिया, उसका काफी रेडिएशन खो चुका है। वह अब एक बुझता हुआ तारा है, जिसमें से रोज किरणें क्षीण होती जाएंगी। ज्यादा-से-ज्यादा चार हजार वर्ष वह और प्रकाश देगा। फिर एक दिन सब ठण्डा हो जाएगा। वहां सूर्य ठण्डा हुआ, यहां सब जीवन शान्त हो जाएगा। क्योंकि समस्त जीवन सूर्य की किरणों पर ही यात्रा कर रहा है। चाहे फूल खिलता हो और चाहे पक्षी गीत गाता

हो, चाहे मनुष्य के प्राण थिरकते हों, सारा जीवन सूर्य की किरणों से बंधा है। यहां जिस सूर्य की बात की जा रही है वह उस महासूर्य की बात की जा रही है जिससे सब सूर्यों का जीवन भी बंधा है। यह महासूर्य बाहर की यात्रा और खोज से कभी भी मिलने वाला नहीं है।

जैसा मैंने सुबह कहा कि एक प्रगट ब्रह्म है, यह सूर्य प्रगट ब्रह्म है। जिस महासूर्य की बात की जा रही है, वह अप्रकट ब्रह्म है। वह बीज ब्रह्म है। वह अप्रगट है, लेकिन उस अप्रगट स्रोत से ही यह सारा प्रगट जीवन का विस्तार है। यह सारा सगुण, यह साकार, यह सब उससे ही फैलता और निर्मित होता है। यहां ऋषि ने कहा है कि हे सूर्य, अपनी किरणों के जाल को तू सिकोड़ ले। इन किरणों के जाल के सिकोड़ने में बहुत-सी बातें कही गयी हैं। क्योंकि किरणों के साथ जीवन का विस्तार है। यहां ऋषि कहता है, मृत्यु को हम पार कर आए। हे सूर्य, तू अपने जीवन के विस्तार को भी सिकोड़ ले। जैसा मैंने कहा, अन्धकार हम पार कर आए, अब तू प्रकाश भी सिकोड़ ले। इस सूत्र में ऋषि कहता है, जीवन के विस्तार को भी तू सिकोड़ ले। मृत्यु के मैं पार हुआ, अब जीवन के भी पार हो जाऊं। असल में सब द्वैत के पार होने की अभीप्सा है। क्योंकि जहां तक द्वैत है वहां तक हम कुछ भी पा लें, दूसरा सदा मौजूद है। हम कितना ही जीवन पा लें, मौत सदा मौजूद रहेगी। वह द्वैत है, वह उसी सिक्के का दूसरा पहलू है। हम ऐसा नहीं कर सकते कि एक रुपए के सिक्के के एक पहलू को बचा लें और दूसरे को फेंक दें। बस, हम इतना ही कर सकते हैं कि एक पहलू को दबा दें और दूसरे को ऊपर कर लें। लेकिन नीचे दबा हुआ पहलू प्रतीक्षा कर रहा है। मौजूद है। हाथ में ही मौजूद है, कहीं गया नहीं है। ऐसा आप न कर सकेंगे कि एक पहलू फेंक दें और कहें कि दूसरे को हम बचा लें। हालांकि जिन्दगी भर आदमी इसी नासमझी में पड़ा रहता है। एक पहलू को फेंकता है और एक को बचाता है। कहता है, दुख से छुड़ा लो भगवन्, सुख मुझे दे दो। वह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुख को बचाता है, दुख उसके पीछे बच जाता है। कहता है, सम्मान मुझे दे दो, अपमान मुझसे ले लो। सम्मान को बचाता है, अपमान उसके साथ चला आता है। कहता है, मृत्यु मुझे नहीं चाहिए, मुझे जीवन चाहिए। लेकिन जीवन को मांगा कि मृत्यु पीछे खड़ी हो जाती है।

इस जगत् में जिसने एक मांगा उसे दूसरा बिना मांगे मिल जाता है। या तो दोनों को राजी हो जाओ या दोनों को छोड़ने को राजी हो जाओ। जो दोनों को राजी हो जाता है वह भी दोनों से मुक्त हो जाता है और जो दोनों को छोड़ने को राजी हो जाता है, वह भी दोनों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि दोनों से राजी होने का अर्थ यह होता है कि जो मृत्यु और जीवन दोनों से राजी है, उसे मृत्यु में

कोई वैराग्य न रहा, जीवन में कोई राग न रहा, ऐसे वह मुक्त हो गया। जो सुख-दुख दोनों से राजी है, उसे सुख में क्या सुख रहा और दुख में क्या दुख रहा। दोनों से राजी होते ही दोनों एक-दूसरे को काट देते हैं, निगेट कर देते हैं। दोनों से राजी होते ही दोनों कट कर शून्य हो जाते हैं। या जो दोनों को छोड़ने को राजी है, जो कहता है, दुख भी छोड़ देता हूं, सुख भी छोड़ देता हूं, वह भी पार हो जाता है। लेकिन मन कहता है, दुख को छोड़ दो, सुख को बचा लो। इस मन को तोड़ना हो तो दो ही उपाय हैं, या तो दोनों से राजी हो आओ या दोनों से नाराज हो जाओ। दोनों की जो पोलेरिटी है, दोनों की जो ध्रुवता है, दोनों का जो विरोध है, वह एक साथ हैं, वह एक ही अस्तित्व के हिस्से हैं। इसलिए ऋषि कहता है, सिकोड़ ले अपनी सूर्य की किरणों को, सिकुड़ जाए उनके साथ ही सब जीवन। और इस महासूर्य से ही सब कुछ निकलता है। इसलिए ऋषि की आकांक्षा अगर हम ठीक से समझें तो ऋषि की आकांक्षा यह है कि मैं उसे देखना चाहता हूं जहां से सब निकलता है, या जहां सब सिकुड़ जाता है। मैं मूल देखना चाहता हूं। मैं वह देखना चाहता हूं, जहां से सारी सृष्टि प्रगट होती है और जहां सारी प्रलय लीन होती है। मैं उस जगह को देखना चाहता हूं, जहां से सब आता और सब विलीन हो जाता है। जहां से जीवन का यह विराट् फैलाव होता है और जहां फिर सब महामृत्यु सिकोड़ लेगी। इसलिए सूर्य को यम भी कहा है। वह भी ध्यान देने की बात है।

यम तो मृत्यु का देवता है और सूर्य है जीवन का! लेकिन ध्यान रहे, जहां से जीवन आता है, वहीं से मृत्यु आती है। मृत्यु कहीं और से नहीं आ सकती। जहां से जीवन आता है, वहीं से मृत्यु आती है। क्योंकि दोनों अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं होता है कि मृत्यु कहीं और से आए और जीवन कहीं और से आए। अगर ऐसा होता तो हम जीवन को बचा लेते और मृत्यु को छोड़ देते। सूर्य को इसीलिए यम भी कहा है। यम शब्द और भी अर्थों में उपयोगी है। जिन्होंने मृत्यु को यम कहा, बड़े अद्भुत लोग हैं। यम का अर्थ होता है, नियमन करने वाला—दि कण्ट्रोलर। बड़े मजेदार लोग हैं। मृत्यु को जीवन का नियमन करने वाला कहा है। अगर मृत्यु जीवन का नियमन न करे तो बड़ी अव्यवस्था हो जाए, बड़ी अराजकता हो जाए। मृत्यु आकर सब उपद्रव को शान्त करती चली जाती है। मृत्यु विश्राम है। जैसे दिन भर के श्रम के बाद रात आ जाती है और रात की गोद में आदमी सो जाता है, विश्राम में। कभी आपने ख्याल किया, अगर दस-पांच दिन नींद न आए तो बड़ा अनियमन हो जाएगा। चित्त बड़ा भ्रान्त हो जाएगा। उद्विग्न हो जाएगा। अराजक हो जाएगा। दस दिन नींद न आए तो आप विक्षिप्त हो जाएंगे। रात नींद आकर आपकी विक्षिप्तता को बचा जाती है। रात आकर वह व्यवस्था दे जाती है, ताकि सुबह आप फिर ताजे होकर जाग सकें।

गहरे अर्थों में, विस्तीर्ण अर्थों में, पूरे जीवन के उपद्रव के बाद, पूरे जीवन की दौड़-धूप के बाद मृत्यु रात का विश्राम है। वह फिर नियमन दे देती है। वह फिर जीवन के सब शूल, जीवन की सब चिन्ताएं, जीवन के सब उपद्रव, जीवन के सब भार छीन लेती है। फिर नयी सुबह, फिर नया जीवन! इसलिए मृत्यु के देवता को कहा है यम। वह जीवन को नियमित करता रहता है, इसलिए। वह न हो तो जीवन विक्षिप्त हो जाए मृत्यु जीवन की शत्रु नहीं है। यम का अर्थ हुआ, मृत्यु जीवन की मित्र है। जीवन पागल हो जाए, अगर मृत्यु न हो। जीवन विक्षिप्त हो जाए, अगर मृत्यु न हो तो।

इसे अगर और आयामों में भी फैला कर देखेंगे तो बहुत हैरान हो जायेंगे। क्योंकि इसमें बड़े अर्थों के फूल खिल सकते हैं। अगर सुख मिल जाए इतना कि दुख कभी न मिले तो भी आदमी पागल हो जाएगा। यह बात अजीब लगेगी। यह बात समझ में नहीं पड़ेगी। लेकिन सुख अगर मिल जाए अमिश्रित, जिसमें दुख बिल्कुल न हो तो सुख विक्षिप्त कर जाएगा। इसलिए बड़े मजे की बात है कि दीन, दरिद्र, दुखी समाजों में लोग कम पागल होते हैं। सुखी, समृद्ध समाजों में लोग ज्यादा पागल होते हैं। आज जमीन पर अमरीका सबसे बड़ा पागलखाना है। दीन, दरिद्र-से-दरिद्र मुल्क भी इतने पागल पैदा नहीं करता, जितना अमरीका पैदा करता है। क्या बात हो गयी है? दुख का भी अपना नियमन है। असल में गुलाब में जब फूल लगते हैं, तो हमें लगता होगा, कांटे बड़े दुश्मन हैं। लेकिन सब कांटे फूलों की सुरक्षा हैं, नियमन हैं। जीवन विरोध के द्वारा नियमन करता है। पोलेरिटी के द्वारा, विपरीत के द्वारा जीवन संतुलन करता है। कभी आपने नट को देखा है रस्सी पर चलते वक्त? देखेंगे तो एक बहुत मेटाफिजिकल सत्य, एक बहुत पारलौकिक सत्य नट के रस्सी पर चलते वक्त दिखायी पड़ सकता है। लेकिन हम तो देखते हुए भी कुछ देखते नहीं। नट जब रस्सी पर चलता है, तो आपने ख्याल किया कि पूरे वक्त हाथ में डण्डा लिए दोनों तरफ झूलता रहता है। जब वह बायें झूलता है, तब इसलिए कि कहीं दायें न गिर जाए। जब दायें गिरने को होता है, तब बायें झुकता है। और जब बायें गिरने को होता है तब दायें झुकता है। बायें गिरने का डर दायें झुक कर सन्तुलित कर लेता है। दायें गिरने का डर बायें झुककर सन्तुलित कर लेता है। विपरीत झुकना पड़ता है संतुलन के लिए। जीवन का संतुलन होती है मृत्यु। सुख का संतुलन होता है दुख। प्रकाश का संतुलन होता है अन्धकार। चैतन्य का संतुलन होता है पदार्थ। इसलिए अद्भुत लोग होंगे, जिन्होंने मृत्यु को यम कहा। निश्चित ही मृत्यु के साथ उनकी कोई शत्रुता न रही। उन्होंने मृत्यु के सत्य को पहचान लिया। उन्होंने कहा, हम जानते हैं कि तू जीवन का नियमन करने वाली है, तू न हो तो बहुत मुश्किल हो जाए।

थोड़ा सोचें। दो-चार सौ साल किसी घर में ऐसा हो जाए कि कोई न मरे तो

उस घर में से किसी को पागलखाने न भेजना पड़ेगा, पागलखाने को उसी घर में ले आना पड़ेगा। इधर बूढ़े विदा होते हैं, उधर बच्चे आते हैं। और नट की तरह एक सन्तुलन चलता रहता है। पूरे समय एक सन्तुलन हो रहा है। तो कहता है ऋषि, हे महासूर्य! हे यम! जीवन को देने वाले, मृत्यु से जीवन को सन्तुलित करने वाले! तू अपनी सब किरणें सिकोड़ ले। तू अपने जीवन को भी सिकोड़ ले तू अपनी मृत्यु को भी सिकोड़ ले। मैं तो उस तत्त्व को जानना चाहता हूं, जो जीवन और मृत्यु दोनों के पार है। जो न कभी जन्मता और न कभी मरता है। मैं तो उस मूल उद्गम को जानना चाहता हूं या उस मूल विलय, अन्तिम विलय को। या तो उस प्रथम क्षण को जानना चाहता हूं, जब कुछ भी नहीं था और उस कुछ भी नहीं से सब पैदा हुआ। और या उस अन्तिम, अल्टीमेट क्षण को जानना चाहता हूं, जब सब कुछ फिर लीन हो जाएगा और कुछ भी शेष नहीं रहेगा। उस शून्य को जानना चाहता हूं, जिससे जन्मता है सब, या उस शून्य को जानना चाहता हूं, जिसमें लीन हो जाता है सब। तू सिकोड़ ले अपनी किरणों के सारे जाल को।

निश्चित ही यह किसी बाहर के सूर्य से की गयी प्रार्थना नहीं है। यह तो भीतर उस जगह पहुंच कर की गयी प्रार्थना है, जहां अन्तिम पड़ाव आ जाता है। जहां से छलांग लगती है। जहां से शून्य में छलांग लगती है। जहां से अनादि अनन्त में छलांग लगती है। उस घड़ी की गयी प्रार्थना है—हे आदित्य, सिकोड़ ले अपना सब। बड़े साहस की जरूरत है इस प्रार्थना के लिए। आखिरी साहस की जरूरत है। क्योंकि जहां जीवन और मृत्यु सिकुड़ जाएंगी और जहां उस महासूर्य की सभी किरणें सिकुड़ जाएंगी, वहां मैं बचूंगा? वहां मैं भी नहीं बचूंगा। लेकिन ऋषि की अभीप्सा यह है कि मैं बचूं, न बचूं यह सवाल नहीं है, मैं तो वह जानना चाहता हूं, जो सदा ही बच रहता है। सबके नष्ट हो जाने पर भी जो बच रहता है, उसे ही मैं जानना चाहता हूं। मैं भी नष्ट हो जाऊंगा, तब जो बच रहेगा, उसे ही मैं जानना चाहता हूं।

जगत् में, अनेक-अनेक युगों में, अनेक-अनेक लोगों ने सत्य की खोज की है। लेकिन जैसी खोज जमीन के इस टुकड़े पर हुई है, वैसी कहीं भी नहीं हुई है। जैसी आत्यन्तिक अल्टीमेट खोज और जैसे आखिरी साहस का परिचय जमीन के इस टुकड़े पर कुछ लोगों ने दिया है, वैसा समानान्तर परिचय कहीं भी नहीं दिया जा सका है। बहुत खोज करने पर भी मैं वैसे लोग नहीं खोज पाता हूं, जो अपने को खोकर सत्य पाने को राजी हों। सारे जगत् में सत्य के खोजी हुए हैं, लेकिन एक शर्त रख कर कि मैं बचा रहूं और सत्य को जान लूं। लेकिन जब तक 'मैं' बचा रहूंगा, तब तक मैं संसार को ही जानूंगा, क्योंकि मैं संसार का हिस्सा हूं। और अगर उन खोजियों से कोई कहे, अगर कोई अरस्तू से कहे, अफलातू से कहे

या हीगल या कांट से कहे कि तुम अपने को खोओगे, तभी सत्य को जान सकोगे, तो वह कहेंगे कि ऐसे सत्य को जानने की जरूरत क्या है ? जब हमीं न बचेंगे तो सत्य को जान कर भी क्या करना है ? एक शर्त के साथ उनकी खोज है । एक कण्डीशन के साथ कि हम बचें और सत्य को जान लें । इसलिए जितने खोजियों ने स्वयं को बचा कर सत्य को जानने की कोशिश की है, उन्होंने सत्य को नहीं जाना, सत्य को फेब्रीकेट किया । उन्होंने सत्य को बनाया । इसलिए हीगल बड़ी-से-बड़ी किताबें लिखे या कांट बड़े-से-बड़े, गहरे-से-गहरे सिद्धान्तों की बात करे । जिनकी मैं को खोजने की कोई तैयारी नहीं है, उनके सिद्धान्तों की, उनके बड़े-से-बड़े शास्त्रों की कोई कीमत, कोई मूल्य नहीं है । अगर कांट और हीगल से पूछें कि उनका इस उपनिषद् के ऋषि के बाबत क्या ख्याल है, तो वह कहेंगे, पागल है ! अपने को खोकर, सत्य को पाकर क्या करना है ?

लेकिन ऋषि की पकड़ गहरी है । वह कहता है कि मैं हूं असत्य का ही हिस्सा । मैं हूं संसार का ही हिस्सा । अगर मैं चाहता हूं कि बाहर से संसार हट जाए और सत्य आ जाए और मेरे भीतर 'मैं' पूरी तरह मौजूद रहूं तो मैं एक असम्भव काम कर रहा हूं । संसार जाएगा तो पूरा जाएगा—बाहर भी, भीतर भी । यहां बाहर पदार्थ खो जाएगा, वहां भीतर 'मैं' खो जाएगा । बाहर आकृतियां खो जाएंगी, भीतर भी आकार खो जाएगा । बाहर भी शून्य होगा, भीतर भी शून्य होगा । इसलिए अगर सत्य को खोजना है तो स्वयं को खोने की तैयारी अनिवार्य शर्त है ।

सब सिकोड़ ले महासूर्य—सब—अनकण्डीशनली, बेशर्त । जो भी तेरा फैलाव है, पूरा तू वापस ले ले । अपने सारे विस्तार को सिकोड़ ले । तू अपने बीज में लौट जा । तू वापस लौट जा वहां, जहां कुछ भी नहीं था । ताकि मैं उसे जान लूं, जिससे सब आता है । यह अल्टीमेट जम्प है, आत्यन्तिक छलांग है । इस छलांग का साहस जब कोई जुटाता है, तब परम सत्य के साथ एक हो जाता है । बिना स्वयं मिटे परम सत्य के साथ कोई एकता सम्भव नहीं है । इसलिए पश्चिम का दार्शनिक जब खोजता है सत्य को, तो उसके सत्य मानवीय सत्य से ज्यादा नहीं हो पाते । आदमी की ही खोजबीन होती है, इसलिए एक्जीस्टेंशियल नहीं, अस्तित्वगत नहीं, मात्र मानवीय । पूरब का सन्त जब खोजने निकलता है, तो उसके सत्य मानवीय नहीं, उसके सत्य अस्तित्वगत होते हैं । वह कहता है, सागर को किनारे खड़े होकर क्या जानेंगे, हम तो डूब कर जानेंगे । पर डूबने में भी हम पूरे कहां डूबते हैं । सागर अलग रह जाता है, हम अलग रह जाते हैं । तो ऋषि कहते हैं कि अगर ऐसा है, तो हम नमक के पुतले होकर डूब जाएंगे । हम सागर को जानेंगे सागर होकर ही । एक हो जाएंगे सागर के साथ । उसके खारेपन के साथ खारे हो जाएंगे । उसके पानी के साथ पानी हो जाएंगे । उसकी लहरों के साथ लहर बन जाएंगे । उसकी अनन्त गहराई के साथ अनन्त गहराई हो जाएंगे । तभी

उसे जान सकेंगे । उसके पहले जानना नहीं हो सकता । उसके पहले एक्वेंटेंस हो सकता है, नॉलेज नहीं—परिचय हो सकता है, ज्ञान नहीं । तट के किनारे खड़े होकर परिचय ही हो सकते हैं । ज्ञान तो डूब कर होता है । इस डूबने की आकांक्षा इस सूत्र में है ।

आज के लिए इतना ही । अब हम सागर में डूबने की तैयारी करें ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ।।१७।।

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाए। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर अपने किए हुए को स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किए हुए को स्मरण कर ।।१७।।

प्रवचन : २६
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, रात्रि, दिनांक ९ अप्रैल, १९७१

वह शून्य है

जीवन मिल जाए उसी में, जहां से जन्मा है। आकार खो जाए उस निराकार में, जहां से आकार निर्मित हुआ है। ये प्राणवायु के साथ एक हो जाए। शरीर धूल में मिट्टी में समा जाए। ऐसे क्षण में—और ऐसे क्षण दो हैं, जिनकी मैं आपसे बात करूंगा—ऐसे क्षण में ऋषि ने कहा है, अपने संकल्पात्मक मन से कि हे मेरे संकल्प करने वाले मन, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर। ऐसे क्षण दो हैं, जब यह प्रार्थना सार्थक हो सकती है। एक तो मृत्यु के क्षण में और दूसरा समाधि के क्षण में। एक तो तब, जब सच में ही आदमी मृत्यु को उपलब्ध होने के द्वार पर खड़ा होता है और या फिर तब, जब मृत्यु से भी बड़ी मृत्यु में, समाधि के द्वार पर व्यक्ति अपनी बूंद को सागर में खोने के लिए तत्पर होता है।

साधारणत: जिन लोगों ने भी उपनिषद् के इस सूत्र की व्याख्या की है, उन्होंने पहले ही अर्थ में की है। यही मान कर की है कि मृत्यु के समय ऋषि कह रहा है। जब सब मिला जा रहा है अस्तित्व उसी में जहां से आया था, उस क्षण में कह रहा है मन से कि मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर। लेकिन जैसा मैं देख पाता हूं, यह स्मरण मृत्यु के क्षण में किया गया नहीं है। यह स्मरण समाधि के क्षण में किया गया है। मृत्यु के क्षण में इसलिए किया गया नहीं है कि मृत्यु की कोई पूर्वसूचना नहीं होती। आप नहीं जानते कभी भी कि मृत्यु किस क्षण आ जाती है। मृत्यु आ जाती है, तभी पता चलता है। लेकिन तब तक जिसे पता चलता है, वह मर चुका होता है, वह जा चुका होता है। जब तक मृत्यु आयी नहीं, तब तक पता नहीं चलता और जब आ जाती है, तब पता चलने वाला खो चुका होता है।

सुकरात मर रहा था तो उसके मित्रों ने उससे कहा कि तुम भयभीत नहीं मालूम पड़ते—दुखी-पीड़ित नहीं, चिन्तित नहीं, भयातुर नहीं! तो सुकरात ने कहा कि मैं सोचता हूं कि जब तक मृत्यु नहीं आयी है, तब तक तो मैं जीवित ही हूं।

और जीवित जब तक हूं, तब तक मृत्यु की चिन्ता क्यों करूं ? और या फिर यह भी सोचता हूं कि जब मृत्यु आ ही जाएगी और मर ही जाऊंगा, तो फिर चिन्ता करने वाला कौन बचेगा ? सोचता हूं कि मृत्यु में मैं मर ही जाऊंगा, बिल्कुल मिट जाऊंगा, कोई बचेगा ही नहीं। और मृत्यु के पार अगर कोई बचेगा ही नहीं, तो भयभीत होने का कोई कारण नहीं। और यदि जैसा कि और कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु आ जाएगी, फिर भी मैं मरूंगा नहीं। यदि ऐसा हुआ कि मृत्यु आ जाएगी और मैं मरूंगा ही नहीं, तो फिर चिन्ता का तो कोई भी कारण नहीं।

मैंने कहा, दो क्षणों में यह सूत्र सार्थक हो सकता है—मृत्यु के क्षण में या समाधि के क्षण में। लेकिन मृत्यु के क्षण का हमें कोई भी पता नहीं होता। अनप्रडिक्टेबल है, मृत्यु की कोई भविष्यवाणी नहीं है। अनायास है, इसीलिए किसी भी क्षण हो सकती है। अगले क्षण भी हम होंगे, इसका कुछ पक्का नहीं है। किसी भी क्षण हो सकती है घटित, फिर भी किस क्षण होगी, इसकी कोई पूर्वसूचना नहीं है। और यह प्रार्थना तो तभी हो सकती है, जब पूर्वसूचना हो। जब कि ऋषि को पता हो कि मैं मरने के द्वार पर खड़ा हूं—मैं मर रहा हूं। नहीं, इस लिए मैं कहता हूं कि यह मृत्यु के समय में किया गया स्मरण नहीं है। यह महा-मृत्यु के क्षण में किया गया स्मरण है। महामृत्यु समाधि का नाम है। मृत्यु को मैं साधारण मृत्यु कहता हूं, क्योंकि इसमें सिर्फ शरीर मरता है, मन नहीं मरता। ध्यान को, समाधि को मैं महामृत्यु कहता हूं, क्योंकि शरीर का तो सवाल ही नहीं, मन ही मर जाता है। और इसलिए भी मैं कहता हूं कि यह स्मरण समाधि के समय में किया गया है, क्योंकि ऋषि कह रहा है, अपने संकल्पात्मक मन से, स्मरण कर अपने किए हुए कर्मों का, स्मरण कर। इस दूसरे हिस्से के सम्बन्ध में भी बड़ी भ्रान्ति हुई है। असल बात यह है कि साधारणतः जिन्हें हम पण्डित कहते हैं, वे व्याख्याएं करते हैं। वे कितनी ही कुशल व्याख्या करें, उनकी व्याख्या में बुनि-यादी भूल हो जाती है। भूल इसलिए हो जाती है कि शब्द वे समझते हैं ठीक से, सिद्धान्त भी समझते हैं, शास्त्र भी समझते हैं, लेकिन शब्द और सिद्धान्त के पीछे जो अनकहा छिपा है, उसे वे बिल्कुल नहीं समझते। और धर्म के सत्य शब्दों में नहीं कहे जाते, शब्दों के बीच में जो खाली जगह छूट जाती है, उसी में कहे जाते हैं। पंक्तियों में नहीं, पंक्तियों के बीच में जो रिक्त स्थान छूट जाता है, उसमें कहे जाते हैं। जो रिक्त स्थान को पढ़ने में समर्थ नहीं हैं, जो केवल काले अक्षरों को पढ़ने में समर्थ हैं, वह इन महासूत्रों का अर्थ करने में समर्थ नहीं हो सकते।

पश्चिम में एक आन्दोलन चलता है, कृष्ण कांससनेस का, कृष्ण चेतना का। उस आन्दोलन को चलाने वाले स्वामी भक्ति वेदान्त प्रभुपाद की ईशावास्योपनिषद् पर मैं एक किताब देख रहा था। बहुत हैरान हुआ। इस सूत्र का अर्थ उन्होंने जो किया है, इतना चकित करने वाला मालूम पड़ा—किया है अर्थ कि मैं मर रहा

हूं, मैं मृत्यु के द्वार पर खड़ा हूं, हे प्रभु, मैंने जो-जो त्याग तेरे लिए किए, उनका स्मरण रखना। मैंने जो-जो कर्म तेरे लिए किए, उनका स्मरण रखना। शब्दों के बीच जो रिक्त स्थान नहीं पढ़ सकते, उन्हें तो छोड़ें, यह तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जो शब्द भी नहीं पढ़ सकते, वे भी अर्थ करते हैं। ऋषि कह रहा है, हे मेरे संकल्पात्मक मन—यहां ईश्वर का तो कोई सवाल ही नहीं है। और ऋषि यह तो कह ही नहीं रहा है कि मेरे किए हुए कर्मों को जो मैंने तेरे लिए किए, मेरे किए हुए त्यागों को जो मैंने तेरे लिए किए उनका स्मरण रखना। लेकिन हमारी जो व्यवसयात्मक बुद्धि है, जो बिजनेस माइण्ड है, वह शायद यही अर्थ कर पाएगा। वह कहेगा, मरने का क्षण करीब आ गया, मैंने दान किया था, मन्दिर बनवाया था, तालाब का पाट बनवाया था, स्मरण रखना ! हे प्रभु, मैंने जो-जो कर्म किए थे तेरे लिए, जो-जो त्याग किए थे, अब घड़ी आ गयी, अब मुझे ठीक से उनका फल दे देना, प्रतिफल दे देना।

मेरे संकल्पात्मक मन—संकल्प है हमारे मन की अभीप्सा का स्रोत। संकल्प अर्थात् विल। इसे थोड़ा समझ लें तो आगे की बात ख्याल में आ सकेगी। इच्छा तो हमारे मन में सबके होती है—डिजायर, वासना। लेकिन वासना तब तक संकल्प नहीं बनती, जब तक वासना से अहंकार जुड़ न जाए। वासना धन अहंकार संकल्प बन जाता है। वासना तो सभी लोग करते हैं, लेकिन अगर अपने अहंकार से वासना को न जोड़ पाएं तो वासना सिर्फ स्वप्न बनकर रह जाती है। वह कर्म नहीं बन पाती। कर्म बनने के लिए तो अहंकार जुड़ जाना चाहिए। अहंकार जुड़ जाए वासना में तो संकल्प निर्मित होता है। फिर किसी कर्म को करने की अहंता और अस्मिता निर्मित होती है। फिर कर्त्ता बनने का भाव निर्मित होता है। वासना के साथ जैसे ही अहंकार जुड़ा कि आप कर्त्ता बने। ऋषि कह रहा है, मेरे संकल्पा-त्मक मन, मेरे अहंकार और वासनाओं से भरे मन, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर ! क्यों कह रहा है यह ? और एक बार नहीं, दो बार—अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर ! अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर ! क्यों ? समाधि के क्षण में इस स्मरण की क्या जरूरत है ? या मृत्यु के क्षण में भी इस स्मरण की क्या जरूरत है ?

मजाक कर रहा है ऋषि, व्यंग्य कर रहा है। वह यह कह रहा है कि अब सब खोया जा रहा है समाधि के द्वार पर—मन खो रहा है, शरीर खो रहा है, भूत खो रहे हैं, सब लीन हुआ जा रहा है। अब मेरे मन, तू जो सोचता था, मैंने यह किया, मैंने वह किया, अब उसका क्या हुआ ! वह तू जो सोचता था, वह सब पानी पर खींची गयी रेखाएं अब कहां हैं ? स्मरण कर, तेरा किया गया सब खो गया है, अब तू भी खो रहा है। अब तू स्मरण कर, लौट कर पीछे देख। कितने गौरव से भर कर तूने सोचा था, यह मैंने किया है ! कितने अहंकार से भर कर तूने कहा

था, यह मैंने किया है ! कितनी आकांक्षाओं को तूने संजोया था कि यह मैं करूंगा ! जन्म-जन्म, अनन्त यात्राओं पर, कितने चरण-चिन्ह तूने छोड़े थे ! आज उनका कहीं भी कोई निशान नहीं रहा। उनका तो निशान रहा ही नहीं, आज तू भी शून्य हुआ जा रहा है। अब तेरा भी निशान नहीं रहेगा। आज तू भी मिटने के करीब आ गया है। आज तू भी बिदा हो रहा है। आज सब भूत अपने में लीन हो जायेंगे। आज सारी यात्रा समाप्त होगी। तो एक बार लौट कर तू पीछे देख ले, किस भ्रम में तू जिया था, किस इलूजन में, किस माया में तू जिया था। किस पागलपन में कैसे सपने तूने देखे थे और उन सपनों के लिए कितनी पीड़ा झेली थी। और उन सपनों के लिए कितना चिन्तित हुआ था। अगर कभी कोई स्वप्न तेरा पूरा नहीं हुआ था, तो कितनी परेशानी, कितनी विफलता, कितना फ्रस्ट्रेशन तूने पाया था। और अगर कभी कोई सपना सफल हो गया था तो तू कितना फूला नहीं समाया था। आज सब सपने भी जा चुके, आज सब कर्म भी खो चुके। तू भी खोने के करीब आ गया। तू भी न होने के करीब आ गया। लौट कर एक बार स्मरण कर।

यह बहुत व्यंग्य में, अपने ही संकल्प को और अपने ही अहंकार को उद्बोधन है। इसलिए मैं कहता हूं, यह मृत्यु के समय किया गया उद्बोधन नहीं है, समाधि के समय किया गया उद्बोधन है। क्योंकि मृत्यु में तो सिर्फ शरीर ही मरता है, संकल्पात्मक मन नहीं मरता। मृत्यु के बाद भी आप अपने मन को लिए चले जाते हैं। वही मन तो आपके अनन्त जन्मों का स्रोत है। शरीर तो गिर जाता है यहीं। मन साथ यात्रा करता है। वासना साथ चली जाती है। अहंकार साथ चला जाता है। किए हुए कर्मों की स्मृति साथ चली जाती है। करने थे जो कर्म और नहीं कर पाए, उनकी आकांक्षा साथ चली जाती है। पूरा मनोशरीर साथ चला जाता है। सिर्फ देह गिरती है मृत्यु में। सिर्फ फिजियोलॉजिकल, सिर्फ देहगत जो हमारा ढांचा है, वह भर गिर जाता है मृत्यु में। लेकिन मन साथ चला जाता है। वही मन फिर नए शरीर को पकड़ लेता है। वही मन अनन्त शरीरों को पकड़ चुका है। वह अनन्त शरीरों को पकड़ता चला जाता है। इसलिए ज्ञानी मृत्यु को वास्तविक मृत्यु नहीं कहते, क्योंकि उसमें कुछ भी तो नहीं मरता। सिर्फ वस्त्र ही बदलते हैं। शरीर वस्त्र से ज्यादा नहीं है। इस बात को भी ठीक से समझ लें।

साधारणतः हम सोचते हैं कि शरीर हमारा पहले आता है, फिर उसके भीतर मन जन्म लेता है। और विगत सौ-दो सौ वर्षों की पश्चिम की चिन्तना और धारणा ने सारी दुनिया में यह भ्रान्ति फैला दी है कि शरीर पहले निर्मित होता है, फिर उसके भीतर मन जन्मता है। वह बाई प्रोडक्ट है, इपीपेनामिनाम है। वह शरीर का ही एक गुण है। ऐसे ही, जैसे पुराने चार्वाकों ने कहा है कि शराब जिन

चीजों से मिलकर बनती है, अगर उनको एक-एक को अलग-अलग आप लें, तो नशा नहीं चढ़ेगा। उन सबके मिल जाने से नशा बाई प्रोडक्ट की तरह पैदा होता है। नशा का अपना कोई आगमन नहीं है कहीं से। नशा पांच-दस चीजों के मिलने से पैदा हो जाता है। पांच-दस चीजों को अलग कर लें, तो नशा तिरोहित हो जाता है। और उन पांच-दस चीजों को आप अलग-अलग ले लें तो भी नशा नहीं चढ़ेगा। तो नशा मिलन से, उनके बीच में पैदा होता है। इसलिए पुराने चार्वाक कहते थे कि मनुष्य का शरीर निर्मित होता है पंचभूतों से और उन पंचभूतों के मिलन से मन निर्मित होता है। मन एक बाई प्रोडक्ट है। पश्चिम का विज्ञान भी फिलहाल अभी जैसे अज्ञान की स्थिति में है, उसमें वह भी मानता है कि मन जो है, वह शरीर के पीछे पैदा हो गयी एक छायामात्र है। लेकिन पूरब में, जिन्होंने बहुत गहरी खोज की है, उनका कहना है कि मन पहले है और शरीर उसके पीछे छाया की तरह निर्मित होता है।

इसे ऐसा समझें; पहले आपके जीवन में कर्म आता है या पहले वासना आती है? पहले आती है वासना मन में, फिर बनता है कर्म। लेकिन बाहर से कोई अगर देखेगा तो पहले दिखायी पड़ता है कर्म और वासना का अनुमान करना पड़ता है। मेरे भीतर आया क्रोध, मैंने आपको उठ कर चांटा मार दिया। क्रोध मेरे भीतर पहले आया—मन पहले। फिर हाथ उठा, शरीर ने कृत्य किया। लेकिन आपको पहले दिखायी पड़ेगा मेरा हाथ और चांटे का पड़ना। पीछे आप सोचेंगे, जरूर इस आदमी को क्रोध आ गया। पहले शारीरिक घटना दिखायी पड़ेगी, पीछे मन का अनुमान होगा। लेकिन वास्तविक जगत् में पहले मन निर्मित होता है, पीछे कर्म और घटना घटित होती है। हमें भी जब एक बच्चा जन्म लेता है तो पहले शरीर दिखायी पड़ता है। लेकिन जो गहरा जानते हैं, वे कहते हैं कि पहले मन है। वही मन इस शरीर को निर्मित करवाता है—वही मन। वही मन इस शरीर को, ढांचे को, व्यवस्था को बनाता है। वह मन ब्लू-प्रिन्ट है। वह बिल्ट इन-प्रोग्राम है। जब कोई मरता है तो उसका मन एक ब्लू-प्रिन्ट, एक नक्शा लेकर यात्रा करता है। वही नक्शा नए शरीर को, नए गर्भ को निर्मित करेगा। और आप हैरान होंगे, साधारणतः हम सोचते हैं कि एक स्त्री और पुरुष सम्भोग में रत होते हैं, तो जब वे सम्भोग में रत होते हैं, तब शरीर निर्मित हो जाता है, फिर एक आत्मा प्रवेश कर जाती है। लेकिन गहरे देखने पर पता चलता है कि जब कोई आत्मा प्रवेश करना चाहती है तब दो स्त्री-पुरुष सम्भोग करने के लिए आतुर होते हैं। लेकिन पहले चूंकि हमें शरीर दिखायी पड़ता है, इसलिए मन का तो हम अनुमान करते हैं। लेकिन मन की तरफ से जिन्होंने गहरी खोज की है, वे कहते हैं कि पहले गर्भातुर, गर्भ-प्रवेश के लिए आतुर आत्मा जब आपके आस-पास परिभ्रमण करने लगती है तब सम्भोग की आतुरता जन्मती है। मन अपना शरीर

निर्मित करवाने की चेष्टा करता है ।

सांझ आप सोते हैं । कभी आपने शायद ख्याल न किया होगा । रात सोते वक्त ख्याल करें, आखिरी विचार जब नींद उतरती हो, उतर ही रही हो, उतर ही गयी हो तब पकड़ें अपने मन में कि आखिरी विचार क्या है । फिर सो जाएं । और जब सुबह नींद टूटे, होश आए, तब तत्काल पहली खोज करें कि सुबह जागने का पहला विचार कौन-सा है । तो आप बहुत चकित होंगे । रात जो आखिरी विचार होता है वही सुबह पहला विचार होता है । रात सोते समय जो चित्त में अन्तिम विचार होता है, सुबह जागते समय वही पहला विचार होता है । ठीक ऐसे ही मरते वक्त जो अन्तिम वासना होती है, वह जन्म लेते वक्त पहली वासना होती है ।

शरीर तो गिर जाता है हर मृत्यु में, लेकिन मन चलता चला जाता है । आपके शरीर की उम्र, हो सकता है, पचास साल हो, लेकिन आपके मन की उम्र पचास लाख साल भी हो सकती है । आपने जितने जन्म लिए हैं उन सभी मनों का संग्रह आपके भीतर आज भी मौजूद है, अभी भी मौजूद है । बुद्ध ने उसे बहुत अच्छा नाम दिया है । पहला नाम बुद्ध ने ही उसको दिया, उसे उन्होंने नाम दिया आलय-विज्ञान । आलय-विज्ञान का अर्थ होता है—स्टोर हाउस ऑफ कांससनेस । स्टोर हाउस की तरह आपने जितने भी जन्म लिए हैं वे सभी स्मृतियां आपके भीतर संग्रहीत हैं । आपका मन बहुत पुराना है । और ऐसा भी नहीं है कि आपके पास जो मन है वह सिर्फ मनुष्य-जन्मों का है । अगर आपके पशुओं में जन्म हुए, जो कि हुए । अगर आपके वृक्षों में जन्म हुए, जो कि हुए । तो वृक्षों की स्मृति, पशुओं की स्मृति, वे सभी स्मृतियां आपके भीतर मौजूद हैं । जो लोग आलय-विज्ञान की प्रक्रिया में गहरे उतरते हैं वे कहेंगे, अगर किसी व्यक्ति को गुलाब के फूल को देख कर अचानक प्रेम उमड़ता है तो उसका गहरा कारण यही है कि उसके भीतर गुलाब के होने की कोई गहरी स्मृति आज भी शेष है, जो समतुल को, जो रिजोनेंस को, जो गुलाब को देख कर प्रतिध्वनित हो उठती है । अगर एक व्यक्ति कुत्ते को बहुत प्रेम किए चला जा रहा है तो यह आकस्मिक नहीं है । उसके भीतर के आलय-विज्ञान में स्मृतियां हैं, जो उसे कुत्ते के साथ बड़ी सजातीयता, बड़ा अपनापन, बड़ी निकटता का बोध करवाती हैं । हमारे जीवन में जो भी घटता है वह आकस्मिक नहीं है । उसकी गहरी कार्य-कारण की प्रक्रिया पीछे काम करती है ।

तो मृत्यु में शरीर गिरता है, लेकिन मन यात्रा करता चला जाता है । और मन संग्रहीत होता चला जाता है । इसलिए आपके मन में कई बार ऐसे रूप आपको दिखायी पड़ेंगे, जिनको आप कहेंगे ये मेरे नहीं हैं । आपको भी कई बार लगेगा कि कुछ काम आप ऐसे कर लेते हैं जिनको आपको कहना पड़ता है—इनस्पाइट ऑफ भी, मेरे बावजूद हो गए । एक आदमी का किसी से झगड़ा होता है और वह दांत

से उसकी चमड़ी काट लेता है । पीछे वह सोचता है कि मैं और दांत से चमड़ी काट सका ! मैं कोई जंगली जानवर हूं ? आज वह नहीं है, कभी वह था । और किसी क्षण में उसके भीतर की स्मृति इतनी सक्रिय हो सकती है कि वह बिल्कुल पशु जैसा व्यवहार करे । हममें से सभी लोग अनेक मौकों पर पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं । वह व्यवहार आसमान से नहीं उतरता, हमारे भीतर के ही चित्त के संग्रह से आता है । हमारी मृत्यु सिर्फ हमारे शरीर की मृत्यु है । संकल्पात्मक मन उसमें मरता नहीं । इसलिए ऋषि को मजाक का मौका न होता, अगर मृत्यु हो रही होती । इसलिए भी मैं आपसे कहना चाहता हूं कि सूत्र समाधि के क्षण का है । समाधि के साथ एक भेद है कि समाधि की पूर्वघोषणा हो सकती है । क्योंकि मृत्यु आती है, समाधि लायी जाती है । मृत्यु घटती है, समाधि का आयोजन करना पड़ता है । एक-एक कदम ध्यान का उठा कर आदमी समाधि तक पहुंचता है । यह भी आप ख्याल रख लें कि समाधि शब्द बड़ा अच्छा है । कब्र के लिए भी कभी आप समाधि बोलते हैं । साधु मर जाता है तो उसकी कब्र को समाधि कहते हैं । सच है यह बात । समाधि एक तरह की मृत्यु ही है । लेकिन बड़ी गहरी मृत्यु है । शरीर तो शायद वही रह जाता है, लेकिन भीतर जो मन था वह विनष्ट हो जाता है ।

उस मन के विनष्ट होने के क्षण में ऋषि कह रहा है कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किए हुए का स्मरण कर, अपने किए हुए का स्मरण कर । इसलिए कि इसी मन ने कितने धोखे दिए । और यह मन आज खुद ही नष्ट हुआ जा रहा है । जिस मन को हमने समझा मेरा है, जिसके आधार पर जिए और मरे । जिसके आधार पर काम किए, हारे और जीते । जिसके आधार पर जय और पराजय की आकांक्षाएं बांधीं । जिसके आधार पर सुखी और दुखी हुए । सोचा था कि जो सदा साथ देगा, आज वही धोखा दिए जा रहा है । जिसके कन्धे पर हाथ रखकर इतनी लम्बी यात्रा की, आज पाया कि वह कन्धा भी बिदा हो रहा है । जिसको समझा था कि नाव है, आज पाया कि वह भी पानी ही सिद्ध हुई और नदी में मिली जा रही है । इस क्षण में, इस क्षण में ऋषि कहता है, मेरे संकल्पात्मक मन, अब स्मरण कर अपने किए हुए कर्मों का । अपने सोचे हुए कर्मों का । स्मरण कर—कैसे तूने वायदे किए थे ! क्या तेरे प्रामिजज थे, क्या तेरा आश्वासन था ! कितने तेरे भरोसे थे ! तूने क्या-क्या मुझसे करवा लिया ! और तूने मुझे क्या-क्या कर रहा हूं, इसका भ्रम दिया । और तूने कैसे-कैसे स्वप्न मुझसे निर्मित करवाए । और कैसी-कैसी विक्षिप्तताएं मुझसे करवायीं । अब तू खुद बिदा हुआ जा रहा है । और मैं एक ऐसे लोक में प्रवेश करता हूं, जहां तू नहीं होगा । लेकिन जब तक तूने सदा मुझसे यही कहा था कि जहां संकल्प नहीं होगा, वहां तुम नहीं होओगे । लेकिन आज मैं देखता हूं कि तू तो बिदा हो रहा है, लेकित मैं पूरा का पूरा हूं ।

मन सदा कहता है कि अगर संकल्प न रहा तो मिट जाओगे । टिक न पाओगे

जिन्दगी के संघर्ष में। अगर अहंकार न रहा तो खो जाओगे। बच न सकोगे, सर्वाइबल न होगा। मन सदा कहता है—पुरुषार्थ करो, संकल्प करो। लड़ो। नहीं लड़ोगे तो बचोगे नहीं। संघर्ष नहीं करोगे तो मिट जाओगे। निश्चित, ऋषि आज मजाक करे तो स्वाभाविक है। वह मन से कहे कि तू तो खुद मिटा जा रहा है, लेकिन मैं तो पूरा का पूरा शेष हूं। तू खो रहा है, मैं नहीं खो रहा हूं। लेकिन अब तक तूने यही धोखा दिया था कि तू नहीं होगा तो मैं नहीं बचूंगा। आज तू तो जा रहा है और मैं बच रहा हूं।

इसी घड़ी को ऋषि व्यंग्य बनाए, दो कारणों से—एक तो अपने मन के लिए और एक उनके मन के लिए भी, जो अभी समाधि के द्वार तक तो नहीं पहुंचे हैं, लेकिन कर्म कर रहे होंगे। जिनका मन अभी कह रहा होगा, यह करो, यह करो। अगर यह न कर पाए तो तुम्हारी जिन्दगी व्यर्थ है। अगर यह महल न बना तो बेकार हो गया। अगर इस पद पर न पहुंचे तो क्या तुम्हारा अर्थ रहा। अगर तुमने यह पुरुषार्थ सिद्ध न किया तो तुम दो कौड़ी के हो। व्यर्थ गया तुम्हारा जीवन, निष्प्रयोजन हुआ। जिनके मन अभी यह कहे जा रहे होंगे, उनको भी ऋषि व्यंग्य कर रहा है। उनसे भी कह रहा है एक दफा फिर से सोच लेना। मन सबसे बड़ा धोखा है। मन सबसे बड़ी प्रवंचना है।

हमारी सारी प्रवंचना मन से ही आविर्भूत होती है। हम सब शेखचिल्लियों से ज्यादा नहीं हैं। और मन इतना कुशल है कि कभी भी इस तल तक हमें गहरे में नहीं देखने देता कि हमें पता चल जाए कि हम धोखा खा रहे हैं। इसके पहले कि पता चले, मन नया धोखा निर्मित कर देता है। इसके पहले कि पुराना धोखा टूटे, मन नए धोखे के भवन बना देता है और कहता है, यहां आ जाओ, यहां विश्राम करो। एक आकांक्षा पूरी होती है, तब मन अगर एक क्षण भी गैप दे दे, एक क्षण भी अन्तराल दे दे तो आपको पता चल जाए कि जिस वासना को पूरा करने के लिए इतनी पीड़ा झेली, वह पूरा करके कुछ भी हाथ में नहीं आया है। राख भी हाथ में नहीं आयी। लेकिन मन इतना अन्तराल नहीं देता, इतना मौका नहीं देता। इधर एक आकांक्षा पूरी भी नहीं हो पाती कि मन दूसरी आकांक्षा के बीच बोना शुरू कर देता है। इधर एक आकांक्षा पूरी होकर व्यर्थ होती है कि नए अंकुर वासना के मन खड़े कर देता है। दौड़ पुनः शुरू हो जाती है। मन कभी भी मौका नहीं देता विश्राम का, विराम का कि आप देख पाएं कि किस धोखे में पड़े हैं। पैर के नीचे से जमीन का एक टुकड़ा हटता है तो गड्ढे को नहीं देखने देता, नया जमीन का टुकड़ा दे देता है कि इसके सहारे खड़े रहो।

बुद्ध एक छोटी-सी और बड़ी मीठी कहानी कहा करते थे, वह मैं आपसे कहूं। सुनी भी होगी। लेकिन शायद इस अर्थ में सोची नहीं होगी। बुद्ध कहते थे, भाग रहा है एक आदमी जंगल में। दो कारणों से आदमी भागता है। या तो आगे कोई

चीज खींचती हो, या पीछे कोई चीज धकाती हो। या तो आगे से कोई पुल—खींचता हो, या पीछे से कोई पुश—धक्का देता हो। वह आदमी दोनों ही कारणों से भाग रहा है। गया था जंगल में हीरों की खोज में। कहा था किसी ने कि हीरों की खदान है। इसलिए दौड़ रहा था। लेकिन अभी-अभी उसकी दौड़ बहुत तेज हो गई थी, क्योंकि पीछे एक सिंह उसके लग गया था, हीरे तो भूल गए थे। अब तो किसी तरह इस सिंह से बचाव करना था। भाग रहा था बेतहाशा, और आखिर उस जगह पहुंच गया, जहां आगे रास्ता समाप्त हो गया था। गड्ढा था भयंकर, रास्ता समाप्त था। लौटने का उपाय न था। लौटने का उपाय कहीं भी नहीं है—किसी जंगल में और किसी रास्ते पर। और चाहे हीरों के लिए भागते हों और चाहे कोई मौत पीछे पड़ी हो, इसलिए भागते हों, लौटने का कोई उपाय कहीं भी नहीं है। असल में लौटने के लिए रास्ता बचता ही नहीं। समय में सब पीछे के रास्ते नीचे गिर जाते हैं। पीछे नहीं लौट सकते, एक इंच पीछे नहीं लौट सकते। वह भी नहीं लौट सकता था, क्योंकि पीछे सिंह लगा था और सामने रास्ता समाप्त हो गया था। बड़ी घबराहट में कोई उपाय न देखकर, जैसा निरुपाय आदमी करे, वही उसने किया। गड्ढे में लटक गया एक वृक्ष की जड़ों को पकड़ कर। सोचा कि जब सिंह निकल जाएगा, तो वापस ऊपर आ जाएगा। लेकिन सिंह भी ऊपर आ गया और उसके निकलने की प्रतीक्षा करने लगा। सिंह की भी अपनी वासना है। कभी तो ऊपर आओगे।

जब देखा कि सिंह ऊपर खड़ा है और प्रतीक्षा करता है, तब उस आदमी ने नीचे झांका। नीचे देखा कि एक पागल हाथी चिंघाड़ रहा है। सोचा कि अब कोई उपाय नहीं है। उस आदमी की स्थिति हम समझ सकते हैं कि कैसे सन्ताप में पड़ गया होगा। लेकिन इतना ही नहीं, सन्ताप जिन्दगी में अनन्त हैं। कितने ही आ जाएं तो भी कम हैं। जिन्दगी और भी दे सकती है। तभी उसने देखा कि जिस शाखा को वह पकड़े है, वह कुछ नीचे झुकती जाती है। ऊपर आंखें उठायीं तो दो चूहे उसकी जड़ों को काट रहे हैं। बुद्ध कहते थे, एक सफेद चूहा था, एक काला चूहा था। जैसे दिन और रात आदमी की जड़ों को काटते चले जाते हैं। हम समझ सकते हैं कि उसके प्राण कैसे संकट में पड़ गए होंगे। लेकिन नहीं, आदमी की वासना अद्भुत है और आदमी के मन की प्रवंचना का खेल अद्भुत है। तभी उसने देखा कि ऊपर मधुमक्खी का एक छत्ता है और मधु की एक-एक बूंद टपक रही है। फैलायी उसने जीभ अपनी—मधु की एक बूंद जीभ पर टपकी। आंख बन्द की और कहा, धन्य भाग, बहुत मधुर है। उस क्षण में उसके लिए न ऊपर सिंह रहा, न नीचे चिंघाड़ता हाथी रहा। न जड़ों को काटते हुए चूहे रहे। न कोई मौत रही, न कोई भय रहा। एक क्षण को वह सब भूल गया। कहा उसने, बहुत मधुर मधु है—बहुत मधुर!

बुद्ध कहते थे, हर आदमी इसी हालत में है, लेकिन मन मधु की एक-एक बूंद टपकाए चला जाता है। आंख बन्द करके आदमी कहता है, बहुत मधुर है। स्थिति यही है, सिचुएशन यही है। पूरे वक्त यही है। नीचे भी मौत है, ऊपर भी मौत है। जहां जिन्दगी है, वहां सब तरफ मौत है। जिन्दगी सब तरफ मौत से घिरी है। और प्रतिपल जीवन की जड़ें कटती जा रही हैं अपने-आप। जीवन रिक्त हो रहा है, चुक रहा है—एक-एक दिन, एक-एक पल। जैसे कि रेत की घड़ी होती है और एक-एक क्षण रेत नीचे गिरती जाती है और चुकती जाती है। ऐसे ही जीवन से समय चुकता जाता है। और जीवन खाली होता चला जाता है। लेकिन फिर भी एक बूंद गिर जाए मधु की, स्वप्न निर्मित हो जाते हैं, आंख बन्द हो जाती है। मन कहता है, कैसा मधुर है! और जब तक एक बूंद चुके, समाप्त हो, तब तक दूसरी बूंद टपक जाती है। मन प्रवंचना की बूंदें टपकाए चला जाता है। इसलिए ऋषि कहता है, हे मेरे संकल्पात्मक मन, कितने धोखे, कितनी प्रवंचनाएं तूने दीं। अब तू उन सबका एक बार स्मरण कर। एक बार स्मरण कर ले, जो तूने किया, जो तू सोचता था, कर रहा है। जिसका तू कर्त्ता बना था। और आज तू समाप्त हुआ जाता है, शून्य हुआ जाता है, मिट जाता है।

समाधि के द्वार पर मन शून्य हो जाता है। विचार बन्द हो जाते हैं, चित्त के कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। चित्त की तरंगें निस्तरंग हो जाती हैं। मन होता ही नहीं, जहां मन नहीं है, वहीं समाधि है। मैंने कहा कि समाधि का एक अर्थ है—साधु मर जाए तो उसकी कब्र को हम कहते हैं समाधि। समाधि का दूसरा अर्थ है—जहां समाधान है। जहां कोई समस्या नहीं है। यह बड़े मजे की बात है कि जहां मन है, वहां समस्या और समस्या और समस्या—समाधान कभी भी नहीं है। मन समस्याओं को पैदा करने की बड़ी कीमिया है। जैसे वृक्षों पर पत्ते लगते हैं, ऐसे मन में समस्याएं लगती हैं। समाधान उसमें कभी नहीं लगता। मन के तल पर कोई समाधान कभी भी नहीं है। समाधान तो वहां है, जहां मन खो जाता है। इसलिए जब कोई आकर मुझसे कहता है कि मेरे मन को समाधान करवा दें, तो मैं उससे कहता हूं कि तुम इस झंझट में न पड़ो। मन को कभी समाधान न करवा पाओगे। मन को छोड़ो तो समाधान हो पाएगा।

एक मित्र आज सांझ को ही मुझसे कह रहे थे कि मैं लोभ से कैसे मुक्त हो जाऊं? मैंने कहा, न हो सकोगे। क्योंकि तुम ही लोभ हो। जब तक तुम हो तब तक लोभ से मुक्त न हो सकोगे। तुम ना हो जाओ, लोभ नहीं रह जाएगा। मन का कभी समाधान नहीं होता। मन नहीं होता, तब समाधान होता है। इसलिए कहते हैं उसे समाधि। जहां सब समाधान आ गया, जहां कोई समस्या न रही। जब तक मन है, तब तक समस्या बनाए ही चला जाएगा। एक समस्या हल करेंगे तो दूसरी समस्या निर्मित करेगा। और एक समाधान अगर कोई देगा, तो दस समस्याएं उस समाधान में से निर्मित करेगा।

एक मित्र आए दो दिन पहले। मुझे उन्होंने पत्र लिखा था कि आता हूं शिविर में। चित्त में बड़ी अशान्ति है। वे आये। तीन दिन के प्रयोग ने अशान्ति को तिरोहित किया। तीन दिन बाद मेरे पास आए और कहने लगे, अशान्ति तो चली गयी, लेकिन यह शान्ति कहीं धोखा तो नहीं है? मैंने उनसे पूछा कि अशान्ति धोखा है, ऐसा कभी मन ने कहा था कि नहीं? उन्होंने कहा मन ने ऐसा कभी नहीं कहा। 'कितने दिन से अशान्त हैं?' उन्होंने कहा कि सदा से अशान्त हूं।

मन ने कभी यह नहीं पूछा कि अशान्ति धोखा तो नहीं है। अभी तीन दिन से शान्त हुए तो मन कहता है, कहीं शान्ति धोखा तो नहीं है? बहुत अद्भुत मन है। अगर परमात्मा भी आपको मिल जाए तो मन कहेगा, पता नहीं, असली है या नकली—अगर मन मौजूद हो तो। इसलिए परमात्मा मन के रहते मिलता नहीं। क्योंकि मन उसको बड़ी दिक्कत में डालेगा। मन को आनन्द भी मिल जाए तो भी संदिग्ध होता है कि पता नहीं, है या नहीं। मन सन्देह निर्मित करता है, शंकाएं निर्मित करता है, समस्याएं निर्मित करता है, चिन्ताएं निर्मित करता है। फिर भी मन को इतने जोर से क्यों हम पकड़ते हैं? अगर मन सारी बीमारियों की जड़ है, जैसा कि समस्त जानने वाले कहते हैं, तो फिर हम मन को इतने जोर से क्यों पकड़े हुए हैं? वही कारण है, जिससे ऋषि व्यंग्य कर रहा है। मन को हम इसलिए जोर से पकड़े हैं कि हमको डर है कि अगर मन नहीं रहा तो हम नहीं रहेंगे। असल में हमने जाने-अनजाने में मन को अपना होना समझ रखा है। तादात्म्य कर रखा है। समझ लिया है कि मैं मन हूं। जब तक आप समझेंगे कि मैं मन हूं, तब तक आप समस्त बीमारियों को पकड़े बैठे रहेंगे, छाती से लगाये बैठे रहेंगे। आप मन नहीं हैं। आप तो वह हैं, जो मन को भी जानता है, जो मन को भी देखता है, जो मन को भी पहचानता है। पीछे हटना पड़ेगा थोड़ा मन से। थोड़ा दूर होना होगा। थोड़ा पार उठना पड़ेगा। जरा किनारे खड़े होकर मन की धारा को देखना पड़ेगा कि वह रही मन की धारा। आप मन नहीं हैं, लेकिन समझा हमने यही है कि मैं मन हूं। जब तक आप समझे हैं कि मैं मन हूं, तब तक आप मन को छोड़ेंगे कैसे? वह तो प्राणघाती हो जाएगी बात। मन को छोड़ना मतलब मरना हो जाएगा। ऐसे आप मन को नहीं छोड़ सकेंगे। मन को तो वही छोड़ सकता है, जो जान ले कि मैं मन नहीं हूं।

समाधि का पहला चरण यह अनुभव है कि मैं मन नहीं हूं। जब यह अनुभव गहरा होने लगता है और इतना गहरा हो जाता है कि यह आपकी स्पष्ट अनुभूति हो जाती है कि मैं मन नहीं हूं, उसी दिन इस अनुभूति के पूर्ण होते ही मन तिरोहित हो जाता है। मन उस दिन उसी तरह तिरोहित हो जाता है, जैसे किसी दीये का तेल चुक जाए। दिए का तेल चुक जाए तो भी थोड़ी देर बाती जलेगी। बाती में

थोड़ा तेल चढ़ गया होगा इसलिए। लेकिन थोड़ी ही देर। वही स्थिति है ऋषि की। तेल चुक गया है। जान लिया ऋषि ने कि मैं मन नहीं हूं। लेकिन बाती में जो थोड़ा-सा तेल चढ़ गया है उससे अभी ज्योति जल रही है। इस आखिरी जलती और अन्तिम समय में बुझती ज्योति में ऋषि कहता है कि तूने मुझे धोखा दिया था कि सदा साथ देगी और प्रकाश देगी। तेरा तो बुझने का क्षण आ गया! अब मैं देखता हूं कि तेल तो चुक गया है, कितनी देर जलेगा मेरा संकल्पात्मक मन? अब तो सारी बात समाप्त हुई जाती है। लेकिन फिर भी मैं हूं। तो अपने ही बिदा होते मन को वह कह रहा है कि मैं था और मैं सदा तुझसे अलग था, लेकिन सदा मैंने तुझे अपने साथ एक समझा। वही मेरी भ्रान्ति थी। वही संसार था। वही माया थी।

अपने से तो कह ही रहा है, मैंने आपसे कहा कि आपसे भी कह रहा है। शायद—शायद आपको भी ख्याल आ जाए। लौट के थोड़ा देखें तो शायद ख्याल आ जाए। बीस साल पहले लौट जाएं, बच्चे थे। क्लास में प्रथम आने की कैसी आकांक्षा थी भारी। रात-रात नींद न आती थी। परीक्षा प्राणों पर संकट मालूम पड़ती थी। लगता था, सब कुछ इसी पर टिका है। आज न कोई परीक्षा रही, न क्लास रही। लौट कर याद करें, क्या फर्क पड़ा कि प्रथम आए थे कि द्वितीय, कि तृतीय, कि बिल्कुल नहीं आए थे। क्या फर्क पड़ा? आज कुछ याद भी नहीं आता। दस साल पीछे लौटें। किसी से झगड़ा हो गया है, लगता है कि जीवन-मरण का सवाल है। आज दस साल बाद ऐसी हो गयी, जैसे पानी पर खींची गयी रेखाएं मिट जाती हैं। किसी ने राह में गाली दे दी थी तो ऐसा लगा था कि अब कैसे बचेंगे? बचे हैं भली तरह। गाली भी नहीं है, कुछ पता भी है, आज कोई याद भी नहीं आता। आज लौट कर वापस देखें, कितना मूल्य दिया था उस क्षण! क्या आज उतना मूल्य रह गया है? कुछ भी मूल्य नहीं रह गया। आज जिस चीज को मूल्य दे रहे हैं, ध्यान रखना कल इतनी ही निर्मूल्य हो जाएगी। इसलिए आज भी बहुत मूल्य मत देना। कल के अनुभव से आज भी मूल्य को खींच लेना। ऋषि समस्त अनुभवों के आधार पर कह रहा है कि तेरे ऊपर मैंने बहुत मूल्य दिया संकल्पात्मक मन। लेकिन आज आखिरी बिदा में तुझसे कहता हूं कि धोखा था सब, वचना थी, मूढ़ता थी। मैं तुझसे अलग था, अलग हूं। जब मन विलीन होता है, उस क्षण में सब विलीन हो जाता है। क्योंकि मन के आधार पर ही सब जुड़ा है। मन जो है, वह न्यूक्यूलियस है। उसके ऊपर ही सारे जीवन का चाक घूमता है। इसलिए ऋषि कह रहा है, वायु वायु में लीन हो जाएगी, अग्नि अग्नि में लीन हो जाएगी, आकाश आकाश में खो जाएगा। सब खो जाएगा। क्योंकि वह जो जोड़ने वाला मन था, वही खो रहा है।

बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ, उन्होंने एक अद्भुत बात कही। जिस दिन पहली

बार उनका मन मिटा और वह मन शून्य दशा में प्रविष्ट हुए उस दिन उन्होंने भी ठीक ऐसी ही बात कही, जैसी उपनिषद् के इस ऋषि ने कही है। उन्होंने कहा कि मेरे मन, अब तुझे बिदा देता हूं। अब तक तेरी जरूरत थी, क्योंकि मुझे शरीररूपी घर बनाने थे। लेकिन अब मुझे शरीररूपी घर बनाने की कोई जरूरत न रही, अब तू जा सकता है। अब तक मुझे जरूरत थी तो मन के आर्किटेक्ट को, मन के इंजीनियर को पुकारना पड़ता था। उसके बिना कोई शरीर का घर नहीं बन सकता। लेकिन आज तुझे बिदा देता हूं, क्योंकि अब मुझे शरीर के बनाने की कोई जरूरत न रही। अब मुझे अपना परम निवास मिल गया है अब मुझे घर बनाने की कोई जरूरत नहीं। अब मैं वहीं पहुंच गया हूं, जो मेरा घर है। अब मुझे बनाने की कोई जरूरत न रही। अब मैं असृष्ट स्वरूप के घर में पहुंच गया हूं। पहुंच गया हूं—स्वयं में, निजता में। अब तू जा सकता है।

साधक के लिए ऐसे सूत्र कीमत के हैं। कण्ठस्थ करने से फायदा नहीं है। हृदय-स्थ करने से फायदा है। कण्ठस्थ कर लें, याद कर लें, रोज दोहरा दें, बासे पड़ जाएंगे। धीरे-धीरे अर्थ भी खो जाएगा। धीरे-धीरे शब्द ही रह जाएंगे मुर्दा, अर्थहीन। लेकिन अगर हृदय तक पहुंच जाए बात, समझ में आ जाए यह बात—केवल बौद्धिक समझ नहीं, प्राणगत समझ में आ जाए कि सच ही यह मन सिवाय धोखे के और कुछ भी नहीं है तो आपकी जिन्दगी एक नयी यात्रा पर, एक नयी क्रान्ति में प्रवेश कर जाएगी। मैं यदि इन सूत्रों पर बोल रहा हूं तो इसलिए नहीं कि ये सूत्र आपकी स्मृति में बैठ जाएं, कि आप थोड़े ज्यादा ज्ञानवान् हो जाएं। नहीं, आप जरूरत से ज्यादा ज्ञानवान् पहले ही हैं। आपके ज्ञान में बढ़ती की अब कोई भी जरूरत नहीं है। मैं बोल रहा हूं इसलिए इन सूत्रों पर कि आपको जीवन की वास्तविकता का स्मरण आ जाए। रिमेंबरिंग आ जाए, यह होश आ जाए कि हम जैसे जी रहे हैं, कहीं ये सूत्र उस जीने के बाबत भी कोई प्रकाश डालते हैं।

च्वांगत्से चीन में एक फकीर हुआ। एक सांझ निकलता है एक मरघट से। किसी की खोपड़ी पैर में लग जाती है। शिष्य उसके साथ हैं। च्वांगत्से खोपड़ी को उठाकर सिर से लगाकर बार-बार क्षमा मांगने लगता है कि मुझे माफ कर दे। हे भाई, मुझे माफ कर दे!

उसके शिष्यों ने कहा, आप कैसी बात कर रहे हैं। हमने सदा आपको बुद्धिमान् जाना। अब आप यह क्या पागलपन कर रहे हैं? च्वांगत्से ने कहा, तुम्हें पता नहीं है, यह छोटे लोगों का मरघट नहीं है, बड़े लोगों का मरघट है। यहां गांव के जो बड़े आदमी हैं, वे दफनाए जाते हैं। उन्होंने कहा—कोई भी हो, बड़ा हो या छोटा हो, मौत सबको बराबर कर देती है।

मौत तो बहुत कम्युनिस्ट है—एकदम समान कर देती है।

पर च्वांगत्से ने कहा कि नहीं, माफी तो मांगनी ही पड़ेगी। अगर यह आदमी

जिन्दा होता तो पता नहीं, आज मेरी क्या हालत होती। उन्होंने कहा, पर यह आदमी जिन्दा नहीं है। इसलिए तुम चिन्ता मत करो। पर च्वांगत्से उस खोपड़ी को घर ले आया और अपने कमरे में, अपने बिस्तर के पास ही रखने लगा। जो भी आता, वह चौंक कर देखता कि यह खोपड़ी यहां क्यों है? च्वांगत्से कहता कि मेरा जरा पैर लग गया था। अब यह आदमी मर गया है, बड़ी मुश्किल है। अब माफी किससे मांगूं? तो इसकी खोपड़ी ले आया हूं, रोज इससे माफी मांगता हूं कि शायद कभी सुनायी पड़ जाए।

लोग कहते, आप कैसी बातें कर रहे हैं! तो च्वांगत्से कहता कि इसलिए भी इस खोपड़ी को ले आया हूं कि इसे देखकर मुझे रोज ख्याल बना रहता है कि आज नहीं, कल अपनी भी खोपड़ी किसी मरघट पर ऐसी ही पड़ी होगी। लोगों की ठोकरें लगेंगी। कोई माफी भी मांगेगा तो हम माफ करने की हालत में भी नहीं होंगे। नाराज होने की तो बात अलग है। तो जिस दिन से इस खोपड़ी को लाया हूं, अपनी खोपड़ी के बाबत बड़ी समझ पैदा हुई है। अब अगर कोई मेरी खोपड़ी को लात मार जाए तो मैं इस खोपड़ी की तरफ देख कर शान्त रहूंगा।

यह एक्जिस्टेंशियल अण्डरस्टेंडिंग हुई। यह अस्तित्वगत समझ हुई—बौद्धिक नहीं। इसका परिणाम हो गया। यह आदमी बदल गया।

ऐसे ही यह सूत्र आपके हृदय तक पहुंच जाए और जब आप कोई कर्म कर रहे हों या कर्म की योजना बना रहे हों और मन कह रहा हो कि ऐसा करो, कि यह इलेक्शन आ रहा है, इसमें लड़ो और जीत जाओ, तो यह काम आएगा। जैसे यह सूत्र मोरारजी को दे देना चाहिए—अभी मन बड़े संकल्प कर रहा होगा। वह मरते दम तक करता चला जाता है संकल्प। हालांकि किसी चीज से कुछ मिलता नहीं। अब मोरारजी डिप्टी-कलेक्टर से लेकर डिप्टी-प्राइम-मिनिस्टर तक की यात्रा कर लिए। उससे कोई हल नहीं हुआ। आगे भी कितनी यात्रा करें, कुछ हल नहीं होगा। पर मन हारे तो मुसीबत में डालता है, जीते तो मुसीबत में डालता है। मन की हालत जुआरी जैसी है। जुआरी हार जाए तो सोचता है, एक दांव और लगा लूं, शायद जीत जाऊं। और जीत जाए तो सोचता है कि अब चूकना ठीक नहीं है, एक दांव और लगा लूं, जब जीत ही रहा हूं। जीतता है तो और लगाता है, क्योंकि जीतने से आशा बढ़ जाती है। जब तक हार न जाए तब तक जीतना कहता है और दांव लगा लूं। हार जाए तो मन कहता है कि हार गए। हार के लौटना उचित है कहीं? एक दांव और देख लो। कौन जाने जीत हो जाए!

मन जुआरी की तरह है। इस सूत्र को स्मरण रखना। और जब मन दांव लगाने की बात करे—हार-जीत की बात करे तब कहना कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किए हुए का स्मरण कर। इससे कर्म के प्रति जो भारी लगाव है वह क्षीण होगा, और कर्त्ता होने की जो जड़ता है वह टूटेगी। और समाधि की ओर

कदम बढ़ सकेंगे। ध्यान की ओर यात्रा हो सकेगी। स्मरण रखें, मूर्छा नहीं चलेगी। मन के साथ बेहोशी नहीं चलेगी। अगर आप बेहोश ही चले जाते हैं मन के साथ, मूर्च्छित ही चले जाते हैं मन के साथ, तो मन पुनरुक्त करता रहेगा वही, जो उसने कल किया था। यह बात शायद आपके ख्याल में न हो कि आपका मन कोई नए काम नहीं करता; बस, उन्हीं-उन्हीं कामों को पुनरुक्त करता चला जाता है। कल भी क्रोध किया था, परसों भी क्रोध किया था। और मजा यह है कि परसों क्रोध करके भी पछताए थे कि अब न करेंगे। कल भी क्रोध करके पछताए कि अब न करेंगे। आज भी क्रोध किया है और आज भी पछताएंगे कि अब न करेंगे। क्रोध भी पुराना है, पश्चात्ताप भी पुराना है। रोज वही दोहराए चले जाते हैं। अगर क्रोध न छूटता हो तो कम-से-कम पश्चात्ताप ही छोड़ दें। कहीं से तो पुराना टूटे। लेकिन नहीं, क्रोध भी जारी रहेगा, पश्चात्ताप भी जारी रहेगा। वही-वही रोज दोहराता रहेगा। आदमी की पूरी जिन्दगी एक रिपीटीशन है। कोल्हू के बैल से भिन्न नहीं है। कोल्हू के बैल को भी शक पैदा होता होगा कि बड़ी यात्रा कर रहे हैं। क्योंकि आंखें तो बंधी होती हैं और पैर चलते हैं तो कोल्हू के बैल को भी ख्याल तो आता ही होगा कि कितना चल चुके! न मालूम पृथ्वी की यात्रा कर ली कि कहां पहुंच चुके! मन भी कोल्हू के बैल की तरह चलता है वर्तुल में। वही कर रहे हैं आप रोज। अगर एक आदमी अपनी जिन्दगी की डायरी रखे, लेखा-जोखा रखे तो बहुत चकित होगा कि कहीं मैं मशीन तो नहीं हूं? वही-वही दोहराए चला जा रहा है! वही सुबह है, वही उठना है, वही सांझ है! अगर पति-पत्नी बीस साल साथ रह लेते हैं तो पति सांझ को देर से लौट कर घर में क्या कहेगा, पत्नी पहले से जानती है। बीस साल का अनुभव! पति जो भी कहेगा उसका क्या परिणाम पत्नी पर होगा, वह पति जानता है। फिर भी पति वही कहेगा और पत्नी वही कहेगी।

इस तरह मन की यान्त्रिकता में जो डूब कर, मूर्च्छित हो कर चल रहा है, उसे कितने ही अवसर मिलें, वह सारे अवसर चूक जाएगा। अवसर हमें कम नहीं मिलते। अवसर बहुत हैं। लेकिन हम हर अवसर चूक जाते हैं। हम अवसर चूकने में कुशल हैं। जिन्दगी रोज मौका देती है कि तुम नए हो जाओ, मत करो पुराना। लेकिन हम फिर पुराना करते हैं। यह होता है इसलिए कि अपने किए तब आप अहंकार को बिदा देते हैं। क्योंकि अहंकार के रहते प्रार्थना नहीं हो सकती। जब ऋषि कहता है, अग्नि, हे देवता, मुझे सन्मार्ग दिखा, क्योंकि मुझे कुछ पता नहीं, तब उसने अपने अहंकार को बिदा दे दी। जब तक आपका अहंकार है, आप प्रार्थना न कर पाएंगे। जब आप प्रार्थना करेंगे तब आपको अहंकार को बिदा देनी पड़ेगी। प्रार्थना अपनी ह्यूमिलिटी, अपनी विनम्रता की पूर्ण स्वीकृति है। आप प्रार्थना नहीं कर सकते, प्रार्थना करने में आपको मिटना पड़ेगा। आप मिटेंगे तो

ही प्रार्थना हो सकेगी। तो पहली बात, प्रार्थना करना इस बात की सूचना है कि मैं अपनी हंबुलनेस को, अपनी विनम्रता को स्वीकार करता हूं। अपनी असहाय अवस्था को, हेल्पलेसनेस को स्वीकार करता हूं। कहता हूं, मुझसे कुछ नहीं हो सकता है। घोषणा करता हूं कि मैं कुछ भी करने में समर्थ नहीं। मैं अंगीकार करता हूं कि जो भी मैंने किया वह नीचे ले गया। जो भी मैंने किया उससे मैं उलझा और उलझन में पड़ा। मेरा किया हुआ ही मेरा नर्क बन गया है। मेरे किए हुए कर्मों के जाल ने ही मेरी छाती के ऊपर पत्थर रख दिए हैं। अब मैं और नहीं करता, अब मैं कहता हूं, हे देवता, हे प्रभु, अब तू ही कर। अब तू मुझे ले चल। फिर भी मैं कहता हूं कि इसका यह मतलब नहीं कि देवता आपको ले जाएगा। यह प्रार्थना ही अगर पूरे हृदय से की गयी और अहंकार निशेष हो गया तो ले जाएगी। यह प्रार्थना ही ले जाएगी। तो पहला सूत्र; अहंकार नहीं।

दूसरा सूत्र; अपने पर भरोसा बहुत कर लिए। एक आदमी फकीर इकहार्ट के पास जाकर कह रहा था आई एम ए सेल्फमेड मैन। मैं एक ऐसा आदमी हूं, जिसने खुद ही अपने को निर्मित किया है। इकहार्ट ने उसकी बात सुनी, आकाश की तरफ हाथ जोड़े और कहा, हे परमात्मा, बहुत-सी जिम्मेदारियों से तू मुक्त हो गया—यू आर फ्री ऑफ मच रिस्पोंसीबिलिटी। यह आदमी सेल्फमेड है, यह अच्छा है। नहीं तो मैं यही सोच रहा था कि हे भगवान्, ऐसे-ऐसे आदमी तू कैसे बना देता है! लेकिन तू सेल्फमेड है, तेरी बड़ी कृपा है। कम-से-कम भगवान् अपराधी होने से बच गया। नहीं तो जिम्मा भगवान् पर ही जाता। हम सब अपने पर बहुत भरोसा करते हैं। हममें से अधिक लोग अपने को सेल्फमेड मानते हैं। अपने को सेल्फमेड मानना, अपने को अपने द्वारा निर्मित मानना जैसे ही है, जैसे कोई अपना बाप होने की कोशिश करे। करते हैं सभी लोग। पूरी जिन्दगी यही चेष्टा है कि हम सिद्ध कर दें कि हम अपने बाप हैं। या ऐसी चेष्टा है कि कोई अपने जूते के बन्द को पकड़ कर अपने को उठाने की कोशिश करे। करते हैं हम। थक जाते हैं, बन्द टूट जाते हैं, हाथ-पैर टूट जाते हैं। कोई उठा नहीं पाता अपने को। जूते के बन्द से पकड़ कर अपने को उठाना! अपने पर भरोसा छोड़ना प्रार्थना है। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही उठा लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही खोज लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि सन्मार्ग मैं बना लूंगा, पहुंच जाऊंगा। छोड़ें यह भरोसा कि मन्दिर की यात्रा मुझसे हो सकती है। फिर भी मैं कहता हूं, यात्रा आपसे ही होगी। कोई और यात्रा करवाने वाला नहीं है। लेकिन इस भरोसे के छोड़ते ही यात्रा शुरू हो जाती है। यह भरोसा ही बाधा है। जटिल मालूम पड़ेगा थोड़ा-सा। जटिल जरा भी नहीं है। यह भरोसा ही बाधा है। अपने पर भरोसा छोड़ें। और अपने पर भरोसा छोड़ते ही आपकी ऊर्जा मुक्त हो जाती है। अपने पर भरोसा छोड़ते ही आपकी ऊर्जा परमात्म-प्रतिष्ठित हो जाती है। अपने पर भरोसा छोड़ते

ही आप ही देवता हो जाते हैं। कोई और अग्नि देवता नहीं है, जो आपको ले जाएगा। आपके ही भीतर छिपी हुई अग्नि काफी है। आपके भीतर ही दिव्यता काफी छिपी है, वही यात्रा शुरू कर देगी।

लेकिन जितना ही अहंकार उतनी ही यह दिव्यता संकुचित हो जाएगी। जितना अहंकार उतना उस दिव्यता को मार्ग नहीं मिलता। जितना अहंकार उतने ही द्वार-दरवाजे बन्द। जितना अहंकार उतनी ही वह दिव्यता लाख उपाय करे तो ऊपर नहीं जा सकती। क्योंकि अहंकार पत्थर की तरह गले में लटका होता है। और अहंकार डुबाता है नदी में। छोड़ें भरोसा। उस पत्थर को, जिसको गले में बांधे हैं, उसे अलग करें। आप तैर जाएंगे। आप ही तैर जाएंगे। कभी आपने देखा है, नदी में एक बड़ी अद्भुत घटना घटती है। लेकिन हम अंधे हैं, हम कुछ देखते नहीं हैं। नदी में जिन्दा आदमी डूब जाते हैं, मुर्दा तैर जाते हैं। मुर्दा बड़ा अद्भुत है। जिन्दा तो डूब गया और मुर्दा ऊपर है। मुर्दे को जरूर कोई सीक्रेट पता है, जो जिन्दे को पता नहीं है। कोई राज, कोई रहस्य, कोई कुंजी तैरने की, पानी की छाती पर होने की, न डूबने की। मुर्दे को डुबा दे नदी तो हम जानें! मुर्दे को कोई नदी नहीं डुबा पाती। बड़े-बड़े सागर नहीं डुबा पाते। मुर्दा लहरों पर आ जाता है। राज क्या है? मुर्दे को कौन-सी बात पता है, जो जिन्दों को पता नहीं? मुर्दे को कुछ पता नहीं है। सिर्फ मुर्दा नहीं है। वही राज है। और जब कोई जिन्दा रहते हुए मुर्दे की तरह हो जाता है तो डूबना असम्भव है। नीचे उतरना असम्भव है। तैर जाता है। कोई देवता नहीं तैरा जाता, आपके अहंकार का पत्थर ही हट जाता है तो आप हल्के हो जाते हैं, वेटलेस हो जाते हैं, निर्भार हो जाते हैं। फिर कोई डुबाए भी तो कैसे डुबाए! डूबते हम अपने हाथों से हैं। अपने पर भरोसा ही डुबाता है। अपने अहंकार का ही आग्रह डुबाता है। मैं ही सब कर लूंगा, बस, यात्रा हो गयी नर्क की। एक ही यात्रा हो पाएगी, नर्क पहुंच जाएंगे। इसलिए ये प्रार्थनाएं बड़ी अद्भुत हैं।

ध्यान रहे, मेरी अपनी कठिनाई है। जब मैं इस ऋषि की प्रार्थना को अद्भुत कहता हूं तो आप जो प्रार्थनाएं घरों में करते रहते हैं, चाहे ईशावास्य पढ़ कर ही करते हों, उनको अद्भुत नहीं कह रहा हूं। वे बिल्कुल बोगस हैं। अग्नि जलाए हुए लोग बैठे हैं, हवन-कीर्तन कर रहे हैं—बिल्कुल नानसेंस है! कोई अर्थ नहीं, कोई अभिप्राय नहीं। क्योंकि कहीं भी तो वह जो अग्नि को जला कर बैठा हुआ आदमी है, रूपान्तरित नहीं होता, वही तो प्रमाण है, और तो कोई प्रमाण नहीं है। जिन्दगी भर से एक आदमी हवन कर रहा है, चालीस साल से हवन कर रहा है, आदमी वही का वही है। कहीं कोई फर्क नहीं पड़ा। हवन हुआ ही नहीं। एक आदमी रोज मन्दिर जा रहा है, मस्जिद जा रहा है, रोज प्रार्थना कर रहा है, रोज जा रहा है। आदमी वही का वही है। मस्जिद को भला थोड़ा-बहुत नुकसान

पहुंचा हो, उनको कोई नुकसान नहीं । मस्जिद भले उनसे डरने लगी हो कि ये सज्जन चालीस साल से परेशान कर रहे हैं, लेकिन वह जरा भी परेशान नहीं हैं । वह वही के वही हैं । नहीं, प्रार्थना हो नहीं रही है । मस्जिद में प्रवेश नहीं हो रहा है, मन्दिर में प्रवेश नहीं हो रहा है । वह प्रवेश इतना स्थूल नहीं है, जैसा हम सोचते हैं । ऋषि की प्रार्थना को मैं कह रहा हूं कि सार्थक है । बड़ी विनम्र है । बड़ी सरल है, बड़ी सहज है । हे अग्नि, ले चल मुझे सन्मार्ग पर, क्योंकि मुझे पता नहीं। बस, इतना जो कह सके पूरे भाव से, हे आकाश, ले चल मुझे निराकर की तरफ, क्योंकि मुझे पता नहीं । और अचानक आप पाएंगे कि मार्ग खुल गया । जिसने कहा; मुझे पता नहीं, उसके ज्ञान का मार्ग खुला । जिसने कहा; मैं अज्ञानी हूं, उसने ज्ञान की तरफ पहला कदम उठाया । जिसने कहा; मैं ज्ञानी हूं उसने कहीं और थोड़ा रंध्र-वंध्र रहा हो, मकान में कोई छेद-वेद रहा हो, जहां से रोशनी आ जाए, उसको भी बन्द किया ।

प्रार्थना सिर्फ अज्ञान की ही नहीं, असहाय अवस्था की भी स्वीकृति है । अज्ञानी ही नहीं हैं, बड़े असहाय हैं । कोई कूल नहीं दिखता, कोई किनारा नहीं दिखता, कोई नाव नहीं दिखती, कुछ नहीं दिखता । सागर अनन्त दिखता है । गहराई भयंकर है । सामर्थ्य नहीं है बिल्कुल । आंख बन्द करके समझे चले जाते हैं कि नाव में हैं—कागज की नावें हैं ! आंख बन्द करके समझे चले जाते हैं कि ठीक है, तट पर खड़े हैं । बड़ी असहाय है अवस्था—बिल्कुल हेल्पलेस । प्रार्थना में अज्ञान की स्वीकृति हैं, साथ ही स्वीकृति है इस बात की कि मैं असहाय हूं । कोई उपाय नहीं, निरुपाय हूं । और जिसने यह की घोषणा कि मैं निरुपाय हूं, उसके हाथ आया उपाय । यह निरुपाय होने की घोषणा ही उपाय है । यह असहाय होने की पूर्ण स्वीकृति ही परम सहारे को उपलब्ध हो जाना है । जिसने छोड़ा अपने को, उसने पाया प्रभु को । जिसने कहा, अब से तू ही चला तो मैं चलूंगा, तू ही उठा तो मैं उठूंगा, अब तू जहां ले जाए वहीं मैं जाऊंगा । जिसने इतनी सरलता से अनकण्डीशनल, बेशर्त समर्पण से, सरेण्डर से, अनन्त के प्रति ज्ञापन किया, उसके भीतर का द्वार खुला। ये प्रार्थनाएं द्वार खोलने की कुंजियां हैं । ये छोटी-छोटी प्रार्थनाएं बड़ी गहरी हैं । ये बड़ी दूरगामी हैं ।

इस प्रार्थना को स्मरण रखें । उठते, बैठते, सोते, चलते, क्षणभर को मौका मिले तो कहें अपने से, नहीं कुछ जानता हूं, असहाय हूं । प्रभु, तू ले चल । फिर भी मैं कहता हूं, जोर देकर कहता हूं कि कोई आपको ले जाने वाला नहीं आएगा । यह प्रार्थना ही आपको ले जाएगी। आप ही समर्थ हो जायेंगे प्रार्थना के करते ही । प्रार्थना शक्ति है, बड़ी महत् शक्ति है । छोटे-से अणु में अगर विराट् ऊर्जा छिपी है तो छोटी-सी प्रार्थना में अनन्त अणुओं से भी ज्यादा विराट् ऊर्जा छिपी है । करें और देखें । तत्क्षण परिणाम है, तत्क्षण । एकदम हल्के हो जायेंगे । पंख निकल

आएंगे और उड़ने की तैयारी हो जाएगी । भार गया, भार है ही हमारी अस्मिता में, अहंकार में, इगो में । और हम ऐसे कुशल हैं कि हम प्रार्थना तक से अहंकार को भर लेते हैं । देखें, मन्दिर से एक आदमी प्रार्थना करके लौटता है तो चारों तरफ देखता लौटता है कि पापी जा रहे हैं, क्योंकि वह प्रार्थना करके आ रहा है ।

मुहम्मद ने एक दिन एक युवक को कहा कि कभी मेरे साथ प्रार्थना को चल । मुहम्मद ने कहा था तो वह टाल न सका । जैसे कि मैं आपसे कभी कहता हूं तो आप नहीं टाल पाते । नहीं टाल सका । मुहम्मद ने कहा था तो सोचा कि चलो, नहीं मानता, चले चलें । पहुंच गया सुबह । मुहम्मद तो नमाज में खड़े हो गए, वह भी अपना कुछ-कुछ गुन-गुन करता रहा खड़ा होकर । गुन-गुन ही कर सकता था । मुहम्मद बड़े बेचैन हुए कि इस आदमी को गलत ले आए । लेकिन अब कोई उपाय न था । नमाज पूरी की, वापस लौटे । सुबह का वक्त है, गर्मी के दिन हैं । लोग अभी भी सोए हुए हैं । उस युवक ने मुहम्मद से कहा, देखते हैं हजरत, इन लोगों का क्या होगा ? नमाज का वक्त, अभी तक बिस्तरों पर पड़े हैं ! क्या ख्याल है आपका ? ये लोग नर्क जाएंगे ?

मुहम्मद ने कहा, भाई, ये कहां जाएंगे मुझे पता नहीं, मुझे वापस मस्जिद जाना है। उसने कहा, क्या हो गया आपको ? उन्होंने कहा, मेरी पहली नमाज तो बेकार गयी । तुझे मैंने नुकसान पहुंचाया । नमाज न करने के पहले तू कम-से-कम विनम्र था, कम-से-कम इनको पापी नहीं समझता था । यह तो और उपद्रव हो गया । तू मुझे माफ कर और दुबारा मस्जिद मत आना । और मैं जाऊं, फिर से नमाज पढ़ूं, पहली नमाज तो बेकार गयी । मैंने तुझे नुकसान ही पहुंचाया मस्जिद ले जाकर । तेरी अकड़ और भारी हुई । प्रार्थना से अकड़ टूटनी चाहिए । तो वह और भारी हो गयी ।

तिलक, चंदन-वंदन लगा कर देखा, आदमी कैसा अकड़ कर चलता है । चोटी-वोटी बढ़ा कर देखा आदमी ! जैसे परमात्मा से कोई लाइसेंस उनको मिल गया है। वे कुछ सगे-सम्बन्धी हो गए और भाई-भतीजों में अब उनकी गिनती है परमात्मा के । अब वे सारी दुनिया को नर्क भेजे बिना नहीं मानेंगे । प्रार्थना भी अहंकार को भर जाती है तो आदमी अद्भुत है । चालाकी की कोई सीमा नहीं है । प्रार्थना की शर्त ही अहंकार-विसर्जन है । धार्मिक आदमी कह भी न सकेगा अपने मुंह से कि मैं धार्मिक हूं । क्योंकि इतने अधर्म का उसे बोध होगा अपने में कि वह कहेगा कि मुझसे अधार्मिक और कौन है ? धार्मिक आदमी कह भी न सकेगा कि मैं पुण्यात्मा हूं । क्योंकि पुण्य में भी उसे पाप की रेखा दिखायी पड़ेगी, अहंकार खड़ा हुआ दिखायी पड़ेगा । वह कहेगा, मुझसे पापी और कौन ? इसलिए वह ऋषि कहता है कि न मालूम कितने कर्म किए हैं, जो भारी पड़ेंगे । न मालूम कितने पाप किए हैं, जो भारी पड़ेंगे । योग्य तो मैं बिल्कुल नहीं हूं । पात्र तो मैं बिल्कुल नहीं हूं, दावे-

दार मैं हो नहीं सकता। क्लेम मैं कर नहीं सकता कि मुझे मिल जाए। सिर्फ प्रार्थना कर सकता हूं।

ध्यान रहे। इसलिए तीसरा सूत्र आपसे कहता हूं; प्रार्थना दावा नहीं है। क्लेम नहीं है। पात्रता की घोषणा नहीं है, अपात्रता की स्वीकृति है। मैं कुछ हकदार हूं, ऐसा भाव भी आ गया तो प्रार्थना विषाक्त हो गयी। मैं हकदार तो बिलकुल नहीं हूं। इसीलिए प्रार्थना करने वाले को जब मिलता है कुछ तो वह कहता है, तेरी कृपा से मिला, मेरी योग्यता से नहीं। इसलिए प्रार्थना करने वालों ने प्रभु-प्रसाद शब्द खोजा है। वह कहते हैं, जो मिलता है वह प्रभु-प्रसाद है। डिवाइन ग्रेस है। हम कहां पात्र थे। हमसे ज्यादा अपात्र तो खोजना मुश्किल था। फिर भी मैं कहता हूं कि मिलता है आपकी पात्रता से। आपकी अपात्रता से नहीं मिलता। लेकिन अपनी अपात्रता का बोध ही प्रार्थना की पात्रता है। अपनी अपात्रता का बोध ही प्रार्थना की पात्रता है। अपने ना कुछ होने का बोध ही प्रार्थना का दावा है। दावा न करना ही प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना भेजती है, न आए तो हम कहेंगे कि हम इस योग्य कहां थे कि आए। आ जाए तो हम कहेंगे, उसकी कृपा है। यद्यपि उसकी कृपा से नहीं मिलता, क्योंकि उसकी कृपा सब पर बराबर है। अगर उसकी कृपा से मिलता हो तो इसका मतलब यह हुआ कि वहां भी भाई-भतीजावाद कुछ चलता होगा। क्योंकि एक आदमी ने घण्टे बजा कर मन्दिर में प्रार्थना कर ली और कहा कि हे भगवन्, तू पतित-पावन है; कि तू महान् है। जैसे कोई राजा के दरबार में कुछ कह देता हो और राजा प्रसन्न हो जाता हो। ऐसे ही लोग प्रार्थना किए चले जाते हैं कि शायद परमात्मा प्रसन्न हो जाए। इसलिए हमने सब प्रार्थनाएं राजाओं के दरबारों में बोले गए वचनों के आधार पर निर्मित की हैं—दरबारी! और दरबारी भी कहीं कोई प्रार्थना हो सकती है? खुशामदे-खुशामद को संस्कृत में कहते हैं स्तुति। खुशामद है सब। नहीं, परमात्मा महान् है, यह नहीं कहना है, यह तो खुशामद हो जाएगी। 'मैं कुछ नहीं हूं' इतना निवेदन काफी है। तू महान् है, यह नहीं। क्योंकि मैं कितना ही महान् कहूं, मुझ क्षुद्र से तेरी महानता की घोषणा भी कसे हो सकेगी। और मेरे द्वारा बतायी गयी तेरी महानता कितनी महानता होगी! और मैं कितना तुझे नाप पाऊंगा! कितनी तेरी महानता का हिसाब लगा पाऊंगा! नहीं, तेरी महानता के लिए मेरे पास कोई मापदन्ड नहीं हो सकता, मैं अपनी क्षुद्रता को ही माप लूं उतना काफी है। इतना ही मैं कह पाऊं प्रार्थना के क्षण में कि मैं कुछ भी नहीं हूं, काफी है।

उसकी कृपा से नहीं मिलता कुछ, यह मैं पुनः आपसे कह दूं। यद्यपि जब भी किसी को मिलता है तो वह जानता है उसकी कृपा से मिला है। जब भी किसी को मिला है तो उसने घोषणा की है हृदयपूर्वक नाच कर गांव-गांव खबर कर दी है लोगों को कि उसकी कृपा से मिला है। उसका प्रसाद है। यद्यपि उसकी कृपा से किसी को कुछ नहीं मिलता है। क्योंकि कृपा तो वही कर सकता है जो अकृपा भी कर सकता हो। उसकी कृपा तो शाश्वत् है। उसकी कृपा तो बरस ही रही है।

बुद्ध कहते थे, बरस रहा है अमृत, लेकिन कुछ हैं, जो अपने घड़ों को उल्टा रखे बैठे हैं। जिस दिन घड़ा सीधा होगा कोई उस दिन अमृत बरसने लगेगा, ऐसा नहीं है। अमृत तो उस दिन भी बरस रहा था, जिस दिन आप घड़ा उल्टा किए थे। वहां भी बरस रहा था, जहां कोई घड़ा न था। कोई आप पर विशेष कृपा नहीं हो जाएगी, कि जब आप अपनी मटकी सीधी करेंगे तो कोई अमृत आप पर बरसने आ जाएगा कि चलो इसकी मटकी सीधी है, बरस जाएं! अमृत तो बरस ही रहा है। परमात्मा की कृपा उसका स्वभाव है। अस्तित्व का अमृत उसका स्वभाव है। वह बरस ही रहा है। वह सतत् बरस रहा है। हमारी मटकी उल्टी हम रखकर बैठे हैं।

अहंकार मटकी को उल्टा रखकर बैठता है और भरने की कोशिश करता है। मटकी को सीधी रखने का मतलब है, मैं ना कुछ हूं, इसकी घोषणा। जब मटकी सीधी होती है, तो उसके भीतर का खालीपन ही तो प्रकट होता है, और क्या प्रकट होता है? जब मटकी उल्टी होती है, तो खालीपन छिपा होता है, और क्या होता है? उल्टी मटकी अपने भरे होने का भ्रम पैदा कर लेती है, क्योंकि खालीपन दिखायी नहीं पड़ता है, एम्पटीनेस दबी होती है। इसलिए तो हम मटकी को उल्टा रखे रहते हैं। सीधी होकर मटकी को पता चलता है कि मैं तो सिवाय खालीपन के और कुछ भी नहीं हूं। सिर्फ एक जगह हूं, जिसमें कुछ भर सकता है। भरा हुआ मुझमें कुछ भी नहीं है। जिसने जाना कि मैं ना कुछ हूं, उसकी मटकी हो गयी सीधी। जिसने अपनी मटकी सीधी की, गया प्रार्थना में। कृपा बरस रही है, वह भर जाएगी। जब भरेगी, तब वह कहेगा कि उसकी कृपा। यद्यपि आप मटकी सीधी न करते तो उसकी कृपा हो नहीं सकती थी। आपकी ही कृपा है कि आपने मटकी सीधी रखी। अपने पर कृपा करना प्रार्थना है। अपने पर करुणा करना प्रार्थना है। अपने पर क्रूर होना अहंकार है। अपने साथ ज्यादती करना अहंकार है। अपने साथ हिंसा करना अहंकार है।

सुबह के लिए इतना ही।

अब हम चलें, कृपा करें, मटकी सीधी रखें।

●

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है । तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है ।
ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

प्रवचन : २७
साधना-शिविर, माऊण्ट आबू, सुबह, दिनांक १० अप्रैल, १९७१

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

जीवन का शाश्वत् नियम है, जहां से होता है प्रारम्भ, वहीं होती है परिणति । जो है आदि, वही है अन्त । जीवन के इसी शाश्वत् नियम के अन्तर्गत ईशावास्य जिस सूत्र से शुरू होता है, उसी सूत्र पर पूर्ण होता है । इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है । सभी यात्राएं वर्तुल में हैं—द फर्स्ट स्टेप इज द लास्ट आलसो । जो ऐसा समझ लेते हैं कि पहला कदम आखिरी कदम भी है, वह व्यर्थ की दौड़-धूप से बच जाते हैं । जो जानते हैं कि जो प्रारम्भ है, वही अन्त भी है, वे व्यर्थ की चिन्ता से बच जाते हैं । पहुंचते हैं हम वहीं, जहां से हम चलते हैं । यात्रा का जो पहला पड़ाव है, वही यात्रा की अन्तिम मंजिल है । इसलिए बीच में हम बिल्कुल आनन्द से चल सकते हैं । क्योंकि अन्यथा कोई उपाय नहीं है । हम वहां नहीं पहुंचेंगे जहां हम नहीं थे । हम वहां पहुंचने की कितनी ही चेष्टा करें, हम वहां नहीं पहुंचेंगे, जहां हम नहीं थे । हम वहीं पहुंचेंगे, जहां हम थे । इसे ऐसा समझें कि हम वही हो सकते हैं, जो हम हैं ही । अन्यथा कोई उपाय नहीं है । जो हममें छिपा है, वही प्रकट होगा, और जो प्रकट होगा, वह वापस लुप्त हो जाएगा । बीज वृक्ष बनेगा, वृक्ष फिर बीज बन जाते हैं । ऐसा जीवन का शाश्वत् नियम है । इस नियम को जो समझ लेते हैं, उनकी चिन्ता क्षीण हो जाती है । उनके त्रिविध ताप शान्त हो जाते हैं । कोई फिर कारण नहीं है । न दुख का, न सुख का । दुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हम अपनी मंजिल अपने साथ लेकर चलते हैं । सुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हमें ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो हमें सदा से मिला हुआ ही नहीं है ।

इस महानियम की सूचना के लिए ही शुरू होता है ईशावास्य जिस मन्त्र से, उसी मन्त्र पर पूरा होता है । बीच में हमने जो यात्रा की, वे भी उसी मन्त्र तक पहुंचने के अलग-अलग द्वार थे । प्रत्येक मन्त्र पुनः-पुनः उसी महासागर की स्मृति को जगाने के लिए सूचना थी । और प्रत्येक घाट और प्रत्येक तीर्थ उसी सागर में नाव छोड़ देने के लिए पुकार है—आमन्त्रण है, आह्वान है । इस सूत्र को अगर

आपने ख्याल रखा हो, तो हर सूत्र के प्राणों में यही अनुस्यूत था। इसलिए पहले ही घोषणा कर दी थी और अब अन्त में उसकी निष्पत्ति की घोषणा है। मैंने पहले दिन इस सूत्र का अर्थ आपको कहा था, आज इसका अभिप्राय कहूंगा। पूछेंगे आप अर्थ और अभिप्राय में क्या फर्क होता होगा?

अर्थ तो बहुत प्रगट बात है, अभिप्राय बहुत गुप्त। अर्थ तो शरीर है, अभिप्राय आत्मा। अर्थ तो बुद्धि से भी समझा जा सकता है, अभिप्राय सिर्फ हृदय से। स्वभावत: प्राथमिक रूप से अर्थ ही कहा जा सकता था, अभिप्राय नहीं। लेकिन अब हमने बहुत-बहुत द्वारों से भी झांक कर देखा उस मन्दिर में, जिस मन्दिर के लिए यह सूत्र घोषणा करता है। न केवल हमने समझा, बल्कि ध्यान में उतर कर भी देखने की कोशिश की। एक अर्थ में यह घटना अनूठी है। उपनिषद् पर बहुत टीकाएं हुई हैं। लेकिन ध्यान के साथ कभी कोई टीका हुई हो, यह पृथ्वी पर पहला मौका है। उपनिषद् के शब्दों का अर्थ हुआ है, लेकिन अभिप्राय में छलांग लगाने की जीवन्त चेष्टा भी हुई हो, ऐसा यह पहला मौका है। अर्थ के साथ अभिप्राय की गहन खोज भी एक साथ हुई। जो मैं बोल रहा था, वह सिर्फ इसीलिए था कि जब आप छलांग लगाएंगे, तो उसके लिए जम्पिग बोर्ड बन जाए। लेकिन प्रयोजन छलांग ही था। इसलिए हर सूत्र के बाद हम ध्यान में कूदते रहे। शब्द से जिसे जाना था, उसे छलांग लगा कर अनुभव से भी जानने की चेष्टा की। इसलिए अब मैं अभिप्राय कह सकता हूं। क्योंकि अब आपने शब्द भी सुन लिए हैं और शब्द को समझ कर पर्याप्त नहीं माना तो शब्द के बाद कुछ और भी किया है—नि:शब्द में पहुंचने के लिए। केवल अर्थ तो वे भी जान पाते हैं, वे भी जान लेते हैं, जो शब्द को जानते हैं। लेकिन अभिप्राय केवल वे ही जानते हैं और जान पाते हैं, जो नि:शब्द को जान लेते हैं। अगर थोड़ी-सी झलक नि:शब्द की मिली होगी तो अब मैं जो अभिप्राय कहता हूं, वह समझ में आ सकेगा।

इस सूत्र के अभिप्राय में पहली बात तो आपसे यह कह दूं कि यह सूत्र घोषणा करता है कि जीवन अतर्क्य है, इनलॉजिकल है। कहीं भी इस सूत्र में कहा नहीं है कि जीवन अतर्क्य है। इशारा है यह। जो कहा है उसका अर्थ मैंने कह दिया। जो कहा नहीं है, जिसकी ओर सिर्फ इशारा है, वह अब आपसे कहता हूं। विटिंग्स्टीन ने इस सदी में लिखी गयी सम्भवत: सर्वाधिक कीमती किताब—ट्रक्टेडस में एक बात कही है—दैट ह्विच कैन नाट बी सैड, मस्ट नाट बी सैड। जो नहीं कहा जा सकता, उसे कभी नहीं कहना चाहिए। उसे अनकहा छोड़ देना चाहिए। एक बात और कही है कि दैट ह्विच कैन नाट बी सैड, कैन बी शोड। जो नहीं कहा जा सकता है, वह भी बताया जा सकता है। ऐसा समझें, जो नहीं कहा जा सकता है, उसकी तरफ भी इशारा किया जा सकता है। जो कहा जा सकता था, वह मैंने पहले सूत्र के अर्थ में आपसे कहा। जो नहीं कहा जा सकता है और न ही कहे जाने का जिसका उपाय है, वह इस सूत्र का अभिप्राय है। मैं अब उस तरफ इशारा करता हूं।

पहला इशारा—जीवन अतर्क्य है। इसलिए जो लोग तर्क से जीवन को खोजने जाएंगे, वे केवल मृत्यु के आस-पास भटकेंगे। वे जीवन को कभी नहीं जान पाएंगे। कैसे इस सूत्र से अतर्क की तरफ, इर्रेशनल की तरफ इशारा मिलता है? यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है। पहली तो बात पूर्ण से पूर्ण निकलेगा कैसे? क्योंकि पूर्ण के बाहर कोई जगह भी नहीं होती, जिसमें पूर्ण निकल आए। पूर्ण का मतलब ही है एब्सोल्यूट, परम, जिसके पार कुछ भी नहीं है। अगर कुछ भी हो तो उतना तो अपूर्ण हो जाएगा इसके भीतर। पूर्ण के बाहर कुछ भी नहीं होता। जगह भी नहीं होती, स्पेस भी नहीं होता। आकाश भी नहीं होता। तो पूर्ण के बाहर पूर्ण निकलेगा कैसे? निकलेगा तो कहां जाएगा निकल कर? निकलने की कोई भी सुविधा नहीं है। लेकिन यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है। न केवल इतना कहता है, बल्कि और एक अतर्क्य बात कहता है कि फिर पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। तर्क से कोई सोचेगा तो यह किसी पागल का वक्तव्य है। गणित से कोई सोचेगा, तो यह सूत्र बिलकुल गलत है। लगेगा, यह किसी ने होश में नहीं लिखा है। मस्तिष्क ठीक न रहा होगा, तब कहा होगा। अगर कोई तर्क और गणित से सोचेगा तब। लेकिन जो तर्क और गणित से सोचता है, वह वैसे ही भूल करता है, जैसा एक बार एक बगीचे में हो गयी।

एक माली ने अपने एक मित्र को निमन्त्रण दे दिया कि गुलाब में बहुत खूबसूरत फूल आए हैं। आओ बगीचे में! लेकिन मित्र तो था सुनार। वह अपने सोने के कसने की कसौटी साथ ले आया। और जब गुलाब के फूल उसने देखे, तो उसने कहा, ऐसे मैं न मानूंगा। मुझे तुम धोखा न दे पाओगे। मैं कोई बच्चा नहीं हूं। मैं सोने तक को परख लेता हूं, इस फूल का क्या वश! इसको भी परख लूंगा। माली ने कहा लेकिन फूल को परखोगे कैसे? उसने कहा, मैं सोने को कसने की कसौटी साथ ले आया हूं। माली घबराया कि गलती हो गयी इस आदमी को निमन्त्रण देकर। लेकिन तब तक तो उस आदमी ने फूल को तोड़ कर पत्थर की कसौटी पर घिस डाला था। घिस कर फूल को नीचे फेंक दिया था और कहा कि सब झूठ है। कसौटी कहती है, कुछ भी नहीं है इसमें।

जैसा उस माली को लगा होगा, वैसे ही अगर कोई तर्क और गणित से इस सूत्र को समझने जाए, तो इस सूत्र के ऋषि को लगेगा। फूल सोने को कसने की कसौटी पर नहीं कसे जाते। और कसे जाएं तो इसमें फूलों की गलती नहीं है, कसने वाले की नासमझी है।

यह सूत्र—इस ईशावास्य में कहे गए सभी सूत्र, और विशेषकर यह सूत्र आत्म अनुभव में खिला हुआ फूल है। इसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता।

और इस सूत्र में पूरी खबर है कि तर्क की कसौटी पर कसना मत। वह यह कह रहा है कि हम कुछ ऐसी बात करने जा रहे हैं, जो अतर्क्य है। जो हो नहीं सकती है, लेकिन होती है। जो होनी नहीं चाहिए, फिर भी घटित होती है। जिसके घटने का कोई आधार नहीं मिलता, खोजने से कोई उपाय नहीं मिलता, फिर भी है। जीवन अतर्क्य है, इसका क्या अर्थ हुआ ! इसका अर्थ हुआ कि जो जीवन को नियम, गणित, तर्क, न्याय, विधि, व्यवस्था से सोचेंगे, वे जीवन के रहस्य से वंचित रह जाएंगे। एक फूल को सुनार ने कस लिया पत्थर पर। इसी फूल को अगर वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ले जाएं और कहें कि बहुत सुन्दर है तो वह भी इस फूल के एक-एक टुकड़े को काट कर देखेगा कि सौन्दर्य कहां है ? वह भी इस फूल के एक-एक तत्व को निकाल कर बिखरा लेगा। एक-एक केमिकल को अलग कर लेगा और कहेगा, सौन्दर्य कहां है ? इसमें रस है, खनिज हैं, केमिकल है, सब है, सौन्दर्य कहीं भी नहीं है। एक-एक बोतल में निकाल कर अलग-अलग चीजें रख देगा और कहेगा, यह सब चीजें हो गयीं, फूल पूरा हो गया। सब बोतलों में सब चीजों के लेबल लगा दिए, लेकिन सौन्दर्य कहीं भी मिलता नहीं है। फूल का कोई कसूर नहीं है कि वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में सौन्दर्य न मिले। वैज्ञानिक का भी कसूर नहीं है, क्योंकि उसके पास जो प्रयोगशाला है, वह सौन्दर्य को मापने के लिए नहीं है। सौन्दर्य को मापने का आयाम दूसरा है। जीवन को जो लोग गणित की तरह सोचते हैं वे लोग जीवन को कभी नहीं माप पाते। क्योंकि जीवन मूलतः एक रहस्य है। कितना ही हम जान लें, हमारा सब जाना हुआ और गहरे अज्ञान पर खड़ा होता है। कितना ही हम जान लें, हमारा सब जाना हुआ और भी जानने को शेष है, उसकी तरफ इंगित मात्र करता है। जितना हम जानते हैं उतना ही पता चलता है कि आदमी का अज्ञान गहन है।

जीवन को हम खोल नहीं पाते हैं। खोलते हैं तो और उलझ जाता है। जीवन को खोलने की सब कोशिश वैसी ही है, जैसा मैंने सुना है ईसप की एक कहानी में। कहा है, एक शतपदी जानवर गुजरता है एक रास्ते से। एक खरगोश ने देखा तो बहुत चकित हुआ। खरगोश शायद किसी तर्क की पाठशाला में शिक्षा पाया होगा। उसकी कठिनाई यह हुई कि यह शतपदी जानवर, सौ पैर वाला जानवर पहले कौन-सा पैर उठाता होगा ? फिर कौन-सा उठाता होगा, फिर कौन-सा उठाता होगा ? कैसे हिसाब रखता होगा कि कौन-सा पैर उठ गया, कौन-सा नहीं उठा ! सौ पैर हैं, लड़खड़ा न जाते होंगे ? दिक्कत में पड़ जाता होगा, चलता कैसे होगा ? रोका। कहा कि रुको ! एक जवाब देते जाओ। मैं जरा एक तर्क का विद्यार्थी हूं। मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं आपको देखकर। चार पैर चलाते हैं हम, तब तो समझ में आता है, हिसाब रह जाता है। सौ पैर चलाते होओगे, हिसाब कैसे रखते हो ? शतपदी जानवर ने कहा, अब तक चलता रहा हूं भली-भांति, हिसाब रखने की कोई जरूरत ही नहीं पड़ी। अब तक कभी सोचा भी नहीं इस भांति कि कौन-सा पैर पहले उठता है, कौन-सा पीछे उठता है। लेकिन तुम कहते हो तो अब मैं सोचकर तुम्हें बताता हूं। खरगोश वहीं बैठा रहा। शतपदी ने पैर उठाने की कोशिश की, लेकिन लड़खड़ा कर गिर गया। सौ पैर, कौन-सा उठाए ! वह भी मुश्किल में पड़ गया। दयनीय मन से उसने खरगोश से कहा, मेरे मित्र, तुम्हारे तर्क ने मुझे मुश्किल में डाल दिया है। तुम कृपा करके अपने तर्क को अपने पास रखना। और शतपदी यहां से कोई गुजरे तो तुम यह प्रश्न मत पूछना। हम बड़े मजे से जी रहे थे। कभी पैरों ने कोई दिक्कत न दी थी। कभी पैरों ने कोई सवाल न उठाया और कोई तर्क खड़ा न किया था। और कभी हमने सोचा न था कि कौन-सा पहले उठता है, कौन-सा पीछे उठता है। पता नहीं, कौन पहले उठता था, कौन पीछे उठता था। इतना तय है कि हम अब तक चले हैं। अब तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया।

आदमी की सबसे बड़ी मुश्किल यही है कि वह शतपदी जानवर की हालत में है और सवाल किसी खरगोश ने नहीं पूछा, आदमी खुद ही पूछ लेता है। खुद ही पूछ-पूछ कर उलझता चला जाता है। खुद ही सवाल पूछ लेता है और खुद ही जवाब निर्मित कर लेता है। सवाल तो गलत होते ही हैं, जवाब उनसे भी गलत हो जाते हैं। हर जवाब नए सवाल उठा देता है। फिर सवालों की भीड़ और जवाबों की भीड़ और आदमी उलझता चला जाता है। और वह घड़ी आ जाती है, जब उसे कुछ भी पता नहीं रहता है कि क्या-क्या है—ह्वाट इज ह्वाट। हम सब उस हालत में हैं।

संत अगस्तीन से किसी ने पूछा कि एक सवाल मेरे मन को बड़ा परेशान करता है। जवाब दे दें तो मुझे बड़ी राहत मिले। सुना है, आप ज्ञानी हैं। अगस्तीन ने कहा, सुना होगा तुमने कि ज्ञानी हूं, लेकिन जब से मैंने सुना है, तब से मैं जरा मुश्किल में पड़ गया हूं। साधु ने पूछा कि आपको क्या मुश्किल है ? मुश्किल तो हम अज्ञानियों की होती है। अगस्तीन ने कहा, मैं इसलिए मुश्किल में पड़ गया हूं कि जब से मैं सुन रहा हूं कि मैं ज्ञानी हूं, तब से मैं बहुत खोजता हूं अपने भीतर कि ज्ञान कहां है, लेकिन कहीं पाता नहीं। पहले तो भूल-चूक से मैं भी मानता था। अब ? अब मानना कठिन है। फिर भी तुम्हारा सवाल क्या है ? जब तुम इतनी दूर चलकर आ गए हो तो सवाल पूछ ही लो। भला मैं जवाब न दे सकूं, तुम्हें कम-से-कम राहत तो रहेगी कि सवाल पूछ लिया। और चाहे मैं जवाब दे भी दूं, तो भी किसी के देने से सवालों के जवाब कहीं किसी को मिलते हैं ? लेकिन तुम पूछ तो लो ही। उस आदमी ने पूछा कि मैं यही जानना चाहता हूं कि समय क्या है—ह्वाट इज टाइम ? अगस्तीन ने कहा कि बस, वही सवाल पूछ लिया, जो मैं सोचता था और डरता था कि तुम पूछ न लो। कुछ ऐसे सवाल हैं कि जब तक

तुम न पूछो, हमें पता होता है। और पूछा कि हम मुश्किल में पड़े। मुझे पक्की तरह पता है कि समय क्या है? लेकिन तुमने पूछा कि मुश्किल में डाला।

आपसे भी कोई पूछे कि समय क्या है। भली-भांति आप जानते हैं। वक्त पर ट्रेन पकड़ लेते हैं, बस पकड़ लेते हैं, दफ्तर पहुंच जाते हैं, दफ्तर से घर आ जाते हैं। समय का आपको भली-भांति पता है। लेकिन कोई पूछे भर न आपसे कि समय क्या है, नहीं तो शतपदी जानवर की हालत हो जाए। तारीखें पता हैं, घड़ियां पास में हैं, कलेंडर लटके हैं, सब पता है, फिर भी समय क्या है इसका अभी तक कोई उत्तर नहीं दे सका है। और जितने उत्तर दिए गए हैं वह सब अन्धेरे में टटोलने जैसे हैं, जिनसे कुछ हल नहीं होता है।

पूछे कोई आत्मा क्या है? है आपके पास। जन्मे उस दिन से है। जो जानते हैं, वे कहते हैं, जन्मे उसके पहले से है। इतने दिन हो गए, आत्मा आपके पास है, अभी तक पता नहीं लगा पाए कि क्या है! कोई न पूछे तो सब ठीक है। कोई पूछे तो अड़चन खड़ी हो जाती है। प्रेम क्या है कोई पूछे। करते हैं सब। नहीं भी करते तो भी करते हुए जताते हैं। कितनी प्रेम की कहानियां हैं। सभी कहानियां प्रेम की हैं। और इसीलिए प्रेम की हैं, क्योंकि प्रेम आदमी अब तक कर नहीं पाया। कहानी लिख-लिख कर मन को समझाता है। सब कविताएं प्रेम की हैं। जिस आदमी की भी जिन्दगी में प्रेम नहीं होता, वह प्रेम की कविता लिखने लगता है। कविता लिखना बहुत आसान है, प्रेम करना बड़ा कठिन है। कविता तो तुक बांध लेने से बंध जाती है, प्रेम तो सब तुक तोड़ने से बनता है। कविता के तो छंद और हुए का स्मरण कर, यह सूत्र हमारे ख्याल में नहीं है। जब आप कल क्रोध करें तो क्रोध करने के पहले अपने मन से कहें कि हे मेरे मन, अपने पहले किए हुए क्रोधों का स्मरण कर! पहले दो क्षण रुक कर अपने पहले किए हुए क्रोधों का स्मरण कर लेना, फिर क्रोध करना। और मैं आपसे कहता हूं कि आप क्रोध करने में असमर्थ हो जाएंगे। जब कल मन फिर वासना से भर जाए तब अपने मन को कहना कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपनी पहली की हुई वासनाओं का स्मरण कर। पहले उनका स्मरण कर ले। नयी यात्रा पर निकलने के पहले पुराने अनुभव को ख्याल में ले ले। नहीं, फिर आप यात्रा पर नहीं निकल पाएंगे। वासना वहीं ठिठक कर खड़ी हो जाएगी। इतना होश काफी है मन की यान्त्रिकता को तोड़ देने के लिए।

गुरजिएफ ने लिखा है अपने संस्मरणों में कि मेरा पिता मर रहा था। उसके एक वचन ने मेरी पूरी जिन्दगी बदल दी। मरता था पिता तब गुरजिएफ तो बहुत छोटा था। घर में सबसे छोटा लड़का था। बाप बहुत बूढ़ा था। उसने सब बेटों को अपने पास बुलाकर कान में मरते वक्त कुछ कहा। सबसे छोटे बेटे को भी बुलाया। उससे कहा कि झुक, आ मेरे पास और एक बात तुझसे कह जाता हूं वह

जीवनभर स्मरण रखना। मेरे पास तुझे देने को और कोई सम्पत्ति नहीं है। भोला लड़का, उसने कान झुका लिया। बाप ने उससे कहा कि एक बात का वचन मुझे दे दे कि जब भी कोई बुरा काम करने का सवाल उठे तो तू चौबीस घण्टे रुक कर करना। करना जरूर। लेकिन चौबीस घण्टे रुक जाना। यह मेरे से वायदा कर। क्रोध करना हो, बिल्कुल करना। मैं मना नहीं करता हूं। लेकिन चौबीस घण्टे रुक कर करना। किसी की हत्या करनी हो, बिल्कुल करना। लेकिन चौबीस घण्टे रुक कर करना। गुरजिएफ ने पूछा; लेकिन इसका मतलब क्या है? उसके बाप ने कहा कि इससे तू अच्छी तरह से कर सकेगा। चौबीस घण्टे रुक जाएगा तो ठीक से नियोजना, योजना बना सकेगा। प्लानिंग कर सकेगा। और भल-चूक कभी नहीं होगी यह मेरी जिन्दगी का अनुभव है। यह अनुभव मैं तुझे दिये जाता हूं।

गुरजिएफ ने लिखा है कि उस एक बात से मेरी जिन्दगी बदल गयी। क्योंकि चौबीस घण्टे तो बहुत देर की बात हो गयी, चौबीस क्षण भी अगर कोई बुराई करने में ठहर जाए तो नहीं कर पाता है। क्रोध जब आपको आए आप घड़ी देखने लगें, और कहें कि एक मिनट घड़ी देख लूं, फिर करूंगा। एक मिनट घड़ी का कांटा देखें। जब सेकेंड का कांटा पूरा चक्कर लगा ले तब घड़ी नीचे करके क्रोध शुरू कर दें। आप क्रोध नहीं कर पाएंगे, क्योंकि इस साठ सेकेंड के बीच में पिछले किए हुए क्रोधों की सारी झलक और प्रतिबिम्ब लौट आएगा। वे सारे पश्चात्ताप, वे सारी कसमें जो आपने खायी थीं, वे सब निर्णय कि अब नहीं करूंगा, वे सब दोहर जाएंगे। और आप असमर्थ हो जाएंगे क्रोध करने में। लेकिन बुराई करने में हम इतना नहीं रुकते। हां, भलाई करने में हम जरूर रुकते हैं।

एक मित्र को संन्यास लेना है। वह आज आए थे। कहने लगे कि मेरा जन्म-दिन आ रहा है, दो-तीन महीने बाद—तब। अगर क्रोध करना हो तो जन्म-दिन तक कोई नहीं रुकता। संन्यास लेना हो तो जन्म-दिन तक! मैंने उनसे कहा कि पक्का है? ऐसा तो नहीं होगा कि अगली बार तुम कहो कि मृत्यु-दिन जब आएगा तब लूंगा! और जन्म-दिन का भरोसा है कि वह मृत्यु-दिन नहीं बन जाएगा? एक पल का भी भरोसा नहीं है। लेकिन भलाई को हम पोस्टपोन, स्थगित कहते हैं। बुराई को हम तत्काल करते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि समय चूक जाए और बुराई न हो पाए।

नहीं, बुराई को स्थगित करना, भलाई को तत्काल कर लेना। क्योंकि पल का भी भरोसा नहीं है। भलाई एक क्षण भी चूक गयी तो फिर जरूरी नहीं कि करने का मौका मिलेगा। और पलभर भी बुराई के लिए रुक गए तो मैं कहता हूं कि फिर कभी न कर पाएंगे। उतना रुकने में जो समर्थ है वह बुराई करने में असमर्थ हो जाता है। ध्यान रखें, एक पल बुराई को रोकने में जो समर्थ है वह बुराई करने

में असमर्थ हो जाता है। वह बड़ा सामर्थ्य है—एक क्षण रुक जाने का सामर्थ्य। जब आंख में खून उतरने लगे और हाथ की मुट्ठियां भिंचने लगें तब एक क्षण क्रोध में रुक जाने का सामर्थ्य इस जगत् में बड़े-से-बड़ा सामर्थ्य है। इस सूत्र को इसीलिए ऋषि ने कहा है—खुद के व्यंग्य के लिए भी और आप सबके व्यंग्य के लिए भी। आप सबकी भी खूब हंसी है उसमें।

आज के लिए इतना।

दो-तीन बातें ध्यान के सम्बन्ध में समझ लें। फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे। और कह दूं सबसे पहले कि ध्यान को स्थगित मत करना, पलभर के लिए भी। यह मत सोचना कि कल कर लेंगे। ध्यान को करना अभी। दो-तीन बातें समझ लें फिर उठें, अभी बैठे रहें।

एक तो जो लोग मेरे पीछे बैठे हैं, जिनको मैंने कल कहा कि पीछे बैठें। उनसे यह नहीं कहा है कि बैठे रहें। वे कुछ ऐसा समझ गए, मालूम होता है, कि बैठे रहो। नहीं, बैठकर करने को कहा है। मैंने पीछे लौटकर देखा तो मुश्किल से आठ-दस लोग कर रहे थे, बाकी लोग बैठे हुए थे। बैठे होने से कुछ भी न मिलेगा। और कभी-कभी मुझे हैरानी होती है कि इतने लोग कर रहे हैं, इतने लोग आन्दोलित हैं, इतने लोग आनन्दमग्न होकर नाच रहे हैं, क्या आपके भीतर पत्थर है, हृदय नहीं है, जिसमें जरा-सी भी कोई चहल-पहल नहीं होती? इतने लोगों को आनन्दित देख आपका कोई रोयां नहीं कंपता? नहीं, मुझे लगता है, रोयां तो कंपता होगा। आप बड़े समझदार हैं। उसको दबाकर बैठे रहते हैं कि कहीं कंप न जाए। कृपा करके अपने को छोड़ें। 'लैट गो।' इतने शरीर जहां नाच रहे हैं, इतने लोग जहां मुक्त मन से, सरल चित्त से बच्चों जैसे सरल हो गए हैं, वहां अपनी कठोरता को लिए बैठे मत रहें। कठोरता को छोड़ें। आन्दोलित हों।

और ध्यान रखें, कुछ मित्रों को ऐसा ख्याल है कि जब अपने से होगा तब करेंगे। सौ में से नब्बे प्रतिशत लोगों को अपने से हो जाएगा, दस प्रतिशत लोगों को नहीं होगा। और दस प्रतिशत वे ही लोग हैं, जिनको समझदार होने का भ्रम होता है। उनको कुछ तोड़ना पड़ेगा अपनी तरफ से। तो मैं आपसे कहता हूं कि जिनको अपने से न होता हो, वे करना शुरू करें। दो क्षण करेंगे, तीसरे क्षण स्पोंटेनियस, सहज आविर्भाव हो जाएगा। एक दफा झरना टूट जाए, गति आ जाए तो सहज स्फुरणा शुरू हो जाती है। आज तो एक दिन और बचा है, इसलिए मैं चाहूंगा कि कोई भी वंचित न रहे। इसलिए सारे लोग सम्मिलित हों। नीचे जो लोग खड़े हैं वह खड़े हो जाएं। ऊपर से भी जिनको खड़े होकर करना है वह नीचे चले जाएं।

●

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वनि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।।१८।।

हे अग्ने ! हमें कर्म फल भोग के लिए सन्मार्ग से ले चल। हे देव ! तू समस्त ज्ञान और कर्मों को जानने वाला है। हमारे पाखण्ड पूर्ण पापों को नष्ट कर। हम तेरे लिए अनेकों नमस्कार करते हैं ।।१८।।

प्रवचन : २८
साधना-शिविर, माऊन्ट आबू, रात्रि, दिनांक १० अप्रैल १९७१

असतो मा सद्गमय

पर्वतों से उतरते हुए झरनों को हमने देखा है। सागर की ओर बहती हुई नदियों से हम परिचित हैं। जल सदा ही नीचे की ओर बहता है—और नीची जगह, और नीची जगह खोज लेता है। गड्ढों में ही उसकी यात्रा है। अधोगमन ही उसका मार्ग है। उसकी प्रकृति है नीचे, और नीचे, और नीचे। जहां नीची जगह मिल जाये वहीं उसकी यात्रा है। अग्नि बिल्कुल ही उल्टा है। सदा ही ऊपर की तरफ बहता है। ऊर्ध्वगामी उसका पथ है। आकाश की ओर ही दौड़ता चला जाता है। कहीं भी जलाएं उसे, कैसे भी रखें उसे, उल्टा भी लटका दें दीये को तो भी ज्योति ऊपर की तरफ भागना शुरू करती है। अग्नि का यह ऊर्ध्वगमन अति प्राचीन समय में ही ऊर्ध्वगामी चेतनाओं को ख्याल में आ गया था। चेतना दोनों तरह से बह सकती है। पानी की तरह भी और अग्नि की तरह भी। साधारणतः हम पानी की तरह बहते हैं। साधारणतः हम भी नीचे गड्ढे और गड्ढे खोजते रहते हैं। हमारी चेतना नीचे उतरने को रास्ता पा जाए तो हम ऊपर की सीढ़ी तत्काल छोड़ देते हैं। साधारणतः हम जल की तरह हैं। होना चाहिए अग्नि की तरह कि जहां जरा-सा अवसर मिले ऊपर बढ़ जाने का, हम नीचे की सीढ़ी छोड़ दें। जहां जरा भी मौका मिले पंख फैला कर आकाश की तरफ उड़ जाने का हम तैयार रहें।

अग्नि इसलिए प्रतीक बन गया, देवता बन गया। ऊर्ध्वगमन की जिनकी अभीप्सा थी, ऊपर जाने का जिनका इरादा था, आकांक्षा थी जिनकी निरन्तर श्रेष्ठतर आयामों में प्रवेश करने की, उनके लिए अग्नि प्रतीत बन गया, देवता बन गया। एक और कारण से अग्नि प्रतीक बना और देवता बना। जैसे ही व्यक्ति ऊपर की यात्रा पर निकलता है, ऊपर की यात्रा साथ ही साथ भीतर की यात्रा भी है। और ठीक वसे ही नीचे की यात्रा साथ ही साथ बाहर की यात्रा भी है। गहरे अर्थों में बाहर और नीचे पर्यायवाची हैं। भीतर और ऊपर पर्यायवाची हैं। जितने भीतर जाएंगे, उतने ऊपर भी चले जाएंगे। जितने बाहर जाएंगे उतने नीचे भी चले

जाएंगे। या जितने नीचे जाएंगे उतने बाहर चले जाएंगे और जितने ऊपर जाएंगे उतने भीतर चले जाएंगे। अस्तित्व की दृष्टि से ऊपर और भीतर एक ही अर्थ रखते हैं। भाषा की दृष्टि से नहीं, अनुभव की दृष्टि से बाहर और नीचे एक ही अर्थ रखते हैं। वे पर्यायवाची हैं। जिन लोगों ने भी ऊपर की यात्रा करनी चाही, उन्हें भीतर की यात्रा करनी पड़ी। और जैसे-जैसे भीतर प्रवेश हुआ, वैसे-वैसे अन्धेरा कम हुआ और ज्योति बढ़ी, प्रकाश बढ़ा। अन्धकार क्षीण हुआ और आलोक बढ़ा। अग्नि इसलिए भी प्रतीक बन गया—अन्तर्यात्रा का।

और भी एक कारण से अग्नि प्रतीक बन गया और उसका स्मरण बड़ी ही श्रद्धा से किया जाने लगा। अग्नि की एक और खूबी है, उसका एक और स्वभाव है। शुद्ध को बचा लेता है, अशुद्ध को जला देता है। डाल दें सोने को तो अशुद्ध जल जाता है, शुद्ध निखर आता है। तो अग्नि परीक्षा बन गया—अशुद्ध को जलाने के लिए और शुद्ध को बचाने के लिए। अग्नि-परीक्षा, वस्तुतः कोई सीता को किसी अग्नि में डाल दिया हो, ऐसा नहीं है। अग्नि-परीक्षा एक प्रतीक बन गया। वह प्रतीक हो गया इस बात का कि अग्नि उसको जला देगा, जो अशुद्ध है और उसे बचा लेगा, जो शुद्ध है। वह अग्नि का स्वभाव है। शुद्ध को बचा लेने की उसकी आतुरता है। अशुद्ध को नष्ट कर देने की उसकी आतुरता है।

बहुत कुछ है, जो अशुद्ध है, हमारे भीतर। इतना ज्यादा है कि सोने का तो पता ही नहीं चलता। कहीं होगा छिपा हुआ। कोई ऋषि कभी घोषणा करता है स्वर्ण की। हम तो मिट्टी और कचरे को ही जानते हैं। कोई ज्ञानी कभी पुकारता है कि भीतर स्वर्ण भी है तुम्हारे। हम तो खोजते हैं, तो कंकड़-पत्थर के सिवाए कुछ पाते नहीं हैं। तो स्वर्ण को भी अग्नि में डालना है। स्वर्ण को अग्नि में डालना ही तप का अर्थ है। तप ताप से ही बना है, अग्नि से ही बना है। तप का अर्थ ऐसा नहीं है कि कोई धूप में खड़ा हो जाए तो तप कर रहा है। तप का अर्थ है कि अन्दर इतनी अग्नि से गुजरे कि उसके भीतर जो भी अशुद्ध है, वह जल जाए और जो भी शुद्ध है, वह रह जाए।

अग्नि में एक-दो बातें और ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं, तब उसके दिव्य रूप का स्मरण करना आसान हो जाएगा। तब उस ऋषि की बात समझनी सुविधा-जनक हो जाएगी कि हे देवता, हे अग्नि, मुझे सन्मार्ग पर ले चल। यह ख्याल में आ सकेगा कि अग्नि से ऐसी प्रार्थना क्यों की जा सकी। अग्नि को देखा है। पानी को भी देखा है। पानी कितने ही नीचे उतरे, मौजूद रहता है। पहाड़ से उतर आए खाई में तो भी मिट नहीं जाता। अग्नि उठता है आकाश की तरफ, लेकिन जरा ही उठा कि विलीन हो जाता है। असल में जो भी ऊपर की तरफ जाएगा, वह विलीन भी होगा। वह विलीन भी होता जाएगा। वह प्रतिपल लीन होगा। जल्दी ही उसकी अस्मिता खो जाएगी, वह नहीं होगा। आकाश के साथ एक हो

जाएगा। अग्नि थोड़ी दूर तक ही दिखाई पड़ता है। अग्नि का पथ थोड़ी दूर तक ही दृश्य है, फिर अदृश्य हो जाता है। आप देख भी नहीं पाते कि गया, शून्य में खो गया। पानी कितना ही नीचे उतरे, मौजूद रहेगा। नीचे की यात्रा पर अस्मिता मौजूद ही रहेगी। और अगर बहुत नीचे उतर जाए। तो पानी बर्फ बन जाएगा। और अगर अहंकार बहुत नीचे उतर जाए तो पत्थर की तरह सख्त हो जाएगा।

ध्यान रखें, जितना नीचे उतरते हैं, उतना अहंकार मजबूत, फ्रोजन, सख्त, क्रिस्टलाइज होता है। जितने ऊपर जाते हैं, उतना विरल, क्षीण, विलीन। अग्नि की ज्योति को देखते रहें। थोड़ी देर में पता चलेगा कि गया। कहां गया? बुद्ध से ठीक उनके महानिर्वाण के समय में कोई पूछता है कि जब आप नहीं होंगे—अभी थोड़ी देर बाद आप कहते हैं, आप नहीं हो जाएंगे, तो फिर आप कहां होंगे? तो बुद्ध कहते हैं, 'दीये को देखना। और जब दीये की ज्योति आकाश में खो जाए तो पूछना कि ज्योति कहां चली गई। ऐसे ही मैं भी थोड़ी देर में खो जाऊंगा। अब आ गई है वह घड़ी, जहां से ज्योति महाआकाश में लीन हो जाएगी।'

एक और भी गहरा रहस्य अग्नि के साथ है। और वह रहस्य यह है कि अग्नि सब कुछ जला देता है। सब कुछ जलाता है और अन्त में स्वयं को भी जला लेता है। ईंधन को जलाता है, फिर ईंधन जल जाता है, तो अग्नि बचता नहीं ईंधन को जला कर। ईंधन जला—अग्नि भी जल गया। सब कुछ जल जाता है। अन्ततः अग्नि पीछे बच नहीं रहता। अग्नि भी खो जाता है। दूसरे को जला कर जो बच रहे तब तो हिंसा है। लेकिन दूसरे को विलीन करके जब स्वयं भी कोई लीन हो हो जाए तो प्रेम है। दूसरे को जला कर कोई बच रहे तो वायलेंस है। लेकिन दूसरे को शून्य करके स्वयं भी शून्य हो जाए तो प्रेम है—तो ही प्रेम है। तो अग्नि दुश्मन नहीं है ईंधन का, प्रेमी है। नहीं तो ईंधन को तो जला डालता और खुद बच जाता। जलाता ही इसलिए कि खुद बच जाए। लेकिन नहीं, ईंधन को जला कर स्वयं भी जलता है और शान्त हो जाता है। मजे की बात है कि ईंधन तो जल कर भी पीछे राख की तरह बच रहता है, अग्नि उतना भी नहीं बच रहता। इतना शुद्ध है कि पीछे कोई राख नहीं छोड़ता। असल में राख अशुद्धि से बनती है। अग्नि शुद्धतम अस्तित्वमात्र है। पीछे कुछ रूपरेखा भी नहीं छूटती।

ये सारे ख्याल, ये सारी स्मृतियां जिन ऋषियों को आयीं, वे किसी प्रतीक की तलाश में थे। बड़ी कठिन खोज है। भीतर जो घटित होता है, साधक को उसके लिए बाहर प्रतीक खोजना बड़ी कठिन खोज है। अब तक जो श्रेष्ठतम प्रतीक खोजा जा सका है, वह अग्नि है। वह चाहे पारसियों के मन्दिर में सतत् जलता हो, चाहे ऋषियों के यज्ञ में जलता हो। चाहे हवन में जलता हो, चाहे मन्दिर के दीए में जलता हो। लेकिन अब तक जो श्रेष्ठतम प्रतीक खोजा जा सका है, निकटतम भीतर की घटना के, ऊर्ध्वगमन की घटना के, वह अग्नि है। इसलिए अग्नि को

देवता कह सके वे लोग।

देवता किसे कहते हैं? देवता सिर्फ उसे नहीं कहते जो दिव्य है, क्योंकि इस अर्थ में तो सभी देवता हैं। सभी कुछ दिव्य है, क्योंकि सभी कुछ दिव्य से निकला है। साधारणतः शब्दकोश में खोजने जाएंगे तो देवता का अर्थ होगा—जो दिव्य है—वन हू इज डिवाइन। लेकिन दिव्य तो सभी हैं। किन्हीं को पता होगा, किन्हीं को पता नहीं होगा। दिव्य कौन है, जो नहीं है। पत्थर भी दिव्य है। वृक्ष भी दिव्य है। नदी, पहाड़, आकाश, सभी दिव्य हैं। कण-कण दिव्य है। फिर देवता का यह मतलब नहीं हो सकता कि जो दिव्य है। क्योंकि दिव्य तो सभी हैं। फिर विशेष रूप से किसी को देवता कहने का क्या अर्थ है? देवता कहने का अर्थ है, जो दिव्य है इतना ही नहीं, जो दिव्य की ओर ले जाता है। जो दिव्य की ओर उन्मुख करता है, वह देवता है। जो दिव्य की ओर फिराता है, जो दिव्य की ओर इंगित करता है, जो दिव्य की ओर इशारा करता है, जो दिव्य की ओर रुख को मोड़ देता है, जो दिव्य की ओर गति दे देता है, वह देवता है। इसीलिए तो ऋषि कह सके कि गुरु देवता है। और कोई कारण नहीं है। दिव्य तो सभी हैं। इसलिए जहां-जहां से दिव्यता की ओर इशारा मिल सके, वह सब देवता हो गया। अगर आकाश की तरफ देख कर निराकार का स्मरण आ जाए, तो आकाश देवता हो गया। हमें कठिनाई होती है। जो लोग पढ़ते हैं आज वेद को, उन्हें बड़ी कठिनाई होती है कि आकाश देवता है, इन्द्र देवता है, सूरज देवता है! यह सब क्या पागलपन है! और जब पश्चिम के लोगों ने पहली बार वेद के अनुवाद किए, तो उनको बड़ी कठिनाई पड़ी। उन्होंने कहा, यह पाथीइज्म है। यह सर्वेश्वरवाद है। हर चीज में देवता को देखने की वृत्ति है। लेकिन नहीं, ऐसा नहीं है। जहां से भी दिव्यता का स्मरण मिलता है, जहां से भी चोट पड़ती है, आघात पड़ता है, और हृदय की वीणा के तार झंकृत हो जाते हैं और दिव्य की ओर यात्रा शुरू होती है, वही देवता है। देखें आकाश को थोड़ी देर तक। देखते-देखते-देखते आकार क्षीण होगा, निराकार प्रगाढ़ हो जाएगा। तो निराकार की ओर आकाश ने इशारा किया। तो क्या इतने कृतघ्न होंगे कि धन्यवाद भी न देंगे कि हे देवता, धन्यवाद। तूने निराकार की ओर स्मरण दिलाया। अग्नि को देखते रहें बैठकर। यज्ञ का वही अर्थ था। हवन का वही अर्थ था। करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है हवन में कि आप कुछ कर रहे हैं। कि कुछ डाल रहे हैं कि नहीं डाल रहे हैं। यह सब उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि अग्नि के निकट बैठकर, अग्नि का ऊर्ध्वगमन की यात्रा के साथ आत्मसात् होना महत्त्वपूर्ण है। आग भागी जा रही है ऊपर की तरफ, उसकी लपट खोयी जा रही है महाशून्य में। आप भी उसके पास बैठकर एकाग्रचित्त हो, ध्यानमग्न हो, उस लपट के साथ एक हो भाग रहे हैं, खो रहे हैं, शून्य में जा रहे हैं। तो फिर अग्नि देवता हो गया।

जहां से भी दिव्यता की ओर इशारा है, पुकार है। जहां से भी दिव्यता की ओर भीतर की प्यास को चोट है। जहां से भी दिव्यता की ओर भीतर सोये हुए बीज को तोड़ने की चेष्टा है, वहीं देवता है। इसलिए ऋषि कहता है कि हे देव, हे अग्नि, मुझे सन्मार्ग पर ले चल। मुझे कुछ पता नहीं कि क्या रास्ता है? मुझे कुछ भी पता नहीं। मुझे यह भी पता नहीं है कि क्या शुभ है, क्या अशुभ है। मैं अज्ञानी हूं। तू मुझे ले चल। एक बात यहां बहुत गहरे में ख्याल में ले लेने जैसी है, वह यह है कि जिसने यह पुकारा कि मुझे सन्मार्ग की तरफ ले चल—यह पुकार ही सन्मार्ग की तरफ जाने का मूल आधार बन जाती है। यह पुकार साधारण नहीं है, यह पुकार बहुत असाधारण है। क्योंकि हमारी प्रत्येक वृत्ति, हमारी प्रत्येक वासना, हमारी प्रत्येक इच्छा असद् मार्ग की तरफ ले जाती है। उसके लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती है। उसके लिए पुकारना भी नहीं पड़ता। उसके लिए प्रकृति ने हमें काफी उपकरण दिया है, वह अपने-आप हमें ले जाती है। नीचे की तरफ उतरना हो, तो किसी पुकार की, किसी प्रार्थना की कोई भी जरूरत नहीं है। अन्धेरे की तरफ जाना हो, तो प्रकृति आपको ले ही जाती है। ले ही जा रही है। आपके ही अपने कर्म लिए जा रहे हैं। आपकी ही अपनी आदतें और संस्कार लिए जा रहे हैं। सब लिए जा रहा है। यह बड़े मजे की बात है कि आज तक पृथ्वी पर किसी ने यह प्रार्थना नहीं की कि हे प्रभु, मुझे असद् मार्ग पर ले चल। इसमें प्रभु की कोई जरूरत नहीं पड़ी। आदमी खुद ही काफी समर्थ है। इसमें प्रभु की सहायता की कोई भी जरूरत नहीं है। इसमें तो प्रभु को भी असद् मार्ग पर ले जाना हो तो आदमी ले जा सकता है। और बड़े मजे की बात है कि असद् मार्ग बहुत संकटपूर्ण है। फिर भी कोई प्रार्थना नहीं करता। करनी चाहिए। कि मैं असद् मार्ग पर जा रहा हूं, हे प्रभु! सहायता करना, सुरक्षा करना। असद् मार्ग बहुत संकट की अवस्था है। बहुत पीड़ा में, बहुत दुख में जाना है। बहुत विक्षिप्तता में, पागलपन में उतरना है। अपने ही हाथों उपद्रव को निमंत्रण है। तो प्रभु की सहायता मांगनी चाहिए कि मेरा ख्याल रखना, लेकिन कोई नहीं मांगता। क्योंकि प्रत्येक जानता है कि हम पर्याप्त हैं। हम ही निपट लेंगे। आदमी असद् में इतना समर्थ है, लेकिन जहां सन्मार्ग का सवाल है, जहां सद् की यात्रा है, वहां आदमी अचानक पाता है कि असमर्थ हूं। उसकी असमर्थता का कारण है। सारी वासनाएं उसे खींचती हैं नीचे की तरफ और कोई बिल्टइन, कोई प्रकृति की तरफ से दी गयी ऐसी वासना नहीं है, जो उसे सहज ऊपर की तरफ ले जाती हो। अगर वह कुछ न करे और खड़ा रहे तो अपने-आप नीचे जाता रहेगा। अगर वह कुछ न करे, खड़ा रहे तो अपने-आप उतरता रहेगा। उतार से, ढलान से नीचे लुढ़कता रहेगा। प्रकृति की कशिश काफी है, वह उसे खींचती जाएगी नीचे और नीचे और नीचे। और हर कदम पर लगेगा कि और थोड़ा नीचे उतर जाऊं। ये

पूरे प्राण कहेंगे कि और थोड़े नीचे उतर चलो। और सुख है नीचे। अगर दुख पा रहे हो, तो इसीलिए पा रहे हो कि कुछ और थोड़े नीचे नहीं उतर पा रहे हो।

तथाकथित ईमानदार आदमी मुझे मिलते हैं, तो वह कहते हैं कि देख रहे हैं आप, बेईमान कितना सुख उठा रहे हैं ? तथाकथित ईमानदार कहता हूं मैं उन्हें। क्योंकि जिसको बेईमान में सुख दिखायी पड़ता है, वह ज्यादा देर ईमानदार रह नहीं सकता। गहरे में तो होगा ही नहीं। और अगर ईमानदार दिखायी पड़ता है, तो सिर्फ भयभीत होगा, इसलिए दिखायी पड़ता है। बेईमान होने के लिए भी साहस चाहिए। बेईमान होने के लिए भी हिम्मत चाहिए। वह हिम्मत उसमें नहीं है। कमजोर आदमी है, कायर है। बेईमानी कर नहीं सकता, लेकिन 'बेईमान रस ले रहे हैं, बेईमान सफल हो रहे हैं, बेईमान सुख पा रहे हैं', यह जरूर उसकी पूरी वासनाएं उससे कहे जा रही हैं कि तू चूक रहा है। नीचे की पुकार सब ओर से है। भीतर से भी प्रकृति का सारा उपकरण कहता है, नीचे उतरो। क्यों ? क्योंकि जितने आप नीचे उतरते हैं, उतना प्राकृतिक हो जाते हैं। जितना ऊपर उठते हैं, उतना प्रकृति के अतीत होते हैं, उतने प्रकृति के पार होते हैं। स्वाभाविक है कि प्रकृति कहे कि और नीचे उतर जाओ, यहां बहुत विश्राम है। अगर बिल्कुल पत्थर हो जाओ तो पूरा विश्राम है। उतर आओ, छोड़ दो चेतना। चेतना ही तुम्हारा दुख है। वृत्तियां कहती हैं, वासनाएं कहती हैं कि छोड़ दो चेतना। चेतना ही तुम्हारा दुख है, मूर्च्छित हो जाओ। इसलिए आदमी शराब खोजता है, नशे खोजता है। बेहोश होने की हजार तरकीबें खोजता है कि उतर जाए नीचे, और नीचे। तो नीचे उतरने का तो पूरा इन्तजाम है, ऊपर उठने का कोई इन्तजाम नहीं है। और ऊपर उठे बिना कोई आनन्द नहीं, कोई शान्ति नहीं। यह दुविधा है। कहें कि यह ह्यूमन पैरोडाक्स, यह ह्यूमन डायलेमा है। यह मनुष्य का द्वंद्व है कि नीचे जाने का सब उपाय है और ऊपर जाए बिना कोई उपाय नहीं है। ऊपर पहुंचे बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। नीचे जाने के लिए सब सुविधाएं उपलब्ध हैं, ऊपर जाने के लिए कोई मार्ग नहीं। और ऊपर जाए बिना सिवाय भटकाव के कुछ हाथ में लगता नहीं। तो ऐसी असहाय अवस्था है आदमी की, ऐसी हेल्पलेसनेस। इस हेल्पलेसनेस से उठती है प्रार्थना। इस असहाय अवस्था के बोध से उठती है प्रार्थना। तो ऋषि कह रहा है कि हे देवता, मुझे सन्मार्ग की तरफ ले चल। ऐसा नहीं है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जाएगा। यह भी समझ लें। क्योंकि उससे बड़ी भ्रान्तियां फैली हैं। ऐसा नहीं है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जाएगा। सन्मार्ग की तरफ तो जाना है आपको ही। लेकिन यह प्रार्थना आपको जाने में समर्थ बनाएगी। यह प्रार्थना आपके भीतर एक द्वार तोड़ेगी। आपके भीतर यह प्रार्थना अगर सघन हो जाए, घनीभूत हो जाए, अगर प्यास और पुकार बन जाए और रोयां-रोयां चिल्लाने लगे, श्वास-

श्वास कहने लगे कि ले चल मुझे प्रभु, हे दिव्य अग्नि, मुझे ले चल ऊपर, जहां सब खो जाए, मैं भी खो जाऊं, वही रह जाए, जो मैं नहीं था, तब था, और जब मैं नहीं रहूंगा तब रहेगा। यह प्रार्थना—देवता नहीं कोई, यह प्रार्थना ही जब आपके भीतर सघन होनी शुरू होती है, तो आपको सन्मार्ग पर ले जाने का कारण बनती है। क्योंकि हम वहीं चले जाते हैं, जहां हम जाने की तीव्र आकांक्षा पैदा करते हैं। हमारे विचार ही हमारे कृत्य बन जाते हैं।

एडिंगटन ने एक बहुत अद्भुत वाक्य लिखा है और एडिंगटन जैसे आदमी ने लिखा है, इसलिए और अद्भुत है। एडिंगटन पिछले पचास वर्षों के श्रेष्ठतम वैज्ञानिकों में एक है। नोबुल प्राइज विनर है। जीवन के अन्तिम समय में अपने संस्मरणों में लिखा है कि जब मैंने वैज्ञानिक खोज शुरू की और जब मैं युवा था, तो मैं सोचता था, जगत् वस्तुओं का समूह है। लेकिन जैसे-जैसे मैं खोज में गहरा गया और जैसे-जैसे मैंने प्रकृति के रहस्यों का साक्षात्कार किया, अब मैं अपने जीवन के अन्त में टेस्टामेण्ट करता हूं, इस बात की वसीयत करता हूं कि द युनिवर्स रिजेम्बल्स मोर ए थाट दैन ए थिंग। यह जो विश्व है, यह एक विचार की तरह ज्यादा है, बजाय एक वस्तु की तरह। रिजेम्बल्स मोर ए थाट, एक विचार की भांति ज्यादा।

बुद्ध ने धम्मपद के पहले वचन में कहा है, तुम जो सोचोगे, वही हो जाओगे। इसलिए सोच-समझ कर सोचना। क्योंकि कल किसी और को जिम्मेदार नहीं ठहरा पाओगे। और जो तुम आज हो गए हो, वह तुमने जो कल सोचा था, उसका परिणाम है। हमारी ही नासमझियां फलीभूत हो जाती हैं। हमारे ही गलत भाव सघन होकर आचरण बन जाते हैं। हमारे ही विचार केन्द्रीभूत होकर जीवन बन जाते हैं। उठती है विचार की सूक्ष्म तरंग, चल पड़ी यात्रा पर, आज नहीं कल वस्तु बन जाएगी। सभी वस्तुएं विचार के सघन रूप हैं—कण्डेस्ड थाट। हम जो हैं, हमारे विचार का फल हैं। तो अगर कोई प्रार्थना इतनी सघन हो जाए कि प्राण का रोयां-रोयां कम्पित होने लगे, हृदय की धड़कन-धड़कन आन्दोलित होने लगे। रात के स्वप्न भी उससे प्रभावित हो जाएं, दिन की विचारणा भी उसमें डूबे। रात की निद्रा में भी वह आपके प्राणों में सरकने लगे। वह आपके जीवन की धुन बन जाए तो परिणाम आ जाएगा। कोई देवता नहीं आएगा आपकी सहायता को। लेकिन, दिव्य जहां-जहां हमें दिखायी पड़ता है, उससे की गयी प्रार्थना हमें तैयार करेगी। इस भेद को समझ लेना जरूरी है। अगर आपके ख्याल में यह है कि हम प्रार्थना करें और निश्चित हो गए, क्योंकि देवता सम्हालेगा। जैसा कि अधिक लोग समझ बैठे हैं कि ठीक है, हमने प्रार्थना कर दी, अब काफी ओब्लाइज कर दिया देवता को। काफी अनुग्रह किया कि हमने प्रार्थना कर दी। बाकी तुम करो। न करो, तो कल हम शिकायत लेकर खड़े हो जाएंगे। अगर

और बिल्कुल न किया तो कल हम कहेंगे कि कोई देवता नहीं है। सब झूठ है। नहीं, प्रार्थना का यह अर्थ नहीं है कि हम किसी और पर छोड़ रहे हैं काम। प्रार्थना का यही अर्थ है कि हम प्रार्थना के बहाने—प्रार्थना एक डिवाइस है—हम प्रार्थना के बहाने अपने रोयें-रोयें तक को कम्पित कर रहे हैं। और ध्यान रहे, प्रार्थना सर्वाधिक रोओं तक प्रवेश पाती है। अगर कोई पूरे भाव से प्रार्थना में रत हो जाए तो कण-कण शरीर का पुकारने लगता है। कोई विचार इतना गहरा नहीं जाता, जितनी प्रार्थना गहरी जाती है। कोई वासना भी इतनी गहरी नहीं जाती, जितनी प्रार्थना जाती है, लेकिन प्रार्थना करने की क्षमता हो तब।

ऐसी कोई भी वासना नहीं है जिसके बाहर आप न छूट जाते हों। आप बाहर छूट ही जाते हैं। सेक्स जैसी वासना, जो कि गहनतम वासना है, उसके भी बाहर आप छूट जाते हैं। उसके भीतर भी आप पूरे नहीं होते। उसके भी आप बाहर होते हैं। कोई हिस्सा—गहन हिस्सा तो चेतना का बाहर ही रह जाता है। काम-वासना में भी ज्यादा-से-ज्यादा शरीर प्रवेश करता है। जो बहुत कामातुर हैं, उनके मन का छोटा-सा हिस्सा प्रवेश करता है। लेकिन चेतना और आत्मा तो बिल्कुल बाहर रह जाती है। टोटल आप उसमें नहीं हो पाते। वही तो काम-वासना की पीड़ा है। कामवासी मन कहता है कि पूरा इसमें डूब जाऊं और रस ले लूं, लेकिन पूरा कभी डूब नहीं पाता। हमेशा पाता है डूबा, नहीं डूब पाया। गया एक सीमा तक, और वापस लौट आया। डूबने का क्षण आया था कि टूटने का क्षण आ गया। प्रार्थना अकेली एक घटना है, जिसमें आदमी पूरा डूब पाता है—पूरा। जिसमें कुछ भी बाहर शेष नहीं रह पाता। प्रार्थना करने वाला भी बाहर शेष नहीं रह जाता, तभी प्रार्थना पूरी होती है। अगर प्रार्थना करने वाला मौजूद है और प्रार्थना आप कर रहे हैं, तो प्रार्थना एक बाहरी कृत्य है। वह आपको छुयेगा नहीं। आप अछूते रह जाएंगे। लेकिन प्रार्थना इतनी गहरी हो सकती है, हो जाती है, कि प्रार्थना करने वाला पीछे बचता ही नहीं। प्रार्थना ही बचती है। तब उस प्रार्थना के आन्दोलन में, उस प्रार्थना के कम्पन में घटना घटती है और सन्मार्ग की यात्रा शुरू हो जाती है। पूरा रुख बदल जाता है। नीचे की यात्रा की तरफ से चेहरा फिर जाता है, ऊपर की तरफ चेहरा हो जाता है। अग्नि को इसलिए पुकारते हैं कि वह ऊर्ध्वगामी है। अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि वह अशुद्धि को जला देने वाला है। अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि उसमें कोई अस्मिता नहीं है, वह बहुत जल्दी आकाश में लीन हो जाता है। जब कोई प्रार्थना से भरता है पूरा तो अग्नि की एक लपट बन जाता है—ए फ्लेम, और एक ऐसी लपट, जिसमें धुंआ नहीं होता। पहले तो होता है। पहले जब कोई प्रार्थना शुरू करता है, तो अग्नि सीधी नहीं होती, धुआं बहुत होता है। क्योंकि ईंधन हमारा गीला होता है। जितनी ज्यादा वासनाएं होती हैं, उतना ईंधन गीला होता है। जैसे

लकड़ी पर पानी पड़ा हो, तो आग लग भी जाए तो धुआं ही धुआं पैदा होता है। इसलिए घबरा मत जाना। प्रार्थना की यात्रा पर निकले व्यक्ति को पहले अग्नि का साक्षात्कार नहीं होता, धुएं का ही साक्षात्कार होता है। क्योंकि हमारे पास ईंधन बहुत गीला है। इसलिए दूसरी बात ऋषि ने उसमें कही है कि मेरे पिछले किए हुए जो कर्म हैं, उनको भी तू जला दे। क्योंकि वे पिछले किए हुए कर्म ही हमारा ईंधन है। और वे बड़े गीले हैं।

कर्म सूखा कब होता है और गीला कब होता है? किस कर्म को गीला कहें और किस कर्म को सूखा कहें?

सूखा कर्म अगर हो तो ऊपर की यात्रा बड़ी आसान हो जाती है, क्योंकि वह ठीक ईंधन बन जाता है। और गीला कर्म अगर हो तो ऊपर की यात्रा मुश्किल हो जाती है, क्योंकि गीला ईंधन कैसे जले। धुआं ही पैदा होता है। जिस कर्म को करके आप उसके बिल्कुल बाहर हो जाते हैं वह कर्म सूखा होता है। जिस कर्म को करके भी आप उसके भीतर जुड़े रह जाते हैं वह गीला होता है। जिस कर्म को करते समय आप साक्षी हो पाते हैं, विटनेस हो पाते हैं, वह सूखा हो जाता है और जिस कर्म को करते वक्त आप साक्षी नहीं हो पाते, कर्ता बन जाते हैं, वह गीला हो जाता है। जिस कर्म को करते वक्त अहंकार खड़ा हो जाता है और कहता है, मैं कर रहा हूं, वह कर्म गीला हो जाता है। जिस कर्म को करते वक्त आप कहते हैं, परमात्मा करवा रहा है, प्रकृति करवा रही है, मैं तो देख रहा हूं। ऐसा कहते ही नहीं हैं, ऐसा जानते हैं, ऐसा जीते हैं, ऐसा अनुभव करते हैं तो कर्म सूखा हो जाता है। जिनके पास सूखे कर्मों का ईंधन है उनकी जीवन की ज्योति, उनकी जीवन की लपट तत्काल ब्रह्म में छलांग लगा लेती है। जिनके पास गीले कर्मों का ईंधन है, उन्हें कठिनाई होती है। ऋषि जानता है कि बहुत कर्म गीले हैं। हम सबके बहुत कर्म गीले हैं।

तो एक तो कर्म को सूखा करने की कोशिश करना। क्योंकि अकेली प्रार्थना से कुछ भी न होगा। कर्म को सूखा करने की कोशिश करना। अतीत के कर्मों से अपने अहंकार को तोड़ लेना। आज के कर्मों से तो तोड़ ही डालना। आने वाले कल के कर्मों से तो अपने को जोड़ना ही मत। ऐसे कर्म सूखे हो जाएंगे। और अगर प्रार्थना की लपट जोर से पकड़ ले तो प्रार्थना की अग्नि उन्हें जला देगी, भस्मीभूत कर देगी। लेकिन आप यह स्मरण सदा ही रखना कि कोई और आकर आपकी प्रार्थना को पूरा नहीं कर जाएगा। आपकी प्रार्थना के करने में ही आप बदल जाते हैं। प्रार्थना करना ही रूपान्तरण है। रूपान्तरण पीछे से आता नहीं। प्रार्थना में ही फलित हो जाता है। इसलिए प्रार्थना का फल मत देखना, प्रार्थना स्वयं फल है। प्रार्थना करके चुपचाप भूल जाना। प्रार्थना स्वयं ही फल है। आप कर सके, यही बड़ी बात है। लेकिन हमारे ख्याल गलत हैं। हम सोचते हैं कि

प्रार्थना कर दी हमने, अब कोई प्रार्थना को पूरा करेगा। तो अब हमें प्रतीक्षा करनी है। हमने कर दी, अब हमें प्रतीक्षा करनी है।

प्रार्थना बहुत जीवंत क्रिया है—आग ही जैसी। प्रार्थना के तीन पहलू हैं, वह मैं आपको कह दूं तभी ख्याल में आ सकेगा। एक, जब आप प्रार्थना करते हैं नियम हैं, प्रेम तो बिल्कुल निश्छन्द है—छन्दहीन। कहां शुरू होता है, कहां अन्त होता है, कुछ पता नहीं। कोई मात्रा नहीं, कोई ठिकाना नहीं। कविता तो सीखी जा सकती है, बनायी जा सकती है। प्रेम को बनाने और सीखने का कोई उपाय नहीं। लेकिन प्रेम की हम चौबीस घंटे बात करते हैं और कोई पूछ ले कि प्रेम क्या है? तो बस…! इस सदी के एक बहुत बड़े विचारक, और कहना चाहिए सबसे बड़े तार्किक आदमी जी० ई० मूर ने एक किताब लिखी है। इन पचास वर्षों में जिस आदमी ने मनुष्य-जाति के मन को सर्वाधिक तार्किक रूप से प्रभावित किया है, वह जी० ई० मूर है। उसने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, प्रिंसिपिया इथिका—नीति-शास्त्र के सिद्धान्त। बड़ी किताब है, बड़ी मेहनत की है। और एक ही सवाल पर मेहनत की है—ह्वाट इज गुड—शुभ क्या है, अच्छाई क्या है, भलाई क्या है? और इस बड़े ग्रंथ में इतना श्रम किया है कि मैं मानता हूं कि किसी दूसरे आदमी ने मनुष्य-जाति के पूरे इतिहास में किसी एक किताब पर इतना श्रम नहीं किया है। और इतनी मेहनत के बाद यह तर्कशास्त्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी का सबसे ज्यादा विचारशील व्यक्ति, इतनी बड़ी किताब में जो वर्षों की मेहनत के बाद एक-एक इंच सरक के लिखी गयी है, और एक-एक शब्द जिसमें तौल के लिखा गया है, उसके आखिर के नतीजे से कहता है गुड इज इन-डिफाइनेबल। वह जो शुभ है, उसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। और आखिर में कहता है कि शुभ ऐसा ही है, जैसा कि कोई मुझसे पूछे कि ह्वाट इज यलो—पीला रंग क्या है? तो मैं क्या कहूं? पीला रंग पीला है, यलो इज यलो! बस, और क्या कहियेगा? पीला रंग पीला है। लेकिन यह कोई कहना हुआ! यह तो हमें भी पता है कि पीला रंग पीला है। हम यह पूछते हैं कि पीला रंग है क्या? आप क्या करेंगे? तोड़ कर ले आना एक फूल। कहना कि यह है। लेकिन जी० ई० मूर कहता है कि यह पीला फूल है, पीला रंग नहीं। एक पीली दीवार है रंगी हुई। लेकिन वह पीली दीवार है, पीला रंग नहीं। एक पीला कपड़ा है। लेकिन वह पीला कपड़ा है, पीला रंग नहीं है। हम यह पूछते हैं कि पीले फूल में, पीले कपड़े में, पीली दीवार में जो पीलापन है, वह क्या है—ह्वाट इज यलोनेस? अब आप क्या कहियेगा? यही न कि यह रहा, अब इससे ज्यादा और बकवास न करो। मूर भी यही कहता है। मूर भी यही कहता है इतनी मेहनत के बाद कि ज्यादा-से-ज्यादा हम यह कह सकते हैं कि दिस इज यलोनेस। हम बस इशारा कर सकते हैं, व्याख्या नहीं। और अगर पीले रंग की व्याख्या नहीं हो सकती तो परमात्मा

की करियेगा? कोई जी० ई० मूर से जाकर कहे—अब तो वह मर गया बेचारा, जिन्दा होता तो मैं सोचता कि उससे कहूं। या फिर कभी आगे यात्रा में मिलना हो जाए तो उससे कहूंगा कि जब पीले रंग को भी तुम पाते हो कि व्याख्या नहीं हो सकती तो क्या परमात्मा की व्याख्या हो सकेगी?

जीवन के क्षुद्रतम तथ्य भी अव्याख्येय हैं। जब मैं कहता हूं, जीवन अतर्क्य है, तब मैं कह रहा हूं कि जीवन अव्याख्येय है, इनडिफाइनेबल है। आप उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। जी सकते हैं, कह नहीं सकते कि क्या है। और जब भी कहने जाएंगे, तो ऐसी ही गलती हो जाएगी, जैसी इस सूत्र का ऋषि कह कर पड़ गया गलती में। कहता है, पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। यह तो पहेली हुई। यह तो वैसी पहेली हुई, जैसा कि एक झेन फकीर रिनझाई खड़ी करता था। इन फकीरों को बड़ा मजा आता है पहेलियां खड़ी करने में। क्योंकि उनसे इशारे किए जा सकते हैं। जब भी कोई उसके पास आता सत्य की खोज करने, तो वह कहता; सत्य पीछे खोज लेना। मैं जरा एक मुश्किल में पड़ा हूं। पहले तुम मेरी वह मुश्किल हल कर दो। तो कोई भी पूछता कि क्या मुश्किल है? जो सत्य खोजने आया था, वह भी यह भूल जाता कि मैं खुद खोजने आया हूं, मैं दूसरे की मुश्किल क्या खाक हल करूंगा। लेकिन जब रिनझाई कहता कि तुम जरा पीछे पूछ लेना। मेरी एक मुसीबत है, वह तुम हल कर दो। तो वह आदमी एकदम पूछता कि आपकी क्या मुश्किल है?

शिष्य बनने आया आदमी भी गुरु बनने की कोशिश करता है। वह भूल ही जाता कि हम पूछने आए थे। कहना था कि हम पूछने आये हैं, हम तुम्हारी मुश्किल क्या हल करेंगे। हम खुद मुसीबत में पड़े हैं। लेकिन रिनझाई ने लिखा है कि जिन्दगी में हजारों लोगों से मैंने यह कहा और हर बार यही हुआ कि उस आदमी ने पूछा कि कौन-सी मुश्किल है, बोलिये?

रिनझाई ने एक तरकीब बना रखी थी। मुश्किल ऐसी थी कि वह हल होने वाली नहीं है। असल में तो सभी मुश्किलें ऐसी हैं कि हल होने वाली नहीं हैं। कोई मुश्किल हल होने वाली नहीं है। क्योंकि मुश्किल कोई आदमी की बनायी हुई नहीं है। वह एक्जिस्टेंशियल है, अस्तित्व में है। आदमी की बनायी हुई हो तो हम हल कर लें। पहेलियां आदमी की बनायी हुई हों, तो हम हल कर लें। बच्चों की किताब होती है गणित की, तो ऊपर सवाल लिखा रहता है, पन्ना उल्टा के पीछे जवाब लिखा रहता है। जिन्दगी में ऐसा कहीं किताब उलटाने का उपाय नहीं कि उल्टा लो जिन्दगी की किताब पीछे और देख लो कि उत्तर क्या है। इसीलिए तो जिन्दगी में नकल नहीं चलती। जिन्दगी में नकल का कोई उपाय नहीं है। करियेगा कहां और किसकी करियेगा। उल्टा कर देखने की कोई स्थिति नहीं है कि जिन्दगी की किताब को उल्टा लो और देख लो कि उत्तर क्या है! प्रश्न हैं,

उत्तर कुछ है नहीं।

तो उसने एक सवाल बना रखा था। वह कहता कि सुनो, मेरी तकलीफ हल कर दो तो मैं तुम्हारी हल कर दूंगा। पूछने वाला आदमी आश्वस्त होता कि चलो ठीक है, एक आदमी तो मिला, जो कहता है, मैं तुम्हारी तकलीफ हल कर दूंगा। लेकिन उसे पता नहीं कि वह एक बड़ी कण्डीशन साथ में रख रहा है कि पहले तुम मेरी तकलीफ हल कर दो, तो मैं तुम्हारी हल कर दूंगा। तकलीफ यह थी, रिनझाई कहता कि मैंने एक बोतल में एक मुर्गी का अण्डा रख दिया था। अण्डा फूट गया। मुर्गी बड़ी होने लगी। मैं उसको बोतल के मुंह से खाना खिलाता रहा। अब मुर्गी बहुत बड़ी हो गई है। बोतल का मुंह छोटा है। मुर्गी को बाहर निकालना है और बोतल को तोड़ना नहीं है। कुछ रास्ता बताओ। बोतल तोड़नी नहीं है, बोतल कीमती है। और मुर्गी बड़ी हो गई है, फंस गई है बोतल में बिल्कुल। मुंह इतना छोटा है कि मुंह से निकल नहीं सकती। ध्यान रखना, वह हम सब कोशिश कर चुके, इसलिए यह मत कहना कि मुंह से निकाल लो। मुंह से निकलती नहीं है, बोतल तोड़नी नहीं है। और मुर्गी अगर ज्यादा देर रह गई तो मर जाएगी। उसके जिम्मेदार तुम रहोगे। ज्यादातर आदमी तो घबरा जाते, कहते कि आप कैसी बातें कर रहे हैं! लेकिन अगर कोई आदमी कहता कि मैं कोशिश करूंगा, सोचता हूं, विचारता हूं, तो रिनझाई कहता कि बगल के कमरे में चले जाओ। ध्यान करो—मेडीटेट आन इट। मुर्गी बन्द है, जान संकट में है, देर मत लगाना। ध्यान तेजी से करना, गहरा करना। क्योंकि मुर्गी किसी भी क्षण मर सकती है।

उस बगल के कमरे की दूसरी तरफ भी उसने एक दरवाजा रख छोड़ा था। जब आधा घण्टे बाद वह दरवाजा खोलता तो दूसरे दरवाजे से आदमी भाग गया होता। लौट कर रिनझाई दूसरों से कहता—दी गूज इज आउट। मुर्गी भाग गई। मुर्गी बोतल के बाहर निकल गई। बोतल खाली पड़ी है।

सिर्फ एक आदमी ने रिनझाई को एक दफा उत्तर दिया। लेकिन वह आदमी वह नहीं था, जो रिनझाई से कुछ पूछने आया हो। एक दिन सुबह वह आदमी आकर बैठ गया रिनझाई के पास। रिनझाई ने कहा, कुछ पूछना है? उस आदमी ने कहा कि तुम्हें कुछ बताना है? हमें तो कुछ पूछना नहीं है। कोई कुछ बताने को उत्सुक हो, तो बता दे। रिनझाई जरा चौंका, सोचा, यह आदमी खतरनाक है। या तो मुर्गी मार डालेगा या बोतल तोड़ देगा। फिर भी कोई उपाय न था। रिनझाई की इतनी पुरानी आदत थी उस पहेली को पूछने की। वह रुक न सका पूछने से। उसने कहा, नहीं, कुछ बताना तो नहीं है। असल में हम खुद एक मुसीबत में हैं। उस अजनबी ने कहा, बोलो! कही अपनी कथा रिनझाई ने उससे पूरी की। जब पूरी कह चुका तो उस आदमी ने उठ कर रिनझाई की गर्दन पकड़ ली। रिनझाई ने कहा, मुर्गी मेरे भीतर नहीं, बोतल के भीतर है। लेकिन उस आदमी ने कहा, मैं मुर्गी को अभी निकाले देता हूं। और उस आदमी ने कहा, मुर्गी बोतल के बाहर है, बोलो! रिनझाई ने कहा, है।

जीवन कोई पहेली नहीं है। जो उसे पहेली बनाते हैं, वे मुश्किल में पड़ जाते हैं। जिन्दगी कोई प्रश्न नहीं है। जो प्रश्न बनाते हैं, उन्हें उत्तर खोजना पड़ता है। और सब उत्तर उलझाते चले जाते हैं। जीवन तो है एक खुला रहस्य—ओपन सीक्रेट। जीवन बिल्कुल खुला है, आंख के सामने है, चारों तरफ। कहीं भी छिपा नहीं है। कोई पर्दा नहीं है। फिर भी रहस्य है। रहस्य और पहेली में फर्क होता है। पहेली का मतलब होता है, जो खुली नहीं है, लेकिन खुल सकती है। रहस्य का मतलब होता है, जो खुला ही हुआ है और फिर भी खुला हुआ नहीं है। रहस्य का मतलब है, जो बिल्कुल खुला हुआ है और फिर भी इतना गहरा है कि तुम अनन्त-अनन्त यात्रा करो, फिर भी पाओगे कि सदा जानने को शेष रह गया है। पूर्ण से पूर्ण बाहर निकल आए, तो भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाए तो भी पूर्ण उतना ही रहता है, जितना है। इस रहस्यमयता की, इस मिस्टीरियसनेस की सूचना देने वाला यह सूत्र है। यह एक इशारा है। इशारा है इस बात का कि जो इस सूत्र को राजी हो जाएगा, वह जीवन में प्रवेश कर सकता है। जो इस सूत्र को कहेगा कि नहीं, यह नहीं हो सकता, वह दरवाजे के बाहर ही रह जाएगा। वह दरवाजे के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता।

रहस्य है जीवन। रहस्य का मतलब है तर्कातीत। तर्क के नियम आदमी ने अपनी बुद्धि से खोजे हैं। तर्क के नियम कहीं प्रकृति में लिखे हुए नहीं हैं। प्रकृति तर्क के नियम सप्लाई नहीं करती। प्रकृति कोई तर्क का नियम नहीं देती। तर्क के नियम आदमी निर्मित करता है। कामचलाऊ हैं। लेकिन भूल जाते हैं हम कि काम-चलाऊ हैं। हमारे सब नियम ऐसे ही हैं, जैसे हमारे खेल के नियम होते हैं—रूल्स ऑफ द गेम। शतरंज का खेल है—घोड़ा है, हाथी है, सब हैं। सबकी चालें बंधी हैं। भारी गम्भीरता से खिलाड़ी खेलते हैं। सच तो यह है कि शतरंज के खेल में जितने गम्भीर लोग दिखाई पड़ते हैं, उतने शायद असली जिन्दगी में भी दिखाई नहीं पड़ते। तलवारें खिंच जाती हैं। लकड़ी के घोड़े बिछाए हुए हैं। लकड़ी के हाथी बनाए हुए हैं। लकड़ी के प्यादे हैं, राजा हैं। मगर जब खेल में लीन होते हैं, तो बिल्कुल भूल जाते हैं कि बच्चों का काम कर रहे हैं कि कोई घोड़ा नहीं है, कोई हाथी नहीं है, कोई राजा नहीं है, कोई प्यादा नहीं है, सब माना हुआ है।

जिन्दगी के भी सब तर्क के नियम ठीक ऐसे ही हैं। सब माने हुए नियम हैं। कोई नियम नहीं है, जो प्रकृति ने हमें दिया हो, जो जीवन ने हमें दिया हो। सब हमने थोपे हैं। हमारे नियम वैसे ही हैं, जैसे सड़क पर चलने के, ट्रैफिक के नियम होते हैं। बायें चलो, कि दायें चलो। हिन्दुस्तान में लोग बायें चलते हैं, अमरीका में लोग दायें चलते हैं। उनका नियम है कि दायें चलो। अमरीका में बायें चलो

तो पुलिस का आदमी पकड़ कर थाने ले जाएगा। इधर दायें चले, तो पुलिस का आदमी पकड़ कर थाने ले जाएगा। बड़े अजीब लोग हैं। लेकिन एक बात पक्की है कि कहीं न कहीं चलना पड़ेगा, दायें चलो कि बायें चलो। कोई भी नियम बनाओ। लेकिन एक नियम बनाना पड़ेगा, क्योंकि रास्ते पर भीड़ है और चलना है। लेकिन धीरे-धीरे, बायें चलते-चलते ऐसा लगने लगता है कि बायें चलने में कोई अल्टीमेटनेस है, कोई आत्यंतिकता है। कि बायें चलने में कोई बड़ी गहरी व्यवस्था है। कोई व्यवस्था नहीं है। सब हमारी थोपी हुई व्यवस्था है।

हमारे सब तर्क के नियम भी हमारी व्यवस्था है। काम चलाने के लिए बिल्कुल जरूरी है। लेकिन धीरे-धीरे हम इतने फंस जाते हैं उनमें कि उनको पूरी जिन्दगी के रहस्य पर फैलाने की कोशिश करते हैं। कोशिश करते हैं इस बात की कि जिन्दगी हमारे नियम मान कर चले। और जिस दिन कोई आदमी जिन्दगी को अपने नियम मनवाने लगता है, उसी दिन पागल हो जाता है। पागलपन का एक ही लक्षण है। स्वस्थ मनुष्य मैं उसे कहता हूं, जो जिन्दगी के रहस्य को मान कर चलता है। और पागल आदमी उसको कहता हूं, जो अपने नियमों को जिन्दगी पर थोपने की कोशिश कर रहा है। फिर कठिनाई खड़ी होनी शुरू होती है। और हमने सब थोपे हुए हैं हमारे नियम।

तर्क के एक-दो नियमों को हम समझ लें तो इस सूत्र को समझने में आसानी हो जाएगी। तर्क के कुछ बुनियादी नियमों में से एक है कि अ, अ है और अ, ब नहीं हो सकता—ए इज ए, ए कैननाट बी बी। ठीक है। बिल्कुल ठीक है। अ, अ है, अ, ब नहीं हो सकता। लेकिन जिन्दगी में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अपने से भिन्न में न बदल जाती हो। और जिन्दगी में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अपने से विपरीत में भी न बदल जाती हो। जिन्दगी में सब चीजें तरल हैं, जिन्दगी में सब चीजें बदलती हैं। रात दिन बन जाती है, फिर दिन रात हो जाता है। बचपन जवानी बन जाता है, जवानी बुढ़ापा हो जाती है। जिन्दगी मौत बन जाती है। जहर अमृत हो जाता है कभी। सब औषधियां जहर हैं। बीमार के लिए अमृत बन जाती हैं। जिन्दगी में तरलता है, नियमों में होती है सख्ती। क्योंकि नियम जिन्दा तो होते नहीं। इस कमरे में हम इतने लोग बैठे हैं। अगर घण्टे भर बाद मैं आऊं और मैं यह आशा करूं कि आप मुझे वहीं और वैसे ही बैठे मिलेंगे, जहां और जैसे छोड़ गया था। तो या तो मैं पागल हूं, जो यह आशा कर रहा हूं। या आप पागल होंगे अगर लौट कर मैं आपको वहीं बैठा पाऊं। कुछ गड़बड़ जरूर है। या मुर्दा आदमी बैठे होंगे। जिन्दा आदमी तो बदल गए होंगे।

एक गांव में ऐसी एक बार दिक्कत हो गई। एक तर्कशास्त्री—और तर्कशास्त्री से जैसी दिक्कतें होती हैं उनके हिसाब लगाने बड़े मुश्किल हैं—गया था सुबह-सुबह नाई की दुकान पर बाल बनवाने। बाल बनवा लिए। पास में रुपया पूरा

था। आठ आने दाम होते थे। नाई ने कहा कि बाकी पैसे कल ले जाना। तर्कशास्त्री ने सोचा कि कल! अगर यह आदमी कल तक बदल गया तो प्रमाण क्या है? स्वभावतः तर्कशास्त्री प्रमाण चाहता है। सोचा, अगर यह आदमी कल अपना घन्धा ही बदल ले, समझ लो कि मिठाई की दुकान खोल ले, नाईबाड़ा बन्द कर दे तो अलग मैं किसी से कहूं भी कि मैंने इस आदमी से बाल बनवाए थे तो लोग हंसेंगे, कहेंगे कि यह मिठाई वाला है! तो कुछ ऐसी तरकीब करूं कि यह आदमी न बदल पाए। उसने बहुत खोजबीन की। देखा कि एक भैंस नाईबाड़े के सामने बैठी है। उसने सोचा कि ठीक है। भैंस को समझाना बहुत मुश्किल है। भैंस काफी थिर चीज है। तर्क के नियमों जैसी। जम कर बैठती है। सड़क के कानून नहीं मानती, कोई नियम नहीं मानती। इसको नाई शायद ही समझा पाए। तर्कशास्त्री नहीं समझा पाए तो नाई क्या समझा पाएगा। ठीक है, पक्का देख कर कि भैंस सामने बैठी है, चला गया। दूसरे दिन आया। देखा, अपनी भैंस खोजी, भैंस बैठी थी। सामने देखा, बोला कि हो गयी वही शरारत, जो होनी थी। सामने मिठाई की दुकान थी। दौड़कर मिठाई वाले की गर्दन पकड़ ली और कहा कि शक तो मुझे कल ही हो गया था, इसलिए इन्तजाम मैं पक्का करके गया था। हद कर दी तूने भी आठ आने के पीछे, जाति तक बदल डाली!

तर्कशास्त्री को, बेचारे को, पता नहीं कि भैंस तर्क के नियम नहीं मानती, फिक्स्ड नहीं है, रातभर में चल गई, मिठाई वाले के सामने बैठ गई। तर्क के नियम तो मुर्दा हैं। मरे हुए हैं। जिन्दगी जीवंत धारा है। जो उनको तर्क के नियमों के ऊपर बिठा कर जिन्दगी को पकड़ने की कोशिश करता है, उसके हाथ में मरी हुई चीजें आती हैं। नहीं, तर्क के जाल को तोड़कर जो जिन्दगी में कूदता है, वही जिन्दगी के रहस्य को जान पाता है। इसलिए यह सूत्र कहता है, तर्क के सब जाल तोड़ दो। इस सूत्र का इशारा मैं कह रहा हूं—अभिप्राय, अर्थ नहीं। अर्थ तो मैंने पहले दिन आपसे कहा। यह अभिप्राय है कि तर्क के सब नियम तोड़ दो। तर्क के नियम मानोगे तो जिन्दगी में जाना मुश्किल होगा।

प्लेटो यूनान का बहुत बड़ा तर्कशास्त्री हुआ। कहना चाहिए पिता। बड़ी एकेडेमी थी उसकी, जहां वह लोगों को तर्क सिखाता था। डायोजिनीज नाम का एक फकीर—बहुत मस्त फकीर, कम ही लोग वैसे हुए हैं, महावीर जैसा आदमी, नग्न ही रहता था—वह भी एक दिन घूमता हुआ एकेडेमी में पहुंच गया। वहां क्लास चलती थी। प्लेटो समझा रहा था। प्लेटो बड़ा तर्कशास्त्री था। हमारे मुल्क में प्लेटो के लिए जो नाम प्रचलित है, वह है अफलातून। इसलिए अगर कोई आदमी बहुत तर्क-वर्क की बात करने लगे तो लोग कहते हैं कि बड़े अफलातून हो गए। अफलातून प्लेटो का नाम है। प्लेटून से अफलातून बन गया। बड़े अफलातून हो गए आप। प्लेटो इतना लम्बा तार्किक था कि अगर कोई भी तर्क करे—गांव

में भी तो लोग कहते हैं कि बड़े अफलातून हो गए। कहने वाले को भी पता नहीं कि अफलातून किसका नाम है। वह तो एथेंस में हुआ ढाई हजार साल पहले। डायोजिनीज पहुंच गया एक दिन घूमता हुआ प्लेटो की एकेडेमी में, जहां वह तर्कशास्त्र पढ़ाता था। वह पढ़ा रहा था। एक विद्यार्थी ने खड़े होकर प्लेटो से पूछा कि आदमी की परिभाषा क्या है—हाऊ यू डिफाइन मैन? आदमी की आप क्या व्याख्या करते हैं? तो प्लेटो ने कहा कि आदमी बिना पंखों वाला दो पैर का जानवर है। टू लेग्ड एनिमल विदाउट फीदर। व्याख्या तो हो गयी। पंख नहीं हैं, दो पैर वाला जानवर है। डायोजिनीज पीछे खड़ा सुन रहा था। वह खिलखिला कर हंसा। प्लेटो ने पूछा कि आप क्यों हंस रहे हैं? उसने कहा, अभी मैं इस परिभाषा का उत्तर भेजता हूं। वह बाहर गया, उसने एक मुर्गे को पकड़ा। उसके सारे पंख नोचकर अलग फेंक दिए। मुर्गे को भेज दिया और कहा कि दिस इज योर डेफिनीशन ऑफ मैन—टु लेग्ड एनिमल विदाउट फीदर। पंख नहीं हैं, दो पैर का जानवर है। प्लेटो से कहा उसने, अपनी परिभाषा बदलो। और जब तुम दूसरी परिभाषा बना लो तो मुझे भेज देना। मैं उसका भी उत्तर भेज दूंगा।

कहते हैं, प्लेटो ने फिर परिभाषा नहीं बनायी। झंझट का आदमी, मुर्गे के पंख तोड़ कर भेज दिए, और पता नहीं क्या करे? डायोजिनीज कई बार उसके दरवाजे पर दस्तक देता कि प्लेटो, कोई परिभाषा बनी? प्लेटो कहता, भाई, अभी नहीं बना पाया। आखिर एक दिन प्लेटो घबरा गया और डायोजिनीज से कहा, मुझे माफ करो, गलती हो गयी कि मैंने वह परिभाषा की। तुम कब तक मेरा पीछा करोगे! डायोजिनीज ने कहा, मैं यही सुनना चाहता था कि तुम गलती स्वीकार कर लो। आदमी की क्या, पत्थर के टुकड़े की परिभाषा नहीं हो सकती। जीवन अव्याख्येय है, इनडिफाइनेबल है। किसी चीज की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। यही चाहता था कि इतना तुम स्वीकार कर लो तो मैं जाऊं। नाहक मुझे भी परेशान होना पड़ रहा है तुम्हारी व्याख्या के लिए।

तर्क के नियम तो होते हैं थिर, फिक्स्ड और जीवन होता है तरल, बहता हुआ। एक तरंग दूसरी तरंग में बदल जाती है। जब तक तुम व्याख्या करो, तब तक कुछ और हो गया। जिस आदमी को तुमने क्रोधी कहा, जब तक तुमने क्रोधी कहा, वह क्षमा कर रहा है। फिर क्या करोगे? सच तो यह है कि जब तक तुमने कहा यह आदमी क्रोधी है तब तक क्रोध जा चुका होगा। इस जिन्दगी में टिकता क्या है? तब तक क्रोध उतार पर होगा। तुम्हारी व्याख्या गलत हो जाएगी। व्याख्या सब अतीत की होती है और जिन्दगी सदा वर्तमान है। जिन्दगी सदा बदल जाती है। सदा बदल रही है। प्रतिपल बदल रहा है सब। और व्याख्याएं तो ठहर जाती हैं जम कर। व्याख्याओं में कोई ग्रोथ तो होती नहीं। कोई बदलाहट तो होती नहीं। व्याख्याएं तो ऐसी हैं, जैसे हम फोटोग्राफ ले लेते हैं। जैसे मेरा किसी ने

फोटोग्राफ ले लिया तो मैं तो बूढ़ा होता जाऊंगा, फोटोग्राफ वैसा का वैसा ही बना रहेगा। जिन्दगी तो जिन्दा आदमी जैसी है, बदलती जा रही है। और व्याख्या जड़ बन जाती है। वह रुक जाती है।

यह सूत्र कहता है, नहीं कोई व्याख्या है जीवन की, नहीं कोई तह है जीवन की। जीवन का रहस्य है। तर्तूलियन एक ईसाई फकीर हुआ। किसी ने तर्तूलियन को पूछा कि तुम ईश्वर को क्यों मानते हो? कारण क्या है तुम्हारे मानने का? तर्तूलियन ने कहा, कारण! जब मैंने जिन्दगी में देखा कि कोई कारण किसी चीज के लिए नहीं है, तब मैंने सोचा कि ईश्वर को मानने में अब कोई हर्जा नहीं रहा। अकारण जब जिन्दगी है पूरी तो ईश्वर को भी अकारण माना जा सकता है। और अगर तुम नहीं मानते, और पूछते ही हो मुझसे तो मैं ईश्वर को इसलिए मानता हूं कि ईश्वर बिल्कुल तर्कशून्य है—एब्सर्ड है। जो शब्द उनसे उपयोग किया, वह है एब्सर्ड। उसने कहा कि ईश्वर बिल्कुल एब्सर्ड है। इसलिए मैं भरोसा करता हूं कि वह ठीक होगा। क्योंकि मैंने सब नियम देखे छान-बीन कर, गलत पाये। सब तर्क के मैंने हिसाब देखे और गलत पाये। जितनी व्याख्याएं खोजीं, गलत पायीं। जिन-जिन बातों को मैंने बुद्धि से समझा ठीक है, आखिर में गलत निकलीं। अब मैंने बुद्धि छोड़ दी। अब मैं निर्बुद्धि होकर मानता हूं।

श्रद्धा का यही अर्थ है। यह सूत्र श्रद्धा का सूत्र है। श्रद्धा का अर्थ है जम्पिंग इन टु द अननोन। श्रद्धा का अर्थ है अज्ञात में छलांग। श्रद्धा का अर्थ है समस्त नियमों, समस्त व्याख्याओं, समस्त परिभाषाओं को, समस्त गणनाओं को छोड़कर अमाप में, इममेजरेबल में, असीम में छलांग। बुद्धि को छोड़कर निर्बुद्धि में छलांग। ध्यान रहे, जीवन का सत्य जिन्होंने बुद्धि से खोजा, वे तो हैं फिलॉसफर, दार्शनिक। वे कुछ नहीं खोज पाये आज तक। हजारों किताबें लिखी हैं दार्शनिकों ने, लेकिन कोरे शब्दों का जाल। कुशल हैं वे शब्दों में। वे जाल भी फैलाते हैं तो कुशलता से। और इतना बड़ा फैलाते हैं कि आपको मुश्किल हो जाता है उसके बाहर निकलना। लेकिन कुछ भी उन्हें पता नहीं है—कुछ भी। जिन्होंने जीवन के सत्य को जाना वे दूसरे लोग हैं—वे हैं सन्त, वे हैं ऋषि। वे वे लोग हैं, जिन्होंने कहा कि शब्द में हम नहीं उतरते, हम तो अस्तित्व में ही उतरते हैं। क्यों हम जाएं पता लगाने कि गंगा क्या है। जब गंगा बह रही है तो हम गंगा में ही क्यों न डूब कर जान लें कि गंगा क्या है। शास्त्र में लिखा होगा कि गंगा क्या है। ग्रंथालय में किताबें रखी होंगी, जिनमें लिखा होगा कि गंगा क्या है। लेकिन हम गंगा को ग्रंथालय में खोजने क्यों जाएं? जब गंगा ही मौजूद है तो हम गंगा में ही उतर कर स्नान क्यों न कर लें। हम गंगा को गंगा में ही क्यों न जानें।

दो रास्ते हैं जानने के—अगर कोई मुझे प्रेम के सम्बन्ध में जानना हो तो मैं पुस्तकालय में भी जा सकता हूं। वहां प्रेम के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा हुआ

रखा है। वह सब मैं जान ले सकता हूं। एक रास्ता और है कि मैं प्रेम में ही उतरूं। निश्चित ही पहला रास्ता सुगम है। इसलिए कमजोर लोग पुस्तकालय का रास्ता पकड़ लेते हैं। सुगम है किताब में प्रेम को पढ़ना, वह कोई बड़ी कठिन बात नहीं है। बच्चे भी पढ़ सकते हैं। लेकिन प्रेम को जानना तो बड़ी आग से गुजरना है—बड़ी तपश्चर्या से, बड़ी अग्नि-परीक्षा से। प्रेम को जानना एक बात है और प्रेम के सम्बन्ध में जानना बिल्कुल दूसरी बात है। इन दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। सत्य को जानना एक बात है, सत्य के सम्बन्ध में जानना बिल्कुल दूसरी बात है। सत्य के सम्बन्ध में जो भी जाना जाता है, सब उधार है, सब बासा है। सत्य को जिन्हें जानना है, उन्हें अपनी बुद्धि से छलांग लगानी पड़ेगी।

एक मित्र दो दिन पहले मेरे पास आए। उन्होंने कहा कि मैं जो भी चीज सुनता हूं, उस पर ही मुझे शक होता है, सन्देह होता है। आप भी जो कहते हैं, उस पर मुझे सन्देह होता है। आप आगे भी जो कहेंगे, मैं अभी से कह देता हूं, कि मुझे उस पर सन्देह होगा। फिर भी मैं कुछ प्रश्न लाया हूं, उनके आप उत्तर दें। मैंने कहा कि फिर उत्तर लेकर क्या करोगे; क्योंकि तुम कहते हो कि जो भी मैं कहूंगा, उस पर तुम्हें सन्देह होगा। तुम अपने सन्देह से रत्तीभर हिलोगे नहीं तो मुझे क्यों नाहक परेशान करते हो? तुम अपने सन्देह में जियो। मुझसे पूछने क्यों आये हो? अगर सन्देह ही करना है, तो किसी से पूछने मत जाओ। क्योंकि दूसरे से पूछोगे, तो दूसरा अपना जानना कहेगा, वह तुम्हारा जानना बन नहीं सकता, उस पर तुम्हें सन्देह होगा। जिन्दगी चारों तरफ फैली है—फूल खिले हैं, पक्षी नाच रहे हैं। आकाश में बादल उड़ रहे हैं, सूरज निकला है। तुम्हारे भीतर प्राण धड़क रहे हैं। जीवन का अनन्त विस्तार है। कूदो उसमें, जाओ, वहां जानो। मुझसे पूछने क्यों आये हो? और जब तुम कहते हो, पूछ कर मैं सन्देह तो करूंगा ही। तो पूछना व्यर्थ है। और एक बात कहना चाहूं उनसे, कि सन्देह करते रहोगे, बहुत अच्छा है। लेकिन वह दिन कब आयेगा, जब अपने सन्देह पर भी सन्देह करोगे? जब यह सन्देह आएगा कि यह सन्देह कहीं ले जाएगा कि नहीं। जिस आदमी को सन्देह ही करना है, तो फिर पूरा कर ले—डाउट दी डाउट इटसेल्फ। तब आखिर में अपने सन्देह पर भी सन्देह करो कि यह जो मैं सन्देह कर रहा हूं, इससे कुछ मिलेगा? छोड़ो, मिलेगा कि नहीं। इतने दिन सन्देह किया है, उससे कुछ मिला? अगर इतने दिन सन्देह करके कुछ नहीं मिला और सन्देह पर सन्देह पैदा नहीं होता, तो फिर सन्देह पूरा नहीं कर रहे हो।

ध्यान रहे, श्रद्धा दो तरह से आती है। या तो सन्देह ही मत करो, जो कि अति कठिन है। या फिर सन्देह पर भी सन्देह करो। दो ही रास्ते हैं। या तो सन्देह ही मत करो, कूद आओ। और या फिर सन्देह ही करते हो, तो गहरा सन्देह करो कि सन्देह पर भी सन्देह आ जाए। सन्देह सन्देह को काट दे और तुम सन्देह से खाली

हो जाओ। लेकिन किसी भी तरह—चाहे कोई सन्देह न करके, या कोई सन्देह बहुत करके जिस दिन भी सन्देह के बाहर जाता है, उसी दिन बुद्धि के बाहर जाता है। बुद्धि सन्देह का सूत्र है। ऐसा नहीं है कि आपकी बुद्धि सन्देह करती है। बल्कि ऐसा कि आपकी बुद्धि सन्देह है—योर इन्टलेक्ट इज द डाउट। जो सरल हों, वे इस सूत्र को समझ कर सन्देह न करें। जो जटिल हों, वे इस सूत्र को समझ कर पूरा सन्देह करें—टोटल डाउट। दोनों स्थितियों में श्रद्धा उपलब्ध हो जाएगी। दोनों स्थितियों में छलांग लग जाएगी और श्रद्धा का जन्म हो जाएगा।

यह सूत्र श्रद्धा का सूत्र है। इसे वे समझेंगे, जो श्रद्धा को समझेंगे। जो तर्क को समझेंगे, वे इसे नहीं समझ पाएंगे, क्योंकि तर्क तो इसमें कहीं बैठेगा नहीं। पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण बच जाता है! तर्क के लिए यह नहीं हो सकता। यह कैसे होगा? तर्क नहीं मानेगा कि यह हो सकता है। हां, श्रद्धा मान लेगी। श्रद्धा बड़ी सरलता है। श्रद्धा अति सरलता है। श्रद्धा ट्रस्ट है, अस्तित्व के ऊपर भरोसा है। कि जिस अस्तित्व ने मुझे जन्म दिया, जिस अस्तित्व ने मुझे बड़ा किया, जिस अस्तित्व ने मुझे शक्ति दी, सोच-विचार दिया, प्रेम दिया, हृदय दिया, उस अस्तित्व पर थोड़ा भरोसा मैं भी दे सकता हूं या नहीं। जिस अस्तित्व ने मुझे जीवन दिया, उसको मैं श्रद्धा भी नहीं दे सकता? जिसने मुझे प्राण दिए, जिसने मुझे होश दिया, जिसने मुझे चेतना दी, उसको मैं थोड़ा-सा मैत्रीपूर्ण भरोसा भी नहीं दे सकता? एक फ्रेंडली ट्रस्ट भी नहीं दे सकता? तो फिर कृतघ्नता की सीमा आ गयी। अनग्रेसफुलनेस की सीमा आ गयी। फिर अकृतज्ञ होने की हद हो गयी।

यह सूत्र श्रद्धा की मांग करता है। इशारा करता है कि श्रद्धा से ही जीवन का द्वार खुलेगा। श्रद्धा से ही जीवन के शिखर पर पहुंचना होगा। यह इसका अभिप्राय है। अन्तिम रूप से एक बात और समझ लें कि पूर्ण की क्यों बात है। शुरू में पूर्ण की बात, अन्त में पूर्ण की बात, पूर्ण की यह बात क्यों है? जिन्दगी में तो सब अपूर्ण मालूम पड़ता है। अच्छा होता कि अपूर्ण की बात करते, तो वह तथ्य होता—यथार्थवादी होता। जीवन में तो कहीं कुछ पूर्ण मिलता नहीं। न कोई व्यक्ति पूर्ण दिखाई पड़ता है, न कोई प्रेम पूर्ण दिखाई पड़ता है। न कोई शक्ति पूर्ण दिखाई पड़ती है, न कोई आकार पूर्ण दिखायी पड़ता है। जीवन में तो सब अपूर्ण है। और ईशावास्य के ऋषि को क्या सूझा कि पूर्ण से चर्चा शुरू करता है और पूर्ण पर ही चर्चा पूरी करता है! इसलिए जो यथार्थवादी हैं, वह कहेंगे—अनरियलिस्टिक—यह कोई यथार्थवादी बात नहीं है। यह काल्पनिक आकाश में उड़ने वाले लोगों की बातें हैं। कहां है पूर्ण? नहीं, लेकिन यह इशारा है। यह इशारा इस बात का है कि जहां भी आपको अपूर्ण दिखाई पड़ता हो, अपूर्णता आपकी दृष्टि में होगी, अपूर्ण कहीं भी नहीं है। अपूर्ण कहीं है ही नहीं। और अपूर्ण

हमें सब जगह दिखाई पड़ता है। असल में अपूर्णता हमारी दृष्टि में है।

हमारी हालत ऐसी है, जैसे कोई आकाश को एक खिड़की से देखे—अपने घर की खिड़की से। हम सभी देखते हैं। घर की खिड़की से कोई आकाश को देखे तो आकाश भी खिड़की के आकार में कटा हुआ मालूम होगा। स्वभावतः खिड़की का ढांचा आकाश का ढांचा हो जाएगा। स्वभावतः खिड़की की सीमा आकाश की सीमा बन जाएगी। और अगर किसी ने खिड़की के बाहर निकल कर, द्वार-दरवाजे के बाहर निकल कर कभी खुले आकाश को न देखा हो, तो अगर वह यह कहे कि आकाश चौखटा है, तो कुछ गलती है? कोई गलती तो नहीं है। सदा आकाश चौखटा दिखायी पड़ा है। जब भी अपनी खिड़की से देखा तभी चौखटे में कसा हुआ दिखाई पड़ा। लेकिन यह ख्याल आपको आना मुश्किल होगा कि आकाश पर कोई चौखटा नहीं है। चौखटा आपकी खिड़की पर है। आकाश के ऊपर कोई फ्रेम नहीं है। फ्रेम आपका दिया हुआ है। आकाश तो बिल्कुल निराकार है। लेकिन नहीं, मकान के बाहर भी जाकर आकाश निराकार कहां दिखायी पड़ता है। चौखटा जरा बड़ा हो जाता है, बस—पूरी पृथ्वी का हो जाता है। आकाश निराकार फिर भी नहीं दिखायी पड़ता। चौखटा बड़ा हो जाता है, पृथ्वी का हो जाता है, इसलिए आकाश चारों तरफ पृथ्वी को घेरे हुए गोल दिखायी पड़ता है—गुम्बज की भांति। मन्दिरों के गुम्बज उसी आधार पर बनाए गए हैं। अब भी आप खिड़की के भीतर ही खड़े हैं। खिड़की बड़ी हो गयी, पृथ्वी की हो गयी, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। जाएं, बढ़ें आगे, आकाश कहीं पृथ्वी को छूता नहीं। घूमें पृथ्वी के चारों ओर, आकाश कहीं पृथ्वी को छूता नहीं। कहीं कोई गोल चौखटा नहीं है। कोई क्षितिज, कोई हॉरीजन नहीं है। क्षितिज बिल्कुल वैसा ही झूठ है, जैसे कि आपकी खिड़की का चौखटा आकाश का चौखटा नहीं है और झूठ है। छोड़ें पृथ्वी को भी। अन्तरिक्ष यान में ऊपर उठ जाएं। तब भी आप जो देखेंगे, वह भी एक स्थिति से दर्शन होगा—फ्राम ए स्टेज। एक जगह से देखेंगे आप। और वह जगह ही उसकी सीमा बन जाएगी। वह जगह कितनी ही बड़ी हो, उसकी सीमा बन जाएगी।

फिर कहां जाएं, जहां से निराकार का दर्शन हो, पूर्ण का दर्शन हो?

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, वैसी एक ही जगह है—अपने भीतर, जहां कोई खिड़की नहीं है। जहां कोई चौखटा नहीं है। छोड़ें सभी इन्द्रियों को, क्योंकि जहां इन्द्रियां रहेंगी, वहां चौखटा रहेगा। इन्द्रियां ही चौखटा निर्मित करती हैं। इन्द्रियां खिड़कियां हैं। इन खिड़कियों से हम देखेंगे कहीं भी, आकार निर्मित होगा। लेकिन आंख बन्द कर लो। भीतर चले जाओ। आंख को छोड़ो, रहित हो जाओ आंख से। कान को छोड़ो, रहित हो जाओ कान से। छोड़ो हाथ-पैर, रहित हो जाओ शरीर से। भीतर चले जाओ, वहां सब निराकार है। वहां पूर्ण का अनुभव

होगा।

यह ऋषि ने जो पूर्ण की बात कही है, भीतर के पूर्ण को जान कर ही पता चलता है कि वही है। और जिसे भीतर का पूर्ण पता चल गया, वह कहीं भी चला जाए, कैसी ही खिड़कियों के भीतर चला जाए, उसे पूर्ण का ही दर्शन होगा। जिसने बाहर निकल कर आकाश एक दफा देख लिया, वह फिर कैसी भी छोटी खिड़की के पीछे खड़ा हो जाए, वह भलीभांति जानेगा कि जो आकाश चौखटे में दिखायी पड़ रहा है, वह चौखटा मेरी खिड़की का है, आकाश का नहीं। एक बार जिसने भीतर के पूर्ण को देख लिया, उसे सब जगह पूर्ण दिखायी पड़ने लगता है। कितने ही चौखटों में हो घिरा, कितने ही कारागृहों में बन्द। वह जानता है, कारागृह ऊपर से बैठे हुए हैं, भीतर से निराकार मौजूद है। इसलिए ऋषि पूर्ण से बात शुरू करता है और पूर्ण पर ही समाप्त करता है। लेकिन हम तो अपूर्ण में ही जीते हैं, अपूर्ण में ही शुरू करते, अपूर्ण में ही समाप्त करते है। हमारा इस सूत्र से ताल-मेल कहां बैठे। हम तो पीठ करके खड़े हैं, छत्तीस के आंकड़े की तरह। उपनिषद् के ऋषि खड़े हैं, उनसे हम पीठ लगाए खड़े हैं। उनके शब्द हमें सुनायी पड़ जाते उनके शब्द हम कण्ठस्थ कर लेते हैं। रोज सुबह उठकर सूत्र पढ़ लेते हैं। मगर पीठ ऋषि से लगी रहे, तो जो अर्थ हम निकालते हैं, वह व्यर्थ हो जाते हैं।

अन्तिम बात आपसे यह कहना चाहता हूं कि यह पूर्ण की बात ठीक ही कही है। यही है सच, यही है सत्य। पूर्ण ही है सब ओर। सभी कुछ पूर्ण है। अपूर्ण के होने का उपाय नहीं है। अपूर्ण होगा कैसे, अपूर्ण करेगा कौन? वही है अकेला, कोई दूसरा नहीं है, जो अपूर्ण कर सके। वही है अकेला, सीमित करेगा कौन? सीमा तो सदा दूसरे से बनती है। आपके घर की सीमा आप सोचते हैं कि आपके घर से बनती है, तो समझ लेना, गलत सोचते हैं। आपके घर की सीमा आपके पड़ोसी के घर से बनती है। अकेले आपके घर से नहीं बनती। सीमा सदा दूसरे से बनती है। और परमात्मा है सदा अकेला। अस्तित्व है सदा एक। जीवन की धारा है एक। दूसरा कोई भी नहीं है, सीमा बनाएगा कौन? कौन करेगा अपूर्ण? नहीं, असीम है अस्तित्व, पूर्ण है अस्तित्व—एब्सलूट, निरपेक्ष। लेकिन उसे हम जान पायेंगे तभी, जब भीतर इस पूर्ण की झलक मिल जाए। एक बूंद को भी जिसने अपने भीतर जान लिया हो, वह अनन्त-अनन्त सागरों के रहस्य को पा जाता है। पूर्ण से निकलता है पूर्ण। पूर्ण में ही लीन हो जाता है। बीच में आता है अपूर्ण, हमारी बुद्धि के चौखटों, इन्द्रियों के चौखटों से निर्मित होकर। छोड़ें इन चौखटों को। हटें थोड़ा उनके पार। पीछे सरकें, ट्रांसिट करें, अतिक्रमण करें, और पूर्ण में प्रतिष्ठा हो जाती है। और जिसकी है पूर्ण में प्रतिष्ठा, वही समझ पाएगा अभिप्राय ईशावास्य का।

अब हम अन्त में भीतर की यात्रा पर निकलें। दो मिनट रुक जाएं। दो-तीन

बातें, अन्तिम दिन हैं, इसलिए ध्यान के लिए आपसे कह दूं । एक तो छः दिन के प्रयोग ने उस जगह आपको ला दिया है कि आज मैं इस प्रयोग में एक छोटी-सी बात और जोड़ने को कहता हूं । उसके जोड़ते ही बहुत विस्फोट होगा । उसके लिए तैयार रहें । वह छोटी-सी बात यह है—आप जब मेरी तरफ देखेंगे, तो अपलक तो देखना ही है, पलक नहीं झंपनी है, साथ ही हू-हू की आवाज फुंकार की तरह करेंगे। यह हुंकार आपके भीतर सोयी हुई कुण्डलिनी पर गहरी चोट करेगी । सूफियों ने 'अल्ला हू' का बड़ा गहरा प्रयोग किया है । अल्ला हू से शुरू करेंगे वह, फिर धीरे-धीरे अल्ला छूट जाएगा और हू-हू-हू रह जाएगा । जोर से हू कहें, ख्याल करें, जैसे ही आप हू कहेंगे, वैसे ही आपकी नाभि सिकुड़ जाएगी । नाभि के नीचे जोर से चोट करें—हू । पूरी नाभि सिकोड़ कर इसकी चोट करें । वहीं कुण्डलिनी का वास है । उस पर जोर से धक्का पड़ेगा । अब हम इस हालत में हैं कि करीब-करीब नब्बे प्रतिशत मित्र, जो हू की चोट करेंगे, उनके भीतर से ऊर्जा तेजी से लपट की तरह ऊपर की ओर उठेगी । जब लपट की तरह ऊपर की ओर उठेगी ज्योति, तब मैं आपको हाथ से इशारा करूंगा । मेरे इशारे के साथ बिल्कुल पागल हो जाना । जब मैं नीचे से ऊपर की तरफ हाथ ले जाऊं, तब अपने भीतर अनुभव करना कि ऊर्जा उठती है। आग की लपट की तरह वह ऊपर जा रही है । लगे कि सारे प्राण ऊपर उठ रहे हैं, ऊर्ध्वगमन हो रहा है, तब जोर से चिल्लाना हू—नाचना, कूदना और पूरी शक्ति लगाना ।

●

भगवान श्री रजनीश का उपलब्ध हिन्दी साहित्य

		मूल्य रुपयों में (डीलक्स संस्करण)	मूल्य रुपयों में (सामान्य संस्करण)
उपनिषद		—	१५·००
ईशावास्य उपनिषद		६०·००	४०·००
सर्वसार उपनिषद		६०·००	४०·००
कैवल्य उपनिषद		७५·००	५०·००
अध्यात्म उपनिषद		७०·००	—
कठोपनिषद		६५·००	—
कृष्ण : मेरी दृष्टि में (नया संस्करण)			
कृष्ण			
गीता-दर्शन	अध्याय १,२	६५·००	—
गीता-दर्शन	अध्याय ३	५०·००	३०·००
गीता-दर्शन	अध्याय ४, ५	६५·००	—
गीता-दर्शन	अध्याय ६	६५·००	—
गीता-दर्शन	अध्याय ७, ८	६५·००	—
गीता-दर्शन	अध्याय १०	५०·००	३५·००
गीता-दर्शन	अध्याय ११	—	२५·००
गीता-दर्शन	अध्याय १२	५०·००	३०·००
गीता-दर्शन	अध्याय १३, १४	८०·००	५०·००
गीता-दर्शन	अध्याय १५, १६	६०·००	४०·००
गीता-दर्शन	अध्याय १७	६०·००	४०·००
गीता-दर्शन	अध्याय १८	१००·००	६०·००
अष्टावक्र			
महागीता	भाग–१	६०·००	३५·००
महागीता	भाग–२	६०·००	३५·००
महागीता	भाग–३	६०·००	३५·००
महागीता	भाग–४	६०·००	३५·००
महागीता	भाग–५	६०·००	३५·००
महागीता	भाग–६	५०·००	—

महागीता	भाग–७	५०·००	—
महागीता	भाग–८	५०·००	—
महागीता	भाग–९	५०·००	—
महावीर : मेरी दृष्टि में		—	४०·००
महावीर या महाविनाश		—	१५·००
महावीर			
महावीर-वाणी	भाग–१	३०·००	—
महावीर-वाणी	भाग–३	८०·००	५०·००
जिन-सूत्र	भाग–१	८०·००	५०·००
जिन-सूत्र	भाग–२	८०·००	५०·००
जिन-सूत्र	भाग–३	८०·००	५०·००
जिन-सूत्र	भाग–४	६०·००	—
बुद्ध			
एस धम्मो सनंतनो	भाग–१	८०·००	५०·००
एस धम्मो सनंतनो	भाग–२	८०·००	५०·००
एस धम्मो सनंतनो	भाग–३	८०·००	५०·००
एस धम्मो सनंतनो	भाग–४	७५·००	—
एस धम्मो सनंतनो	भाग–५	७५·००	—
एस धन्नो सनंतनो	भाग–६	७५·००	—
लाओत्से			
ताओ उपनिषद	भाग–१	५०·००	४०·००
ताओ उपनिषद	भाग–२	—	४०·००
ताओ उपनिषद	भाग–३	७५·००	४५·००
ताओ उपनिषद	भाग–४	७०·००	—
ताओ उपनिषद	भाग–५	७५·००	—
ताओ उपनिषद	भाग–६	७५·००	—
प्रश्नोत्तर			
नहिं राम बिन ठांव		६०·००	४०·००
झेन, सूफी और उपनिषद की कहानियां			
बिना बाती बिन तेल		७०·००	५०·००
सहज समाधि भली		७५·००	५०·००
दिया तले अन्धेरा		७५·००	५०·००

मेबिल कॉलिन्स			
साधना-सूत्र		६०·००	४०·००
ब्लावट्स्की			
समाधि के सप्त द्वार		६०·००	४०·००
नारद			
भक्ति-सूत्र	भाग–१	५०·००	३०·००
भक्ति-सूत्र	भाग–२	५०·००	३०·००
सरहपा-तिलोपा			
सहज-योग		७५·००	—
गोरख			
मरो हे जोगी मरो		७५·००	—
शिव			
शिव-सूत्र	प्रथम संस्करण	५०·००	—
	द्वितीय संस्करण	४०·००	—
आदि शंकराचार्य			
भज गोविंदम्		५०·००	३०·००
नानक			
एक ओंकार सतनाम		७५·००	५०·००
,, ,, ,,	(प्रथम प्रवचन)	—	१·५०
कबीर			
सुनो भाई साधो		५०·००	३०·००
गूंगे केरो सरकरा		५०·००	३०·००
कस्तूरी कुण्डल बसै		५०·००	३०·००
कहै कबीर दिवाना		५०·००	३०·००
मेरा मुझ में कुछ नहीं		५०·००	३०·००
कहै कबीर मैं पूरा पाया		५०·००	३०·००
दादू			
पिव-पिव लागी प्यास		५०·००	३०·००
सबै सयाने एक मत		५०·००	३०·००
फरीद			
अकथ कहानी प्रेम की		५०·००	३०·००
सहजोबाई			
बिन घन परत फुहार		५०·००	३०·००

दयाबाई			
जगत तरैया भोर की		५०·००	३०·००
मीराबाई			
मैंने रामरतन धन पायो		५०·००	३०·००
झुक आई बदरिया सावन की		५०·००	—
मलूकदास			
कन थोरे कांकर घने		५०·००	३०·००
दरिया			
कानों सुनी सो झूठ सब		५०·००	—
अमीझरत, बिगसत कंवल		६०·००	—
पलटू			
अजहूं चेत गंवार		७०·००	—
वाजिद			
कहे वाजिद पुकार		५०·००	—
जगजीवन			
नाम सुमिर मन बावरे		५०·००	—
अरी, मैं तो नाम के रंग छकी		५०·००	—
चरणदास			
नहीं सांझ नहीं भोर		५०·००	—
शांडिल्य			
अथातो भक्तिजिज्ञासा	भाग १	७०.००	—
अथातो भक्तिजिज्ञासा	भाग २	७०·००	—
धरमदास			
जस पनिहार धरे सिर सागर		५०·००	—
का सोवै दिन रैन		५०·००	—
रज्जब			
संतो, मगन भया मन मेरा		६५·००	—
सुन्दरदास			
हरि बोलौ हरि बोल		५०·००	—
ज्योति से ज्योति जले		६५·००	—
यारी			
बिरहिनी मंदिर दियना बार		५०·००	—
दूलन			
प्रेम-रंग-रस ओढ़ चदरिया		५०·००	—

लाल		
हंसा तो मोती चुगें	५०·००	—
दरियादास (बिहार वाले)		
दरिया कहे सब्द निरबाना	६०·००	—

भगवान श्री की पूर्व प्रकाशित/अप्रकाशित पुस्तकों/प्रवचनों के संकलित नये पेपर-बैक संस्करण :

साधना-पथ (३० प्रवचन)	—	२०·००
संभोग से समाधि की ओर (१८ प्रवचन)	—	२०·००
नेति-नेति (२४ प्रवचन)	—	२०·००
भारत के जलते प्रश्न (२४ प्रवचन)	—	२५·००
योग-दर्शन : भाग १–२ (२० प्रवचन) (पंतजलि योग-सूत्र पर 'योग : दी अल्फा एण्ड दी ओमेगा' के नाम से प्रकाशित प्रथम दो भागों का हिन्दी अनुवाद)	—	२५·००
मैं कहता आंखन देखी (४३ प्रवचन)	—	२५·००

पूर्व-प्रकाशित साहित्य

जिन खोजा तिन पाइयां	—	४०·००
तत्त्वमसि (५२० पत्रों का संकलन)	—	४०·००
मैं कहता आंखन देखी	—	६·००
गांधीवाद : एक और समीक्षा	—	५·५०
समाजवाद से सावधान	—	५·००
सत्य की खोज	—	५·००
सत्य की पहली किरण	—	५·००
शून्य की नाव	—	५·००
शांति की खोज	—	३·५०
विद्रोह क्या है ?	—	२·५०
सत्य के अज्ञात सागर का आमंत्रण	—	२·००
सूर्य की ओर उड़ान	—	२·००
प्रेम के स्वर	—	२·००
जनसंख्या विस्फोट	—	१·५०

पत्र-पत्रिकायें

रजनीश फाउन्डेशन न्यूजलैटर : हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती में प्रकाशित आवृत्ति : पाक्षिक (एक वर्ष में २४ अंक)

सामग्री : प्रत्येक अंक में एक नवीनतम प्रवचन, आश्रम की गतिविधियों एवं रजनीश ध्यान केन्द्रों के समाचार ।

हिन्दी, अंग्रेजी एवं गुजराती न्यूजलैटर में भिन्न-भिन्न प्रवचन।
एक वर्ष की सदस्यता शुल्क : रुपये २४·०० (कोई भी एक भाषा में)
नमूनों के लिए एक अंक का मूल्य : रुपये १·२५

संन्यास : हिन्दी एवं अंग्रेजी में प्रकाशित
आवृत्ति : द्वैमासिक (एक वर्ष में छः अंक)
सामग्री : भगवान श्री के महत्त्वपूर्ण प्रवचन, सुन्दर चित्र, दर्शन-संवाद, संन्यास के नये आयाम, ध्यान-विधियां, आश्रम एवं रजनीश ध्यान केन्द्रों के नवीनतम समाचार इत्यादि। हिन्दी एवं अंग्रेजी 'संन्यास' में भिन्न-भिन्न सामग्री।

एक वर्ष का सदस्यता-शुल्क	नमूने के लिए एक अंक का मूल्य
(हिन्दी) रुपये २४·००	(हिन्दी) रुपये ५·००
(अंग्रेजी) रुपये ६०·००	(अंग्रेजी) रुपये १०·००

विशेष :
(१) अर्ध-वार्षिक सदस्यता की सुविधा है।
(२) न्यूजलैटर या संन्यास की सदस्यता वी० पी० पी० द्वारा सम्भव नहीं है।

● **ज्योति-शिखा, रजनीश दर्शन, संन्यास एवं न्यूजलैटर के पुराने अंक निम्न-लिखित घटे मूल्यों में उपलब्ध :**

ज्योति-शिखा (उपलब्ध अंक, डाक-व्यय सहित)	रुपये १०·००
रजनीश-दर्शन वर्ष १९७४ अंक १, २	प्रति अंक मूल्य
,, ,, ,, १९७६ अंक १ से ६	रुपये ३·००
	डाक-व्यय अतिरिक्त
संन्यास वर्ष १९७७ अंक १ से ३	प्रति अंक रुपये ५·००
,, वर्ष १९७८ अंक १ से ६	डाक-व्यय अतिरिक्त

● **रजनीश फाउन्डेशन न्यूजलैटर** (डाक-व्यय अतिरिक्त)
हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती

वर्ष १९७५, १९७६, १९७७ के उपलब्ध अंक	प्रति अंक ७५ पैसे
वर्ष १९७८ के उपलब्ध अंक	प्रति अंक रुपये १·००

● **डायरी व कैलेन्डर**

'माय कम्यून' डायरी १९७९ (अंग्रेजी भाषा में मुद्रित)	रुपये ७५·००
डायरी १९७८ (अंग्रेजी भाषा में मुद्रित)	रुपये ४०·००
डायरी १९७७ राज संस्करण (अंग्रेजी भाषा में मुद्रित)	रुपये १०·००
डायरी १९७७ सामान्य संस्करण (अंग्रेजी भाषा में मुद्रित)	रुपये ५·००
● 'माय पीपुल' कैलेन्डर १९७९	रुपये २५·००
कैलेन्डर १९७८	रुपये ८·००

विशेष :

१. पचास रुपये से अधिक का साहित्य मंगाने पर डाक व पैकिंग व्यय में छूट।
२. पुस्तकें अनुरोध पर वी० पी० पी० द्वारा भेजी जाती हैं।
३. धनराशि **"रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड"** के नाम से सचिव, रजनीश फाउन्डेशन, १७ कोरेगांव पार्क, पूना ४११००१ (महाराष्ट्र) को भेजें।
४. १५ से २५ पुस्तकें (लगभग १० किलो वजन की) या अधिक रेल अथवा ट्रान्सपोर्ट द्वारा भेजकर आर० आर० बैंक को भेजी जा सकती है।
५. ऑर्डर देते समय स्पष्ट लिखें कि पुस्तकें रेल अथवा ट्रान्सपोर्ट या डाक से भेजी जायें। रेलवे स्टेशन का नाम स्पष्ट लिखें।

ऑर्डर कैसे करें :

संलग्न ऑर्डर फॉर्म में पुस्तक का नाम, संख्या और मूल्य साफ अक्षरों में भरें—

ऑर्डर फॉर्म : कृपया भेजें :

संन्यास (भाषा :) वर्ष ( )
वार्षिक शुल्क (रुपये)
न्यूज़लैटर (भाषा :) वर्ष ( )
वार्षिक शुल्क (रुपये)
भेजने वाले का नाम..........................
केन्द्र का नाम..........................
पूरा पता..........................
....
....
पिन कोड..................

प्रतियां	पुस्तक का नाम	मूल्य
....	....	....
....	....	....
....	....	....
....	....	....
कुल पुस्तक संख्या		कुल धनराशि

धनराशि रुपये......का मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट भेज रहे हैं/संलग्न है।

- सभी ऑर्डर्स का लेन-देन अब रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड द्वारा ही होता है। अतः कृपया पत्र, बैंक ड्राफ्ट इत्यादि रजनीश फाउन्डेशन लिमिटेड के नाम पर ही भेजें।

सभी प्रकाशनों के लिए संपर्क-सूत्र :

सचिव, रजनीश फाउंडेशन लिमिटेड
श्री रजनीश आश्रम
१७, कोरेगांव पार्क
पूना–४११००१ महाराष्ट्र
फोन : २८१२७

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ईशावास्योपनिषद् का यह महावाक्य कई अर्थों में अनूठा है। एक तो इस अर्थ में कि ईशावास्य उपनिषद् इस महावाक्य पर शुरू भी होता है और पूरा भी। जो भी कहा जाने वाला है, जो भी कहा जा सकता है, वह इस सूत्र में पूरा आ गया है। जो समझ सकते हैं उनके लिए ईशावास्य आगे बढ़ाने की कोई भी जरूरत नहीं है। जो नहीं समझ सकते हैं शेष पुस्तक उनके लिए ही कही गयी है। इसीलिए साधारणतः "ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः" का पाठ, जो कि पुस्तक के अंत में होता है, इस पहले वचन के ही अंत में है। जो जानते हैं, उनके हिसाब से बात पूरी हो गयी। जो नहीं जानते हैं उनके लिए सिर्फ शुरू होती है।

—भगवान श्री रजनीश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ईशावास्योपनिषद् का यह महावाक्य कई अर्थों में अनूठा है। एक तो इस अर्थ में कि ईशावास्य उपनिषद् इस महावाक्य पर शुरू भी होता है और पूरा भी। जो भी कहा जाने वाला है, जो भी कहा जा सकता है, वह इस सूत्र में पूरा आ गया है। जो समझ सकते हैं उनके लिए ईशावास्य आगे बढ़ाने की कोई भी जरूरत नहीं है। जो नहीं समझ सकते हैं शेष पुस्तक उनके लिए ही कही गयी है। इसीलिए साधारणतः "ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः" का पाठ, जो कि पुस्तक के अंत में होता है, इस पहले वचन के ही अंत में है। जो जानते हैं, उनके हिसाब से बात पूरी हो गयी। जो नहीं जानते हैं उनके लिए सिर्फ शुरू होती है।

—भगवान श्री रजनीश

उपनिषद के ऋषि कहते हैं कि हमें अंधेरे से प्रकाश की तरफ ले चलो। तमसो मा ज्योतिर्गमय! हमें मृत्यु से अमृत की तरफ ले चलो। मृत्योर्मा अमृतंगमय! यह प्रार्थना सारी मनुष्य-जाति की प्रार्थना है—कि हमें असद् से सद् की ओर ले चलो। असतो मा सद्गमय! इन तीन छोटे-से वचनों में सारी प्रार्थनाओं का निचोड़ आ गया, सारी पूजाओं का निचोड़ आ गया। और इन तीन प्रार्थनाओं को भी एक ही पंक्ति में बांधा जा सकता है—असतो मा सद्गमय—कि हमें असत्य से सत्य की ओर ले चलो। असत् है अंधकार और असत् है मृत्यु, और सत् है अमृत और सत् है आलोक!